DUE DATE SLIP

GOVT. COLLEGE, LIBRARY

KOTA (Raj.)

Students can retain library books only for two weeks at the most.

BORROWER'S No.	DUE DTATE	SIGNATURE

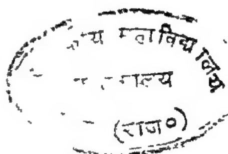
अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

सिद्धान्त, समस्याएँ एवं नीतियाँ

International Economics

THEORY, PROBLEMS AND POLICIES

विकासशील देशों के विशेष सन्दर्भ मे विभिन्न भारतीय विश्वविद्यालयों की
एम ए., एम. कॉम तथा ऑनर्स कक्षाओं के निर्धारित पाठ्यक्रमानुसार



डॉ. जी. सी. सिंघई

1984



साहित्य भवन : आगरा

© श्रीमती प्रभा सिपाई, एम. ए.

मूल्य : [illegible]

प्रकाशक
साहित्य भवन
हॉस्पिटल रोड
आगरा–282003

मुद्रक
गोपाल प्रिंटिंग प्रेस
आगरा

भूमिका

यह पुस्तक छात्र समुदाय के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। काफी दिनों से मेरी यह इच्छा थी कि "अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र" पर एक ऐसी पुस्तक लिखी जाय जो हर दृष्टि से पूर्ण हो। प्रस्तुत कृति इसी दिशा में एक प्रयास है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि भारत सरीखी विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में "अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र" का अध्ययन कितना अधिक महत्वपूर्ण है। इतना कहना ही पर्याप्त है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की नीतियाँ ही इन देशों के आर्थिक विकास के ढाँचे को निर्धारित कर रही हैं।

वास्तव में अब अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र पर हिन्दी में पुस्तकों का अभाव नहीं है किन्तु या तो इन पुस्तकों में विषय के सभी पक्षों का विवेचन नहीं है अथवा वे विदेशी लेखकों की कृतियों पर आधारित रूपान्तर मात्र हैं जो प्राय विकसित देशों की पृष्ठभूमि पर आधारित है। इसका परिणाम यह होता है कि जहाँ एक ओर विषय वस्तु बोझिल हो जाती है, वहीं दूसरी ओर ऐसी पुस्तकों में भारतीय सन्दर्भ का अभाव होने से भारतीय छात्रों के लिए वे अधिक उपयोगी नहीं रह पाती। प्रस्तुत पुस्तक को मैंने भारतीय अर्थव्यवस्था के विशेष सन्दर्भ में विकासशील देशों पर आधारित किया है।

प्रत्येक अध्याय का विवेचन इस दृष्टि से किया गया है कि उसको पढ़ने के बाद छात्रों के सामने कोई प्रश्न चिह्न न रहे। प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में सम्बन्धित विषय को परिचय के रूप में प्रस्तुत कर दिया गया है जिससे अध्ययन की सामग्री बहुत स्पष्ट हो जाती है। विषय वस्तु को अधिक अच्छी तरह से स्पष्ट करने के लिए रेखाचित्रों और तालिकाओं का प्रयोग किया गया है। साथ ही पुस्तक में कुछ ऐसे अध्यायों का समावेश किया गया है जो हिन्दी की अन्य पुस्तकों से उपलब्ध नहीं हैं किन्तु या तो वे पाठ्यक्रम में शामिल है अथवा अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के कलेवर को पूर्ण बनाने के लिए उनका अध्ययन नितान्त आवश्यक है जैसे प्राथमिक उत्पादन की कीमतों में स्थिरीकरण की समस्या, तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की आनुभविक जाँच, एशिया के देशों में साझा बाजार की सम्भावनाएँ और उसका वर्तमान स्वरूप, प्रो. केन्स और अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र इत्यादि। पुस्तक में सम्बन्धित विषयों की नवीनतम जानकारी दी गयी है जैसे एशिया तथा प्रशान्त क्षेत्र के देशों का विदेशी व्यापार का दिल्ली सम्मेलन (अगस्त 1978), भारत की 1978-79 की नयी आयात-निर्यात नीति, विश्व बैंक की विश्वविकास पर 1978 की रिपोर्ट, भारत और यूरोपीय साझा बाजार के बीच जून 1978 के समझौते, अकटाड (UNCTAD) और एशियाई विकास बैंक का 1978 का सम्मेलन अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सन्दर्भ में विश्व की नवीन मौद्रिक प्रणाली की विवेचना इत्यादि।

पुस्तक की भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण रहे, इसका पूरा ध्यान रखा गया है। विषय को समझने के लिए भाषा कहीं अवरोध नहीं है तथा विवेचन स्पष्ट और बोधगम्य है। अर्थशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करते समय केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा प्रस्तुत अर्थशास्त्र की शब्दावली का सहारा लिया गया है। दुरूहता से बचने के लिए प्रचलित हिन्दी शब्दों का प्रयोग भी

किया गया है। विख्यात अर्थशास्त्रियों के अंग्रेजी में उद्धरण देकर उनका सरल हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उल्लेख किया गया है, साथ ही सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची भी दे दी गयी है जिससे छात्रों को मार्ग-निर्देश में विशेष सहायता मिलेगी।

पुस्तक में न केवल भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों की अर्थशास्त्र की स्नातकोत्तर कक्षाओं के पाठ्यक्रम का समावेश है वरन् इसे लिखते समय इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि अन्य प्रतियोगी परीक्षाओं के छात्र भी इस पुस्तक के अध्ययन से लाभान्वित हो सकें। पुस्तक का उद्देश्य मात्र सामान्य छात्रों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना ही नहीं है वरन् प्रबुद्धजन भी इससे लाभ उठा सकें ऐसा प्रयास किया गया है। पुस्तक को नवीनतम बनाने के लिए सितम्बर 1978 तक की जानकारी दी गयी है तथा इस हेतु सम्बन्धित पत्र-पत्रिकाओं का उपयोग किया गया है।

पुस्तक को लिखते समय जिन लेखकों की कृतियों एवं लेखों का उपयोग किया गया है, उनके प्रति मैं आभारी हूँ। विशेषरूप से मैं प्रो (डॉ) डी पी पाण्डेय, अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग एवं डॉ. एम. के. मोटे, सागर विश्वविद्यालय, प्राचार्य श्री एस पी. दुबे, डॉ. सुशीलचन्द्र दिवाकर, प्रो के. एस. श्रीवास्तव, दुर्गा महाविद्यालय, रायपुर, डॉ सी. एस. मिश्रा, डॉ. एस. एम गुप्ता, प्रो. के एम. कन्धारी, प्रो पी. के. जैन एवं अपने सहयोगी प्रो. एम. के. पी. शुक्ला का आभारी हूँ जिन्होंने पुस्तक को लिखते समय अपने महत्त्वपूर्ण सुझाव मुझे दिये हैं। मैं अपने उन सब मित्रों का भी आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने पुस्तक को लिखते समय प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मेरी सहायता की है।

पुस्तक के लेखन में एवं उसकी पाण्डुलिपि को तैयार और व्यवस्थित करने में मेरी पत्नी श्रीमती प्रभा मिश्रा ने काफी सहायता की है जिससे कार्य समय पर सम्पन्न हो सका।

जिस उत्साह और तत्परता के साथ श्री के एन बसल, साहित्य भवन, आगरा ने पूर्ण सज्जा के साथ पुस्तक का प्रकाशन किया है, उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

पुस्तक को पूर्ण बनाने की दिशा में पाठकों के सुझाव सादर आमन्त्रित हैं।

—जे. सी. मिश्रा

विषय-सूची

अध्याय | पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

अध्याय

प्रो० हैरड के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र एक विस्तृत और जटिल विषय है, इसका सर्वेक्षण ऐतिहासिक अथवा भौगोलिक दृष्टिकोण से किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत इस बात का अध्ययन भी किया जा सकता है कि किसी देश में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रमुख घटक कौन-कौन से हैं। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र को परिभाषित करते हुए प्रो० हैरड कहते हैं कि "अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का सम्बन्ध उन समस्त आर्थिक सौदों से है जो देश की सीमा के बाहर किये जाते हैं।"[1]

प्रो० वासरमैन एवं हल्टमैन (Prof. Wasserman and Haltman) के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का सम्बन्ध वस्तुओं, सेवाओं, उपहारों, पूंजी व बहुमूल्य धातुओं के विनिमय से है जिसमें इन मदों का स्वामित्व एक देश के निवासियों के पास से दूसरे देश के निवासियों के पास हस्तान्तरित हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र उन कानूनों, संस्थाओं एवं व्यवहारों का वर्णन तथा विश्लेषण करता है जिनके अन्तर्गत व्यापार किया जाता है।"[2]

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की एक सरल परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है—

"अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, सामान्य अर्थशास्त्र की वह शाखा है जिसके अन्तर्गत विभिन्न देशों के बीच व्यापार से पैदा होने वाले आर्थिक सम्बन्धों एवं उससे सम्बन्धित आर्थिक समस्याओं का अध्ययन किया जाता है।"

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की पृष्ठभूमि
(BACKGROUND OF INTERNATIONAL ECONOMICS)

जिस प्रकार एक व्यक्ति पूर्ण रूप से आत्म-निर्भर नहीं रह सकता, उसी प्रकार एक राष्ट्र भी पूर्ण रूप से आत्म-निर्भर होने का दावा नहीं कर सकता। आज हम भले ही यह कहें कि प्राचीन युग में मनुष्य स्वयं अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करता था, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि उस युग में भी कुछ न कुछ मात्रा में विशिष्टीकरण था, यद्यपि वह अवैज्ञानिक एवं प्रारम्भिक किस्म का था। आज तकनीकी विकास और वैज्ञानिक खोजों ने विशिष्टीकरण को पूर्ण बना दिया है। आज एक देश उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करता है जिनकी तुलनात्मक लागत कम होती है एवं इन वस्तुओं का विनिमय करके दूसरे राष्ट्रों से उन वस्तुओं को खरीदता है जिन्हें वह या तो अपने देश में तैयार नहीं कर सकता अथवा बहुत ऊँची लागत पर तैयार कर सकता है। प्रारम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा देश के कुल उत्पादन की तुलना में प्रायः नगण्य हुआ करती थी किन्तु वर्तमान में इसमें उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है तथा देश की अर्थव्यवस्था में इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

वस्तुओं के आयात-निर्यात के साथ ही साथ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में क्षितिज का विस्तार हुआ। वस्तुओं के साथ मशीनों, उपकरणों एवं औजारों, श्रम तथा पूँजी का आयात-निर्यात भी प्रारम्भ हुआ जिसने राष्ट्रों के आर्थिक विकास को प्रभावित किया। उन्नीसवीं सदी तक प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने मुक्त अथवा स्वतन्त्र व्यापार का पूर्ण समर्थन किया। उस समय तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में प्रतिबन्धों का प्रायः अभाव था किन्तु बीसवीं सदी और विशेषकर प्रथम विश्व-युद्ध तथा सन् *1930* की व्यापारिक मन्दी ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में कई प्रतिबन्धों को जन्म दिया जिससे अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों को आघात लगा। वास्तव में युद्ध और मन्दी की स्थितियों ने राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाओं को पंगु बना दिया और वे संरक्षण की नीति अपनाने

1 International Economics is concerned with all economic transactions involving passage across a national frontier." —Sir Roy Harrod, *International Economics*, 1960, p. 4.

2 Wasserman and Huttman, *Modern International Economics*

लगे। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का युग समाप्त हो गया। आवश्यक संशोधन के साथ अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों में तेजी से वृद्धि हुई है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में परिवर्तन के साथ विभिन्न राष्ट्रों की आर्थिक स्थिति में भी परिवर्तन हुआ। प्रारम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का नेतृत्व ब्रिटेन के हाथ में था क्योंकि औद्योगिक क्रान्ति का अगुआ होने के नाते विश्व के अनेक देशों में उसका निर्यात बाजार फैला हुआ था। किन्तु प्रथम विश्व युद्ध के बाद स्थितियों में परिवर्तन हुआ तथा इंगलैण्ड के हाथ से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के नेतृत्व की बागडोर निकल गयी और अमेरिका ने अग्रणी स्थान ग्रहण कर लिया। किन्तु आज अमेरिका के साथ ही विश्व में ऐसे अनेक देश हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में अग्रणी हैं। राजनीतिक परिस्थितियों ने भी व्यापार के स्वरूप में विशेष परिवर्तन किया है। प्रारम्भ में पूँजीवादी व्यवस्था ने इंगलैण्ड का व्यापार बढाने में पर्याप्त सहायता की क्योंकि विश्व के बहुत से देशों में पूँजीवाद का प्रभाव था। किन्तु आज विश्व प्रमुख रूप से पूँजीवाद और साम्यवाद दो खेमों में बँटा हुआ है जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी विभिन्न क्षेत्रों में बँट गया है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की एक दूसरी विचारधारा का जन्म हुआ है। राजनीतिक उद्देश्यों से प्रभावित होकर व्यापार के क्षेत्र में कई क्षेत्रीय गुटों का जन्म भी हुआ तथा सम्बन्धित देशों का व्यापार एक विशिष्ट क्षेत्र तक ही सिमट कर रह गया।

इस प्रकार बदलती हुई राजनीतिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की परिस्थितियों ने विभिन्न आर्थिक समस्याओं को जन्म दिया है जिनका हम आगे पृष्ठों में अध्ययन करेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याएँ
(INTERNATIONAL ECONOMIC PROBLEMS)

बढते हुए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कई आर्थिक समस्याओं को जन्म दिया है जिनमें मुख्य समस्याएँ इस प्रकार हैं—

(1) क्षेत्रीय बाजारों की स्थापना—प्रारम्भ में विभिन्न राष्ट्रों के बीच स्वतन्त्रतापूर्वक व्यापार होता था लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात कई क्षेत्रीय बाजारों का निर्माण हुआ। इसके पीछे मुख्य कारण क्षेत्रीयता की भावना एवं कुछ देशों के हितों का समान होना है। उदाहरण के लिए पश्चिमी यूरोप के 6 राष्ट्रों ने (फ्रांस, जर्मनी, इटली, बेल्जियम, नीदरलैण्ड और लक्जेमबर्ग), 1 जनवरी, 1958 को एक सन्धि पर हस्ताक्षर कर यूरोपीय साझा बाजार (European Common Market) का निर्माण किया। जिसके अन्तर्गत इन देशों ने अपनी अर्थव्यवस्थाओं को एक आर्थिक इकाई में परिवर्तित कर लिया। इनका प्रारम्भिक उद्देश्य बढते हुए विशिष्टीकरण और श्रम-विभाजन के लाभों को प्राप्त करना था। यूरोपियन साझा बाजार को अपने उद्देश्यों में पर्याप्त सफलता मिली जिससे प्रभावित होकर अन्य राष्ट्रों ने भी ऐसे क्षेत्रीय गुटों का निर्माण किया। यूरोपीय स्वतन्त्र व्यापार संघ (European Free Trade Association EFTA) का निर्माण किया गया जिसमें यूरोप के वे देश शामिल हुए जो यूरोपीय साझा बाजार में सम्मिलित नहीं होना चाहते थे। इसे निर्मित करने में ब्रिटेन ने पहल की क्योंकि उसे भय था कि यूरोपीय साझा बाजार के कारण उसके हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। इस संघ के सदस्य सात देश थे—ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, डेनमार्क, नार्वे, पुर्तगाल, स्वीडन एवं स्विटजरलैण्ड। इसका प्रमुख उद्देश्य सदस्य देशों के लिए तटकरों (Tariffs) को हटाना था। बाद में ब्रिटेन, यूरोपीय साझा बाजार में शामिल हो गया। अपने आर्थिक हितों की वृद्धि करने के उद्देश्य से दक्षिण पूर्व एशिया के देशों में भी एक साझा बाजार स्थापित करने की योजना विचाराधीन है जो यूरोपीय साझा बाजार के समकक्ष ही होगा।

इन क्षेत्रीय गुटों के निर्माण का प्रभाव यह हुआ है कि जो राष्ट्र इनके सदस्य नहीं है,

उनका व्यापार बहुत ही प्रतिकूल ढंग से प्रभावित हुआ है क्योंकि इनके लिए व्यापार की सारी रियायतें बन्द कर दी गयी हैं अथवा तटकरों को बहुत बढ़ा दिया गया है। इससे एक बड़ी समस्या यह पैदा हुई है कि अब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पूरा विश्व एक इकाई न रहकर अलग-अलग क्षेत्रों में बँट गया है एवं अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों में तनाव पैदा हुआ है।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समस्याएँ (*International Monetary Problems*)—जब दो भिन्न राष्ट्रों में व्यापार होता है तो विदेशी विनिमय की समस्या पैदा होती है। इस समस्या के हल के लिए 1945 में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना की गयी किन्तु अभी भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कई मौद्रिक समस्याएँ बनी हुई हैं जिनका हल नहीं किया जा सका है। मुद्रा कोष के नियमों के अनुसार इसके सदस्यों ने अपनी मुद्रा का सम-मूल्य डालर और स्वर्ण में घोषित किया। डालर और स्टर्लिंग का विश्व के अनेक देशों द्वारा रिजर्व करेंसी के रूप में प्रयोग किया गया। प्रारम्भ में तो डालर की स्थिति काफी मजबूत रही किन्तु 1958 के बाद अमेरिका के भुगतान सन्तुलन में भारी घाटा रहने लगा जो क्रमशः बढ़ने लगा। 1971 का डालर संकट विश्वविख्यात है। जब डालर संकट के समय अन्य देशों ने अपनी मुद्रा का पुनर्मूल्यन नहीं किया तो अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक क्षेत्र में काफी गतिरोध पैदा हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली के सुधारने के लिए समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा प्रयत्न किये गये किन्तु वांछित सफलता नहीं मिली। यह अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समस्या के निराकरण का ही पहलू है कि मुद्रा कोष ने अपने स्वर्ण के रिजर्व कोष को बेचने का निर्णय लिया।

(3) अर्द्धविकसित देशों के आर्थिक विकास की समस्या (*Problem of Economic Development of Underdeveloped Countries*)—आज पिछड़े देशों के सामने सबसे प्रमुख समस्या आर्थिक विकास करने की है। विकसित देशों के सम्पर्क ने अर्द्धविकसित देशों की विकास की लालसा को और अधिक तीव्र बना दिया है। किन्तु यह आर्थिक विकास केवल पिछड़े देशों की चिन्ता का विषय नहीं है, बरन विकसित देश भी इन देशों के आर्थिक विकास में पूर्ण रुचि ले रहे हैं क्योंकि विश्व के किसी भी भाग में निर्धनता समृद्धि के लिए खतरा सिद्ध हो सकती है। किन्तु महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि ये पिछड़े देश किस प्रकार विकसित देशों से पूँजी और तकनीकी सहायता लेकर अपना आर्थिक विकास कर सकते हैं। प्रायः विकसित देश पिछड़े देशों को ऐसी शर्तों पर ऋण देते हैं जो गरीब देशों के लिए भारी पड़ती हैं और उन्हें कई शर्तों को पूरा करना होता है और फिर विकसित राष्ट्र इन देशों की आन्तरिक अर्थव्यवस्था में अनुचित हस्तक्षेप भी करते हैं। यदि विकसित राष्ट्र अपनी राष्ट्रीय आय का एक प्रतिशत भी गरीब देशों की सहायता के लिए प्रयुक्त करें तो काफी हद तक आर्थिक विकास की समस्या सुलझाई जा सकती है किन्तु यह दुख की बात है कि विकसित देश इसके लिए तैयार नहीं है।

पिछड़े देशों की व्यापार की शर्तें भी अनुकूल नहीं होतीं एवं इनका भुगतान सन्तुलन भी घाटे में रहता है जो एक बड़ी समस्या है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने आर्थिक विकास के प्रश्न को एक नया मोड़ दिया है तथा विकसित राष्ट्रों पर इन देशों को सफलता का एक बड़ा उत्तरदायित्व डाल दिया है। साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों ने पिछड़े देशों के सामने कुछ ऐसी समस्याएँ पैदा की हैं जिनका हल ढूँढ़ना आवश्यक है। अन्यथा इन गरीब राष्ट्रों का विकसित राष्ट्रों द्वारा शोषण होता रहेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, सामान्य अर्थशास्त्र की शाखा के रूप में
(INTERNATIONAL ECONOMICS AS A BRANCH OF GENERAL ECONOMICS)

यद्यपि आज अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का पृथक अस्तित्व माना जाने लगा है किन्तु यह सामान्य अर्थशास्त्र की एक शाखा है, कोई पृथक विज्ञान नहीं है। जिस प्रकार सामान्य अर्थशास्त्र

के अन्तर्गत विभिन्न शाखाएं हैं, जैसे—सांख्यिकी, मौद्रिक अर्थशास्त्र, विकास का अर्थशास्त्र इत्यादि, इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र भी सामान्य अर्थशास्त्र की ही एक शाखा है। जहां सामान्य अर्थशास्त्र में हम विभिन्न आर्थिक सिद्धान्तों एवं उनके व्यावहारिक पहलुओं का विश्लेषण करते हैं वहीं अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र में हम उन आर्थिक लेन-देनों की व्याख्या करते हैं जो विदेशों के साथ किये जाते हैं। इन आर्थिक लेन-देनों का उदय इसलिए होता है क्योंकि विभिन्न देश आपस में व्यापार करते हैं। एक देश में रहने वाले लोगों में जो आर्थिक लेन-देन किया जाता है, उसकी प्रकृति उस लेन-देन से भिन्न रहती है जो दो भिन्न देशों के बीच किया जाता है। जैसे कि एक ही देश में विनिमय की इकाई उसी देश की मुद्रा रहती है किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में विदेशी मुद्रा का प्रश्न उपस्थित हो जाता है। प्रो० हैरड के अनुसार यद्यपि इन दोनों लेन-देनों में अन्तर तो होता है किन्तु उन्हें कठोरता से पृथक नहीं माना जा सकता। इसका कारण यह है कि बाह्य आर्थिक दशाएं न केवल हमारे आयात और निर्यात को प्रभावित करती हैं वरन हमारे घरेलू मामलों पर भी उक्त दशाओं का व्यापक प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए विनिमय में होने वाले उच्चावचन देश के आन्तरिक कीमत स्तर को भी किसी न किसी सीमा तक प्रभावित करते हैं।

उक्त आधार पर कहा जा सकता है कि हम जिन सिद्धान्तों का अध्ययन सामान्य अर्थशास्त्र में करते हैं, वे बहुत अंशों में अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र पर भी लागू होते हैं। अतः अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र पृथक शास्त्र न होकर सामान्य अर्थशास्त्र की ही एक शाखा है।

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री एवं क्षेत्र
(SUBJECT MATTER AND SCOPE OF INTERNATIONAL ECONOMICS)

चूंकि यह स्पष्ट किया जा चुका है कि अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र कोई पृथक शास्त्र न होकर सामान्य अर्थशास्त्र की ही एक शाखा है अतः हम विवाद में पड़ना महत्वहीन है कि अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र एक कला है अथवा विज्ञान। इस विषय की प्रकृति इस बात से स्पष्ट हो जाती है कि इसके अन्तर्गत किन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याओं का उदय हुआ है तथा उनका विश्व की अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव हुआ है। जहां तक इसके क्षेत्र का प्रश्न है, यह अत्यधिक व्यापक है एवं उत्तरोत्तर इसमें काफी विकास हुआ है। इसके क्षेत्र में उस सम्पूर्ण ज्ञान का समावेश किया जा सकता है जिसका अध्ययन इसके अन्तर्गत किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में वाणिज्यवादियों से लेकर आधुनिक अर्थशास्त्रियों जैसे ओहलिन, एलसवर्थ, हेबरलर, हैरड आदि ने काफी विस्तार से व्याख्या की है। आज अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिस्थितियों में तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आर्थिक सहयोग के नये अध्यायों का सूत्रपात हो रहा है। यह इसी सहयोग का परिणाम है कि अर्द्धविकसित देश आज विकसित देशों से मशीनों, पूंजी एवं तकनीक का आयात कर रहे हैं तथा विकसित देश भी इन देशों के आर्थिक विकास में अभिरुचि ले रहे हैं।

जहां तक अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की विषय सामग्री का प्रश्न है, अध्ययन की सुविधा के लिए इसे निम्न पाँच भागों में विभाजित किया जाता है :

(1) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त**—इसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाता है तथा यह देखा जाता है कि उनकी क्या आलोचनाएं हैं एवं उन सिद्धान्तों में कौन कौन से संशोधन किये गये। उदाहरण के लिए तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का प्रतिपादन किस प्रकार डेविड रिकार्डो द्वारा किया गया एवं बाद में उसमें कौन से संशोधन किये गये।

(2) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मौद्रिक पहलू**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने विदेशी भुगतान की समस्या को जन्म दिया है जिससे यह आवश्यक हो गया है कि दो विभिन्न राष्ट्रों की मौद्रिक

इकाईयो के बीच विनिमय की दर निर्धारित की जाय। इससे सम्बन्धित और भी समस्याएँ हैं जैसे भुगतान सन्तुलन विनिमय नियंत्रण विभिन्न मौद्रिक मान, क्रय शक्ति समता का सिद्धान्त इत्यादि। इन सबका अध्ययन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मौद्रिक समस्याओ के अन्तर्गत किया जाता है।

(3) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वाणिज्यिक नीति**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध मे एक राष्ट्र जो व्यावहारिक नीति अपनाता है, उसे वाणिज्यिक नीति (Commercial Policy) कहते हैं। जैसे आज यह प्रश्न महत्वपूर्ण हो गया है कि एक राष्ट्र मुक्त व्यापार की नीति अपनावे अथवा विभेदात्मक सरक्षण का सहारा ले। सरक्षण के अन्तर्गत आयात के अभ्यश (Quota) निर्धारित कर दिये जाते हैं। इसी प्रकार तटकरो के सम्बन्ध मे व्यापारिक समझौतो का अध्ययन भी वाणिज्यिक नीति के अन्तर्गत किया जाता है।

(4) **अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहित करने के लिए एव उससे सम्बन्धित समस्याओ का हल करने के लिए आज कई अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाएँ सहयोग कर रही हैं (जैसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय-वित्त निगम एव अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद इत्यादि। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने अन्तर्राष्ट्रीय तरलता (International Liquidity) के प्रश्न को भी काफी महत्वपूर्ण बना दिया है क्योकि बिना तरलता के विदेशी भुगतान सम्भव नही है। इसके साथ ही विदेशी व्यापार के कारण पैदा होने वाली आर्थिक समस्याओ को हल करने के लिए विभिन्न सम्मेलन भी आयोजित किये जाते हैं, जैसे—अकटाड (United Nations Conferance on Trade and Development)। इनका अध्ययन भी आर्थिक सहयोग के अन्तर्गत किया जाता है।

(5) **विदेशी व्यापार की सरचना एवं दिशा**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे प्रत्येक देश के लिए दो बातें महत्वपूर्ण हैं—एक तो उसके आयात-निर्यात की प्रमुख वस्तुएँ कौन-सी हैं और दूसरे उस देश का व्यापार विश्व के कौन-से देशो के साथ हो रहा है प्रत्येक देश इस बात के लिए प्रयत्नशील रहता है कि उसके निर्यातो की सख्या बढे तथा विश्व मे वह अपने बाजार को बढा सके। इस सबका प्रभाव उस देश के भुगतान सन्तुलन पर पडता है। इसके अन्तर्गत हम किसी देश की काल के क्रम मे व्यापारिक प्रवृत्तियो का अध्ययन भी करते हैं।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र मे मुख्य रूप से उपरोक्त पाँच शाखाओ का अध्ययन किया जाता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र से आप क्या समझते हैं? क्या इसे सामान्य अर्थशास्त्र की शाखा के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है?
2. अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की परिभाषा दीजिए एव स्पष्ट कीजिए कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने किन आर्थिक समस्याओ को जन्म दिया है?
3. अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र एव विषय सामग्री की विवेचना कीजिए?

Selected Readings

1. Wasserman & Huttman : *Modern International Economics*
2. R. F. Harrod : *International Economics*
3. P. T. Ellsworth : *The International Economy* (Revised)
4. A K Cairncross *Factors in Economic Development*

अध्याय 2

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार–अर्थ, आवश्यकता, महत्व एवं प्रभाव

[INTERNATIONAL TRADE—MEANING, NEED, IMPORTANCE AND EFFECTS]

परिचय

प्राचीन युग में मनुष्य की आवश्यकताएँ इतनी सीमित थी कि मनुष्य एक प्रकार से स्वावलम्बी था अर्थात वह स्वयं अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेता था। किन्तु जैसे-जैसे मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ती गयीं, उसके लिए यह कठिन हो गया कि वह स्वयं के उत्पादन से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। अब उसका ध्यान विशिष्टीकरण की ओर गया और उसने अनुभव किया कि यदि वह किसी एक ही वस्तु का उत्पादन करे तो अधिक उत्पादन कर सकता है। लेकिन प्रश्न यह था कि फिर वह अपनी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति कैसे करेगा? मनुष्य ने इसका हल भी खोज लिया कि वह स्वयं निर्मित वस्तु का अन्य आवश्यक वस्तुओं से विनिमय करेगा और इस प्रकार अदल-बदल (Barter) की प्रथा का सूत्रपात हुआ जो व्यापार का प्रारम्भिक चरण था। प्रारम्भ में केवल वस्तुओं का ही विनिमय किया जाता था तथा मुद्रा का प्रयोग नहीं किया जाता था किन्तु जैसे ही मुद्रा का प्रयोग प्रारम्भ हुआ, वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय प्रत्यक्ष न होकर मुद्रा के माध्यम से होने लगा। यही कारण है कि वर्तमान अर्थव्यवस्था को मौद्रिक अर्थव्यवस्था (Money Economy) कहते हैं। इस अर्थव्यवस्था ने व्यापार को बहुत सरल तथा सुविधाजनक बना दिया है। पहले व्यापार एक देश की सीमा के भीतर ही होता था जो कालान्तर में देश की सीमाओं को पार कर विदेशी व्यापार में परिवर्तित हो गया।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अर्थ
(MEANING OF INTERNATIONAL TRADE)

यदि हम व्यापार का अर्थ समझ लें तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अर्थ को सरलता से समझ सकते हैं। साधारण तौर पर लोगों के बीच होने वाले वस्तुओं और माल के विनिमय को व्यापार कहते हैं जो लाभ के उद्देश्य से किया जाता है। यदि विस्तृत अर्थ में देखा जाय तो व्यापार के अन्तर्गत उन सभी आर्थिक क्रियाओं का समावेश हो जाता है जिनका सम्बन्ध उत्पादित वस्तुओं के वितरण से होता है। वस्तुओं का वितरण इसलिये किया जाता है क्योंकि उपभोग के लिए इनकी माँग की जाती है।

व्यापार को निम्नलिखित दो भागों में बाँटा जा सकता है -

(i) आन्तरिक अथवा राष्ट्रीय व्यापार (Internal or National Trade)

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय अथवा विदेशी व्यापार (International or Foreign Trade)

(i) **आन्तरिक-व्यापार**—आन्तरिक व्यापार से तात्पर्य उस व्यापार से है जो किसी एक देश की सीमा के भीतर विभिन्न स्थानों अथवा क्षेत्रों के बीच किया जाता है जैसे यदि कोई मध्य प्रदेश का व्यापारी गुजरात के व्यापारी के साथ व्यापार करता है अथवा इन्दौर का व्यापारी जबलपुर के व्यापारी के साथ व्यापार करता है तो इसे आन्तरिक व्यापार कहेंगे। इसे गृह व्यापार (Home Trade) अथवा अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार (*Inter-regional Trade*) भी कहते हैं। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री हेबरलर के अनुसार, "गृह-व्यापार का अर्थ है साधारण तौर पर उस क्षेत्र के भीतर व्यापार जिसकी समृद्धि में सम्बन्धित सरकार की अभिरुचि रहती है अथवा वह क्षेत्र उस सरकार की सीमा में आता है।"[1]

(ii) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अर्थ उस व्यापार से है जिसके अन्तर्गत दो या दो से अधिक राष्ट्रों के बीच वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय किया जाता है। उदाहरण के लिए यदि भारत का व्यापार ब्रिटेन अथवा अमेरिका के साथ किया जाता है तो यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होगा। इसे बाह्य व्यापार (External Trade) अथवा विदेशी व्यापार (Foreign Trade) भी कहते हैं।

आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का भेद करते हुए प्रो० हेबरलर कहते हैं कि, "गृह व्यापार और विदेशी व्यापार की विभाजक रेखा एक देश की सीमा होती है। इस सीमा के भीतर होने वाला व्यापार गृह व्यापार होता है तथा सीमा के बाहर विभिन्न देशों के साथ किया जाने वाला व्यापार विदेशी व्यापार कहलाता है।"

आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भेद करने में राष्ट्र शब्द का महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि राजनीति विज्ञान के दृष्टिकोण से राष्ट्र शब्द का व्यापक अर्थ है, आर्थिक दृष्टि से इसे भिन्न अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। प्रो० बेजहाट के अनुसार, "आर्थिक सन्दर्भ में एक राष्ट्र उत्पादकों का समूह है, जिसमें श्रम और पूंजी का स्वतन्त्रतापूर्वक संचार होता है।"[2] कुछ विचारकों ने राष्ट्र के स्थान पर समाज शब्द का प्रयोग किया है जहाँ समाज से उनका आशय विभिन्न देशों की समाजों से है। बेस्टेबल के अनुसार, "सामान्य तौर पर सामाजिक विज्ञान के दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार समाजों के बीच अर्थात् विभिन्न सामाजिक अंगों के बीच होने वाला व्यापार है जिन्हें समाजशास्त्र अपने अध्ययन का क्षेत्र मानता है।"[3] स्पष्ट तौर पर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अर्थ समझने के लिए राष्ट्र शब्द का प्रयोग वांछनीय है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्यों होता है? इसका मूल कारण यह तथ्य है कि विभिन्न देशों के बीच में प्राकृतिक संसाधनों का असमान वितरण होने से समस्त देश सारी वस्तुओं का उत्पादन न तो सस्ते में कर सकते हैं और न ही समान रूप से अच्छी तरह से कर सकते हैं। इसके साथ ही विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक कारणों से विभिन्न राष्ट्रों के बीच में उत्पत्ति के साधनों विशेष रूप से श्रम, में गतिशीलता का अभाव रहता है जबकि एक ही देश में इनमें आसानी से गतिशीलता पायी जाती है। अतः कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भौगोलिक विशिष्टीकरण का परिणाम है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए प्रो० क्लीमेंट

---

1 "Home Trade means simple trade within that area, the prosperity of which interests the government in question or is subject to it's jurisdiction"
—Haberler G. V. *The Theory of International Trade* p. 6.

2 "A Nation in the economic sense is a group of producers, within which labour and capital freely circulate"
—Bagehot

3 "From the point of view of Social Science in general, we may further say that international trade is trade between 'Societies' i.e., between the different Social Organisms which Sociology assumes as it's field of investigation."
—Bastable, *The Theory of International Trade*, P. 5.

कहते हैं कि "व्यापार उस दुनिया में होता है जहाँ वस्तुओं की गति तथा उत्पत्ति के साधनों की गतिशीलता प्राय: अपूर्ण रहती है।"[1]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता
(NECESSITY OF INTERNATIONAL TRADE)

वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार देशों के लिए आवश्यक हो गया है। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्राय: सब देशों ने भौगोलिक विशिष्टीकरण को अपना लिया है क्योंकि तकनीकी विकास और वैज्ञानिक आविष्कार के कारण विशिष्टीकरण का क्षेत्र काफी व्यापक हो गया है। इसके अनुसार प्रत्येक राष्ट्र केवल उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन कर रहा है जिनमें वह सर्वाधिक कुशल है और जिनकी तुलनात्मक लागत कम है अर्थात् वह अपनी आवश्यकताओं की समस्त वस्तुएँ तैयार नहीं करता है। ऐसी स्थिति में यदि वह अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहता है तो उसे अपनी वस्तुओं का निर्यात करना होगा तथा विदेशों से आवश्यक वस्तुओं का आयात करना होगा अर्थात् वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अवहेलना नहीं कर सकता। प्रो. एल्सवर्थ का तो यहाँ तक कहना है कि बहुत से देशों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इतना आवश्यक बन गया है कि वह जीवन अथवा मृत्यु का प्रश्न बन गया है। स्पष्ट ढंग से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता को हम निम्न विवरण से समझ सकते हैं :

(1) **श्रम विभाजन**—देशों में बढ़ते हुए श्रम विभाजन के कारण विदेशी व्यापार आवश्यक हो गया है क्योंकि जो देश कुछ विशेष वस्तुओं का उत्पादन करता है, वह उनका निर्यात करना चाहता है तथा अपनी आवश्यक वस्तुओं को विदेशों से आयात करना चाहता है। यह विदेशी व्यापार के माध्यम से ही सम्भव है।

(2) **कच्चे माल की उपलब्धि**—कुछ देशों के पास मशीनें और तकनीकी ज्ञान तो उपलब्ध होता है किन्तु औद्योगिक उत्पादन करने के लिए पर्याप्त कच्चा माल नहीं होता। यदि वे उत्पादन करना चाहते हैं तो विदेशों से कच्चा माल आयात करना आवश्यक है जो विदेशी व्यापार से ही सम्भव है। ब्रिटेन ने विदेशी व्यापार की सहायता से ही विदेशों से पर्याप्त मात्रा में कच्चा माल आयात कर औद्योगिक उत्पादन का नेतृत्व किया है।

(3) **प्राकृतिक साधनों का पूर्ण प्रयोग**—विदेशी व्यापार इसलिए भी आवश्यक है ताकि देश के प्राकृतिक साधनों का पूर्ण प्रयोग किया जा सके। इन साधनों का अधिकतम प्रयोग उसी समय सम्भव है जब अधिकतम उत्पादन हो तथा अधिकतम उत्पादन का औचित्य उसी समय है जबकि अतिरिक्त माल का निर्यात किया जा सके। विदेशी व्यापार के माध्यम से ऐसे प्राकृतिक साधनों का भी निर्यात भी किया जा सकता है जिनका प्रयोग देश के लिए आवश्यक अथवा सम्भव नहीं है।

(4) **विदेशी प्रतियोगिता के लिए**—विदेशी व्यापार इसलिए भी आवश्यक है ताकि देश के उद्योग विदेशी उद्योगों से प्रतियोगिता कायम रख सकें। प्रतियोगिता के अभाव में यह सम्भव है कि देश के उद्योगों में एकाधिकार की प्रवृत्ति पनपने लगे जो कि देश के लिए घातक है। यह विवादास्पद है कि आर्थिक विकास की किस अवस्था में देश के उद्योगों को विदेशी उद्योगों से प्रतियोगिता करने देना चाहिए। प्रो फ्रेडरिक लिस्ट का कहना है कि जब तक देश के उद्योग पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो जाते, उन्हें विदेशों से प्रतियोगिता नहीं करने देनी चाहिए।

(5) **उपभोक्ताओं के लिए वस्तुओं की उपलब्धि**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इसलिए भी आवश्यक है कि उपभोक्ताओं को विश्व के बाजार से आवश्यक वस्तुएँ सस्ते दामों पर उपलब्ध हो सकें। विदेशी व्यापार ने उपभोक्ताओं की रुचियों को विविध एवं सम्पन्न बना दिया है।

---

1 "Trade occurs in a world where the *movements of goods* and the *mobility* of productive factors are more or less imperfect.
—M. O. Clement & others, *Theoretical Issues in International Economics*, 1967, p. 3.

इसके अतिरिक्त और भी अनेक कारण हैं जिससे विदेशी व्यापार आवश्यक हो गया है। इनकी विस्तार से चर्चा विदेशी व्यापार के लाभ के अन्तर्गत की जायेगी क्योंकि इनका सम्बन्ध लाभो से अधिक है। यहाँ इतना समझ लेना आवश्यक है कि "जिस प्रकार श्रम-विभाजन के लिए विनिमय आवश्यक होता है, उसी प्रकार जब श्रम-विभाजन देश की सीमा को लाँघ जाता है तो विदेशी व्यापार आवश्यक हो जाता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन का आवश्यक परिणाम है।"[1]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का महत्व
(IMPORTANCE OF INTERNATIONAL TRADE)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का महत्व दिनो-दिन बढ़ता जा रहा है तथा इसी कारण देशो मे आपसी सहयोग भी बढ़ रहा है। यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक देश के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का समान महत्व होता है क्योंकि जिस देश मे कुल उत्पादन मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अंश अधिक होता है, उसके लिए विदेशी व्यापार का महत्व अधिक होता है तथा जहाँ इसका अंश कम होता है, वहाँ विदेशी व्यापार का महत्व कम होता है। फिर भी कुछ न कुछ महत्व तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रत्येक देश के लिए होता ही है।

किसी देश के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आर्थिक महत्व, गृह व्यापार के समकक्ष ही है अर्थात् जीवन स्तर मे वृद्धि करना। सत्य तो यह है कि विदेशी व्यापार के अभाव मे न तो अधिक लोग इतनी प्रसन्नता से जीवनयापन कर सकते थे, न इतनी अधिक विविध आवश्यकताओ की पूर्ति कर सकते थे और न इतना उच्च जीवन-स्तर बिता सकते थे जितना कि आज सम्भव हो सका है। यदि विदेशी व्यापार न होता तो संयुक्त राज्य अमेरिका के लोगो को अपनी परम्परागत आरामदायक वस्तुओ, जैसे चाय, काफी, चाकलेट, केला इत्यादि के उपभोग से वंचित रहना पड़ता। विदेशी व्यापार का स्पष्ट महत्व तो यह है कि इसके माध्यम से विदेशो से ऐसी वस्तुओ का आयात किया जा सकता है जिन्हें देश मे पैदा नहीं किया जा सकता तथा जिन वस्तुओ का उत्पादन देश मे ऊँची लागत पर किया जा सकता है, उन्हे कम लागत पर विदेशों से आयात कर सकते हैं। प्रो० एल्सवर्थ के शब्दो मे, "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अधिक लोगो के रहने, अधिक विविध आवश्यकताओ की पूर्ति करने एवं उच्च जीवन-स्तर को सम्भव बनाता है जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अभाव मे सम्भव न होता।"[2]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का महत्व केवल सस्ती और विविध वस्तुओ को उपलब्ध कराने तक ही सीमित नहीं है वरन् देश मे आर्थिक विकास को गतिशील बनाने मे इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है। इसका विवेचन अगले अध्याय मे किया जायगा। बहुत से अर्थशास्त्री इस बात को स्वीकार करते हैं कि बीसवी सदी का आर्थिक विकास बहुत कुछ अशो तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण सम्भव हो सका है। यदि यूरोप मे विदेशी व्यापार के माध्यम से विदेशो से खाद्यान्न और कच्चे माल का आयात सम्भव न हुआ होता तो वहाँ जो औद्योगिक क्रान्ति हुई, वह या तो सम्भव न हुई होती या बहुत ही सीमित रही होती। प्रो० मियर (Meier J M.) के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने ऐसे अनेक देशो के विकास को आगे बढ़ाने का कार्य किया है जो आज विश्व के सर्वाधिक समृद्ध देश समझे जाते हैं। ब्रिटेन का आर्थिक विकास ऊनी तथा सूती कपड़ो के निर्यात के कारण, स्वीडन का लकड़ी के व्यापार से, डेनमार्क का डेयरी के निर्यात द्वारा तथा जापान का रेशम के व्यापार से हुआ है..........प्राथमिक वस्तुओ का उत्पादन करने वाले देशो

---

1 [illegible]

2 [illegible]

मे भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का महत्व स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है।" इसी सन्दर्भ में पश्चिमी यूरोप का उदाहरण देते हुए प्रो. एल्सवर्थ कहते हैं कि "मलाया की रबर के बिना तथा मध्यपूर्व के पेट्रोल के बिना, पश्चिम यूरोप के देशो की कारे तथा यात्री बसें गतिहीन हो जाती।" अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के महत्व को और स्पष्ट समझने के लिए हमे उसके लाभो पर विचार करना होगा जो इस प्रकार हैं :

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ
(ADVANTAGES OF INTERNATIONAL TRADE)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभो का अध्ययन निम्न दो उपशीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है (I) आर्थिक लाभ (II) गैर-आर्थिक लाभ

(I) **आर्थिक लाभ**—इसके अन्तर्गत निम्न लाभो का विवेचन किया जाता है

(1) **श्रम विभाजन से लाभ**—जिस प्रकार एक देश के भीतर उत्पादको में श्रम-विभाजन के कारण उत्पादन कुशलतापूर्वक एव अधिकतम मात्रा मे किया जा सकता है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भौगोलिक अथवा क्षेत्रीय श्रम-विभाजन मे कुल उत्पादन अधिकतम किया जा सकता है। यह क्षेत्रीय विशिष्टीकरण का परिणाम है कि हम जिन वस्तुओ को पर्याप्त मँहगी लागत पर देश मे उत्पादित कर पाते, उन्हे हम पर्याप्त सस्ते मे विदेशो से आयात कर सकते है। श्रम-विभाजन के कारण ही विभिन्न देश उन वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जिनमें उनकी लागत न्यूनतम होती है एव उन्हे सर्वाधिक लाभ प्राप्त होता है। इससे उत्पादन की अनुकूलतम दशाएँ प्राप्त हो जाती है तथा विश्व के कुल उत्पादन एव कल्याण में वृद्धि होती है।

(2) **उपभोक्ताओ को सस्ती कीमत पर वस्तुओ की उपलब्धि**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण एक देश के उपभोक्ता न केवल ऐसी वस्तुओं का उपभोग कर सकते है जिनका उत्पादन उनके देश मे सम्भव नही है, वरन् ऐसी वस्तुओ को विश्व-बाजार मे सस्ती कीमतो में उपलब्ध किया जा सकता है। विदेशो मे वस्तुओं का आयात इस बात का सूचक है कि ये वस्तुएँ हमें सस्ती कीमतो मे उपलब्ध हो रही हैं।

(3) **प्राकृतिक साधनो का समुचित प्रयोग**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अन्तर्गत देश में ऐसे उद्योग विकसित किये जाते है जिनके लिए दशाएँ सर्वाधिक अनुकूल रहती है। स्वाभाविक है कि देश मे जो प्राकृतिक साधन विपुल मात्रा मे होगे, उनमे ही सम्बन्धित उद्योग स्थापित किये जायेंगे। इससे उन उपलब्ध प्राकृतिक साधनों का समुचित प्रयोग किया जा सकता है। प्रो. बेस्टेबल के अनुसार, "देश में उत्पादन शक्तियाँ देश के प्राकृतिक साधनो का स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग करती हैं जिसमें अधिकतम लाभ की सम्भावना रहती है तथा इससे उत्पादन इकाई की योग्यता बढ जाती है।

(4) **अकाल व संकट के समय सहायता**—देश मे अकाल एव खाद्यान्न के अभाव की स्थिति मे, विदेशी व्यापार द्वारा खाद्यान्न का आयात विदेशों से किया जा सकता है जिससे न केवल लोगो के जीवन की रक्षा की जा सकती है वरन् उनके जीवन-स्तर को भी कायम रखा जा सकता है। विदेशी व्यापार के अभाव मे, अकाल की स्थिति में लाखो लोगो को अपने प्राणो को गवाना पडता है जैसा कि 1943 मे बगाल मे हुआ जब युद्ध के कारण वहाँ बर्मा से चावल का आयात न किया जा सका।

(5) **औद्योगिक विकास**—जिन देशो के पास उद्योगो की स्थापना के लिए कच्चे माल का अभाव होता है, उसे विदेशी व्यापार के अन्तर्गत आयात किया जा सकता है तथा औद्योगिक विकास किया जा सकता है। आज अर्द्ध-विकसित देशो में जो औद्योगीकरण हो रहा है, उसका

महत्वपूर्ण कारण विदेशी व्यापार है। प्रो. जॉन स्टुअर्ट मिल के अनुसार, "विदेशी व्यापार ... ...एक ऐसे देश में जिसके संसाधन अविकसित अवस्था में हों, कभी-कभी औद्योगिक क्रान्ति का एक कारण बन जाता है।" भारत में आज जो औद्योगिक विकास हुआ है, उसके पीछे विदेशी मशीनों और तकनीक के आयात का महत्वपूर्ण हाथ है।

(6) **विदेशी प्रतियोगिता से लाभ**—विदेशी व्यापार के अन्तर्गत देश की फर्मों को विदेशी माल से प्रतियोगिता करनी पड़ती है, अतः देश की फर्में अपनी उत्पादन व्यवस्था को आधुनिकतम एवं दुरुस्त रखती हैं। इसका एक लाभ यह भी होता है कि इन फर्मों में एकाधिकार की भावना नहीं पनपने पाती जिससे कीमतें कम रहती हैं तथा उपभोक्ताओं को लाभ होता है।

(7) **बाजार का विस्तार**—विदेशी व्यापार का एक लाभ यह भी होता है कि देश के बाजार में वृद्धि होती है। यदि बाजार देश की सीमा के भीतर तक ही सीमित रहता है तो माँग कम होती है तथा विक्रय भी कम होता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार होने से माँग भी व्यापक हो जाती है तथा उत्पादन का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। यह विदेशी व्यापार के कारण ही है कि भारत की चाय का उपभोग विदेशों में व्यापक पैमाने पर किया जाता है।

(8) **राष्ट्रों का आर्थिक विकास**—वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पिछड़े देशों के आर्थिक विकास का महत्वपूर्ण कारण बन गया है। डॉ. मार्शल के अनुसार, "राष्ट्रों की आर्थिक प्रगति का निर्धारण करने वाले कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अध्ययन के अन्तर्गत आते हैं।"[1] इसका अध्ययन एक अलग अध्याय के अन्तर्गत किया जायेगा।

(9) **रोजगार में वृद्धि**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से क्षेत्रीय श्रम-विभाजन सम्भव होता है जिससे उत्पादन की मात्रा और रोजगार में वृद्धि होती है। विदेशी व्यापार से निर्यात उद्योगों (Export Industries) में उत्पादन बढ़ता है जहाँ श्रमिकों को अधिक रोजगार मिलता है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का विश्वास था कि विदेशी व्यापार से ही अधिकतम रोजगार सम्भव है। उनके स्वर में स्वर मिलाते हुए प्रारम्भ में प्रो. केन्स का भी यही मत था कि स्वतन्त्र व्यापार से ही रोजगार सम्भव है। रोजगार में वृद्धि इसलिए सम्भव होती है क्योंकि देश की अर्थव्यवस्था पर विदेशी व्यापार का गुणक प्रभाव पड़ता है जिससे उत्पादन और रोजगार में वृद्धि होती है।

(10) **मूल्यों में समता**—जिस प्रकार एक देश में विभिन्न क्षेत्रों में वस्तुओं को भेजकर मूल्यों में समानता स्थापित की जा सकती है, उसी प्रकार विभिन्न देशों में भी आयात-निर्यात के द्वारा वस्तुओं के मूल्यों में समता स्थापित की जा सकती है। इससे मूल्यों में भारी अन्तर को रोका जा सकता है। माँग और पूर्ति में सामंजस्य स्थापित कर यह समानता स्थापित की जा सकती है।

इसके अतिरिक्त विदेशी व्यापार के और भी लाभ होते हैं, जैसे बड़े पैमाने पर उत्पादन, उत्पादन में नवीन विधियों का प्रयोग इत्यादि जिनका समावेश उपर्युक्त वर्णन में किया जा सकता है।

(II) **गैर-आर्थिक लाभ**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से जो गैर आर्थिक लाभ होते हैं, वे इस प्रकार हैं :

(1) **सभ्यता का विकास**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के माध्यम से विभिन्न देशों में सम्पर्क स्थापित हुआ है, अर्द्ध-विकसित देश, विकसित देशों के सम्पर्क में आये हैं जिससे वहाँ नयी सभ्यता और विकसित अभिरुचियों का सूत्रपात हुआ है। प्रो. एडम स्मिथ का कहना है कि विश्व में

---

1 Dr. Marshall, *Principles of Economics*.

सभ्यता और संस्कृति विदेशी व्यापार के माध्यम से ही सम्भव हो सकी है। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को सभ्यता की बड़ी एजेंसी कहा जाता है।

(2) शिक्षाप्रद महत्व—विकसित देशों से सम्पर्क स्थापित होने का अवसर मिलने से विदेशी व्यापार कई शिक्षात्मक लाभ प्रदान करता है जो भौतिक वस्तुओं के प्रत्यक्ष आयात से अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि विदेशी व्यापार ज्ञान को भी स्थानान्तरित करता है। विकास की प्रक्रिया में ज्ञान की कमी अन्य किसी भी घटक की कमी से अधिक व्यापक रुकावट है। प्रो. मीअर के अनुसार, "विदेशी व्यापार चूंकि निर्धन देशों को अपने से अधिक समृद्ध देशों की सफलताओं एवं असफलताओं से सीख लेने का अवसर प्रदान करता है अतएव विदेशी व्यापार उनके विकास की गति बढ़ाने में बहुत अधिक सहायता प्रदान कर सकता है।"[1] प्रो जे एस मिल के अनुसार, "विदेशी व्यापार एक देश के निवासियों में नवीन विचारों को जाग्रत करके एवं उनकी पारस्परिक आदतों को बदलकर उनमें नवीन इच्छाओं, बड़ी आकांक्षाओं एवं दूरदर्शिता को जन्म देता है।"[2]

(3) देशों में पारस्परिक सहयोग—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के माध्यम से देशों में पारस्परिक सहयोग और मैत्री भावना का विकास होता है जिससे विश्वशान्ति की स्थापना में सहायता मिलती है। बहुत से देशों में बढ़ते हुए आर्थिक सम्बन्धों ने राजनीतिक सम्बन्धों को भी सुदृढ़ बनाया है। प्रो किंडलबर्गर के अनुसार, "बढ़ते हुए राष्ट्रवाद, बढ़ते हुए अन्तर्राष्ट्रीयवाद अथवा दोनों की बढ़ती हुई दुनिया में, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र ज्ञान और समझौतों का महत्वपूर्ण साधन है।"[3]

अन्त में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों को समझाने के लिए प्रो बर्टिल ओहलिन (अर्थशास्त्र में 1977 के नोबल पुरस्कार विजेता) के विचारों को उद्धृत करना उपयुक्त होगा— "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से व्यापारी देशों में आर्थिक जीवन के मूल तत्व बदल जाते हैं...... इसके बारे में परोक्ष प्रभाव बहुत अधिक दीर्घकालीन होते हैं। यह सबसे अच्छी तरह तब हो सकता है जबकि हम इस बात पर विचार करें कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार न हुआ होता तो विश्व के लोगों की क्या दशा होती, पूंजी उपकरणों का क्या होता तथा वह अपनी वर्तमान स्थिति से कितने भिन्न होते।"[4]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से हानियाँ
(DISADVANTAGES OF INTERNATIONAL TRADE)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से केवल लाभ ही नहीं होते वरन् कुछ हानियाँ भी होने की सम्भावना रहती है जो अग्रलिखित हैं

(1) विदेशों पर निर्भरता—विदेशी व्यापार के कारण एक देश की अर्थव्यवस्था विदेशों पर निर्भर हो जाती है क्योंकि वह कुछ विशेष वस्तुओं के आयात के लिए विदेशों पर ही निर्भर रहती है। किन्तु यदि युद्ध या अन्य ऐसी ही परिस्थितियों के कारण विदेशी व्यापार अवरुद्ध हो जाता है तो देश की अर्थव्यवस्था पंगु हो जाती है और उस पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। विदेशों में होने वाली मन्दी का प्रभाव अन्य देशों पर भी पड़ता है जिनके आपस में व्यापारिक सम्बन्ध होते हैं। सन् 1929-32 में जो महान मन्दी आयी थी वह इसलिए विश्वव्यापी हो गयी क्योंकि विश्व के देशों के आपस में व्यापारिक सम्बन्ध थे।

---

1 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा आर्थिक विकास—जी. एम. मीअर, हिन्दी अनुवाद, बलबीरसिंह—दिल्ली 1965, पृ० 140-141

2. प्रो. जे एस. मिल—उक्त पुस्तक में उद्धृत, पृष्ठ 139.

3 In a world of rising nationalism, rising internationalism or both, International Economics is an important tool of understanding and negotiation"
—Kindleberger, *International Economics*, 1963 p. 12.

4 Bertil Ohlin, *Inter-regional and International Trade*.

(2) **खनिज पदार्थों की समाप्ति**—विदेशी व्यापार के अन्तर्गत अपने निर्यातों को बढ़ाने के लिए बहुत से अर्द्ध-विकसित देशों द्वारा उन बहुमूल्य खनिज पदार्थों का निर्यात कर दिया जाता है जिनको पुनर्स्थापित नहीं किया जा सकता। किन्तु यदि इन्हें बचाकर रखा जाय तो भविष्य में *अधिक लाभ के लिए इन्हें प्रयुक्त किया जा सकता है।* भारत से प्रारम्भ में कच्चा मैंगनीज, अभ्रक इत्यादि का बहुत सस्ती कीमतों पर निर्यात कर दिया गया—यदि हम उस समय के थोड़े लाभ के लालच में न पड़कर उनका निर्यात न करते तो आज हमें उनसे कई गुना लाभ प्राप्त होता।

(3) **विदेशी प्रतियोगिता से हानि**—विदेशी व्यापार के कारण देश की औद्योगिक इकाइयों को विदेशी उद्योगों से प्रतियोगिता करना पड़ती है किन्तु विदेशी प्रतियोगिता के सामने ये उद्योग टिक नहीं पाते और इनका ह्रास होने लगता है। इसका कारण यह है कि विकसित देशों की वस्तुएँ उन्नत तकनीक के कारण अधिक सस्ती और टिकाऊ होती हैं। उन्नीसवीं सदी में विदेशी प्रतियोगिता के कारण भारतीय लघु और कुटीर उद्योगों को भारी आघात लगा जिससे कृषि पर जनसंख्या का भार बढ़ा और हमारी अर्थव्यवस्था का सन्तुलन बिगड़ गया। इसी विदेशी प्रतियोगिता का भारत के औद्योगिक विकास पर भी काफी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। *हमारा औद्योगिक विकास* उसी समय सम्भव हो सका जब स्वतन्त्रता के पश्चात भारत ने संरक्षण की नीति का सहारा लिया।

(4) **राशिपातन (Dumping) से हानि**—राशिपातन के अन्तर्गत एक देश अपने देश में वस्तु की लागत से भी कम मूल्य पर वस्तुओं को विदेशी बाजारों में बेचता है। इसका उद्देश्य विदेशी बाजारों पर कब्जा करना होता है। यह राशिपातन सदैव नहीं किया जाता जिससे आयात करने वाले देश के उद्योगों पर एवं वहाँ के रोजगार की स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(5) **उपभोग की आदतों पर प्रतिकूल प्रभाव**—विदेशी व्यापार के अन्तर्गत एक देश में ऐसी वस्तुओं का आयात किया जा सकता है जो हानिकारक हों तथा जिनका उपभोक्ताओं की शारीरिक और मानसिक स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ता है। चीन में यद्यपि अफीम पैदा नहीं होती किन्तु वहाँ अफीम का आयात किया गया जिससे चीन के लोग अफीमची हो गये और जिसका पर्याप्त प्रतिकूल प्रभाव हुआ। भारत में भी आज चोरी से विदेशी नशीले पदार्थों—एल. एस. डी. इत्यादि का आयात किया जाता है जो बहुत ही हानिकारक है।

(6) ***अर्थव्यवस्था का असन्तुलित विकास***—*विदेशी व्यापार में तुलनात्मक लागतों के अन्तर्गत* एक देश कुछ विशेष वस्तुओं के उत्पादनों में ही विशिष्टीकरण करता है जिससे देश में सीमित उद्योग-धन्धों का ही विकास हो पाता है और लोगों को विभिन्न व्यवसायों में जाने के अवसर बहुत ही सीमित हो जाते हैं। इससे न केवल देश के आर्थिक जीवन में अस्थिरता आती है वरन् देश का सन्तुलित विकास भी नहीं हो पाता। अर्द्ध-विकसित देशों को इससे भारी हानि होती है। ऐसे देशों में विदेशी व्यापार होने से दुहरी अर्थव्यवस्था (Dual Economies) का निर्माण होता है। निर्यातक क्षेत्र तो विकास के द्वीप बन जाते हैं किन्तु शेष अर्थव्यवस्था में कोई विकास नहीं हो पाता अर्थात् निर्यातक क्षेत्र ऐसी अर्थव्यवस्था से घिरा रहता है जो पिछड़ी और निर्वाह अर्थव्यवस्था (Subsistence Economy) के समीप होती है।

(7) **प्रदर्शन प्रभाव-जनित-हानि**—प्रदर्शन प्रभाव (Demonstration effect) या तो आन्तरिक हो सकता है अथवा अन्तर्राष्ट्रीय। जब एक देश में उपभोक्ता अपने से ऊँचे आय-वर्ग के लोगों के उपभोग स्तर को अपनाते हैं तो यह आन्तरिक प्रदर्शन प्रभाव है और जब विदेशों के सम्पर्क में आकर पिछड़े देशों के उपभोक्ता, विदेशी उच्च-उपभोग के स्तर की नकल करते हैं, तो

इसे अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शन प्रभाव कहते हैं। इसका बुरा प्रभाव यह होता है कि एक तो उपभोक्ता विदेशी आयातों पर निर्भर हो जाते है और दूसरे, उपभोग-प्रवृत्ति बढ़ जाने से देश में बचत की मात्रा घट जाती है। सबसे पहले प्रदर्शन प्रभाव की व्याख्या प्रसिद्ध अर्थशास्त्री ड्यूसेनबरी (Duesenberry J. S.) ने की।

(8) **अन्तर्राष्ट्रीय वैमनस्य**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बढ़ती हुई प्रतियोगिता के कारण प्रत्येक देश अपने निर्यातों को बढ़ाना चाहता है अतः इसके लिए नये-नये बाजारों की खोज करता है और उन्हें हथियाना चाहता है जिसके फलस्वरूप देशों के मध्य द्वेष और वैमनस्य फैलता है। बाजारों के साथ ही साथ कच्चे माल को प्राप्त करने के लिए भी प्रतियोगिता होती है जिसमे युद्ध और उपनिवेशों की स्थापना होती है।

(9) **पिछड़े देशों का शोषण**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पक्ष में एक शक्तिशाली तर्क यह भी रखा जाता है कि इससे विकसित देशों द्वारा, पिछड़े देशों का लगातार शोषण किया गया है। इस मत का समर्थन प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो मिर्डल, प्रो मिन्ट, प्रो आर्थर लुईस एवं प्रो. सिंगर द्वारा किया गया है। इनका कहना है कि अर्द्ध-विकसित देशों का विकसित देशों के साथ व्यापार होने से विश्व अर्थव्यवस्था में ऐसा असन्तुलन पैदा करने वाली शक्तियाँ पैदा हुयी जिनसे विदेशी व्यापार का लाभ केवल विकसित देशों को ही मिला।

(10) **राजनीतिक दासता का प्रसार**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का यह दुष्प्रभाव भी हुआ कि इसमें साम्राज्यवाद का प्रसार हुआ। बहुत से विकसित देशों ने विदेशी व्यापार के माध्यम से छोटे और पिछड़े देशों में राजनीतिक प्रभुत्व का प्रसार भी किया तथा उनकी राजनीतिक स्वतन्त्रता का हनन किया। इसके साथ ही ऐसे पिछड़े देशों पर उन्होंने अपनी आर्थिक और राजनीतिक नीतियों को भी आरोपित किया।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से बहुत-सी हानियाँ भी है। इसका मूल कारण यह है कि जब ऐसे दो देशों में व्यापार होता है जो आर्थिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में रहते हैं तब पिछड़े देश को हानि होती है। हाँ, यदि दोनों देश विकास के समान स्तर पर हों तो दोनों प्रायः समान रूप से लाभान्वित हो सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रभाव
(EFFECTS OF INTERNATIONAL TRADE)

विश्व की अर्थव्यवस्था पर व्यापार के विभिन्न प्रभाव होते हैं। यद्यपि कुछ प्रभावों का अध्ययन हम विदेशी व्यापार के लाभो के अन्तर्गत कर चुके हैं किन्तु इसके कुछ प्रभाव ऐसे हैं जिनका पृथक रूप से अध्ययन किया जाना चाहिए। मुख्य प्रभाव इस प्रकार है—

(1) **उत्पत्ति के साधनों की कीमतों में समानता (Equalisation of Factor Prices)**—जब विदेशी व्यापार होता है तब विभिन्न देशों में उत्पत्ति के साधनों की कीमतों में समानता की प्रवृत्ति पूर्ण हो सकती है अथवा आंशिक। प्रो ओहलिन का मत है कि स्वतन्त्र व्यापार में साधनों की कीमतों में पूर्ण समानता स्थापित नहीं होती। इसके विपरीत प्रो. सेमुअलसन का मत है कि कुछ विशेष मान्यताओं के अन्तर्गत व्यापार करने वाले दोनों देशों में वास्तविक साधनों की कीमत बिल्कुल समान रहनी चाहिए। ये मान्यताएँ इस प्रकार हैं

(i) केवल दो देश हैं तथा प्रत्येक केवल दो वस्तुओं का उत्पादन कर रहा है।

(ii) प्रत्येक वस्तु का उत्पादन दो साधनों की सहायता से किया जा रहा है तथा प्रत्येक वस्तु का उत्पादन फलन उत्पत्ति समता नियम के अन्तर्गत है।

(iii) यदि केवल किसी एक साधन में वृद्धि की जाती है, तो उसकी सीमान्त उत्पादकता गिरती है।

वाले देशों में भारत की स्थिति तीसरी थी जिसे 1,748 मि॰ डालर के 47 ऋण स्वीकृत किये गये थे। भारत को जिन योजनाओं के लिए ऋण मिले हैं उनमें मुख्य इस प्रकार हैं :

(i) रेल व्यवस्था का नवीनीकरण एवं विस्तार, (ii) टाटा लौह एवं इस्पात (TISCO) तथा भारत लौह एवं इस्पात कम्पनी (IISCO) के विस्तार के लिए, (iii) चम्बल घाटी क्षेत्र तथा राजस्थान नहर क्षेत्र का विकास, (iv) दामोदर घाटी निगम विद्युत परियोजना, (v) एयर इण्डिया द्वारा हवाई जहाजों का क्रय, (vi) हल्दिया बन्दरगाह का निर्माण तथा मद्रास एवं कलकत्ता के बन्दरगाहों का विकास, (vii) निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र की विद्युत शक्ति विस्तार परियोजनाएँ, (viii) औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम (ICICI) की कार्यशील पूँजी में वृद्धि, (ix) कृषि के विकास हेतु ऋण, (x) निजी क्षेत्र में कोयला उद्योग के विकास हेतु, (xi) बम्बई के पास ट्राम्बे में थर्मल पावर स्टेशन की स्थापना हेतु।

भारत को दिये गये कुछ नवीनतम ऋण (1978-79)

विश्व बैंक ने कहा है कि भारत के बढ़ते हुए विदेशी मुद्रा कोष के बावजूद भी उसे विदेशी सहायता की आवश्यकता है तथा भारत ने अनुकूल आर्थिक विकास किया है। इस सन्दर्भ में विश्व बैंक ने भारत को कुछ महत्त्वपूर्ण ऋण स्वीकृत किये हैं जो इस प्रकार हैं :

(i) **भारतीय रेलों का विकास**—विश्व बैंक भारतीय रेलवे को इतनी बड़ी रकम ऋणस्वरूप देने वाला है जितनी इसके पहले कभी नहीं दी गयी। यह लगभग 2 अरब 80 करोड़ रुपये होगी और भारतीय रेलवे के आधुनिकीकरण पर खर्च की जायगी। इस योजना पर लगभग 5 अरब रुपये व्यय होगा। केन्द्रीय सरकार ने इस योजना को स्वीकृति दे दी है तथा 1977-78 में विश्व बैंक का विशेषज्ञ दल जाँच पड़ताल करके इस नतीजे पर पहुँचा कि भारतीय रेल-विकास की योजनाएँ सर्वथा तर्कसंगत और न्यायपूर्ण हैं। विश्व बैंक ने इस ऋण के लिए स्वीकृति दे दी है।

(ii) **सिंचाई परियोजनाएँ**—विश्व बैंक हरियाणा तथा पंजाब में सिंचाई योजनाओं के पुनर्गठन तथा उनमें सुधार के लिए मदद देने जा रहा है।

(iii) **उर्वरक कारखाना**—बम्बई हाई गैस पर आधारित उर्वरक कारखानों के लिए विश्व बैंक विदेशी मुद्रा उपलब्ध करेगा।

(iv) **छठवीं योजना में ग्राम विकास**—छठवीं योजना में ग्राम विकास कार्यक्रमों को प्राथमिकता देने की भारत की नीति की विश्व बैंक ने सराहना की है तथा इन कार्यक्रमों के लिए रुपयों में मदद देने का वचन दिया है। कुछ परियोजनाएँ विचाराधीन हैं।

(v) **मध्य प्रदेश में चम्बल परियोजना**—मध्य प्रदेश में चम्बल में 40 लाख हेक्टेयर भूमि को कृषि योग्य बनाने की योजना विश्व बैंक की सहायता से कार्यान्वित की जा रही है जो 1978-79 में पूरी हो जायगी। इसके लिए विश्व बैंक द्वारा 300 करोड़ 12 लाख रुपये का ऋण स्वीकृत किया गया था।

(vi) **औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम**—देश औद्योगिक विस्तार के लिए विश्व बैंक ने 1977-78 में भारतीय औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम को 80 लाख डालर का ऋण स्वीकृत किया है।

(vii) **उत्तर प्रदेश में सहकारी गोदामों का निर्माण**—उत्तर प्रदेश में 1978-79 में विश्व बैंक की सहायता से 25 करोड़ रुपये की एक योजना लागू की जायगी जिसमें वहाँ सहकारी गोदामों का जाल बिछाया जायगा।

(viii) **मध्य प्रदेश में गहन कृषि विस्तार एवं अनुसन्धान परियोजनाएँ**—मध्य प्रदेश में विश्व बैंक की सहायता से सितम्बर 1978 में गहन कृषि विस्तार तथा अनुसन्धान योजना लागू

की जा चुकी है जिसमे 18·77 करोड़ रुपये का व्यय होगा। यह योजना अगले पाँच वर्षों मे कार्यान्वित हो जायगी। अभी मध्य प्रदेश के दस जिलों में लागू की गयी है।

(ix) केरल कृषि विकास योजना—1977 मे विश्व बैंक ने केरल मे कृषि विकास योजना के लिए जिसे "Tree Crop Development Programme" कहते हैं 27 करोड़ रुपये की वित्तीय सहायता दी है। योजना मे कुल व्यय 62 12 करोड़ रुपये का होगा।

(x) आसाम कृषि विस्तार एवं अनुसन्धान परियोजना—विश्व बैंक ने आसाम को कृषि के विकास के लिए 7 मिलियन डालर का ऋण दिया है जो जून 1977 मे दिया गया। इस कृषि योजना को "Quick Maturing Agriculture Scheme" कहते हे जो तीन वर्ष में पूरी होगी।

इस प्रकार भारत को विश्व बैंक द्वारा काफी उदारतापूर्वक सहायता प्रदान की गयी है।

(2) तकनीकी सहायता एवं प्रशिक्षण—समय-समय पर विश्व बैंक के विशेषज्ञ दल भारत आते रहते हैं और हमारी आर्थिक विकास की योजनाओं के लिए महत्वपूर्ण सुझाव देते हैं। भारत के अधिकारी विश्व बैंक के आर्थिक विकास संस्थान में नियमित रूप से प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे हैं।

(3) सर्वेक्षण दल—भारत को दिये जाने वाले ऋणों के औचित्य का अध्ययन करने एवं विभिन्न योजनाओं का अध्ययन करने के लिए समय-समय पर विश्व बैंक की ओर से सर्वेक्षण दल भारत आते रहे हैं। 1957-58 से बैंक का एक स्थायी प्रतिनिधि भारत मे रहता चला आ रहा है जो योजनाओं और आर्थिक नीतियों में सलाह देता है।

(4) भारत सहायता क्लब (Aid India Club)—विश्व बैंक ने भारत की द्वितीय पंचवर्षीय योजना और तीसरी योजना मे आर्थिक सहायता देने के उद्देश्य से 1958 में एक संघ की स्थापना की जिसमें विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (I. D. A.) के अतिरिक्त दस राष्ट्र है जो इस प्रकार हैं—संयुक्त राष्ट्र अमरीका, इंगलैण्ड, पश्चिम जर्मनी, फ्रान्स, कनाडा, जापान, आस्ट्रिया, बेल्जियम, इटली एवं नीदरलैंड्स। समय-समय पर इस संघ की बैठकें होती हैं जिस पर भारत को आर्थिक सहायता देने पर विचार किया जाता है। भारत सहायता क्लब ने तीसरी योजना के लिए भारत को 5,472 मिलियन डालर की आर्थिक सहायता दी। 1976-77 मे भारत सहायता क्लब द्वारा 176 करोड़ डालर की सहायता स्वीकृत की गयी जिसमे से 130 करोड़ डालर का प्रयोग किया गया। 1977-78 मे भारत सहायता क्लब द्वारा भारत को 200 करोड़ डालर की सहायता दी गयी। 1978-79 के लिए भारत सहायता क्लब ने भारत को 2 अरब 30 करोड़ डालर की सहायता देने का वचन दिया है जिसमे से 1 अरब 30 करोड़ विश्व बैंक देगा तथा शेष अन्य देशों द्वारा प्रदान की जायगी।

(5) पाकिस्तान के साथ नहरी पानी विवाद में मध्यस्थता—भारत और पाकिस्तान में पंजाब की नदियों के जल-विभाजन को लेकर तीव्र विवाद पैदा हो गया था। बैंक की मध्यस्थता के फलस्वरूप 1952 में दोनों देशों के बीच वार्ता प्रारम्भ हुई तथा 1959 मे इस विवाद का निपटारा हो गया।

(6) सामान्य ऋणों की सुविधा—विश्व बैंक ने भारत की यह प्रार्थना स्वीकार करली है कि वह ऋणों का प्रयोग अपनी इच्छानुसार कर सके। अतः भारत को सामान्य ऋणों की सुविधा उपलब्ध हो गयी है।

इस प्रकार विश्व बैंक द्वारा भारत को महत्वपूर्ण सुविधाएँ एवं ऋण प्राप्त हुए है तथा भारत के प्रति बैंक का रुख महानुभूति पूर्ण और उदार रहा है जो उसकी ताजी रिपोर्ट से स्पष्ट है, "भारत के विदेशी मुद्रा रिजर्व में भारी वृद्धि जो इस समय 4,500 करोड़ रुपया है के कारण विदेशी मदद में किसी भी तरह की कमी नहीं की जानी चाहिए बल्कि भारत में आर्थिक विकास को गति देने तथा गरीबी दूर करने के लिए इसमें वृद्धि करने की आवश्यकता है।"

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. विश्व बैंक सगठन और कार्यों की व्याख्या कीजिए ?
2. विश्व बैंक के उद्देश्यो पर प्रकाश डालिए और स्पष्ट कीजिए कि विश्व बैंक उनकी पूर्ति करने मे कहाँ तक सफल रहा है ?
3. विश्व बैंक से भारत किस सीमा तक लाभान्वित हुआ है, विस्तारपूर्वक समझाइए ?
4. विश्व बैंक की सफलताओं का उल्लेख कीजिए ? यदि इसके कार्यों मे कुछ दोष हैं तो उन्हें स्पष्ट कीजिए तथा बताइए कि उन्हें दूर करने के लिए आप क्या सुझाव देंगे ?
5. अर्द्धविकसित देशो को वित्तीय एवं तकनीकी सहायता देने मे विश्व बैंक के कार्यों का मूल्यांकन कीजिए ?

निगम की पूंजी (Capital Resources of the Corporation)

निगम की अधिकृत पूंजी 110 मिलियन डालर है जो एक-एक हज़ार डालर मूल्य के एक लाख दस हज़ार अंशों में विभाजित है। स्थापना के समय 1956 में निगम की स्वीकृत पूंजी 78 मिलियन डालर थी जो 1976 में बढ़कर 107 मिलियन डालर हो गयी। निगम के प्रमुख 6 अंशधारियों के पास कुल स्वीकृत पूंजी का 62 प्रतिशत था। निगम को विश्व बैंक से ऋण देने सम्बन्धी दायित्वों की पूर्ति के लिए 400 मिलियन डालर के बराबर ऋण बिना किसी सरकारी गारण्टी के लेने का अधिकार है। निगम की पूंजी में कुछ मुख्य देशों का अंश इस प्रकार है :

तालिका 54.1—वित्त निगम के मुख्य देशों की स्वीकृत पूंजी

(मिलियन डालर में)

देश	स्वीकृत पूंजी	कुल का प्रतिशत
अमरीका	35.2	32.8
ब्रिटेन	14.4	13.4
फ्रांस	5.8	5.4
भारत	4.4	4.1
जर्मनी	3.7	3.4
जापान	2.8	2.6

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि वित्त निगम के 6 देशों के पास कुल अधिकृत पूंजी का 62 प्रतिशत अंश है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त-निगम का प्रबन्ध

वित्त निगम की सर्वोच्च प्रबन्ध सत्ता प्रशासक मण्डल में निहित रहती है। वित्त निगम के सदस्य देशों के जो प्रशासक (Governors) विश्व बैंक में होते हैं, वे ही वित्त निगम के प्रशासक मण्डल के सदस्य होते हैं। विश्व बैंक का अध्यक्ष वित्त निगम का पदेन प्रधान होता है।

वित्त निगम के कार्यों का संचालन, संचालक मण्डल द्वारा किया जाता है जिसमें विश्व बैंक के संचालक मण्डल के वे सदस्य होते हैं जो वित्त निगम के भी सदस्य होते हैं। संचालक मण्डल द्वारा विश्व बैंक के अध्यक्ष की सहमति से एक अध्यक्ष की नियुक्ति की जाती है जो संचालक मण्डल की सभाओं में भाग लेता है पर उनमें मतदान नहीं कर सकता। यदि संचालक मण्डल चाहे तो अध्यक्ष को पदमुक्त किया जा सकता है।

वित्त निगम में निर्णय बहुमत द्वारा लिये जाते हैं। प्रत्येक सदस्य को 250+प्रति अंश एक मत देने का अधिकार होता है (एक हज़ार डालर बराबर एक अंश)।

वित्त निगम की कार्य प्रणाली

वित्त निगम केवल ऐसे ही विनियोग प्रस्तावों पर विचार करता है जिनका उद्देश्य निजी उत्पादक उद्यम की स्थापना, विस्तार या सुधार करना है और जिससे देश के आर्थिक विकास को प्रोत्साहन मिलेगा। निगम की वित्त व्यवस्था में औद्योगिक, कृषि, व्यापारिक और अन्य ऐसे निजी उद्यमियों का समावेश होता है जो प्रकृति में उत्पादक होते हैं।

उद्योगों के चयन में निर्धारक बातें निम्न होती हैं :

(i) वित्त निगम के उद्यम में भाग लेने से निजी विनियोजक कितनी निजी पूंजी उपलब्ध कर सकते हैं।

(ii) निगम और सहयोगियों को विनियोग के फलस्वरूप लाभ की क्या गुंजाइश है, एवं

(iii) विनियोग के फलस्वरूप, वित्त निगम का विकेन्द्रित विनियोग का लक्ष्य कहाँ तक पूरा होता है।

वित्त निगम की कार्यप्रणाली को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है -

(1) **ऋण देना और अंश पूँजी क्रय करना**—दीर्घकालीन ऋण देकर एवं अंश पूँजी खरीदकर निगम विनियोग करता है एवं निजी विकास उपक्रमों को वित्तीय सहायता प्रदान करता है। निगम अपने सदस्य देशों के विनियोजकों से, विकासशील देशों में विनियोग करने हेतु प्रस्ताव आमन्त्रित करता है। सामान्य रूप में निगम संयुक्त उपक्रम को प्रोत्साहित करता है। इस क्षेत्र में निगम की भूमिका विनियोगी बैंकर के समान है। निगम जिन उपक्रमों की वित्तीय व्यवस्था करता है उनके वित्तीय सलाहकार के रूप में भी कार्य करता है। निजी विनियोजकों के साथ निगम इस प्रकार समझौता करता है कि आवश्यकता पड़ने पर वह अपने विनियोग अंशों को विक्रय कर सके और नये विनियोग हाथ में लेने के लिए उसकी पूँजी में गतिशीलता बनी रहे।

(2) **पिछड़े देशों में विनियोग को प्रोत्साहन**—निगम अपने सदस्य देशों में से पिछड़े देशों में ही विनियोग करता है जहाँ उचित शर्तों पर निजी पूँजी उपलब्ध नहीं होती। किसी उपक्रम को निगम उसी समय वित्तीय सहायता देता है यदि वह उपक्रम देश के आर्थिक विकास में प्राथमिक महत्व का होता है तथा उसमें लाभ की सम्भावना रहती है। साथ ही निगम यह भी देखता है कि उपक्रम के उत्पादन का बाजार विस्तृत है तथा उसका प्रबन्ध कुशलता से किया जा सकता है। विनियोग करते समय निगम घरेलू सहयोग की योजनाओं को प्राथमिकता देता है।

(3) **निजी उपक्रमों को सहायता**—निगम विविध प्रकार के निजी उपक्रमों को ही वित्तीय सहायता देता है। निगम उन कम्पनियों की भी सहायता करता है जिन्हें विस्तार आधुनिकीकरण अथवा विविधता के लिए पूँजी की आवश्यकता होती है। नये उपक्रमों को स्थापित करने में भी निगम सहायता देता है। निगम निजी उपक्रमों में कुल पूँजी का आधा भाग लगा सकता है बशर्ते शेष आधा भाग निजी विनियोजकों ने लगा दिया हो। अभी तक निगम ने मुख्य रूप से निर्माण उद्योगों और विकास वित्त कम्पनियों (Development Finance Companies) में विनियोग किया है। जो परियोजनाएँ विश्व बैंक के कार्यक्षेत्र में आती हैं जैसे सिंचाई, विद्युत, यातायात, भूमि उद्धार (Reclamation) आदि उनमें वित्त निगम विनियोग नहीं करता। निजी उपक्रमों को दी जाने वाली सहायता बँधी हुई नहीं होती अर्थात् उससे किसी भी देश से और किसी भी प्रकार के सयन्त्रों को खरीदा जा सकता है। निगम से या तो घरेलू मुद्रा या विदेशी मुद्रा में सहायता प्राप्त की जा सकती है।

(4) **ऋण सम्बन्धी शर्तें** - निगम अंश पूँजी खरीदकर दीर्घकालीन ऋण देता है। इसमें प्रायः निम्न शर्तों का पालन आवश्यक होता है (i) विनियोग का स्वरूप ऋण, अंश पूँजी का क्रय और ऋणों को पूँजी में परिवर्तन करने की शर्त से सम्बन्धित हो सकता है। (ii) निगम के विनियोग को उस देश की मुद्रा में व्यक्त किया जाता है जहाँ उपक्रम स्थापित किया जाता है। दिये जाने वाले ऋणों को डालर में व्यक्त किया जाता है। (iii) निगम एक लाख डालर से कम और 30 लाख डालर से अधिक पूँजी नहीं लगाता। (iv) ऋणों पर विनिमय का जोखिम ऋणी देश पर होता है। (v) निगम के ऋणों के परिपक्व होने की अवधि सामान्य रूप से 7 से 12 वर्ष होती है। अपवाद स्वरूप इसे बढ़ाया जा सकता है। (vi) ऋणों के जिस अंश का भुगतान नहीं किया गया होता है उस पर 1 प्रतिशत का शुल्क (Commitment Fees) लगता है। (vii) निगम केवल उद्योग की जमानत पर ही ऋण देता है, उसकी सम्पत्ति बन्धक नहीं रखता। (viii) ब्याज दर उद्योग की लाभ कमाने की क्षमता पर निर्भर रहती है तथा प्रायः 6 से 10 प्रतिशत तक रहती है।

(5) **अभिगोपन अथवा उद्यत व्यवस्था (Standby Arrangement)**—वित्त निगम अंश पूँजी का अभिगोपन (Underwriting) भी करता है तथा ऋण देने का वचन देकर पूँजी को

सरलता से उपलब्ध करता है। किन्तु निगम सामान्य लोगों को प्रत्यक्ष रूप से प्रतिभूतियों का विक्रय नहीं करता।

(6) निजी पूँजी का पूरक प्रतियोगी नहीं—ऋण देते समय अथवा अंश खरीदते समय वित्त निगम निजी पूँजी के पूरक के रूप में कार्य करता है, प्रतियोगी के रूप में नहीं। किसी परियोजना में पूँजी की पूर्ति के लिए निगम प्राय. निजी विनियोजकों को ही प्रोत्साहित करता है। जहाँ किसी भी स्रोत से निजी पूँजी उपलब्ध नहीं होती वहाँ निगम अधिकतम पूँजी लगाने को तैयार हो जाता है।

(7) कोषों को सक्रिय और गतिशील बनाये रखना—वित्त निगम एक "होल्डिंग कम्पनी" नहीं है वह अपने विनियोगों का विक्रय कर अपने कोषों को गतिशील बनाये रखता है। वह अपने अंशों को ऐसे विनियोजकों को नहीं बेचता जिस पर उसके सहयोगी विनियोगकर्ता आपत्ति उठाते हैं।

निगम अपने विशेषज्ञों के माध्यम से ऋणी निजी-विनियोजकों में सम्बन्ध बनाये रखता है।

वित्त निगम के कार्यों की प्रगति

निम्न विवरण से वित्त निगम के कार्यों की प्रगति स्पष्ट होती है :

(1) स्वीकृत ऋण—जून 1969 तक वित्त निगम 34 देशों में 159 उपक्रमों में विनियोग कर चुका था तथा उसके विनियोग का दायित्व 365 मिलियन डालर तक पहुँच चुका था जो उसकी अभिदत्त पूँजी (Subscribed capital) से अधिक था। उसके बाद के वर्षों में भी निगम के ऋणों में वृद्धि हुई है। 30 जून, 1976 तक वित्त निगम द्वारा 60 देशों की 162 औद्योगिक इकाइयों को 626 मिलियन डालर के बराबर ऋण दिये जा चुके हैं।

(2) पूँजी का विनियोग—1 सितम्बर, 1961 से वित्त निगम को उद्योगों में अंश पूँजी लगाने का अधिकार मिल गया है और उक्त अवधि से 30 जून, 1976 तक यह 60 देशों में स्थित 170 इकाइयों में पूँजी लगा चुका है जिसकी कुल राशि लगभग 152 मिलियन डालर है। यह पूँजी साधारण अंशों (Equity Shares) के रूप में है।

(3) विकास वित्त कम्पनी के अंशों का क्रय—वित्त निगम विजी विकास वित्त कम्पनियों के अंश भी खरीदता है। निगम 22 देशों की 28 कम्पनियों के अंश खरीद चुका है।

(4) विभिन्न उद्योगों को सहायता—अपनी स्थापना से लेकर 1975 तक निगम ने 1,262 मिलियन डालर की कुल सहायता दी थी जो समस्त अंशों में थी। इसका विवरण निम्न तालिका से स्पष्ट है :

तालिका 54.2—वित्त निगम द्वारा उद्योगों को सहायता (1957-1975)

(मिलियन डालर में)

उद्योग	सहायता
लोहा एवं इस्पात	200
सीमेण्ट एवं भवन निर्माण	164
वस्त्र	146
कागज एवं सम्बन्धित उद्योग	120
खनन	112
उद्योग वित्त कम्पनियाँ	107
रसायन पैट्रो-रसायन	78
मोटर गाड़ी तथा पुर्जे	64
उर्वरक	60
अन्य	211
योग	1,262

देशों के अनुसार सहायता—निम्न तालिका में कुछ प्रमुख देशों को निगम द्वारा दी जाने वाली सहायता का विवरण दिया गया है :

तालिका 54.3—देशों के अनुसार सहायता (मिलियन डालर में)

देश	सहायता की राशि	देश	सहायता की राशि
ब्राजील	263	इण्डोनेशिया	58
टर्की	117	अर्जेनटाइना	53
यूगोस्लाविया	80	भारत	52
फिलीपाइन्स	76	कोरिया	44
मेक्सिको	70	वेनुजुएला	32

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि अधिकांश ऋण विकासशील देशों को दिये गये हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम और भारत

प्रारम्भ से ही भारत वित्त निगम का सदस्य है तथा शुरू में इसे अधिकतम पूँजी वाले पाँच देशों में होने के कारण, प्रशासनिक संचालक मण्डल में स्थायी संचालक नियुक्त करने का अधिकार था जो विश्व बैंक का ही स्थायी संचालक होता था किन्तु बाद में भारत इस अधिकार से वंचित हो गया क्योंकि विश्व बैंक में उसका स्थान प्रथम बड़ी पूँजी वाले पाँच सदस्यों में नहीं रह गया।

जून 1969 तक वित्त निगम ने भारत की 9 कम्पनियों में 23·3 मिलियन डालर की पूँजी विनियोग की थी जो 1975 में बढ़कर 52 मिलियन डालर हो गयी। निगम से पहला ऋण 1959 में भारत की रिपब्लिक फोर्ज कम्पनी को मिला जो 15 लाख डालर का था। दूसरा ऋण किर्लोस्कर आयल इंजन को अप्रैल 1959 में मिला जो 8.5 लाख डालर का था। किन्तु इन दोनों कम्पनियों ने ऋण का प्रयोग नहीं किया क्योंकि अन्य स्रोतों से पूँजी मिल गयी थी। इसके बाद भारत को जो अन्य ऋण मिले उनका विवरण इस प्रकार है—

तालिका 54.4 वित्त निगम द्वारा भारत को दिये गये ऋण (लाख डालर में)

ऋण प्राप्त कम्पनियाँ	ऋण राशि
आसाम सिलिमेनाइट क. लिमिटेड	13.65
के. एस. बी. पम्प लि	2·10
प्रिसीजन बियरिंग्स इण्डिया लि	10·30
फोर्ट ग्लोस्टर इण्डस्ट्रीज लि.	12·11
महिन्द्रा यूजीन स्टील क. लि.	127·96
लक्ष्मी मशीन वर्क्स	13·12
जय श्री केमिकल्स	11·54
इण्डियन एक्सप्लोसिव्स	114·62
जुआरी एग्रो केमिकल्स	189·10

बाद के वर्षों में ही भारत ने वित्त निगम की सहायता का लाभ उठाया है क्योंकि उसे विश्व बैंक से शुरू में दीर्घकालीन और कम ब्याज के ऋण मिलते रहे हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद भारत में जो निजी उद्योग स्थापित हुए हैं, उन्हें सरकारी सहायता उपलब्ध हुई है अथवा अन्य देशों से उन्हें पूँजी मिलती रही है। अतः प्रारम्भ में वित्त निगम से सहायता नहीं ली गयी।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की आलोचनाएँ (Criticism of IFC)

वित्त निगम की स्थापना के समय जो आशाएँ इससे की गयी थीं, वे पूरी नहीं हुई हैं क्योंकि निगम अधिक मात्रा में पिछड़े देशों में विनियोग नहीं कर पाया है। निगम की आलोचनाएँ अग्रांकित आधार पर की जाती हैं :

(1) ऋण की शर्तें कठोर हैं—निगम जिन शर्तों पर सहायता देता है, वे इतनी कठोर हैं कि बहुत से प्रार्थी देश उन्हें पूरा नहीं कर पाते जैसे वह शर्त कि मूलधन व ब्याज का भुगतान डालर में ही स्वीकार किया जायगा, बहुत से देशों के लिए पूरा करना सम्भव नहीं होता।

(2) ऊँची ब्याज की दर—निगम, दिये जाने वाले ऋणों पर $6\frac{1}{2}$ से 7 प्रतिशत तक ब्याज की दर वसूल करता है जो कि बहुत ऊँची है। विकासशील देशों में औद्योगिक उपक्रम इस स्थिति में नहीं हैं कि इतनी ऊँची ब्याज की दर दे सकें। और फिर जहाँ तक दीर्घकालीन ऋणों का सम्बन्ध है, उन पर यह ब्याज की दर काफी ऊँची है।

(3) भेदभावपूर्ण नीति—वित्त निगम अमरीका तथा उसके गुट के देशों को ऋण देने में काफी उदार रहा है तथा एशिया और अफ्रीका के देशों को उतनी सहायता नहीं मिली है जितनी कि उन्हें मिलना चाहिए थी। निगम द्वारा स्वीकृत ऋणों का 71 प्रतिशत भाग लैटिन अमरीका के देशों को मिला है।

(4) कार्य की मन्द गति—निगम के संस्थापकों ने यह आशा लगायी थी कि विश्व बैंक के निर्देशन में निगम काफी तीव्र गति से विकास करेगा किन्तु यह आशा निराशा में बदल गयी। किन्तु यह आलोचना सही नहीं है क्योंकि वित्त निगम ने क्रमशः विकास किया है। यह बात दूसरी है कि वह प्रारम्भ से ही तीव्र गति से कार्य नहीं कर सका। किन्तु इसका कारण यह है कि कोई भी नयी संस्था एकाएक प्रगति नहीं कर सकती और फिर वित्त निगम तो विश्व-व्यापी संस्था है जिसे लोकप्रिय होने में समय लगना स्वाभाविक है। अतः निगम की कार्य करने की वर्तमान अवधि को उसकी सफलता का मानदण्ड नहीं मान लेना चाहिए।

(5) ऋण का आकार उपयुक्त नहीं—वित्त निगम छोटे और बड़े दोनों ही प्रकार के उद्योगों को ऋण देता है। कुछ आलोचकों का कहना है कि निगम को केवल छोटे उद्योगों को ही सहायता देना चाहिए जबकि अन्य आलोचक इस पक्ष में हैं कि निगम को केवल बड़े उद्योगों को ही ऋण देना चाहिए। किन्तु ये दोनों विचार तर्कसंगत नहीं हैं। जहाँ तक छोटे उद्योगों का प्रश्न है एक तो इन्हें बड़ी मात्रा में पूँजी की आवश्यकता नहीं होती और दूसरे, देश की सरकार ही उन्हें ऋण की व्यवस्था कर देती है। जहाँ तक बड़े उद्योगों को ऋण देने का प्रश्न है, हमें इस बात को दृष्टि में रखना चाहिए कि वित्त निगम का मुख्य उद्देश्य विकासशील देशों में निजी विनियोग को प्रोत्साहन देना है तथा इन देशों में बहुत बड़ी औद्योगिक इकाईयां निजी क्षेत्र में नहीं होतीं (कुछ अपवादों को छोड़कर) अतः निगम का ऋण देने की नीति निर्देशक सिद्धान्त यही होना चाहिए कि जो औद्योगिक इकाई चाहे वह छोटी हो या बड़ी, निगम की ऋण की शर्तों को पूरा करती है तो उसे ऋण दिया जाना चाहिए। निगम के 25 प्रतिशत ऋण 20 लाख डालर या इससे अधिक राशि के हैं।

अन्त में निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वित्त निगम ने अब तक विनियोग के जो साधन जुटाए है तथा निजी उपक्रमों में विनियोग किया है, उसे दृष्टि में रखते हुए निगम के लिए विस्तृत कार्य क्षेत्र है। आशा की जा सकती है कि भविष्य में वित्त निगम, पिछड़े और निर्धन राष्ट्रों के आर्थिक विकास में अधिक गतिशील विनियोग की भूमिका निभायेगा।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के उद्देश्यों एवं कार्यों की विवेचना कीजिए ?
2. वित्त निगम ने अपने कार्यों में जो प्रगति की है उसका उल्लेख करते हुए यह बताइए कि वह अपने उद्देश्यों में कहाँ तक सफल हुआ है ?
3. विश्व बैंक की एक पूरक संस्था के रूप में वित्त निगम की क्या भूमिका है तथा विश्व बैंक के कार्यों में इसके कार्यों में क्या भिन्नता है, स्पष्ट कीजिए ?
4. अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के कार्यों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए ? भारत इससे कहाँ तक लाभान्वित हुआ है ?

अध्याय 55

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ

[INTERNATIONAL DEVELOPMENT ASSOCIATION—IDA]

परिचय

1960 में विश्व बैंक के अधीन एक सम्बद्ध संस्था के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की स्थापना की गयी। यह अनुभव किया जा रहा था कि विकासशील देशों को सहायता देने के लिए एक ऐसी संस्था की आवश्यकता है जो बहुत कम ब्याज पर दीर्घकालीन आर्थिक विकास के लिए सुलभ ऋण (Soft Loans) दे सके। विश्व बैंक पिछड़े देशों के लिए आर्थिक पूँजी तो उपलब्ध कर रहा था किन्तु उसकी सीमा यह थी कि ब्याज की दर अधिक थी और वह पूँजी सामाजिक कार्यों के लिए नहीं थी। विकास संघ की स्थापना का प्रस्ताव सबसे पहले संयुक्त राष्ट्र अमरीका के सीनेटर ई. एस. मोनरोनी (E S Monrony) ने प्रस्तुत किया तथा अक्टूबर 1959 में विश्व बैंक के प्रशासक मण्डल की बैठक में विकास संघ की रूपरेखा प्रस्तुत करने का निर्देश संचालक मण्डल को दिया गया तथा फरवरी 1960 में इसकी रूपरेखा विश्व बैंक के 68 सदस्यों को प्रस्तुत की गयी और उनके हस्ताक्षर होने के बाद विकास संघ ने 8 नवम्बर, 1960 को कार्य करना शुरू कर दिया।

विकास संघ की स्थापना में संयुक्त राष्ट्र अमरीका और विश्व बैंक ने इसलिए पहल की ताकि विकास सहायता का भार औद्योगिक देशों में अधिक विस्तृत रूप में वितरित हो सके। विकास संघ की स्थापना का निर्णय अल्पविकसित देशों में सामाजिक पूँजी (Social Capital) का निर्माण करने के लिए किया गया था। सामाजिक पूँजी द्वारा सार्वजनिक हित के सामान्य कार्यों का सम्पादन किया जाता है तथा यह पूँजी आर्थिक दृष्टि से अनुत्पादक होती है। सामाजिक पूँजी से सम्बन्धित परियोजनाएँ हो सकती हैं जैसे सड़कों का निर्माण, गन्दी बस्तियों की सफाई, शिक्षा व स्वास्थ्य से सम्बन्धित परियोजनाएँ आदि। विकास संघ को विश्व बैंक की सुलभ ऋण खिड़की (Soft Loan Window) कहा गया है क्योंकि संघ से विकासशील देशों को दुर्लभ मुद्राएँ (Hard Currencies) प्राप्त हो सकती हैं तथा यह ऋण उन्हीं मुद्राओं में नहीं चुकाना पड़ता।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ के उद्देश्य (Objectives of IDA)

विकास संघ के निम्नलिखित मुख्य उद्देश्य हैं :

(1) आसान शर्तों पर विकास-वित्त की व्यवस्था—अर्द्धविकसित देशों को बहुत ही आसान एवं सुविधाजनक शर्तों पर विकास कार्यों के लिए वित्त की व्यवस्था करना। अन्य शब्दों में सुलभ ऋणों की व्यवस्था करना जिनकी निम्न तीन विशेषताएँ होती हैं :

(i) ऋणों पर बहुत कम ब्याज—मात्र सेवा शुल्क लिया जाता है।

(ii) ऋण लम्बी अवधि के लिए दिये जाते हैं, एवं

(iii) ऋणों का भुगतान ऋणी देश की मुद्रा में स्वीकार कर लिया जाता है।

(2) **विकासशील देशों में जीवन स्तर में वृद्धि**—सदस्य देशों में आर्थिक विकास प्रोत्साहित करना, उत्पादकता में वृद्धि करना और इस प्रकार विकासशील देशों के लोगों के जीवन स्तर में वृद्धि करना।

संघ की सदस्यता—अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ के वे ही देश सदस्य बन सकते हैं जो विश्व बैंक के सदस्य हैं। 1976 में संघ के सदस्यों की संख्या 114 थी। संघ के सदस्यों को विकसित (भाग-1) और विकासशील (भाग-2) दो श्रेणियों में बाँटा गया है। विकसित सदस्यों की संख्या 21 है, शेष 93 विकासशील सदस्य हैं। विकसित देशों को अपना अभ्यंश परिवर्तनशील मुद्रा में देना होता है तथा विकासशील देशों को अभ्यंश का केवल $\frac{1}{10}$ भाग ही परिवर्तनशील मुद्रा में देना होता है।

संघ की पूँजी (Capital Resources of the I. D. A.)

संघ की प्रारम्भिक राशि एक अरब डालर निश्चित की गयी थी जो उन 68 सदस्यों में बँटी थी जो प्रारम्भ में संघ के सदस्य थे। सदस्यों के अभ्यंश विश्व बैंक में उनके अभ्यंशों के अनुपात में निश्चित किये गये थे। अभ्यंशों के भुगतान की व्यवस्था इस प्रकार है :

(i) विकसित व विकासशील दोनों प्रकार के सदस्यों को अपने अभ्यंश का 10 प्रतिशत स्वर्ण अथवा परिवर्तनशील मुद्रा में करना होता है। इस 10 प्रतिशत का आधा भाग देश के सदस्य होने के तीस दिन के भीतर देना होता है तथा इसका 12.5 प्रतिशत कार्य आरम्भ करने के एक वर्ष के भीतर और शेष का 12·5 प्रतिशत प्रतिवर्ष जब तक कि कुल अभ्यंश के 10 प्रतिशत की पूर्ति न हो जाय.

(ii) अभ्यंश का शेष 90 प्रतिशत विकसित देशों को पाँच किस्तों में स्वर्ण अथवा परिवर्तनशील मुद्रा में देना होता है तथा विकासशील देशों को 5 किस्तों में अपने ही देश की मुद्रा में देना होता है।

जनवरी 1976 में विकास संघ की कुल पूँजी 10,774 मिलियन डालर थी। अमरीका, ब्रिटेन, जर्मनी, जापान एवं फ्रांस पाँच सबसे अधिक अभ्यंश वाले देश हैं। कुछ प्रमुख देशों की अभ्यंश राशि निम्न तालिका में दर्शाई गयी है :—

तालिका 55.1—विकास संघ में प्रमुख देशों का अंशदान (मिलियन डालर में)

देश (विकसित)	अभ्यंश	देश (विकासशील)	अभ्यंश
अमरीका	400	भारत	52
ब्रिटेन	1,291	चीन	39
जर्मनी	1,102	ब्राजील	25
जापान	788	अर्जेनटाइना	24
फ्रान्स	702	पाकिस्तान	13
कनाडा	636		

विकास-संघ का संगठन—*विकास संघ का प्रबन्ध उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कि* विश्व बैंक का होता है। बैंक का अध्यक्ष, विकास संघ का भी सभापति होता है किन्तु यदि विश्व-बैंक का अध्यक्ष ऐसे देश का होता है जो विकास संघ का सदस्य नहीं है तो वह विकास संघ का सभापति नहीं बन सकता। यही शर्त विश्व बैंक के प्रशासक मण्डल और सचालक मण्डल पर भी लागू होती है। प्रारम्भ में यह निश्चित किया गया था कि विश्व बैंक के कर्मचारी ही विकास संघ का कार्य देखेंगे किन्तु बाद में यह संशोधन किया गया कि यदि परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक हो तो अध्यक्ष को छोड़कर विकास संघ के शेष पदाधिकारियों की पृथक से नियुक्ति की जा सकती है।

प्रत्येक सदस्य को 550+प्रति पाँच हजार डालर पर एक मत देने का अधिकार है।

विकास संघ के कार्य

प्रारम्भ में यह समझ लेना चाहिए कि विकास संघ यद्यपि विश्व बैंक की पूरक संस्था है किन्तु यह उन कार्यों को अपने हाथ में नहीं लेती जो विश्व बैंक की सीमाओं में आते हैं।

विकास संघ द्वारा दिये जाने वाले ऋण के सम्बन्ध में विशेष बात यह होती है कि यदि निजी क्षेत्र उचित शर्तों पर आवश्यक ऋणों की पूर्ति कर सकता है अथवा जिस देश में परियोजना कार्यान्वित की जा रही है यदि उस देश की सरकार आपत्ति करती है तो फिर विकास संघ ऋण नहीं देता। विकास संघ अल्पविकसित देशों तथा उन पर निर्भर क्षेत्रों की उन परियोजनाओं को वित्तीय सहायता देता है जो उनकी दृष्टि में उच्च विकास प्राथमिकता की होती है। संघ के ऋण अबन्धित होते हैं अर्थात् उन्हें किसी भी देश से सामान खरीदने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है।

विकास संघ निम्न में से किसी भी प्रकार से ऋण देता है :

(i) ऐसे ऋण जिनका भुगतान दीर्घकाल में विदेशी विनिमय में किया जाता है।

(ii) ऐसे ऋण जिनका भुगतान आंशिक रूप से या पूर्ण रूप से देश की मुद्रा में किया जा सकता है।

(iii) ऐसे ऋण जिनमें उपर्युक्त दोनों विधियों का मिश्रण होता है।

विकास संघ सदस्य देश के सार्वजनिक अथवा निजी संगठन को, अन्तर्राष्ट्रीय अथवा क्षेत्रीय संगठन को वित्तीय सहायता देता है। विकास संघ उस देश के राजनीतिक मामले में हस्तक्षेप नहीं करता जिसे यह ऋण देता है और न ही सदस्य देश की राजनीतिक प्रणाली द्वारा विकास संघ ऋण देते समय प्रभावित होता है।

विकास संघ द्वारा दी जाने वाली वित्तीय सहायता काफी सरल शर्तों पर दी जाती है इसकी निम्न तीन विशेषताएँ होती हैं :

(i) अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ द्वारा दिये जाने वाले समस्त ऋणों पर कोई ब्याज नहीं लिया जाता, केवल 3/4 से 1 प्रतिशत वार्षिक सेवाशुल्क ही लिया जाता है।

(ii) ऋणों के भुगतान की अवधि 50 वर्ष होती है तथा प्रथम 10 वर्षों तक ऋण की वापसी नहीं करनी पड़ती बाद के 40 वर्षों में आसान किश्तों में ऋण की अदायगी की सुविधा रहती है।

(iii) सेवाशुल्क उसी राशि पर लगता है जिसको प्रयुक्त किया गया है।

ऋण स्वीकृत करने के पहले विकास संघ एक विशेषज्ञ समिति नियुक्त करता है जो ऋण लेने वाले देश की सम्बन्धित योजना का अध्ययन करती है और अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करती है। इस रिपोर्ट के आधार पर ही विकास संघ ऋण देता है एवं समय-समय पर ऋणी देश की परियोजना की प्रगति का आकलन भी करता रहता है तथा आवश्यकता पड़ने पर तकनीकी एवं अन्य प्रकार की सहायता भी देता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ उन्हीं उद्देश्यों के लिए ऋण देता है जो क्षेत्र की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए आर्थिक विकास की दृष्टि से उच्च प्राथमिकता वाले हों। विकास संघ को यह अधिकार है वह ऐसी किसी भी परियोजना के लिए ऋण दे सकता है जिससे वह उस क्षेत्र के विकास के लिए महत्वपूर्ण समझता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ के कार्यों की प्रगति

विकास संघ द्वारा अधिकांश ऋण सड़क, रेल तथा बन्दरगाहों के निर्माण, जल-निकासी, सिंचाई तथा जल एवं विद्युत पूर्ति के लिए प्रदान किये गये हैं। ऋण देते समय विकास संघ अन्य

अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं के साथ भी सहयोग करता है जैसे 1964-65 में संघ ने पहली बार यूरोपीय विकास कोष (European Development Fund) के साथ मोरिटोनिया एवं सोमालिया में सड़क निर्माण की वित्तीय व्यवस्था में सहयोग किया।

1962 में संघ ने अपने "सामाजिक पूंजी" के उद्देश्य में शैक्षणिक उद्देश्यों में विनियोग करने पर काफी जोर दिया है। इस उद्देश्य से सम्बन्धित योजनाओं का अध्ययन करने के लिए विश्व बैंक और संघ ने संयुक्त रूप में एक विभाग स्थापित किया है।

1976 तक विकास संघ द्वारा सदस्य देशों को विभिन्न उद्देश्यों के लिए 8,434·8 मिलियन डालर के ऋण उपलब्ध किये गये जिनका विवरण इस प्रकार है :

तालिका 55·2—विकास संघ द्वारा उद्देश्यों के अनुसार प्रदत्त ऋण 1976 तक

(मिलियन डालर में)

ऋण के उद्देश्य	राशि	कुल का प्रतिशत
कृषि, वन एवं मत्स्यपालन	2,556·4	30·18
यातायात	1,825·0	21·52
गैर-परियोजना	1,560·0	18·50
उद्योग	586·1	6·95
शक्ति	523·1	6·30
शिक्षा	496·1	5·90
संचार	464·8	5·60
जल पूर्ति व सफाई	203·1	2·40
नगरीकरण	97·8	1·16
जनसंख्या	71·2	·84
पर्यटन	30·2	·40
तकनीकी सहायता	21·0	·25
योग	8,434·8	100·00

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि विकास संघ द्वारा सबसे अधिक ऋण कृषि, मत्स्यपालन तथा वन विकास योजनाओं तथा यातायात के लिए दिया गया है। इन दो मदों के बाद सबसे अधिक ऋण गैर-परियोजना व्यय के लिए दिया गया है। गैर-परियोजना व्यय का आशय उस व्यय से है जो किसी विशेष परियोजना के निर्माण के लिए नहीं दिया जाता वरन् सामान्य उद्देश्य के लिए दिया जाता है जिसके अन्तर्गत ऋणी देश विदेशों से आवश्यक उपकरणों को मंगा सकता है।

1976 तक विकास संघ द्वारा जो ऋण दिये गये हैं, उनमें से अधिकांश पिछड़े एवं विकासशील देशों को ही दिये गये हैं जो कि निम्न तालिका से स्पष्ट है :

तालिका 55·3—विकास संघ द्वारा दिये गये ऋणों का क्षेत्रानुसार विवरण 1976 तक

(मिलियन डालर में)

क्षेत्र	कुल ऋण	कुल का प्रतिशत
पूर्वी अफ्रीका	1,236·7	14·66
पश्चिमी अफ्रीका	623·2	7·60
एशिया	5,470·7	65·51
यूरोप मध्यपूर्व एवं उत्तर अफ्रीका	782·8	9·35
लैटिन अमरीका व कैरीबियन	321·4	3·88
योग	8,434·8	100·00

इसका स्पष्ट संकेत होगा कि विपन्नों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की चिन्ता निरर्थक शब्द-छल के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं कि विकास संघ निकृष्टतम दरिद्रता के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का प्राथमिक अस्त्र है और विश्व दरिद्रता के चंगुल में फँसे 80 करोड़ व्यक्तियों की दुर्दशा से मुंह नहीं मोड़ सकता। यह खेद की बात है कि विश्व के सम्पन्न देश अमरीका द्वारा अधिकारिक रूप से दी जाने वाली विकास सहायता पिछले 16 वर्षों में घटती हुई 0.22 प्रतिशत तक आ गयी है। अतः यह आवश्यक है कि विकास संघ के साधनों की त्वरित पुनः पूर्ति की जानी चाहिए। विकासशील देशों को अपने देश की मुद्रा में ऋणों के भुगतान की सुविधा उचित और सामयिक है। समृद्ध राष्ट्रों को आगे आकर इन देशों के पुनर्निर्माण में सहयोग देना चाहिए। विश्व बैंक के भूतपूर्व अध्यक्ष यूजीन ब्लेक के शब्दों में, "अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ के माध्यम से हमें उन लोगों तक पहुंचना है जिन तक विश्व बैंक अभी तक नहीं पहुंच सका है तथा उन्हें सुन्दर, स्वस्थ एवं समृद्ध तथा उत्पादक जीवन प्रदान करना है।"

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ के उद्देश्यों एवं कार्यों की विवेचना कीजिए ? विकासशील देशों में सामाजिक पूंजी के निर्माण में संघ की प्रगति का मूल्यांकन कीजिए ?
2. विकास संघ से भारत किस तरह लाभान्वित हुआ है, स्पष्ट कीजिए ?
3. अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ को विश्व बैंक की "सुलभ ऋण खिड़की" क्यों कहा गया है, पूर्ण रूप से समझाइए ?

(4) दीर्घकालीन भुगतान-शेष के घाटे की पूर्ति सम्भव नहीं—कुछ आलोचकों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के लिए यद्यपि SDRs की योजना लोचपूर्ण रिजर्व का कार्य करती है किन्तु बिना अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रसार को जन्म दिये यह योजना भुगतान-शेष की दीर्घकालीन प्रतिकूलता को ठीक नही कर सकती।

(5) SDRs पर ब्याज की दर कम—चूँकि SDRs पर ब्याज की दर (1·5%) कम है, घाटे वाले देश अन्य रिजर्व की तुलना मे SDRs का प्रयोग करने को अधिक उत्सुक रहते हैं और दूसरी ओर जिन देशो के पास अतिरेक है वे SDRs का सग्रह करने को प्रोत्साहित नही होते अत: दीर्घकाल मे इस योजना को कार्यान्वित करने मे देशो मे पारस्परिक सहयोग का अभाव रहेगा।

(6) अविश्वास की सम्भावना—SDRs की योजना पूर्ण रूप से प्रादिष्ट अथवा प्रत्ययी (Fiduciary) है तथा उसके पीछे कोई प्रत्याभूति नही हैं अत इस बात की सम्भावना है कि भविष्य मे इसके प्रति अविश्वास की भावना पनपने लगे। यह केवल सर्व स्वीकृति पर आधारित है तथा इसका विश्वास उसी समय बना रह सकता है जब मुद्रा कोष बहुत ही कुशलता से इसका प्रबन्ध करे। यदि एक बार इस पर से लोगो का विश्वास हटता है तो मौद्रिक प्रणाली ध्वस्त हो जायगी।

SDRs के प्रभावशाली प्रयोग के लिए महत्वपूर्ण सुझाव
(IMPORTANT SUGGESTIONS FOR THE EFFECTIVE USE OF SDRS)

(विकासशील देशों के विशेष सन्दर्भ में)
—With Special Reference to Developing Countries)

विश्व की विवादहीन श्रेष्ठ रिजर्व परिसम्पत्ति के रूप मे SDRs की स्थापना की जानी चाहिए। संशोधित मौद्रिक प्रणाली मे SDRs को केन्द्रीय रूप मे रिजर्व बनाने के लिए कई परिवर्तनो की आवश्यकता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के रूप मे SDRs के विकास को प्रतिष्ठित करने के लिए प्रत्येक अवसर का सदुपयोग किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध मे कुछ महत्वपूर्ण सुझाव इस प्रकार हैं :

(1) विकास सहायता से सम्बद्धता—मौद्रिक प्रणाली के किसी भी संशोधन मे विकासशील देशो की आवश्यकता पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह सुझाव है कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के सृजन को विकासशील देशों की विकास सहायता से सम्बद्ध किया जाना चाहिए अर्थात् SDR को सहायता से सम्बन्धित होना चाहिए जिसके अन्तर्गत धनी देशो से निर्धन देशो को वास्तविक ससाधनो का हस्तान्तरण होना चाहिए। यह SDR-Aid Link Plan है जिसका लाभ यह होगा कि विकसित देश, विकासशील देशों को अतिरिक्त सहायता दे सकेंगे।

(2) अधिक विवेकपूर्ण वितरण—SDRs का प्रयोग समस्त वित्तीय एवं व्यापारिक लेन-देन के लिए किया जाना चाहिए तथा SDR को लेखे की एकमात्र अन्तर्राष्ट्रीय इकाई के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। अभी SDR का वितरण मुद्रा कोष के अभ्यश के आधार पर किया जाता है किन्तु इसके स्थान पर SDR का वितरण अधिक विवेकपूर्ण ढंग से, देशो की आवश्यकतानुसार किया जाना चाहिए। विकासशील देशों को ससाधनों के प्रवाह मे वृद्धि उसी समय सम्भव है जब देशो की विकास आवश्यकताओं के अनुसार SDR का वितरण किया जाय। एक केन्द्रीय समन्वय करने वाली शक्ति होनी चाहिए, जो SDR की वृद्धि को उसी प्रकार नियन्त्रित करे जिस प्रकार देश का केन्द्रीय बैंक देश की मुद्रा-पूर्ति को नियन्त्रित करता है।

(3) SDRs में सतत् वृद्धि—जमैका-सम्मेलन मे इस बात पर सहमति थी कि नयी मौद्रिक प्रणाली मे SDR को मुख्य रिजर्व परिसम्पत्ति बनाया जाना चाहिए किन्तु इस प्रश्न पर सहमति

1 Robbert Triffin—"*International Monetary System of the Year 2000*" in Economicand World Order (ed.) 1971, p. 194.

नहीं हो सकी कि यह उद्देश्य कैसे प्राप्त किया जाय। अतः इस सम्बन्ध में यह सुझाव विचारणीय है कि विश्व-व्यापार की मुद्रा प्रसार विरोधी वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु, नियन्त्रित किन्तु पर्याप्त रूप से SDRs के प्रयोग में वृद्धि होनी चाहिए।

(4) **मुद्रा कोष में अधिक व्यावहारिकता की आवश्यकता**—स्पष्ट किया जा चुका है कि SDR का आवंटन मुद्रा कोष के अभ्यंश पर आधारित है अतः औद्योगिक देशों का SDR का अभ्यंश में प्रभावपूर्ण हस्तक्षेप है। अतः यह आरोप लगाया जाता है कि यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से मुद्रा कोष अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक है किन्तु व्यवहार में एक वाणिज्यिक बैंक के समान है। जब तक अभ्यंश का पुनर्वितरण विकासशील देशों के पक्ष में नहीं किया जाता, SDR केवल विकसित देशों की मौद्रिक शक्ति में ही वृद्धि करेंगे और तृतीय-विश्व इससे वंचित रहेगा। SDR के आवंटन को आवश्यकता पर आधारित करके ही, विकासशील देशों के SDRs में वृद्धि सम्भव है।

इस प्रकार यदि SDRs के आवंटन की प्रणाली में विकासशील देशों की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए परिवर्तन किया जाय तो इससे न केवल अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के भार में कमी होगी वरन् अल्प-विकसित देशों की विनिमय सम्बन्धी समस्याएँ भी हल होंगी। नयी मौद्रिक प्रणाली उस समय (विशेष रूप से विकासशील देशों के लिए) अधिक कुशल एवं प्रभावपूर्ण हो सकती है, यदि SDRs और विकास के लिए उनके सम्भावित प्रयोग में एक कड़ी की स्थापना कर दी जाय।

SDRs का भविष्य

1976 में जमैका सम्मेलन में इस बात पर सहमति व्यक्त की गयी थी कि अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में स्वर्ण के स्थान पर SDR ही मुख्य रिजर्व परिसम्पत्ति होगी किन्तु न तो उस समय और न बाद में ही SDRs की मात्रा में वृद्धि के लिए कोई प्रयत्न किये गये। इसके लिए यह कारण दिया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में पर्याप्त वृद्धि है तथा इसके पीछे स्वर्ण का अस्तित्व ही मुख्य कारण था। जहाँ तक विश्व की कुल रिजर्व का प्रश्न है, SDRs उसके केवल 45% थे। ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को नियन्त्रित करने में SDR ही मुख्य रिजर्व की भूमिका निभायेंगे, इसके लिए काफी लगातार प्रयत्नों की आवश्यकता थी।

यह सत्य है कि जमैका-सम्मेलन में SDRs को अधिक विस्तृत रूप से प्रयुक्त करने के लिए कई प्रावधान रखे गये थे। अब SDR ही मुद्रा कोष की लेखे की इकाई है। अब SDR को लेन-देन के विस्तृत क्षेत्र में प्रयोग किये जाने की सम्भावना है। यहाँ तक कि मौद्रिक प्रणाली के बाहर भी SDR इकाई का विविध रूपों में प्रयोग किया जा रहा है जैसे हवाई जहाज की सेवाओं में किराये की गणना SDR की इकाइयों में होने लगी है तथा बैंक भी इसी इकाई में ऋण दे रहे हैं।

किन्तु यह कहा जा सकता है कि जमैका में SDR में जो विश्वास व्यक्त किया गया था, उस दिशा में प्रयत्नों का अभाव रहा है।

फिर भी अन्त में यह कहा जा सकता है कि विश्व ऐसी मौद्रिक प्रणाली की ओर गतिशील हो रहा है जिसमें न तो स्वर्ण की और न डालर की ही प्रमुख भूमिका होगी वरन् SDR ही प्रमुख रिजर्व होगा। भविष्य में SDRs का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के समान होगा जो प्रकृति एवं रूप में घरेलू मुद्रा से भिन्न होगी।

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सुधार—एक क्रमबद्ध विवेचन
(INTERNATIONAL MONETARY REFORM)

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में ब्रेटनवुड्स सम्मेलन ने महत्वपूर्ण परिवर्तन किया जिसके आधार पर मुद्रा कोष की स्थापना की गयी। मुद्रा कोष ने विभिन्न सदस्य देशों की मुद्राओं का

समता मूल्य (Par value) स्थापित किया जिसके अन्तर्गत प्रत्येक देश का दायित्व था कि स्वर्ण या डालर में अपनी मुद्रा का मूल्य बनाये रखे। इस समता मूल्य में परिवर्तन करने का प्रावधान मुद्रा कोष की अनुमति से केवल भुगतान शेष के मूलभूत असन्तुलन को दूर करने के लिए था।

समता मूल्य में अमरीका का दायित्व

चूंकि समता मूल्य स्वर्ण या डालर में परिमापित था, यह निश्चित था कि डालर का मूल्य-स्वर्ण में परिमापित हो। अत: अमरीका का यह दायित्व था कि जब तक उसका भुगतान शेष मूलभूत रूप से असन्तुलन में नहीं हो जाता, वह डालर के स्वर्ण मूल्य को बनाये रखे।

रिजर्व स्रोत

यद्यपि ब्रेटनवुड्स सम्मेलन में स्वर्ण को ही अन्तिम रिजर्व का दायित्व सौंपा गया था किन्तु डालर की भूमिका भी एक मुख्य रिजर्व मुद्रा की रही। वास्तव में मुद्रा कोष में स्वर्ण की मात्रा और सदस्य देशों की मुद्राओं का संग्रह ही रिजर्व के रूप में था। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की बढ़ती हुई आवश्यकता को देखते हुए मुद्रा कोष में सदस्य देशों के अभ्यंशों में वृद्धि की गयी। डालर रिजर्व में काफी वृद्धि की गयी तथा संयुक्त राष्ट्र अमरीका की स्थिति विश्व मौद्रिक प्रणाली में एक विश्व बैंकर के समान हो गयी।

डालर का अवमूल्यन—परन्तु इसी विकास में अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली के विनाश के बीज भी छिपे हुए थे। प्रो. रावर्ट ट्रिफिन ने 1960 में अपनी पुस्तक *'Gold and the Dollar Crisis"* में भविष्यवाणी की थी कि अमरीका के मौद्रिक स्वर्ण में, उसके डालर के विदेशी दायित्वों की तुलना में कम वृद्धि होने के कारण, डालर में विश्वास का संकट पैदा होगा। 1960 में डालर में अविश्वास पैदा हुआ जो बढ़ता गया तथा 1968 में बाजार में स्वर्ण की कीमत को डालर में बनाये रखने के प्रयत्न समाप्त कर दिये गये। अगस्त 1971 में अमेरिका को अपने इस वचन से मुकरना पड़ा कि वह विदेशों में अधिकृत डालर की मात्रा को स्वर्ण में परिवर्तित करेगा। 1971 के अन्त में डालर का प्रथम अवमूल्यन तथा फरवरी 1973 में दूसरी बार अवमूल्यन किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि विभिन्न देशों की मुद्राओं के समता मूल्य को समाप्त कर दिया गया और स्थिर विनिमय दरों का स्थान परिवर्तनशील विनिमय दरों (Floating Exchange Rates) ने ले लिया।

डालर का बढ़ता हुआ रिजर्व

उपर्युक्त स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के एक बड़े स्रोत के रूप में डालर उसी समय प्रभावशाली सिद्ध हो सकता था जब या तो अमरीका से भुगतान शेष में भारी घाटा हो अथवा वह विदेशों में विनियोग करता अथवा दोनों ही उपायों को अपनाता। यदि अमरीका ऐसा न करता तो तरलता की कमी को दूर करने के लिए शायद अच्छा विकल्प खोज लिया जाता। किन्तु अमेरीका ने हर कीमत पर डालर को एक राष्ट्रीय मुद्रा के रिजर्व के रूप में कायम रखने का प्रयत्न किया जिसका प्रभाव, प्रो. ट्रिफिन की दृष्टि में स्थिरता प्रदान करने वाला नहीं हुआ। दिसम्बर 1971 में स्मिथसोनियन संस्था वाशिंगटन में दस देशों के समूह (Group of Ten) की बैठक हुई जिसमें समझौते के अनुसार अमरीका ने स्वर्ण के अधिकृत मूल्य को 35 डालर प्रति औंस से बढ़ाकर 38 डालर कर दिया। इस प्रकार डालर के अवमूल्यन ने ब्रेटनवुड्स को ढहने से बचा लिया। विदेशी विनिमय बाजार में उच्चावचन की दृष्टि से 1972 का वर्ष अपेक्षाकृत स्थायित्व वाला वर्ष था किन्तु 1973 के प्रारम्भ से ही अमरीका की स्थिति डांवाडोल थी जिसके फलस्वरूप 1973 में फरवरी में डालर का 10 प्रतिशत अवमूल्यन करना पड़ा।

तैरती हुई विनिमय दरें—1973 का डालर अवमूल्यन ब्रेटनवुड्स प्रणाली की आखिरी सांस थी। डालर की शक्ति मार्च 1973 के आगे नहीं चल सकी। ब्रिटेन, कनाडा, आयरलैण्ड,

इटली, जापान और स्विट्जरलैण्ड की मुद्राएँ स्थिर विनिमय दरों को त्यागकर परिवर्तनशील विनिमय दरों का रूप ग्रहण कर चुकी थी। 11 मार्च, 1973 में जर्मनी, फ्रान्स, बेल्जियम, लक्जेमबर्ग, नीदरलैंड्स और डेनमार्क ने समझौता कर संयुक्त रूप से अपनी मुद्राओं को परिवर्तनशील बना दिया। जर्मनी ने SDR की तुलना में मार्क का 3 प्रतिशत अधिमूल्यन कर दिया। नार्वे एवं स्वीडन भी स्वतन्त्र विनिमय दरों में शामिल हो गये। 19 मार्च, 1973 के आते-आते वास्तव में स्मिथसोनियन समझौता अस्वीकृत हो गया।

SDRs—विशेष आहरण अधिकारों का प्रयोग भी मौद्रिक प्रणाली की एक उल्लेखनीय घटना है जिसका समझौता 1969 में किया गया था। इसके बारे में विस्तृत विवरण प्रारम्भ में दिया जा चुका है अतः इसे दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सुधार तथा "बीस की समिति"
(INTERNATIONAL MONETARY REFORM AND THE COMMITTEE OF TWENTY)

समता दरों पर आधारित ब्रेटनवुड्स प्रणाली की समाप्ति के बाद अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार सुधार की आवश्यकता थी। अतः 1972 में संचालक मण्डल की एक अस्थायी समिति (CRIMSRI or Committee of Twenty) नियुक्त की गयी जो मौद्रिक सुधार के सम्बन्ध में सुझाव देगी। समिति ने सितम्बर 1973 में सुधारों की पहली रूपरेखा प्रस्तुत की। किन्तु इसके बाद तेल की कीमतों में वृद्धि से उपर्युक्त सुधारों पर काफी प्रभाव पड़ा। स्वर्ण का मूल्य बढ़कर 42 22 डालर प्रति औंस हो गया। इन सब बातों को दृष्टि में रखते हुए, "बीस की समिति" ने जून 1974 में अपनी अन्तिम रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसके सुझाव के अनुसार निम्न कार्यवाही की गयी :

(1) संचालक मण्डल को सलाह देने हेतु एक अन्तरिम समिति की स्थापना की गयी।

(2) तैरती हुई विनिमय दरों को स्थायी किन्तु समायोजन योग्य (Stable but Adjustable) बनाये रखने के लिए, कार्यकारी मण्डल न निर्धारक नियम बनाये।

(3) 1 जुलाई, 1974 से SDR का मूल्यांकन मुद्राओं के समूहों द्वारा (Basket of Currencies) किया जाने लगा अर्थात् इस योजना के अनुसार SDR की एक इकाई 16 मुद्राओं की निश्चित मात्रा के योग के बराबर है। ये 16 मुद्राएँ उन देशों की हैं जिनका 1968 से 1972 की अवधि में औसत रूप से विश्व निर्यात में एक प्रतिशत से अधिक अंश रहा है।

(4) जो देश अन्य देशों की मुद्रा क्रय करने के लिए SDR का प्रयोग करते हैं उन्हें पूर्व के 1.5 प्रतिशत के बदले 5 प्रतिशत ब्याज देना पड़ेगा।

(5) SDRs को विकास सहायता से सम्बद्ध करने के लिए समिति ने मुद्रा कोष और विश्व बैंक एक संयुक्त समिति 'विकास समिति' (Development Committee) की स्थापना का सुझाव दिया अतः 1974 की मुद्रा कोष और विश्व बैंक की वार्षिक बैठक में विकास समिति की स्थापना की गयी।

(6) 13 जून, 1974 को मुद्रा कोष के कार्यकारी मण्डल ने एक तेल सुविधा कोष (Oil Facility Fund) स्थापित करने का निर्णय लिया ताकि तेल-कीमतों में वृद्धि से प्रभावित देशों को आर्थिक सहायता दी जा सके। इस कोष में सात तेल उत्पादक देशों (आबूधाबी, ईरान, कुवैत, लीबिया, ओमन सऊदी अरब और वेनेजुएला) तथा कनाडा ने 3 बिलियन SDR का योगदान दिया।

(7) 5 सितम्बर, 1974 से मुद्रा कोष ने नयी मध्य अवधि ऋण देने की सुविधा (New Medium Term Facility) की घोषणा की जिसमें सदस्य देशों को भुगतान-शेष की कठिनाई की विशेष परिस्थितियों में ऋण की सुविधा को एक वर्ष से बढ़ाकर तीन वर्ष कर दिया गया।

(8) 2 अक्टूबर, 1974 को अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सुधार के लिए अस्थायी समिति के स्थान पर एक अन्तरिम समिति की नियुक्ति की गयी जिसका कार्य विश्व-तरलता तथा विकासशील देशों को साधनों को प्रभावशील बनाने के सम्बन्ध में मुद्रा कोष को सलाह देना था।

1976 की नयी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली

बीस की समिति (C-20) ने जून 1974 में अपनी छटवी एवं अन्तिम बैठक वाशिंगटन में आयोजित की तथा अपनी रिपोर्ट "An Outline of the Reform" प्रकाशित की। इस रिपोर्ट की जाँच मुद्रा कोष के प्रकाशक मण्डल की अन्तरिम समिति ने अपनी बैठक जो जनवरी 1976 में किंग्स्टन (जमैका) में आयोजित की गयी, में की तथा मुद्रा कोष के नियमों में नये परिवर्तनों की घोषणा की। इसके फलस्वरूप नयी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली का जन्म हुआ जिसकी प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार है :—

(1) अन्तरिम समिति ने यह विश्वास व्यक्त किया कि SDRs को मुख्य अन्तर्राष्ट्रीय रिजर्व के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

(2) समिति की सिफारिशों के अनुसार स्वर्ण का अधिकृत मूल्य (1 औंस स्वर्ण=SDRs 35=US $ 42·22) समाप्त कर दिया गया है।

(3) मुद्रा कोष का 1/6 भाग स्वर्ण (25 मि० औंस) बाजार मूल्य पर बेच दिया गया है तथा इस विक्रय से जो लाभ प्राप्त हुआ है, उसका प्रयोग ट्रस्ट कोष बनाने के लिए किया जा रहा है ताकि इससे उन विकासशील देशों की सहायता की जा सके जो भुगतान शेष के घाटे के शिकार है।

(4) अन्य 1/6 स्वर्ण का अंश सदस्य देशों को लौटा दिया गया है।

(5) शेष स्वर्ण का क्या प्रयोग किया जायगा, इसका निर्धारण सदस्य देशों के 85 प्रतिशत बहुमत से किया जायगा।

(6) SDRs को मुख्य रिजर्व के रूप में स्वीकार किया गया है तथा सदस्य देशों की मुद्राओं का समता मूल्य SDR में व्यक्त किया जायगा। अभी यह मूल्य 16 देशों के मुद्राओं के समूह द्वारा व्यक्त किया जा रहा है।

(7) सदस्य देशों के अभ्यंश में वृद्धि कर जो 32·5 प्रतिशत थी, कुल अभ्यंश की राशि 39 बिलियन SDR हो गयी है। अभ्यंश की समीक्षा जो 5 वर्षों में की जाती थी, अब 3 वर्षों में की जायगी। समिति इस पर सहमत थी कि तेल उत्पादक देशों का अभ्यंश दूना किया जाना चाहिए तथा विकासशील देशों के वर्तमान अभ्यंश में कमी नही होना चाहिए।

(8) समिति ने यह भी निर्णय लिया कि अब सदस्यों को स्वर्ण में अभ्यंश जमा नही करना पड़ेगा।

(9) समिति ने निर्णय लिया कि मुद्रा कोष का अभ्यंश बढ़ाने का उद्देश्य कोष की तरलता में वृद्धि करना है अत: सभी सदस्यों का यह दायित्व है कि वे ऐसी व्यवस्था करें ताकि उनकी मुद्राएँ कोष के लेन-देन में प्रयुक्त की जाने योग्य बनी रहे। इस सम्बन्ध में मुद्रा कोष ने स्वतन्त्र रूप से प्रयोग करने योग्य मुद्रा (Freely Usable Currency) की धारणा विकसित की है जिसकी दो विशेषताएँ इस प्रकार है—प्रथम ऐसी मुद्रा जिसका अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान करने के लिए विस्तृत रूप से प्रयोग किया जाता है एवं द्वितीय ऐसी मुद्रा जिसका मुख्य विनिमय बाजारों में विस्तृत व्यापार किया जाता है। यह लक्षण कुछ ही मुद्राओं में मिल सकता है किन्तु सब देशों का यह दायित्व होगा कि वे अपनी मुद्रा को प्रयोग-योग्य बनाने के लिए अपनी मुद्राओं का विनिमय करें।

नयी मौद्रिक प्रणाली—एक मूल्यांकन

इसमें कोई सन्देह नही है कि 1976 की नयी मौद्रिक प्रणाली में दूरगामी संशोधन किये गये है। विनिमय की एक नयी प्रणाली शुरू की गयी है जिसमें परिवर्तनशील विनिमय दरों को

स्वीकार कर लिया गया है एवं स्वर्ण को समाप्त कर SDR को मुख्य रिजर्व के रूप में मान लिया गया है।

किन्तु उक्त संशोधनों में नयी और प्रभावशाली मौद्रिक प्रणाली के लिए सभी आवश्यक पहलुओं पर विचार नहीं किया गया है। SDRs का प्रयोग सभी वित्तीय और व्यापारिक लेन-देन के लिए किया जाना चाहिए तथा SDRs का आवंटन देश की आवश्यकतानुसार अधिक विवेकपूर्ण ढंग से होना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि SDRs को विकासशील देशों की विकास सहायता से सम्बन्धित किया जाना चाहिए।

1976 की मौद्रिक नीति में इसके सम्बन्ध में भी कोई निर्णय नहीं किया गया कि नयी मौद्रिक व्यवस्था में विनिमय स्थिरता कैसे प्राप्त की जायगी तथा इस सम्बन्ध में देशों की घरेलू मौद्रिक नीति की क्या भूमिका है। मुद्रा कोष ने जो "स्वतन्त्र प्रयोग करने योग्य मुद्रा" की धारणा प्रस्तुत की है, इससे इस बात की सम्भावना है कि डालर का प्रभुत्व फिर से बढ़ जाये।

आलोचकों का मत है कि वर्तमान मौद्रिक प्रणाली में ब्रेटनवुड्स प्रणाली के समान समरूप और समन्वित नियम नहीं है। वर्तमान प्रणाली का गठन, पुरानी प्रणाली को धराशायी कर, निर्मित किया गया है।

जहाँ तक तरलता का प्रश्न है SDRs से यह अभी हल नहीं हुआ है जबकि किसी भी मौद्रिक प्रणाली के लिए यह आवश्यक है कि वह तरलता की समस्या को हल करे।

वर्तमान मौद्रिक प्रणाली में विकासशील देशों को यह बात स्पष्ट हो गयी है कि उनकी आर्थिक नीति में विनिमय दर की महत्वपूर्ण भूमिका है किन्तु जहाँ तक भुगतान शेष का प्रश्न है, विनिमय दरों में अस्थिरता के कारण इसमें अनिश्चितता बनी रहती है। इस जोखिम को दूर करने के लिए विकासशील देश अपनी मुद्राओं को महत्वपूर्ण मुद्राओं से सम्बन्धित किये रहते हैं किन्तु दीर्घकालीन हितों की दृष्टि से यह व्यवस्था उचित नहीं है। अतः मुद्रा कोष को विनिमय दरों में ऐसे उच्चावचनों पर कड़ा नियन्त्रण लगाना चाहिए जिससे विकासशील देशों के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो।

अन्त में कहा जा सकता है कि कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली उस समय तक सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकती जब तक कि विश्व के देशों में मौद्रिक अनुशासन और सहयोग का अभाव रहता है। इसके लिए आवश्यक है कि दीर्घकालीन राष्ट्रीय हितों एवं व्यापक रूप से विश्व-हितों को दृष्टि में रखते हुए अल्पकालीन राष्ट्रीय हितों का त्याग किया जाना चाहिए।

यह आशा की जा सकती है कि नयी मौद्रिक प्रणाली सफलतापूर्वक कार्य करेगी तथा इसमें अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का महत्वपूर्ण स्थान होगा।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का क्या अर्थ है ? अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष इसे कहाँ तक हल कर पाया है ? समझाइए।
2. क्या वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का वितरण समान है ? यदि नहीं तो इसे समान बनाने के लिए आप क्या सुझाव देंगे ?
3. अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पर्याप्तता से आप क्या समझते हैं ? अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि कैसे की जा सकती है ?
4. अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के क्षेत्र में 'विशेष आहरण अधिकार' की क्या भूमिका है, स्पष्ट कीजिए ?
5. अन्तर्राष्ट्रीय तरलता को बढ़ाने के लिए समय-समय पर जो विभिन्न सुझाव दिये गये हैं, उनका आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए ?

6. विशेष आहरण अधिकार की कार्यप्रणाली स्पष्ट करते हुए, इसका आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए ?
7. अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सुधार की एक क्रमबद्ध विवेचना कीजिए तथा "बीस की समिति" के मुख्य सुझावों को बताइए, इन्हें कहाँ तक कार्यान्वित किया गया है ?
8. 1976 की नवीन मौद्रिक प्रणाली के मुख्य पहलुओं को स्पष्ट करते हुए उसकी आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए ?

Selected Readings

1. Indian Economic Journal, July-Sep. 1977. Special Conference No. on The Evolving International Monetary System.
2. International Monetary Refroms Recent Developments by S. L. N. Simha.
3. I. M. F. Report, 1975 & 1976

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक

[INTERNATIONAL BANK FOR RECONSTRUCTION AND DEVELOPMENT—IBRD]

परिचय

1944 में ब्रेटनवुड्स सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना के साथ ही साथ अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक की स्थापना का भी निर्णय लिया गया। इसे संक्षेप में विश्व बैंक भी कहते हैं। जैसा कि नाम से ही विदित है, विश्व में राष्ट्रों का पुनर्निर्माण करने तथा पिछड़े हुए देशों का आर्थिक विकास करने के उद्देश्य से ही विश्व बैंक स्थापित किया गया था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का उद्देश्य देशों के भुगतान शेष की प्रतिकूलता को ठीक करने के लिए अस्थायी सहायता देना था जबकि विश्व बैंक का उद्देश्य विभिन्न देशों में दीर्घकालीन विनियोगों को प्रोत्साहित करना है अर्थात् राष्ट्रों के पुनर्निर्माण तथा आर्थिक विकास के लिए दीर्घकालीन पूंजी की व्यवस्था करना है।

दीर्घकालीन विनियोग का कार्य मुद्रा कोष द्वारा सम्भव नहीं था, क्योंकि इससे उसकी तरलता समाप्त हो जाती। साथ ही देशों को दीर्घकालीन ऋणों की इतनी अधिक आवश्यकता थी कि इसके लिए एक अलग संस्था स्थापित करना आवश्यक था अतः एक विशेष संस्था के रूप में विश्व बैंक की स्थापना की गयी।

विश्व बैंक के उद्देश्य (Objectives of I B R D)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिषद के समझौते की धारा 1 के अनुसार विश्व बैंक के निम्नलिखित उद्देश्य हैं :

(1) **पुनर्निर्माण एवं आर्थिक विकास**—उत्पादक कार्यों के लिए पूंजी के विनियोग की सुविधा देकर सदस्य देशों के पुनर्निर्माण एवं आर्थिक विकास में सहायता करना। यह सहायता निम्न उद्देश्यों के लिए दी जाती है – युद्धकालीन जर्जरित अर्थव्यवस्था को पुनः शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था में लाना, शान्तिकालीन अर्थव्यवस्था के लिए उपयुक्त उत्पादक सुविधाओं को जुटाना तथा अल्प-विकसित देशों में विकास के लिए साधनों को प्रोत्साहित करना।

(2) **पूंजी विनियोग को प्रोत्साहन**—निजी विदेशी विनियोग को निम्न माध्यमों से प्रोत्साहित करना,, (i) निजी विनियोजकों को ऋण की गारण्टी देना अथवा उसमें शामिल होना,, एवं (ii) यदि निजी विदेशी पूंजी अपर्याप्त हो तो उचित शर्तों पर पूरक पूंजी के रूप में ऋण देना।

(3) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सन्तुलित विकास**—दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय विनियोगों को प्रोत्साहित कर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सन्तुलित विकास करना तथा भुगतान शेष में सन्तुलन को बनाये रखना।

(4) **पूंजी की व्यवस्था**—सदस्य राष्ट्रों में स्वयं पूंजी का विनियोग करना तथा इसके लिए अन्य पूंजीपतियों को प्रोत्साहित करना।

(5) शान्तिकालीन अर्थव्यवस्था की स्थापना—अपने कार्यों को इस तरह सम्पन्न करना जिससे युद्धकालीन अर्थव्यवस्था को शान्तिकालीन अर्थव्यवस्था में परिवर्तित किया जा सके।

सदस्यता (Membership)

प्रारम्भ में यह प्रावधान था कि विश्व बैंक का सदस्य वही देश बन सकेगा जो मुद्रा कोष का सदस्य होगा किन्तु बाद में यह बन्धन ढीला कर दिया गया। 1944 में जो देश मुद्रा कोष के सदस्य थे, वे बैंक के भी मौलिक सदस्य बन गये। बाद में तीन-चौथाई सदस्यों की सहमति से अन्य देशों को भी बैंक का सदस्य बनने का अधिकार था। यदि कोई देश, विश्व बैंक की सदस्यता छोड़ना चाहता है तो वह सचालक मण्डल को लिखित आवेदन कर ऐसा कर सकता है। पर यदि कोई देश बैंक के नियमों की अवहेलना करता है अथवा अपने दायित्वों की पूर्ति नहीं करता तो उसकी सदस्यता समाप्त की जा सकती है।

अगस्त 1978 तक बैंक के कुल सदस्य देशों की संख्या 129 थी।

विश्व बैंक की पूँजी (Capital Resources of the World Bank)

स्थापना के समय बैंक की अधिकृत पूंजी (Authorised Capital) 10,000 मिलियन डालर अर्थात् 10 बिलियन डालर थी जो एक लाख डालर वाले एक लाख हिस्सों में विभाजित थी। इन एक लाख अंशों में से 91,000 अंश मूल सदस्यों द्वारा खरीदे गये थे तथा शेष अन्य सदस्यों के लिए छोड़ दिये गये थे। बैंक की पूंजी में तीन-चौथाई बहुमत से वृद्धि की जा सकती है। सितम्बर 1959 में लगभग सभी देशों के चन्दे दुगने कर दिये गये जिससे कुल अधिकृत पूंजी 21 बिलियन डालर हो गयी।

1978 में विश्व बैंक की अधिकृत पूंजी 41 बिलियन डालर हो गयी। इस वर्ष 125 सदस्य देशों को पूंजी बढ़ाने का अधिकार दिया गया जिसमें से 23 सदस्यों से 31 जनवरी, 1978 तक अपने अंश बढ़ाने के आवेदन प्राप्त हो चुके थे एवं इन अतिरिक्त अंशों का योग 2 बिलियन डालर था।

प्रत्येक देश के चन्दे को दो भागों में विभाजित किया जाता है :

(i) सदस्य देशों को अपने अंशों का 20 प्रतिशत बैंक द्वारा माँगे जाने पर तुरन्त देना होता है जिसमें से 2 प्रतिशत स्वर्ण अथवा अमरीकन डालर में होता है तथा 18 प्रतिशत सदस्य देश अपनी मुद्रा में दे सकता है।

(ii) शेष 80 प्रतिशत उस समय देना पड़ता है जब बैंक को अपने दायित्वों को पूरा करने के लिए उसकी आवश्यकता पड़े। सदस्य देश को अधिकार होता है कि वह अंश स्वर्ण, डालर अथवा बैंक द्वारा आदेशित किसी अन्य मुद्रा में भुगतान कर दे।

बैंक की पूंजी में सदस्य देशों के अभ्यंश निश्चित किये गये हैं। 1959 के पूर्व एवं 1976 में कुल मुख्य देशों के अभ्यंश इस प्रकार थे—

तालिका 53·1—1959 के पूर्व एवं 1976 में बैंक के महत्वपूर्ण देशों के कुछ अभ्यंश

(मिलियन डालर में)

देश	1959 से पूर्व के अभ्यंश	1976 में अभ्यंश
अमरीका	3,175	6,473
इंगलैण्ड	1,300	2,600
फ्रांस	525	1,279
पश्चिम जर्मनी	330	1,365
जापान	660	1,023
भारत	400	900

1976 में विश्व बैंक की अधिकृत पूंजी 25·6 अरब डालर थी।

विश्व बैंक का संगठन

विश्व बैंक का संगठन निम्न संस्थाओं के द्वारा होता है ;

(1) प्रशासक मण्डल (Board of Governors)—इस मण्डल में प्रत्येक सदस्य द्वारा नियुक्त एक प्रशासक होता है एवं एक वैकल्पिक या स्थानापन्न गवर्नर भी होता है। ये प्रशासक 5 वर्ष के लिए नियुक्त किये जाते हैं। स्थानापन्न प्रशासक, प्रशासक की अनुपस्थिति में ही मत देने के लिए अधिकृत होता है। प्रशासक मण्डल की बैठक वर्ष में एक बार अवश्य होती है। प्रत्येक प्रशासक को 250 मत और एक लाख डालर अंश पर एक और मत देने का अधिकार होता है। मण्डल की बैठक में अन्तर्राष्ट्रीय वित्त एवं मौद्रिक समस्याओं पर विचार विमर्श किया जाता है।

(2) कार्यकारी संचालक मण्डल (Board of Executive Directors)—विश्व बैंक के दैनिक कार्यों का संचालन करने के लिए एक कार्यकारी संचालक मण्डल होता है जिसमें 20 सदस्य होते हैं। इनमें से 5 सदस्य सबसे बड़े अभ्यंश वाले देशों द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। शेष 15 अन्य देशों द्वारा अनुपाती प्रतिनिधि निर्वाचन प्रणाली द्वारा चुने जाते हैं। कार्यकारी संचालक मण्डल द्वारा एक अध्यक्ष नियुक्त किया जाता है जो संचालक मण्डल के निर्देशन में काम करता है और प्रत्येक कार्य में मण्डल के प्रति उत्तरदायी होता है।

(3) सलाहकार परिषद (Advisory Council)—बैंक द्वारा कम से कम सात सदस्यों की एक सलाहकार परिषद नियुक्त की जाती है जिसमें बैंकिंग, व्यापार, उद्योग, कृषि, श्रम आदि क्षेत्र के विशेषज्ञ होते हैं। सलाहकार परिषद की वर्ष में कम से कम एक बैठक अवश्य होती है एवं आवश्यकता पड़ने पर अधिक बैठकें बुलाई जा सकती हैं।

(4) ऋण समिति (Loan Committee)—बैंक में एक ऋण समिति भी होती है जिसके सदस्य विशेषज्ञ होते हैं। यह समिति ऋण सम्बन्धी प्रार्थना पत्रों की जांच करती है। इस समिति में एक सदस्य उस देश का भी शामिल किया जाता है जो ऋण के लिए आवेदन करता है।

(5) आय का वितरण (Distribution of Income)—यह निर्णय प्रशासक मण्डल करता है कि बैंक की शुद्ध आय का कौन-सा भाग सुरक्षित कोष में रखा जाय और कौन-सा भाग सदस्यों में वितरित किया जाय। कुल लाभ का 2 प्रतिशत उन सदस्यों में बांट दिया जाता है जिनकी मुद्रा ऋण देने के लिए प्रयुक्त होती है। शेष आय, सदस्य देशों के अभ्यंश के अनुसार उनमें विभाजित कर दी जाती है।

विश्व बैंक की ऋण देने की कार्य प्रणाली
(LENDING OPERATIONS OF THE WORLD BANK)

सदस्य देशों को ऋण तभी समय प्रदान किये जाते हैं जब बैंक इस बात से सन्तुष्ट हो जाता है कि ऋण मांगने वाले देश की आर्थिक स्थिति इस प्रकार है कि उसे ऋण दिया जा सकता है तथा देश जिन परियोजनाओं के लिए ऋण मांग रहा है वे उस देश के लिए आवश्यक हैं। बैंक इस बात का ध्यान रखता है कि ऋणों का उपयोग रचनात्मक कार्यों के लिए किया जाये एवं इस दिशा में बैंक विशेष माध्यमों से परियोजनाओं एवं ऋणों के प्रयोग पर नजर भी रखता है। सामान्य रूप से बैंक दीर्घकालीन और मध्यकालीन अवधि की परियोजनाओं एवं विनियोग के लिए ऋण देता है। बैंक निम्न तीन प्रकार से ऋण देने की व्यवस्था करता है :

(1) अपने स्वयं के कोषों से ऋण देता है।

(2) मुद्रा बाजार से ऋण लेकर भी बैंक सदस्य देशों को ऋण देता है।

(3) बैंक उन ऋणों की गारण्टी पूर्ण अथवा आंशिक रूप से लेता है जो विनियोग एजेन्सियों अथवा निजी विनियोजकों द्वारा दिये जाते हैं।

ऋण देने की विधि

सबसे पहले बैंक उस सदस्य देश की प्रारम्भिक जाँच करता है जो ऋण के लिए प्रार्थना करता है। ऐसे देश की भुगतान क्षमता की जाँच की जाती है। इस बात पर विशेष जोर दिया जाता है कि आवेदक देश में ऋण के उचित प्रयोग की क्षमता है या नहीं तथा ऋण की वापसी एवं ब्याज के भुगतान की उस देश में कितनी क्षमता है। यदि देश पहले ही ऋण का प्रयोग कर चुका है तथा बैंक की दृष्टि में उसकी साख अच्छी है तो इन सारी बातों पर गहराई से ध्यान नहीं दिया जाता।

इसके बाद विश्व बैंक के विशेषज्ञ उस देश में जाकर उस परियोजना की जाँच करते हैं जिसके लिए ऋण माँगा जा रहा है। इस सम्बन्ध में स्थानीय सुविधाओं एवं प्रबन्ध की जाँच भी की जाती है।

तीसरी अवस्था में ऋण की शर्तों को तय किया जाता है अर्थात् विश्व बैंक कुल विनियोग का कितना प्रतिशत देगा, ऋण की अवधि क्या होगी तथा ब्याज की दर क्या होगी। साधारण रूप से बैंक उदार शर्तों पर ऋण देता है।

अन्तिम अवस्था में बैंक ऋणों के प्रयोग पर दृष्टि रखता है। बैंक के प्रतिनिधि सदस्य देश में जाकर इस बात की जाँच करते हैं कि निर्धारित शर्तों के अनुसार ऋणों का प्रयोग किया जा रहा है या नहीं। आवश्यक होने पर ये प्रतिनिधि निर्देश भी देते हैं।

ऋण देने सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण शर्तें

बैंक द्वारा जो ऋण दिये जाते हैं अथवा जिन ऋणों की गारण्टी दी जाती है उनके सम्बन्ध में निम्न शर्तों का पालन किया जाता है :

(1) ऋण देते समय या गारण्टी देते समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि ऋण लेने वाला देश किस सीमा तक अपने दायित्वों को पूरा करेगा। जोखिम से बचने के लिए बैंक इस बात की गहराई से छानबीन करता है कि ऋण देश की भुगतान क्षमता दृढ़ है तथा उसकी आन्तरिक और बाह्य आर्थिक स्थिति में स्थायित्व है।

(2) जब बैंक ऋण की गारण्टी लेता है तो अपने जोखिम के लिए उचित क्षतिपूर्ति ऋण देश से लेता है।

(3) बैंक द्वारा ऋण उसी समय स्वीकृत किया जाता है जब बैंक इस बात से सन्तुष्ट हो जाता है कि ऋण लेने वाले को उचित शर्तों पर अन्य स्रोतों से ऋण नहीं मिल सकता है। बैंक निजी उद्यम के पूरक के रूप में ऋण नहीं देता। बैंक का दृष्टिकोण यह है कि उसके कोषों का प्रयोग ऐसी परियोजनाओं पर नहीं किया जाना चाहिए जिन्हें निजी विनियोजकों अथवा उद्यमियों द्वारा पूरा किया जा सकता है।

(4) बैंक इस शर्त पर भी ध्यान रखता है कि ब्याज की दर एवं अन्य शुल्क उचित है एवं भुगतान की अन्य शर्तें परियोजना के अनुरूप है। इसका उद्देश्य यह कि उत्पादक परियोजनाओं के लिए ही ऋण लिया जाना चाहिए।

(5) बैंक किसी प्रोजेक्ट की लागत के विदेशी विनिमय भाग की पूर्ति के लिए ही ऋण देता है क्योंकि यह आशा की जाती है कि ऋणी देश स्वयं स्थानीय साधनों की व्यवस्था करेगा।

(6) कुछ अपवादों को छोड़कर विश्व बैंक पुनर्निर्माण और विकास की विशेष परियोजनाओं के लिए ही ऋण देता है। विश्व बैंक ऋणों का भुगतान एकमुश्त नहीं वरन् ऋणी देश के नाम खाता खोलकर ऋण की रकम उसमें जमा कर दी जाती है। इसमें से ऋणी देश आवश्यकता पड़ने पर राशि निकाल सकता है।

(7) ऋण के साथ यह शर्त नहीं रहती कि उसे किसी विशेष देश में ही माल खरीदने में व्यय किया जाय वरन् सदस्य देशों मे किसी भी क्षेत्र पर वह राशि व्यय की जा सकती है ।

(8) विश्व बैंक द्वारा ऋण बुनियादी उद्योगों और सार्वजनिक उपयोगिताओं सम्बन्धी उद्योगों के लिए दिये जाते हैं क्योंकि निजी विनियोग इस दिशा में प्रवाहित नहीं हो पाता ।

विश्व बैंक के कार्यों की प्रगति

1946 से अपनी स्थापना से लेकर विश्व बैंक ने पुनर्निर्माण एवं विकास के क्षेत्र में विश्व के देशों की महत्वपूर्ण सेवा की है। भले ही वह अपने उद्देश्यों में पूर्ण रूप से सफल नहीं हो पाया है, किन्तु उसकी सफलताओं को जो उसने अर्जित की है, नकारा भी नहीं जा सकता। बैंक की स्थापना के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए प्रो केन्स ने कहा था कि विश्व बैंक से संसार को मिलने वाले लाभों को बढा चढाकर नहीं कहा जा सकता। प्रो कुरिहारा (Kurihara) के अनुसार, "विश्व बैंक अन्तर्राष्ट्रीय रोजगार के स्थिरीकरण मे एक आशावादी कदम है।"

विश्व बैंक द्वारा किये गये कार्यों की रूपरेखा इस प्रकार है :

(1) **वित्तीय साधनों की प्राप्ति**—बैंक के ऋण देने के कार्यों का निरन्तर विस्तार हुआ है अतः यह आवश्यक था कि वह अपने वित्तीय साधनों का विस्तार करता। पिछले कुछ वर्षों से विश्व बैंक यह अनुभव कर रहा था कि पूंजी की सीमितता के कारण वह अल्पविकसित देशों की अधिक सहायता नहीं कर पा रहा था अतः उसने ऋण प्राप्त करने का कार्यक्रम चालू किया। 30 जून, 1978 को समाप्त होने वाले वित्तीय वर्ष के लिए बैंक का ऋण प्राप्त करने का लक्ष्य 4·2 बिलियन डालर का था तथा फरवरी 1978 तक वह 3 7 बिलियन डालर से भी अधिक प्राप्त कर चुका था। 1977-78 वर्ष के लिए बैंक ने ऋण प्राप्त करने के लिए 29 योजनाएँ प्रस्तुत की थी। इसमें से 12 योजनाएँ सरकारी बाण्ड्स के रूप मे थी जिनसे 2,172 मिलियन डालर अर्थात् कुल कोष का 58 प्रतिशत भाग प्राप्त हुआ। 11 निजी स्रोत से ऋण प्राप्त करने की योजनाएँ थी जिनसे 826 मिलियन डालर प्राप्त हुए जो कुल का 22 प्रतिशत था। शेष 742 मिलियन डालर का ऋण (20 प्रतिशत) केन्द्रीय बैंकों से प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त किया गया।

(2) **ऋण प्रदान करना**—यह स्पष्ट किया जा चुका है कि बैंक का मुख्य उद्देश्य अपने सदस्य देशों को पुनर्निर्माण एवं आर्थिक विकास के लिए ऋण प्रदान करना है। ऋण प्रदान करने की विधि को भी पिछले पृष्ठों मे स्पष्ट किया जा चुका है। 30 जून, 1976 तक विश्व बैंक ने कुल 29,586 मिलियन डालर के ऋण प्रदान किये थे जिनका विवरण निम्न तालिका मे दिया गया है :

तालिका 53 2—30 जून, 1976 तक विश्व बैंक द्वारा प्रदत्त ऋण (मिलियन डालर में)

ऋण की मद	राशि
कृषि, वन, मछली पालन	5,023
परिवहन	7,894
बिजली	6,874
औद्योगिक वित्त कम्पनियाँ	3,239
उद्योग	2,602
शिक्षा	1,001
जल-आपूर्ति	1,080
अन्य	1953
योग	29586

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि अधिकांश ऋण परिवहन और बिजली के लिए दिये गये हैं क्योंकि आर्थिक विकास में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका है। इसके बाद महत्व की दृष्टि से कृषि क्षेत्र में ऋण दिये गये हैं जिनका उद्देश्य कृषि का आधुनिकीकरण करना है। कृषि क्षेत्र में मछली पालन, सिंचाई, बाढ़ नियन्त्रण, पशुपालन, वन और कृषि अनुसन्धान आदि को दिये गये ऋणों का समावेश होता है। परिवहन के अन्तर्गत सड़कों के निर्माण के लिए सबसे अधिक ऋण दिये गये हैं। साथ ही रेलों के विकास, वायु यातायात और बन्दरगाहों के विकास के लिए भी ऋण दिये गये हैं। उद्योगों के क्षेत्र में उर्वरक एवं रसायन, लोहा और इस्पात, रबर, कागज एवं लघु उद्योगों के लिए ऋण दिये गये हैं।

ऋणों के क्षेत्र—बैंक का उद्देश्य यह रहा है कि आर्थिक रूप से पिछड़े देशों की आर्थिक सहायता की जाय अतः इसी दृष्टि से उसने विश्व के पिछड़े देशों को प्राथमिकता देकर ऋण प्रदान किये हैं। निम्न तालिका से ऋणों का क्षेत्र स्पष्ट है.

तालिका 53 3—बैंक द्वारा स्वीकृत ऋणों का क्षेत्र (30 जून, 1970 तक) (मिलियन डालर में)

ऋणों का क्षेत्र	ऋण की राशि
दक्षिण अमरीका तथा कैरेबियन	10,182
यूरोप, मध्यपूर्व एवं उत्तर अफ्रीका	7,971
पूर्वी एशिया तथा प्रशान्त सागर क्षेत्र	5,161
दक्षिणी एशिया	2,679
पूर्वी अफ्रीका	1,836
पश्चिमी अफ्रीका	1,757
योग	29,586

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि विश्व बैंक ने एशिया, अफ्रीका के पिछड़े देशों को उनके आर्थिक विकास के लिए काफी वित्तीय सहायता प्रदान की है। विश्व बैंक के कुल ऋणों का 72 प्रतिशत अंश एशिया, अफ्रीका तथा दक्षिण और केन्द्रीय अमरीका के पिछड़े देशों को दिया गया है जिससे इन देशों में विकास की विभिन्न योजनाएँ चालू की गयी हैं।

विश्व बैंक उसी मुद्रा में ऋण देता है जिसकी माँग प्रार्थी देश द्वारा की जाती है। प्रारम्भ में अधिकांश ऋण डालर में मांगे गये अतः 1956 तक दिये गये कुल ऋणों का 82 प्रतिशत भाग डालर में दिया गया। बाद में अन्य जिन मुद्राओं में ऋण प्रदान किये गये हैं उनमें मार्क (जर्मनी), पौण्ड, फ्रैंक (स्विस एवं फ्रांस) केनेडियम डालर और गिल्डर (नीदरलैण्ड) मुख्य हैं। भारत की मुद्रा में 30 जून, 1976 तक लगभग 50 मि० डालर के तुल्य ऋण दिये गये हैं।

(3) कोष निधि—बैंक अपनी शुद्ध आय में से प्रति वर्ष कुछ राशि रिजर्व कोष (कोष-निधि) में स्थानान्तरित करता है। इसके अतिरिक्त बैंक के पास एक विशेष कोष भी होता है जो एक प्रतिशत घट्टे की रकम से निर्मित होता है। इन दोनों कोषों में 30 जून, 1976 तक 1,624 मिलियन डालर जमा थे।

(4) गारण्टी प्रदान करना—अपने कोषों में से ऋण देने के अतिरिक्त, विश्व बैंक अन्य वित्तीय संस्थाओं या विनियोजकों को ऋण भुगतान की गारण्टी देकर भी सदस्य देशों को ऋण प्रदान करने में सहायता देता है। ऋण की गारण्टी देने में जो जोखिम बैंक उठाता है, उसके बदले वह ऋणी देश से कमीशन लेता है। 1949 से बैंक ऋणों के लिए गारण्टी देता रहा तथा 30 जून, 1965 को बैंक पर लगभग 31 लाख डालर के ऋणों की गारण्टी का दायित्व शेष था जो अब समाप्त हो चुका है। 30 जून, 1965 के बाद किसी भी ऋण की गारण्टी नहीं दी गयी है। इसके

मुख्य दो कारण है—प्रथम, विश्व बैंक की दो सहयोगी संस्थाओ "अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम" और "अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ" ने पिछड़े देशो को पर्याप्त मात्रा मे दीर्घकालीन ऋण पूंजी प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया है एवं दूसरे पिछले कुछ वर्षों से अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग मे वृद्धि हुई है जिससे विश्व बैंक की गारण्टी के बिना ही सदस्य देशो को अन्य देशो से ऋण मिलने लगे है।

(5) तकनीकी सहायता—वित्तीय सुविधाओ के प्रदान करने के अतिरिक्त बैंक अपने सदस्य देशो को उचित एव महत्वपूर्ण तकनीकी सहायता भी प्रदान करता रहा है ताकि देश अपने आर्थिक समाधनो का पता लगा सकें और आर्थिक विकास के कार्यक्रम मे प्राथमिकता का क्रम निर्धारित कर सकें। विश्व बैंक ने विभिन्न देशो मे अपने सर्वेक्षण दल भेजे हैं जिन्होने देशो के साधनो का गहन सर्वेक्षण किया है और उनके दीर्घकालीन विकास के लिए अपने महत्वपूर्ण सुझाव दिये है। इसके अतिरिक्त अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओ द्वारा जो आर्थिक सर्वेक्षण किये जाते हैं, बैंक उनमे भी सहायता करता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ मे एक विशेष आर्थिक कोष (Special United Nations Fund for Economic Development—SUNFED) है। इस कोष मे से विश्व बैंक को विभिन्न देशो की परियोजनाओ के अध्ययन के लिए वित्तीय सहायता दी जाती है। अभी तक जिन परियोजनाओ का अध्ययन हुआ है, उनमे नाइजर नदी पर बाँध परियोजना, ग्वाटेमाला की शक्ति एव सिंचाई विकास योजनाएँ, अर्जेनटाइना की विद्युत तथा यातायात विकास परियोजनाएँ, ईरान मे बन्दरगाह योजना, पाकिस्तान मे बाध और शक्ति-विकास परियोजना प्रमुख हैं।

(6) प्रशिक्षण व्यवस्था—विश्व बैंक ने रॉकफेलर और फोर्ड फाउण्डेशन से वित्तीय सहायता लेकर 1955 मे वाशिंगटन मे एक आर्थिक विकास संस्थान (Economic Development Institute) की स्थापना की है जिसमे अल्प विकसित देशो के वरिष्ठ अधिकारियो के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाती है ताकि वे आर्थिक विकास की समस्याओ को अच्छी तरह से समझ सकें और अपनी क्षमताओ को बढा सकें। अन्य सम्बन्धित विषयों का भी प्रशिक्षण दिया जाता है जैसे वित्त, मौद्रिक व्यवस्था, कर प्रणाली, तकनीकी कुशलता, बैंकिंग संगठन आदि।

(7) अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ के हल मे सहायता—विश्व बैंक ने कुछ अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ को हल करने की दिशा मे भी महत्वपूर्ण कार्य किया है तथा इस कार्य मे उसकी भूमिका एक मध्यस्थ की रही है। इस क्षेत्र मे दो समस्याएँ उल्लेखनीय है—एक भारत-पाक नहरी पानी विवाद और दूसरी, स्वेज नहर विवाद।

विश्व बैंक की आलोचनाएँ
(CRITICISM OF THE WORLD BANK)

कुछ महत्वपूर्ण सफलताओ को प्राप्त करने के बावजूद भी विश्व बैंक की आलोचना की जाती है :

(1) ऊँची ब्याज-दर—आलोचकों ने विश्व-बैंक पर यह आरोप लगाया है कि उसके द्वारा वसूल की जाने वाली ब्याज की दर बहुत ऊंची है। यद्यपि 8 प्रतिशत ब्याज की दर साधारण प्रतीत होती है किन्तु आलोचको का कथन है कि पिछड़े और विकासशील देशो के सन्दर्भ मे यह ब्याज की दर बहुत ऊँची है। विश्व बैंक द्वारा लिए जाने वाले ब्याज मे तीन बातो का समावेश होता है—पहली बात तो यह है कि बैंक को किस दर पर बाजार से ऋण प्राप्त होता है, दूसरी बात, बैंक सब प्रकार के ऋणो पर क्षतिपूर्ति के लिए 1 प्रतिशत कमीशन लेता है और तीसरे, बैंक $\frac{1}{4}$ से 1 प्रतिशत तक वसूली प्रशासनिक लागत और निधिकोष के लिए करता है। अभी तक ऐसा कोई उदाहरण नहीं है जब कि बैंक को अपने मूलधन की वापसी या ब्याज की प्राप्ति मे कोई जोखिम या घाटा हुआ हो। बैंक ने कमीशन के रूप मे एक बड़ी राशि एकत्रित कर ली

है। इसे दृष्टि में रखते हुए बैंक को कमीशन नहीं लेना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की स्थापना से, ऊँची ब्याज की शिकायत काफी हद तक दूर हो गयी है।

(2) **पुनः भुगतान की क्षमता पर अधिक बल**—बैंक की यह भी आलोचना की जाती है कि वह ऋणों की वास्तविक स्वीकृति देने के पहले सम्बन्धित देश की पुनः भुगतान की क्षमता पर अधिक बल देता है। वास्तव में विकासशील देश ऋण इसलिए लेते हैं ताकि उनकी पुनः भुगतान की क्षमता मजबूत हो सके अतः पहले ही इसकी शर्त लगाना और देश की साख की जाँच करना एक कठोर शर्त है। इसे दृष्टि में रखते हुए पुनः भुगतान की क्षमता पूर्व शर्त नहीं होनी चाहिए। दूसरी ओर बैंक के समर्थकों का कहना है कि पूंजी को सुरक्षित रखने के लिए भुगतान क्षमता पर ध्यान देना जरूरी है।

(3) **अपर्याप्त सहायता**—आलोचकों का कथन है कि विश्व के दो तिहाई पिछड़े और विकासशील देशों की विकास और पुनर्निर्माण सम्बन्धी सारी आवश्यकताओं को देखते हुए विश्व बैंक जो आर्थिक सहायता देता है वह अपर्याप्त है। इस बात को बैंक ने अनुभव किया है एवं पूंजी में वृद्धि करने के लिए सदस्य देशों के अभ्यश को बढ़ा दिया गया है साथ ही बैंक भी अन्य देशों से ऋण प्राप्त कर अपने कोष बढ़ा रहा है अतः अब उक्त आलोचना सही नहीं है। बैंक का उद्देश्य केवल उत्पादक योजनाओं को प्रोत्साहित करना है अतः देश को विकास की समस्त योजनाओं हेतु बैंक से सहायता प्राप्त करने की आशा नहीं करनी चाहिए।

(4) **ऋण सम्बन्धी जटिलताएँ**—बैंक के कार्यों पर यह आरोप भी लगाया जाता है कि उसकी ऋण देने की एवं उस पर नियन्त्रण करने की प्रक्रिया काफी जटिल है। ऋण प्राप्त करने के लिए ऋणी सदस्य को उचित कार्य, व्यय एवं लागत सम्बन्धी प्रमाणपत्र प्रस्तुत करने होते हैं अर्थात् बैंक का नियन्त्रण काफी कठोर है। अतः आलोचकों का मत है कि इस नियन्त्रण में ढील होनी चाहिए।

(5) **कार्यों में विलम्ब**—बैंक की यह आलोचना भी की जाती है कि उसकी ऋण स्वीकृत करने की प्रक्रिया इतनी लम्बी है कि उसमें काफी विलम्ब लगता है जिससे विकासशील देशों को ऋण प्राप्त करने में काफी कठिनाई होती है। किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ऋण सही उद्देश्यों के लिए ही स्वीकृत किये जायं, इसमें कुछ विलम्ब लगना स्वाभाविक है और फिर बैंक को दो-चार देशों की नहीं वरन् 129 सदस्य देशों की समस्याओं से निपटना होता है।

(6) **पक्षपातपूर्ण व्यवहार**—बैंक की यह भी आलोचना की जाती है कि वह ऋण देने में अमरीका तथा यूरोपीय देशों के लिए अधिक उदार रहा है। साथ ही विश्व बैंक के कार्यालय में विकसित देशों के अधिकारियों का अधिक हस्तक्षेप है। किन्तु अब बैंक ने एशिया और अफ्रीका के पिछड़े देशों को अधिक ऋण देना प्रारम्भ कर दिया है। साथ ही विकसित देशों में चूंकि प्रशिक्षित अधिकारी उपलब्ध होते हैं अतः उन्हें नियुक्ति में प्राथमिकता दी जाती है किन्तु अब आर्थिक विकास संस्थान की स्थापना होने से विकासशील देशों के अधिकारियों को उचित प्रशिक्षण दिया जा रहा है अतः नियुक्ति में भेद-भाव नहीं किया जाना चाहिए।

(7) **ऋणी एवं ऋणदाता के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध का अभाव**—ऋण प्राप्त करने के लिए बैंक जिस विधि को अपनाता है तथा ऋण को सदस्य देशों को देता है, उसमें ऋण लेने वाले देश एवं ऋण देने वाले सदस्य में प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। न तो ऋण देने वाले देश यह जानते हैं कि किस प्रकार उनकी राशि का प्रयोग किया जा रहा है और न ऋण प्राप्त करने वाले देश ऋण के स्रोत के बारे में जानते हैं। अतः बैंक को दोनों दलों के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए और गारण्टी देना चाहिए।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि बैंक

ने अर्द्धविकसित देशो का आर्थिक विकास करने मे महत्वपूर्ण योगदान दिया है। विश्व बैंक की सहायता का ही यह परिणाम है कि आज पहले की बंजर जमीन, फसलो से लहलहा रही है, जहाँ पहले जगल थे, वहाँ खेत बन गये हैं, नदियो पर बाँध बनाकर सिचाई की व्यवस्था की गयी है, विद्युत की नयी परियोजनाएँ तैयार की गयी हैं तथा यातायात और सचार के साधनों ने तमाम दूरियो को कम कर दिया है। इस सन्दर्भ मे विश्व बैंक के भूतपूर्व अध्यक्ष मि. ब्लैक का कथन उल्लेखनीय है, "संसार के कम विकसित देशो के लिए विश्व बैंक एक अपूर्व सहारा है और इसका मूल्याकन खेल के कुछ पत्थर के भवनो तथा सीमेंट की इमारत के द्वारा नही किया जाना चाहिए। इसका लक्ष्य अधिक गहरा है। इसका कार्य विश्व की धनराशि मे वृद्धि करके, मानवता को प्रकाश और ऊष्मा प्रदान करना है और उन्हे थकान और उदासी मे मुक्त करना है। बैंक का उद्देश्य ऐसी व्यवस्था और विचार धारा का निर्माण करना है जिससे समृद्धि केवल स्वप्न और कल्पना न रहकर ठोस और साकार बन जाय।" डी कॉक (De Kock) के अनुसार, बैंक ने अपने विशिष्ट क्षेत्र मे काफी मात्रा मे सफलता प्राप्त कर ली है तथा वह अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के यन्त्र मे एक महत्वपूर्ण तत्व बन गया है।

विश्व बैंक का भविष्य—आशाजनक दृष्टिकोण एवं अपेक्षाएँ

विश्व बैंक ने पिछड़े देशो के लिए जो कुछ भी किया है, उससे यह स्पष्ट सकेत मिलता है कि विश्व बैंक का भविष्य उज्ज्वल है। यह उल्लेखनीय है कि विश्व बैंक इस बात पर अधिक जोर दे रहा है कि समृद्ध और निर्धन राष्ट्रो के बीच अन्तर दूर किया जाना चाहिए। विश्व बैंक के अध्यक्ष राबर्ट मैकनमारा ने समृद्ध राष्ट्रो को स्मरण दिलाया है कि जब गरीब देशो के एक अरब से ज्यादा लोगो की प्रति व्यक्ति आय स्थिर हो गयी है तब अमीर देशो की अमीरी बढती जा रही है। पिछले कुछ वर्षो से श्री मैकनमारा विश्व के जनसख्या के विपन्नतम वर्गों की सहायता की आवश्यकता का अधिक आग्रह के साथ प्रतिपादन करते रहे हैं परन्तु उन्हे तुलनात्मक दृष्टि से कम सहायता मिली है। उन्होने कहा कि विश्व बैंक पिछड़े देशों के भविष्य मे किये जाने वाले विकास पर विचार स्थगित नही कर सकता। हाल ही मे जो बोन मे विकसित देशो का शिखर सम्मेलन हुआ है, उसमे इन विकसित देशो ने दरिद्रता और प्रभावग्रस्त पिछड़े देशों की आवश्यकताओ का अनुभव किया है।

विश्व बैंक की विश्व विकास पर प्रथम रिपोर्ट (1978)

हाल ही में विश्व बैंक ने विश्व विकास पर पहली बार एक विस्तृत रिपोर्ट प्रकाशित की है जिसमे उसने विकास को अनिश्चितताओ का उल्लेख करते हुए विकसित तथा विकासशील देशों से निर्णायक कदम उठाने की अपील की है। विकासशील देशो की प्रगति अपने देशो के लोगो की गरीबी दूर करने के लिए पर्याप्त नही रही है तथा भविष्य के लिए विश्व अर्थव्यवस्था में ही अनिश्चितता व्याप्त है। औद्योगिक तौर पर विकसित देश भी कठिनाई मे फँसे हुए हैं। इससे विश्व व्यापार में प्रगति की दर घटी है तथा विकसित देशो में सरक्षणवाद बढा है। इसका प्रभाव विकासशील देशो के निर्यात पर पड रहा है। भविष्य मे इससे पूँजी विस्तार के लिए रुकावटें पैदा होगी जिससे विकासशील देशो को अपनी अर्थव्यवस्था के विस्तार मे अगले दशक मे काफी कठिनाई होगी।

विश्व बैंक का मत है कि विकासशील देशो को अपनी प्रगति की वर्तमान दर को बनाये रखने के लिए भी काफी विदेशी पूँजी की आवश्यकता होगी। इन देशो को अपने निर्यात विस्तार के लिए न केवल विकसित देशो के सरक्षणवाद का मुकाबला करना है वरन् कृषि क्षेत्र मे उत्पादकता बढाने का हरसम्भव प्रयास भी करना है। विकासशील देशो मे पूँजी निवेश मे भारी वृद्धि की जरूरत है अत. इस सन्दर्भ मे विश्व बैंक ने कम ब्याज पर अधिक से अधिक पूँजी उपलब्ध करने की सलाह दी है। उसने कहा है कि अमरीका, पश्चिम जर्मनी तथा जापान को ही पूँजी उपलब्ध

देशों को अवमूल्यन की सलाह देता है। किन्तु यहाँ यह समझना जरूरी है कि जब तक देश में मुद्रा प्रसार की स्थिति को नियन्त्रित नहीं किया जाता, अवमूल्यन की नीति प्रभावशील नहीं हो सकती। वास्तव में, विनिमय दरों के निर्धारण में कोष की नीति कमजोर रही है। समता मूल्यों में परिवर्तन करते समय बहुत से देशों ने मुद्रा कोष की सलाह पर कोई ध्यान नहीं दिया। 1949 में 23 देशों ने अपनी मुद्रा का प्रतिस्पर्धी अवमूल्यन किया जिसे मुद्रा कोष रोक नहीं सका।

(10) ऋण देने की नीति अत्यधिक सीमित—मुद्रा कोष की यह भी आलोचना की जाती है कि उसकी ऋण देने की नीति अत्यधिक सीमित रही है तथा कुछ सदस्यों ने यह अनुभव किया कि उनकी कोष की सदस्यता ने उनके मौद्रिक रिजर्व को कम कर दिया क्योंकि उनके द्वारा कोष में जमा स्वर्ण तथा डालर अवरुद्ध हो गये। यद्यपि कोष ने सदस्यों को ऋण वचन योजना के अन्तर्गत ऋण लेने की सुविधा दी किन्तु सदस्यों ने इसका बहुत ही कम प्रयोग किया। अतः इस व्यवस्था ने रक्षा की द्वितीय पंक्ति का ही कार्य किया तथा विश्व अर्थव्यवस्था में अतिरिक्त क्रय शक्ति का संचार नहीं हो सका।

उपर्युक्त कमियों के बावजूद यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सहयोग के क्षेत्र में मुद्रा कोष ने प्रशंसनीय सफलता प्राप्त की है। वह पूर्ण रूप से इसलिए सफलता प्राप्त नहीं कर सका क्योंकि उसे काफी समस्याओं का सामना करना पड़ा। एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के रूप में मुद्रा कोष ने गतिशीलता का परिचय दिया है तथा विश्व के देशों को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप बनाया है। मुद्रा कोष ने विकसित और पिछड़े देशों के आर्थिक सम्बन्धों में सहयोग पैदा किया है। यह आशा की जा सकती है कि विश्व में आर्थिक और मौद्रिक सहयोग के क्षेत्र में मुद्रा कोष अधिक प्रभावशाली ढंग से अपनी भूमिका निभायेगा।

यद्यपि 1973 तक के मौद्रिक संकटों से ब्रेटन वुड्स प्रणाली की नींव हिल गयी है किन्तु बदलती हुई परिस्थितियों के प्रति कोष सजग रहा है। कोष ने विश्व व्यापार को एवं आर्थिक स्थिरता को स्थायी बनाकर उसमें वृद्धि की है और अपने उद्देश्यों के अनुरूप सामान्य परिवर्तनशीलता की दिशा में क्रमशः प्रगति की है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं भारत
(I. M. F. AND INDIA)

भारत ने 1944 में ब्रेटनवुड्स सम्मेलन में भाग लिया और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के चार्टर पर हस्ताक्षर भी किये। प्रारम्भ में भारत के ही कुछ विद्वानों द्वारा इस बात का विरोध किया गया कि भारत मुद्रा कोष का सदस्य बने। इसका कारण यह था कि भारत एक परतन्त्र देश था एवं उसे मुद्रा कोष से अधिक लाभ होने की आशा नहीं थी। साथ ही यह भी स्पष्ट था कि मुद्रा कोष पर कुछ विकसित राष्ट्रों का ही प्रभुत्व था। एक कारण यह भी था कि उस समय भारत का व्यापार शेष अनुकूल था और भविष्य में भी उसके अनुकूल होने की आशा थी।

किन्तु उपर्युक्त आपत्तियों के बावजूद भारत ने मुद्रा कोष का सदस्य बनना स्वीकार किया एवं 27 दिसम्बर, 1945 में भारत कोष का सदस्य बन गया। भारत ने अपना 400 मिलियन डालर का अभ्यंश जमा कर दिया और रुपये की विनिमय दर घोषित कर दी जो 1 रु० = 0·268601 ग्राम शुद्ध स्वर्ण तथा 31·25 सेंट के बराबर थी। 1949 के अवमूल्यन के बाद रुपये का मूल्य घटकर 0·186621 ग्राम स्वर्ण और 21 सेण्ट के बराबर रह गया। जून 1966 के अवमूल्यन के बाद रुपये का मूल्य 0·118489 ग्राम स्वर्ण और 13.3 सेण्ट के बराबर रह गया है।

मुद्रा कोष का सदस्य बनने के समय से भारत को कोष से 1975 तक 1,865 मिलियन डालर के ऋण प्राप्त हुए। भारत ऋणों का भुगतान करने में नियमित रहा है। 1971 में भारत ने कोष के समस्त ऋणों का भुगतान कर दिया था किन्तु बाद में 1974 और अगस्त 1975 में

तेल सुविधा योजना के अन्तर्गत भारत को मुद्रा कोष से पुनः ऋण लेना पड़ा। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि 21 जुलाई, 1978 को भारत सरकार द्वारा की गयी घोषणा के अनुसार भारत ने मुद्रा कोष का 20 करोड़ 13 लाख डालर का ऋण चुका दिया है और अब मुद्रा कोष का भारत के ऊपर कुछ भी बकाया नहीं है अर्थात् भारत ने मुद्रा कोष से जितना ऋण लिया था, वह पूरा लौटा दिया है।

भारत को मुद्रा कोष से निम्न लाभ हुए हैं :

(1) विश्व बैंक की सदस्यता—मुद्रा कोष का सदस्य बनने के फलस्वरूप ही भारत विश्व बैंक का सदस्य बन सका है जिससे उसे विकास में काफी सहायता मिली है।

(2) 1949 और 1966 में अवमूल्यन की अनुमति—मुद्रा कोष ने 1949 में भारत को रुपये का अवमूल्यन करने की अनुमति दी क्योंकि अन्य देशों सहित ब्रिटेन ने, जिसके साथ भारत के घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध थे, अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया था। इसी प्रकार 1966 में जब भारत की भुगतान शेष की स्थिति काफी प्रतिकूल थी, रुपये का अवमूल्यन करने की सलाह मुद्रा कोष द्वारा दी गयी।

(3) विदेशी मुद्राओं की उपलब्धि—भारत को अपनी पंचवर्षीय योजनाओं में समय-समय पर विदेशी विनिमय के संकट का सामना करना पड़ा है। किन्तु ऐसे अवसर पर इसे वांछनीय विदेशी मुद्रा कोष से प्राप्त हुई है जिससे विदेशी विनिमय की कठिनाई को हल किया गया है।

(4) स्टर्लिंग-दासता से मुक्ति—मुद्रा कोष का सदस्य हो जाने पर भारत को अपने रुपये का मूल्य स्वर्ण में घोषित करना पड़ा जिससे रुपया का मूल्य समता मूल्य के आधार पर किसी भी मुद्रा में व्यक्त किया जा सकता था अतः रुपये की स्टर्लिंग पर निर्भरता समाप्त हो गयी और अब सितम्बर 1975 से भारत ने भारतीय रुपये का स्टर्लिंग पौण्ड से पूर्ण रूप से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया है।

(5) तकनीकी और आर्थिक सहायता—भारत को मुद्रा कोष के विशेषज्ञों द्वारा समय-समय पर तकनीकी सहायता मिलती रही है तथा भुगतान शेष और विदेशी विनिमय सम्बन्धी समस्याओं के हल में सहायता मिली है। इसके साथ ही मुद्रा कोष से मिली आर्थिक सहायता ने हमारी पंचवर्षीय योजनाओं को सफल बनाया है।

(6) अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव में वृद्धि—मुद्रा कोष का सदस्य बनने के नाते भारत के अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव में वृद्धि हुई है क्योंकि विकासशील देशों में भारत की गणना एक प्रमुख देश के रूप में होती है।

अतः स्पष्ट है कि भारत को मुद्रा कोष की सदस्यता से काफी लाभ हुआ है और हम उसकी प्रत्येक योजना से पूरा-पूरा लाभ उठाते रहे हैं।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्यों एवं संगठन को पूर्ण रूप से समझाइए ?
2. मुद्रा कोष के प्रमुख कार्यों को विस्तार से समझाइए ?
3. मुद्रा कोष अपने उद्देश्यों में कहाँ तक सफल हुआ है ? आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए ?
4. भारत को मुद्रा कोष की सदस्यता से कहाँ तक लाभ हुआ है, स्पष्ट कीजिए ?
5. "मुद्रा कोष की कार्यप्रणाली में स्वर्णमान और प्रबन्धित कागजी मान के समस्त गुण हैं तथा उनके दोषों का अभाव है" इस कथन को स्पष्ट कीजिए ?
6. "मुद्रा कोष में स्वर्ण के महत्व को पूर्ण रूप से समाप्त कर दिया गया है" नवीन मौद्रिक सुधारों के सन्दर्भ में इस कथन को समझाइए ?
7. अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग के क्षेत्र में मुद्रा कोष की भूमिका को स्पष्ट कीजिए ?
8. "अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष असफल हो गया है किन्तु इसे अवश्य सफल होना चाहिए" इस कथन को स्पष्ट कीजिए ?

अध्याय **52**

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता (विशेष आहरण अधिकार (SDR) एवं नवीन मौद्रिक प्रणाली के विशेष सन्दर्भ में)

[INTERNATIONAL LIQUIDITY WITH SPECIAL REFERENCE OF S. D. R. AND NEW MONETARY SYSTEM]

परिचय

वर्तमान में मौद्रिक प्रणाली के सन्दर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का प्रश्न काफी महत्वपूर्ण हो गया है। अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली सुचारु रूप से कार्य कर सके और विश्व व्यापार में वृद्धि हो सके, इसके लिए आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता पर्याप्त मात्रा में हो। जब दो देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता है तो यह आवश्यक नहीं होता कि उनके आयात और निर्यात बिल्कुल बराबर हों, और जब भी आयात-निर्यात में अन्तर होता है तो व्यापार-शेष और फिर भुगतान शेष में प्रतिकूलता की समस्या सामने आती है। इस प्रतिकूलता अथवा घाटे की वित्तीय व्यवस्था करने के लिए देश के मौद्रिक अधिकारियों के पास साधनों की जो मात्रा होती है, उसे ही अन्तर्राष्ट्रीय तरलता कहते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की परिभाषा (Definition of International Liquidity)

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों से है। वस्तुओं और सेवाओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और पूँजी सचालन (Capital Movements) के कारण इन भुगतानों का जन्म होता है। इन अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के असन्तुलनों को दूर करने के लिए जो स्वीकृत सरकारी साधन होते हैं, उनका आशय ही अन्तर्राष्ट्रीय तरलता से होता है।

फ्रिज मेचलप के अनुसार तरलता का अर्थ भुगतान क्षमता की तत्परता से है।

प्रो. जे कीथ हार्सफील्ड (J. Keith Horsefield) के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का अर्थ विश्व की स्वर्ण और मुद्राओं की उस रिजर्व मात्रा से है जिनका अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वतन्त्रता से प्रयोग होता है जैसे डालर और स्टर्लिंग पौण्ड। इनको उधार लेने की क्षमता भी तरलता में शामिल रहती है।"[1]

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वे सब साधन निहित होते हैं जो देशों के मौद्रिक अधिकारियों के पास भुगतान शेष के घाटे की पूर्ति करने हेतु उपलब्ध होते हैं।"

---

1 The term international liquidity connotes the world supply of reserves of gold and currencies which are freely usable internationally, such as dollars and sterling plus facilities for borrowing these.—J. K. Horsefield—*Finance and Development*, Vol. I, No 3, Dec. 1964, p. 171.

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली मे SDR का प्रयोग होने के पहले तक स्वर्ण, डालर और स्टर्लिंग पोण्ड अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के सर्वाधिक महत्वपूर्ण माध्यम रहे हैं। वास्तव मे अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का अर्थ यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का भुगतान करने के लिए कितने साधन उपलब्ध हैं ? इन साधनो मे निम्न को शामिल किया जा सकता है :

(i) विदेशी विनिमय कोष जिन्हें प्रत्येक देश भुगतान के रूप मे स्वीकार करने को तैयार हैं।

(ii) विभिन्न देशो की उधार लेने की क्षमता।

(iii) स्वर्ण (नवीन मौद्रिक प्रणाली के अन्तर्गत अब स्वर्ण अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान का साधन नही रह गया है और न ही इसका कोई अधिकृत मूल्य है जिसका यह आशय है कि मुद्रा कोष के सदस्य आपसी शर्तों के आधार पर स्वर्ण भुगतान के लिए स्वतन्त्र है)।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का महत्व

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का महत्व बढ़ता गया है। यदि पर्याप्त रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का अभाव है तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे बाधा उपस्थित होती है तथा उसे सफलतापूर्वक सचालित नहीं किया जा सकता। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के अभाव ने उसके महत्व को अधिक स्पष्ट कर दिया है। 1932 से ही तरलता का अभाव रहा है जिसे स्वर्ण अभाव (Gold shortage) का नाम दिया गया। विश्व युद्ध के बाद अधिकांश स्वर्ण अमेरिका के पास जमा हो गया जिससे अन्य देशो को विदेशी भुगतान मे काफी कठिनाई का सामना करना पड़ा। इस तथ्य ने स्थिति को और अधिक विषम बना दिया कि अमेरिका का व्यापार-शेष सदैव अनुकूल रहा अत डालर की स्थिति मजबूत बनी रही और वह मूल मुद्रा (Key Currency) की श्रेणी मे बना रहा। किन्तु 1958 से डालर की स्थिति मे परिवर्तन हुआ क्योकि उसका व्यापार-शेष प्रतिकूल रहने लगा इसका परिणाम यह हुआ कि अमेरिका के स्वर्ण कोषो का प्रवाह यूरोपीय देशो की ओर हुआ एव तरलता के वितरण मे अनुकूल परिवर्तन हुआ।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का महत्व निम्न कारणो से है :

(i) विदेशी व्यापार मे वृद्धि—विदेशी व्यापार मे वृद्धि के कारण अन्तर्राष्ट्रीय तरलता मे वृद्धि हुई है। विश्व के कुल आयातो का मूल्य 1948 मे 59 अरब डालर था जो 1976 मे बढकर लगभग 800 अरब डालर हो गया। इन बढते हुए आयातो मे विकासशील देशो का अश अधिक रहा है जिनके भुगतानो के लिए पर्याप्त तरलता की आवश्यकता पड़ी है और विश्व के तरल कोषो पर काफी दबाव पड़ा है।

(ii) डालर सहायता की सीमित पूर्ति—अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का महत्व इस कारण भी बढ गया है कि इधर कुछ वर्षों मे डालर सहायता मे कमी आयी है। 1968 तक तरलता की पूर्ति मे डालर की भूमिका महत्वपूर्ण रही है क्योकि विश्व के अनेक देशो को डालर की सहायता मिलती रही है किन्तु बाद मे डालर भी सकट ग्रस्त हो गया और डालर सहायता भी सीमित हो गयी अत तरलता के रूप मे वैकल्पिक स्रोतो का महत्व बढ गया है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष भी इस समस्या से चिन्तित रहा है।

मुद्रा कोष के सदस्य देशो के केन्द्रीय बैंको के पास, स्वर्ण और विदेशी विनिमय दोनो को मिलाकर रिजर्व की मात्रा मे 2 से 3 प्रतिशत की वृद्धि होती रही है जबकि इन देशो मे व्यापार में वृद्धि इससे दुगुनी गति से हो रही है। स्पष्ट है कि प्रतिवर्ष तरलता मे ह्रास होता जा रहा है। यदि विश्व व्यापार मे तरलता के अनुरूप ही सन्तुलित विकास होता तो समस्या इतनी गम्भीर न होती अत. यह आवश्यक है कि विश्व के देशो की रिजर्व की स्थिति मे सुधार किया जाय। क्योकि इसके अभाव में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

तरल कोषों की पर्याप्तता (Adequacy of Liquid Reserves)

तरल कोषों की पर्याप्तता का माप काफी जटिल है क्योंकि जो तत्व तरलता को प्रभावित करते हैं, वे साधारण रूप से नापे नहीं जा सकते । तरल कोषों की पर्याप्तता इसकी माँग और पूर्ति द्वारा प्रभावित होती है । तरलता की माँग इन कारणों द्वारा प्रभावित होती है—आयात के अनुपात में रिजर्व का अनुपात, मुद्रा की पूर्ति, चालू घरेलू दायित्व, कुल राष्ट्रीय सम्पत्ति, रिजर्व को रखने की अवसर लागत जो दीर्घकालीन ब्याज दरों से प्रभावित होती है, प्रति व्यक्ति घरेलू आय, आर्थिक विकास की दर और अन्तर्राष्ट्रीय ऋणग्रस्तता-शेष ।

जहाँ तक तरलता की पूर्ति का प्रश्न है, यह स्वर्ण, SDR, मुद्रा कोष की रिजर्व स्थिति, और परिवर्तनशील विदेशी विनिमय पर निर्भर रहती है । किसी देश के लिए पर्याप्त तरलता की स्थिति क्या हो सकती है यह उस देश की स्थिति पर निर्भर रहता । सामान्य तौर पर एक देश की बाह्य तरलता उस समय पर्याप्त होगी जब भुगतान-शेष के अप्रत्याशित घाटे की पूर्ति करने के लिए तरलता की मात्रा काफी हो और इसके लिए किन्हीं प्रतिबन्धात्मक नीतियों का सहारा न लेना पड़े जिससे राष्ट्रीय आय की वृद्धि और व्यापार का विस्तार नियन्त्रित हो जाता है । यह राष्ट्रीय दृष्टिकोण से तरलता की पर्याप्तता का माप कहा जाता है ।

जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का प्रश्न है, तरलता उस समय पर्याप्त कही जा सकती है जब तरलता की कुल पूर्ति देश की प्रभावशाली माँग के अनुरूप हो । **प्रो. बर्नस्टीन** के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक रिजर्व, पर्याप्त तरलता के अनुरूप है अथवा नहीं, उसकी जाँच यह है कि क्या मौद्रिक रिजर्व बिना विश्व व्यापार को सीमित किये हुए अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के चक्रीय एवं अप्रत्याशित उच्चावचनों की पूर्ति कर सकते हैं ?" यदि इसका उत्तर "हाँ" है तो हम कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता पर्याप्त है अन्यथा नहीं ।

बैलाघ (Balough) के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का निर्धारक तत्व केवल दृश्य व्यापार नहीं है वरन् भुगतानों की मात्रा है ।"

प्रो ट्रिफिन (Prof. Triffin) के मत में "तरलता की पर्याप्तता का आधार वार्षिक आयातों की तुलना में कुल रिजर्व का अनुपात है ।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पर्याप्तता का प्रमुख मान दण्ड यह है कि उनकी सहायता से अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन आकस्मिक उतार-चढ़ाव बिना चलता रहे ।

तरलता की पर्याप्तता के सम्बन्ध में यह समझ लेना आवश्यक है कि तरलता की कोई भी मात्रा ऐसी नहीं है जिसमें किसी भी देश के भुगतान-शेष के भीषण घाटे को चालू रखा जा सके अर्थात् ऐसी स्थिति में तरलता अपर्याप्त सिद्ध होने लगेगी । एक देश तरल रूप में जो रिजर्व कोष रखता है उसका कार्य अल्पकालीन घाटे को दूर करना है जिसके लिए अवमूल्यन, घरेलू मुद्रा संकुचन, अथवा आयातों में पर्याप्त कमी करने का सहारा न लेना पड़े । तरलता का उद्देश्य यह है कि उसका सहारा लेकर देश के अस्थायी संकटों को पार किया जा सके और इतना समय मिल सके कि अर्थव्यवस्था में सुधार किया जा सके । यदि किसी देश के भुगतान-शेष में दीर्घकालीन घाटा है, तो ऐसे देश को उसमें सुधार के लिए उपयुक्त साधनों का सहारा लेना चाहिए । केवल तरलता पर निर्भर रहकर इसे ठीक नहीं किया जा सकता ।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की स्थिति

आयातों की तुलना में रिजर्व का अनुपात एक देश की रिजर्व अथवा तरलता की आवश्यकता को प्रकट करता है । निम्न तालिका में यह स्पष्ट है कि बड़े तेल-उत्पादक देशों को छोड़कर शेष देशों के लिए औसत रूप से 1972 और 1973 की तुलना में 1974 और 1975 में रिजर्व

की मात्रा काफी कम थी। इसका कारण आयातों में भारी वृद्धि थी। यही कारण है कि विश्व के लिए रिजर्व का अनुपात 1973 में 34 से घटकर 1975 में 28 रह गया। निम्न तालिका में इसे दर्शाया गया है .

तालिका 52·1—आयातों की तुलना में रिजर्व का अनुपात (1966-75)

(प्रतिशत में)

वर्ष	विश्व	औद्योगिक देश	अधिक विकसित देश	तेल निर्यातक देश	अन्य अल्प विकसित देश
1966	37	40	31	43	27
1967	36	38	29	46	28
1968	33	34	30	45	28
1969	30	30	30	43	28
1970	29	28	28	43	29
1971	32	33	33	52	28
1972	33	37	48	63	32
1973	34	31	47	59	34
1974	26	31	29	78	25
1975	28	22	26	93	23

[Source : *Annual Report*, 1976 of *IMF*, p. 40.]

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि केवल तेल-निर्यातक देशों के रिजर्व में वृद्धि हुई है। जहाँ तक अल्प-विकसित देशों का प्रश्न है प्रारम्भ में इनके रिजर्व की स्थिति प्रायः स्थिर रही है बल्कि 1974 और 1975 में इसमें ह्रास हुआ है। अधिक विकसित देशों में 1972-1973 को छोड़कर शेष वर्षों में कोई वृद्धि नहीं हुई है।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि विश्व में स्वर्ण के जितने अधिकृत कोष है, उनका अधिकांश भाग कुछ ही देशों में केन्द्रित है जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है

तालिका 52 2—कुछ देशों के अधिकृत स्वर्ण तथा विदेशी विनिमय कोष, 1976

(अरब SDR में)

देश	स्वर्ण	विदेशी विनिमय
संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	9 6	—
जर्मनी	4 1	20·9
फ्रान्स	3·5	3 7
इटली	2·9	2·4
स्विट्जरलैण्ड	2·9	5 9
नीदरलैण्ड्स	1·9	2·0
बेल्जियम	1·5	1·6
जापान	0 7	11 6
आस्ट्रेलिया	—	2 5
कनाडा	0 8	3·1
योग	27 9	53 7

पिछली तालिका स्पष्ट करती है कि विश्वयुद्ध के कुल अधिकृत स्वर्ण कोषों का लगभग 80 प्रतिशत तालिका मे दर्शाये गये 10 देशो के पास है क्योंकि विश्व मे स्वर्ण कोषों की कुल मात्रा 1976 मे लगभग 35 अरब SDR के बराबर थी। इसी प्रकार उपर्युक्त देशों के पास विदेशी विनिमय कोष की मात्रा, विश्व के कुल विदेशी विनिमय कोषों (147 अरब SDR) की तुलना मे 1976 मे लगभग 30 प्रतिशत थी।

पर्याप्तता एवं इष्टतम स्थिति (Adequacy and Optimality)—तरलता के सम्बन्ध में यहाँ दो शब्दो का अन्तर जान लेना चाहिए। ये है पर्याप्तता एवं सर्वोत्तम होने की स्थिति। तरलता का पर्याप्त होना, उसके सर्वोत्तम होने का परिचायक नही है। तरलता के पर्याप्त होने का अर्थ है कि विश्व में रिजर्व की मात्रा और उसमे वृद्धि होने की दर इतनी है कि सब देश मिलकर अपने भुगतानो को समन्वित कर लेते हैं। जहाँ तक तरलता की स्थिति के सम्बन्ध में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का सम्बन्ध है ये दोनो प्रतियोगी न होकर पूरक है। दोनों मिलकर ही SDR की वृद्धि (तरलता के रूप मे) की इष्टतम या सर्वोत्तम दर का निर्धारण कर सकते है। तरलता के लिए उसकी संरचना एवं वितरण भी महत्वपूर्ण है। SDR का वितरण समान होना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या
(INTERNATIONAL LIQUIDITY PROBLEM)

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या के दो पहलू है एक परिमाणात्मक और दूसरा गुणात्मक। परिमाणात्मक पहलू का सम्बन्ध तरलता की पर्याप्तता मे है एवं गुणात्मक का सम्बन्ध तरलता के लिए आवश्यक रिजर्व की प्रकृति और उसकी संरचना से है।

विश्व के देशो के लिए यह एक समस्या रही है कि क्या भविष्य में विश्व के भुगतान दायित्वो को पूर्ण करने के लिए तरलता की मात्रा पर्याप्त होगी? जहाँ तक वर्तमान स्थिति का प्रश्न है, इसे विश्व की आवश्यकता को देखते हुए पर्याप्त नही माना जा सकता। भविष्य मे तरलता अपर्याप्त रहेगी इसके पीछे यह अनुमान है कि जितनी मात्रा मे विश्व व्यापार और लेन-देन की वृद्धि हुई है, उतनी मात्रा मे स्वर्ण रिजर्व मे वृद्धि नही हुई है। अनुमान है कि स्वर्ण रिजर्व की तुलना मे व्यापार मे दुगुनी वृद्धि हुई है। स्वाभाविक है कि ऐसी स्थिति मे तरलता का अन्तर (Liquidity gap) पैदा हो गया है और यदि इसे तत्काल दूर करने के लिए मौद्रिक प्रणाली में वांछनीय सुधार नही किया जाता तो विश्व व्यापार पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

जहाँ तक तरलता के गुणात्मक स्तर का प्रश्न है इसका सम्बन्ध रिजर्व के रूप में डालर और स्टर्लिंग के प्रयोग से है क्योंकि ये दोनो मुद्राएँ मूलभूत मुद्राएँ (Key-currencies) रही है, यद्यपि अब यह स्थिति जर्मनी की मुद्रा (मार्क) और जापान की मुद्रा (येन) को भी प्राप्त हो गयी है। इस सम्बन्ध मे जहाँ तक तरलता के रूप मे स्वर्ण का प्रश्न है इसमें बहुत अधिक वृद्धि नहीं की जा सकती अतः रिजर्व की मात्रा मे वृद्धि के लिए आवश्यक है कि मूल मुद्राओ मे वृद्धि होना चाहिए। केवल डालर संकट के कारण न तो तरलता की समस्या प्रारम्भ हुई है और न ही इसके हल से इसे समाप्त किया जा सकता है। इसे हल करने के लिए यह आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और वित्तीय व्यवस्था के वर्तमान ढाँचे मे परिवर्तन होना चाहिए। प्रत्येक देश को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे केवल आत्म-हित की भूमिका नही निभाना है वरन विश्व के हितो का भी ध्यान रखना है। इस सन्दर्भ मे विश्व में मूल मुद्राओ का वितरण समान होना चाहिए अर्थात् इसके अनुरूप आयात और निर्यात के ढाँचे मे परिवर्तन करना पड़ेगा साथ ही व्यापार की दिशा मे भी वांछनीय परिवर्तन होना चाहिए। विश्व व्यापार असन्तुलित होने के कारण ही अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या इतनी कठिन बन गयी है। अतः विश्व व्यापार में सन्तुलन लाना आवश्यक है।

ताकि उस देश के पास तरलता बनी रहे। मुद्रा कोष के पास इस उद्देश्य के लिए पर्याप्त मात्रा में कोष रहे इसी उद्देश्य से समय-समय पर सदस्य देशों के अभ्यंश में वृद्धि की गयी।

(2) मुद्रा कोष की वित्तीय सहायता सदस्य देशों को तत्काल उपलब्ध हो सके, इसके लिए मुद्रा कोष ने ऋण देने की नीति में निम्न परिवर्तन किये हैं :

(i) 1952 में मुद्रा कोष ने ऐसी नीति बनायी जिसके अनुसार कोई भी सदस्य देश कोष में अपनी इच्छा से अपने स्वर्ण कोष के बराबर ऋण ले सकता था।

(ii) ऋण लेने पर जो सीमाएँ मुद्रा कोष ने लगायी थीं उन्हें भी 1952 में हटा लिया गया। सदस्य देशों को एक वर्ष की अवधि में अपने अभ्यंश के 25 प्रतिशत से अधिक ऋण लेने की स्वीकृति दी गयी।

(iii) 1952 में ही मुद्रा कोष से सहारा समझौते या व्यवस्था (Standby arrangements) शुरू की जिसके अन्तर्गत यदि एक बार सदस्य देश के सहायता के आवेदन की पुष्टि की जा चुकी है तो वह एक निश्चित अवधि में बिना अन्य आवेदन दिये, उतनी सहायता प्राप्त कर सकता है।

(iv) मुद्रा कोष ने अपनी ऋण देने की नीति को अधिक उदार बनाया तथा कई प्रकार के नियन्त्रण हटा लिये।

(3) दिसम्बर 1961 में मुद्रा कोष ने ऋण लेने की एक सामान्य योजना (General Arrangement to Borrow) शुरू की जिसके अन्तर्गत कोष का पूरक ऋण अथवा साधन लेने का अधिकार है। इसका उद्देश्य यह है कि मुद्रा कोष अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली और तरलता के क्षेत्र में अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सके और कोष अतिरिक्त साधनों की आवश्यकता पड़ने पर गतिशील बना सके। इस प्रणाली के अन्तर्गत जो ऋण कोष द्वारा लिये जाते हैं उनसे सदस्य देशों की सहायता की जाती है।

(4) ट्रस्ट कोष की स्थापना—स्वर्ण कोष ने अपनी स्वर्ण निधि का $\frac{1}{6}$ भाग (25 मिलियन औंस) बेचकर एक ट्रस्ट कोष बनाया है जिसमें विकासशील देशों की सहायता की जायगी ताकि उनके कोषों को तरल रखा जा सके।

(5) मुद्रा कोष की पूँजी में वृद्धि—तरलता में वृद्धि के लिए मुद्रा कोष की पूँजी में 36·6 प्रतिशत की वृद्धि की गयी है जिससे कोष की पूँजी 39 मिलियन SDR हो गयी है।

(6) विशेष आहरण अधिकार (S. D R.) योजना—अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि करने के लिए 1 जनवरी, 1970 से मुद्रा कोष द्वारा विशेष आहरण अधिकार योजना आरम्भ की गयी। SDR एक अन्तर्राष्ट्रीय रिजर्व मुद्रा है जिसका प्रयोग स्वर्ण अथवा विदेशी मुद्राओं की सहायता बिना अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों को निपटाने के लिए किया जा सकता है। SDR के बदले परिवर्तनीय मुद्राएँ प्राप्त की जा सकती है। SDR अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में स्वर्ण की भाँति ही कार्य करता है अतः इसे कागजी सोना (Paper gold) भी कहा जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि के विभिन्न सुझाव

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली के दोषों को दूर करने के एवं अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि करने के लिए विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा विभिन्न योजनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं जिनकी संक्षिप्त समीक्षा इस प्रकार है :

(1) स्वर्ण का पुनर्मूल्यन (Revaluation of Gold)—इस योजना को सर रॉय हैरड (Sir Roy Harrod) ने प्रस्तुत किया। उन्होंने यह तर्क प्रस्तुत किया कि 1934 से स्वर्ण का मूल्य अमरीकन डालर में प्रायः स्थिर रहा है जबकि अमरीका में वस्तुओं की कीमतें दुगनी हो गयी हैं अतः स्वर्ण-रिजर्व की मात्रा कम होती चली गयी है। प्रो. हैरड ने मत व्यक्त किया कि स्वर्ण के

मूल्य में 100 प्रतिशत की वृद्धि होनी चाहिए अर्थात् डालर का 50 प्रतिशत अवमूल्यन किया जाना चाहिए।

किन्तु उक्त योजना कार्यान्वित नहीं हुई क्योंकि इसमें व्यावहारिक कठिनाई यह थी कि जिन देशों के पास स्वर्ण के बड़े भण्डार हैं, वे तो लाभान्वित होंगे और अन्य देशों को हानि होगी। डालर के 50 प्रतिशत अवमूल्यन से विशेष लाभ नहीं होगा क्योंकि अन्य देश भी अवमूल्यन करेंगे। साथ ही इतनी बड़ी मात्रा में डालर के अवमूल्यन से अन्य देशों का डालर से विश्वास उठ जायगा और विश्व में मौद्रिक संकट व्याप्त हो जायगा। और फिर वर्तमान में मुद्रा कोष में स्वर्ण को जिस प्रकार अप्रतिष्ठित कर दिया गया है, उसे दृष्टि में रखते हुए प्रो. हैरड की योजना व्यावहारिक मालूम नहीं होती।

(2) ट्रिफिन-योजना (Triffin Plan)—अमरीका में येल विश्वविद्यालय के प्रो. राबर्ट ट्रिफिन (Robert Triffin) ने अपनी पुस्तक *"Gold and the Dollar Crisis"* में हैरड की स्वर्ण-पुनर्मूल्यन योजना का विरोध किया और अपनी योजना प्रस्तुत की जिसे 'ट्रिफिन योजना' के नाम से जाना जाता है। इस योजना के अन्तर्गत एक अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्था के निर्माण का सुझाव दिया गया जो अन्तर्राष्ट्रीय साख का सृजन करेगी और राष्ट्रीय बैंकों के लिए बैंक का कार्य करेगी। अर्थात् यह अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक होगा जो न केवल मुद्रा-रिजर्व को एकत्रित करेगी वरन् अपने सदस्य केन्द्रीय बैंक के लिए तरलता का सृजन भी करेगी।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ही अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक की तरह कार्य करेगा तथा देश के केन्द्रीय बैंक अपने स्वर्ण रिजर्व मुद्रा कोष के पास जमा करेंगे और इसके बदले बैंकों को एक निश्चित रिजर्व के प्रयोग की सुविधा होगी जिसे अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के लिए प्रयुक्त किया जा सकेगा। मुद्रा कोष एक समाशोधन गृह के समान भी कार्य करेगा जिसमें विभिन्न देशों के दायित्वों का समायोजन किया जा सकेगा। प्रो. केन्स की अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन संगठन के समान ही थी।

किन्तु कुछ दोषों के कारण ट्रिफिन योजना को स्वीकार नहीं किया गया। यह भय व्यक्त किया गया कि इसमें अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रसार होगा। उक्त योजना में मुद्रा की परिवर्तनशीलता और अपरिवर्तनशीलता में भेद नहीं किया गया। यदि मुद्रा कोष के पास अपरिवर्तनशील मुद्राओं का संग्रह बढ़ जाता है तो कोष की तरलता के बारे में सन्देह प्रकट किया जा सकता है। यह भी आशंका थी कि देश इसे स्वीकार नहीं करेंगे क्योंकि उन्हें एक उच्च संस्था के आगे अपनी आर्थिक प्रभुता का समर्पण करना पड़ेगा।

(3) स्टाम्प योजना (Stamp Plan)—मुद्रा कोष के भूतपूर्व ब्रिटिश सचालक मैक्सवेल स्टाम्प (Maxwell Stamp) ने इस योजना को प्रस्तुत किया अतः इसे स्टाम्प योजना कहते हैं। इसके अन्तर्गत विकासशील देशों की आवश्यकताओं का विशेष ध्यान रखा गया। स्टाम्प का प्रस्ताव था कि मुद्रा कोष को प्रतिवर्ष 3 बिलियन डालर के कोष प्रमाणपत्र जारी करने का अधिकार होना चाहिए। इन्हें क्रय करने वाले देश सहायता समन्वय एजेन्सी (Aid Croodinating Agency) के सदस्य बन जायेंगे। यह समिति प्रमाणपत्रों से प्राप्त आय का प्रयोग विकासशील देशों को ऋण देने के रूप में करेगी। जिस देश के पास ऐसे प्रमाणपत्र हैं, उनका प्रयोग आपसी समझौते से भुगतान-शेष निपटाने के लिए भी किया जा सकता है। स्टाम्प योजना में यह प्रस्ताव भी था कि कोष के प्रमाणपत्रों के लिए एक नियमित बाजार होना चाहिए जहाँ घाटे वाले देश प्रमाणपत्र बेच सकें और अतिरेक वाले देश उन्हें क्रय कर सकें।

इसमें सन्देह प्रकट किया गया कि विकसित देश उक्त प्रस्ताव के अनुसार विकासशील देशों की सहायता करना चाहेंगे। इस योजना में इस बात का उल्लेख भी नहीं था कि किन देशों को और

किस आधार पर सहायता दी जाय ? इन दोषों के कारण स्टाम्प-योजना को कार्यान्वित नहीं किया जा सका।

(4) **बर्नस्टीन प्रस्ताव** (The Bernstein Proposed)—**बर्नस्टीन** ने प्रस्ताव रखा कि मुद्रा-कोष के सदस्यों को अपने अभ्यंशों को अन्तर्राष्ट्रीय रिजर्व के अंश के रूप में स्वीकार करना चाहिए ताकि वे अपने घाटे की पूर्ति के लिए कोष के साधनों का अधिक से अधिक प्रयोग कर सकें। बर्नस्टीन-प्रस्ताव के तीन भाग हैं :

पहला प्रस्ताव यह है कि कोष के सदस्य देशों को अपने अभ्यंशों को कार्यकारी शेष (Working Balance) के रूप में एकत्रित करना चाहिए। इससे अन्तर्राष्ट्रीय रिजर्व के योग में वृद्धि होगी।

दूसरे प्रस्ताव के अन्तर्गत यह सुझाव दिया गया कि मुद्रा कोष को उन देशों के साथ समझौता करना चाहिए जिनकी मुद्राओं की माँग अधिक है। ऐसे देश मुद्रा कोष के Reserve Settlement Account में कोष द्वारा माँगे जाने पर ऋण देंगे जिसकी एक निश्चित मात्रा होगी। फिर मुद्रा कोष इस प्रकार ऋणों से उन देशों की सहायता करेगा जो पूँजी बहिर्गमन (Capital flight) की समस्या अनुभव कर रहे हैं। यह सहायता मुद्रा कोष द्वारा ऋणपत्रों के रूप में ली जायगी तथा सहायता किये जाने वाले देशों को भी ऋणपत्र के रूप में दी जायगी जिसकी एक निश्चित परिपक्व होने की अवधि होगी।

तीसरा प्रस्ताव था कि अतिरिक्त रिजर्व हेतु समय-समय पर सदस्य देशों के अभ्यंशों में वृद्धि होना चाहिए।

(5) **मौल्डिंग प्रस्ताव** (The Maulding Proposed)—1962 में **रेजिनाल्ड मौल्डिंग** ने अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के लिए अपना प्रस्ताव प्रस्तुत किया। उन्होंने मुद्रा कोष में एक पारस्परिक मुद्रा खाता (Mutual Currency Account) खोलने का प्रस्ताव रखा। इस खाते में सदस्य देशों द्वारा ऐसी मुद्राएँ जमा की जायेंगी जो विनिमय बाजार में अतिरेक के रूप में हैं। इस जमा की राशि पर देश को अधिकार प्राप्त हो जायगा और इस पर उसे उसी प्रकार की गारण्टी मिलेगी जिस प्रकार कि मुद्रा कोष में जमा अभ्यंश की राशि पर मिलती है। जब देश के भुगतान शेष में घाटा होगा तो इस जमा राशि का प्रयोग किया जा सकेगा। इसका उद्देश्य यह था कि देशों में आपसी भुगतानों के लिए स्वर्ण का आवागमन न हो और पारस्परिक मुद्रा खाता के माध्यम से भुगतानों को समायोजित किया जा सके।

(6) **रोसा योजना** (The Roosa Plan)—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की 1962 की बैठक में अमरीका ट्रेजरी के तत्कालीन अवर सचिव **आर यू. रोसा** ने अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि हेतु अपनी योजना प्रस्तुत की जिसे रोसा योजना कहते हैं। रोसा ने सुझाव दिया था कि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की पूर्ति आंशिक रूप से स्वर्ण की नयी पूर्ति बढ़ाकर और आंशिक रूप से नये रिजर्व का सृजन कर की जाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय रिजर्व के लिए उन्होंने डालर और स्टर्लिंग के समान एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के सृजन का सुझाव दिया जो स्वर्ण के समान स्वीकृत की जायगी। मुद्रा कोष में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राओं को एक संग्रह के रूप में रखा जायगा और इन मुद्राओं का स्वर्ण मूल्य स्थिर रखा जायगा। प्रत्येक देश को अपनी मुद्रा की परिवर्तनशीलता का अधिकार होगा तथा वह अपनी मुद्रा के विनिमय मूल्य को भी स्थिर रखेगा। इस प्रकार रोसा की योजना विश्व स्वर्ण प्रणाली के स्थान पर एक विश्व साख प्रणाली स्थापित करने की थी।

उपर्युक्त योजनाओं में ट्रिफिन की योजना अधिक व्यावहारिक थी जिसमें मुद्रा कोष को अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के रूप में परिवर्तित करने का सुझाव दिया गया था। शेष योजनाओं में स्वर्ण और विदेशी विनिमय को मिलाकर अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि का सुझाव दिया गया था।

विशेष आहरण अधिकार
(SPECIAL DRAWING RIGHTS)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की एक यह सीमा रही है कि इसमें अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि करने के लिए कोई प्रावधान नहीं था और साथ ही इसमें अन्तर्राष्ट्रीय रूप से प्रबन्धित रिजर्व परिसम्पत्ति का भी अभाव रहा है जिससे तरलता पर मुद्रा कोष का नियन्त्रण नहीं रह पाया। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या को हल करने के लिए समय-समय पर विभिन्न विचारकों द्वारा योजनाएं प्रस्तुत की गयी किन्तु वे कुछ सीमाओं के कारण कार्यान्वित नहीं की जा सकीं।

जहां तक अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का प्रश्न है इसके तीन पक्ष हैं—तरलता, समायोजन एवं विश्वास। इन्हें हल करने के लिए यह आवश्यक था कि अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में सुधार किया जाये। इसका कारण यह था कि जहां युद्धोत्तर काल में वस्तुओं के व्यापार में प्रतिवर्ष 8% की वृद्धि हुई थी, वहीं स्वर्ण की पूर्ति में केवल 2 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई थी अत. तरलता में काफी अभाव का अनुभव किया जा रहा था। यद्यपि अमरीकन डालर ने रिजर्व परिसम्पत्ति के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में काफी सहायता पहुँचाई किन्तु अमरीका में भुगतान शेष के घाटे ने डालर की साख को हिला दिया। डालर अवमूल्यन ने अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में एक संकट की स्थिति पैदा कर दी।

उक्त समस्या को हल करने के लिए मुद्रा कोष के 10 महत्वपूर्ण सदस्यों ने मिलकर एक नयी मौद्रिक योजना प्रस्तुत की। इस योजना का अनुमोदन सितम्बर 1967 में रायोडिजिनेरो में मुद्रा कोष और विश्व बैंक के संयुक्त सम्मेलन में किया गया जिसे विशेष आहरण अधिकार (Special Drawing Rights) का नाम दिया गया और जिसे 1 जनवरी, 1970 से लागू किया गया। इसे कागजी स्वर्ण का नाम भी दिया गया।

विशेष आहरण अधिकार क्या है ?

नयी योजना के अन्तर्गत मुद्रा कोष को एक निश्चित आधार पर सदस्य देशों को विशेष आहरण अधिकार प्राप्त करने के लिए अधिकृत किया गया है। SDR को अन्तर्राष्ट्रीय रिजर्व की संज्ञा दी गयी है जिसका आवंटन कोष और सदस्य देशों के संयुक्त निर्णय के अनुसार किया जाता है। जिस सदस्य देश को SDR का अधिकार दिया जाता है वह अन्य सदस्य देश से निश्चित मुद्रा प्राप्त कर सकता है। SDR के सृजन के पीछे मूल भावना यह है कि मुद्रा कोष के सदस्यों को अधिक साधन उपलब्ध किये जा सकें ताकि वे कोष के साधनों पर दबाव डाले बिना अपनी विदेशी विनिमय की कठिनाई को दूर कर सकें। इस प्रकार SDR अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की विद्यमान रिजर्व परिसम्पत्ति के पूरक के रूप में है।

विशेष आहरण अधिकार की योजना को कार्यान्वित करने के लिए एक उपयुक्त विधि तैयार की गयी है। इस योजना में जिस देश को परिवर्तनशील विदेशी विनिमय की आवश्यकता होती है, उसे SDR के प्रयोग के लिए मुद्रा कोष के पास आवेदन करना होता है। मुद्रा कोष द्वारा ऐसे देश को जिस मात्रा तक विशेष आहरण का अधिकार दिया गया है, उस मात्रा तक वह उसका प्रयोग कर सकता है। आवेदन प्राप्त होने पर मुद्रा कोष को जिसका भुगतान-शेष और रिजर्व की मात्रा अधिक होती है, इस बात के लिए अधिकृत करता है कि वह आवेदन करने वाले देश की विदेशी विनिमय की आवश्यकता की पूर्ति करे। इस दूसरे देश को अधिकृत देश (Designated Country) कहते हैं। आवेदन करने वाला देश, अधिकृत देश से अधिकतम SDR की, अधिकृत देश को आवंटित SDR की मात्रा से, दुगनी मात्रा ले सकता है।

विशेष आहरण अधिकार—विशेषताएं एवं कार्य
(SDRS—CHARACTERISTICS AND FUNCTIONS)

SDR का सार यह है कि उनसे एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय रिजर्व परिसम्पत्ति का सृजन होता

है। उन्हें सदस्य देशों द्वारा बिना किसी शर्त के प्रयुक्त किया जा सकता है तथा उनके पीछे कोई प्रत्याभूति भी नहीं होती। स्वर्ण कोष की तुलना में SDR की सुविधा सरल एवं शर्तरहित है यद्यपि इसकी भी अपनी सीमाएँ हैं। SDR एक ऐसी परिसम्पत्ति है जिसका प्रबन्ध और नियन्त्रण अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर किया जाता है। SDR ने स्वर्ण को प्रतिस्थापित कर दिया है और अब यह नयी मौद्रिक व्यवस्था का केन्द्रीय बिन्दु बन गया है।

जहाँ तक इसके कार्यों का प्रश्न है, वे घरेलू मौद्रिक इकाई के समान ही हैं। SDR अन्तर्राष्ट्रीय लेखे और भुगतान की इकाई है अत: यह विनिमय का अन्तर्राष्ट्रीय माध्यम और मूल्य के संचय का प्रतीक बन गया है।

विशेष आहरण अधिकार की विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

(1) साख-सृजन का रूप—विशेष आहरण अधिकार के सृजन की योजना ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार कि देशों में केन्द्रीय बैंकों की तरलता की पूर्ति के लिए साख सृजन की योजना होती है। SDR इसी साख सृजन का विस्तार मात्र है जिसकी योजना प्रो केन्स के अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन संगठन (International Clearing Union) पर आधारित है।

(2) रिजर्व परिसम्पत्ति—SDRs एक ऐसी रिजर्व परिसम्पत्ति है जिसके द्वारा कोई सदस्य देश स्वर्ण का सहारा लिए बिना, विदेशी भुगतानों के लिए अन्य सदस्य देशों से, जिन्होंने SDRs स्वीकार कर लिये हैं, परिवर्तनशील मुद्राएँ प्राप्त कर सकता है।

(3) सदस्य देश के अभ्यंश पर आधारित—प्रत्येक सदस्य देश को कितने विशेष आहरण अधिकार का आवंटन किया जायगा, इसका निर्धारण उसके कोष में अभ्यंश के अनुपात में किया जाता है।

(4) विशेष आहरण लेखा (Special Drawings Account)—SDRs का लेखा मुद्रा कोष के विशेष आहरण लेखा (SDA) में रखा जाता है जिसकी स्थापना मुद्रा कोष के प्रथम संशोधन के अनुसार 1969 में की गयी थी। सदस्य देश को आवंटित SDR की राशि विशेष आहरण खाते में जमा कर दी जाती है जो मुद्रा कोष के सामान्य खाते से अलग रहता है।

(5) कागजी स्वर्ण (Paper Gold)—SDRs की वही भूमिका है जो तरलता वृद्धि के लिए स्वर्ण की होती थी अत: इसे कागजी स्वर्ण की संज्ञा दी गयी। पहले SDR का मूल्य स्वर्ण में परिभाषित किया गया किन्तु 1976 में जमैका सम्मेलन में अन्तरिम समिति के निर्णय के अनुसार SDR के स्वर्ण मूल्य को समाप्त कर दिया गया तथा 1 अप्रैल, 1978 से यह लागू हो गया है जिससे SDR के मूल्य की इकाई के रूप में स्वर्ण का महत्व समाप्त हो गया है।

(6) प्रत्ययी रिजर्व (Fiduciary Reserve)—SDRs की योजना प्रत्ययी रिजर्व के सृजन पर आधारित है क्योंकि इसके पीछे न तो कोई प्रत्याभूति ही रखी जाती है और न ये स्वर्ण में परिवर्तनशील होते हैं। इस योजना के अन्तर्गत मुद्राकोष SDR का सृजन करता है जिसे सदस्य देश रिजर्व के रूप में स्वीकार करते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के लिए उनका प्रयोग करते हैं।

(7) भुगतान-शेष में अतिरेक और अधिक रिजर्व वाले देशों की भूमिका—इस योजना में मुद्रा कोष के सदस्य देशों के केन्द्रीय बैंकों के पास अन्य रिजर्व और स्वर्ण के समान SDR का भी खाता होता है और जब कोष द्वारा निर्देश दिया जाता है तो देशों को SDR के बदले अपनी मुद्रा देने को तैयार रहना पड़ता है। इसका उद्देश्य यह है कि जिन देशों के पास भुगतान-शेष का अतिरेक है और रिजर्व की मात्रा अधिक है, वे SDR के बदले मुद्रा देने को तैयार रहें।

(8) प्रतिबन्ध—SDRs के उपयोग पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगाये गये हैं जैसे SDR के लेन-देन की व्यवस्था सम्बन्धित देशों के केन्द्रीय बैंक करेंगे। प्रत्येक देश को अपने SDRs के 70

प्रतिशत तक मूल्य की विदेशी मुद्रा का 5 वर्ष तक बिना भुगतान के दायित्व के उपयोग करने का अधिकार है किन्तु यदि सदस्य देश यदि इससे अधिक आहरण सहायता प्राप्त करता है तो उसे उसका भुगतान करना पड़ेगा।

(9) विश्वास के लिए बहुमत—लोगों का SDRs में विश्वास बना रहे इसके लिए कुछ कानूनी सीमाओं का निर्धारण किया गया है जैसे इसे लागू करने तथा अतिरिक्त SDRs का सृजन करने के लिए मुद्रा कोष के कुल मतों का 85 प्रतिशत बहुमत इसके पक्ष में होना आवश्यक है।

(10) प्रयोग—SDRs का प्रयोग सदस्य देशों द्वारा विशेष परिस्थितियों में ही किया जाता है। ये विशेष परिस्थितियाँ हैं विशिष्ट मौद्रिक आवश्यकता एवं भुगतान-शेष की प्रतिकूलता को दूर करना।

(11) साधारण ब्याज का प्रावधान—इस योजना के अन्तर्गत, जो देश SDRs का उपयोग करेगा उसके रिजर्व की मात्रा में कमी होगी तथा जो देश SDRs के बदले विदेशी विनिमय प्रदान करेंगे उनके SDRs के संग्रह में वृद्धि होगी अतः ऐसे देशों को SDRs की मात्रा पर साधारण ब्याज प्रदान किया जायगा। वर्तमान में यह दर 1·5 प्रतिशत है।

इस प्रकार SDRs की योजना अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में एक नया विकास है।

विशेष आहरण अधिकारों में वृद्धि

1969 में मुद्रा कोष में विशेष आहरण लेखा (SDA) की स्थापना की गयी थी। समझौते की धारा के अनुसार सदस्य देश SDRs का प्रयोग भुगतान-शेष की आवश्यकता की पूर्ति हेतु परिवर्तनशील मुद्रा प्राप्त करने अथवा कोष में अपने ऋणों को कम करने के लिए कर सकते हैं। परन्तु सदस्य देशों का यह भी दायित्व है कि यदि वे SDRs का प्रयोग करते हैं तो उन्हें मुद्रा कोष के पुनर्निर्माण नियमों (Reconstitution Rules) के अनुसार SDRs की पुनः स्थापना करना चाहिए। इस सम्बन्ध में मुख्य नियम यह है कि SDRs का प्रयोग करने वाले सदस्य देशों को अपने SDRs के निर्धारित कोटे का कम से कम 30 प्रतिशत दैनिक औसत 5 वर्षों की अवधि में बनाये रखना पड़ेगा।

निम्न तालिका में 1970 से लेकर 1976 तक SDRs की वृद्धि एवं वितरण को स्पष्ट किया गया है

तालिका 52·3—SDR की वृद्धि एवं वितरण, 1970-1976

(मिलियन में)

देश	1970	1971	1972	1973	1974	1975	1976
औद्योगिक देश	2,423	4,586	6,575	6,601	6,802	6,896	7,036
अन्य यूरोपीय देश	89	178	317	345	361	328	295
आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड व दक्षिणी अफ्रीका	130	192	331	294	140	140	96
तेल निर्यातक देश	79	155	300	307	334	321	327
अन्य अल्पविकसित देश	403	764	1,163	1,260	1,220	1,083	1,043
सब देशों का योग	3,124	5,875	8,686	8,807	8,857	8,768	8,797

[Source—*IMF, International Financial Statistics*, January 1977, p. 21]

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि SDRs के प्रयोग में औद्योगिक देशों का सर्वाधिक हिस्सा है। उनके हिस्से में क्रमशः वृद्धि हुई है। जहाँ तक प्रतिशत अंश का प्रश्न है अल्पविकसित देशों के अंश में 1970 की तुलना में 1976 में ह्रास हुआ है। अन्य यूरोपीय देशों के सापेक्षिक अंश में

वृद्धि हुई है। आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका, न्यूजीलैण्ड तथा तेल निर्यातक देशों के सापेक्षिक अंश में भी ह्रास हुआ है। किन्तु इनसे इन देशों को चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु अन्य विकसित देशों को अधिक अंश मिलना चाहिए।

विशेष आहरण अधिकार लेखा (SDR Accounts)

1976 के अन्त तक मुद्रा कोष के 129 सदस्य देशों में से 121 देश विशेष आहरण लेखे में भाग ले रहे थे। यद्यपि इनमें से कुछ को SDR का आवंटन नहीं हुआ था क्योंकि वे जनवरी 1972 के बाद जबकि SDR का पिछला आवंटन किया जा चुका था इसमें शामिल हुए। SDR का आवंटन 1970, 1971 और 1972 के प्रारम्भ में किया गया था तथा उसका कुल योग 9·3 मिलियन SDR था इनका विवरण निम्न तालिका में दिया गया है :

तालिका 52 4—SDR लेखा (मिलियन में) 30 नवम्बर, 1976 तक की स्थिति

देश	आवंटन	प्रयुक्त (Holding)	आवंटन के प्रतिशत के रूप में प्रयुक्त	अभ्यंश	वास्तविक आहरण
औद्योगिक देश	6,177 7	7,036 0	113 9	18,365 5	5,107·3
अन्य यूरोपीय देश	405 1	295 1	72 8	1,548 0	2,474·8
आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड व दक्षिण अफ्रीका	384·0	95 5	24 9	1,187 0	1,042 0
तेल निर्यातक देश	374 2	327 3	87 5	1,421 0	65·0
अन्य अल्प विकसित देश	1,974 0	1,042 7	52 8	6,692 3	6,219 2
सब देशों का योग	9,315 0	8,796 6	94 4%	29,213 3	14,908·3

[Source—*IMF International Financial Statistics*, Jan. 1977, pp. 8-11]

उपर्युक्त तालिका स्पष्ट करती है कि SDR का वितरण विश्व के देशों में असमान है। मुद्रा कोष में सदस्य देशों के अभ्यंश उनके विदेशी व्यापार और माल में महत्व के आधार पर निर्धारित किये गये हैं तथा SDR का आवंटन अभ्यंश पर आधारित है। मुद्रा कोष के कुल अभ्यंशों का दो-तिहाई औद्योगिक देशों के पास है अतः SDR की इसी मात्रा में उनके पास हैं। विभिन्न समूह के देशों के पास SDR की जो Holdings उससे उनकी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में सापेक्षिक शक्ति का बोध होता है। औद्योगिक देशों के आवंटन की तुलना में उनकी Holdings अधिक हैं जबकि अल्पविकसित देशों की Holdings उनके आवंटन की तुलना में केवल 53 प्रतिशत है। जबकि इन देशों को अपनी Holdings की तुलना में 6 गुने अधिक SDRs का प्रयोग करना पड़ता है।

मई 1978 में भारत की SDRs की मात्रा विदेशी विनिमय रिजर्व में 16·16 करोड़ थी जबकि मई 1977 में इनकी मात्रा में 18 91 करोड़ थी।

विशेष आहरण अधिकार—आलोचनात्मक मूल्यांकन (CRITICAL EVALUATION OF SDRS)

SDRs की योजना विश्व की मौद्रिक प्रणाली में एक नया गतिशील कदम है और मौद्रिक अर्थशास्त्रियों द्वारा इसका स्वागत किया गया है। इसके कुछ महत्वपूर्ण गुण इस प्रकार हैं :

(1) अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि—मुद्रा कोष द्वारा विशेष आहरण अधिकारों का सृजन अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की अभिवृद्धि में एक महत्वपूर्ण कदम है। जहाँ तक मौद्रिक प्रणाली में समायोजन और विश्वास का प्रश्न है SDRs की काफी दूरगामी भूमिका है।

(2) सरलता एवं लोच—SDRs का मुख्य लाभ यह है कि यह योजना सरल एवं लोचपूर्ण है। SDRs एक प्रकार से रिजर्व परिसम्पत्ति है जिसका समावेश देश के रिजर्व में किया

जाता है। यह योजना अन्तर्राष्ट्रीय साख सृजन के अनुरूप है। साथ ही इसके पीछे स्वर्ण की प्रत्याभूति न होने से इसमें काफी लोच है।

(3) विवेकपूर्ण मौद्रिक नीति पर आधारित—विश्व की मौद्रिक प्रणाली को बिना कोई हानि पहुँचाये SDRs की योजना निश्चित रूप से वर्तमान मौद्रिक प्रणाली में संशोधन है। विशेष आहरण लेखे में नये रिजर्व का निर्माण सदस्य देशों के समझौते से किया जाता है जो उनके अभ्यंश पर आधारित होता है अतः सदस्य देशों के अभ्यंश या लेखे में हस्तान्तरण का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता और न ही मुद्रा कोष की स्थिति पर इसका कोई प्रभाव पड़ता है। नयी मौद्रिक प्रणाली में मुद्रा कोष का केन्द्रीय महत्त्व सुरक्षित है।

(4) तरलता में स्थायी वृद्धि एवं भुगतान में लोच—SDRs के प्रयोग से पहले सदस्य देशों को मुद्रा कोष से ऋण लेने की जो सुविधा थी, उससे तरलता में केवल अस्थायी वृद्धि होती थी किन्तु SDRs की यह विशेषता है कि इससे तरलता में स्थायी वृद्धि होती है।

इस योजना में एक लाभ यह भी है कि जिस प्रकार कोष से साधारण ऋणों में भुगतान की व्यवस्था होती है उसकी तुलना में SDRs की योजना में भुगतान अधिक लोचपूर्ण है जिससे तरलता में नियमित वृद्धि होती है।

(5) स्वर्णमान की समाप्ति—SDRs के प्रयोग ने उस स्वर्णमान की समाप्ति कर दी है जो मुद्रा कोष द्वारा जीवित रखा गया था और जिससे तरलता में वांछनीय वृद्धि नहीं हो सकी। यद्यपि प्रारम्भ में SDR को स्वर्ण से सम्बन्धित किया गया था पर यह प्रभावशाली सिद्ध नहीं हुआ अतः इसका स्वर्ण से सम्बन्ध विच्छेद कर दिया गया। अर्थशास्त्रियों का कहना है कि जब विश्व की मौद्रिक प्रणाली में अन्तर्राष्ट्रीय रिजर्व के रूप में SDRs का विकास हुआ है तो यह असम्भव है कि स्वर्ण उससे प्रतियोगिता करे। रॉबर्ट ट्रिफिन के शब्दों में, "यह अविवेकपूर्ण है और अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में स्वर्ण का बना रहना केवल ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ही समझने योग्य है और वह भी सर्वमान्य रिजर्व के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहमति के अभाव के सह उत्पादन के रूप में।"

SDRs योजना की सीमाएँ अथवा दोष

विशेष आहरण अधिकार के उपर्युक्त गुणों के बावजूद इस योजना में निम्न दोष हैं :

(1) आवंटन प्रणाली अनुपयुक्त—SDRs का वितरण सदस्य देशों के अभ्यंश के ऊपर आधारित होता है। इसका परिणाम यह होता है कि थोड़े से विकसित देश ही अधिकतम अंश पा जाते हैं तथा विकासशील देश जिनका जनसंख्या में बहुमत है SDRs के आवंटन में बहुत ही कम अंश पाते हैं।

(2) SDRs के प्रति कम झुकाव—वर्तमान में SDRs को रिजर्व के रूप में रखने के लिए देशों में कम झुकाव है। इसका कारण यह है कि इससे जो लाभ प्राप्त होता है, वह अपेक्षाकृत कम है और वर्तमान में जिस प्रकार मुद्रा के समूह से SDR का मूल्य निर्धारण किया जाता है उसने डालर एवं मार्क (जर्मनी मुद्रा) की तुलना में मूल्य-संचय के लिए SDRs को कम आकर्षक बना दिया है।

(3) प्रगतिशीलता का अभाव—आलोचकों का मत है कि SDRs के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय साख का सृजन जिसका आवंटन मुद्रा कोष में अभ्यंश के आधार पर होता है किसी भी आधार पर प्रगतिशील नहीं कहा जा सकता जहाँ तक वास्तविक साधनों के हस्तान्तरण का प्रश्न है। तरलता-सृजन का ऐसा तरीका जिसमें विकासशील देशों को केवल एक चौथाई अंश ही मिल पाता है प्रगतिहीन ही कहा जायगा।

मिकता देने की रही है। इसके पीछे सरकार का यह दृष्टिकोण रहा है कि हम अपने समाजवादी उद्देश्य मे सफल हो सकें।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भारत के आर्थिक विकास मे विदेशी सहायता की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। स्वतन्त्रता के बाद हमारी आर्थिक समस्याएँ इतनी विकराल थीं कि यदि हमे विदेशी सहायता न मिलती तो आज हम जो आर्थिक विकास कर सके है, उसकी तुलना में काफी पीछे रहते।

विदेशी सहायता की समस्याएं (Problems of Foreign Aid)

इसमे सन्देह नही है कि विदेशी सहायता ने भारत के आर्थिक विकास में पर्याप्त सहायता पहुँचाई है किन्तु इसके साथ कुछ समस्याएं भी जुडी हुई है जो इस प्रकार हैं :

(1) **ऋण का बढता हुआ भार**—विदेशी सहायता से भारत मे ऋण के भार मे काफी वृद्धि हुई है जिससे हमारी आय का भारी हिस्सा विदेशी ऋण सेवा राशि (External Debt Servicing) मे ही निकल जाता है। उपलब्ध आंकडो के अनुसार विकासशील देशों पर विकसित पूँजीवादी देशो का ऋण 1975 के अन्त तक 175 अरब डालर तक पहुँच गया था पिछड़े देशो को जो नये ऋण और पूँजी निवेश प्राप्त होते हैं उनका 50 प्रतिशत से भी ज्यादा अश पश्चिमी ऋणदाताओ के पुराने ऋणों को चुकाने के लिए अलग कर देना पडता है अर्थात् विकासशील देशों पर लगभग 40 प्रतिशत की दर से प्रतिवर्ष ऋण बढता चला जा रहा है। पश्चिमी देश, विकासशील देशों को बहुत ऊंची ब्याज प्राय 9 से 10 प्रतिशत वार्षिक दर पर ऋण देते है चूंकि ये देश, थोपी गयी शर्तों के अनुसार ऋण का भुगतान करने मे असमर्थ रहते है, ब्याज की दर तेजी के साथ बढ़ती चली जाती है। भारत मे चौथी योजना के अन्त तक भारत की विदेशी ऋण सेवा राशि 4,113 करोड रुपये थी जिसमे से 2,562 करोड (62 प्रतिशत) ऋण की वापसी थी तथा 1,551 करोड रुपये (38 प्रतिशत) ब्याज का भुगतान था।

(2) **राजनीतिक दबाव**—विदेशी सहायता की सबसे बडी समस्या यह है कि विकसित पूँजीवादी देश विकासशील राष्ट्रो को ऋण देते समय उन पर तरह-तरह की अनुचित राजनीतिक, आर्थिक तथा व्यापारिक शर्तें थोपते हैं। भारत विदेशी सहायता प्राप्त करने के लिए रूस तथा अमरीका पर बहुत निर्भर रहा है तथा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे इन देशो ने भारत की आर्थिक नीति तथा नियोजन पर राजनीतिक दबाव डाला है। सन् 1971 मे अमरीका ने पाकिस्तानी आक्रमण के अवसर पर भारत को विदेशी सहायता एव रक्षा सामग्री बन्द करने की धमकी दी थी। इसी प्रकार अमरीका ने भारत को सहायता देते समय यह दबाव भी डाला था कि इसका प्रयोग उपभोग वस्तु के उद्योगों के लिए तथा निजी क्षेत्र मे किया जाय। इन दबावों के कारण विकासशील देश अपनी स्वतन्त्र नीतियो को कार्यान्वित नही कर पाते। विदेशी सहायता प्राय: निजी उद्यमों मे इसलिए लगायी जाने की शर्त रखी जाती है जिससे पिछड़े देशो के राष्ट्रीय अर्थतन्त्र और राजनीति मे साम्राज्यवादी शक्तियो के घुसपैठ का रास्ता खुल जाय।

(3) **बन्धित ऋण की समस्या**—बन्धित ऋणो के साथ यह शर्त लगा दी जाती है कि विदेशी सहायता का प्रयोग ऋण देने वाले देशो से सामान खरीदने के लिए ही किया जाय। भारत को अमरीका तथा अन्य देशों से इसी प्रकार की सहायता प्राप्त हुई है। यह तथ्य है कि उक्त स्थिति मे सहायता देने वाले देश अपनी वस्तुओं की जो कीमतें वसूल करते हैं वे विश्व कीमतों की तुलना मे 20-30 प्रतिशत ऊँची होती हैं। इस तरह विकासशील देशों का शोषण होता है।

(4) **अनिश्चितता की समस्या**—आर्थिक विकास एव नियोजन के लिए यह आवश्यक है कि वित्तीय साधनों का पहले से ज्ञान हो किन्तु विदेशी सहायता के सम्बन्ध में निश्चितता नहीं रहती जिससे कुशल नियोजन में बाधा उपस्थित होती है। उदाहरण के लिए बोकारो इस्पात

कारखाने की योजना काफी समय पहले बनने के बावजूद भी विदेशी सहायता की अनिश्चितता के कारण उसे समय पर स्थापित नहीं किया जा सका। नियोजन में विभिन्न योजनाओं में विलम्ब अनिश्चितता का ही परिणाम है।

(5) विदेशी सहायता को सोखने की क्षमता—इसका अर्थ यह है कि कभी-कभी विकासशील देश स्वीकृत की गयी विदेशी सहायता का पूरा प्रयोग नहीं कर पाते जैसे भारत में प्रथम तथा द्वितीय योजना में स्वीकृत सहायता की लगभग आधी मात्रा का ही प्रयोग किया जा सका। कभी-कभी विकासशील देशों में परियोजनाओं का निर्माण कुशलता से नहीं किया जाता अत. वे समय पर पूर्ण न हो पाने के कारण उनमें पूरी विदेशी सहायता प्रयुक्त नहीं हो पाती। विदेशी सहायता को सोखने की क्षमता देश के लिए गये ऋण को वापस करने की क्षमता से भी प्रभावित होती है। यदि निर्यातों में वृद्धि की जाय तो उक्त क्षमता में वृद्धि की जा सकती है।

भारत में विदेशी सहायता—सुझाव एवं भविष्य—भारत को विदेशी सहायता विशेष परियोजनाओं को न लेकर सम्पूर्ण नियोजन के लिए लेना चाहिए ताकि हम उस सहायता को किसी भी विकास कार्यक्रम में प्रयुक्त करने के लिए स्वतन्त्र रहेंगे। इसी प्रकार विदेशी सहायता को विशेष शर्तों या दबाव के साथ स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए अर्थात् यह सहायता बन्धित न होकर अबन्धित (untied) होना चाहिए। विदेशी सहायता को अल्पकालीन न होकर दीर्घकालीन होना चाहिए ताकि अनिश्चितता की स्थिति को दूर किया जा सके। तकनीकी सहायता को देश में ही तकनीकी संस्थान स्थापित कर भी जाना चाहिए। यदि विदेशी सहायता का प्रयोग भारत में उत्पादक और शीघ्र फल देने वाली योजनाओं के लिए किया जाय तो उसके भार को न्यूनतम किया जा सकता है। यह सुझाव भी महत्त्वपूर्ण है कि भारत को जहाँ तक सम्भव हो अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से ऋण लेना चाहिए एवं व्यक्तिगत देशों से ऋण लेते समय तटस्थता की नीति का पालन करना चाहिए।

भारत में जहाँ तक विदेशी पूँजी का भविष्य है हमने पाँचवी योजना में देश को आत्म-निर्भर बनाने का लक्ष्य निर्धारित किया है। यह भी उल्लेखनीय है कि भारत ने 1980 तक विदेशी सहायता को शून्य पर लाने की घोषणा की है। वर्तमान में भारत खाद्यान्न के मामले में आत्म-निर्भर हो रहा है, हमारा विदेशी मुद्रा कोष बढ़कर 30 अरब रुपये हो गया है, 1976-77 में भारत ने लगभग 50 अरब रुपये का निर्यात किया तथा आयातों में कटौती की जा रही है। यह देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ रही है और यदि अन्य दशाएँ अनुकूल रहीं तो यह निश्चित ही कहा जा सकता है कि हम विदेशी सहायता पर निर्भरता से मुक्त हो सकेंगे। विदेशी सहायता के सन्दर्भ में यह बात सदैव याद रखी जाना चाहिए कि "यह देश की अर्थव्यवस्था में विकास को प्रारम्भ तो कर सकती है किन्तु दीर्घकाल में विकास को बनाये नहीं रख सकती। उसके लिए तो हमें अपने घरेलू साधनों को ही जुटाना होगा।"[1]

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. विकासशील देशों में विदेशी पूँजी की आवश्यकता एवं महत्त्व का प्रतिपादन कीजिए?
2. विदेशी पूँजी की क्या सीमाएँ हैं? यह भी स्पष्ट कीजिए कि विदेशी पूँजी के कौन-कौन से दोष होते हैं?

1 "Foreign assistance can initiate the development but it can not maintain it in the long run."

3. विकासशील देशों में विदेशी पूँजी एवं सहायता को अधिक प्रभावशील किस तरह से बनाया जा सकता है ? समझाइए ?
4. भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में विदेशी आर्थिक सहायता के योगदान का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए ?
5. "विदेशी सहायता की आवश्यकता सभी सहायता का अन्त करने के लिए है" भारत के विशेष सन्दर्भ में इसे स्पष्ट कीजिए।
6. भारत के आर्थिक विकास में विदेशी सहायता के योगदान की व्याख्या कीजिए, इससे कौन-सी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं तथा उनका समाधान कैसे किया जा सकता है ?

Selected Readings

1. Jagdish Bhagwati . *The Economics of Underdeveloped Countries.*
2. K. R Gupta *International Economics*
3. Ruddar Datt & Sundharam · *Indian Economy.*

अध्याय 51

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष
[INTERNATIONAL MONETARY FUND]

परिचय

विश्व में आर्थिक सहयोग की दिशा में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना मौद्रिक व्यवस्था की एक स्मरणीय घटना है। इस कोष की स्थापना का निर्णय सन् 1944 में अमरीका में ब्रेटन-वुड्स सम्मेलन में किया गया था तथा इसकी स्थापना दिसम्बर 1945 में हुई।

मुद्रा कोष को जन्म देने वाली परिस्थितियाँ

मुद्रा कोष की स्थापना में मुख्य कारण था प्रथम विश्वयुद्ध के बाद स्वर्णमान का टूटना जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं भुगतान के क्षेत्र में काफी कठिनाइयाँ होने लगीं। अतः सब देशों ने यह अनुभव किया कि आर्थिक मामलों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की नितान्त आवश्यकता है।

विदेशी विनिमय एवं व्यापार के क्षेत्र में चारों ओर अव्यवस्था और प्रतिस्पर्द्धा का साम्राज्य था। प्रत्येक देश अन्य देशों की अवहेलना कर अपने हितों की रक्षा करने में लगा हुआ था। प्रत्येक राष्ट्र अपने निर्यातों को बढ़ाने के लिए अवमूल्यन का सहारा ले रहा था एवं अन्य देश भी बदला लेने में पीछे नहीं थे। अतः विनिमय नियन्त्रण, आयात-निर्यात नियमन और द्विपक्षीय समझौते आदि को अपनाया जा रहा था जिससे विश्व व्यापार में काफी कमी आ गयी थी।

चूंकि विनिमय-दर में स्थिरता नहीं थी एवं उसमें बहुत जल्दी-जल्दी परिवर्तन हो रहे थे अतः चारों ओर अनिश्चितता फैली हुई थी और अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग की मात्रा में काफी कमी आ गयी थी।

युद्ध के फलस्वरूप अत्यधिक सम्पत्ति का विनाश हो गया था जिससे प्रत्येक देश की अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी थी।

उपर्युक्त कारणों से जो मौद्रिक अव्यवस्था फैल गयी थी उसे दूर करने का एक ही उपाय था कि पारस्परिक समझौते के माध्यम से देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की स्थापना की जाय। बदली हुई परिस्थितियों में स्वर्णमान की पुनः स्थापना करना सम्भव नहीं था अतः एक ऐसे विकल्प की खोज करना आवश्यक था जिससे देश की आन्तरिक व्यवस्था एवं स्थिरता को कायम रखते हुए लोचपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं भुगतान की व्यवस्था की जा सके। वैकल्पिक व्यवस्था के रूप में कई योजनाएँ प्रस्तुत की गयीं। 1943 में संयुक्त राष्ट्र अमरीका के ट्रेजरी विभाग ने एक अन्तर्राष्ट्रीय स्थिरीकरण कोष (International Stabilisation Fund) की स्थापना का प्रस्ताव रखा जिसे "White Plan" कहा गया। इसी अवधि में ब्रिटेन ने भी अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन संघ (International Clearing Union) की स्थापना का प्रस्ताव रखा जिसे "केन्स योजना" (Keynes Plan) के नाम से जाना जाता है क्योंकि इसकी योजना लॉर्ड जे. एम. केन्स

ने तैयार की थी। 1944 में इन दोनों योजनाओं के मिले-जुले रूप में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना हुई जो ब्रेटनवुड्स सम्मेलन का परिणाम था। इस सम्मेलन में 44 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया और एक ऐसे माध्यम की खोज की जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और भुगतान में सरलता हो सके तथा जिससे दोहरे उद्देश्यों की पूर्ति हो सके—विश्व में उत्पादकता और व्यापार में वृद्धि तथा देशों में आर्थिक स्थिरता।

उद्देश्य (Objectives)

कोष का मूलभूत उद्देश्य तो यह था कि देशों द्वारा प्रतियोगी अवमूल्यन और विनिमय नियन्त्रण की अपनायी जाने वाली नीतियों को दूर किया जा सके और विदेशी व्यापार और विनिमय क्षेत्र में एक उपयुक्त आचार संहिता की स्थापना हो सके। कोष समझौते की धारा I में कोष के निम्न उद्देश्य स्पष्ट किये गए हैं:

(1) अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग का प्रोत्साहन (To Promote International Monetary Co-operation)—कोष का मुख्य उद्देश्य विभिन्न राष्ट्रों में अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग को प्रोत्साहित करना है। यह संस्था अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याओं को सुलझाने के लिए सब राष्ट्रों को परामर्श का अवसर देगी एवं सहयोग से समस्याओं का हल खोजेगी।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सन्तुलित विकास (Balance Growth of International Trade)—मुद्रा कोष का यह भी उद्देश्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सन्तुलित वृद्धि हो जिससे देशों की आर्थिक नीति के उद्देश्य के अनुसार रोजगार और वास्तविक आय में वृद्धि की जा सके तथा उसे कायम रखा जा सके। साथ ही देश के उत्पादन संसाधनों का विकास किया जा सके।

(3) विनिमय स्थायित्व लाना (To Maintain Exchange Stability)—कोष का तीसरा उद्देश्य विनिमय स्थिरता लाना और सदस्य देशों के बीच नियमित विनिमय व्यवस्था को बनाये रखना है जिससे प्रतियोगी विनिमय अवमूल्यन को रोका जा सके।

(4) बहुपक्षीय भुगतान की व्यवस्था (Multilateral System of Payment)—कोष का यह भी उद्देश्य है कि चालू लेन-देन के सम्बन्ध में सदस्य देशों के बीच बहुपक्षीय भुगतान की प्रणाली की स्थापना में सहायता देना और विदेशी विनिमय प्रतिबन्धों को समाप्त करना जिससे विश्व व्यापार के विकास में बाधा उपस्थित होती है।

(5) कोष के साधनों से सदस्य देशों की सहायता (Assistance to Member Countries by Fund's Resources)—कोष की स्थापना इस उद्देश्य से भी की गयी है कि समुचित सुरक्षा के अन्तर्गत सदस्य राष्ट्रों के लिए कोष के साधनों को उपलब्ध करके उनमें विश्वास जागृत करना और इस प्रकार ऐसे उपायों को अपनाये बिना जो अन्तर्राष्ट्रीय समृद्धि के लिए घातक हैं सदस्य देशों के भुगतान शेष की प्रतिकूलता में सुधार करना।

(6) असन्तुलन की मात्रा और अवधि में कमी करना (To Shorten the Duration and Lessen the Degree of Disequilibrium)—उपर्युक्त पाँचवें उद्देश्य के अनुरूप सदस्य देशों के भुगतान-शेष में प्रतिकूलता की मात्रा कम करना तथा इस प्रतिकूलता की अवधि में कमी करना अर्थात् भुगतान-शेष में प्रतिकूलता दीर्घकाल तक न रह सके।

कोष के कार्य (Fuction of the I. M. F.)

उपर्युक्त उद्देश्यों को दृष्टि में रखते हुए मुद्रा कोष निम्न कार्य करता है:

(1) कोष एक अल्पकालीन साख संस्था के रूप में कार्य करता है।

(2) विनिमय दरों में व्यवस्थित समायोजन के लिए मुद्रा कोष एक उपयुक्त तन्त्र के रूप में कार्य करता है।

(3) मुद्रा कोष विदेशी विनिमय के सम्बन्ध में एक ऋण देने वाली संस्था के रूप में कार्य

करती है। किन्तु यह ध्यान में रखने योग्य है कि यह चालू लेन-देन के लिए ऋण देती है पूँजीगत लेन-देन के लिए नहीं।

(4) मुद्राकोष विभिन्न सदस्य देशों की मुद्राओं का भण्डार है जिसमें से सदस्य देश अन्य देश की मुद्रा को ऋण के रूप में ले सकता है।

(5) मुद्रा कोष सदस्य देश की मुद्रा के समता मूल्य में परिवर्तन करने का कार्य भी करता है जिससे विनिमय दर में इस प्रकार परिवर्तन हो सके कि सदस्य देशों के दीर्घकालीन भुगतान शेष में सुधार हो सके।

(6) मुद्रा कोष अन्तर्राष्ट्रीय सलाह मशविरे के केन्द्र के रूप में भी कार्य करता है।

मुद्रा कोष के कार्यों का उपर्युक्त संक्षिप्त उल्लेख है जो उद्देश्यों पर आधारित है। कोष की विस्तृत कार्यवाहियों का विस्तृत वर्णन अगले पृष्ठों पर किया जायगा।

कोष का प्रशासन एवं संगठन
(ADMINISTRATION AND ORGANISATION OF THE FUND)

मुद्रा कोष एक स्वायत्त (Autonomous) संगठन है जो संयुक्त राष्ट्र संघ से सम्बन्धित है। इसका मुख्य कार्यालय वाशिंगटन (अमरीका) में है। इसका कारण यह है कि कोष के प्रावधान के अनुसार इसका प्रधान कार्यालय उस देश में होगा जिसका अभ्यंश सबसे अधिक होगा। चूँकि वर्तमान में अमरीका का अभ्यंश सबसे अधिक है अत: कोष का कार्यालय भी वहीं है।

मुद्रा कोष का संगठन इस प्रकार है :

(1) **प्रशासक मण्डल** (Board of Governors)—प्रशासक मण्डल मुद्रा कोष की साधारण सभा का कार्य करता है। इसमें प्रत्येक सदस्य देश का एक-एक प्रतिनिधि होता है जिसकी अवधि पांच वर्ष की होती है। सदस्य देश एक वैकल्पिक प्रशासक की नियुक्ति भी करता है जो प्रशासक मण्डल की बैठकों में भाग लेता है तथा अपने देश के प्रशासक की अनुपस्थिति में मतदान कर सकता है।

साधारणतया प्रशासक मण्डल की वर्ष में एक बार बैठक होती है तथा जिन विषयों पर यह विचार करता है वे हैं नये सदस्यों का प्रवेश, अभ्यंशों की पुनरावृत्ति, संचालकों की नियुक्ति इत्यादि। वार्षिक सभा के अतिरिक्त मुद्रा कोष के कोई पांच सदस्य अथवा जिन सदस्यों का कुल मताधिकार का 25 प्रतिशत प्राप्त है प्रशासक मण्डल की सभा बुला सकते हैं।

(2) **कार्यकारी संचालक मण्डल** (Board of Executive Directors)—मुद्रा कोष के दिन-प्रतिदिन के कार्यों का संचालन करने के लिए कम से कम 12 सदस्यों का एक संचालक मण्डल होता है। इसमें 5 सदस्य उन देशों द्वारा मनोनीत किये जाते हैं जिनका मुद्रा कोष में अधिकतम अभ्यंश होता है। शेष सदस्य क्षेत्रीय आधार पर चुने जाते हैं। वर्तमान में कार्यकारी संचालक मण्डल में 20 सदस्य हैं जिनमें उपर्युक्त पांच के अतिरिक्त, तीन अफ्रीका के देशों द्वारा, तीन लेटिन अमरीका द्वारा, पाँच सदस्य सुदूरपूर्व एवं प्रशान्त महासागर के देशों द्वारा और चार यूरोप महाद्वीप के देशों द्वारा मनोनीत किये जाते हैं।

कार्यकारी संचालक मण्डल का प्रत्येक मनोनीत या चुना हुआ सदस्य एक स्थानापन्न सदस्य की नियुक्ति कर सकता है जो संचालक मण्डल की सभाओं में भाग लेता है एवं अपने देश के सदस्य की अनुपस्थिति में ही मतदान कर सकता है।

(3) **प्रबन्ध संचालक** (Managing Director)—मुद्रा कोष के संचालक मण्डल द्वारा एक प्रबन्ध संचालक और एक सहायक प्रबन्ध संचालक की नियुक्ति की जाती है किन्तु संचालक मण्डल अपने सदस्यों में से प्रबन्ध संचालक नियुक्त नहीं कर सकता। प्रबन्ध संचालक मुद्रा कोष का मुख्य अधिकारी होता है। प्रबन्ध संचालक मण्डल की सभाओं की अध्यक्षता करता है किन्तु अपना मत तभी दे सकता है जब किसी प्रश्न पर बराबर मत की स्थिति पैदा हो जाय। प्रबन्ध संचालक का कार्यकाल संचालक मण्डल की इच्छा पर निर्भर रहता है।

(4) मताधिकार (Voting Power)—मुद्रा कोष के सामान्य निर्णय बहुमत के आधार पर होते हैं जिसका निर्धारण मताधिकार द्वारा होता है। प्रत्येक सदस्य को 250 निश्चित मत प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त उसे अपने अभ्यंश के अनुसार प्रति एक लाख डालर पर एक मत प्राप्त होता है। जैसे अमेरिका का अभ्यंश 6,700 मिलियन डालर है अतः उसका मताधिकार 67,250 है।

(5) सदस्यता—1978 तक मुद्रा कोष के सदस्य देशों की संख्या 129 थी।

कोष के साधन एवं पूंजी
(RESOURCES AND CAPITAL OF THE FUND)

मुद्रा कोष के साधनों एवं पूंजी का निर्माण सदस्य देशों से प्राप्त अभ्यंशों के आधार पर होता है। मुद्रा कोष का सदस्य बनने के पूर्व प्रत्येक सदस्य का अभ्यंश निश्चित कर दिया जाता है। प्रारम्भ में मुद्रा कोष के साधन 1,000 करोड़ डालर निश्चित किये गये थे किन्तु रूस इसमें शामिल नहीं हुआ अतः इसकी पूंजी 880 करोड़ डालर रह गयी।

प्रारम्भ में यह व्यवस्था की गयी थी कि प्रत्येक देश अपने अभ्यंश का कम से कम 25 प्रतिशत अथवा अपने देश की कुल स्वर्ण एवं डालर निधि दोनों का 10 प्रतिशत (दोनों में जो भी कम हो) स्वर्ण में देगा। किन्तु बाद में इस व्यवस्था में परिवर्तन कर दिया गया और यह निर्णय लिया गया कि प्रत्येक देश अपने अभ्यंश का 25 प्रतिशत स्वर्ण में जमा करेगा। किन्तु 20 सदस्यों की समिति (Committee on 20=C 20) की रिपोर्ट "An Outline of the Reform" के अनुसार जनवरी 1976 से अब मुद्रा कोष में स्वर्ण जमा करने की प्रणाली समाप्त कर दी गयी है।

अभ्यंश एवं उनमें परिवर्तन—यह स्पष्ट किया जा चुका है कि सदस्य देशों का अभ्यंश ही कोष की प्रमुख पूंजी है। इसके अतिरिक्त ऋणों पर प्राप्त ब्याज एवं विनियोग कार्यों से भी मुद्रा कोष को पूंजी प्राप्त होती है। मुद्रा कोष की स्थापना के बाद 10 वर्षों तक सदस्य देशों के अभ्यंश में कोई वृद्धि नहीं की गयी किन्तु 1958 में यह अनुभव किया गया कि कोष की पूंजी अपर्याप्त हो गयी है अतः इसमें वृद्धि की जानी चाहिए। इसके फलस्वरूप 15 सितम्बर, 1959 से सदस्य देशों के अभ्यंशों में 50 प्रतिशत की वृद्धि की गयी। अभ्यंशों में दूसरा परिवर्तन 1966 में स्वीकार किया गया जब सदस्य देशों के अभ्यंशों में 25 प्रतिशत की वृद्धि की गयी। तीसरी वृद्धि 1970-71 में की गयी जो 35.5 प्रतिशत थी।

अभ्यंशों में तीसरी बार वृद्धि होने के बाद मुद्रा कोष की पूंजी 2,890 करोड़ डालर हो गयी जिसका विवरण इस प्रकार है

तालिका 51·1—1970 तक सदस्य राष्ट्रों के अभ्यंशों में परिवर्तन

(अभ्यंशों की राशि करोड़ डालर में)

देश	स्थापना के समय (1945)	प्रथम संशोधन (1959)	द्वितीय संशोधन (1966)	तृतीय संशोधन (1970)
1. संयुक्त राष्ट्र अमरिका	275	412.5	516	670
2. ब्रिटेन	130	195	244	280
3. फ्रान्स	52.5	79	98·5	150
4. पश्चिमी जर्मनी	33	79	98.5	160
5. जापान	25	50	72·5	120
6. भारत	40	60	75	94
7. ताइवान	55	55	55	55
8. अन्य देश	389·5[1]	569.5	970·5	1,261
योग	1,000.0	1,500.0	2,130.0	2,890·0

[1] इसमें सोवियत रूस को 120 करोड़ डालर का आवंटित कोटा शामिल है।

सन् 1974 में नियुक्त मुद्रा कोष की अन्तरिम समिति ने जनवरी 1975 में वाशिंगटन में अपनी बैठक में यह सुझाव दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की कुल अभ्यश राशि में 32.5 प्रतिशत की वृद्धि की जाये ताकि यह बढ़कर 39 बिलियन SDR हो जाये। इसके फलस्वरूप मार्च 1976 में कोष की पूंजी में 53.6 प्रतिशत की वृद्धि की गयी है। पहले कोष की व्यवस्था में लेखे की इकाई के रूप में अमरीकन डालर का प्रयोग किया जाता था किन्तु 20 मार्च, 1972 से कोष का खाता SDR के रूप में रखा जाता है जिसका अर्थ होता है विशेष आहरण अधिकार (Special Drawing Right)। प्रारम्भ में SDR की एक इकाई का मूल्य 0.888671 ग्राम स्वर्ण के बराबर रखा गया किन्तु जुलाई 1974 से SDR के मूल्य को 16 प्रमुख देशों की मुद्राओं के औसत मूल्य के रूप में व्यक्त किया जाता है एवं सदस्य देशों की मुद्राओं का मूल्य भी अब SDR में ही व्यक्त किया जाता है। मार्च 1976 से कोष की पूंजी में वृद्धि होने से भारत के कोटे में 21 प्रतिशत की वृद्धि हुई है जो 940 मि० SDR से बढ़कर 1,145 मि० SDR हो गया है। अब कोष के कुल कोटे में भारत का प्रतिशत 3.22 से घटकर 2.93 रह गया है।

ऋण लेने की सामान्य व्यवस्था (General Arragement for Borrowing)

मुद्रा कोष में अभ्यश का काफी महत्व है क्योंकि अपने अभ्यश के आधार पर ही कोई सदस्य देश सहायता प्राप्त कर सकता है। ऋण लेने के लिए कोष में कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्राओं की ही अधिक मांग होती है। अतः ऐसी मुद्रा की पूर्ति करने में कोष को कठिनाई होती है। इसे हल करने के लिए मुद्रा कोष ने जनवरी 1962 में एक निर्णय लिया कि कोष द्वारा कुछ मुख्य देशों की मुद्राएँ उधार भी जा सकती है। इसके फलस्वरूप दस औद्योगिक देशों ने एक चार वर्षीय समझौता किया गया जिसके अनुसार मुद्रा कोष को 6 अरब डालर के बराबर विदेशी मुद्रा उधार लेने का अधिकार था। बाद में इस व्यवस्था को 1974 तक के लिए बढ़ा दिया गया था। यह भी निर्धारित किया गया कि प्रत्येक देश से कितनी अधिकतम राशि ली जा सकती है।

तेल सुविधा के लिए उधार (Borrowing for the Oil Facility)

1973 के बाद तेल के मूल्यों में भारी वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप विकासशील देशों के तेल आयात बिलों में भारी वृद्धि हो गयी अतः मुद्रा कोष ने जनवरी 1974 में यह निर्णय लिया कि अस्थायी पूरक सुविधा के रूप में तेल उत्पादन न करने वाले विकासशील देशों को आर्थिक सहायता दी जाना चाहिए। इसके अन्तर्गत सहायता देने के लिए मुद्रा कोष मुख्य रूप से तेल उत्पादक देशों से रकम उधार लेता था यद्यपि अन्य गैर-तेल उत्पादक देशों ने भी ऋण दिये। मई 1976 में तेल सुविधा को समाप्त कर दिया गया।

समता दरें निर्धारण (Determination of Par Values)

प्रारम्भ में मुद्रा कोष द्वारा सभी सदस्य देशों की मुद्राओं के मूल्य स्वर्ण तथा डालर में निर्धारित किये गये थे। यह निर्धारण सदस्य देश की अनुमति से होता था। एक बार मुद्राओं के मूल्य निर्धारित होने के बाद सदस्य देशों से यह आशा की जाती थी कि वे अपनी समता दर को निर्धारित दर के 2.25 प्रतिशत से अधिक बढ़ने या गिरने न दें। सदस्य देश केवल मुद्रा कोष की पूर्व अनुमति लेकर ही अपनी समता दर में परिवर्तन कर सकता था। कोष भी उसी समय अनुमति देता था जब देश में आधारभूत असाम्य की स्थिति उत्पन्न हो जाती थी। कोष 10 प्रतिशत तक परिवर्तन में आपत्ति नहीं करता था किन्तु 20 प्रतिशत तक परिवर्तन के लिए उसका सहमत होना आवश्यक नहीं था।

1967-1970 की अवधि में विश्व में जो अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संकट आया उसमें समता मूल्यों को स्थिर रखना कठिन हो गया और यदि इसे स्थिर रखा जाता था तो विश्व वित्तीय

बाजार में अल्पकालीन स्थिरता का परित्याग करना पड़ता था। 1971 में डालर का अवमूल्यन कर दिया गया और 1974 में स्वर्ण को मुद्रा के आधार के रूप में समाप्त कर दिया गया अतः समता दरों का आधार भी समाप्त हो गया है और मुद्राओं की दर का *निर्धारण बाजार में मांग और* पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की कार्यप्रणाली
(OPERATIONS OF THE FUND)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की कार्य प्रणाली में मुख्य रूप से निम्न कार्यों का समावेश होता है,

(1) **ऋण देने सम्बन्धी कार्य (Lending Operations)**—कोष का ऋण देने सम्बन्धी कार्य मुद्रा के विक्रय के रूप में होता है। किसी सदस्य देश द्वारा माँगे जाने पर, उस देश की मुद्रा अथवा स्वर्ण के बदले मुद्रा कोष सदस्य देश को, अन्य सदस्य देश की मुद्रा की पूर्ति करता है। इस प्रकार के ऋण की तीन सीमाएं होती है—(i) मांगी गयी मुद्रा का प्रयोग चालू भुगतान के लिए किया जाता है, (ii) मुद्रा कोष ने मांगी हुई मुद्रा को दुर्लभ घोषित नहीं किया है, एवं (*iii*) जो सदस्य देश अपनी मुद्रा देकर, अन्य देश की मुद्रा खरीद रहा है, उसमें सदस्य देश के अभ्यश में एक वर्ष की अवधि तक 25 प्रतिशत से अधिक की वृद्धि नहीं होगी यदि सदस्य देश के कुल कोटे का 75 प्रतिशत से कम जमा है तो 25 प्रतिशत की उक्त सीमा को ढीला किया जा सकता है। यदि कोई देश सचमी तौर पर अन्य देश की मुद्रा का क्रय करता है तो इसके लिए यह सीमा है कि कोई भी देश अपने अभ्यश के 200 प्रतिशत से अधिक मूल्य का विदेशी विनिमय मुद्रा कोष से नहीं खरीद सकता। ऋण सम्बन्धी ये प्रतिबन्ध इसलिए लगाये गये है कि मुद्रा कोष के पास किसी सदस्य देश की मुद्रा की कमी न होने पाये।

चूंकि मुद्रा कोष का उद्देश्य अस्थायी और अल्पकालीन ऋणों की व्यवस्था करना है, यह आशा की जाती है कि 3 से 5 वर्ष की अवधि में ऋणों का भुगतान कर दिया जायगा। कुछ *असामान्य परिस्थितियों में मुद्रा कोष ऋण देने की शर्तों को उदार भी बना सकता है* जिससे कोष के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव न हो। जहां तक प्रतिवर्ष 25 प्रतिशत की सीमा का प्रश्न है, इसे कई बार अमल किया गया है किन्तु अभ्यश की 200 प्रतिशत की शर्त का सदैव दृढ़ता से पालन किया गया है। प्राय. अभ्यश के 50 प्रतिशत तक के कोष एक वर्ष में ही दे दिये जाते है तथा सकटकालीन स्थिति में अभ्यश के शतप्रतिशत ऋण की भी व्यवस्था की जाती है।

मुद्रा कोष के ऋण देने के पीछे यह मान्यता है कि इस सहायता का प्रयोग बहुत आवश्यक होने पर ही किया जाना चाहिए अत इसकी तुलना अग्निशामक यन्त्र (Fire brigade) से की गयी है। मुद्रा कोष के भूतपूर्व प्रबन्ध निर्देशक जेकबसन के शब्दों में, "मुद्रा कोष आग बुझाने वाले इंजन की तरह है जिसका प्रयोग केवल सकट काल में ही किया जाना चाहिए।" मुद्रा कोष एक गतिशील कोष के समान है जिसकी सहायता का प्रयोग विदेशी भुगतान के लिए आवश्यक होने पर किया जाना चाहिए एवं शीघ्र ही ऋणों का भुगतान कर देना चाहिए।

सामान्य रूप से मुद्रा कोष निम्न रूपों में सहायता देता है :—

(i) **संकटकालीन सहायता**—यदि किसी देश में आकस्मिक आर्थिक अथवा राजनीतिक संकट उपस्थित हो जाय तो मुद्रा कोष उसे इस शर्त पर शीघ्र सहायता की व्यवस्था करता है कि संकटग्रस्त देश अपनी आर्थिक स्थिति में सुधार करने के लिए पूर्ण प्रयास करेगा। इसका उदाहरण स्वेज नहर विवाद से उत्पन्न आर्थिक सकट के कारण ब्रिटेन को दी गयी सहायता है। 1967 में पौण्ड का अवमूल्यन होने पर ब्रिटेन को पौण्ड को सहारा देने के लिए 1,400 मिलियन SDR की सहायता दी गयी। फ्रान्स को भी 1968 के भयकर राजनीतिक और आर्थिक सकट के समय 745

मि० SDR की सहायता दी गयी। 1971 में डालर संकट के समय अमरीका को 1,362 मि० SDR की सहायता लेनी पड़ी। ताजा उदाहरण ब्रिटेन का है जिसे 1976 में आर्थिक संकट से छुटकारा दिलाने के लिए 2,400 मि० SDR की संकटकालीन सहायता दी गयी।

(ii) सामयिक विनिमय संकट को दूर करने हेतु—विश्व में कुछ ऐसे अर्द्धविकसित देश हैं जिनका निर्यात सीमित होता है तथा जो प्राथमिक उत्पादन के निर्यात पर ही निर्भर रहते हैं। जब तक उन्हें इस निर्यात का भुगतान नहीं मिल जाता, उन्हें विदेशी विनिमय कठिनाई का सामना करना पड़ता है। मुद्रा कोष ऐसे देशों को 6 से 12 माह के लिए नियमित सहायता देता रहता है। इस प्रकार की सहायता पाने वाले देशों में मुख्य हैं—क्यूबा, निकारगुआ और होण्डुरास।

(iii) चालू भुगतान-शेष की कठिनाई के हल हेतु—प्रायः कुछ देशों को या तो उपभोग वस्तुओं के या पूँजीगत वस्तुओं के अधिक आयात करने के कारण भुगतान शेष में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। यद्यपि इन्हें दीर्घकालीन ऋणों की आवश्यकता होती है, किन्तु उसके अभाव में इन्हें मुद्रा कोष से अस्थायी एवं अल्पकालीन सहायता लेना आवश्यक हो जाता है जिससे चालू भुगतान शेष में कठिनाई न हो। मुद्रा कोष द्वारा इस प्रकार की सहायता डेनमार्क, फ्रान्स, भारत, हालैण्ड, अर्जेण्टाइना आदि देशों को दी गयी है।

(iv) स्थायित्व ऋण—बहुत से देश, अपने भुगतान शेष की कठिनाई को हल करने के लिए विनिमय नियन्त्रण की सहायता लेते हैं एवं बहु विनिमय दरों को अपना लेते हैं किन्तु इन दरों के कारण विनिमय में काफी कठिनाईपूर्ण समायोजन करने पड़ते हैं। जब इन देशों की आर्थिक स्थिति में कुछ सुधार होने लगता है, तो वे मुद्रा कोष से अस्थायी ऋण लेकर एक समता दर अपनाने का प्रयास करते हैं। मुद्रा कोष का ऐसे ऋणों का उद्देश्य यह है कि सब देशों के भुगतान के लिए एकमी विनिमय दर हो। कोष द्वारा इस प्रकार के ऋण इजराइल और कोस्टारिका को दिये गये हैं।

(2) विनिमय स्थायित्व सम्बन्धी कार्य—जब मुद्रा कोष की स्थापना हुई थी तो उसका मुख्य उद्देश्य सदस्य देशों के बीच विनिमय स्थायित्व को कायम करना था। अतः सब देशों की मुद्रा का मूल्य स्वर्ण अथवा डालर में निर्धारित किया गया था। विनिमय दरों को लोचपूर्ण रखने के लिए मुद्रा कोष ने विनिमय दरों के निर्धारण के सम्बन्ध में प्रबन्धित परिवर्तन शीलता (Managed Flexibility) का सिद्धान्त अपनाया था जिसके अन्तर्गत सदस्य देश अपनी मुद्रा की प्रारम्भिक समता दर में 10 प्रतिशत तक परिवर्तन, कोष को सूचना देकर ही कर सकता था। 10 से 20 प्रतिशत तक परिवर्तन करने के लिए मुद्रा कोष की पूर्व स्वीकृति आवश्यक थी। 20 प्रतिशत से अधिक परिवर्तन की स्वीकृति के लिए कोष के दो तिहाई सदस्यों की सहमति आवश्यक थी।

दिसम्बर 1971 में स्मिथ सोनियन समझौते (Smith Sonian Agreement) के अन्तर्गत सदस्य देशों द्वारा विनिमय की केन्द्रीय दरें निश्चित करनी गयी जिनमें 2.25 प्रतिशत तक परिवर्तन किसी भी समय किया जा सकता था किन्तु बाद में सब देशों ने समता दरों का त्याग कर स्वतन्त्र विनिमय दरों को अपना लिया। जनवरी 1976 में कोष की अन्तरिम समिति ने अपनी जमैका में हुई बैठक में यह निर्णय लिया कि विनिमय दरों के सम्बन्ध में सदस्य देश अपनी स्वतन्त्र नीति अपना सकते हैं किन्तु सदस्यों का यह उत्तरदायित्व होगा कि वे कोष और अन्य सदस्य देशों के साथ विनिमय की उचित व्यवस्था बनाये रखें।

(3) दुर्लभ मुद्रा सम्बन्धी कार्य—यदि कोष यह अनुभव करता है कि उसके पास किसी देश की मुद्रा दुर्लभ हो गयी है तो वह दुर्लभता के कारणों सहित सदस्यों को इसकी सूचना देता है। यदि किसी देश की मुद्रा की माँग उसकी पूर्ति की अपेक्षा इतनी अधिक बढ़ जाती है कि मुद्रा कोष के लिए अपने साधनों से उसकी माँग पूरी करना सम्भव नहीं होता तो ऐसी स्थिति में कोष सम्ब-

न्धित देश से मुद्रा उधार ले सकता है अथवा स्वर्ण के बदले उसे खरीद सकता है। इतने पर भी यदि मुद्रा की माँग को पूरा नहीं किया जा सकता तो मुद्रा कोष उस मुद्रा को दुर्लभ मुद्रा घोषित कर देता है और ऐसी स्थिति में कोष को दुर्लभ मुद्रा के राशनिंग का अधिकार मिल जाता है। साथ ही ऐसी मुद्रा की माँग करने वाले सदस्य देशों को दुर्लभ मुद्रा वाले देश से किये जाने वाले आयातों पर प्रतिबन्ध लगाकर अपने भुगतान शेष की प्रतिकूलता को ठीक करने का अधिकार भी मिल जाता है।

(4) मुद्रा का पुनः क्रय सम्बन्धी कार्य—मुद्रा के पुन क्रय सम्बन्धी कार्यों का उद्देश्य मुद्रा कोष के स्वर्ण एवं परिवर्तनशील मुद्रा के स्टाक में वृद्धि करना है एव कोष को कुछ मुद्राओं में स्थिर रखने की अपेक्षा उन्हें गतिशील बनाये रखना है। दुर्लभ मुद्रा के ठीक विपरीत, यह भी सम्भव है कि मुद्रा कोष के पास ऐसी मुद्राएँ काफी मात्रा में जमा हो जायें जिनकी माँग नहीं हैं। ऐसी स्थिति में कोष अपना कार्य सफलतापूर्वक नहीं चला सकेगा। मुद्रा कोष की तरलता को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि कोष के पास किसी सदस्य देश की मुद्रा अधिक मात्रा में जमा न होने पावे। अत. कोष में इस प्रकार का प्रावधान है कि मुद्रा की पुनः खरीद की जा सके। यदि कोष के पास किसी देश की मुद्रा उसके अभ्यंश की तुलना में अधिक बढ़ जाती है तो ऐसा देश स्वर्ण के बदले अपने अभ्यंश से अधिक मात्रा की मुद्रा को खरीद सकता है। मुद्रा कोष में यह भी व्यवस्था है कि प्रत्येक सदस्य देश प्रति वर्ष स्वर्ण अथवा परिवर्तनीय मुद्रा के बदले कोष के पास से अपनी मुद्रा की कुल मात्रा का एक निश्चित भाग पुनः खरीद सकेगा।

(5) अल्पकालीन अन्तर्राष्ट्रीय साख-विदेशी मुद्रा क्रय वचन—सदस्य देशों की भुगतान शेष की प्रतिकूलता की मात्रा एवं अवधि को कम करने के लिए, मुद्रा कोष दो प्रकार से अल्पकालीन अन्तर्राष्ट्रीय साख की व्यवस्था करता है। प्रथम, सदस्यों को विदेशी मुद्रा देकर जिसे पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है एवं दूसरे, सदस्यों की आवश्यकता पड़ने पर विदेशी मुद्रा का वचन देकर (Standby Agreements)। यह सहायता सम्बन्धित देश के केन्द्रीय बैंक के माध्यम से दी जाती है। ऋण वचन का सुझाव प्रो बर्नस्टीन (E M. Bernstein) ने दिया था एवं तदनुसार 1952 से कुछ देशों के साथ ऋण वचन के समझौते किये गये हैं। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सदस्य देश को यह अधिकार होता है कि वह निश्चित अवधि के भीतर अपनी आवश्यकता बतला कर कोष से विदेशी विनिमय प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार के समझौते प्रायः 12 माह के लिए किये जाते हैं किन्तु यदि सदस्य देश की आवश्यकता सामयिक हो तो 6 माह के लिए भी समझौता किया जा सकता है।

(6) *विनिमय नियन्त्रण को हटाना अथवा कम करना*—विनिमय नियन्त्रण को समाप्त करने अथवा उन्हें कम करने के उद्देश्य से मुद्रा कोष ने यह प्रावधान रखा कि व्यापार एवं चालू लेन-देन में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी प्रवाह अथवा विशेष रूप से पूँजी पलायन (Capital flight) को रोकने के लिए मुद्रा कोष विनिमय नियन्त्रण अपनाने की अनुमति देता है। इसके अतिरिक्त कोष द्वारा घोषित दुर्लभ मुद्रा के सम्बन्ध में भी विनिमय नियन्त्रण की अनुमति रहती है। एक देश को संक्रमण काल की अवधि में भी विनिमय नियन्त्रण अपनाने की छूट रहती है। प्रो. के. के. कुरिहारा (K.K. Kurihara) के शब्दों में "मुद्रा कोष एक ओर विनिमय दृढ़ता के बिना विनिमय स्थायित्व बनाये रखने का प्रयत्न करता है और दूसरी ओर कुछ विनिमय नियन्त्रण के साथ विनिमय की लोचपूर्णता को प्रोत्साहित करता है।"[1]

(7) तकनीकी सहायता मुद्रा कोष सदस्य देशों को तकनीकी सहायता भी प्रदान करता है जो दो प्रकार से दी जाती है प्रथम, मुद्रा कोष सदस्य देशों को अपने विशेषज्ञों की सेवाएँ प्रदान

1 K. K. Kurihara—*Monetary Theory and Public Policy*, p. 361.

करता है और द्वितीय, कभी-कभी मुद्रा कोष द्वारा बाहरी विशेषज्ञों को भी जटिल समस्याओं के समाधान के लिए सदस्य देशों में भेजा जाता है। तकनीकी सहायता देने के लिए मुद्रा कोष ने 1964 में दो नये विभागों की स्थापना की—केन्द्रीय बैंकिंग सेवा विभाग (Central Banking Service Department) एवं प्रशुल्क मामलों का विभाग (Fiscal Affairs Department)।

(8) क्षतिपूरक वित्तीय सहायता—इस योजना के अन्तर्गत उन देशों को अभ्यश के आधार पर निश्चित राशि के अतिरिक्त भी सहायता देने का प्रावधान है जो मुख्य रूप से प्राथमिक पदार्थों का उत्पादन और निर्यात करते हैं। जून 1976 तक इस योजना के अन्तर्गत 953 मिलियन SDR की सहायता प्रदान की गयी।

(9) संक्रान्तिकालीन सुविधाएँ—यद्यपि मुद्रा कोष विदेशी व्यापार एवं विदेशी विनिमय के क्षेत्र में नियन्त्रणों के विरुद्ध है पर सदस्य देशों को संक्रान्तिकाल में विनिमय नियन्त्रण, संरक्षण तथा अन्य प्रतिबन्धों को बनाये रखने का अधिकार दिया गया है किन्तु इसके पीछे यह मान्यता है कि संक्रान्तिकाल के अन्त में प्रतिबन्धों को समाप्त कर दिया जायेगा।

(10) सेवाशुल्क एवं लाभांश—जब मुद्रा कोष किसी सदस्य देश को ऋण देता है तो जिस मुद्रा में उसे ऋण दिया जाता है, उस मुद्रा की मात्रा कोष के पास कम हो जाती है और जो सदस्य ऋण लेता है उस देश की मुद्रा कोष के पास बढ़ जाती है। ऐसा देश कोष का ऋणी हो जाता है और उसे ऋण पर सेवा शुल्क के रूप में ब्याज देना पड़ता है। साधारणतः तीन माह तक के ऋण पर कोई शुल्क नहीं लिया जाता किन्तु इससे अधिक एक वर्ष तक की अवधि पर 0 5% सेवाशुल्क लिया जाता है। जैसे-जैसे मुद्रा कोष का ऋण बढ़ता जाता है, सदस्य देश को बढ़ती हुई दर पर ब्याज देना होता है। [redacted] मुद्रा कोष के पास किसी सदस्य देश की जमा मुद्रा उस सीमा तक पहुँच जाती है, जहाँ ब्याज की दर प्रतिवर्ष 4 प्रतिशत हो जाती है तो मुद्रा कोष और सदस्य देश मिलकर ऐसे उपायों पर विचार करते हैं ताकि सदस्य देश की जमा मुद्रा को कम किया जा सके। फिर भी यदि जमा राशि कम न हो तो ब्याज की दर बढ़कर 5 प्रतिशत हो जाती है। इसके बाद भी यदि जमा राशि कम न हो तो कोष को अधिकार होता है कि वह ऐसा सेवा-शुल्क वसूल करे जो वह उचित समझे। प्रायः ऐसी स्थिति में मुद्रा कोष सदस्य देश को अवमूल्यन की सलाह देता है जिसे सदस्य देश स्वीकार कर लेता है।

मुद्रा कोष के शुल्क का भुगतान स्वर्ण में करने का प्रावधान है परन्तु यदि किसी देश के मौद्रिक कोषों की मात्रा उसके अभ्यश के आधे से भी कम रह जाय तो शुल्क अपनी मुद्रा में भी चुकाया जा सकता है।

(11) प्रशिक्षण कार्यक्रम—मुद्रा कोष *1951* से सदस्य देशों के प्रतिनिधियों को प्रशिक्षण देने का कार्यक्रम चला रहा है जिसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान, आर्थिक विकास, आँकड़ों का सकलन और विश्लेषण और वित्तीय व्यवस्था इत्यादि का प्रशिक्षण शामिल होता है। यह प्रशिक्षण प्राय केन्द्रीय बैंकों तथा सरकार के वित्त विभाग के उच्च पदाधिकारियों के लिए होता है।

(12) ट्रस्ट कोष—मुद्रा कोष ने जनवरी 1976 में एक ट्रस्ट-कोष बनाने का निर्णय लिया जिसके लिए चार वर्ष की अवधि में मुद्रा कोष द्वारा 250 मिलियन औंस सोना बेचने का प्रावधान किया गया और इसके विक्रय से मिलने वाली आधिक्य राशि का अधिकांश भाग ट्रस्ट कोष में जमा करने और इस कोष में से विकासशील देशों को ½ प्रतिशत वार्षिक ब्याज की दर पर सहायता देने का निर्णय लिया गया। इन देशों में भारत सहित 60 देश शामिल हैं।

उपर्युक्त निर्णय के अनुसार मुद्राकोष मई 1976 से प्रति माह 5 लाख 70 हजार औंस स्वर्ण बेच रहा है। जून 1978 से यह मात्रा घटाकर प्रतिमाह 4 लाख 73 हजार औंस स्वर्ण प्रतिमाह हो गयी है।

(13) **मुद्रा कोष के प्रकाशन**—मुद्रा कोष द्वारा मुद्रा, बैंकिंग, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, प्रशुल्क नीति इत्यादि से सम्बन्धित कई प्रकाशन प्रकाशित किये जाते हैं। इनमें वार्षिक रिपोर्ट, विनिमय प्रतिबन्ध पर वार्षिक प्रतिवेदन, भुगतान-शेष वार्षिकी, मुद्राकोष सर्वे (पाक्षिक), अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सांख्यिकी (मासिक), व्यापार-दिशा (मासिक), वित्त एवं विकास (त्रैमासिक) एवं स्टाफ पेपर्स इत्यादि हैं। मुद्रा कोष, विश्व बैंक के साथ मिलकर "The Fund and the Bank Review" त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन भी करता है।

मुद्रा कोष के कार्यों पर प्रतिबन्ध

मुद्रा कोष के प्रतिबन्धित कार्य इस प्रकार हैं—

(i) मुद्रा कोष को निजी संस्थाओं तथा व्यक्तियों के साथ व्यवसाय करने का अधिकार नहीं है। केवल अधिकृत मौद्रिक संस्थाओं एवं केन्द्रीय बैंक के माध्यम से ही कोष कार्य करता है।

(ii) भुगतान-शेष में सुधार करने के लिए मुद्रा कोष देश की आन्तरिक अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं कर सकता।

(iii) मुद्रा कोष केवल अल्पकालीन ऋण ही दे सकता है, दीर्घकालीन नहीं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में स्वर्ण का स्थान
(PLACE OF GOLD IN I. M. F.)

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, प्रारम्भ में मुद्रा कोष में स्वर्ण का महत्वपूर्ण स्थान था क्योंकि प्रत्येक सदस्य देश को अपनी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण में घोषित करना पड़ता था एवं अपने अभ्यंश का एक निश्चित भाग स्वर्ण में जमा करना पड़ता था और कोष द्वारा स्वर्ण के अधिकतम मूल्य की घोषणा की जाती थी। यही कारण था कि मुद्रा कोष की व्यवस्था को स्वर्ण समता मान (Gold Parity Standard) का नाम दिया गया। मुद्रा कोष में स्वर्ण की व्यवस्था को उस समय तक स्वीकार किया गया जब तक इसका मौद्रिक मूल्य स्थिर रहा। 1971 तक अमरीका द्वारा यह गारण्टी दी गयी थी कि वह अपनी मुद्रा (डालर) को स्वर्ण में 35 डालर प्रति औंस की दर से परिवर्तित करता रहेगा। किन्तु डालर का अवमूल्यन होने के कारण सोने का मूल्य बढ़कर 42 22 डालर प्रति औंस हो गया। ऐसी स्थिति में मौद्रिक व्यवस्था के स्थायी आधार के लिए स्वर्ण महत्वपूर्ण नहीं रह गया एवं सन् 1976 में मुद्रा कोष की आन्तरिक समिति द्वारा यह निर्णय लिया गया कि अब स्वर्ण का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में मौद्रिक आधार के रूप में नहीं किया जायेगा।

मौद्रिक सुधार के सम्बन्ध में 20 सदस्यों की समिति के सुझाव के अनुसार जुलाई 1974 से SDR का स्वर्ण से सम्बन्ध विच्छेद कर दिया गया है। अन्य सुझावों के अनुसार स्वर्ण का अधिकृत मूल्य (1 औंस स्वर्ण=35 SDR=US $ 42·22) समाप्त कर दिया गया है। मुद्रा कोष के कुल स्वर्ण का $\frac{1}{6}$ (25 मि० औंस) भाग बेचकर ट्रस्ट कोष बनाया गया है जिससे विकासशील देशों के भुगतान शेष के असन्तुलन को दूर करने हेतु सहायता दी जा रही है। दूसरे $\frac{1}{6}$ स्वर्ण कोष को सदस्य देशों को लौटा दिया गया है। शेष स्वर्ण की निकासी कैसे होगी, यह सदस्य देशों के 85 प्रतिशत बहुमत द्वारा तय किया जायगा।

स्वर्ण का अब कोई आधिकारिक मूल्य नहीं होगा और मुद्राओं के मूल्यों का आधार इसे नहीं माना जायगा। यह संशोधन 1 अप्रैल, 1978 से लागू हो गया है। SDR के मूल्य की इकाई के रूप में सोने का महत्व समाप्त हो गया है। सोने का आधिकारिक मूल्य समाप्त किये जाने से कोष के सदस्य देश बाजार में आधिकारिक मूल्य के बिना सोने में कामकाज के लिए स्वतन्त्र हैं। अब स्वर्ण न तो अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान का साधन होगा और न ही मूल्य का मापक। अब मुद्रा कोष में अपने अभ्यंश के रूप में सदस्य देशों को स्वर्ण रखने की आवश्यकता नहीं होगी।

इस प्रकार ब्रेटनवुड्स सम्मेलन में जिस स्वर्ण को अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की इकाई के रूप स्वीकार किया गया था अब इसे सिंहासन से च्युत कर दिया है तथा ट्रिफिन की भविष्यवाणी (Prof. Triffin's Prediction) सही हो गयी है कि "मानव निर्मित साख-रिजर्व, स्वर्ण रिजर्व को उसी प्रकार प्रतिस्थापित करेगा जिस प्रकार कि मानव निर्मित साख मुद्रा ने पूरे विश्व की मौद्रिक प्रणालियों ने काफी पहले स्वर्ण को प्रतिस्थापित कर दिया है।"

मुद्रा कोष की सफलताएँ अथवा उपलब्धियाँ
(ACHIEVEMENTS OF THE I. M. F.)

ब्रेटनवुड्स में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना का निर्णय जिन उद्देश्यों को लेकर किया गया था, यद्यपि उन्हें पूर्ण रूप से साकार तो नहीं किया गया है किन्तु फिर भी कोष की उपलब्धियों को नकारा नहीं जा सकता जिन्हें हम निम्न प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं :

(1) **विनिमय दरों का निर्धारण**—अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मौद्रिक सहयोग स्थापित करने के लिए कोष ने सदस्य देशों की मुद्राओं में समता दरें निर्धारित कीं जिससे अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में सरलता हुई। 1971 तक अधिकांश सदस्य देशों की समता दरें निर्धारित की जा चुकी थी। मुद्रा कोष का सदैव यह प्रयत्न भी रहा कि मुद्राओं की विनिमय दरें उचित स्तर पर कायम रखी जायें। किन्तु 1971 में डालर के अवमूल्यन से समता दरों का सिलसिला समाप्त हो गया और मुद्रा कोष की निश्चित दर बनाये रखने की नीति असफल हो गयी।

(2) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सहायता**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रारम्भ से ही यह उद्देश्य रहा है कि व्यापार के क्षेत्र में लगे प्रतिबन्धों को समाप्त कर, विश्व-व्यापार को प्रोत्साहित किया जाय। इस क्षेत्र में मुद्रा कोष की उपलब्धि उल्लेखनीय रही है। मुद्राकोष ने अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों को सरल बनाया और जिन देशों का भुगतान शेष प्रतिकूल था, उनकी मदद कर व्यापार बढ़ाने में सहायता दी। इसका परिणाम यह हुआ कि सन् 1948 में विश्व निर्यात जो केवल 53 अरब डालर के थे, 1976 में बढ़कर 800 अरब डालर के हो गये। व्यापार के विस्तार के लिए क्षेत्रीय संगठनों को भी मुद्राकोष ने प्रोत्साहित किया है।

(3) **भुगतान सन्तुलन में सहायक**—मुद्रा कोष का यह प्रारम्भ से ही उद्देश्य था कि सदस्य देशों के भुगतान शेष में अल्पकालीन घाटे को दूर किया जाय। अतः इसके अनुरूप कोष ने विभिन्न देशों के भुगतान शेष के असन्तुलन को दूर करने का प्रयत्न किया है तथा आवश्यकतानुसार विभिन्न मुद्राओं का क्रय-विक्रय करके सदस्य देशों की विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूर्ण किया है और असामान्य परिस्थितियों में मुद्रा को दुर्लभ भी घोषित किया है। भुगतान शेष की कठिनाई को हल करने के लिए मुद्रा कोष से जहाँ भारत, इण्डोनेशिया, घाना और पाकिस्तान सरीखे विकासशील देशों ने सहायता ली है, वहीं अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और जापान सरीखे विकसित देशों ने भी सहायता ली है। कुछ ऐसे देशों द्वारा जुलाई 1976 तक जो विदेशी सहायता कोष से ली गयी है वह इस प्रकार है :

तालिका 51·2—मुद्रा कोष द्वारा सहायता जुलाई 1976 तक (मिलियन SDR में)

देश	सहायता	देश	सहायता
ब्रिटेन	10,168	भारत	1,865
संयुक्त राष्ट्र अमरीका	3,352	चिली	927
इटली	3,186	कनाडा	726
फ्रांस	2,388	ब्राजील	579

(4) **बहुपक्षीय भुगतान की प्रणाली**—भुगतान की बहुपक्षीय प्रणाली की स्थापना करने की दिशा में विशेष रूप से चालू भुगतानों के लिए कोष ने महत्वपूर्ण प्रगति की है जिससे विदेशी व्यापार और विदेशी पूँजी के आवागमन को प्रोत्साहन मिला है।

(5) **विकासशील देशों को विशेष सहायता**—मुद्रा कोष ने विशेष रूप से विकासशील देशों को उदारतापूर्वक सहायता दी है ताकि उनके भुगतान शेष में सुधार हो सके एवं वे अपने देश में मौद्रिक स्थिरता को बनाये रख सकें। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मुद्रा कोष ने पिछड़े देशों को सहायता देने के लिए ही एक ट्रस्ट कोष बनाने का निर्णय लिया है। इससे इन देशों के आर्थिक विकास के कार्यक्रमों में सहायता दी जायगी।

(6) **तकनीकी ज्ञान के विस्तार में सहायक**—मुद्रा कोष के प्रशिक्षण संस्थान ने तकनीकी ज्ञान के प्रसार में उल्लेखनीय कार्य किया है। जिन देशों ने हाल ही में राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त की है, उन्हें अपनी मौद्रिक, विनिमय और राजस्व सम्बन्धी नीतियों के निर्माण में काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है किन्तु मुद्रा कोष द्वारा इन देशों को विशेषज्ञों के माध्यम से दी जाने वाली तकनीकी सहायता ने काफी अंशों तक उक्त कठिनाइयों को हल कर दिया है। इस सम्बन्ध में कोष द्वारा स्थापित प्रशुल्क मामलों का विभाग एवं केन्द्रीय बैंकिंग सलाह सेवाएँ उल्लेखनीय हैं।

(7) **अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक क्षेत्र में सहयोग**—मुद्रा कोष ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मौद्रिक सहयोग स्थापित करने में महत्वपूर्ण कार्य किया है। मुद्रा कोष ने अपने सदस्य देशों को उनकी आर्थिक, प्रशुल्क एवं वित्तीय नीतियों एवं भुगतान-शेष की कठिनाइयों को हल करने के लिए एक विचारपूर्ण मंच प्रदान किया है। जिसका परिणाम यह हुआ कि अब सदस्य देश इस बात को अनुभव करने लगे हैं कि उनकी मौद्रिक समस्याओं को एक-दूसरे के सहयोग से ही हल किया जा सकता है।

(8) **कोषों का अधिक सार्थक उपयोग**—यह भी मुद्रा कोष की सफलता ही कही जायगी कि अब वह मुद्रा कोषों का प्रयोग पुनर्निर्माण और विकास के उद्देश्यों के लिए भी करने लगा है पहले यह सीमा थी कि कोष का प्रयोग केवल भुगतान शेष की मूल कठिनाइयों को हल करने के लिए ही किया जायगा जिससे कोष की उपयोगिता सीमित हो गयी थी किन्तु अब मुद्रा कोष ने इस सम्बन्ध में उदार नीति अपनाना शुरू कर दिया है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मुद्रा कोष ने प्रबन्धित कागजी मान और स्वर्णमान दोनों के लाभ प्राप्त किये हैं एवं इन दोनों के दोषों से अपने को बचा लिया है। प्रबन्धित कागजी मान के लाभ के रूप में कोष ने सदस्य देशों में रोजगार के साधनों में वृद्धि की है और आर्थिक विकास को गतिशील बनाया है। स्वर्णमान के लाभ के रूप में, कोष ने आर्थिक स्थिरता को बनाये रखा है। साथ ही मुद्रा कोष ने अन्तर्राष्ट्रीय तरलता (International Liquidity) को बढ़ाने में भी SDR के रूप में उल्लेखनीय कार्य किया है। श्विजर (Schweitzer) के शब्दों में, "नयी समस्याओं को हल करने और अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली के सतत विकास के लिए आवश्यक सुविधाओं को जुटाने के लिए कोष का अस्तित्व लोचपूर्ण एवं आदर्श है।"

मुद्रा कोष की आलोचनाएँ अथवा विफलताएँ
(SCHORTCOMINGS OF THE FUND)

उपर्युक्त सफलताओं के बावजूद भी यह कहा जा सकता है कि कोष अपने उद्देश्यों में पूर्ण रूप से सफल नहीं हुआ है और कुछ क्षेत्रों में उसे असफलताएँ मिली हैं जो उसकी आलोचना का आधार है। कोष की प्रमुख आलोचनाएँ अथवा दोष इस प्रकार है :

(1) **सदस्य देशों के अभ्यंशों का आधार वैज्ञानिक नहीं**—मुद्रा कोष में स्वर्ण तथा डालर विधि के आधार पर सदस्य देशों के अभ्यंश निर्धारित किये गये जो उचित आधार नहीं था। उचित आधार तो यह था कि सदस्यों की विनिमय की आवश्यकता और भुगतान-शेष की प्रति-

अध्याय 50

विदेशी पूँजी और आर्थिक विकास

[FOREIGN CAPITAL AND ECONOMIC DEVELOPMENT]

परिचय

विकासशील एवं पिछड़े देशों के आर्थिक विकास में विदेशी पूँजी की महत्वपूर्ण भूमिका रही है एवं इसे प्रमाणित करने के लिए किसी आनुभविक जाँच की आवश्यकता नहीं है। विदेशी पूँजी केवल वांछनीय ही नहीं है वरन् उन देशों के द्रुत विकास के लिए अपरिहार्य है जो आर्थिक विकास की संक्रमणकालीन अवस्था से गुजर रहे हैं। आज विश्व के जो समृद्ध राष्ट्र है, उन्होंने भी अपने आर्थिक विकास के प्रारम्भिक चरण में विदेशी पूँजी की सहायता ली थी। यह बात दूसरी है कि विदेशी पूँजी की मात्रा में भिन्नता रहती है जो इस बात पर निर्भर रहती है कि देश के साधनों का दोहन किस सीमा तक किया जा सकता है।

विदेशी पूँजी और विदेशी सहायता में अन्तर

विदेशी पूँजी और विदेशी सहायता दोनों एक ही शब्द नहीं हैं वरन् इन दोनों में अन्तर है, भले ही यह एक सूक्ष्म अन्तर हो। किसी एक देश की अन्य देशों से प्राप्त ऐसे ऋणों को जिसका एक अंश अनुदान के रूप में हो और शेष राशि को अपेक्षाकृत उदार शर्तों पर लौटाया जा सके, विदेशी सहायता कहते हैं।

यदि एक देश शुद्ध रूप से किसी अन्य देश को ऋण देता है अथवा अपने पूँजीगत साधनों का अन्यत्र विनियोग करता है तो उसे विदेशी पूँजी कहते हैं। विदेशी सहायता किसी देश के आर्थिक विकास में मदद देने हेतु प्रदान किया गया ऐसा ऋण है जिसका एक अंश न तो लौटाना पड़ता है और न उस पर ब्याज ही देय होता है। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि किसी देश से जो दान, उपहार आदि प्राप्त होते हैं उन्हें विदेशी सहायता नहीं कहा जा सकता क्योंकि इनका सम्बन्ध आर्थिक विकास से नहीं होता। विदेशी सहायता शर्तयुक्त भी हो सकती है जिसके लिए विधिवत् समझौते किये जाते हैं। दान, उपहार में कोई शर्त नहीं होती।

विदेशी पूँजी एवं सहायता की आवश्यकता एवं महत्व

किसी भी विकासशील देश के सामने प्रमुख समस्या द्रुतगति से आर्थिक विकास करने की होती है। इसके लिए जिन साधनों की आवश्यकता होती है जैसे मशीनें, औजार, तकनीकी ज्ञान तथा कच्चा माल इत्यादि, वे इन देशों के पास उपलब्ध नहीं होते अतः इन्हें विदेशों से आयात करना पड़ता है। आयातों का भुगतान करने के लिए निर्यातों को बढ़ाना आवश्यक है। किन्तु ये देश केवल प्राथमिक वस्तुओं का ही निर्यात करते हैं अतः निर्यात में आवश्यक वृद्धि नहीं की जा सकती। अतः इस कमी को पूरा करने के लिए विदेशी पूँजी की सहायता ली जा सकती है।

जहाँ तक निर्यातों में वृद्धि का प्रश्न है, यदि देश भारी मात्रा में घरेलू उपभोग में कटौती कर सकता है और उपभोग वस्तुओं के आयात में कटौती कर सकता है तो निर्यात बढ़ा सकता है। रूस और चीन का उदाहरण हमारे सामने मौजूद है जिन्होंने उपभोग में काफी कटौती कर बिना विदेशी पूँजी के अपना आर्थिक विकास किया। जापान ने भी बहुत कम मात्रा में विदेशी ऋण लेकर विकास किया। किन्तु इसके लिए भारी त्याग की आवश्यकता होती है जो वे सब विकासशील देश नहीं कर सकते जो द्रुत गति से आर्थिक विकास करने के लिए कटिबद्ध हैं। संक्षेप में विदेशी पूँजी की आवश्यकता निम्नलिखित कारणों से होती है :

(1) दरिद्रता के विषम चक्र को समाप्त करने के लिए—विकासशील देशों का यह एक विशेष लक्षण होता है कि यहाँ पूँजी की कमी होती है तथा उनके विकास में ऐसी बाधाएँ होती हैं जो उनके चारों ओर एक विषम चक्र का निर्माण कर देती हैं। ये बाधाएँ दरिद्रता का कारण भी होती हैं और परिणाम भी। ये विषम चक्र कई प्रकार के होते हैं जिन्हें संक्षिप्त में इस प्रकार समझाया जा सकता है। इन देशों में कुल उत्पादन कम होता है अतः वास्तविक आय कम रहती है जिससे बचत की मात्रा भी अल्प होती है। कम बचत होने से विनियोग कम होता है जिससे पूँजी की कमी इन देशों में रहती है।

वास्तविक आय का नीचा स्तर, अल्प माँग का कारण और परिणाम होता है। कम आय होने से माँग भी कम होती है जिससे विनियोग कम होता है और पूँजी की कमी होती है जिससे उत्पादन कम होता है और फलस्वरूप वास्तविक आय कम होती है। अतः इन देशों में पूँजी की कमी को दूर करने एवं उत्पादन को बढ़ाने के लिए विदेशी पूँजी की आवश्यकता होती है ताकि दरिद्रता के विषम चक्र को तोड़ा जा सके।

(2) भुगतान शेष के घाटे को दूर करने के लिए—यदि इन देशों में विकास की सन्तोषजनक दर को प्राप्त करने के लिए पर्याप्त मात्रा में बचत भी हो तो भी भुगतान शेष के घाटे को दूर करने के लिए विदेशी पूँजी की आवश्यकता होती है। जब कभी किसी देश में द्रुत गति से आर्थिक विकास किया जाता है, तो भुगतानशेष में घाटे की स्थिति पैदा हो जाती है। आर्थिक विकास प्रत्यक्ष रूप से दो तरह से भुगतानशेष को प्रतिकूल ढंग से प्रभावित करता है, प्रथम आर्थिक विकास के कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए भारी मात्रा में पूँजीगत वस्तुओं, कच्चे माल और तकनीकी जानकारी का आयात करना पड़ता है दूसरे, पहले जिन वस्तुओं का निर्यात किया जाता था, अब उनकी खपत देश के विकास कार्यों में होने लगती है जिससे निर्यात कम हो जाते हैं फलस्वरूप भुगतान शेष प्रतिकूल हो जाता है।

(3) विनियोग बढ़ाने हेतु—निर्धन देश कम उत्पादन, अधिक जनसंख्या और ऊँची उपभोग दर के कारण अपनी राष्ट्रीय आय का बहुत ही कम भाग बचा पाते हैं जिससे विकास के लिए पूँजी विनियोग पर्याप्त मात्रा में नहीं हो पाता और फिर आर्थिक गत्यावरोध का दूषित चक्र चल पड़ता है। इस बचत-विनियोग की कमी को दूर करके आर्थिक विकास को ऊँचा उठाने में विदेशी सहायता की आवश्यकता निर्विवाद है।

(4) तकनीकी कुशलता एवं उद्यमी प्रतिभा की पूर्ति हेतु—विकासशील देशों में केवल पूँजी का ही अभाव नहीं होता वरन् इन देशों में तकनीकी ज्ञान, उत्पादन कुशलता और प्रबन्धकीय योग्यता का भी अभाव होता है। विदेशी पूँजी के साथ उपर्युक्त पूरक साधन भी प्राप्त हो जाते हैं जो आर्थिक विकास के लिए बहुत आवश्यक होते हैं। देश में किये जाने वाले विदेशी विनियोग स्थानीय लोगों को तकनीकी प्रशिक्षण का अवसर प्रदान करते हैं जिससे देश में औद्योगिक वातावरण निर्मित होता है और घरेलू पूँजी तथा उद्यमियों को प्रोत्साहन मिलता है।

(5) प्राकृतिक सम्पदा के दोहन के लिए—विकासशील देशों में प्राकृतिक सम्पदा के दोहन

के लिए भी विदेशी पूँजी की आवश्यकता होती है जैसे भारत में विपुल प्राकृतिक सम्पदा थी किन्तु पूँजी के अभाव में इसका दोहन नहीं किया जा सका। आर्थिक नियोजन के साथ यह अनुभव किया गया और विदेशी पूँजी का उपयोग किया गया। हमारे यहाँ सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित लोहा और इस्पात के कारखानों में विदेशी सहायता का महत्वपूर्ण हाथ है। इसमें दो मत नहीं है कि विदेशी पूँजी और सहायता के रूप में प्राप्त तकनीकी ज्ञान और मशीनों की मदद से अर्द्धविकसित देश लम्बी अवधि से अप्रयुक्त पड़े हुए प्राकृतिक संसाधनों का समुचित विकास कर सकते हैं।

(6) **अन्तर्राष्ट्रीय अच्छे सम्बन्ध**—विदेशी पूँजी और सहायता से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को मधुर बनाने और मिलजुल कर आर्थिक उत्थान करने की प्रेरणा मिलती है। विदेशी सहायता पाने वाले देश अपना गत्यावरोध समाप्त करके आर्थिक विकास द्वारा रोजगार तथा आय के अवसरों में वृद्धि कर सकते हैं।

(7) **मुद्रा स्फीति पर नियन्त्रण**—विदेशी पूँजी और सहायता के माध्यम से देश में आवश्यक वस्तुओं का आयात किया जा सकता है और उन वस्तुओं के अभाव को दूर किया जा सकता है जिसके कारण देश में मुद्रा स्फीति की स्थिति पैदा हो जाती है।

इस प्रकार विभिन्न कारणों से विकासशील देशों में विदेशी पूँजी की आवश्यकता होती है तथा जहाँ तक इसके प्रभाव का प्रश्न है, यदि इसका विवेकपूर्ण ढंग से प्रयोग किया जाय तो इसके अनुकूल प्रभाव होते हैं। उपर्युक्त आवश्यकता के कारणों को ही अनुकूल प्रभाव के रूप में समझाया जा सकता है अतः विदेशी पूँजी एवं सहायता के प्रभावों को अलग से समझाने की आवश्यकता नहीं है।

विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में प्रो. नर्कसे के विचार
(PROF. NURKSE'S VIEW ON FOREIGN CAPITAL)

प्रो. नर्कसे ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *"The Problem of Capital Formation in Underdeveloped Countries"* में विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। सबसे पहले उन्होंने मार्क्सवादी विचारकों के इस दृष्टिकोण का खण्डन किया है कि विकसित पूँजीवादी देश आवश्यक रूप से अपनी पूँजी का निर्यात पिछड़े देशों को कर रहे हैं और इस प्रकार अपने अतिरेक उत्पादन का राशिपातन कर रहे हैं ताकि वे (विकसित देश) अपनी अर्थव्यवस्था को समृद्धिशाली एवं लाभदायक स्तर पर रख सकें। प्रो. नर्कसे का कहना है कि मार्क्सवादी विचारों के पीछे कोई अनुभव जन्य प्रमाण नहीं है और यदि मार्क्सवादी विचार सही हैं तो अब विदेशी पूँजी विकासशील देशों में क्यों प्रवेश नहीं कर रही है? नर्कसे का विचार है कि भूतकाल में विकासशील देशों में आर्थिक विकास को गतिशील बनाने में विदेशी पूँजी का बहुत कम हाथ रहा है और जो भी पूँजी आयी है, वह प्राथमिक उत्पादन तक ही सीमित रही है। किन्तु नर्कसे का मत है कि उपर्युक्त पूँजी का प्रवाह, औद्योगिक विकसित देशों के सचेत नियोजन का परिणाम नहीं था अर्थात् यह उन्होंने पिछड़े देशों की मदद के लिए नहीं किया था वरन् यह तो निजी लाभ के उद्देश्य से किया गया था।

नर्कसे का मत है कि प्रायः पिछड़े देशों में इनकी राजनीतिक स्वतन्त्रता के पूर्व विदेशी पूँजी का विनियोग कच्चे माल और खाद्य उत्पादन के क्षेत्र में हुआ है। इन देशों में घरेलू बाजार का क्षेत्र बहुत सीमित था क्योंकि लोगों की वास्तविक आय बहुत कम थी। इसके कारण इन देशों में विनियोग-प्रोत्साहन का अभाव था और इन देशों का सामाजिक आर्थिक ढाँचा भी कमजोर था अतः उपर्युक्त उद्योगों (निष्कर्षण उद्योगों—Extractive Industries) में विदेशी पूँजी का

विनियोग हुआ। इस प्रकार आर्थिक साम्राज्यवाद का मार्क्सवादी निष्कर्ष विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उचित नहीं है। इसके विपरीत नर्कसे का विचार है कि विदेशी पूँजी की भूमिका केवल भूतकाल में महत्त्वपूर्ण रही है वरन् वर्तमान परिस्थितियों में भी है।

शान्ति [redacted] तरह समृद्धि भी अविभाज्य

आज विकासशील और विकसित देश इस बात पर सहमत हैं कि शान्ति की तरह समृद्धि भी अविभाज्य है। यदि एक देश का एक भूभाग अथवा क्षेत्र पिछड़ा है तो वह पूरे देश की समृद्धि के लिए खतरा हो सकता है यही बात विस्तृत दृष्टिकोण से विश्व के सब देशों पर लागू होती है। यदि वाछनीय समय में विश्व के विकसित देशों द्वारा, पिछड़े देशों के आर्थिक विकास के लिए उचित कदम नहीं उठाये जाते, तो पिछड़े देश, समृद्ध देशों के लिए खतरा सिद्ध हो सकते हैं।

अर्द्धविकसित देशों में, विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के विचार व्यक्त किये जाते हैं। पिछड़े देशों में विदेशी पूंजी विभिन्न स्रोतों से प्रवेश करती है तथा उसके रूप भी अलग-अलग होते हैं। ये देश प्रत्यक्ष रूप से समाजवादी और पूँजीवादी देशों द्वारा सहायता प्राप्त कर रहे हैं एवं निजी विनियोजकों द्वारा अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से विदेशी पूंजी प्राप्त कर रहे हैं। परन्तु इन अर्द्धविकसित देशों का यह सामान्य मत है कि "निजी विनियोजकों अथवा पूँजीपतियों से कर्ज लेने की तुलना में सरकारों से ऋण लेना प्राथमिकता देने योग्य है तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से ऋण लेना व्यक्तिगत देशों की तुलना में अधिक अच्छा है।

विदेशी पूंजी के विभिन्न स्रोत
(DIFFERENT SOURCE OF FOREIGN CAPITAL)

विदेशी पूँजी अथवा सहायता के निम्न स्रोत हो सकते हैं जो इस प्रकार हैं :

(1) निजी विदेशी विनियोग,

(2) सार्वजनिक विदेशी विनियोग,

(3) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से ऋण,

(4) तकनीकी सहायता।

(1) निजी विदेशी विनियोग (Private Foreign Investment)

देश में वांछनीय विकास-दर के लिए जितने विनियोग की आवश्यकता होती है उसकी तुलना में बचत और करारोपण में जितनी कमी होती है उसकी पूर्ति विदेशी पूंजी से की जाती है। विदेशी पूँजी से देश को वे साधन प्राप्त होते हैं जिनसे घरेलू विनियोग के लिए आवश्यक साधनों को जुटाया जा सकता है तथा इससे प्राप्त विदेशी विनिमय से आवश्यक वस्तुओं का आयात किया जा सकता है। विदेशी पूँजी या तो निजी स्रोत से अथवा सार्वजनिक स्रोत से प्राप्त हो सकती है। निजी विदेशी विनियोग के निम्न रूप हो सकते हैं :

(i) प्रत्यक्ष विनियोग (Direct Investment)—इसके अन्तर्गत विदेशी विनियोगकर्ता न केवल विदेशों को पूँजी देते हैं वरन् विदेशों में भौतिक परिसम्पत्तियों पर भी उनका अधिकार होता है अर्थात् उत्पादन में उनका नियन्त्रण भी होता है।

(ii) पोर्ट फोलियो विनियोग (Port Folio Investment)—विदेशी पूंजीपति किसी देश में औद्योगिक या व्यापारिक फर्म के बाण्ड या स्टाक खरीद सकते हैं तथा इनमें विनियोग के माध्यम से व्यापार या उद्योग को सहायता पहुँचाई जा सकती है। इसे पोर्ट फोलियो विनियोग कहते हैं।

(iii) विदेशी सहयोग (Foreign Collaboration)—इसके अन्तर्गत देश के एवं विदेशी पूँजीपति आपस में सहयोग करके उद्योगों की स्थापना करते हैं। संयुक्त स्वामित्व में कम्पनी स्थापित की जाती है तथा कारखाने स्थापित किये जाते हैं। यह विदेशी सहयोग या तो निजी उद्यमियों के बीच हो सकता है अथवा सरकार तथा विदेशी निजी उद्यमियों के बीच हो सकता है।

निजी विदेशी विनियोग के लाभ

(i) **करदाता के भार में कमी**—जिस सीमा तक निजी विनियोग विदेशी सार्वजनिक पूँजी की आवश्यकता को कम कर देता है उतनी ही सीमा में करदाता का भार हल्का हो जाता है। ऋण देने वाले एवं ऋण लेने वाले दोनों देशों में कर का भार कम हो जाता है। ऋण देने के लिए सरकार को कर लगाकर पूँजी एकत्रित नहीं करनी पड़ती और न ऋण वापस करने के लिए करदाताओं से कर वसूल किये जाते हैं क्योंकि दोनों पक्षों की ओर से निजी क्षेत्र ही इसकी व्यवस्था करते हैं।

(ii) **पूँजी के साथ अन्य लाभ**—जब विदेशी पूँजी का प्रत्यक्ष विनियोग किया जाता है तो पूँजी के साथ ही ऋण लेने वाले देश को उत्पादन की नयी तकनीक, उद्यमी प्रतिभा एवं नये उत्पादन सम्बन्धी नये विचारों का ज्ञान होता है जिससे उत्पादन बढ़ता है। विदेशी निजी विनियोग अमरीका द्वारा दी जाने वाली निजी विदेशी सहायता जो 'Private Point Four' के रूप में दी गयी के समान तकनीकी ज्ञान हस्तान्तरण करने एवं विकास को प्रोत्साहित करने में सहायक हो सकता है।

(iii) **पुनर्विनियोग के लाभ**—पोर्टफोलियो विनियोग की तुलना में प्रत्यक्ष विनियोग का यह लाभ होता है कि इससे अर्जित आय का एक अंश पुनः देश में ही विनियोग कर दिया जाता है जिससे उद्योगों के विस्तार एवं आधुनिकीकरण में सहायता मिलती है।

(iv) **ऋणी देश पर कम भार**—प्रत्यक्ष विनियोग के ऊपर एक निश्चित मात्रा में ब्याज न दिया जाकर समय-समय पर लाभांश (Dividend) दिया जाता है अतः विशेष रूप से मन्दी के दिनों में ऋणी देशों के भुगतान शेष पर कम भार पड़ता है।

(v) **निजी विनियोग को प्रोत्साहन**—प्रत्यक्ष विनियोग से घरेलू विनियोग को भी प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि देश में सहायक उद्योग स्थापित हो जाते हैं अथवा विदेशी विनियोगकर्ताओं की साझेदारी में भी उद्योग स्थापित हो जाते हैं।

(vi) **उत्पादन क्षमता में वृद्धि**—प्रत्यक्ष विनियोग से देश की उत्पादन क्षमता में वृद्धि होती है क्योंकि विदेशी पूँजी का विनियोग उत्पादक कार्यों में ही किया जाता है जबकि अन्य प्रकार के विदेशी ऋणों का प्रयोग अनुत्पादक कार्यों में भी किया जा सकता है।

निजी विदेशी विनियोग के दोष

उक्त लाभों के बावजूद भी निजी विदेशी विनियोग काफी सीमित रहा है क्योंकि निर्धन देशों ने उक्त सहायता का बहुत ही कम अंश प्राप्त किया है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमरीका के निजी विदेशी विनियोग में कमी आयी है और जो भी विनियोग हुआ है, वह मुख्य रूप से विकसित देशों में हुआ है। उदाहरण के लिए 1950 और 1955 की अवधि में अमरीका के निजी विदेशी विनियोग की मात्रा में 9,397 मिलियन डालर की वृद्धि हुई जिसमें से 4,151 मि. डालर का विनियोग कनाडा और पश्चिमी यूरोप के देशों में हुआ। जो भी थोड़ी-बहुत पूँजी निर्धन देशों में लगायी गयी है वह कृषि और निस्सारक उद्योगों में सीमित रही है, नाम मात्र की पूँजी निर्मित उद्योगों में लगायी गयी।

विदेशी विनियोग की एक सीमा यह भी रही है कि विकासशील देशों में कई जोखिमों के कारण विदेशी पूँजी अधिक सक्रिय नहीं हो पाती है।

विदेशी विनियोग का एक प्रतिकूल प्रभाव यह भी हुआ है कि इससे पिछड़े देशों में विदेशी प्रभाव में वृद्धि हुई है जिससे इन देशों की राजनीतिक और आर्थिक स्वतन्त्रता को आघात पहुँचा है।

संक्षेप में कहा जा सकता कि निजी पूँजी के विनियोग के पीछे लाभ को अधिकतम करने का उद्देश्य रहा है तथा पिछड़े देशों का विकास करने की भावना का अभाव रहा है।

निजी विदेशी विनियोग को अधिक प्रभावशाली कैसे बनाया जाय ?

निजी विदेशी विनियोग को पिछड़े देशों में पूँजी उपाय का आवश्यक साधन बनाने के लिए यह आवश्यक है कि ऋण लेने वाले एवं देने वाले दोनों देश मिलकर इनके मार्ग में आने वाली रुकावटों को दूर करें। ऋण देने वाले देशों को पूँजी की मात्रा में वृद्धि करना चाहिए इसमें विविधता लाना चाहिए तथा पूँजी के प्रवाह को नियमित बनाना चाहिए।

ऋणी देशों में विनियोग की आवश्यकताओं की सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त कर विदेशी विनियोग को अधिक प्रभावशील बनाया जा सकता है। यह आवश्यक है कि विदेशी विनियोजकों को अधिकतम प्रतिफल तथा जोखिमों को दूर करने का आश्वासन मिले। सरकार गारण्टी देकर विदेशी विनियोग को सुरक्षा प्रदान कर सकती है।

विदेशी विनियोजकों को राजनैतिक या सामाजिक अस्थिरता का भय भी रहता है उन्हें राष्ट्रीयकरण अथवा प्रतियोगी उद्योगों का खतरा भी बना रहता है। विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग भी इन्हें भयभीत करता है। इन जोखिमों से मुक्ति मिलने पर ही विदेशी विनियोग को प्रोत्साहित किया जा सकता है।

करों में रियायत देकर भी विदेशी विनियोग को प्रोत्साहित किया जा सकता है। जहाँ तक स्वामित्वहरण (Expropriation) के जोखिम का प्रश्न है संयुक्त उद्यम अथवा सार्वजनिक निजी विनियोग साझेदारी में उद्योग प्रारम्भ कर उक्त जोखिम को दूर किया जा सकता है।

(2) सार्वजनिक विदेशी विनियोग (Public Foreign Investment)

विदेशी पूंजी के समस्त स्रोतों में सार्वजनिक अथवा सरकार द्वारा दी जाने वाली विदेशी सहायता अथवा ऋण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका महत्त्व बढ़ने का एक कारण यह है कि विश्व युद्ध के बाद अहस्तक्षेप की नीति समाप्त हो गयी है एवं आर्थिक विकास में सरकार की भूमिका बढ़ती जा रही है। इसका एक कारण यह भी है कि निजी विदेशी विनियोग काफी सीमित रहा है तथा पिछड़े देशों में आर्थिक विकास के लिए सरकार को अधिक मात्रा में विनियोग करना पड़ा है। अमरीका ने "Marshall Aid" योजना के अन्तर्गत युद्ध से क्षतिग्रस्त यूरोप के देशों को भारी मात्रा में आर्थिक सहायता दी है ताकि वे राष्ट्र अपनी अर्थव्यवस्था का पुनर्निर्माण कर सकें।

निजी विदेशी विनियोग की तुलना में सार्वजनिक विदेशी विनियोग की श्रेष्ठता

(1) **विनियोग की स्वायत्तता**—जब विदेशों से निजी पूंजी प्राप्त होती है तो उसके विनियोग का स्वरूप बहुत कुछ विदेशी विनियोजकों द्वारा निर्धारित होता है किन्तु जब सार्वजनिक क्षेत्र से पूंजी प्राप्त होती है तो ऋणी देश द्वारा उसका उपयोग अपने देश के विकास कार्यक्रम एवं उसकी आवश्यकतानुसार किया जाता है। अतः इस आलोचना की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती कि विदेशी पूंजी ऋण देने वाले देशों के स्वार्थ की पूर्ति करती है।

(2) **सार्वजनिक ऋणों की उपयुक्तता**—विकासशील देशों में सार्वजनिक क्षेत्र में विनियोग के लिए इतनी बड़ी मात्रा में पूंजी की आवश्यकता होती है तथा उसमें इतना अधिक जोखिम होता है कि निजी पूंजी इस क्षेत्र में आकर्षित नहीं होती तथा सार्वजनिक क्षेत्रों में विनियोग के लिए सरकारी ऋणों पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

(3) **विदेशी प्रभाव से मुक्त**—निजी विनियोग की तुलना में सार्वजनिक स्रोतों की पूंजी का यह गुण होता है कि वह विदेशी प्रभाव से मुक्त होती है तथा उसमें राजनीतिक हस्तक्षेप का अभाव रहता है। हाल में ही जो देश स्वतन्त्र हुए हैं वे अपने देश में ऐसी पूंजी का विनियोग नहीं करना चाहते जिसके पीछे विदेशी दबाव की भावना रहती है।

(4) **विकासशील देशों में आधारभूत संरचना का निर्माण करने के लिए**—विकासशील देशों में आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में जैसे यातायात, संचार, शक्ति, भूमिसुधार, लोक निर्माण

आदि में विनियोग के लिए सरकारी ऋण बहुत आवश्यक हैं। इनके लिए सस्ती ब्याज की दरों पर दीर्घकालीन ऋणों की आवश्यकता होती है जो केवल सरकार से ही प्राप्त किये जा सकते है।

इस प्रकार सार्वजनिक ऋणों ने विकासशील देशों में आर्थिक विकास को गतिशील बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

सार्वजनिक विदेशी विनियोग के दोष

सार्वजनिक ऋणों का यह दोष है कि इनका आवटन देश की आवश्यकता के आधार पर नहीं वरन् राजनीतिक कारणों से प्रभावित होकर किया जाता है। जैसे कि रूस द्वारा दिये गये ऋणों का अधिकांश भाग साम्यवादी देशों को दिया गया है। इसी प्रकार अमरीका द्वारा भी अधिकांश ऋण उन देशों को दिये गये है जो रूस के प्रभाव से मुक्त हैं।

जहाँ तक ऋणी देशों का सवाल है उपर्युक्त स्रोत अधिक विश्वसनीय नहीं हैं क्योंकि यदि इन देशों की राजनीतिक या आर्थिक नीति में ऐसा परिवर्तन होता है जो ऋण देने वाले देश नहीं चाहते तो विदेशी सहायता बन्द हो जाती है।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से ऋण (Loans from International Agencies)

सन् 1946 के बाद विश्व बैंक की स्थापना होने के बाद इस बैंक तथा इसकी सहयोगी संस्थाओं द्वारा विशेष रूप से निर्धन और विकासशील देशों को आसान शर्तों पर ऋण दिये जाते है ताकि वहाँ आर्थिक विकास की प्रक्रिया को प्रारम्भ किया जा सके। वर्तमान में मुख्य चार अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ हैं जो विकास उद्देश्यों से ऋण दे रही है

(i) पुनर्निर्माण और विकास के लिए विश्व बैंक (International Bank for Reconstruction and Development),

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Corporation),

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (International Development Association),

(iv) एशियन विकास बैंक (Asian Development Bank)।

अलग अध्यायों में हम इनका वर्णन करेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से ऋण के लाभ

(1) देश की आवश्यकताओं के अनुसार ऋण – अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा जो ऋण दिये जाते है वे राजनीतिक कारणों से प्रभावित नहीं होते वरन् देशों की आवश्यकता एवं उनके द्वारा किये जाने वाले प्रयोग की क्षमता पर आधारित होते है।

(2) आसान शर्तों पर उपलब्ध—अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से जो ऋण प्राप्त होते हैं उनका उद्देश्य शोषण नहीं होता वरन् देशों के आर्थिक विकास में सहायता करना है। क्योंकि ये ऋण कम ब्याज पर और सरल शर्तों पर प्रदान किये जाते हैं।

(3) आत्म सम्मान की रक्षा—प्राय सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के सदस्य होते हैं अतः जब ये सदस्य देश इन संस्थाओं से ऋण लेते है तो उसमें विवशता अथवा अपना आत्म सम्मान खोने का कोई प्रश्न ही नहीं होता।

(4) प्रसंविदा का पालन—चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के कई देश सदस्य होते हैं और सारे देश सहायता की मांग करते हैं अत वे इन संस्थाओं की शर्तों का पालन करते है क्योंकि यदि एक देश उक्त शर्तों का उल्लंघन करता है तो अन्य देश उससे नाराज हो जाते हैं।

(4) तकनीकी सहायता (Technical Assistance)

कभी-कभी विदेशी सहायता तकनीकी सहायता के रूप में भी दी जाती है जिसमें विदेशी पूंजी का विनियोग तो नहीं होता वरन् मात्र तकनीकी विशेषज्ञ और इंजीनियर देश में आकर उत्पादन संयन्त्रों को स्थापित करने में मदद करते हैं।

विदेशी पूंजी की सीमाएं एवं दोष (Limitation and Drawbacks of Foreign Capital)

विदेशी पूंजी उस समय उपयोगी हो सकती है जब ऋण लेने वाले देश में उसे सोखने की क्षमता हो क्योंकि इसके अभाव में विकास की दर को गतिशील नहीं बनाया जा सकता। कई कारणों से उक्त क्षमता का अभाव हो सकता है। जैसे परियोजनाओं के पूर्व नियोजन का अभाव, कुशल प्रशासन तन्त्र का अभाव, प्रबन्धकीय एवं तकनीकी क्षमता की कमी एवं देश में आधारभूत संरचना का अभाव इत्यादि। इन अभावों के कारण विदेशी पूंजी का उचित एवं प्रभावशाली प्रयोग नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त सीमाओं के अतिरिक्त विदेशी पूंजी के निम्न दोष होते हैं :

(1) **अनुचित दबाव एवं राजनीतिक हस्तक्षेप**—इस बात का सदैव भय बना रहता है कि विदेशी पूंजी के साथ देश के आन्तरिक मामलों में भी हस्तक्षेप होगा। विदेशी पूंजी एवं सहायता देने वाले देश साम्राज्यवादी नीतियों के प्रसार हेतु अनुचित दबावों के अन्तर्गत अर्द्धविकसित देशों को पराधीन बनाने, उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने, उनके क्षेत्रों में सामरिक अड्डों की स्थापना करने, आर्थिक सहायता को निश्चित कार्यों पर ही खर्च करने और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियों का अनुचित लाभ उठाने की खोज में रहते हैं। ऐसी शर्तों के कारण निर्धन देशों की स्वतन्त्रता, प्रभुसत्ता और स्पष्टवादिता मन्द पड़ जाती है।

(2) **राष्ट्र के लिए बोझ**—यदि विदेशी पूंजी का विवेकपूर्ण ढंग से प्रयोग नहीं किया जाता तो वह राष्ट्र के लिए बड़ा बोझ बन सकती है। ऐसी स्थिति में विदेशों के कर्ज चुकाना तो दूर रहा उसके ब्याज को चुकाने के लिए भी नये ऋण लेना पड़ते हैं और इस ऋणग्रस्तता के बोझ का वहन देश के नागरिकों को करना पड़ता है।

(3) **अनिश्चितता**—जिन देशों को आवश्यक रूप से विदेशी पूंजी उपलब्ध नहीं हो पाती, वे अपनी विभिन्न योजनाओं के क्रियान्वयन के लिए विदेशों पर निर्भर हो जाते हैं। अनुचित शर्तों को न मानने पर ऋणदाता राष्ट्र अपनी मदद बन्द कर देते हैं जिससे निर्धन देशों के समक्ष एक बड़ी चुनौती उपस्थित हो जाती है। विदेशी सहायता मिलते रहने से कई बार आन्तरिक साधनों को बढ़ाने की ओर ध्यान नहीं दिया जाता।

(4) **घरेलू विनियोजकों को सीमित क्षेत्र**—ऋण लेने वाले देशों में विनियोग की जो अच्छी सम्भावनाएं होती हैं उनका दोहन विदेशी विनियोजकों द्वारा कर लिया जाता है अतः घरेलू विनियोजन का क्षेत्र सीमित हो जाता है। विदेशी विनियोजकों द्वारा तत्काल विनियोग करने की तुलना में यह अच्छा है कि देश के ही विनियोजकों द्वारा कुछ विलम्ब से ही विनियोग अवसरों का प्रयोग किया जाय।

(5) **भेदभाव की नीति**—विदेशी पूंजीपतियों ने सदैव ऋणी देश के कर्मचारियों की अवहेलना की है तथा जुम्मेदार पद सदैव अपने ही देश के लोगों को सौंपे हैं तथा औद्योगिक प्रणाली एवं उसकी तकनीकी कार्यविधि के ज्ञान से सदैव ही स्थानीय लोगों को वंचित रखा है।

(6) **प्राकृतिक साधनों का शोषण**—विदेशी सहायता देने वाले राष्ट्र निर्धन देशों के प्राकृतिक साधनों को सस्ती दरों पर प्राप्त करके ऋणी देशों का अनियन्त्रित शोषण करते हैं। विदेशी सहायता देने वाले देश कई बार निर्धन देशों की आर्थिक और वाणिज्यिक गतिविधियों पर एकाधिकार कर लेते हैं।

(7) **असन्तुलित विकास**—विदेशी विनियोजकों ने ही विनियोग का सर्वाधिक लाभ उठाया है तथा ऋणी देश लाभों से वंचित रहे हैं। विदेशी पूंजी का अधिकांश भाग निस्सारक उद्योगों में लगाया गया जिनमें कच्चा माल पैदा किया गया और उसका प्रयोग ऋण देने वालों ने अपने पक्के माल निर्मित करने वाले उद्योगों के लिए किया। इसी प्रकार खनिज साधनों का शोषण भी किया

गया। इस प्रकार विदेशी पूँजी, विकासशील देशों मे सन्तुलित एवं एकीकृत विकास करने में असफल रही।

(8) **निर्मित उद्योगों की स्थापना का अभाव**—विकासशील देशों का आर्थिक विकास करने के लिए यह आवश्यक था कि वहां विदेशी पूँजी से निर्मित उद्योगों की स्थापना की जाती किन्तु यह इसलिए नही किया गया क्योंकि इससे ऋण देने वाले देशों के निर्मित माल के बाजार पर प्रतिकूल प्रभाव पडता। यद्यपि निर्मित उद्योगो की स्थापना एवं विस्तार सरलता से किया जा सकता है जबकि निस्सारक उद्योगों मे अधिक पूँजी लगती है तथा खतरा भी अधिक होता है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए प्रो. नर्कसे का कहना है कि विकासशील देशों मे निर्मित माल के लिए बाजार का अभाव था जबकि विकसित देशो मे प्राथमिक उत्पादनो की अच्छी माँग थी।

इस प्रकार विदेशी पूँजी के साथ कई प्रकार के खतरे जुड़े रहते हैं एवं अनुचित शर्तों पर प्राप्त विदेशी सहायता ऋणी देश के लिए मोहजाल ही सिद्ध होती है।

विदेशी पूँजी एवं सहायता को अधिक प्रभावशील कैसे बनाया जाय
(HOW TO MAKE FOREIGN CAPITAL AND AID MORE EFFECTIVE)

यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि विदेशी पूँजी को अधिक प्रभावशील कैसे बनाया जाय ताकि वह विकासशील देशो मे सन्तुलित आर्थिक विकास की स्थिति पैदा कर सके। साथ ही ऋण देने एव लेने वाले दोनों देशो के दृष्टिकोण से वह उपयोगी हो सके। इस सम्बन्ध मे प्रो. जगदीश भगवती ने अपनी पुस्तक[1] मे चार बातो पर विचार किया है जो इस प्रकार है:

(1) विदेशी पूँजी परियोजना बन्धित हो या अबन्धित (The Tying of Aid),

(2) द्विपक्षीय बनाम बहुपक्षीय सहायता (Multilateral vs Bilateral Aid),

(3) ऋणो के भुगतान का प्रश्न (Issue of Repayment of Aid),

(4) ऋणो की दीर्घकालीन वचनबद्धता (Commitment of Loans over Larger Period)।

(1) **ऋणों का बन्धित या अबन्धित होना**—विदेशी सहायता या तो विशेष परियोजना से बधी हुई होती है अर्थात् उसे परियोजना पर ही व्यय किया जाना चाहिए अथवा ऋणदाता देश से बँधी (Tied to Donor Country) होती है अर्थात् ऋणदाता देश मे ही आयात करने के लिए पूँजी का उपयोग किया जाना चाहिए।

जहाँ तक ऋण देने वाले देशो का प्रश्न है, ऋणो का बंधा हुआ होना उनके लिए लाभदायक है। जब किसी विशेष योजना के लिए ऋण दिया जाता है तो इसकी पहचान सरलता से हो सकती है जैसे हर भारतवासी जानता है कि भिलाई स्टील प्लाण्ट रूस की सहायता से बनाया गया था। इसके पक्ष मे यह तर्क भी दिया जाता है कि किसी विशेष योजना के लिए ही सहायता का लाभप्रद ढंग मे विनियोग किया जाता है।

जहाँ तक ऋणो का देश-बन्धित होने का प्रश्न है, इसके पीछे राजनीतिक कारण अधिक है यद्यपि इसके लिए आर्थिक तर्क दिये जाते हैं। वास्तव मे अपनी ही वस्तुओ का निर्यात कर ऋणदाता देश अपना वर्चस्व कायम करना चाहता है तथा विकासशील देशों के अन्य देशों से आयात करने के अवसरों को समाप्त कर देता है।

लेकिन ऋणी देशों की दृष्टि से विदेशी सहायता का परियोजना से बन्धित होना या देश से बन्धित होना, उसकी प्रभावशीलता को समाप्त कर देता है। 1956-65 की अवधि में भारतीय

1 Jagdish Bhagwati: *The Economics of Underdeveloped Countries*, World University Library—5, Winsley Street, London, W1, 1970, pp. 208-220.

नियोजकों के पास यद्यपि नये उत्पादक उद्योगों की स्थापना करने हेतु पर्याप्त विदेशी विनिमय था किन्तु पहले से स्थापित उद्योगों की क्षमता का प्रयोग करने के लिए सहायता का अभाव था। क्योंकि सहायता परियोजना बन्धित थी। इस कठिनाई को दो प्रकार से दूर किया जा सकता है—प्रथम तो यह कि सामान्य उद्देश्यों के लिए आयात की सुविधा दी जाय और दूसरे परियोजना की परिभाषा को सरल बनाकर उससे सम्बन्धित अन्य क्रियाओं को भी शामिल किया जाय।

देश-बन्धित ऋणों की लागत भी ऋणी देशों के लिए अधिक होती है। इसके भी दो कारण हैं, प्रथम ऋणदाता देशों से ही आयात करना अधिक महगा हो सकता है जैसे कि अमरीका के बारे में यह शिकायत रही है कि वहाँ समान मशीनों की कीमतें जापान की तुलना में अधिक रही हैं। दूसरे, जब ऋणदाता देश, ऋणी देशों में ऐसे उत्पादन तकनीक का प्रयोग करते हैं जो विकासशील देशों के लिए उपयुक्त नहीं होती तो ऋणों का आर्थिक भार बढ़ जाता है।

अतः कुशलता को दृष्टि में रखते हुए आर्थिक सहायता को किसी स्रोत से बाँधना उचित नहीं है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा एवं बहुत से देशों द्वारा ऋण देना प्रारम्भ किया जाता है तो बंधित ऋण की समस्या को दूर किया जा सकता है। साथ ही ऋणदाता देशों को जो भुगतान-शेष की कठिनाई का डर है, उसे भी दूर किया जा सकता है।

(2) द्विपक्षीय बनाम बहुपक्षीय सहायता—देश बन्धित ऋण की प्रकृति द्विपक्षीय होती है अतः यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है कि ऋण द्विपक्षीय होना चाहिए या बहुपक्षीय ? अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से जो सहायता मिलती है वह बहुपक्षीय होती है अर्थात् इसमें कई देशों का सहयोग रहता है तथा इसका सहयोग किसी भी देश से आयात करने के लिए किया जा सकता है। जहाँ तक ऋणदाता राष्ट्रों का सम्बन्ध है, उनके द्वारा द्विपक्षीय सहायता को प्राथमिकता दी जाती है तथा विकासशील देशों को लगभग 90 प्रतिशत सहायता इसी रूप में प्राप्त हुई है। इसका कारण स्पष्ट है, देश अपने मित्र राष्ट्रों को ही सहायता देना चाहते हैं जैसे रूस, दक्षिण वियतनाम को सहायता नहीं दे सकता एवं अमरीका उत्तरी कोरिया को सहायता नहीं दे सकता। वास्तव में सहायता राजनीतिमिश्रित होती है। यदि सहायता के पीछे राजनैतिक दबाव रहता है तो सहायता पाने के पहले तथा बाद में, ऋणी देश को भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। हाँ, यदि इसके पीछे आर्थिक कार्यक्रम की शर्तें जुड़ी रहती हैं तो फिर ऋणी देश को हानि का प्रश्न नहीं उठता। द्विपक्षीय सहायता के विपक्ष में यह तर्क भी दिया जाता है कि इसमें सब देश मिलकर सहायता के बोझ को नहीं सहते। इसका यह अर्थ है कि बहुपक्षीय सहायता में सब देश मिलकर समान भार का वहन करते हैं।

उपर्युक्त दृष्टि से विकासशील देशों को सहायता प्राप्त करने का बहुपक्षीय स्रोत ही श्रेष्ठ है, भले ही यह द्विपक्षीय सहायता के पूरक के रूप में हो। यही कारण है कि आजकल विकासशील देश अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से ऋण लेना पसन्द करते हैं। आजकल विशेष विकासशील देश को सहायता करने के लिए सहायता संघ (Consortium) का निर्माण करना एक परम्परा बन गयी है जैसे भारत सहायता क्लब (Aid India Club) जिसमें विश्व बैंक, पश्चिमी जर्मनी, इंगलैण्ड, अमरीका, इटली, फ्रांस, कनाडा, आस्ट्रिया, नीदरलैण्ड्स, बेल्जियम और जापान शामिल हैं। इस प्रकार की व्यवस्था ऋणदाता और ऋणी दोनों के लिए अति उत्तम है क्योंकि सहायता देने के पहले ऋणी देश की अर्थव्यवस्था का मूल्यांकन किया जाता है।

(3) ऋणों के भुगतान का प्रश्न—विदेशी सहायता को दो भागों में विभाजित किया जाता है—अनुदान और दीर्घकालीन ऋण। दीर्घकालीन ऋण का ब्याज के साथ भुगतान करना होता है। धीरे-धीरे विकासशील देशों पर ऋण का भार बढ़ जाता है और निर्यात से प्राप्त होने वाली आय का काफी भाग भुगतान में व्यय हो जाता है। इस समस्या का समाधान यही है कि

देश अपने विदेशी विनिमय की आय में वृद्धि करे ताकि भुगतान के साथ, वह अपने आयातों की भी व्यवस्था कर सके।

उपर्युक्त समस्या के दीर्घकालीन हल के लिए यह आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के ढाँचे में ऐसा सुधार किया जाय कि अर्द्धविकसित देशों के निर्यात में द्रुत गति से वृद्धि हो सके। यह भी आवश्यक है कि अगली दशाब्दियों में पिछड़े देशों को अनुदान अधिक दिये जायें तथा ऋण कम। साथ ही ऋणों को बहुत ही उदार शर्तों पर दिया जाना चाहिए।

(4) **ऋणों की दीर्घकालीन वचनबद्धता**—ऋणों का कुशलतापूर्वक प्रयोग उसी समय सम्भव है जब ये विकासशील देशों को दीर्घकाल तक प्राप्त होते रहें। यदि एक वर्ष में अधिक मात्रा में विदेशी सहायता प्राप्त हो जाती है और दूसरे वर्ष बिल्कुल प्राप्त नहीं होती तो ऋणी देश की योजनाओं पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अतः विकासशील देश ऋणों को दीर्घकालीन अवधि पर ज़ोर पर देते हैं। इसी कारण ऋणों के दीर्घकालीन समझौते किये जाते हैं। विकसित देशों को चाहिए कि वे दीर्घकाल तक ऋणों को देने के लिए तैयार हों ताकि अर्द्धविकसित देशों में उनका कुशलतापूर्वक प्रयोग किया जा सके।

निष्कर्ष—विदेशी पूँजी और सहायता की कुछ सीमाओं के बावजूद भी विदेशी सहायता की माँग निरन्तर बढ़ती जाती है। न केवल धनी देश ही पिछड़े देशों को सहायता देते हैं बल्कि अर्द्धविकसित देशों में भी परस्पर सहायता का आदान-प्रदान हो रहा है। नवोदित स्वतन्त्र देश अपने औद्योगिक विकास के लिए भारी मात्रा में विदेशी सहायता चाहते हैं किन्तु यह खेद की बात है कि समृद्ध देश विदेशी सहायता में कटौती करते, अपनी नैतिक जिम्मेदारियाँ को पूरी तरह न निभाते और भेदभाव पूर्ण नीति अपनाते रहे हैं। यह तथ्य है कि विदेशी सहायता निर्धनता के निवारण और आत्मनिर्भरता की प्राप्ति के लिए प्राप्त की जाती है। परन्तु व्यवहार में ऋणदाता देश अनेक बार उन देशों को या तो सहायता नहीं देते अथवा अपर्याप्त मात्रा में देते हैं जो वास्तव में विकास दर को ऊंचा उठाने में सक्षम हैं और जहाँ मानवीय और प्राकृतिक साधनों की बहुलता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति को टाला जाना चाहिए।

यह प्रशंसनीय है कि आजकल विकासशील राष्ट्र ऐसे उपायों को अपनाने में लगे हैं जिससे विदेशी सहायता से मुक्ति मिल सके। अधिकांश अर्द्धविकसित देशों में सहायता के स्थान पर व्यापार शेष को अनुकूल बनाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। आयात में कमी करके और निर्यात व्यापार में वृद्धि के लिए संगठित प्रयत्न करके तथा आयात प्रतिस्थापन द्वारा अर्द्धविकसित राष्ट्र अपने व्यापार को सन्तुलित बनाने में लगे हुए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विकास के लिए स्थापित वित्तीय संस्थाओं द्वारा भविष्य में निर्धन देशों को अधिक से अधिक वित्तीय सहायता देने की सम्भावनाएँ हैं।

भारत में पंचवर्षीय योजनाओं में विदेशी सहायता
(FOREIGN AID IN FIVE-YEAR PLANS OF INDIA)

भारत में स्वतन्त्रता के पहले मुख्य रूप से विदेशी पूँजी ब्रिटेन से आयी क्योंकि भारत में अंग्रेजों का राज्य था तथा ब्रिटिश शासकों ने बिना किसी बन्धन के उदारतापूर्वक ब्रिटेन की निजी पूँजी को भारत में आमन्त्रित किया। भारत में रेलवे तथा कुछ इने-गिने उद्योगों का विस्तार ब्रिटिश पूँजी से ही हुआ। ब्रिटेन में आर्थिक संस्थाओं का निर्माण इस उद्देश्य से किया गया था ताकि वे अधिक से अधिक मात्रा में भारत में पूँजी का विनियोग कर सकें।

स्वतन्त्रता के पहले भारत के लोगों में विदेशी पूँजी के प्रति भय एवं सन्देह की भावना थी क्योंकि उसके साथ साम्राज्यवाद की भावना जुड़ी रहती थी। साथ ही विदेशी पूँजी की सहायता से भारतीय साधनों का दोहन भारत के हित के लिए नहीं वरन् विदेशों की स्वार्थ पूर्ति

के लिए किया जाता था। विदेशी पूँजीपतियों एवं विदेशी बैंकों का भारतीयों के साथ भेदपूर्ण व्यवहार होता था। भारत से जो भी लाभ और ब्याज प्राप्त होता था, विदेशी उसे अपने देश ले जाते थे। इस प्रकार भारत का शोषण हो रहा था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात भारत में आर्थिक विकास के लिए नियोजन का मार्ग अपनाया गया। भारत के सामने बड़ी-बड़ी आर्थिक समस्याएँ थी किन्तु हमारे पास साधन सीमित थे। साथ ही देश में तकनीकी ज्ञान, उद्यमी प्रतिभा, मशीनें इत्यादि की कमी थी अतः यह उचित समझा गया कि देश को उन्नत बनाने के लिए विदेशी पूँजी की सहायता ली जाय। विभिन्न योजनाओं में ली गयी विदेशी सहायता का विवरण निम्न तालिका में दिया गया है

भारत में विभिन्न योजनाओं में विदेशी पूँजी (करोड़ रु० में)

योजना	विदेशी सहायता का प्रावधान	वास्तविक विदेशी सहायता
प्रथम योजना	188	201
द्वितीय योजना	1,090	1,430
तृतीय योजना	2,423	2,877
वार्षिक योजनाएँ	2,767	3,230
चतुर्थ योजना	2,087	3,997
पाँचवी योजना	5,834	3,121 (1977-78 तक)

प्रथम पंचवर्षीय योजना मुख्य रूप से देश के ही साधनों पर आधारित थी क्योंकि यह एक छोटी योजना थी अतः इस योजना की अवधि में बहुत कम विदेशी पूँजी का प्रयोग हुआ। इस योजना में खाद्यान्न का उत्पादन अधिक होने से अनाज के आयात में कमी हुई अतः विदेशी ऋण में कटौती हुई। साथ ही चूँकि इस योजना में भारी उद्योगों की स्थापना नहीं की गयी, सीमित रूप से ही विदेशी सहायता की आवश्यकता पड़ी। केवल सिंचाई योजनाओं के लिए तथा योजना के अन्त में लोहा और इस्पात कारखानों के निर्माण के लिए विदेशी पूँजी और तकनीकी सहायता का आयात किया गया। कुल मिलाकर इस योजना में 188 करोड़ रु० विदेशी ऋणों का प्रावधान था जबकि 298 करोड़ रु० का ऋण उपलब्ध था। किन्तु केवल 201 करोड़ रु० की विदेशी पूँजी का ही प्रयोग हुआ।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में देश में मूलभूत एवं भारी उद्योगों की स्थापना पर बल दिया गया तथा पूँजीगत उद्योगों को प्रारम्भ किया गया। इसके लिए आवश्यक था कि मशीनों, पूँजीगत औजारों तथा उच्च तकनीक का आयात किया जाय। इसे दृष्टि में रखते हुए बड़ी मात्रा में विदेशी पूँजी के आयात की योजना बनायी गयी। यद्यपि योजना में बाह्य सहायता का प्रावधान 1,090 करोड़ रुपये का था किन्तु कुल मिलाकर 1,430 करोड़ रुपये की विदेशी सहायता का प्रयोग किया गया, जो तत्कालीन राष्ट्रीय आय का तीन प्रतिशत थी।

तीसरी योजना में यद्यपि कृषि को प्राथमिकता दी गयी किन्तु देश के औद्योगिक आधार को मजबूत करने की परियोजनाएँ चालू रखी गयी। तीसरी योजना का काल असामान्य स्थिति का रहा। देश पर चीन और पाकिस्तान के आक्रमण तथा सूखे की स्थिति ने जहाँ एक ओर देश के सुरक्षा उद्योग को सुदृढ़ और आत्म-निर्भर होना आवश्यक बना दिया वहीं खाद्यान्न का आयात भी अनिवार्य हो गया। इन सब कारणों से भारत को आवश्यक रक्षा सामग्री तथा खाद्यान्न आयात करने के लिए विदेशों से समझौते करने पड़े तथा विदेशी सहायता का बड़ी मात्रा में प्रयोग किया गया। तृतीय योजना में 2,423 करोड़ रु० की बाह्य सहायता का प्रावधान था जबकि कुल 2,877 करोड़ रु० की विदेशी सहायता का प्रयोग किया गया

वार्षिक योजनाओं की अवधि (1966-67 से 1968-69 तक) में अभी तक की तुलना में अधिक विदेशी सहायता की आवश्यकता हुई। जिसका कारण यह था कि 1965-67 के दो वर्षों मे देश मे भयंकर सूखे की स्थिति रही जिससे भारी मात्रा में अनाज का आयात करना पड़ा। इसी अवधि में मुद्रा प्रसार के कारण कीमतों मे भारी वृद्धि हुई जिससे घरेलू बचत पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। इस कमी को दूर करने के लिए भी विदेशी पूँजी का आयात किया गया। रक्षा उद्योगों की स्थापना ने भी विदेशी पूँजी को आयात करना आवश्यक बना दिया। इसके साथ ही देश में विदेशी विनिमय का संकट भी उपस्थित हुआ जिसका सामना करने के लिए विदेशी ऋण लिये गये। तीन वर्षों की अवधि मे कुल 3,230 करोड़ रु० की विदेशी सहायता का प्रयोग किया गया जो इन योजनाओं के कुल व्यय की 41 प्रतिशत थी जबकि कुल प्रावधान 2,767 करोड़ रुपये का था।

चौथी योजना में देश को आत्म निर्भर बनाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। इसे दृष्टि मे रखते हुए विदेशी सहायता को कम से कम करने का निश्चय किया गया। योजना के प्रारम्भ मे कुछ ऐसी स्थितियाँ पैदा हुई कि ऐसा लगा कि हम विदेशी निर्भरता को कम करने के अपने लक्ष्य में सफल होंगे जैसे 1967-68 में खाद्यान्न का अच्छा उत्पादन हुआ तथा इसके आयात पर कटौती हो गयी। 1966 मे भारतीय रुपये का अवमूल्यन होने से कुछ न कुछ मात्रा मे हमारा निर्यात भी बढ़ा। इससे चौथी योजना के प्रारम्भ मे विदेशी सहायता की मात्रा मे कमी हुई। आत्म-निर्भरता के लक्ष्य को प्राप्त करने तथा तीसरी योजना की तुलना में चौथी योजना मे विदेशी सहायता को आधा करने के निश्चय ने भी आयातों को कम करने मे सहायता की। किन्तु योजना के अन्तिम दो-तीन वर्षों मे विदेशी सहायता मे पुनः वृद्धि होने लगी जिसके प्रमुख कारण थे कच्चे तेल की कीमतों मे भारी वृद्धि, विदेशो मे खाद्यान्न एवं खाद की कीमत मे तेजी, देश मे कीमतो की वृद्धि तथा वस्तुओं का अभाव। कच्चे तेल के आयात से ही विदेशी ऋणों मे वृद्धि हुई। यद्यपि निरपेक्ष रूप से विदेशी सहायता मे वृद्धि हुई किन्तु सापेक्ष रूप से इसे बहुत अधिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि विदेशो मे भी मुद्रा प्रसार के कारण कीमतो मे भारी वृद्धि हुई। चौथी योजना मे कुल 3,997 करोड़ रु० की विदेशी सहायता का प्रयोग किया गया जबकि योजना मे कुल 2,087 करोड़ रु० का प्रावधान था।

संशोधित पाँचवी योजना मे कुल 5,834 करोड़ रु० की विदेशी सहायता का अनुमान लगाया गया है। योजना के प्रारम्भ के तीन वर्षों में कुल 2,963 करोड़ रु० की विदेशी सहायता प्रयुक्त हुई है। 1977-78 के लिए 758 करोड़ विदेशी सहायता का अनुमान है। यह आशा की जा सकती है कि इस योजना मे विदेशी सहायता के प्रावधान की तुलना में कम विदेशी सहायता का प्रयोग होगा। इस योजना के प्रथम वर्ष मे 1,081 करोड़ रु० की विदेशी सहायता का उपयोग हुआ तथा 1975-76 मे यह राशि घटकर 682 करोड़ रह गयी। 1976-77 मे भी हमारी विदेशी पूँजी 1,200 करोड़ पर निर्भरता कम हुई। जहाँ द्वितीय और तृतीय योजना में यह कुल व्यय की लगभग 30 प्रतिशत थी वहीं उक्त वर्ष मे यह केवल 15 प्रतिशत थी जबकि 1977-78 मे यह केवल 7·6 प्रतिशत है।

इस प्रकार भारत में विभिन्न योजनाओं मे विदेशी सहायता का पर्याप्त मात्रा मे प्रयोग किया गया है। सन् 1978-79 के वार्षिक बजट में 833 करोड़ रु० के विदेशी ऋण का प्रावधान किया गया है।

अधिकृत विदेशी सहायता और उसका प्रयोग
(AID AUTHORISATION AND UTILISATION)

प्रथम पंचवर्षीय योजना से लेकर चतुर्थ योजना के अन्त तक भारत को अधिकृत दी गयी विदेशी सहायता की मात्रा 13,056 करोड़ थी जबकि कुल 11,735 करोड़ रु० अर्थात् 90 प्रतिशत

विदेशी सहायता का प्रयोग किया गया। कभी-कभी पूरी विदेशी सहायता का प्रयोग इसलिए नहीं हो पाता क्योंकि उसकी पहले से तैयारी नहीं की जाती एवं विदेशी सहायता को प्राप्त करने की प्रणाली भी उलझन पूर्ण होती है। द्वितीय योजना के बाद इसमें सुधार किया गया एवं ज्यादा प्रतिशत सहायता का प्रयोग हुआ। निम्न तालिका में विभिन्न योजनाओं में अधिकृत विदेशी सहायता तथा उसके प्रयोग का विवरण दिया गया है :

अधिकृत विदेशी सहायता एवं उसका प्रयोग (करोड़ रु० में)

योजनाएं	अधिकृत विदेशी सहायता	प्रयुक्त विदेशी सहायता	प्रयोग का प्रतिशत
प्रथम योजना	382	201	53
द्वितीय योजना	2,539	1,430	56
तृतीय योजना	2,790	2,877	103
वार्षिक योजनाएं	3,172	3,230	102
चतुर्थ योजना	4,172	3,997	96

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि द्वितीय योजना तक प्रयोग का प्रतिशत काफी कम रहा है किन्तु इसके बाद इसमें वृद्धि हुई है। इसका एक कारण यह भी है कि बाद में विदेशी सहायता की हमारी आवश्यकताएं अधिक तीव्र हो गयी।

भारत में विनियोग के प्रतिशत के रूप में विदेशी सहायता
(FOREIGN AID AS PERCENTAGE OF INVESTMENT)

भारत में कुल विनियोग की तुलना में जो विदेशी सहायता प्राप्त की गयी है उसका प्रतिशत लगभग 14 है अर्थात् भारत ने अपने कुल विनियोग की 86 प्रतिशत वित्तीय व्यवस्था अपने ही साधनों से की है। इसका कारण यह है कि भारत के साधनों में भी वृद्धि हुई है। 1950-51 में जो बचत का प्रतिशत 5·5 था वह 1976-77 में बढ़कर राष्ट्रीय आय का 14 प्रतिशत हो गया। इसी अवधि में करों से होने वाली आय भी राष्ट्रीय आय का 4·3 प्रतिशत से बढ़कर 15 प्रतिशत हो गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि विदेशी सहायता की मात्रा भी घटकर आधी हो गयी जो वर्तमान में राष्ट्रीय आय का एक प्रतिशत तथा चालू विनियोग का तीन प्रतिशत है। विभिन्न योजनाओं में विनियोग की तुलना में विदेशी सहायता का प्रतिशत निम्न तालिका में स्पष्ट है :

विनियोग के प्रतिशत के रूप में विदेशी सहायता (मिलियन डालर में)

योजना-काल	विनियोग	वास्तविक विदेशी सहायता	विदेशी सहायता का प्रतिशत
प्रथम योजना	7,056	374	5
द्वितीय योजना	14,175	2,752	19
तृतीय योजना	21,840	4,901	22
चतुर्थ योजना	30,180	2,070	7
पाँचवी योजना	63,415	1,935	3

तालिका से स्पष्ट है कि चतुर्थ योजना काल से विनियोग के प्रतिशत के रूप में विदेशी सहायता की मात्रा कम हुई है।

भारत को सहायता देने वाले देश तथा सहायता की मात्रा

भारत को सहायता देने वालों में संयुक्त राज्य अमरीका का हिस्सा सबसे बड़ा है जो कुल सहायता का लगभग 45 प्रतिशत से भी अधिक है। सन् 1974-75 तक प्रयुक्त 13,223·1 करोड़ रु० की विदेशी सहायता से अमेरिका का अंश 5,390 6 करोड़ रु० का है। इससे स्पष्ट होता है

कि हम अपने नियोजित आर्थिक विकास में अमेरिका पर काफी निर्भर रहे हैं। दूसरा क्रम अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं जैसे विश्व बैंक एवं अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (I D.A) का है। निम्न तालिका से क्रम से *विदेशी सहायता प्रदान करने वाले देशों तथा विदेशी सहायता का उल्लेख है :—*

भारत को सहायता देने वाले विभिन्न देश (करोड़ रु० में)

देश/संस्था	राशि	देश/संस्था	राशि
अमेरिका	5,390·6	रूस	702·3
अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ	1,470 1	विश्व बैंक	670·4
ब्रिटेन	1,146 7	जापान	635 2
पश्चिमी जर्मनी	1,009 5	अन्य	1,407 5
कनाडा	790 8		
योग			13,223·1

अन्य देशों में आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, स्पेन, स्विटजरलैण्ड तथा यूरोपियन आर्थिक समुदाय का समावेश होता है।

उपर्युक्त तालिका में दिये गये ऋण के प्रयोग के सम्बन्ध में विश्व बैंक के ऋणों का प्रयोग रेलवे, कृषि, सिंचाई तथा कोयला खानों के लिए किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की सहायता का प्रयोग सिंचाई, रेलवे तथा राजमार्गों के निर्माण में किया गया है। अमरीका की सहायता, खाद्यान्न आयात करने, अल्युमीनियम उद्योग, रसायनिक खाद, कागज, रेयान आदि उद्योगों तथा शक्ति एवं रेलवे में प्रयुक्त हुई है। रूस की सहायता भिलाई तथा बोकारो इस्पात कारखाना तथा पैट्रोलियम रिफाइनरी के लिए प्राप्त हुई है। प. जर्मनी ने राउरकेला इस्पात कारखाना तथा ब्रिटेन ने दुर्गापुर इस्पात कारखाने में सहायता प्रदान की है।

जून 1977 में विश्व बैंक द्वारा भारत के लिए 2 अरब डालर का ऋण प्रदान किया गया है जो आर्थिक विकास से सम्बन्धित कार्यक्रमों के लिए है।

भारत के आर्थिक विकास पर विदेशी सहायता का प्रभाव

अर्द्धविकसित देशों में विदेशी सहायता घरेलू बचत की पूरक के रूप में, विदेशी विनिमय की पूर्ति कर तथा तकनीकी ज्ञान उपलब्ध कर महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। विदेशी सहायता का प्रभाव इस बात पर निर्भर रहता है कि उससे घरेलू साधनों को किस प्रकार गतिशील बनाया जा सकता है तथा कितनी अच्छी तरह से उसका प्रयोग किया जा रहा है। भारत के सम्बन्ध में विचार करने पर हम कह सकते हैं कि सामान्य तौर से विदेशी सहायता ने कई क्षेत्रों में हमारे आर्थिक विकास को सम्भव बनाया है। इसका अध्ययन हम निम्न शीर्षकों में कर सकते हैं :

(1) **विनियोग के स्तर में वृद्धि**—प्रथम योजना के आरम्भ में हमारा विनियोग राष्ट्रीय आय का लगभग 5 प्रतिशत था जो आज बढ़कर 14 प्रतिशत हो गया है। भारत के आर्थिक विकास को तीव्र करने के लिए यह आवश्यक था कि विनियोग की दर को बढ़ाया जाये। इसके लिए विदेशी विनिमय में वृद्धि करना आवश्यक था किन्तु द्वितीय योजना काल में भारत को विदेशी विनिमय से भारी संकट का सामना करना पड़ा जिसका हल विदेशी सहायता से सम्भव हो सका। विदेशी सहायता ने भारत में विनियोग की दर बढ़ाकर आर्थिक विकास में सहायता पहुँचाई है।

(2) **खाद्यान्न की पूर्ति तथा कच्चे माल का आयात**—भारत में विदेशी सहायता का यह महत्वपूर्ण प्रभाव रहा है कि उसने खाद्यान्न संकट को हल किया है। सूखे और अकाल की स्थिति में विदेशों से खाद्यान्न का आयात किया गया है जिससे खाद्यान्नों की कीमतों को स्थिर रखने में

सहायता मिली है। इसके साथ ही विदेशी सहायता का प्रयोग कच्चे माल का आयात करने में भी किया गया है जिससे उत्पादन में वृद्धि करने में सहायता मिली है।

(3) तकनीकी साधनों तथा ज्ञान में विस्तार—देश के औद्योगिक विकास में तकनीकी ज्ञान की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यह विदेशी सहायता से ही सम्भव हुआ है कि देश में विशेषज्ञों की सेवाएँ उपलब्ध हुईं, भारतीय इंजीनियरों को विदेशों में प्रशिक्षित किया जा सका तथा देश में आधुनिक तकनीकी संस्थाओं को स्थापित किया जा सका। इसका परिणाम यह हुआ कि आज हम देश के तकनीकी साधनों की सहायता से ही आधुनिक कारखानों और मशीनों का निर्माण कर सकते हैं।

(4) सिंचाई और बिजली की सुविधाओं में विस्तार—अन्य देशों के अतिरिक्त विश्व बैंक ने सिंचाई और बिजली के विस्तार के लिए भारत को भारी मात्रा में सहायता दी है जिससे हमारी कृषि का आधार सुदृढ़ हुआ है तथा उत्पादकता में वृद्धि हुई है। विदेशी सहायता के कारण ही हम ऐसे संयन्त्रों तथा मशीनों का आयात कर सके हैं जिससे बिजली की उत्पादन क्षमता में वृद्धि हुई है और उत्पादन बढ़ाने में बहुत सहायता मिली है। कृषि के अतिरिक्त दुग्ध-पालन तथा मत्स्य-पालन क्षेत्रों को भी आधुनिक बनाकर उत्पादन बढ़ाने में विदेशी सहायता ने योगदान दिया है।

(5) परिवहन और संचार साधनों का विकास—परिवहन और संचार साधनों के विकास में भी विदेशी सहायता का महत्वपूर्ण योगदान है। इस मद में विदेशी सहायता का 14 प्रतिशत अंश प्रयोग किया गया है जिसमें से 12 प्रतिशत रेलवे के विकास के लिए प्रयुक्त हुआ है। रेलवे विकास के माध्यम से देश की यातायात व्यवस्था मजबूत हुई है जिसने उद्योग तथा व्यापार को गतिशील बनाकर भारत के आर्थिक विकास में सहायता पहुँचाई है।

(6) विदेशी विनिमय की पूर्ति के लिए—एक अर्द्धविकसित देश के लिए आर्थिक विकास के प्रारम्भिक चरण में विदेशी विनिमय की जो कठिनाई होती है, उसका सामना भारत को भी करना पड़ा। इस कठिनाई का कारण था लगातार व्यापार सन्तुलन हमारे विपक्ष में होना। इस समस्या को हमने विदेशी सहायता से हल किया। किन्तु लगातार विदेशों से ऋण लेने से देश की विदेशी देनदारी में वृद्धि होती है। अतः साथ ही देश की अर्थव्यवस्था को इस प्रकार सुदृढ़ और विकेन्द्रित बनाया जाना चाहिए ताकि हमारे निर्यातों में वृद्धि हो सके। इस प्रकार के प्रयत्नों में भारत यद्यपि प्रारम्भ में तो सफल नहीं हो सका किन्तु वर्तमान में हमारे निर्यातों में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। हमने 1976-77 में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को 238 1 करोड़ रुपये का ऋण लौटाया तथा हमारा विदेशी मुद्रा कोष अब बढ़कर 28 अरब रुपये से भी ज्यादा का हो गया है।

(7) लोहा और इस्पात उद्योग का विकास – किसी भी देश के आर्थिक विकास में लोहा और इस्पात उद्योग की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय भारत में यह उद्योग अविकसित अवस्था में था किन्तु आज हम लोहे का निर्यात कर रहे हैं। निर्माण उद्योगों के लिए जो विदेशी सहायता मिली है उसके 80 प्रतिशत का प्रयोग लोहा और इस्पात उद्योग को विकसित बनाने के लिए किया गया है। पश्चिमी जर्मनी, रूस तथा ब्रिटेन ने इस उद्योग को विकसित बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

(8) समाजवादी उद्देश्य की पूर्ति—यद्यपि भारतीय नियोजन में मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाया गया है, फिर भी यहाँ सार्वजनिक क्षेत्र को अधिक महत्व दिया जा रहा है ताकि उद्योग लाभ की प्रवृत्ति को छोड़कर सामाजिक कल्याण को बढ़ाने में सहायक हो सकें। यद्यपि निजी क्षेत्र भी विदेशी सहायता से लाभान्वित हुआ है, विदेशी सहायता की प्रवृत्ति सार्वजनिक क्षेत्र को प्राथ-

(iii) 1919 मे राजनीतिक सुधारो का यह प्रभाव हुआ कि देश मे केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता ही आवश्यक नहीं है वरन प्रशुल्क सम्बन्धी स्वतन्त्रता भी जरूरी है। इसके फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने भारत को उचित तटकर नीति का अनुसरण करने की स्वतन्त्रता दे दी।

जहाँ तक बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध की बात है, अब स्वतन्त्र व्यापार बनाम संरक्षण का विवाद प्रायः समाप्त हो गया है। अब संरक्षण नीति का औचित्य यह है कि उसका देश के विस्तृत आर्थिक विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है। विकासशील देशों मे औद्योगीकरण के लिए तटकरो के प्रयोग का औचित्य मात्र "शिशु उद्योग तर्क" को लेकर नहीं है वरन "शिशु देश तर्क" (Infant Country Argument) भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। विकासशील देशों में संरक्षण की आवश्यकता आर्थिक विकास की प्रक्रिया से ही सुदृढ़ हो जाती है।

विभेदात्मक-संरक्षण की नीति (Policy of Discriminating Protection)

विभेदात्मक अथवा विवेचनात्मक संरक्षण का अर्थ यह है कि उद्योगों को सोच विचार कर संरक्षण दिया जाय ताकि संरक्षण का लाभ उसकी हानि की तुलना मे अधिक रहे। विशेष दशाओं मे विशेष शर्तों के साथ ही उद्योगों को संरक्षण दिया जाता है। संरक्षण देते समय इस बात पर ध्यान रखा जाता है कि उसका अन्य उद्योगों एवं समग्र रूप मे देश की अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ता है।

भारत मे प्रथम प्रशुल्क आयोग की नियुक्ति—भारत सरकार ने 1921 मे "भारतीय प्रशुल्क आयोग" (Indian Fiscal Commission) की नियुक्ति की जिसके अध्यक्ष सर इब्राहीम रहमतउल्ला थे। इस आयोग ने 1922 मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की तथा भारत की औद्योगिक उन्नति के उद्देश्य से विभेदात्मक संरक्षण की सिफारिश की। आयोग का सुझाव था कि प्रत्येक उद्योग को बिना किसी भेदभाव के संरक्षण नहीं दिया जाना चाहिए वरन केवल उन्ही उद्योगों को ही संरक्षण दिया जाना चाहिए जो कुछ शर्तों की पूर्ति कर सकें। आयोग ने संरक्षण के लिए तीन शर्तें रखीं जिसे संरक्षण का त्रिमुखी सूत्र (Triple Formula) कहते हैं। ये तीन शर्तें इस प्रकार थीं :

(1) उद्योगों को प्राकृतिक लाभ प्राप्त होना चाहिए जैसे कच्चे माल की पर्याप्त पूर्ति, सस्ती शक्ति, श्रमिको की अधिक पूर्ति तथा विस्तृत घरेलू बाजार।

(2) उद्योग ऐसा होना चाहिए जो बिना संरक्षण के या तो बिलकुल ही विकास न कर सके अथवा उतनी तीव्र गति से विकास न कर सके जितना कि आवश्यक है, एवं

(3) उद्योग ऐसा होना चाहिए जो बाद मे बिना संरक्षण के विदेशी प्रतियोगिता का सामना कर सके।

उपर्युक्त मुख्य शर्तों के अतिरिक्त आयोग ने कुछ अन्य शर्तें भी संरक्षण के लिए रखी जो इस प्रकार थी :

(i) उद्योग मे वृहत पैमाने पर घटती हुई लागत के अन्तर्गत उत्पादन हो।

(ii) उद्योग अपने उत्पादन से देश की पूर्ण आवश्यकता की पूर्ति कर सके।

(iii) शर्तों के पूर्ण न करने पर भी राष्ट्रीय सुरक्षा के उद्योग को संरक्षण दिया जाय।

(iv) विदेशो द्वारा राशिपातन किये जाने वाले माल के आयात को रोकने के लिए विशेष संरक्षणात्मक उपाय अपनाये जायें।

आयोग ने एक प्रशुल्क मण्डल (Tariff Board) की नियुक्ति की सिफारिश भी की जो उद्योगों द्वारा माँग जाने वाले संरक्षण के दावों की जाँच करेगा। इसके फलस्वरूप 1924 में विभेदात्मक संरक्षण नीति की जाँच करने एवं इसे कार्यान्वित करने के लिए एक अस्थायी प्रशुल्क मण्डल की नियुक्ति की गयी। मण्डल ने सबसे पहले लोहा और इस्पात उद्योग द्वारा माँगे जाने वाले संरक्षण के दावे की जाँच की और उसे संरक्षण प्रदान किया गया। 1924 और 1939 की

अवधि में मण्डल ने 51 उद्योगों के संरक्षण की माँग की तथा 45 उद्योगों की माँग को स्वीकार कर उन्हें संरक्षण दिया गया। इनमें मुख्य उद्योग थे—लोहा-इस्पात, सूती वस्त्र, शक्कर उद्योग, कागज एवं उसकी लुब्दी, दियासलाई, नमक। छोटे उद्योगों में मुख्य रूप से मैग्नेशियम क्लोराइड, प्लाईवुड, स्वर्ण-तार इत्यादि। जिन उद्योगों को संरक्षण नहीं दिया गया उनमें मुख्य थे—भारी रसायन, तेल, कोयला और काँच उद्योग।

विवेचनात्मक संरक्षणात्मक नीति का प्रभाव अथवा उसकी सफलताएँ

विवेचनात्मक संरक्षण की नीति को काफी सफलता मिली तथा देश में उद्योगों का विकास हुआ। इस नीति के अनुकूल प्रभाव इस प्रकार थे :—

(1) **संरक्षित उद्योगों के उत्पादन में वृद्धि**—लोहा इस्पात, शक्कर, सूती वस्त्र और दियासलाई उद्योगों के उत्पादन में इतनी अधिक वृद्धि हुई कि उससे समस्त घरेलू माँग की पूर्ति हो गयी। साथ ही विदेशी प्रतियोगिता भी समाप्त हो गयी। लोहा और इस्पात उद्योग का उत्पादन 1922 की तुलना में 1939 में 335 प्रतिशत बढ़ गया जबकि इसी अवधि में सूतीवस्त्र उद्योग के उत्पादन में 240 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस अवधि में उत्पादन में सर्वाधिक वृद्धि शक्कर उद्योग में हुई अर्थात् 1922 में इसका उत्पादन 2,400 टन था जो 1939 में बढ़कर 93,100 टन हो गया अर्थात् 3,800 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

(2) **लागत में कमी**—संरक्षण का एक अच्छा प्रभाव यह हुआ कि उद्योगों के उत्पादन की लागत में कमी आयी।

(3) **पर्याप्त विकास**—संरक्षण के फलस्वरूप इन उद्योगों का इतना अधिक विकास हुआ कि एक निश्चित अवधि में बिना संरक्षण के ही विकास करने की क्षमता का परिचय इन उद्योगों ने दिया।

(4) **रोजगार में वृद्धि**—संरक्षित उद्योगों में उत्पादन बढ़ने से रोजगार में भी वृद्धि हुई। इन उद्योगों में 1923 में श्रमिकों की संख्या लगभग 6 लाख थी जो 1939 में बढ़कर साढ़े आठ लाख हो गयी।

(5) **सहायक उद्योगों का विकास**—बड़े-बड़े उद्योगों के विकास के फलस्वरूप कई छोटे उद्योगों की भी स्थापना हुई जो या तो उन्हें आवश्यक माल की पूर्ति करते थे अथवा उनके अवशिष्ट माल का प्रयोग कर सहउत्पादन करते थे जैसे कील एवं तार उद्योग, इंजीनियरिंग उद्योग, मोटे कपड़ा का उद्योग आदि।

(6) **कृषि का विकास**—औद्योगिक उत्पादन को बढ़ाने के लिए अधिक मात्रा में कच्चे माल की आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति कृषि क्षेत्र में विभिन्न उत्पादनों को बढ़ाकर की गयी। इस तरह कृषि का भी विकास हुआ।

विभेदात्मक संरक्षण नीति की आलोचना

उपर्युक्त सफलताओं के बावजूद भी विभेदात्मक संरक्षण नीति की निम्न आलोचना की गयी :—

(1) **पर्याप्त सफलता नहीं**—इस नीति के बहुत अच्छे परिणाम सामने नहीं आ सके क्योंकि सरकार ने कुछ गलत उपायों का सहारा लिया जैसे कई उचित उद्योगों को या तो संरक्षण नहीं दिया गया अथवा कम समय के लिए दिया गया जिससे उन्हें विकास करने के लिए पर्याप्त समय नहीं मिला।

(2) **संकीर्ण नीति**—सरकार ने संरक्षण के लिए केवल तटकरों का ही सहारा लिया केवल अपवाद के रूप में लोहा और इस्पात उद्योग को नकद सहायता दी गयी। प्रशुल्क मण्डल ने इन

उद्योगों को वित्तीय सहायता और रेलवे भाड़े में रियायत की सिफारिश की थी जिसे अस्वीकार कर दिया गया।

(3) सीमित क्षेत्र—विभेदात्मक संरक्षण का क्षेत्र सीमित था। इसका कारण यह था कि भारत ने 1932 में ओटावा (कनाडा) सम्मेलन में साम्राज्य अधिमान की नीति को स्वीकार कर लिया था जिसके अन्तर्गत कामनवेल्थ देशों के आयातों के साथ प्राथमिकता पूर्ण व्यवहार किया जाता था।

(4) कड़ी शर्तें—संरक्षण के लिए कठोर शर्तों को अपनाया गया जिसके कारण कुछ उचित उद्योगों को संरक्षण अस्वीकार कर दिया गया। उदाहरण के लिए काँच उद्योग को इसलिए संरक्षण नहीं दिया गया क्योंकि कच्चे माल की सापेक्षिक रूप से कमी थी।

उपर्युक्त दोषों को देखते हुए कुछ अर्थशास्त्रियों ने विभेदात्मक संरक्षण नीति की आलोचना की और इसे मात्र भेदभाव की नीति बताया। प्रो. बी. पी. अदारकर के शब्दों में, "विभेदात्मक संरक्षण ने केवल लापरवाही पूर्ण सहायता देने के सिवाय उद्योगों की उन्नति की कोई जिम्मेदारी नहीं ली, सहायता उदासीनपूर्ण रवैये से दी गयी और उनके बाद में होने वाले विकास को स्वेच्छा-पूर्वक होने की राह पर छोड़ दिया गया।"[1]

किन्तु यह स्वीकार करना होगा कि अपनी कुछ गलतियों और असफलता के बावजूद, विभेदात्मक संरक्षण की नीति ने भारत के औद्योगिक आधार को सुदृढ़ किया।

अन्तरिम प्रशुल्क मण्डल (1945)

यह अनुभव किया गया कि 1921 में नियुक्त प्रशुल्क आयोग की संरक्षण की पूर्ति काफी कठोर थी अतः सरकार ने संरक्षण की शर्तों को उदार बनाने का निर्णय किया। इस दृष्टि से 1945 में एक अन्तरिम प्रशुल्क मण्डल की नियुक्ति की गयी जिसे किसी भी उद्योग को संरक्षण देते समय निम्न दो बातों पर विचार करना था :

(i) उद्योग की स्थापना एवं संचालन उचित व्यापारिक नीति से किया जाता है, एवं

(ii) उद्योग को प्राकृतिक और आर्थिक लाभ प्राप्त हैं ताकि वह बिना सरकारी सहायता या संरक्षण के सफलतापूर्वक चलाया जा सके अथवा वह ऐसा उद्योग है जिसे संरक्षण देना राष्ट्रीय हित में है तथा उसकी सम्भावित सामाजिक लागत अधिक नहीं है।

उक्त प्रशुल्क मण्डल ने काफी कुशलता से कार्य किया तथा उपर्युक्त शर्तें पूरी करने वाले उद्योगों को तीन साल की अवधि के लिए संरक्षण दिया गया।

नवम्बर 1947 में प्रशुल्क मण्डल का पुनर्गठन किया गया तथा उसका कार्यकाल तीन वर्ष का रखा गया एवं उसे निम्न दो अतिरिक्त कार्य सौंपे गये :

(a) आवश्यकता पड़ने पर सरकार को यह सूचित करना कि आयात वस्तुओं की तुलना में संरक्षण प्राप्त उद्योगों में किन साधनों के कारण उत्पादन लागत बढ़ रही है।

(b) सरकार को ऐसे उपायों के बारे में सलाह देना जिससे आन्तरिक उत्पादन मितव्ययता पूर्ण ढंग से किया जा सकता है।

तीन साल की अवधि में उक्त मण्डल ने उन उद्योगों के संरक्षण के दावे की जाँच की जिन्हें पहले संरक्षण नहीं दिया गया था। साथ ही कुछ नये दावों की जाँच भी की। मण्डल की जाँच के फलस्वरूप 1-4-1947 से सूती वस्त्र उद्योग को दिया जाने वाला संरक्षण समाप्त कर दिया गया।

प्रशुल्क मण्डल ने संरक्षण के लिए आयातकरों का ही समर्थन किया। किन्तु अपवाद रूप में अन्य विधियों का भी समर्थन किया जैसे आयात अभ्यंश, अथवा आयातों पर पूर्ण प्रतिबन्ध।

1 B. P. Adarkar : *Indian Fiscal Policy*.

सरकार ने अगस्त 1948 में एक निर्णय पारित कर मण्डल को संरक्षणात्मक आयात करों के प्रभाव का अध्ययन करने के लिए अधिकृत किया।

1947 के बाद भारत की प्रशुल्क नीति

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद अप्रैल 1948 में सरकार ने यह निर्णय पारित किया कि भारत सरकार की प्रशुल्क नीति का उद्देश्य अनुचित प्रतियोगिता को रोकना एवं उपभोक्ताओं को अतिरिक्त भार दिये बिना देश के ससाधनों के प्रयोग में वृद्धि करना होगा। यह भी अनुभव किया गया कि जब तक एक नये प्रशुल्क आयोग द्वारा देश की दीर्घकालीन प्रशुल्क नीति का निर्धारण नहीं किया जाता, प्रशुल्क मण्डल सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकेगा। इसके फलस्वरूप अप्रैल 1949 में भारत सरकार ने श्री टी. टी. कृष्णमाचारी की अध्यक्षता में एक नये प्रशुल्क आयोग की नियुक्ति की जिसके निम्नलिखित कार्य थे :

(1) सन् 1922 से लेकर भारत सरकार को उद्योगों को दिये जाने वाले संरक्षण के सन्दर्भ में, संरक्षण नीति की जाँच करना।

(2) निम्न के सम्बन्ध में सरकार को सुझाव देना :

(i) संरक्षण और सहायता की भविष्य नीति।

(ii) उपर्युक्त नीति को कार्यान्वित करने के लिए उपयुक्त तन्त्र।

(iii) इस नीति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखने वाली अन्य बातें।

(3) संरक्षण की अल्पकालीन और दीर्घकालीन समस्याओं पर विचार करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों, गैट एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सगठन के सम्बन्ध में भारत सरकार के दायित्वों से सम्बन्धित परामर्श देना।

नये प्रशुल्क आयोग ने संरक्षण के प्रश्न पर नये ढग से विचार किया और बताया कि उद्योगों को दिये जाने वाले संरक्षण का सम्बन्ध भारत के नियोजन और आर्थिक विकास से होना चाहिए और जब तक ऐसी योजना पारित नहीं की जाती संरक्षण निम्न शर्तों के आधार पर दिया जाना चाहिए

(1) नियोजित क्षेत्र में आने वाले उद्योगों को निम्न तीन वर्गों में विभाजित किया गया जिन्हें तत्काल संरक्षण देने की सिफारिश की गयी :

(a) सुरक्षा एवं इससे सम्बन्धित उद्योग,

(b) आधारभूत तथा मूल उद्योग,

(c) अन्य उद्योग।

प्रथम वर्ग के उद्योगों को बिना लागत का विचार किये संरक्षण आवश्यक माना गया। द्वितीय वर्ग के उद्योगों के सम्बन्ध में प्रशुल्क अधिकारियों को संरक्षण की मात्रा एवं उसके रूप के सम्बन्ध में विचार करना चाहिए। तृतीय उद्योगों को संरक्षण दिये जाने का आधार उनका देश में महत्व एवं आर्थिक लाभ होना चाहिए।

(2) जिन उद्योगों को नियोजित क्षेत्र में शामिल नहीं किया गया है, उनको संरक्षण की जाँच आर्थिक लाभ तथा लागत के आधार पर होना चाहिए।

अन्य सुझाव

द्वितीय प्रशुल्क आयोग ने संरक्षण के सम्बन्ध में कुछ और महत्वपूर्ण सुझाव दिये जो इस प्रकार हैं :

(1) संरक्षण देने के लिए कच्चे माल की स्थानीय उपलब्धि को आवश्यक शर्त नहीं माना जाना चाहिए।

(2) संरक्षण दिये जाने वाले उद्योग का सम्भाव्य निर्यात व्यापार अच्छा होना चाहिए।

(3) उद्योग को इस आधार पर संरक्षण दिया जाना चाहिए कि दीर्घकाल में वह घरेलू माँग की पूर्ति कर सके।

(4) जो उद्योग कच्चे माल का उत्पादन करते हैं, उन्हें भी संरक्षण दिया जाना चाहिए।

(5) उन नये एवं अपरिपक्व उद्योगों को संरक्षण दिया जाना चाहिए जिन्हें भारी पूँजी की आवश्यकता होती है।

(6) यदि राष्ट्रीय हित में हो तो कृषि को भी संरक्षण दिया जाना चाहिए।

(7) संरक्षित उद्योगों पर उत्पादन कर उसी समय लगाया जाना चाहिए जब यह बजट उद्देश्यों के लिए बहुत आवश्यक हो तथा दूसरा कोई विकल्प न हो।

(8) एक पृथक विकास कोष की स्थापना की जानी चाहिए जिसमें प्रशुल्क करों का एक निश्चित अंश प्रति वर्ष जमा किया जाना चाहिए तथा एकत्रित निधि का प्रयोग उद्योगों की उचित सहायता के लिए किया जाना चाहिए।

उक्त आयोग ने एक नये, स्थायी एवं वैधानिक तटकर आयोग की स्थापना की भी सिफारिश की जिसे विस्तृत शक्तियाँ प्राप्त होंगी तथा उसका कार्य क्षेत्र भी विस्तृत होगा। देश की आर्थिक विकास की नीतियों में उक्त प्रशुल्क आयोग की रिपोर्ट एक महत्वपूर्ण कदम है।

द्वितीय आयोग का मूल्यांकन

द्वितीय प्रशुल्क आयोग ने संरक्षण देने के सम्बन्ध में सुरक्षा उद्योगों तथा इन आधारभूत उद्योगों को महत्व दिया जो भारत के आर्थिक विकास के लिए काफी महत्वपूर्ण थे। आयोग का यह भी महत्वपूर्ण सुझाव था कि ऐसे उद्योगों को संरक्षण दिया जाय जिन्हें संरक्षण मिलने पर प्रारम्भ किया जा सकता है। आयोग ने यह भी सुझाव दिया कि उद्योगों को मात्र संरक्षण देकर न छोड़ दिया जाय वरन् बाद में भी उनके विकास का पूर्ण ध्यान रखा जाना चाहिए।

कुछ आलोचकों का मत है कि आयोग ने संरक्षण देने के लिए जो ये दो शर्तें रखी कि पहले तो उद्योग की लागत बहुत अधिक नहीं होनी चाहिए और द्वितीय यह कि एक उचित समय के बाद संरक्षण उठा लेना चाहिए, ये दोनों शर्तें अस्पष्ट थी।

वर्तमान में तटकर आयोग जिस प्रशुल्क नीति का अनुसरण कर रहा है, वह द्वितीय आयोग की सिफारिशों पर आधारित है।

तटकर आयोग, 1952
(TARIFF COMMISSION)

21 जनवरी, 1952 को पुराने प्रशुल्क मण्डल के स्थान पर एक वैधानिक तटकर आयोग की नियुक्ति की गयी जो बाह्य हस्तक्षेपों से मुक्त था। उसे यह अधिकार था कि वह स्वतन्त्र रूप से कार्य करे एवं स्वयं अपने निष्कर्ष निकाले।

इस आयोग को अधिक विस्तृत कार्य सौंपे गये जो इस प्रकार थे

(i) संरक्षण अथवा सहायता के लिए उद्योगों के दावों की जाँच करना।

(ii) आयात निर्यात करों में परिवर्तन का सुझाव देना।

(iii) विदेशी वस्तुओं के राशिपातन को रोकने के लिए कदम उठाना।

(iv) किसी विशेष उद्योग पर प्रशुल्क रियायतों के प्रभाव का अध्ययन करना।

(v) संरक्षित उद्योग द्वारा संरक्षण के दुरुपयोग की जाँच करना।

(vi) संरक्षण का सामान्य कीमत स्तर एवं जीवन निर्वाह व्यय पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका अध्ययन करना।

(vii) संरक्षण से सम्बन्धित अन्य प्रश्नों पर विचार करना।

आयोग का एक सहायक कार्य संरक्षण प्रणाली के कार्यकलापों की जाँच कर उसकी

रिपोर्ट सरकार को देना था। संरक्षण के क्षेत्र में स्वयं अपने विवेक से कार्य करने के लिए आयोग को विस्तृत अधिकार दिये गये। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि देश में सन्तुलित औद्योगिक ढाँचे का निर्माण करने में आयोग की भूमिका महत्वपूर्ण रही है।

तटकर आयोग के द्वारा किये गये कार्य

1969-70 तक तटकर आयोग ने 184 तटकर सम्बन्धी और 56 मूल्य सम्बन्धी जाँच की। आयोग की सिफारिश पर 17 उद्योगों को संरक्षण दिया गया। 1952 के बाद संरक्षित उद्योगों की संख्या घटती गयी यहाँ तक कि 1972-73 में केवल चार उद्योगों को ही संरक्षण प्राप्त था। आयातों के सम्बन्ध में सरकार की कड़ी नीति होने के फलस्वरूप एवं संरक्षण के सम्बन्ध में कच्चा माल, तकनीकी सहायता एवं वित्तीय सहयोग के सम्बन्ध में सरकारी नीति उदार होने के कारण संरक्षण की माँग घट गयी है।

तटकर आयोग समीक्षा समिति
(TARIFF COMMISSION REVIEW COMMITTEE)

तटकर आयोग के कार्यों की समीक्षा करने एवं तटकर अधिनियम, 1951 में संशोधन सम्बन्धी सुझाव देने के लिए भारत सरकार ने डॉ. वी. के. आर. वी. राव की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति 1966 में की जिसने 1967 में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इन सिफारिशों को दृष्टि में रखते हुए सरकार ने सितम्बर 1968 में निम्न निर्णय लिये :

(1) अवमूल्यन (1966) से जिन उद्योगों को लाभ हुआ है उनकी जाँच की जाय।

(2) आर्थिक विकास के सम्बन्ध में तटकरों का महत्व बढ़ गया है क्योंकि आयातों में छूट देने से देश की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन हुए हैं।

(3) लागतों के सम्बन्ध में तटकर आयोग केवल परामर्श का कार्य करे तथा उन घटकों को स्पष्ट करे जिससे लागतें बढ़ रही हैं।

(4) निर्यात उद्योगों की समस्याओं का अध्ययन करने के लिए तटकर आयोग की विशेषज्ञ समिति का प्रयोग किया जाय।

(5) जिन उद्योगों पर से संरक्षण हटा लिया गया है, संरक्षण हटाने के तीन वर्ष बाद ऐसे उद्योगों पर होने वाले प्रभाव की समीक्षा की जाय।

(6) मूल्यों के सम्बन्ध में तटकर आयोग का प्रतिवेदन 6 माह में प्रस्तुत कर दिया जाय तथा इसे प्रस्तुत करने की अधिकतम अवधि 10 माह होगी।

(7) कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर, साधारण रूप से सरकार तटकर आयोग की सिफारिशों को स्वीकार कर लेगी।

(8) तटकर आयोग को इस बात पर निगरानी रखने का विशेष दायित्व सौंपा गया कि संरक्षण और मूल्य नियन्त्रण के अन्तर्गत आने वाली औद्योगिक इकाइयाँ अपने लागत सम्बन्धी आँकड़े वैज्ञानिक ढंग से रखें।

(9) मूल्य सम्बन्धी उन जाँचों को करने का दायित्व आयोग का होगा जिनका उद्देश्य वैधानिक मूल्य नियन्त्रण करना है।

संरक्षण के सम्बन्ध में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि इस नीति को आर्थिक नियोजन और विकास के साथ जोड़ना आवश्यक है।

औद्योगिक नीति में तटकरों का महत्व

सन् 1956 की भारत सरकार की औद्योगिक नीति में, औद्योगिक विकास के लिए संरक्षण का कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु 1948 की औद्योगिक नीति में तटकर नीति का स्पष्ट उल्लेख था तथा उसका उद्देश्य यह था कि इससे अनुचित प्रतियोगिता को रोका जायगा तथा औद्योगिक

विकास के लिए देश के संसाधनों का अधिकतम प्रयोग किया जायेगा। नियोजन के सन्दर्भ में तटकर नीति का स्पष्ट उल्लेख किया गया जिसमें निम्न बातें महत्वपूर्ण थीं :

(1) नियोजन की प्राथमिकता का क्रम तटकर नीति का दिशा निर्देशन करेगा।

(2) नियोजन का प्रभाव संरक्षण की प्रकृति पर पड़ता है।

(3) जहाँ तक नियोजन से विकेन्द्रीकरण और क्षेत्रीय विकास को बल मिलता है, इससे देश में संरक्षण का भार कम होगा।

इस बात पर बल दिया गया कि औद्योगिक विकास के उद्देश्य से जिस नीति का निर्धारण किया जाता है, इसमें संरक्षण और तटकरों का उचित स्थान दिया जाना चाहिए। यह भी स्पष्ट किया गया कि यद्यपि औद्योगीकरण के लिए तटकर अथवा प्रशुल्क आवश्यक है फिर भी यह एक मात्र साधन नहीं है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1 स्वतन्त्रता के बाद भारत की प्रशुल्क नीति का क्या उद्देश्य रहा है, उनके प्रभावों को दृष्टि में रखते हुए समझाइए ?

2 'विभेदात्मक संरक्षण' से आप क्या समझते हैं ? क्या यह एक पिछड़े हुए देश के औद्योगिक विकास में सहायता प्रदान कर सकता है ?

3. भारत में विभेदात्मक संरक्षण की नीति की सफलताओं और असफलताओं की विवेचना कीजिए ?

Selected Readings

1. B P. Adarkar *Indian Fiscal Policy.*
2. R. Dutt & Sundharam : *Indian Economy.*

अध्याय 49

अवमूल्यन और अधिमूल्यन
[DEVALUATION AND OVER-VALUATION]

परिचय

किसी देश की मुद्रा का प्रयोग देश के भीतर ही लेन-देन अर्थात् विनिमय के लिए किया जाता है। इसका एक महत्वपूर्ण कार्य मूल्य का माप करना है। किन्तु जब हम विदेशों से वस्तुएँ खरीदते हैं तो देश की मुद्रा काम में नहीं आती। जैसे यदि हम ब्रिटेन से माल खरीदते हैं तो इसका भुगतान रुपयों में नहीं, वरन् स्टर्लिंग पौंड में किया जाना चाहिए। इसके लिए पौंड और रुपया में अधिकृत विनिमय दर के आधार पर भुगतान किया जाता है। विनिमय की सुविधा के लिए विभिन्न देश स्वर्ण के माध्यम से या किसी अन्य उपाय द्वारा अपनी मुद्रा का मूल्य दूसरे देश की मुद्राओं में निश्चित कर लेते हैं। जिस मूल्य पर कोई देश दूसरे देश की मुद्रा को लेने के लिए तैयार होता है उसे उसकी मुद्रा का बाह्य मूल्य (External Value) कहते हैं। देश की मुद्रा के बाह्य मूल्य से ही अवमूल्यन का सम्बन्ध होता है। इसे हम एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करेंगे। 1949 से 1966 तक भारतीय रुपये और अमेरिकन डालर की विनिमय दर Rs 4 76=$ 1 थी। 6 जून, 1966 को भारत ने इस विनिमय दर में परिवर्तन किया और विनिमय दर $ 1= Rs 7 50 हो गयी। इसी परिवर्तन को अवमूल्यन कहते हैं। प्रारम्भ में हम अवमूल्यन का ही अध्ययन करेंगे, तत्पश्चात् अधिमूल्यन का विवेचन करेंगे।

अवमूल्यन की परिभाषा

सरल शब्दों में अवमूल्यन का अर्थ देश की मुद्रा के बाह्य मूल्य को कम करने से है।

ईवित के अनुसार, "जब किन्हीं कारणों से, दूसरे देश की मुद्रा की तुलना में एक देश की मुद्रा की विनिमय दर घटाकर, उसके विनिमय मूल्य को सस्ता कर दिया जाता है तो इस प्रक्रिया को अवमूल्यन कहते हैं।"[1]

पाल एमजिग के अनुसार, "अवमूल्यन का अर्थ मुद्राओं की अधिकृत समताओं में कमी करने से है।"[2]

अवमूल्यन का अर्थ आन्तरिक मूल्य से कमी नहीं

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो गया है कि अवमूल्यन के अन्तर्गत मुद्रा का बाह्य मूल्य कम कर दिया जाता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं होता कि मुद्रा का आन्तरिक मूल्य भी

1 "Where for any reason it is considered necessary to cheapen the exchange value of a currency in terms of others by giving it a lower exchange value, the process is known as devaluation" H E Evitt, op cit, p 13

2 "Devaluation means lowering the official parities" —Paul Einzig

कम हो जाता है। जैसे यदि रुपये का अवमूल्यन किया गया तो विदेशी मुद्रा में तो उसका मूल्य घट जायगा किन्तु देश के भीतर रुपये की क्रय शक्ति पहले के समान ही रहेगी। यह एक बिल्कुल अलग बात है कि अवमूल्यन का प्रभाव वाह्य मूल्य के साथ, कालान्तर में आन्तरिक मूल्य पर भी पड़े।

अवमूल्यन और मुद्रा ह्रास में सम्बन्ध (Relation between Money Depreciation and Devaluation)

मूल्य ह्रास में देश की मुद्रा की आन्तरिक कीमत में कमी की जाती है तथा अवमूल्यन में मुद्रा के वाह्य मूल्य को कम किया जाता है। जब मुद्रा की आन्तरिक कीमत को कम किया जाता है तो कुछ समय बाद उसकी वाह्य कीमत भी कम हो जाती है किन्तु यह ध्यान रहे कि मूल्य ह्रास का उद्देश्य मुद्रा का वाह्य मूल्य कम करना नहीं होता। जिस प्रकार कि अवमूल्यन से आन्तरिक कीमतें घट सकती है जबकि अवमूल्यन का यह उद्देश्य नहीं होता। एक बात है कि प्रत्येक दशा में मुद्रा की आन्तरिक और वाह्य कीमतों में कुछ न कुछ प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है।

अवमूल्यन एवं विनिमय ह्रास (Devaluation and Exchange Depreciation)

इन दोनों में यह अन्तर है कि अवमूल्यन के अन्तर्गत जान-बूझकर देश की सरकार द्वारा मुद्रा के वाह्य मूल्य को कम किया जाता है जबकि विनिमय ह्रास में बाजार की शक्तियों की क्रियाशीलता के फलस्वरूप स्वतः मुद्रा का वाह्य मूल्य कम हो जाता है। जहाँ तक प्रभाव का प्रश्न है इन दोनों का देश की अर्थव्यवस्था पर समान प्रभाव होता है।

अवमूल्यन के उद्देश्य
(OBJECTIVES OF DEVALUATION)

अवमूल्यन निम्नलिखित उद्देश्यों से किया जाता है:

(1) **प्रतिकूल भुगतान शेष में सुधार**—यदि किसी देश में व्यापार-शेष में निरन्तर घाटा रहने से अथवा अदृश्य मदें प्रतिकूल रहने से भुगतान-शेष प्रतिकूल बना रहता है और अन्य उपायों द्वारा इसे दूर करना सम्भव नहीं होता तो अवमूल्यन का सहारा लेकर भुगतान शेष की प्रतिकूलता को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। अवमूल्यन से विदेशों में देश के माल की कीमतें घट जाती है तथा देश में विदेशी माल की कीमतें बढ़ जाती है। इसके कारण आयात हतोत्साहित होते है एवं निर्यात प्रोत्साहित होते हैं जिससे भुगतान-शेष में सुधार होता है।

(2) **अन्य देशों से व्यापारिक स्थिति बनाये रखना**—अवमूल्यन इस उद्देश्य से भी किया जाता है कि अन्य देशों, जिन्होंने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया है के साथ व्यापार सम्बन्धी स्थिति को बनाये रखना। यही कारण है कि 1949 में ब्रिटेन द्वारा स्टर्लिंग पौण्ड का अवमूल्यन किये जाने पर कामनवेल्थ के अन्य देशों ने भी अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया।

(3) **भूल-सुधार करना**—यदि कोई देश भूल से अथवा बिना किन्हीं पर्याप्त कारणों के अपने देश की मुद्रा के वाह्य मूल्य को बहुत अधिक बढ़ा देता है तो इससे आयात बढ़ते है और निर्यात कम हो जाते है अतः इस त्रुटि को दूर करने के लिए मुद्रा के वाह्य मूल्य को कम कर दिया जाता है।

(4) **उद्योगों को संरक्षण**—जब कोई देश राशिपातन का सहारा लेकर अपने निर्यातों को बढ़ाता है अथवा वहाँ दामों में कमी के फलस्वरूप वहाँ के निर्यात बढ़ते है तो जिस दूसरे देश में इनका आयात किया जाता है वहाँ अवमूल्यन इसलिए कर दिया जाता है ताकि उक्त आयात हतोत्साहित हो सकें और उस देश के उद्योगों को संरक्षण दिया जा सके।

(5) **क्रय-शक्ति में समन्वय**—देश की मुद्रा की क्रय-शक्ति में परिवर्तन होने पर उसकी

विनिमय दर को क्रय-शक्ति में होने वाले परिवर्तनों के साथ समन्वित करने के उद्देश्य से भी अवमूल्यन किया जाता है।

अवमूल्यन की सफलता के लिए आवश्यक दशाएँ

अवमूल्यन उसी समय सफल हो सकता है जब नीचे लिखी दशाएँ विद्यमान हों अथवा निम्न बातों का पालन किया जाय :

(1) **विनियोग की स्वतन्त्रता**—उद्योगपतियों को विनियोग करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए क्योंकि इसके अभाव में नये निर्यात उद्योगों की स्थापना नहीं हो पायेगी। विनियोग की स्वतन्त्रता से प्रतियोगिता बढ़ेगी, कार्यक्षमता में वृद्धि होगी और लागत घटेगी।

(2) **व्यापार करने वाले अन्य देशों से सहयोग**—अवमूल्यन की सफलता इस बात पर निर्भर रहती है कि जिन देशों के साथ अवमूल्यन करने वाले देश के व्यापारिक सम्बन्ध हैं, वे अपना पूर्ण सहयोग दें। यदि अन्य देश भी अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन कर देते हैं अथवा आयातों को विभिन्न विधियों से नियन्त्रित कर देते हैं तो अवमूल्यन की नीति सफल नहीं हो पाती।

(3) **नियन्त्रणों का अभाव**—अवमूल्यन की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि कीमतों और वितरण पर नियन्त्रण लगाकर उद्योगों के विकास को अवरुद्ध नहीं किया जाना चाहिए।

(4) **लागत और कीमतों में अनुकूल परिवर्तन**—अवमूल्यन की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि अवमूल्यन के बाद उस देश में कीमतें और लागतें नहीं बढ़नी चाहिए। कीमतों के बढ़ने से अवमूल्यन का प्रभाव समाप्त हो जाता है।

(5) **आयात और निर्यातों की माँग लोचदार**—अवमूल्यन उसी समय अपने उद्देश्यों में सफल हो सकता है जब आयात और निर्यातों की माँग इतनी लोचदार हो कि अवमूल्यन के होने पर आयातों को कम करना तथा निर्यातों को बढ़ाना सम्भव हो।

अधिमूल्यन
(OVERVALUATION)

परिभाषा—अधिमूल्यन, अवमूल्यन की विपरीत स्थिति है क्योंकि अधिमूल्यन में मुद्रा के बाह्य मूल्य को अधिक कर दिया जाता है जबकि अवमूल्यन में मुद्रा के बाह्य मूल्य को कम कर दिया जाता है। जब किसी देश की सरकार अपनी मुद्रा की इकाई का बाह्य मूल्य उस स्तर से ऊँचा रखती है जो नियन्त्रण के अभाव में प्रचलित होता तो इस स्थिति को अधिमूल्यन कहते हैं। नियन्त्रण के अभाव का तात्पर्य मुद्रा की स्वतन्त्र माँग पूर्ति से है।

अधिमूल्यन क्यों किया जाता है

अधिमूल्यन निम्नलिखित कारणों से किया जाता है :

(1) **विदेशी ऋण भुगतान के लिए**—जब किसी देश को बड़ी मात्रा में विदेशी ऋण और ब्याज का भुगतान करना हो तो वह अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन कर देता है जिससे उसे ऋण भुगतान में सुविधा होती है। जैसे कि विश्वयुद्ध से पूर्व भारी मात्रा में भारत ने ब्रिटेन से ऋण लिया था जिसके लिए भारत को प्रतिवर्ष भारी मात्रा में स्टर्लिंग पौण्ड का भुगतान करना पड़ता था। इस भार को कम करने के लिए 1927 में रुपये का अधिमूल्यन किया गया।

(2) **विदेशों से भारी मात्रा में खरीद करने के लिए**—युद्ध या किसी आपातकालीन स्थिति के कारण किसी देश को विदेशों से भारी मात्रा में माल क्रय करना हो तथा वह निर्यात करने की स्थिति में न हो तो मुद्रा का अधिमूल्यन कर वह देश अपने उद्देश्य में सफल हो सकता है।

(3) **भीषण मुद्रा प्रसार को नियन्त्रित करने के लिए**—यदि देश में भीषण मुद्रा प्रसार की स्थिति है जिसके फलस्वरूप कीमतों एवं मजदूरी स्तर में वृद्धि हो रही है तो इसका परिणाम यह होगा कि मुद्रा की क्रय शक्ति समता में और भी कमी होगी और आन्तरिक एवं बाह्य मूल्य एक दूसरे को कम करेंगे। इस भीषण चक्र को रोकने के लिए मुद्रा का अधिमूल्यन किया जाता है। 1920 में अधिकांश यूरोपीय देशों ने अपनी मुद्रा का इसी उद्देश्य से अधिमूल्यन किया था।

(4) **निर्यात सीमित और बेलोचदार होने पर**—यदि किसी देश का निर्यात व्यापार केवल कुछ देशों तक ही सीमित हो और उसकी माँग बेलोचदार हो तो भी उस देश को अधिमूल्यन करना लाभदायक होता है क्योंकि मुद्रा का बाह्य मूल्य बढ़ जाने पर भी निर्यात कम नहीं होंगे। जब 1947 में स्टर्लिंग क्षेत्र के सब देशों ने अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन किया तो केवल पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया अतः उसकी मुद्रा अधिमूल्यित हो गयी एवं पाकिस्तान ने अपने जूट के लिए भारत से अधिमूल्यित दर से मूल्य वसूल करने की योजना बनायी किन्तु पाकिस्तान अपनी योजना में सफल नहीं हो सका।

यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि एक देश को मुद्रा का अधिमूल्यन करते समय अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों पर विचार करना पड़ता है क्योंकि इसका एक यह दुष्परिणाम होता है कि जब मुद्रा का अधिमूल्यन होता है तो देश में कीमतें सापेक्षिक रूप से बढ़ जाती हैं जिससे निर्यात कम होने लगते हैं और आयात बढ़ने लगते हैं।

1949 में भारतीय रुपये का अवमूल्यन

द्वितीय विश्व युद्ध का यह परिणाम हुआ कि ब्रिटेन तथा पश्चिमी यूरोप के देशों के भुगतान शेष में काफी प्रतिकूलता आ गयी तथा इन्हें निरन्तर अमेरिका और कनाडा से ऋण लेना पड़े और स्टर्लिंग पौण्ड की विनिमय दर काफी कमजोर हो गयी। मुद्रा कोष की 1949 की रिपोर्ट के अनुसार, "अतिरेक तथा घाटे वाले देशों में अन्तर इतना अधिक हो गया कि अवमूल्यन के सिवाय किसी अन्य तरीके से ठीक नहीं किया जा सकता था।"

ब्रिटेन में घाटे की मात्रा सबसे अधिक थी अतः इसमें सुधार करने के लिए ब्रिटेन ने 18 सितम्बर, 1949 से अपने पौण्ड का 30.5 प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया जिसके कारण पौण्ड का डालर मूल्य 4·03 से घटकर 2.80 डालर हो गया। इसका अनुसरण करते हुए स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य 19 देशों ने भी अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करने का निर्णय लिया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की 1949 की रिपोर्ट के अनुसार सितम्बर 1949 में जिन देशों ने अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन किया उनका सामूहिक व्यापार कुल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लगभग 65 प्रतिशत था। इसे दृष्टि में रखते हुए 1949 का अवमूल्यन एक अभूतपूर्व घटना थी।

ब्रिटेन का अनुसरण करते हुए, भारत ने भी 18 सितम्बर, 1949 को रुपये का अवमूल्यन करने की घोषणा की जिसके फलस्वरूप रुपये की विनिमय दर डालर की तुलना में 30·225 सेण्ट से घटकर 21 सेंट रह गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय वस्तुओं के मूल्य अमेरिका के लिए कम हो गये और अमरीका की चीजें भारत के लिए मँहगी हो गयीं। 1949 में रुपये का अवमूल्यन किये जाने के मुख्य दो कारण थे :

(1) भारत का डालर एवं अन्य दुर्लभ मुद्रा वाले देशों के साथ भुगतान-शेष में घाटा।

(2) भारत की स्टर्लिंग क्षेत्र की सदस्यता।

भारतीय रुपये के अवमूल्यन के परिणाम

1949 में किये गये रुपये के अवमूल्यन के निम्न अनुकूल परिणाम हुए :

(1) **व्यापार शेष में सुधार**—अवमूल्यन के फलस्वरूप भारत के व्यापार शेष में सुधार

हुआ। सितम्बर 1949 और जून 1950 की अवधि में व्यापार शेष के घाटे में 172 करोड़ रुपये की कमी हो गयी।

(2) पौण्ड पावनों के व्यय से अधिक लाभ—अवमूल्यन के बाद भारत ने अपने पौण्ड पावनो का जितना भाग डालर क्षेत्र में व्यय किया उसका मूल्य 30·5 प्रतिशत कम हो जाने से उतना ही अधिक लाभ हुआ।

प्रतिकूल प्रभाव

अवमूल्यन के प्रतिकूल प्रभाव इस प्रकार थे :

(1) विदेशी ऋणों के भार में वृद्धि—अवमूल्यन का एक प्रतिकूल प्रभाव यह हुआ कि भारत ने विश्व बैंक से जो ऋण लिया था उसका रुपयों में मूल्य बढ़ गया।

(2) आर्थिक विकास में बाधा—भारत को आर्थिक विकास के लिए भारी मात्रा में अमरीका से आयात करना पड़ता था किन्तु अवमूल्यन के फलस्वरूप अमरीका और डालर क्षेत्र के अन्य देशो से आयात मँहगा हो गया जिससे आर्थिक विकास की कुछ योजनाओं को स्थगित करना पड़ा।

(3) आन्तरिक मूल्य स्तर में वृद्धि—अवमूल्यन के कारण देश में मुद्रा प्रसार की स्थिति पैदा हो गयी। सितम्बर 1949 में थोक कीमतों का सूचकांक 390 था जो 1951 में बढ़कर 458 हो गया।

(4) भारत-पाक सम्बन्धों में तनाव - पाकिस्तान ने 1949 में अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नही किया जिससे भारत-पाक व्यापार लगभग ठप्प हो गया क्योंकि पाकिस्तानी माल पर भारत को 44 प्रतिशत मूल्य अधिक देना पड़ता था। एक प्रतिकूल प्रभाव यह हुआ कि पाकिस्तान पटसन के निर्मित माल में भारत का प्रतिस्पर्द्धी बन गया।

भारत को अवमूल्यन से प्रत्याशित लाभ प्राप्त नहीं हो सके क्योंकि एक तो जापान और पाकिस्तान द्वारा अवमूल्यन न किये जाने से भारत के इन देशो के साथ व्यापारिक सम्बन्ध अच्छे नहीं रह गये। दूसरे भारत को स्टलिंग क्षेत्र से मशीनें एवं अन्य वस्तुएँ जल्दी प्राप्त नहीं हो सकी क्योंकि इस क्षेत्र के देशो के सामने भी आर्थिक पुनर्निर्माण की समस्या थी। साथ ही अमरीका से आयात करने पर भी भारत को हानि हुई।

1966 में रुपये का फिर अवमूल्यन

जून 1966 में भारतीय रुपये का स्वर्ण और स्वर्ण से सम्बन्धित विदेशी मुद्रा के सन्दर्भ में 36.5 प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया गया। यह एकाएक नहीं हुआ क्योंकि 17 फरवरी, 1966 को योजना मन्त्री श्री अशोक मेहता ने राज्यवित्त मन्त्री श्री बी. आर. भगत की ओर से यह वक्तव्य विदेशी समाचार पत्रों मे जारी किया था कि भारत रुपये के अवमूल्यन पर विचार कर रहा है।

अवमूल्यन के फलस्वरूप अमेरिकन डालर की कीमत जो पहले 4·76 रुपये थी, बढ़कर 7.50 रुपये हो गयी तथा इंग्लैण्ड के पौण्ड की कीमत 13.3 रुपये से बढ़कर 21 पौण्ड हो गयी। इसका यह अर्थ था कि नयी अधिकृत विनिमय दरों के कारण विदेशी विनिमय 57.5 प्रतिशत हो गया।

रुपये के समता मूल्य में परिवर्तन करने का निर्णय तत्कालीन देश की परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए किया गया क्योंकि यह देश की अर्थव्यवस्था के लिए आवश्यक माना गया। पिछले 15 वर्षों से आर्थिक विकास के कारण देश के साधनों विशेष रूप से बाह्य साधनों पर भारी दबाव पड़ रहा था। 1965 में भारत में आये विश्व बैंक के प्रतिनिधि बर्नार्ड बेल ने भी रुपये का अवमूल्यन करने की सिफारिश की थी। अमरीका की ओर से भी अवमूल्यन के लिए दबाव था क्योंकि उसने रुपये का अवमूल्यन करने पर ही भारत को चौथी योजना के लिए सहायता देने का वचन दिया था।

1966 के अवमूल्यन के कारण

(1) **निर्यात प्रोत्साहन की विफलता**—अवमूल्यन का एक प्रमुख कारण यह था कि भारत के भुगतान शेष मे काफी असन्तुलन था। कुछ उपायो के अपनाने पर भी निर्यात प्रायः स्थिर थे। प्रथम योजना मे निर्यातों का प्रतिशत हमारी कुल आय का 6 1 था जो तीसरी योजना मे घटकर 4·3 प्रतिशत रह गया। यहाँ तक कि भारत के पारम्परिक निर्यातो—जूट और चाय के निर्यातों—को बढाने के लिए भी प्रोत्साहन की आवश्यकता थी।

(2) **आयातो में लगातार वृद्धि**—एक ओर तो निर्यात स्थिर थे तथा दूसरी ओर आयातों मे भारी वृद्धि हो रही थी जिसका मुख्य कारण देश के आर्थिक विकास के लिए मशीनो, कच्चे माल और पूँजीगत वस्तुओ का भारी मात्रा मे आयात करना था। 1961-62 मे कुल आयात 1,720 करोड रु० का था जो 1965-66 मे बढकर 2,2‹0 करोड रु० से भी अधिक हो गया।

(3) **आन्तरिक कीमत स्तर में वृद्धि**—देश मे मुद्रा प्रसार की स्थिति विद्यमान थी और इसीलिए हमारे निर्यात नही बढ पा रहे थे। 1962-63 और 1965-66 की अवधि मे कीमतो मे 29 प्रतिशत की सचयी वृद्धि हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि उत्पादन केवल घरेलू बाजार के लिए ही होने लगा क्योकि लागतो मे वृद्धि होने से निर्यात प्रतियोगिता मे टिक नही सके।

(4) **भुगतान शेष में घाटा**—स्थिर निर्यात और बढते हुए आयातो के कारण भारत की विदेशी विनिमय की आवश्यकता का अन्तर बढता जा रहा था। 1961-62 मे यह अन्तर 477 करोड रु० का था जो 1964-65 मे बढकर 740 करोड रु० हो गया। इसकी पूर्ति अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ से ऋण लेकर की गयी। श्री एस केशव अय्यंगार के शब्दों मे, "विदेशों से सहायता के बावजूद भी, देश के विदेशी विनिमय रिजर्व पर भारी दबाव पड रहा था जो स्वर्ण को छोड़कर, द्वितीय योजना के प्रारम्भ मे 785 करोड़ रु० की तुलना मे मार्च 1966 मे घटकर 182 करोड़ रु० रह गया।"[1]

(5) **रुपये का अधिमूल्यन**—इसके पर्याप्त कारण मौजूद थे कि रुपये के मूल्य मे अधिमूल्यन हो गया था। प्रथम तो, सतत रूप से भुगतान शेष की कठिनाई इसका प्रमाण था। दूसरे विदेशी विनिमय मे दो बाजार विद्यमान थे—एक तो अधिकृत बाजार था जिसमे विनिमय मूल्य Rs 5=$ 1 था तथा समुद्र पार के कई क्षेत्रो मे यह मूल्य Rs. 7·50=$ 1 था। अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे रुपये का मूल्य कम हो रहा था तथा उसकी तुलना मे भारत मे रुपये का मूल्य अधिमूल्यित था।

(6) **बहु विनिमय दर की प्रणाली**—1966 के पहले भारत ने निर्यातों को प्रोत्साहित करने एव आयातो को नियन्त्रित करने मे कई उपायो का सहारा लिया था जिससे रुपये की अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे बहु विनिमय दरें स्थापित हो गयी थी और ये दरें निर्यातको के पक्ष मे थी। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य होने के नाते भारत के लिए बहु विनिमय दरो की प्रणाली को अपनाना स्थायी रूप मे सम्भव नही था। इसीलिए रिजर्व बैंक ने भारत के अवमूल्यन के निर्णय को उचित ठहराया।

अवमूल्यन के प्रभाव—एक आलोचनात्मक मूल्यांकन

1966 मे भारतीय रुपये का अवमूल्यन एक विवादग्रस्त विषय रहा है। कुछ लोगो ने इसका समर्थन किया तथा अन्य लोगों ने विरोध किया। समर्थको का मत था कि अवमूल्यन से आयात प्रतिबन्धित होगे तथा निर्यातों को प्रोत्साहन मिलेगा जिससे विदेशी विनिमय का सकट हल होगा। यह भी तर्क दिया गया कि इससे अमरीका और अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओ से भारत को आर्थिक सहायता मिलेगी।

---

1 S. Kesava Iyengar, *Devaluation and After*—Asia Publishing House, 1970, p. 17

संक्षेप में अवमूल्यन के पक्ष में निम्न तर्क दिये गये —

(1) विदेशियों को भारतीय माल सस्ता होने से निर्यातों में वृद्धि होगी।

(2) विदेशी माल मंहगा होने के कारण एक ओर तो आयात नियन्त्रित होंगे तथा दूसरी ओर आयात प्रतिस्थापन से देश में उद्योगों को प्रोत्साहन मिलेगा।

(3) देश की कठिनाईयों को देखते हुए अवमूल्यन ही एक मात्र विकल्प है।

(4) चौथी योजना को कार्यान्वित करने के लिए विदेशी सहायता पर्याप्त मात्रा में मिलेगी।

(5) स्वर्ण की तस्करी कम होगी क्योंकि सोने के घरेलू मूल्य और विदेशी मूल्य में अन्तर समाप्त हो जायगा।

(6) अवमूल्यन से सरकार को आय होगी क्योंकि निर्यात करों में परिवर्तन होगा, विदेशों से मिलने वाली सहायता का मूल्य रुपयों में बढ़ जायगा तथा निर्यात प्रोत्साहन पर व्यय नहीं करना पड़ेगा।

तत्कालीन वित्तमन्त्री ने अवमूल्यन का समर्थन करते हुए कहा था कि "अधिकांश लोगों ने अवमूल्यन की आलोचना की है किन्तु उनका मूल उद्देश्य आलोचना करना ही है। वास्तव में अवमूल्यन आर्थिक असन्तुलन को समाप्त करने हेतु किये जाने वाले प्रयासों का एक अंग है। गत वर्षों में शासन ने हर सम्भव विधि का प्रयोग निर्यात बढ़ाने के लिए किया है किन्तु अपेक्षित स्तर तक निर्यात नहीं बढ़ सके अतः रुपये का अवमूल्यन कर निर्यात को बढ़ाने का अवसर प्रदान किया गया है।"

अवमूल्यन का विरोध

आलोचकों का मत था कि अवमूल्यन, अमरीका के दबाव में आकर किया गया। ऐसे समय में जबकि भारत को भारी मात्रा में अनाज और पूंजीगत वस्तुओं का आयात करना था, अवमूल्यन का निर्णय एक गलत कदम था। भारत वैसे ही निर्यातों पर सहायता और प्रोत्साहन देकर चुने हुए अवमूल्यन की नीति अपना रहा था अतः सामान्य अवमूल्यन से हमारे परम्परागत निर्यातों को भी बढ़ने में सहायता नहीं मिलेगी। विदेशी ऋणों का भार भी अवमूल्यन से बढ़ेगा। यह भी मत व्यक्त किया गया कि अवमूल्यन से व्यक्तिगत विनियोग में कमी होगी और यदि अर्थव्यवस्था में मुद्रा प्रसार की स्थिति विद्यमान रहती है तो अवमूल्यन का अनुकूल प्रभाव नहीं होगा।

अवमूल्यन की सफलता—एक विवेचन

महत्वपूर्ण प्रश्न है कि भारत में अवमूल्यन कहाँ तक अपने उद्देश्यों में सफल हुआ है। यह जानने के लिए यह देखना महत्वपूर्ण है कि इसका विभिन्न क्षेत्रों पर क्या प्रभाव पड़ा है। यह निम्न विवेचन से स्पष्ट है :

(1) व्यापार सन्तुलन—अवमूल्यन का उद्देश्य होता है निर्यातों में वृद्धि करना एवं आयातों में कमी करना। किन्तु इस दृष्टि से भारत के व्यापार सन्तुलन को ठीक करने में कोई विशेष सहायता नहीं मिली क्योंकि 1965-66 में कुल आयात 1,350 करोड़ रुपये का था और ठीक अवमूल्यन वाले वर्ष 1966-67 में यह बढ़कर 1,992 करोड़ रुपये का हो गया जबकि इसी अवधि में निर्यात 783 करोड़ रुपये से बढ़कर केवल 1,085 करोड़ रुपये का हुआ अर्थात् व्यापार शेष का घाटा जो 1965-66 में 566 करोड़ रुपये का था 1966-67 में बढ़कर 906 करोड़ रुपये का हो गया। 1967-68 में आयातों में इसलिए वृद्धि नहीं हुई क्योंकि अच्छी फसल के कारण खाद्यान्न का आयात कम हुआ।

अवमूल्यन को टाला जा सकता था यदि :

(i) सरकार ने प्रतिवर्ष विदेशी विनिमय साधनों के सम्बन्ध मे बजट मे सावधानी की होती।

(ii) सरकार ने अति उत्साही विनियोग और अनुत्पादक व्यय जो कि हमारे घरेलू संसाधनों मे अधिक था, का सहारा न लिया होता।

(iii) अनुरक्षण आयातो के लिए सरकार ने विदेशी विनिमय की आवश्यकता का सही आकलन किया होता।

(iv) उत्पादन क्षमता के पूर्ण प्रयोग के लिए आवश्यक कदम उठाये होते और क्षमता को गिरने न दिया होता।

(v) सरकार ने विश्व बैंक के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखा होता और अपने बड़े पैमाने की विदेशी सहायता के बारे मे मित्र देशो को आश्वस्त कर दिया होता।

(vi) प्रशासनिक तन्त्र को उत्पादन और प्रगति की राह मे अवरोध न बनने दिया होता और विदेशी तथा घरेलू विनियोजकों के प्रति अनुदार रुख न अपनाया होता।

(vii) योजना आयोग ने लक्ष्यों एव आवश्यकताओ मे भ्रम पैदा न किया होता।

अवमूल्यन के दोषो को दूर करने के उपाय

अवमूल्यन के जो प्रतिकूल प्रभाव हुए, उन्हें कैसे दूर किया जाय यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न था। भारतीय व्यापारी वाणिज्य मण्डल ने अवमूल्यन से उत्पन्न असन्तुलनो को कम करने के लिए एक सात सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया था जो इस प्रकार है :

(1) पूँजीगत वस्तुओ एव आवश्यक कच्चे माल पर आयात कर समाप्त किया जाना चाहिए।

(2) परिवर्तित दशाओ मे निर्यात प्रोत्साहन योजनाओं को संशोधनों के साथ चालू किया जाना चाहिए।

(3) निर्यात करो के प्रभावो का निरन्तर अध्ययन किया जाय और उसमे आवश्यक परिवर्तन किये जायें।

(4) उत्पादन क्षमता का पूर्ण प्रयोग करने एवं उत्पादन बढाने के लिए आयात लाइसेंस की प्रणाली को उदार बनाया जावे तथा अधिक मात्रा मे कच्चे माल एव आवश्यक सामग्री को आयात करने की अनुमति दी जाये।

(5) नये उद्योगो को पूर्ण मात्रा मे आयात करने एव उद्योगो की स्थापना मे रियायती ब्याज दरों पर वित्तीय सहायता दी जाना चाहिए।

(6) वित्तीय संस्थाओ को ऋण देने की शर्तों को उदार बनाना चाहिए एव ऋणो की वापसी की अवधि मे वृद्धि की जाना चाहिए।

(7) अवमूल्यन से आयातो पर किये जाने वाले अधिक भुगतान को पूँजी मे शामिल किया जाये तथा उस पर आय करो मे क्षति भत्ता और विकास छूट दी जाये।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. भारतीय रुपये का 1966 मे अवमूल्यन किन कारणो से हुआ ? क्या यह देश के लिए हितकर सिद्ध हुआ ?
2. सितम्बर 1949 मे रुपये के अवमूल्यन के कारणो और प्रभावो की विवेचना कीजिए ?
3. क्या 1966 के अवमूल्यन को टाला जा सकता था ? इसे सफल बनाने के लिए आप क्या सुझाव देंगे ?

Selected Readings

1. C. N Vakil · *Devaluation of Rupee.*
2. S. K Iyengar · *Devaluation and After.*
3. Alok Ghosh : *Indian Economy.*

(B) साझा बाजार के देशों में, भारतीय निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की वैकल्पिक वस्तुओं की उपलब्धि।

जिन वस्तुओं के निर्यात पर ब्रिटेन के साझा बाजार में शामिल होने का कोई प्रभाव नहीं होगा उनमें चाय, काफी, कच्चा लोहा आदि है। यद्यपि ब्रिटेन ने भारत की कुछ वस्तुओं के आयात पर रियायतें दी है पर वे पर्याप्त नहीं हैं। यदि भारत अपने निर्यातों को ब्रिटेन में बढ़ाना चाहता है तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में कड़ी प्रतियोगिता करना होगी तथा अपने माल की किस्म में भी पर्याप्त सुधार करना होगा।

दिसम्बर 1972 में साझा बाजार की मन्त्री परिषद ने यूरोपीय आर्थिक आयोग के इस प्रस्ताव को स्वीकृति दे दी कि साझा बाजार और भारत के बीच मन्त्रणाएं आयोजित की जायें। भारत इन मन्त्रणाओं के फलस्वरूप ऐसे समझौते पर पहुंचना चाहता है जिसमें भारत और साझा बाजार के देशों के बीच भुगतान असन्तुलन दूर किया जा सके।

यूरोपीय साझा बाजार की प्रगति

साझा बाजार की स्थापना होने के बाद इसके सदस्य राष्ट्रों में व्यापार में भारी वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप उनके आर्थिक विकास पर भी अनुकूल प्रभाव हुआ है। इस संगठन के सदस्य देश आर्थिक विकास और टेक्नालाजी के मामले में काफी आगे बढ़ चुके हैं। यूरोपीय साझा बाजार ने पश्चिमी यूरोप के देशों में आर्थिक एकता पैदा की है और ये सभी देश उदारतावादी लोकतान्त्रीय व्यवस्था कायम करने की दिशा में तेज गति से बढ़ रहे हैं। इसकी प्रगति का अध्ययन हम निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं :

(1) अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में वृद्धि—चूंकि साझा बाजार के देशों में क्रमशः आपस में प्रशुल्क हटाये जाने का प्रावधान था, उसके फलस्वरूप इनके अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में काफी प्रगति हुई है। ये देश 1958 में कुल आयात का, आपसी आयात 29 6 प्रतिशत करते थे जो 1973 में बढ़कर 50 प्रतिशत हो गया।

(2) विदेशी व्यापार में वृद्धि—यूरोपीय साझा बाजार के देशों में विदेशी व्यापार में काफी वृद्धि हुई है। 1958 में विश्व आयात व्यापार में साझा बाजार का कुल प्रतिशत 23 था जो 1973 में बढ़कर 40 6 प्रतिशत हो गया। निर्यात का प्रतिशत 1958 में 24 4 था जो 1973 में बढ़कर 41·3 प्रतिशत हो गया। 1960 में साझा बाजार के देशों का आपसी व्यापार विश्व के कुल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का केवल 9 प्रतिशत था जो 1972 में बढ़कर 14 प्रतिशत हो गया।

(3) आर्थिक विकास की प्रगति—साझा बाजार के देशों ने अपने आर्थिक विकास को भी काफी गतिशील बना लिया है। 1958 में फ्रांस, जर्मनी, बेल्जियम एवं नीदरलैण्ड्स में प्रति व्यक्ति औसत आय लगभग ब्रिटेन के समान थी जबकि इटली में यही आय ब्रिटेन से आधी थी। किन्तु 1970 में इटली में प्रति व्यक्ति औसत आय ब्रिटेन के समकक्ष हो गयी तथा अन्य सदस्य देशों की आय का औसत ब्रिटेन की तुलना में 50 प्रतिशत तक अधिक हो गया। 1959-70 की अवधि में साझा बाजार के छः देशों ने अपनी राष्ट्रीय आय का 24 प्रतिशत विनियोग किया। ऐसा अनुमान है कि इसी अवधि में इन देशों द्वारा 2,650 करोड़ डालर चालू खाते में अतिरेक के रूप में जमा किये गये हैं जबकि इस अवधि में ब्रिटेन का भुगतान शेष प्रतिकूल रहा।

(4) औद्योगिक कुशलता और रोजगार में वृद्धि—साझा बाजार के फलस्वरूप सदस्य देशों में औद्योगिक कुशलता में काफी वृद्धि है जिसके फलस्वरूप इनमें औद्योगिक उत्पादन तेजी से बढ़ा है। उत्पादन बढ़ने से रोजगार के क्षेत्र में काफी वृद्धि हुई है। औद्योगिक क्षेत्र में जर्मनी में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि हुई है।

इस प्रकार साझा बाजार के क्षेत्रों ने द्रुत गति से चहुँमुखी विकास किया है।

यूरोपीय आर्थिक समुदाय का प्रभाव

यूरोपीय आर्थिक समुदाय का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव यह हुआ है कि इनके बाजार का क्षेत्र विस्तृत हुआ है तथा उत्पादन के क्षेत्र में इन देशों को बड़ी मात्रा में पैमाने की बचतें प्राप्त हुई हैं। सदस्य देशों को व्यापार सृजन के फलस्वरूप भारी लाभ हुआ है।

दूसरा प्रभाव यह हुआ है कि इन राष्ट्रों में जिनके पास एकाधिकारी शक्तियाँ थीं, वे समाप्त हो गयी हैं जैसे फ्रांस का एकाधिकार। इसके फलस्वरूप देशों में स्वस्थ प्रतियोगिता कायम हुई है तथा उत्पादन क्षमता बढ़ी है।

तीसरा प्रभाव यह हुआ है कि सदस्य राष्ट्रों में जो देश कम विकसित थे विशेष कोष द्वारा उनकी आर्थिक सहायता कर, उन्हें विकसित बना दिया गया है।

अन्तिम प्रभाव यह हुआ कि पूरे आर्थिक समुदाय में पूँजी एवं श्रम की गतिशीलता में वृद्धि हुई है जिससे उद्योगों का पुन. आवंटन सम्भव हो सका है।

इस प्रकार व्यक्तिगत रूप से सदस्य राष्ट्रों पर अनुकूल आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक प्रभाव तो हुआ ही है, साथ ही सम्पूर्ण यूरोप एवं अन्य देशों पर भी इसका आर्थिक प्रभाव पड़ा है।

भारत और यूरोपीय साझा बाजार
(INDIA AND THE EUROPEAN COMMON MARKET)

यूरोपीय साझा बाजार भारत के लिए दिन प्रति दिन अधिक से अधिक महत्वपूर्ण बनता जा रहा है। हाल ही में 5 जून, 1978 को भारत के प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी देसाई की ब्रुसेल्स यात्रा से, जो साझा बाजार का प्रधान कार्यालय है, भारत और साझा बाजार के बीच नये अध्याय की शुरूआत हुई है। प्रधानमन्त्री की ब्रुसेल्स यात्रा का खास उद्देश्य साझा बाजार के अध्यक्ष श्री राय जेंकिन्स से बातचीत करना था।

यूरोपीय साझा बाजार चाय, पटसन, सूती कपड़े, कालीन, चमड़े के सामान आदि के भारतीय निर्यात के लिए सबसे बड़ी मण्डी तो है ही, यूरोपीय समुदाय विकासशील एशियाई देशों को 1978 में दी जाने वाली सहायता का 40 प्रतिशत भारत को दे रहा है। भारत में डेरी उद्योग, गल्ला भण्डारों और रासायनिक खाद कारखानों की स्थापना में यूरोपीय समुदाय का उल्लेखनीय योगदान है।

साझा बाजार के देश यद्यपि कुल भारतीय निर्यात का 30 प्रतिशत माल भारत से खरीदते है तथापि उनके कुल व्यापार में भारत का अंश एक प्रतिशत से अधिक नहीं है। भारत के लिए यह चिन्ता का विषय है कि यूरोपीय देशों का झुकाव संरक्षण की ओर है। साझा बाजार के देशों द्वारा कोटा प्रणाली अपनाये जाने से भारतीय कपड़ा निर्यातकों की कठिनाइयाँ बढ़ गयी है। यद्यपि साझा बाजार के देशों के रवैये में इधर कुछ परिवर्तन हुआ है और उन्होंने भारत को आर्थिक सहायता देना स्वीकार कर लिया है किन्तु इस समस्या का स्थायी हल नहीं माना जा सकता। भारत जैसे विकासशील देशों की आवश्यकता यह नहीं कि उन्हें अधिक सहायता मिले वरन् यह है कि उन्हें व्यापार बढ़ाने के अधिक अवसर दिये जायें जिससे उनके अर्थतन्त्र को नयी गति मिले।

साझा बाजार में भारतीय व्यापार—वर्तमान स्थिति एवं सम्भावनाएँ

1977-78 में यूरोपीय साझा बाजार के देशों को भारतीय निर्यात में पूर्व वर्ष की अपेक्षा 15 प्रतिशत की वृद्धि हुई। आयात में भी करीब 22 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की गयी। साझा बाजार द्वारा गठित समिति (स्पोलमैन कमेटी) का अनुमान है कि 1980-81 तक तीन वर्षों में यदि व्यापार सम्वर्धन कार्यक्रम अपनाया जाय तो भारत का व्यापार दुगना हो सकता है।

अल्प विकसित देशों में क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग—एशियाई देशों का साझा बाजार

[REGIONAL ECONOMIC CO-OPERATION AMONG LESS DEVELOPED COUNTRIES—ASIAN COMMON MARKET]

परिचय

यूरोपीय साझा बाजार की प्रगति से एशिया के एवं अन्य महाद्वीपों के अल्प विकसित देशों को काफी प्रेरणा मिली है और वे भी इस दिशा में प्रयत्नशील हैं। इस प्रकार विकासशील देशों को अपने विदेशी व्यापार के विस्तार के लिए क्षेत्रीय आर्थिक एकीकरण अथवा सहयोग एक महत्वपूर्ण विचार है। क्षेत्रीय एकीकरण को इस विचार से भी बल मिला है कि अर्द्ध-विकसित देशों के व्यक्तिगत बाजार इतने सीमित है कि वे न तो औद्योगीकरण का विस्तार कर सकते है और न नयी तकनीकों का प्रयोग कर पाते है। यदि ये कम विकसित देश क्षेत्रीय बाजार और सगठन बनाने मे सफल हो जाते हैं तो इनके व्यापारिक और आर्थिक विकास के द्वार खुल जायेंगे।

क्षेत्रीय आर्थिक एकीकरण—परिभाषा एवं प्रकार

सामान्य तौर पर क्षेत्रीय आर्थिक एकीकरण का अर्थ होता है सीमा संघ अथवा स्वतन्त्र व्यापार क्षेत्र बनाकर अन्तर्क्षेत्रीय अर्थव्यवस्था का ऐसा वाछनीय ढाँचा तैयार करना जिससे सम्पूर्ण क्षेत्र मे व्यापार के कृत्रिम अवरोधो को समाप्त कर दिया जाता है और सदस्यों मे सहयोग स्थापित किया जाता है। अन्य शब्दो मे कहा जा सकता है कि आर्थिक एकीकरण मे राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओ मे विभिन्न प्रकार के भेदभावो को समाप्त कर दिया जाता है। आर्थिक एकीकरण मे न केवल व्यापार की बाधाओ को समाप्त कर दिया जाता है वरन् क्षेत्रो मे श्रम और पूँजी मे स्वतन्त्र गतिशीलता होती है।

क्षेत्रीय एकीकरण के कई रूप हो सकते हैं जिनमे एकीकरण की मात्रा मे अन्तर होता है जैसे स्वतन्त्र व्यापार क्षेत्र, सीमा संघ, साझा बाजार, आर्थिक संघ, प्राथमिकता पूर्ण व्यापार एवं पूर्ण आर्थिक एकीकरण।

स्वतन्त्र व्यापार क्षेत्र (Free Trade Area) मे सदस्य देशो के बीच व्यापार की बाधाओ को समाप्त कर दिया जाता है किन्तु बाहरी देशो के लिए प्रत्येक राष्ट्र किसी भी सीमा मे व्यापार अवरोधो का प्रयोग कर सकता है।

सीमा सघ (Customs Union) मे सदस्य राष्ट्रो मे व्यापार अवरोधो को तो समाप्त कर ही दिया जाता है किन्तु बाहरी देशों के लिए समान व्यापार अवरोधो को लगाया जाता है।

साझा बाजार (Common Market) एक उच्च श्रेणी का आर्थिक एकीकरण है जिसमे व्यापार अवरोधों के साथ ही साधनो की गतिशीलता की रुकावटो को भी समाप्त कर दिया जाता है।

आर्थिक संघ (Economic Union) में केवल व्यापारिक अवरोधों और साधनों की गतिशीलता की रुकावटों को समाप्त कर दिया जाता है वरन् राष्ट्रीय आर्थिक नीतियों में भी समानता स्थापित की जाती है।

प्राथमिकता पूर्ण व्यापार (Preferential Trading) के अन्तर्गत उन उपायों का सहारा लिया जाता है जिससे सदस्य देशों में व्यापार की वृद्धि होती है।

सम्पूर्ण आर्थिक एकीकरण (Complete Economic Integration) में सदस्य राष्ट्रों में मौद्रिक, राजस्व, सामाजिक एवं चक्र विरोधी नीतियों में भी समानता रहती है तथा एक सर्वोच्च राष्ट्रीय संस्था स्थापित की जाती है जिसके निर्णय सब सदस्य राष्ट्रों को मान्य होते हैं।

क्षेत्रीय एकीकरण के लाभ

यूरोपीय साझा बाजार की सफलता से यह स्पष्ट हो गया है कि क्षेत्रीय एकीकरण के बहुत लाभ होते हैं जो इस प्रकार हैं :

(1) **बाजार का विस्तार**—क्षेत्रीय एकीकरण से बाजार में विस्तार हो जाता है जिससे उत्पादन में वृद्धि और उससे बाह्य और आन्तरिक बचतें होती हैं।

(2) **विशिष्टीकरण में वृद्धि**—बाजार में विस्तार से विशिष्टीकरण सम्भव होता है और उससे औद्योगिक विकास होता है। विनियोग ऐसी दिशा में प्रवाहित होता है जिससे लागत में कमी होती है और व्यापार के लाभों में वृद्धि होती है।

(3) **साधनों का सर्वोत्तम आवंटन**—उपर्युक्त लाभों के फलस्वरूप साधनों का सर्वोत्तम आवंटन किया जा सकता है जिससे उत्पादन क्षमता में वृद्धि होती है।

(4) **उपभोक्ताओं को लाभ**—क्षेत्रीय एकीकरण से सदस्य राष्ट्रों में एकाधिकार समाप्त होता है तथा स्वस्थ प्रतियोगिता का विकास होता है। लागतों में कमी होने से उपभोक्ताओं को विविध वस्तुएँ सस्ती दर पर उपलब्ध होती हैं।

(5) **कल्याण में वृद्धि**—उत्पादन और उपभोग में वृद्धि होने से तथा वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने से आर्थिक विकास और कल्याण में वृद्धि होती है।

इस प्रकार अल्प विकसित राष्ट्रों के लिए क्षेत्रीय एकीकरण काफी हद तक उनके आर्थिक विकास में सहायक हो सकते हैं तथा वे अपने राष्ट्रीय बाजारों की तुलना में एक विस्तृत बाजार का लाभ उठा सकते हैं एवं व्यापार का विस्तार कर अपने व्यापार की संरचना और दिशा में वांछनीय परिवर्तन कर सकते हैं।

अल्प विकसित देशों में क्षेत्रीय एकीकरण—संक्षिप्त रूपरेखा

यूरोपीय आर्थिक समुदाय और यूरोपीय स्वतन्त्र व्यापार क्षेत्र के समान अल्प-विकसित देशों में भी क्षेत्रीय एकीकरण की शुरूआत हो चुकी है। इसका प्रारम्भ केन्द्रीय अमरीकन साझा बाजार (Central American Common Market) से हुई जिसमें पाँच सदस्य थे—कोस्टोरिका, एलसल्वाडोर, ग्वाटेमाला, होंडुरास और निकारगुवा। इन देशों ने 1962 में केन्द्रीय अमरीका की सामान्य सन्धि पर हस्ताक्षर किये जिसका उद्देश्य समान बाह्य प्रशुल्क के साथ एक सीमा संघ का निर्माण करना था। सदस्य देशों को आर्थिक सहायता के लिए एक बैंक की स्थापना भी की गयी थी।

इसके बाद लेटिन अमरीका स्वतन्त्र व्यापार क्षेत्र (LAFTA) का निर्माण हुआ जिसमें प्रारम्भ में सात सदस्य थे—अर्जेनटाइना, ब्राजील, चिली, पेराग्वे, पेरू, यूराग्वे, और मेक्सिको। बाद में इसमें कोलंबिया और इक्वाडोर भी शामिल हो गये। LAFTA का उद्देश्य आपस में सदस्य देशों के व्यापार में वृद्धि करना एवं औद्योगिक तथा कृषि क्षेत्रों में विकास करना था। माटीविडियो में एक साझा बाजार की सन्धि पर हस्ताक्षर करने के बावजूद भी LAFTA अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सका।

1960 मे कुछ अफ्रीका के देशो ने भी (केन्या, युगाण्डा एवं तनजानिया) सीमा सघ बनाने का असफल प्रयास किया। 1964 मे टर्की, ईरान और पाकिस्तान ने भी विकास के लिए क्षेत्रीय सहयोग (RDC) स्थापित करने का प्रयत्न किया पर उन्हें सफलता नही मिली।

एशियाई देशों में आर्थिक सहयोग

बहुत से अर्थशास्त्रियो ने यूरोपीय साझा बाजार के समान एशिया के अल्पविकसित देशो में भी एक साझा बाजार बनने की सम्भावना पर अनुकूल प्रतिक्रिया व्यक्त की है। प्रख्यात अर्थशास्त्री डॉ. डी. टी. लाकड़ावाला जो वर्तमान मे योजना आयोग के अध्यक्ष है, ने भी एशिया और सुदूर-पूर्व के लिए आर्थिक आयोग[1] (ECAFE) के तत्वावधान मे एशिया के अल्पविकसित देशो के व्यापार के विकास पर आशा प्रकट की है। एशिया के पिछड़े देशो के औद्योगिक विकास और द्रुत उन्नति के लिए उनमे क्षेत्रीय एकीकरण नितान्त आवश्यक है। इसमे न केवल उनके क्षेत्रीय बाजार का विस्तार होगा वरन् वे व्यापार के लिए पश्चिमी देशो पर अपनी निर्भरता को कम कर सकेंगे। अगले पृष्ठो मे हम एशियाई साझा बाजार की सम्भावनाओं पर विचार करेंगे।

एशियाई साझा बाजार
(ASIAN COMMON MARKET)

एशिया के अल्प-विकसित देशो को विकसित देशो के साथ व्यापार के क्षेत्र मे जिन कठिनाइयो का सामना कर पड रहा है, उन्हे देखते हुए यह प्रश्न अब जोर पकड़ता जा रहा है कि एशियाई देशो मे भी क्षेत्रीय एकीकरण होना चाहिए तथा यूरोपीय साझा बाजार के आधार पर एक साझा बाजार की स्थापना होना चाहिए। इस दिशा मे महत्वपूर्ण प्रयास भी किये गये हैं। एशिया के देशो ने अब यह अनुभव कर लिया है कि विघटित बने रहने से उनका काम नहीं चलेगा, यूरोपीय साझा बाजार से सबक लेकर ही वे अपने क्षेत्रो मे गरीबी, बेरोजगारी तथा निरक्षरता मिटाने के लिए अहिंसात्मक सघर्ष को सफलता के साथ चला सकते है।

एशियान की स्थापना—एक शुरुआत

1975 मे दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशो की सस्था "एशियान" (ASEAN) के पाँच सदस्य देशो—मलयेशिया, सिंगापुर, थाईदेश, इण्डोनेशिया और फिलिपिन्स ने परस्पर मैत्री और सहयोग की जो सन्धि की थी उसका यह उद्देश्य था कि व्यापार के क्षेत्र मे या अन्य किसी कठिनाई मे एक सदस्य देश दूसरे सदस्य देश की सहायता करेगा और चावल तथा तेल जैसी आवश्यक चीजो के मामले मे यदि किसी सदस्य देश को कमी पड़ेगी तो दूसरे सदस्य देश, अन्य सदस्य देशो की अपेक्षा उसे व्यापार मे प्राथमिकता देंगे। एशियान ने *1978* मे जनवरी से *71* सहमत वस्तुओ के आयात-निर्यात पर शुल्को मे 10 से 80 प्रतिशत तक की कटौती की है। यह तो स्पष्ट है कि एशियान उस सीमा तक आर्थिक एकता स्थापित नही कर सका है जितनी कि यूरोपीय आर्थिक देशो मे हुई है। वियतनाम एशियान से प्रसन्न नही है तो उसने इसमे शामिल होने से इकार कर दिया है। इतना ही नही, सिंगापुर ने मुक्त व्यापार की सहायता से जो समृद्धि की है, उस पर शेष चार देशो ने आशका भरी निगाहो से देखना शुरु कर दिया है क्योकि इस प्रकार के मुक्त व्यापार मे शेष चार सदस्यो के हितो की अवहेलना की गयी।

एशियाई साझा बाजार—उज्ज्वल सम्भावना

यह तो स्पष्ट है कि एशियाई साझा बाजार की स्थापना मे प्रारम्भ मे काफी कठिनाइयाँ होगी पर उनसे निराश होने की आवश्यकता नही है क्योकि यूरोपीय आर्थिक समुदाय को भी

1 अब ECAFE को "एशिया तथा प्रशान्त क्षेत्र का आर्थिक और सामाजिक आयोग" (ESCAP) कहते है।

अपनी स्थापना के समय बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था और आज भी उनमें आम सहमति हो पाने मे कुछ न कुछ कठिनाई होती है। यदि इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखा जाय तो निश्चय ही यह कहा जा सकता है कि एशिया में एक आर्थिक समुदाय का स्वप्न निकट भविष्य में साकार हो सकता है।

फरवरी 1978 मे अपनी भारत यात्रा के अवसर पर ईरान के शाह ने भी एशियाई साझा मण्डी की स्थापना का प्रस्ताव किया तथा उसका नाम "हिन्द महासागर आर्थिक समुदाय" प्रस्तावित किया। उन्होंने 1974 में भी एशियाई साझा मण्डी की चर्चा की थी तथा अपनी आस्ट्रेलिया यात्रा में भी इसका उल्लेख किया था। चाहे इसका नाम हिन्द महासागर आर्थिक समुदाय रखा जाय अथवा "एशियाई साझा बाजार" इतना आवश्यक है कि पहले इस छोटे पैमाने पर शुरू किया जाय।

आरम्भ मे इसमे केवल ईरान, भारत, अफगानिस्तान, पाकिस्तान, नेपाल और बंगला देश जैसे थोड़े से देश शामिल किये जा सकते हैं जिनमें भौगोलिक एकता का आधार, गुण है। इनमें सहयोग के लिए कुछ चुने हुए क्षेत्रों पर ध्यान केन्द्रित किया जा सकता है। जैसे ही साझा बाजार उपयोगी सिद्ध होने लगे, उसमे हिन्द महासागर के आस-पास के सभी देशों को यहाँ तक कि अफ्रीका व आस्ट्रेलिया के देशों को भी शामिल किया जा सकता है। इस साझा बाजार के क्षेत्र में व्यापारिक गतिविधियों को तेज करने के लिए इन देशों को जोड़ने का मार्ग बनाया जा सकता है। ईरान के शाह के अनुसार यह एशियाई राजमार्ग इस साझा बाजार के सभी देशों को लाभकारी सिद्ध होगा।

राष्ट्रों में सहयोग आवश्यक

एशियाई साझा बाजार के उपर्युक्त प्रस्तावित छः सदस्य राष्ट्रों में आर्थिक विकास असन्तुलित है। इनमे भारत आर्थिक दृष्टि से विकसित राष्ट्र और ईरान संसाधनों की दृष्टि से अधिकतम सम्पन्न राष्ट्र है। इस क्षेत्र के बाकी देशों के साथ भारत और ईरान का व्यापार क्रमशः अपने-अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की तुलना में 5 प्रतिशत से भी कम है। साझा बाजार के प्रति पाकिस्तान का रवैया इसलिए सन्देहपूर्ण है क्योंकि वह समझता है कि भारत इस साझा बाजार में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेगा। जहाँ तक बंगला देश, नेपाल और अन्य देशों का प्रश्न है, यह आशा की जा सकती है कि वे साझा बाजार के प्रस्ताव से सहमत हो जायेंगे। कोई रास्ता निकालकर पाकिस्तान के सन्देह को दूर किया जा सकता है।

यदि डेनमार्क और नीदरलैण्ड्स जैसे छोटे देश अपने से अधिक शक्तिशाली देशों जैसे फ्रांस व जर्मनी के साथ मिलकर यूरोपीय आर्थिक समुदाय के सदस्य हो सकते हैं तो फिर क्या कारण है कि पाकिस्तान एशियाई साझा बाजार में शामिल होकर लाभ नहीं उठा सकता। यह जरूरी है कि साझा बाजार की मोटी रूपरेखा तैयार की जाय जिसमें इस बात का स्पष्ट उल्लेख हो कि साझा बाजार के उद्देश्य क्या होंगे एवं इसकी क्या कार्यप्रणाली होगी।

आशाजनक भविष्य

एशियाई साझा बाजार का भविष्य उज्ज्वल नजर आता है। यह तो अवश्य है कि इसमें शामिल होने वाले देशों की समस्याएँ विभिन्न एवं व्यापक हैं किन्तु व्यापक मतभेद होते हुए भी इन देशों को मिल-जुल कर अपनी समस्याओं को हल करने के लिए प्रयत्न करने होंगे। चूंकि समस्याएँ विशाल हैं, इन्हें हल करने में कुछ समय लग सकता है। किन्तु साझा बाजार बनने तक ये देश मिल जुलकर कार्य कर सकते हैं जैसे भारत, नेपाल और बंगला देश गंगा और ब्रह्मपुत्र नदियों के जल का सामूहिक विदोहन कर लाभ उठा सकते हैं। व्यापार के क्षेत्र में भारत और ईरान के कुछ संयुक्त प्रयत्न आरम्भ किये हैं। इस प्रकार के प्रयत्नों से परस्पर सद्भाव को आगे बढ़ाने में सहायता मिलेगी और एशियाई साझा बाजार की स्थापना सरल हो सकेगी।

आलोचनात्मक दृष्टिकोण—कहाँ तक उचित

बहुत से आलोचकों ने एशियाई साझा बाजार के बनने पर सन्देह प्रकट किया है। उनका कहना है कि एशिया के देशों मे जो विभिन्नताएँ एवं असमानताएँ हैं, उन्हे देखते हुए न तो एशियाई साझा बाजार यूरोपीय आर्थिक समुदाय का रूप ले सकता है और न ही अपने उद्देश्यों मे सफल हो सकता है। आलोचकों ने अपने पक्ष मे निम्न तर्क दिये हैं :

(1) आर्थिक दृष्टि से एशिया के देशो मे कोई समानता एवं एकता नही है। उनमे प्रतियोगिता की भावना अधिक है जो उनके एक समुदाय या सीमा सघ बनाने के मार्ग मे बाधक है।

(2) राजनीतिक दृष्टि से एशिया के देशो का सरकारी ढाँचा भी काफी विभिन्न है अत. साझा बाजार के उस राजनीतिक आधार का अभाव है जो यूरोपीय आर्थिक समुदाय को उपलब्ध था।

(3) आलोचकों का विचार है कि एशियाई साझा बाजार से सदस्य राष्ट्रों को कोई लाभ नही होगा। क्योकि अपने औद्योगिक विकास के लिए इन्हे निर्यातो की तुलना मे आयात अधिक करने होगे जबकि पश्चिमी देशो के साथ इनकी व्यापार शर्तें प्रतिकूल रहती हैं अत. इनका भुगतान शेष और प्रतिकूल होगा। एशिया के देशो की पश्चिम देशो के साथ व्यापार पर अधिक निर्भरता है। इस क्षेत्र के कुल निर्यातों मे तीन-चौथाई प्राथमिक उत्पादन का होता है तथा कुल आयातो मे आधा आयात पूँजीगत वस्तुओ का होता है। एशियाई देशो के कुल व्यापार का एक-तिहाई ही अन्तर्क्षेत्रीय होता है। ऐसी स्थिति में सीमा-सघ बनाने के फलस्वरूप व्यापार सृजन और व्यापार दिशा परिवर्तन पर कोई अनुकूल प्रभाव नही होगा।

(4) एशियाई देशो के सामने कुछ ऐसी बाधाएँ है जो साझा बाजार बनने के मार्ग में रुकावटें सिद्ध होगी जैसे—आर्थिक विकास का निम्न स्तर, औद्योगीकरण का अभाव, परिवहन और सचार की कठिनाइयाँ, व्यापार प्राथमिकता की नीतियाँ एवं राजनीतिक मतभेद इत्यादि।

(5) एशिया के विभिन्न देश विभिन्न आर्थिक अवस्थाओ से गुजर रहे है तथा उनकी आर्थिक समस्याएँ भी अलग-अलग हैं अत. यह समस्या आयगी कि किन देशो में किन उद्योगो को सरक्षण दिया जाय ? ऐसी स्थिति मे समान प्रशुल्क की नीति अपनाकर सीमा सघ का निर्माण कठिन होगा।

आलोचकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उपर्युक्त कठिनाइयो को देखते हुए एशिया मे आर्थिक एकीकरण की जरा भी सम्भावना नही है अत: इन देशो को साझा बाजार बनाने का विचार छोड़ देना चाहिए।

निष्कर्ष—एशियन साझा बाजार का प्रस्ताव जटिल अवश्य है पर असम्भव नही है। आज जिन समस्याओ को देखकर कुछ लोग एशियाई साझा बाजार के विचार से कतराते हैं, उन्ही समस्याओं के सामूहिक हल के लिए साझा बाजार बनाना जरूरी है। नि.सन्देह साझा बाजार के मार्ग मे कठिनाइयाँ हैं किन्तु उनका हल भी खोजा जा सकता है। भले ही हम प्रारम्भ मे अपने प्रयत्नो मे सफल न हो किन्तु इससे प्रयत्नो को रोका नही जाना चाहिए। जब तक पूर्ण रूप से विकसित साझा बाजार नही बन जाता तब तक एशिया के देशो मे कुछ न कुछ रूप मे क्षेत्रीय आर्थिक सहयोग प्रारम्भ किया जा सकता है। यह भी आवश्यक है कि एशिया के सभी देशो के बीच पारस्परिक सहयोग का वातावरण निर्मित किया जाय। एशियाई साझा बाजार का निर्माण इस बात पर निर्भर करेगा कि एशिया के देश अपनी समस्याओ के प्रति कहाँ तक जागरूक हैं।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. क्षेत्रीय आर्थिक एकीकरण से आप क्या समझते है ? अल्प-विकसित देशो मे ऐसे एकीकरण की आवश्यकता एव उपयोगिता पर अपने विचार प्रकट कीजिए ?
2. "एशियाई साझा बाजार" की सम्भावना पर अपने विचार स्पष्ट कीजिए ?

परिशिष्ट

एशिया तथा प्रशान्त सागर क्षेत्र के देशों का व्यापार सम्मेलन
[TRADE CONFERENCE OF ASIAN AND PACIFIC NATIONS]

परिचय

दिल्ली मे 21 अगस्त, 1978 मे एशिया तथा प्रशान्त सागर क्षेत्र के देशो का एक विशेष सम्मेलन तीन दिन के लिए आयोजित किया जिसमे इस क्षेत्र के व्यापार मन्त्रियों ने भाग लिया। 28 देशो के प्रतिनिधि मण्डलो ने इस सम्मेलन मे आपसी व्यापार और सहयोग बढाने पर विचार किया। सम्मेलन का उद्‌घाटन भारत के प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने 21 अगस्त, 1978 को किया तथा सम्मेलन की अध्यक्षता भारत के वाणिज्यमन्त्री श्री मोहन धारिया ने की। इस सम्मेलन का आयोजन एशिया तथा प्रशान्त क्षेत्र के आर्थिक और सामाजिक आयोग (Economic & Social Commission of Asia and the Pacific : ESCAP) ने किया।

उद्देश्य (Objective)

इस सम्मेलन का उद्देश्य एशिया तथा प्रशान्त क्षेत्र के देशो मे अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार एवं औद्योगिक विकास की दिशा मे सहयोग बढाना था। विकास की लगभग समान स्थिति, समान समस्याओ तथा आयात और निर्यात की रचना मे इन देशो मे काफी समानताएँ हैं। विश्व की आधी से अधिक आबादी इस क्षेत्र मे निवास करती है। सामाजिक, सास्कृतिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक समानताएँ होते हुए भी उनमे अनेक भिन्नताएं हैं तथा उनके आर्थिक विकास के स्तर मे भी अन्तर है। इसके कारण इस क्षेत्र के देशो मे साझा मण्डी अथवा उसके विकल्प के रूप मे कोई ऐसी व्यवस्था नही बन पायी है जिससे इन देशों मे सहयोग स्थापित हो सके। अतः सम्मेलन का उद्देश्य ऐसी व्यवस्था की खोज करना है।

सम्मेलन का यह भी उद्देश्य था कि आर्थिक व सामाजिक आयोग के वर्तमान संगठनो जैसे व्यापार सलाह, बाजार अनुसन्धान, सूचना सेवा आदि को सबल बनाया जाय।

मन्त्रियो के विचारार्थ रूपरेखा मे मुक्त व्यापार क्षेत्रों तथा निर्यात माल उत्पादन क्षेत्रो की स्थापना का भी सुझाव दिया गया।

क्षेत्र के विभिन्न देशो की वस्तुओ के व्यापार तथा कीमतो मे स्थिरता लाने, उत्पादकता मे वृद्धि और बाजार प्रणाली मे सुधार लाने के लिए सयुक्त कार्यवाही करना।

व्यापार मे उदार नीति लागू करने का कार्यक्रम तैयार करना।

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा निर्धारित एक अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना में सहयोग देना जिसके प्रमुख लक्ष्य है : अधिक समान आय वितरण, सामाजिक न्याय की वृद्धि, उत्पादन कुशलता में वृद्धि, रोजगार में वृद्धि, चहुँमुखी जीवन-स्तर का विकास आदि।

सम्मेलन का उद्घाटन

व्यापार सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए भारत के प्रधानमन्त्री श्री देसाई ने इस क्षेत्र के देशों से अनुरोध किया कि वे आपसी सहयोग और सद्भाव का वातावरण तैयार करें और विश्व में नयी अर्थव्यवस्था की स्थापना करने के लिए संघर्ष का नहीं, बातचीत और सहयोग का रास्ता अपनायें। विकासशील देश जब विकसित देशों से यह अपेक्षा करते हैं कि वे विकासशील देशों को तटकर में प्राथमिकता या तरजीह दें तब उन्हें आपस में मिलकर पहले यह तय करना होगा कि वे स्वयं इस क्षेत्र में इस प्रकार की नयी व्यापारिक और आर्थिक व्यवस्था स्थापित करने को कहाँ तक तैयार हैं। श्री देसाई ने कहा कि वर्तमान में कुछ विकसित देशों ने जो संरक्षण सम्बन्धी कदम उठाये हैं उससे विकासशील देशों के निर्यात पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। यहाँ तक कि ये कदम विकसित देशों के दीर्घकालीन हितों के अनुरूप भी नहीं हैं। उन्होंने आह्वान किया कि एशिया तथा प्रशान्त क्षेत्र के देशों को व्यापार और सामूहिक आत्म-निर्भरता बढ़ाकर नयी आर्थिक व्यवस्था के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहिए।

एस्केप (ESCAP) के कार्यकारी सचिव श्री जे. बी. पी. मारामिस (J. B. P. Maramis) ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि एशिया तथा प्रशान्त क्षेत्र के देशों में व्यापार सहयोग की नितान्त आवश्यकता है। उन्होंने बताया कि सहयोग के विस्तृत क्षेत्र हैं जैसे व्यापार-सूचना, सामूहिक उद्योग, दीर्घकालीन समझौते, तटकर प्राथमिकता, विकसित नौपरिवहन और यातायात सुविधाएँ इत्यादि।

एशिया तथा प्रशान्त क्षेत्र की विभिन्न समस्याएँ

"एस्केप" सम्मेलन ऐसे अवसर पर आयोजित हुआ जबकि एशिया तथा प्रशान्त क्षेत्र के देशों में तथा सम्पूर्ण विश्व की अर्थव्यवस्था में तनावपूर्ण वातावरण मौजूद है अधिकांश देशों में मन्दी, बेरोजगारी, मुद्रा-प्रसार, भुगतान-शेष में असन्तुलन आदि समस्याएँ हैं। इन देशों में व्यापार के क्षेत्र में काफी व्यवधान है अत: इन देशों में स्वतन्त्र व्यापार होता है तो अधिक द्रुतगति से विकास हो सकता है। बढ़ती हुई संरक्षण की नीतियों को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि इन देशों में आपस में सहयोग हो।

एशियाई आर्थिक सहयोग पर विचार करने के लिए दिसम्बर 1970 में काबुल में मन्त्रियों का सम्मेलन हुआ जिसमें आर्थिक सहयोग और विकास पर एक घोषणा की गयी। उसके आधार पर विभिन्न देशों के बीच हुई वार्ता के अनुसार 31 जुलाई, 1975 को एक समझौते पर हस्ताक्षर किये गये जिसे बैंकाक समझौता कहते हैं। इसी बीच विकास के लिए क्षेत्रीय सहयोग (Regional Cooperation for Development RCD) तथा दक्षिण-पूर्व एशिया राष्ट्र संघ (एशियान ASEAN) ने व्यापार में सहयोग का उदाहरण प्रस्तुत किया है। ईरान, पाकिस्तान तथा तुर्की ने दस वर्षों के अन्दर एक मुक्त व्यापार क्षेत्र का निर्णय किया है। एशिया देशों के साझा बाजार पर भी विचार-विमर्श हो रहा है।

दूसरी ओर विकसित देशों में संरक्षणवाद बढ़ा है जिससे उदार व्यापार की नीति को धक्का लगा है तथा विकासशील देशों के निर्यात प्रतिकूल रूप से प्रभावित हुए हैं। अत: विकासशील देशों ने एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के निर्माण में तेजी से कदम उठाने की माँग की है।

राजनीतिक संकल्प का अभाव

एशिया और प्रशान्त क्षेत्र के देशो मे साधन, तकनीक और सेवाओं का अभाव नहीं है। अब वे इस स्थिति मे आ गये है कि एक-दूसरे के पूरक बन सकते हैं। समस्याओं की समानता और विकास की सम्भाव्य प्रक्रिया भी प्रायः समान होने के कारण इस क्षेत्र के देशों का आपसी सहयोग न केवल इसके विकास की गति तेज कर सकता है बल्कि विकास के कई ऐसे नये क्षेत्र भी खोज सकता है जो उन्नत देशो का मुँह ताकते रहने और उनकी अंगुली थामकर चलने के कारण विकसित नहीं हो पा रहे हैं। इसे दृष्टि मे रखते हुए विकासशील देशो मे द्विपक्षीय तथा बहु-पक्षीय सहयोग बढाने पर बल दिया जा रहा है। एशिया में उपक्षेत्रीय संगठन तो बने है किन्तु अन्तर्क्षेत्रीय सहयोग बढाने की दिशा मे कदम उठाने के लिए राजनीतिक संकल्प की कमी इन देशों मे रही है जिसे दूर करना जरूरी है।

विकासशील देशो के उत्पादन ढांचे मे काफी परिवर्तन हुआ है। आर्थिक विकास बढने से उनकी खपत की क्षमता बढी है, उनके बाजार तथा आय मे वृद्धि हो रही है अत उनमे आपसी सहयोग व्यावहारिक बन गया है जिसके लिए उन्हें अपनी नीतियो, उत्पादन के ढांचे तथा तटकर नीति मे परिवर्तन करने होगे। इन देशो मे तैयार माल के निर्यात की भी अच्छी सम्भावनाएँ हैं।

सहयोग का क्षेत्र

इन देशो मे आपसी सहयोग के दरवाजे खुल चुके हैं। भारत और मलेशिया ने संयुक्त उद्योग स्थापित करके एक ताजा उदाहरण प्रस्तुत किया है। तटकर मे प्राथमिकता देने के समझौते की भी कुछ देश सम्पुष्टि कर चुके है। इस क्षेत्र के देश द्विराष्ट्रीय या बहुराष्ट्रीय संयुक्त प्रयास से समूचे क्षेत्र के विकास की सम्भावनाएं खोल सकते है। अन्तर्राष्ट्रीय मण्डियो मे कच्चे माल के भावो मे होने वाली उथल-पुथल, विकसित देशो के साथ होड़ कर पाने मे अपनी असमर्थता, विकसित देशो मे पुरानी पड़ती जा रही तकनीक को अपनाने की मजबूरी आदि कई समस्याओ को ऐसे सहयोग से हल किया जा सकता है।

सम्मेलन की प्रगति

सम्मेलन के प्रथम दिन, सम्मेलन के अधिकारियो ने चार दिन के विचार-विमर्श से तैयार की गयी अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार के सम्बन्ध मे अपनी योजना मन्त्री-स्तरीय बैठक मे प्रस्तुत की। प्रथम दिन, नेपाल, बगला देश, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, मलेशिया और बर्मा के प्रतिनिधियो ने अपने विचार व्यक्त किये। कम्युनिस्ट देशो के आर्थिक संगठन "कोमीकोन" के प्रतिनिधियो ने भी अपने विचार व्यक्त किये। मलेशिया के प्रतिनिधि ने स्पष्ट किया कि "एशियान" के देश अपना व्यापार गैर-एशियान देशो के साथ बढाना चाहते है तथा उनके क्षेत्रीय संगठन का यह अभिप्राय नही है कि एशिया के शेष देशो से अलग होकर रहना चाहते है। एस्केप के कार्यकारी सचिव श्री मारामिस ने आशा व्यक्त की कि सम्मेलन मे जो निर्णय लिये जायेंगे, उनका इन देशो के व्यापार के विस्तार और आकांक्षाओ को साकार करने पर अनुकूल प्रभाव पड़ेगा।

सम्मेलन के दूसरे दिन (22 अगस्त, 1978) एशिया तथा प्रशान्त क्षेत्र के देशो के मन्त्री-स्तर सम्मेलन मे आपसी व्यापार और सहयोग की योजना को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया गया। दूसरे दिन की कार्यवाही मे उन्नीस देशो के प्रतिनिधियो ने अपने विचार व्यक्त किये और एशिया तथा प्रशान्त क्षेत्र के देशो मे आपसी व्यापार और सहयोग की योजना का आमतौर पर स्वागत किया। चीन के प्रतिनिधि ने कहा कि नियन्त्रण और शोषण पर आधारित पुरानी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को बदलना कठिन काम है तथा इसके लिए तृतीय विश्व के देशो को अपनी एकता मजबूत करनी होगी।

समापन एवं निष्कर्ष

सम्मेलन तीसरे दिन के विचार-विमर्श के बाद समाप्त हो गया। सम्मेलन के अध्यक्ष श्री मोहन धारिया ने आशा व्यक्त की कि सम्मेलन में 29 देशों के प्रतिनिधि मण्डलों ने एशिया एवं प्रशान्त क्षेत्र के देशों में आपसी व्यापार और सहयोग को बढ़ाने के जिस कार्यक्रम को स्वीकार किया है, उसके सुखद परिणाम होंगे। उन्होंने कहा कि सम्मेलन में अत्यधिक सद्भाव के वातावरण में विचार-विमर्श हुआ और विकासशील तथा विकसित राष्ट्रों ने सम्मेलन को सफल बनाने में योगदान दिया। उन्होंने आगे बताया कि विकसित देशों ने इस सम्मेलन में आश्वासन दिया है कि विकासशील देशों से अधिक आयात की सुविधा के लिए रियायतें बढ़ाने पर विचार करेंगे। बोन में आयोजित शिखर सम्मेलन (Bonn Summit) में विकसित राष्ट्रों ने भी विकासशील देशों को सहायता का वचन दिया है।

एस्कैप के कार्यकारी सचिव ने आश्वासन दिया कि सम्मेलन के निर्णयों को जल्दी से लागू किया जायगा और प्रस्तावित व्यापार विकास दल (Trade Development Group) की पहली बैठक दो माह के अन्दर होने की आशा है।

सम्मेलन में प्रतिनिधियों ने यह अनुभव किया कि यह पहला एस्कैप सम्मेलन था जो अत्यधिक सहयोग के वातावरण में सम्पन्न हुआ है और जिसके ठोस परिणाम सामने आये हैं। यह आशा व्यक्त की गयी कि व्यापार विस्तार के कार्यक्रम को लागू करने के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हल करने में सहयोग की भावना से सफलता मिलेगी।

अन्त में कहा जा सकता है कि सम्मेलन में लिये गये निर्णयों को दृढ़ता से कार्यान्वित करने की आवश्यकता है। यदि ऐसा नहीं हुआ तो बैंकाक समझौते की तरह नयी-दिल्ली सम्मेलन के निर्णय भी हवा में झूलते रहेंगे और उनके साथ विकासशील देशों की समस्याएँ ज्यों की त्यों लटकती रहेंगी।

अध्याय **43**

प्रो. केन्स और अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

[PROF. KEYNES AND INTERNATIONAL ECONOMICS]

परिचय

प्रो. केन्स (1883-1946) का अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। यद्यपि केन्स ने अलग से अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र की कोई पुस्तक नहीं लिखी किन्तु उनकी पुस्तक "जनरल थ्योरी" का तेईसवाँ अध्याय अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों के प्रति समर्पित है। इसके अतिरिक्त पत्र-पत्रिकाओं में भी उन्होंने इस विषय पर विस्तार से लिखा है। जिस समय केन्स अपनी पुस्तक "जनरल थ्योरी" की रचना कर रहे थे, उस समय अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक और व्यापारिक सम्बन्धों में काफी परिवर्तन हो रहे थे इसलिए यह स्वाभाविक था कि इन विषयों से वे अछूते नहीं रहे। केन्स के अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक विचारों का विश्व की सम्बन्धित समस्याओं पर काफी प्रभाव पड़ा क्योंकि केन्स का अर्थशास्त्र व्यावहारिक था। इस प्रकार केन्स के सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र से घनिष्ट सम्बन्ध है। उनके इन विचारों का अध्ययन हम निम्न शीर्षकों में कर सकते हैं :

(1) अनुकूल व्यापार-शेष—एक विनियोग के रूप में (The Favourable Balance of Trade as Investment)—एडम स्मिथ एवं अन्य सभी अर्थशास्त्रियों ने वाणिज्यवादी नीतियों की कटु आलोचना की थी। यद्यपि केन्स वाणिज्यवादी विचारक नहीं थे फिर भी उन्होंने वाणिज्य-वादी नीतियों की सार्थकता को उजागर किया है।

वाणिज्यवादी अर्थशास्त्री "अनुकूल व्यापार-शेष" के पक्ष में थे जिसके अनुसार वस्तुओं और सेवाओं के आयात की तुलना में इनका निर्यात अधिक होना चाहिए। इस विधि से ये अर्थशास्त्री स्वर्ण, चाँदी एवं बहुमूल्य धातुओं का संचय करना चाहते थे क्योंकि यह धन का सर्वाधिक ग्राह्य रूप माना जाता था। वाणिज्यवादियों का विश्वास था कि अनुकूल व्यापार शेष से ही इन धातुओं का संचय सम्भव था। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने वाणिज्यवादियों के इस विचार को मूर्खतापूर्ण बताया। इनका तर्क था कि देश में बहुमूल्य धातुओं के संचय से कीमतों में वृद्धि होती है (मुद्रा परिमाण सिद्धान्त के अनुसार) और निर्यात सीमित हो जाते हैं क्योंकि विदेशियों को वस्तुएँ महँगी हो जाती हैं। इसका परिणाम यह होगा कि देश के उपभोक्ता भी विदेशों से सस्ता माल खरीदेंगे जिससे आयात बढ़ेंगे और स्वर्ण देश के बाहर जायगा।

पर केन्स ने अनुकूल व्यापार शेष की महत्ता को प्रतिपादित किया है। उनका कहना है कि देश में रोजगार को बनाये रखने के लिए अनुकूल व्यापार सन्तुलन वाञ्छनीय है क्योंकि यह एक प्रकार का विनियोग है। केन्स की "जनरल थ्योरी" में स्पष्ट किया गया है कि रोजगार को विनियोग की उच्च दर से ही बनाये रखा जा सकता है। यह विनियोग या तो घरेलू हो सकता है अथवा विदेशी। विदेशी विनियोग की चालू दर का निर्धारण, आयातों की तुलना में निर्यातों के

अतिरेक से होता है। अनुकूल व्यापार शेष में वृद्धि से चाहे वह निर्यातों में वृद्धि से हो अथवा आयातों में कमी से, रोजगार में उसी प्रकार वृद्धि होती है जिस प्रकार घरेलू विनियोग में होती है। केन्स ने बताया कि अनुकूल व्यापार शेष गुणक के समान कार्य करता है जिसे विदेशी व्यापार गुणक (Foreign Trade Multiplier) कहते हैं।

रोजगार में वृद्धि उसी समय सम्भव है जब विनियोग में वृद्धि हो। यदि देश में बेरोजगारी है तो अनुकूल व्यापार शेष में वृद्धि राष्ट्र के लिए विनियोग के समान है जो घरेलू विनियोग की तरह आय में केवल उतनी ही वृद्धि नहीं करेगा जितना कि विनियोग किया गया है किन्तु उससे अधिक वृद्धि होगी जो गुणक के आकार पर निर्भर होगी। केन्स के अनुसार पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के सफल सचालन के लिए विनियोग की उच्च दर आवश्यक है। वाणिज्यवादी जो प्रारम्भिक पूंजीवादी युग में लिख रहे थे, अपने इस दृष्टिकोण में सही थे कि अनुकूल व्यापार में वृद्धि वांछनीय है।

घरेलू रोजगार में वृद्धि करने हेतु अनुकूल व्यापार शेष की दूसरी भूमिका भी महत्वपूर्ण है। अनुकूल व्यापार शेष के फलस्वरूप देश में बहुमूल्य धातुओं की वृद्धि होती है जिससे मुद्रा के परिमाण में वृद्धि होती है। इससे ब्याज की दर में कमी होती है और घरेलू विनियोग को प्रोत्साहन मिलता है। यह प्रभाव उस समय अधिक महत्वपूर्ण था जब देश धातुमान पर आधारित थे। वाणिज्यवादी पूंजीवाद के युग में देशों में जो बेरोजगारी थी तथा जिसे समाप्त करने के लिए सक्रिय कदम नहीं उठाये गये थे, वाणिज्यवादियों का अनुकूल व्यापार शेष का विचार काफी महत्वपूर्ण था।

इस प्रकार केन्स का मत है कि वाणिज्यवादियों का अनुकूल व्यापार शेष का विचार उनकी गहरी अन्तर्दृष्टि पर आधारित था। उस युग में अनुकूल व्यापार शेष के लिए वाणिज्यवादियों ने व्यापार म प्रतिबन्धों का सहारा लिया जो उस समय उचित हो सकते थे। किन्तु प्रो केन्स का कहना है कि अधिक अनुकूल व्यापार शेष के लिए आयात-निर्यात नियन्त्रण सर्वोत्तम साधन नहीं है उसके अनुसार 19वीं सदी मे इंगलैण्ड के लिए पूर्ण स्वतन्त्र व्यापार की नीति अनुकूल व्यापार शेष के लिए सर्वोत्तम नीति थी। संरक्षण से कुछ राष्ट्रों को लाभ मिल सकता है किन्तु स्वतन्त्र व्यापार की तुलना में सम्पूर्ण विश्व को इससे कम लाभ होगा।

(2) **स्वतन्त्र व्यापार और संरक्षण (Free Trade and Protection)**—प्रो. केन्स के अनुसार रोजगार प्रभावपूर्ण मांग पर निर्भर रहता है और यदि देश में प्रभावपूर्ण मांग कम है तो एक देश संरक्षणात्मक प्रशुल्क का प्रयोग कर रोजगार में वृद्धि कर सकता है और इस प्रकार विदेशी श्रम की तिलांजलि देकर घरेलू श्रम की मांग में वृद्धि कर सकता है। केवल पूर्ण रोजगार की मान्यता को स्वीकार करने पर ही एक देश के लिए स्वतन्त्र व्यापार का तर्क उचित हो सकता है अर्थात् यदि उसे अपनी घरेलू लागत की तुलना में कोई चीज विदेशों में सस्ती मिलती है तो उसे विदेशों में ही उसे क्रय करना चाहिए। एक देश की उत्पादकता उसी समय अधिक हो सकती है जब वह तुलनात्मक लागत के अनुसार उत्पादन करे। यह तर्क पूर्ण रोजगार की मान्यता पर आधारित है।

जहाँ तक प्रो केन्स के विचारों का प्रश्न है स्वतन्त्र व्यापार एवं संरक्षण के सम्बन्ध में उनके विचारों में परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होता रहा है। प्रारम्भ में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की परम्परा के अनुसार केन्स पूर्णरूप से स्वतन्त्र व्यापार के समर्थक थे किन्तु विश्व मन्दी के काल में केन्स संरक्षणवादी हो गये तथा रोजगार के स्तर में वृद्धि करने के लिए इन्होंने अनुकूल व्यापार सन्तुलन का समर्थन किया। किन्तु अपने जीवन के अन्तिम चरण में केन्स पुन. स्वतन्त्र व्यापार में विश्वास करने लगे तथा विभिन्न देशों के बीच आर्थिक और मौद्रिक सहयोग बढ़ाने के

लिए उन्होंने प्रशुल्कों को समाप्त करने का समर्थन किया। वास्तव में केन्स ने ब्रिटेन की परिवर्तनशील दशाओं को सामने रखकर अपने विचारों में परिवर्तन किया। प्रो. हिक्स के अनुसार, "इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि केन्स के मस्तिष्क में सदैव एक ही मरीज था – इंग्लैण्ड।" प्रारम्भ में संरक्षण की आलोचना करते हुए प्रो. केन्स ने कहा कि "यदि कोई ऐसी चीज है जो संरक्षण के द्वारा नहीं की जा सकती तो वह है बेरोजगारी को हल करना।" प्रो. केन्स ने यह स्वीकार किया कि संरक्षित उद्योगों में कुछ मात्रा में रोजगार में वृद्धि की जा सकती है किन्तु उतनी ही मात्रा में निर्यात उद्योगों में रोजगार की कमी से, संरक्षित उद्योगों में रोजगार की वृद्धि निष्फल हो जाती है।

किन्तु 1930 के आस-पास प्रो. केन्स संरक्षण का समर्थन करने लगे। इसके पीछे केन्स की यह मान्यता थी कि सदैव पूर्ण रोजगार न रहने की स्थिति रहती है अर्थात् केन्स ने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की पूर्ण रोजगार की मान्यता को चुनौती दी। उन्होंने इस बात का समर्थन किया कि संरक्षण से रोजगार में वृद्धि की जा सकती है। केन्स के अनुसार एक उद्योग के लिए संरक्षण उसी समय आवश्यक है जब वह बैंक ही विदेशी उद्योग की तुलना में कम कुशल हो। यदि देश में अधिक मात्रा में बेरोजगारी हो तो संरक्षण से वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि की जा सकती है। केन्स के अनुसार स्वतन्त्र व्यापार की तुलना में संरक्षण के अन्तर्गत राष्ट्रीय आय अधिक हो सकती है क्योंकि संरक्षण से प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि होने से रोजगार में वृद्धि होती है। प्रो. डडले डिलार्ड के अनुसार, "उन सभी मामलों में जहाँ केन्स ने प्रतिष्ठित सिद्धान्त को चुनौती दी है, मुद्दे का मुख्य विषय प्रो. केन्स की पूर्ण रोजगार में कम की मान्यता है।"[1]

जब विश्व के अधिकांश देशों में बेरोजगारी व्याप्त है तो प्रशुल्कों के विपक्ष में सबसे सशक्त तर्क यह है कि अत्यधिक राष्ट्रवादी है। यदि संरक्षणात्मक प्रशुल्कों से एक देश में रोजगार बढ़ता है तो अन्य देश में रोजगार में कमी होती है। जहाँ तक एक देश का प्रश्न है उसके लिए अनुकूल व्यापार शेष विनियोग के समान है किन्तु समग्र विश्व की दृष्टि से रखते हुए यह वास्तविक विनियोग नहीं है।

(3) विदेशी विनिमय स्थिरीकरण (Foreign Exchange Stabilisation)—प्रो केन्स ने उस अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की आलोचना की जिसका समर्थन प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने किया था। उन्होंने 1913 में प्रकाशित अपनी पुस्तक *Indian Currency and Finance* में स्वर्ण विनिमय मान की तुलना में पारस्परिक स्वर्णमान को दोषपूर्ण बताया। बाद में 1923 में प्रकाशित *"Tract on Monetary Reform"* में केन्स ने प्रबन्धित मान का समर्थन किया क्योंकि उनका विश्वास था कि इससे कीमतों में अधिक स्थिरता लायी जा सकती है। केन्स ने उपर्युक्त पुस्तक में जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था वह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना में फलीभूत हुआ।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की आलोचना

प्रो. केन्स ने अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की आलोचना करते हुए स्पष्ट किया कि प्रथम विश्व युद्ध के बाद इस मान ने उन देशों में मुद्रा संकुचन और बेरोजगारी फैलाई है जिनके निर्यातों की तुलना में आयात अधिक होते थे। स्वर्णमान के लिए यह आवश्यक था कि एक देश को अपनी घरेलू मुद्रा में निश्चित कीमत पर स्वर्ण के क्रय-विक्रय के लिए तैयार रहना चाहिए। यदि कोई देश निर्यात की तुलना में अधिक वस्तुओं का आयात करता है तो स्वर्ण देश के बाहर जाता है और उसके फलस्वरूप प्रतिकूल व्यापार शेष ठीक हो जाता है। स्वर्णमान का सिद्धान्त यह है कि जिस देश से स्वर्ण बाहर जाता है वहाँ कीमतें कम हो जाती हैं और जिस देश में स्वर्ण जाता है, वहाँ कीमतें बढ़ जाती हैं अतः स्वर्ण निर्यात करने वाला देश क्रय करने के लिए अच्छा बाजार बन

1 Dudley Dillard, *The Economics of J. M. Keynes*, 1960, p 284.

जाता है तथा स्वर्ण आयात करने वाले देश के निर्यात कम हो जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप स्वर्ण निर्यात करने वाले देश में अब स्वर्ण वापस आने लगता है तथा स्वर्ण आयात करने वाले देश से स्वर्ण बाहर जाने लगता है।

1920 में अमरीका में स्वर्ण का आयात हो रहा था तथा ब्रिटेन से स्वर्ण बाहर जा रहा था। किन्तु अमरीका में कीमतें नहीं बढ़ीं क्योंकि मौद्रिक अधिकारियों ने स्वर्ण को साख विस्तार से असम्बन्धित रखा। ब्रिटेन में भी कीमतें कम नहीं हुईं क्योंकि वहाँ मजदूरी और कीमतों का ढाँचा लोचहीन रहा और स्वर्ण भण्डारों और घरेलू कीमतों में सम्बन्ध नहीं रह पाया। इस प्रकार दोनों देशों में स्वर्ण की स्वयंचालकता समाप्त हो गयी। ब्रिटेन में गिरते हुए स्वर्ण कोषों को बचाने के लिए बैंक दर में वृद्धि की गयी ताकि विदेशी कोषों को आकर्षित किया जा सके। इससे इंगलैण्ड में घरेलू ब्याज की दर में वृद्धि हो गयी जिसका विनियोग, रोजगार और आय पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। इस प्रकार घाटे वाले देश में मुद्रा संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। लागतों में कमी करना होती है जिसका मजदूर संघों द्वारा विरोध किया जाता है और हड़तालें होती हैं तथा उत्पादन अवरुद्ध होता है। इन कष्टप्रद समायोजनों के बाद स्वर्णमान को जीवित रखा जा सकता है पर इसे जीवित रखने के लिए यह बहुत मँहगी कीमत है।

इससे केन्स ने यह निष्कर्ष निकाला कि स्वर्णमान से होने वाली बेरोजगारी और मुद्रा संकुचन ऐसी हानियाँ थीं जिनसे स्वर्णमान के सारे लाभ बेकार हो जाते थे।

बिना स्वर्णमान के विनिमय स्थिरता—केन्स का प्रस्ताव

स्वर्णमान का यह लाभ अवश्य था कि स्वर्णमान वाले देशों में विनिमय दरों में स्थिरता बनी रहती थी क्योंकि इसमें स्वर्ण बिन्दुओं की सीमा तक ही उच्चावचन होता था। इससे, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रोत्साहन मिलता था क्योंकि आयातक जानता था कि उसे कितना भुगतान करना है तथा निर्यातक जानता था कि उसे कितना भुगतान प्राप्त होगा। यदि विनिमय दरों में अस्थिरता रहती है तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में जोखिम बढ़ जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के टूटने के बाद सबसे प्रमुख समस्या यह थी कि विनिमय दरों में स्थिरता कैसे कायम रखी जाय। प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध की अवधि के बीच जब स्वर्णमान अन्तिम साँसें ले रहा था तो देशों में कई प्रकार के नियन्त्रणों का प्रयोग किया गया जैसे अवरुद्ध खाता, अभ्यंश प्रणाली, विनिमय नियन्त्रण, वस्तु विनिमय समझौते इत्यादि। इस प्रकार के नियन्त्रण नियमित एवं व्यवस्थित विश्व अर्थव्यवस्था में बाधक थे तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन के लाभों से भी देशों को वंचित रहना पड़ता था।

अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन संघ की स्थापना (Proposal for an International Clearing Union)

विश्व अर्थव्यवस्था को व्यवस्थित रखने, उसे अहितकारी नियन्त्रणों से बचाने एवं विनिमय दरों में स्थिरता बनाये रखने के लिए प्रो. केन्स ने 1943 में एक अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन संघ की स्थापना का प्रस्ताव रखा जिसका मुख्य उद्देश्य इस प्रकार था—"इसका उद्देश्य एक वाक्य में इस प्रकार है—ऐसी व्यवस्था करना कि एक देश में विक्रय से प्राप्त मुद्रा को दूसरे देश से क्रय की जाने वाली वस्तुओं के भुगतान के लिए प्रयोग किया जा सकता है अर्थात् बहुपक्षीय समाशोधन की प्रणाली। इसका आशय था एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा जो विश्व में समस्त सौदों के भुगतान के लिए मान्य होगी। इसे एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। जब एक ब्रिटेन का कपड़े का व्यापारी अमरीका से क्रय की जाने वाली रुई के लिए भुगतान करता है तो यह जरूरी नहीं है कि अमरीका का व्यापारी प्राप्त राशि का प्रयोग केवल ब्रिटेन से माल खरीदने के लिए ही करे। यह भुगतान ऐसी मुद्रा में परिवर्तनशील होगा जिसका प्रयोग विश्व के किसी भी देश से माल खरीदने

के लिए किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन संघ के अन्तर्गत विभिन्न व्यापारी द्वारा भुगतान किये गये स्टर्लिंग पौण्ड को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा के रूप में परिवर्तित किया जा सकेगा जिसे केन्स ने बैंकर (Bancor) नाम दिया। इसे अमरीका के खाते में जमा कर दिया जायगा जिसे वह विश्व के किसी भी देश से माल खरीदने के लिए प्रयुक्त कर सकेगा। प्रत्येक राष्ट्र का "बैंकर" में खाता होगा तथा देश द्वारा किये जाने वाले क्रय-विक्रय के अनुरूप इसके खाते में बैंकर को नामे अथवा जमा कर दिया जायगा। देशों द्वारा किये गये क्रय-विक्रय का समाशोधन आपस में कर दिया जायगा तथा जो अधिशेष बचेगा, उसका हिसाब समाशोधन संघ में समायोजन करके कर दिया जायगा। यह और कुछ नहीं देश में बैंकिंग समाशोधन गृह का ही अन्तर्राष्ट्रीय रूप है।

केन्स के प्रस्ताव के अनुसार प्रत्येक देश का "बैंकर" में अंश निर्धारित किया गया था जो विश्वयुद्ध के पूर्व उसकी विदेशी व्यापार की मात्रा पर आधारित था। किन्तु किन्हीं कारणों से केन्स की योजना कार्यान्वित नहीं हो सकी और उसके स्थान पर 1945 में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना की गयी। किन्तु केन्स की योजना में सदस्य देशों द्वारा स्वर्ण के योगदान का कोई स्थान नहीं था जैसा कि मुद्रा कोष में किया गया। हाँ, इतना अवश्य था कि "बैंकर" को स्वर्ण के बदले खरीदा जा सकता था किन्तु बैंकर स्वर्ण में परिवर्तनशील नहीं था।

केन्स का दावा था कि अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन संघ से यह लाभ था कि इससे उन कठिनाइयों से बचा जा सकता था जो एक देश द्वारा आयात की तुलना में अधिक निर्यात करने से होती हैं। दो विश्व युद्धों की अवधि के बाद के बीच में विश्व का अधिकांश स्वर्ण अमरीका में निष्क्रिय रूप में जमा हो गया जिसके फलस्वरूप स्वर्ण निर्यात करने वाले देशों में प्रभावपूर्ण माँग की कमी हो गयी। अमरीका ने निर्यात तो किया पर आयात नहीं किया। समाशोधन संघ में अधिक निर्यात करके जो देश अधिशेष की स्थिति में होता, उसका प्रयोग केवल अन्य देशों के माल खरीदने के लिए ही किया जा सकता था जिससे स्वर्ण को निष्क्रिय बनाने की अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्ति समाप्त हो जाती तथा प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि होती। अपनी बैंकर की योजना को "हाउस आफ लार्ड्स" (ब्रिटेन) के समक्ष प्रस्तुत करते हुए प्रो. केन्स ने कहा था कि "हम इस बात को बहुत बाद में अच्छी तरह समझ पाये हैं कि पूर्व में अर्जित आय को वस्तुओं और सेवाओं पर व्यय करके नये उत्पादन के माध्यम से रोजगार में वृद्धि और नयी आय का सृजन किया जा सकता है।"[1]

प्रो. केन्स ने अपनी पुस्तक "जनरल थ्योरी" में घरेलू अथवा गृह अर्थशास्त्र के लिए जिन प्रभावपूर्ण माँग की रूपरेखा प्रस्तुत की थी उसे वे समाशोधन संघ के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय जगत में ले जाना चाहते थे। किन्तु यही नहीं समाशोधन संघ का विचार इससे कुछ अधिक या वास्तव में "जनरल थ्योरी" की बन्द अर्थव्यवस्था के अर्थशास्त्र के लिए यह एक पूरक रूप में था। अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन संघ और मुद्रा कोष जिसकी वास्तव में स्थापना की गयी, का आशय इस तरह से घरेलू आर्थिक प्रणाली का अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से समन्वय करना था कि देश की स्थिरता कायम रखी जा सके। स्वर्णमान भी इस प्रकार का समन्वय करता था पर देश की स्थिरता की बलि देकर। अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन संघ में यह गुण था कि उसमें स्वर्णमान की विदेशी विनिमय दर में अल्पकालीन स्थिरता की क्षमता को बनाये रखने की शक्ति थी और उसके साथ ही देश में कीमतों में स्थिरता और उच्च-स्तर पर रोजगार को बनाये रखने का गुण भी था। यही नहीं, दीर्घकाल में घरेलू अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों के अनुरूप केन्स की योजना में विदेशी विनिमय दरों में लोच का प्रावधान भी था।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र पर केन्स का प्रमुख प्रभाव यह था कि उन्होंने इस बात

1 Parliamentary Debates on an International Clearing Union, House of Lords, p. 76, May 1943.

पर बल दिया कि औद्योगिक राष्ट्रों के बीच व्यापार की मात्रा प्रभावपूर्ण माँग और रोजगार की दशा पर निर्भर रहती है और यदि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था निष्क्रिय और मन्दी की स्थिति में है तो विदेशी व्यापार सक्रिय नहीं हो सकता। परन्तु प्रो. नर्क्से का कथन है कि व्यापार के लिए केन्स द्वारा प्रतिपादित शर्तें ही पर्याप्त नहीं है। नर्क्से के अनुसार दीर्घकाल में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अधिक महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व है—बाजार का आकार और उत्पादकता का स्तर।

निःसन्देह अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र में केन्स ने महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक की स्थापना में उनका विशेष योगदान था।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. प्रो. केन्स ने अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र में कौन से विचार प्रस्तुत किये समझाइए ?
2. केन्स संरक्षणवादी था अथवा मुक्त व्यापार का समर्थक ? स्पष्ट कीजिए ?

Selected Readings

1. Keynes . *General Theory of Employment, Interest & Money.*
2. Dudley Dillard ' *The Economics of J. M Keynes.*

अध्याय 44

भारत का विदेशी व्यापार
[FOREIGN TRADE OF INDIA]

परिचय

किसी भी देश की अर्थव्यवस्था में वहाँ के विदेशी व्यापार की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। भारत सरीखे देश में विदेशी व्यापार का महत्व इसलिए और अधिक है क्योंकि यहाँ प्राकृतिक साधनों एवं उत्पादन में काफी विभिन्नता है। स्वतन्त्रता के पूर्व भारत, ब्रिटेन का उपनिवेश था अतः भारत के व्यापार का ढाँचा भी औपनिवेशिक था जो औद्योगिक देशों को कच्चे माल की पूर्ति करता था तथा निर्मित माल का आयात करता था। इसके फलस्वरूप देश में औद्योगीकरण नहीं हो सका। स्वतन्त्रता के बाद भारत के विदेशी व्यापार के ढाँचे में परिवर्तन आवश्यक था। किसी भी अर्थव्यवस्था के लिए जो विकास के पथ पर अग्रसर होना चाहती है, उत्पादकता में द्रुत गति से वृद्धि करना जरूरी होता है। इसके लिए मशीनों एवं औजारों का आयात जरूरी होता है। ऐसे आयात जो घरेलू अर्थव्यवस्था में उत्पादन के किसी भी क्षेत्र में या तो नयी क्षमता का निर्माण करते हैं अथवा विद्यमान क्षमता को बढ़ाते हैं, विकासात्मक आयात (Developmental Imports) कहलाते हैं। उत्पादन क्षमता का पूर्ण प्रयोग करने के लिए देश में जो आयात जरूरी होते हैं, उन्हें अनुरक्षण आयात (Maintenance Imports) कहते हैं। एक विकासशील अर्थव्यवस्था के लिए उक्त दोनों प्रकार के आयात आवश्यक होते हैं जो विकास की सीमा को निर्धारित करते हैं। विकास के लिए जहाँ आयात करना आवश्यक है, वहीं निर्यात भी महत्वपूर्ण हैं। साधारण तौर पर विकासशील देश प्राथमिक वस्तुओं का निर्यात करते हैं किन्तु जब इनमें विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है तो इनके निर्यातों की दिशा में परिवर्तन हो जाता है क्योंकि बहुत सी वस्तुओं की खपत देश में ही होने लगती है। अतः अपने निर्यात बढ़ाने के लिए इन देशों को नयी वस्तुओं और नये बाजारों की खोज करना होती है। इस प्रकार विदेशी व्यापार का, विशेष रूप से विकासशील देशों में महत्वपूर्ण स्थान होता है।

स्वतन्त्रता-पूर्व की अवधि में भारत का विदेशी व्यापार

प्राचीन काल में भारत में निर्मित वस्तुओं की विदेशों में धूम थी तथा अनेक देशों से भारत के अच्छे व्यापारिक सम्बन्ध थे। भारत से मिस्र, रोम, चीन और अरब देशों को सूती कपड़ा, धातु के बर्तन, गरम मसाले, हाथी दाँत और कलात्मक वस्तुओं का निर्यात होता था तथा इनके बदले भारत तांबा, पीतल, टीन, शीशा एवं अन्य आवश्यक वस्तुओं का आयात करता था।

स्वतन्त्रता के पूर्व तक भारत का विदेशी व्यापार अनुकूल स्थिति में रहा किन्तु इसे भारत के आर्थिक विकास का पदक नहीं कहा जा सकता। द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व भारत को ब्रिटेन के एकपक्षीय भुगतान के लिए आयात की तुलना में अधिक निर्यात करना पड़ता था। द्वितीय विश्व-युद्ध के समय भारत के विदेशी व्यापार की प्रवृत्ति में परिवर्तन हुआ। भारत का निर्यात तो ब्रिटेन

में बढ़ गया किन्तु युद्ध के कारण ब्रिटेन भारत में अपने निर्यातों को नहीं बढ़ा पाया फलस्वरूप व्यापार शेष और स्टर्लिंग-शेष भारत के पक्ष में हो गया। यहाँ तक कि स्टर्लिंग ऋण का भुगतान करने के बावजूद भी 1946 में भारत का स्टर्लिंग-शेष 1,733 करोड़ रुपये था। जापान और जर्मनी के भी युद्ध में फँसे रहने के कारण उनके निर्यात अवरुद्ध हो गये अतः भारत की उपभोक्ता वस्तुओं को मध्य एवं सुदूर पूर्व में अच्छा विदेशी बाजार मिला।

भारत में 1938-39 से लेकर 1947-48 की अवधि तक यद्यपि आयात और निर्यात दोनों में वृद्धि हुई किन्तु स्तत रूप से आयातों की तुलना में निर्यात अधिक थे अर्थात् व्यापार-शेष भारत के पक्ष में रहा। 1938-39 की तुलना में 1947-48 में भारतीय निर्यात का मूल्य दुगने से भी अधिक था।

निर्यात का ढाँचा

स्वतन्त्रता के पहले भारतीय निर्यात के ढाँचे में भी परिवर्तन हुआ। जहाँ 1938-39 में कुल निर्यात में कच्चे माल का प्रतिशत 45 था वहीं 1947-48 में घटकर 31·3 रह गया। इसी अवधि में निर्मित माल के निर्यात का प्रतिशत 30 से बढ़कर 48·8 हो गया। इस अवधि में भारत खाद्यान्न का भी निर्यात करता था। जहाँ तक इस अवधि में भारतीय व्यापार की दिशा का प्रश्न है, हमारे निर्यातों की कुल मात्रा का 53 6 प्रतिशत कामनवेल्थ देशों को होता था तथा इसमें ब्रिटेन का स्थान सर्वोपरि (34%) था। इसके बाद जापान (8 8%) और अमरीका (8·4%) का स्थान था। आज के यूरोपियन साझा बाजार के देशों को हमारा 15 प्रतिशत निर्यात होता था। युद्ध के कारण भारतीय निर्यात प्रतिकूल ढंग से प्रभावित हुए। 1947 में पाकिस्तान के बन जाने के बाद उसके साथ हमारा अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में परिवर्तित हो गया।

आयात का ढाँचा

1938-39 से लेकर 1947-48 की अवधि में भारतीय आयात के मूल्य का निर्देशांक (आधार वर्ष 1938-39) बढ़कर 257 हो गया। इसके कई कारण थे। प्रथम तो यह कि युद्ध के बाद उपभोक्ता और पूँजीगत वस्तुओं की माँग में भारी वृद्धि हो गयी क्योंकि युद्ध के समय वस्तुएँ उपलब्ध न होने के कारण इनका आयात सम्भव नहीं था। दूसरे, भारत में मुद्रा प्रसार के कारण कीमतों में भारी वृद्धि हो गयी जबकि ब्रिटेन और अमरीका में कीमतें अधिक नहीं बढ़ी अतः इन देशों के आयात बढ़ गये। तीसरे, भारत के विभाजन एवं देश में जनसंख्या की वृद्धि से खाद्यान्न की बढ़ती हुई माँग की पूर्ति भारी मात्रा में खाद्यान्न आयात करके की गयी। चौथे, विभाजन के कारण देश का उत्पादन अस्त-व्यस्त हो गया अतः विदेशों से वस्तुओं का आयात करना पड़ा। अन्त में, युद्ध समाप्त होते ही भारत में कुछ विकास कार्य प्रारम्भ कर दिये गये जिसके लिए आयात जरूरी था।

1938-39 में भारत, ब्रिटेन से कुल आयातों का 31 4 प्रतिशत आयात करता था जो युद्ध के कारण कुछ अवधि के लिए घट गया पर 1947-48 में बढ़कर फिर 30 प्रतिशत हो गया। उक्त अवधि में अमरीका से आयातों का प्रतिशत 7 4 से बढ़कर 31 प्रतिशत हो गया। मुख्य आयात खाद्यान्न का था किन्तु साथ ही उपभोक्ता और पूँजीगत वस्तुओं का आयात भी किया जाता था।

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत का विदेशी व्यापार (Foreign Trade of India in Post Independence Period)

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत में 1951 से आर्थिक नियोजन का युग प्रारम्भ हुआ तथा पंचवर्षीय योजनाओं का सूत्रपात हुआ। अतः भारत के विदेशी व्यापार की प्रवृत्ति को जानने के

लिए यह उचित होगा कि पंचवर्षीय योजनाओं की अवधि में उसकी प्रगति का अध्ययन करें। किन्तु उसके पूर्व यह भी जरूरी है कि हम 1951 तक के भारत के विदेशी व्यापार के बारे में जान लें जो निम्न प्रकार था :

1948-1951 की अवधि में विदेशी व्यापार

1948 से 1951 तक की अवधि में भारत का व्यापार शेष प्रतिकूल रहा क्योंकि निर्यातों की तुलना में आयात अधिक हुए। इसका कारण यह था कि युद्ध के नियन्त्रण समाप्त होते ही माँग में भारी वृद्धि हो गयी एवं विभाजन के पश्चात देश में खाद्यान्न एवं कच्चे माल जैसे जूट और कपास की भारी कमी हो गयी जिससे इनका आयात करना पड़ा। साथ ही भारत में विकास कार्यों के लिए पूँजीगत वस्तुओं के आयात में वृद्धि हुई।

1948-49 में भारत को विदेशी व्यापार में लगभग 183 करोड़ रुपये का घाटा हुआ। उदार व्यापार नीति के फलस्वरूप भारत को डालर कोष से 300 करोड़ रुपये निकालने पड़े। दिसम्बर 1949 में ब्रिटेन ने पौण्ड का 30 प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया तथा स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य सदस्यों से भी सहयोग करने का अनुरोध किया अतः भारत ने भी दिसम्बर 1949 में रुपये के अवमूल्यन की घोषणा कर दी एवं डालर और स्वर्णमूल्य 30 प्रतिशत घटा दिये। इसका कारण यह था कि व्यापार के क्षेत्र में भारत के कई प्रतियोगी देशों ने अवमूल्यन की घोषणा कर दी और यदि भारत रुपये का अवमूल्यन न करता तो उसके निर्यात कम हो जाते जिससे भारत का भुगतान शेष और अधिक बिगड़ जाता।

अवमूल्यन ने भारत के निर्यात को प्रोत्साहित किया। *1948-49* भारतीय निर्यात 459 करोड़ रुपये का हुआ जो 1949-50 में बढ़कर 474 करोड़ रुपये हो गया। अतः व्यापार का घाटा 184 करोड़ रुपये से घटकर 80 करोड़ रुपये रह गया।

आर्थिक नियोजन का युग—प्रथम योजना (1951-52 से 1955-56) में विदेशी व्यापार

सन् 1951 में प्रथम पंचवर्षीय योजना के साथ भारत में विदेशी व्यापार के नये अध्याय का सूत्रपात हुआ। इस योजना में योजना आयोग ने विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में दो उद्देश्य निर्धारित किये—प्रथम, निर्यात का उच्च स्तर कायम रखना तथा केवल उन वस्तुओं का आयात करना जो राष्ट्र के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक हो एवं द्वितीय, भुगतान शेष को देश के विदेशी विनिमय की जमा तक सीमित रखना। उक्त पाँच वर्ष की अवधि में प्रतिवर्ष औसत आयात 730 करोड़ रुपये का हुआ तथा प्रतिवर्ष औसत निर्यात 622 करोड़ रुपये का हुआ। इस प्रकार व्यापार में प्रतिवर्ष औसत घाटा 108 करोड़ रुपये का हुआ। यह निम्न तालिका से स्पष्ट है :

तालिका 44·1—प्रथम योजना में व्यापार-शेष (करोड़ रुपये में)

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापार-शेष
1951-52	962·9	730·1	—232·8
1952-53	633·0	601·9	— 31·1
1953-54	591·8	539·7	— 52·1
1954-55	689·7	596·6	— 93·1
1955-56	773·1	640·3	—132·8
योग	3,650·5	3,108·6	—541·9
वार्षिक औसत	730·0	622·0	—108·0

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि लगातार पाँच वर्षों में व्यापार-शेष प्रतिकूल रहा जिसका मुख्य कारण यह था कि योजना काल में औद्योगीकरण के कारण विदेशों से भारी मात्रा में पूंजीगत वस्तुओं का आयात करना पड़ा। इस अवधि में खाद्यान्न एवं उपभोक्ता वस्तुओं का क्रमशः 595 करोड़ और 878 करोड़ रुपये का आयात हुआ जबकि निर्यात के ढाँचे में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ।

द्वितीय योजना अवधि (1956-57 से 1960-61) में विदेशी व्यापार

द्वितीय योजना मुख्य रूप से देश के औद्योगीकरण की योजना थी जिसके फलस्वरूप अधिक मात्रा में पूंजीगत वस्तुओं का आयात करना पड़ा। इसके साथ ही अनुरक्षण आयातों में भी काफी वृद्धि हुई। साथ ही खाद्यान्न का आयात भी लगभग प्रथम योजना के समान ही हुआ। निम्न तालिका द्वितीय योजना में हमारे व्यापार को स्पष्ट करती है :

तालिका 44 2—द्वितीय योजना में व्यापार-शेष (करोड़ रुपये में)

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापार-शेष
1956-57	1,102·1	635·2	—466·9
1957-58	1,233 2	594 2	—639 0
1958-59	1,029·3	576 3	—453 0
1959-60	932·3	627 4	—304·9
1960-61	1,105 7	630 5	—475 2
योग	5,402 6	3,063·6	—2,339 0
वार्षिक औसत	1,080 0	613 0	—467·0

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि द्वितीय योजना में कुल आयात 5,402 6 करोड़ रुपये का तथा कुल निर्यात 3,063 6 करोड़ रुपये का हुआ। इस प्रकार योजना अवधि में 2,339 करोड़ रुपये का घाटा हुआ। इस अवधि में वार्षिक औसत निर्यात 613 करोड़ रुपये का था जो प्रथम योजना के वार्षिक औसत निर्यात से कम था जबकि आयात का वार्षिक औसत प्रथम योजना की तुलना में 50 प्रतिशत अधिक हो गया। इसके फलस्वरूप व्यापार शेष का प्रतिकूल औसत बढ़कर 467 करोड़ रु० हो गया जो प्रथम योजना में केवल 108 करोड़ रु० था। यद्यपि सरकार ने 1957 में कठोर आयात नीति की घोषणा की किन्तु व्यापार शेष की प्रतिकूलता को रोका नहीं जा सका।

तृतीय योजना अवधि (1961-62 से 1965-66) में विदेशी व्यापार

इस योजना के आरम्भ में आयात व निर्यात की नीति पर विचार करने हेतु भारत सरकार ने सर रामास्वामी मुदालियर की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की जिसने निर्यात बढ़ाने की आवश्यकता पर बल दिया। इस योजनावधि में आयात और निर्यात दोनों में वृद्धि हुई किन्तु व्यापार शेष सर्वाधिक प्रतिकूल रहा। निम्न तालिका से यह स्पष्ट है :

तालिका 44·3—तृतीय योजना में व्यापार-शेष (करोड़ रुपये में)

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापार-शेष
1961-62	1,006 0	668·3	—337·7
1962-63	1,096 8	680 9	—415 9
1963-64	1,245·0	801·6	—443 4
1964-65	1,420·8	800 9	—619 9
1965-66	1,350 0	783 3	—566 7
योग	6,118·6	3,735·0	—2,383 6
वार्षिक औसत	1,224	747	— 477

उपर्युक्त तालिका स्पष्ट करती है कि तीसरी योजना में निर्यात का वार्षिक औसत 747 करोड़ रुपये था तथा आयात का वार्षिक औसत 1,224 करोड़ रुपये था। इस प्रकार औसत वार्षिक घाटा 477 करोड़ रुपया का था। यह भी स्पष्ट है कि लगातार पाँच वर्षों तक हमारा व्यापार शेष प्रतिकूल रहा। इसके दो मुख्य कारण थे—1962 और 1965 में क्रमशः चीन और पाकिस्तान का देश पर आक्रमण होने से एक तो देश की अर्थव्यवस्था तहस-नहस हो गयी तथा दूसरी ओर रक्षा सामग्री का आयात बढ़ गया। इसके साथ ही भारी मात्रा में खाद्यान्न का आयात करना पड़ा।

तीन वार्षिक योजनाओं (1966-67, 1967-68 और 1968-69) में विदेशी व्यापार

जून 1966 में भारत ने भारतीय रुपये का 36·5 अवमूल्यन किया किन्तु परिस्थितियाँ प्रतिकूल रहने के कारण व्यापार शेष की स्थिति और भी प्रतिकूल हो गयी। यद्यपि अवमूल्यन से निर्यातों में वृद्धि हुई किन्तु आयातों में लोच के अभाव के कारण 1967-68 में आयात की मात्रा 2,043 करोड़ रुपये की हो गयी। 1968-69 में फसलों की स्थिति अच्छी रही अत. खाद्यान्न के आयात में कमी हुई जिससे व्यापार शेष की प्रतिकूलता में कमी हुई। तीन वार्षिक योजनाओं में विदेशी व्यापार की स्थिति निम्न तालिका में स्पष्ट है :

तालिका 44 4—तीन वार्षिक योजनाओं में व्यापार शेष (करोड़ रुपये में)

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापार-शेष
1966-67	1,991·4	1,085·6	—905·8
1967-68	2,042·8	1,254·6	—788·2
1968-69	1,740·5	1,367·4	—373·1
योग	5,774·7	3,707 6	—2,067·1
वार्षिक औसत	1,924·9	1,235 9	—689·0

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि आयातों में वृद्धि के कारण प्रथम दो वर्षों में व्यापार-शेष अधिक प्रतिकूल रहा। तीसरे वर्ष में अवमूल्यन के कारण जहाँ निर्यातों में कुछ वृद्धि हुई वहीं अच्छी फसल के कारण खाद्यान्न के आयातों में कमी हुई। फलस्वरूप प्रतिकूल व्यापार शेष जो 1967-68 में 788 करोड़ रुपये का था, 1968-69 में घटकर 373 करोड़ रुपये का रह गया।

चौथी योजना अवधि (1969-70 से 1973-74) में विदेशी व्यापार

इस योजना-काल में विदेशी व्यापार की मात्रा में काफी वृद्धि हुई। इस योजना में सरकार द्वारा आयात प्रतिस्थापन तथा निर्यात प्रोत्साहन के लिए कई कदम उठाये गये जिसके फलस्वरूप स्वतन्त्रता के बाद पहली बार 1972-73 में देश का व्यापार-शेष अनुकूल हुआ। किन्तु इस प्रवृत्ति को अगले वर्ष जारी नहीं रखा जा सका क्योंकि इस वर्ष आयात की जाने वाली वस्तुओं के मूल्यों में भारी वृद्धि हुई जैसे पेट्रोलियम, अलौह धातुएँ, रासायनिक खाद, इस्पात, अखबारी कागज इत्यादि। इसका परिणाम यह हुआ कि 1973-74 में योजना अवधि में सर्वाधिक आयात (2,955 4 करोड़ रुपये का) हुआ जबकि निर्यात केवल 2,523·4 करोड़ रुपये का हुआ। इस योजना में व्यापार की स्थिति अग्र तालिका से स्पष्ट है .

तालिका 44·5—चौथी योजना में व्यापार-शेष (करोड़ रुपये में)

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापार शेष
1969-70	1,582·1	1,413 3	—168·8
1970-71	1,634·2	1,535 1	— 99 1
1971-72	1,824 5	1,608 2	—216 3
1972-73	1,796 7	1,969 9	+173·2
1973-74	2,955 4	2,523 4	—432 0
योग	9,792 9	9,049 9	— 743
वार्षिक औसत	1,958 5	1 809 9	—148 6

उपर्युक्त तालिका स्पष्ट करती है कि योजनावधि में कुल निर्यात 9,050 करोड़ रु० का हुआ जबकि कुल आयात 9,793 करोड़ रु० का हुआ। इस प्रकार विदेशी व्यापार का कुल घाटा 743 करोड़ रु० का हुआ। कुल मिलाकर, तीसरी योजना अथवा वार्षिक योजनाओं की तुलना में, चौथी योजना में व्यापार का घाटा कम था। अतः कहा जा सकता है कि चौथी योजना में विदेशी व्यापार की स्थिति सन्तोषजनक थी।

पाँचवीं योजना (1974-75 से 1977-78) में विदेशी व्यापार

यह उल्लेखनीय है कि पाँचवीं योजना की अवधि घटाकर चार वर्ष कर दी गयी है अर्थात् पहले यह 1978-79 में समाप्त होने वाली थी पर अब 1977-78 में समाप्त कर 1978-79 से छठवीं योजना आरम्भ कर दी गयी है जिसे चक्र योजना (Rolling Plan) के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार पाँचवीं योजना अपनी अवधि समाप्त कर चुकी है। इस योजना की अवधि में विदेशी व्यापार और भुगतान शेष की स्थिति आशाजनक थी। 1972-73 को छोड़कर शेष सब वर्षों में व्यापार शेष भारत के प्रतिकूल था किन्तु 1976-77 का वर्ष भारत के विदेशी व्यापार में एक उल्लेखनीय मोड़ था। इस वर्ष कीमतों में अपेक्षाकृत कमी से एक ओर आयातों का मूल्य घटा तथा दूसरी ओर निर्यातों में वृद्धि हुई। फलस्वरूप व्यापार शेष भारत के अनुकूल हुआ। निम्न तालिका से यह स्पष्ट है

तालिका 44 6—पाँचवीं योजना में व्यापार-शेष (करोड़ रु० में)

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापार-शेष
1974-75	4,518 8	3,328·8	—1,190 0
1975-76	5,265 2	4,042·8	—1,222·4
1976-77	5,074 4	5,143 4	+ 69 0
1977-78[1]	3,836 1	3,603 7	— 232·4

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि 1976-77 में अनुकूल परिस्थितियों के कारण व्यापार में 69 करोड़ रु० का अतिरेक हुआ जो उल्लेखनीय घटना थी। आर्थिक सर्वेक्षण में कहा गया है कि कुल मिलाकर भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्थिति सन्तोषजनक रही है।

1 ये आँकड़े अप्रैल-दिसम्बर 1977 के हैं। अनुमान है कि 1977-78 में 5,400 करोड़ रु० का निर्यात हुआ जो पिछले वर्ष की तुलना में 5 प्रतिशत अधिक है।

भारत के विदेशी व्यापार की संरचना
(COMPOSITION OF INDIA'S FOREIGN TRADE)

भारत के विदेशी व्यापार की संरचना अथवा ढाँचे को समझने के लिए उसके आयात तथा निर्यात के स्वरूप को समझना जरूरी है।

आयात का स्वरूप—भारत के आयातों को मुख्य रूप से तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है :

(i) **पूँजीगत वस्तुएँ**—इसमें मशीनों, धातुएँ, अलौह धातुएँ एवं परिवहन के सामान का समावेश होता है।

(ii) **कच्चा माल**—इसमें पेट्रोलियम तेल, कपास, जूट तथा रासायनिक वस्तुओं का समावेश होता है।

(iii) **उपभोक्ता वस्तुएँ**—इनमें खाद्यान्न, विद्युत उपकरण, औषधियाँ, दवाइयाँ, वस्त्र, रेशम, कागज तथा स्याही के कोई शामिल होते हैं।

पहली पंचवर्षीय योजना से लेकर चौथी योजना तक भारत में आयात की प्रमुख वस्तुओं के ढाँचे में जो परिवर्तन हुआ है वह निम्न तालिका में स्पष्ट है :

तालिका 44.7—भारतीय आयातों का ढाँचा (करोड़ रु० में)

आयात की वस्तुएँ	प्रथम योजना (1951-56)	द्वितीय योजना (1956-61)	तृतीय योजना (1961-66)	वार्षिक योजनाएँ (1966-69)	चौथी योजना (1969-74)
पूँजीगत वस्तुएँ	1,0[illegible]3·6	2,283·0	2,912·2	2,110·0	3,967·0
	(28·8)	(42·2)	(47·8)	(36·0)	(41·5)
कच्चा माल	1,060·8	918·8	1,039·0	1,535·0	3,023·0
	(29·5)	(17·7)	(17·0)	(26·3)	(31·5)
उपभोक्ता वस्तुएँ	877·8	1,074·2	938·0	1,001·0	1,634·0
	(25·0)	(19·8)	(15·4)	(17·1)	(17·0)
खाद्यान्न	595·2	804·7	1,204	1,201·0	978·0
	(16·7)	(14·9)	(19·8)	(20·6)	(10·1)
कुल आयात	3,587·4	5,080·7	6,093·0	5,847·0	9,604·0

नोट—कोष्ठक के अंक प्रतिशत के सूचक हैं।

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि प्रथम योजना की तुलना में द्वितीय योजना में पूँजीगत वस्तुओं के आयात में भारी वृद्धि हुई जबकि इसी अवधि में कच्चे माल का प्रतिशत घट गया। इसी प्रकार उपभोक्ता वस्तुओं के आयात के प्रतिशत में कमी आयी। खाद्यान्न के आयात का प्रतिशत भी 16·7 से घटकर 14·9 रह गया। विकास की नवीन रणनीति से देश में औद्योगीकरण के कारण पूँजीगत वस्तुओं के आयात में वृद्धि हुई।

तृतीय योजना अवधि में भी समस्त आयातों की तुलना में पूँजीगत वस्तुओं का प्रतिशत सबसे अधिक (47·8) था। द्वितीय योजना की तुलना में, तृतीय योजना में खाद्यान्न के आयात का प्रतिशत बढ़ गया जबकि कच्चे माल तथा उपभोग वस्तुओं के प्रतिशत में कमी आयी। चौथी योजना की अवधि में खाद्यान्न के आयात में कमी आयी जो 20·6 प्रतिशत (वार्षिक योजनाएँ) से घटकर 10 प्रतिशत रह गया। किन्तु पूँजीगत वस्तुओं तथा कच्चे माल के आयात में वृद्धि हुई। उपभोक्ता वस्तुओं के आयात का प्रतिशत प्रायः स्थिर रहा।

आयात की मुख्य वस्तुएँ—नवीनतम विवेचन

भारत के नवीनतम अवधि तक किये गए कुछ आयातों का विवरण इस प्रकार है :

(1) **खाद्यान्न (Foodgrains)**—स्वतन्त्रता की अवधि से ही हमारे देश में खाद्यान्न एक

प्रमुख आयात रहा है। देश में विभाजन, जनसंख्या की वृद्धि तथा सूखे की स्थिति ने खाद्यान्नों के आयात को आवश्यक बना दिया। प्रथम योजना मे खाद्यान्न का औसत वार्षिक आयात 120 करोड रुपये का था जो द्वितीय योजना मे बढकर 161 करोड रुपये हो गया। तीसरी योजना मे खाद्यान्न का आयात बढकर कुल आयात का 19 8 प्रतिशत हो गया। वार्षिक योजनाओं मे सूखे के कारण खाद्यान्नो का आयात अधिक रहा किन्तु चौथी योजना मे यह अनुपात कम होकर 10 प्रतिशत रह गया। 1974-75 मे 656 करोड रुपये के खाद्यान्न का आयात किया गया जबकि 1975-76 मे यह राशि बढकर 1,030 करोड रुपये हो गयी।

(2) मशीनें (Machinery)—भारत मे औद्योगीकरण एव आर्थिक विकास के कारण मशीनो का भारी मात्रा मे आयात करना पडा। जहाँ प्रथम योजना मे मशीनो का वार्षिक औसत आयात 116 करोड रु० का था, वह द्वितीय योजना मे बढकर 265 करोड रु० तथा तीसरी योजना मे बढकर 472 करोड रुपये हो गया। चौथी योजना मे वार्षिक औसत आयात 484 करोड रुपये का हुआ। 1974-75 मे 397 करोड रुपये की गैर विद्युत मशीनो, 150 करोड रुपये की विद्युत मशीनों एव 123 करोड रुपये के परिवहन उपकरणो का आयात किया गया। 1975-76 मे 910 6 करोड रुपये के धातु उत्पाद, मशीनो तथा परिवहन उपकरणो का आयात किया गया।

(3) खनिज तेल (Mineral Oils)—इसमें विशेष रूप से पेट्रोलियम भारत का प्रमुख आयात रहा है तथा अपनी खपत का लगभग 75 प्रतिशत पेट्रोलियम भारत आयात करता है। प्रथम योजना मे खनिज तेल का वार्षिक औसत आयात 73 करोड रुपये का था जो योजना में बढकर 226 करोड रुपये तक पहुँच गया। सन् 1974-75 मे भारत मे 1,120 करोड़ रुपये के पेट्रोलियम एव कच्चे तेल का आयात किया गया जबकि 1975-76 मे यह राशि बढकर 1,250 करोड रुपये हो गयी। वर्तमान मे बाम्बे हाई, कच्छ, बगाल तथा कावेरी मे तेल मिलने की अच्छी सम्भावनाएँ हैं। बाम्बे हाई मे तो उत्पादन भी होने लगा है तथा प्रतिदिन 8[illegible] हजार बैरेल तेल निकाला जा रहा है। आशा की जाती है कि 1980-81 तक भारत मे उसकी जरूरत के बराबर 3 करोड टन खनिज तेल का उत्पादन होने लगेगा।

(4) धातुएँ (Metals)—भारत मे लोहा और इस्पात तथा कुछ अलौह धातुओं का आयात भी महत्वपूर्ण है। प्रथम योजना मे धातुओ का वार्षिक औसत आयात 54 करोड रुपये का था जो चौथी योजना में बढकर 309 करोड रुपये का हो गया। 1974 75 मे 608·3 करोड रुपये के धातु तथा अयस्क (कच्चा लोहा) का आयात किया गया जो 1975-76 मे घटकर 423·5 करोड रुपये हो गया। अब भारत मे लौह अयस्क का भारी मात्रा मे उत्पादन होने लगा है अत इसका आयात घटता जा रहा है।

(5) रसायन पदार्थ एव दवाइयाँ (Chemicals and Medicines)—अभी भी भारत मे काफी मात्रा मे रसायन पदार्थो एव दवाइयो का आयात किया जाता है। प्रथम योजना में इनका वार्षिक औसत आयात 34 करोड रुपये का था जो तृतीय योजना में बढकर 55 करोड़ रु० तथा चौथी योजना मे बढकर 113 करोड रुपये हो गया। 1974-75 मे इनके आयात की राशि 242·6 करोड रुपये थी जो 1975-76 में बढकर 286 8 करोड रुपये हो गयी।

रुई (Raw Cotton)—प्रथम योजना में रुई का वार्षिक औसत आयात 77 करोड रुपये का था जो तीसरी योजना मे घटकर 54 करोड रुपये रह गया। चौथी योजना मे इसमे थोडी वृद्धि हुई तथा वार्षिक औसत आयात 88 करोड रुपये का हो गया। 1974-75 मे इसका आयात घटकर 26 7 करोड़ रुपये तथा 1975-76 मे [illegible] 2 करोड रुपये हो गया।

उपर्युक्त वस्तुओ के अतिरिक्त भारत बिजली के सामान, कागज, उर्वरक, कच्चा जूट तथा स्टेशनरी की वस्तुओ का आयात करता है। कृषि विकास को प्राथमिकता दिये जाने से उर्वरक के

आयात में वृद्धि हुई है। 1974-75 में 486 करोड़ रुपये तथा 1975-76 में 463 करोड़ रुपये के उर्वरक का आयात किया गया। 1974-75 में 3·8 करोड़ रुपये का तथा 1975-76 में 3·3 करोड़ रुपये का कच्चे जूट का आयात किया गया।

भारत के निर्यातों का ढांचा

भारत से निर्यात किये जाने वाले माल को चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—(i) खाद्यान्न समूह—इसमें अनाज, चाय, तम्बाकू, काफी, काजू, केला आदि का समावेश होता है। (ii) कच्चा माल समूह—इसमें दालें, चमड़ा, ऊन, रुई, कच्चा लोहा, मैंगनीज, लाख, खनिज पदार्थ इत्यादि शामिल किये जाते हैं। (iii) निर्मित वस्तुएँ—इसमें जूट का सामान, कपड़े, चमड़े का सामान, रेशम के वस्त्र, तैयार वस्त्र, सीमेन्ट, रसायन, खेल का सामान, जूते आदि शामिल होते हैं, एवं (iv) पूँजीगत वस्तुएँ—इसमें मशीनें परिवहन उपकरण, लोहा-इस्पात, इन्जीनियरिंग वस्तुएँ एवं सिलाई मशीनें आदि को शामिल किया जाता है।

अभी पिछले कुछ वर्षों तक भारत का निर्यात परम्परागत ढांचे का रहा है जिसमें कृषि पदार्थ, उपभोक्ता वस्तुओं एवं कच्चे माल की प्रमुखता रही है। लेकिन हाल ही के वर्षों में भारत के निर्यातों में बिल्कुल नयी वस्तुओं का समावेश हुआ है तथा निर्यात के ढाँचे में उल्लेखनीय प्रगति हुई है। भारत के नवीनतम मुख्य निर्यात इस प्रकार हैं

(1) खाद्यान्न (Food Grains)—1977-78 में देश में 121 मिलियन टन खाद्यान्न के उत्पादन का अनुमान है। भारत की अर्थव्यवस्था में यह एक नया अध्याय है कि अब देश खाद्यान्न के निर्यात की स्थिति में है। केन्द्रीय कृषि मन्त्री ने हाल ही में घोषणा की है कि भारत वियतनाम को करीब डेढ़ लाख टन गेहूँ का निर्यात करेगा एवं रूस से उधार लिया गया पन्द्रह लाख टन गेहूँ लौटाया जायगा। अभी 15 जुलाई, 1978 को भारत के खाद्यान्न निगम ने अफगानिस्तान के वित्तमन्त्रालय से एक समझौता किया है जिसके अन्तर्गत इस देश को 50 हजार टन गेहूँ का निर्यात किया जायगा। पश्चिमी एशिया तथा दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों को भारत के खाद्यान्न निर्यात के अच्छे अवसर हैं।

(2) चाय (Tea) – पिछले दशक में जूट के माल को छोड़कर चाय ने अन्य सब वस्तुओं की तुलना में सबसे अधिक विदेशी मुद्रा अर्जित की। भारत का चाय उत्पादन कुल विश्व उत्पादन का 50 प्रतिशत है तथा उत्पादित माल के दो-तिहाई का निर्यात किया जाता है। प्रथम योजना में चाय का वार्षिक औसत निर्यात 106 करोड़ रुपये का था जो चौथी योजना में बढ़कर 142 करोड़ रुपये हो गया। 1974-75 में 224 करोड़ रुपये की चाय का निर्यात किया गया तथा 1975-76 में यह बढ़कर 260 करोड़ रुपये हो गया। 1977-78 में 22 करोड़ किलोग्राम चाय का निर्यात किया गया। विश्व में भारत चाय का सबसे बड़ा निर्यातक देश है तथा विश्व में कुल निर्यात की जाने वाली चाय का 30 प्रतिशत निर्यात करता है। भारतीय चाय के मुख्य ग्राहक देश हैं—ब्रिटेन, रूस, नीदरलैण्ड्स, पश्चिमी जर्मनी, अफगानिस्तान, संयुक्त अरब गणराज्य, कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि। 1978-79 में चाय के विशाल पैमाने पर निर्यात की योजना बनायी गयी है जिसकी निर्यात सीमा 20 करोड़ किलो होगी। इस वर्ष चाय पर निर्यात शुल्क 5 रुपये किलो से घटाकर 2 रुपये प्रति किलो कर दिया गया।

(3) जूट का सामान (Jute Yarn & Manufactures)—परम्परागत निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में जूट अथवा पटसन का महत्वपूर्ण स्थान है। पिछले दशक के निर्यात में जूट का प्रथम स्थान रहा है। वर्तमान में जूट का माल हमारे कुल निर्यात में जूट लगभग 9 प्रतिशत है। प्रथम योजना में जूट का वार्षिक औसत निर्यात 149 करोड़ रुपये का था जो चौथी योजना में बढ़कर 221 करोड़ रुपये का हो गया। 1974-75 में 295·7 करोड़ रुपये

का पटसन का सामान निर्यात हुआ जो 1975-76 में घटकर 248 3 करोड़ रुपये का रह गया। जूट के सामान को विदेशी मण्डियों में भारी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है तथा बंगला देश हमारा सबसे बड़ा प्रतियोगी निर्यातक देश है।

(4) खालें तथा चमड़े का सामान (Leather and Leather Manufactures)—भारत में चमड़े और खालों तथा इनसे बने माल के निर्यात की अच्छी क्षमता है तथा इनके निर्यातों में उल्लेखनीय प्रगति हुई है। चौथी योजना में जूतों को छोड़कर इन वस्तुओं का वार्षिक औसत निर्यात 119 करोड़ रुपये का था जो 1974-75 में बढ़कर 145 करोड़ रुपये तथा 1975-76 में 201 करोड़ रुपये हो गया। 1974-75 में भारत से 20·3 करोड़ रुपये के जूतों का निर्यात किया गया जो 1975-76 में बढ़कर 21 0 करोड़ रुपये हो गया। 1976-77 में चमड़े के सामान का 302 8 करोड़ का निर्यात हुआ जो 1977-78 में घटकर 258 करोड़ रुपये रह गया।

(5) सूती वस्त्र कच्चा सूत, तैयार कपड़े एवं ऊनी निर्यात—भारतीय सूती वस्त्र विदेशों में काफी लोकप्रिय है। इसके निर्यात में भारत का स्थान जापान के बाद आता है। प्रथम योजना में कच्चे सूत तथा सूती वस्त्रों का वार्षिक औसत निर्यात 81 करोड़ रुपये का था जो यद्यपि द्वितीय एवं तृतीय योजना में घट गया लेकिन चौथी योजना में बढ़कर 163 करोड़ रुपये हो गया। 1974-75 में कच्चे सूत का निर्यात 15 2 करोड़ रुपये, सूती वस्त्र 129 करोड़ रुपये तथा तैयार कपड़े का 97 करोड़ रुपये का हुआ जो 1975-76 में बढ़कर क्रमश 38 8 करोड़ रुपये, 119 करोड़ रुपये तथा 145 करोड़ रुपये हो गया।

भारतीय ऊनी उद्योग ने 1977-78 में निर्यात से 113 करोड़ रुपये अर्जित किये जो कि लक्ष्य से अधिक थे। 1978-79 के लिए 115 करोड़ रुपये के निर्यात का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। विदेशी माँग को देखते हुए यह लक्ष्य पूरा हो सकता है पर अधिक प्रोत्साहन दिया गया तो अधिक निर्यात किया जा सकता है। ऊनी कालीनों का 65 करोड़ रुपये का निर्यात किया गया।

भारतीय कपड़े के मुख्य ग्राहक देश हैं ब्रिटेन, नेपाल, संयुक्तराष्ट्र, सूडान, अदन, कीनिया, कनाडा, फ्रांस, अफगानिस्तान, न्यूजीलैण्ड इत्यादि।

(6) इंजीनियरिंग सामान (Engineering Goods)—भारत में इंजीनियरिंग वस्तुओं के निर्यात में उल्लेखनीय प्रगति हुई है तथा देश की निर्यात सूची में इनका प्रथम स्थान हो गया है। भारत में निर्मित इंजीनियरिंग वस्तुएं जिनका गैर-परम्परागत वस्तुओं के निर्यात में सर्वाधिक हिस्सा है विदेशों में लोकप्रिय हो रही हैं। 1960-61 में भारत से 10 3 करोड़ रुपये की इंजीनियरिंग वस्तुओं का निर्यात किया गया जो 1976-77 में बढ़कर 552 करोड़ रुपये हो गया अर्थात् इनके निर्यात में औसत रूप से प्रतिवर्ष 32 प्रतिशत की वृद्धि हुई। 1960-61 में कुल निर्यातों में इंजीनियरिंग वस्तुओं के निर्यात का प्रतिशत 1 6 था जो 1976-77 में बढ़कर 10 7 हो गया। अप्रैल-दिसम्बर 1977 तक इनका कुल निर्यात 430 करोड़ रुपये का था जिसके 1977-78 में 630 करोड़ रुपये तक पहुँचने की आशा थी।

(7) धातु अयस्क (Metallic Ores)—भारत मैंगनीज, अभ्रक, अलौह अयस्क का निर्यात करता है। तीसरी योजना में इन धातुओं के निर्यात का वार्षिक औसत 50 करोड़ रुपये था जो चौथी योजना में बढ़कर 138 करोड़ रुपये हो गया। 1974-75 में इसका निर्यात 196 करोड़ रुपये का तथा 1975-76 में 246 करोड़ रुपये का हुआ। 1976-77 के प्रथम 6 माह में उक्त धातु अयस्कों का 137 7 करोड़ रुपये का निर्यात हुआ था। यह उल्लेखनीय है कि भारत लौह अयस्क का भी निर्यात करने लगा है तथा 1975-76 में 214 करोड़ रुपये का लौह अयस्क का निर्यात किया गया।

(8) लघु उद्योगों में निर्मित माल का निर्यात—भारत में लघु उद्योगों में निर्मित माल के निर्यात की अच्छी सम्भावनाएं हैं। 1973-74 में इन वस्तुओं का निर्यात 393 करोड़ रुपये का हुआ जो

1976-77 में बढ़कर 878 करोड़ रुपये का हो गया, 1973-74 में कुल निर्यात में इन वस्तुओं का प्रतिशत 15·58 था जो 1976-77 में बढ़कर 17·1 हो गया। 1973-74 में इन वस्तुओं का कुल उत्पादन 3,420 करोड़ रुपये का हुआ जिसमें से 11 प्रतिशत से भी अधिक निर्यात किया गया। 1976-77 में इन वस्तुओं का 6,700 करोड़ रुपये का उत्पादन हुआ जिसमें निर्यात का प्रतिशत 13·1 था। यह ध्यान रहे कि इन वस्तुओं में कई इन्जीनियरिंग वस्तुओं, सूती वस्त्र, चमड़े का सामान, प्लास्टिक, लाख, काजू की गिरी, तम्बाकू, बीड़ी, खेल के सामान, दवाइयाँ, रेयान-सिन्थेटिक उत्पादन आदि का समावेश होता है।

उक्त वस्तुओं के अतिरिक्त भारत से काफी, खली, मसाले, नारियल की जटा एवं उससे बना सामान मछली शक्कर हीरे, जवाहरात आदि का निर्यात भी किया जाता है। 1978-79 में स्वर्ण तथा चाँदी के आभूषणों के निर्यात की योजना भी तैयार की गयी है।

भारत के विदेशी व्यापार की दिशा
(DIRECTION OF INDIA'S FOREIGN TRADE)

भारत के विदेशी व्यापार की दिशा से आशय है कि भारत से किन देशों को निर्यात-आयात किया जाता है अर्थात् भारत के किन देशों से व्यापारिक सम्बन्ध हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात देश में आयात-निर्यात की दिशा में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। भारत के विदेशी व्यापार को दृष्टि में रखते हुए विश्व के देशों को चार भागों में बाँटा जा सकता है—(i) स्टर्लिंग क्षेत्र, (ii) डालर क्षेत्र, (iii) यूरोपीय आर्थिक समुदाय क्षेत्र, एवं (iv) गैर स्टर्लिंग वाला शेष क्षेत्र।

उक्त विश्लेषण करने के पहले यह जान लेना जरूरी है कि सन् 1950 तक हमारे अधिकांश निर्यात ब्रिटेन व कामनवेल्थ के अन्य देशों को किये जाते थे पर आज इस दिशा में परिवर्तन हुआ है एवं आज अमरीका, रूस, जापान आदि देशों से हमारे अच्छे व्यापारिक सम्बन्ध हैं। एशियाई देशों से भी हमारे व्यापारिक सम्बन्धों में वृद्धि हुई है।

(i) स्टर्लिंग क्षेत्र से मुख्य रूप से इंगलैण्ड के साथ भारत का विदेशी व्यापार महत्वपूर्ण रहा है। चूँकि भारत कामनवेल्थ का सदस्य है तथा पहले भारतीय रुपया स्टर्लिंग से सम्बन्धित था, प्रथम योजना में भारत से अधिकांश निर्यात (54%) तथा भारत में अधिकांश आयात (46%) ब्रिटेन तथा राष्ट्रमण्डलीय देशों से हुआ किन्तु तृतीय योजना में निर्यात तथा आयात का प्रतिशत घटकर क्रमशः 38.7 एवं 22.2 रह गया। 1972-73 में भारत ने ब्रिटेन को 172.5 करोड़ रुपये के माल का निर्यात किया गया एवं उसका स्थान रूस, अमरीका तथा जापान के बाद चौथा था। 1974-75 में निर्यात किये जाने वाले देशों में ब्रिटेन का स्थान तीसरा था जिसे भारत से 307 करोड़ रुपये का माल निर्यात किया गया। इस वर्ष में रूस का स्थान प्रथम था जिसे 418 करोड़ रुपये का माल निर्यात किया गया। इंगलैण्ड से होने वाले आयात में भी निरन्तर कमी हुई है।

(ii) जहाँ तक डालर क्षेत्र (अमरीका) को भारतीय निर्यात का प्रश्न है, प्रथम योजना से लेकर लगभग 20 वर्षों तक यह अपरिवर्तनीय रहा जो 19 से 21 प्रतिशत था। किन्तु बाद में इसमें वृद्धि हुई। 1972-73 में भारतीय निर्यात में अमरीका का दूसरा स्थान था (276 करोड़ रुपये का निर्यात) तथा 1974-75 में भी इसका स्थान दूसरा रहा तथा पहला स्थान रूस का था। लेकिन जहाँ तक कुल निर्यात का प्रतिशत है, 1974-75 में हमारा अमरीका को निर्यात घटकर 12.6 प्रतिशत रह गया। भारत से अमरीका को कच्चा जूट, जूट का सामान, चमड़ा, लोहा, मैंगनीज, अभ्रक एवं तिलहन आदि का निर्यात किया जाता है।

डालर क्षेत्र से भारतीय आयात में वृद्धि हुई है। जहाँ प्रथम योजना में इस क्षेत्र से कुल आयात 24 प्रतिशत था, 1974-75 में यह बढ़कर 31 प्रतिशत हो गया जब भारत ने अमरीका

से सबसे अधिक आयात किया। अमरीका से भारत में मशीनों, दवाइयों एवं रासायनिक वस्तुओं आदि का आयात किया जाता है। 1960-61 में भारत ने अमरीका से 327·5 करोड़ रुपये के माल का आयात किया जो 1976-77 में बढ़कर 1,051 करोड़ रुपये हो गया। इसी अवधि में अमरीका को भारत का निर्यात भी 102 5 करोड़ से बढ़कर 522 करोड़ हो गया।

(iii) यूरोपीय आर्थिक समुदाय के अन्तर्गत बेल्जियम, इटली, जर्मनी, फ्रांस, लक्जेमबर्ग, नीदरलैण्ड्स, इंग्लैण्ड, नार्वे और डेनमार्क का समावेश होता है। यूरोपीय स्वतन्त्र बाजार क्षेत्र में आस्ट्रिया, पोर्तगाल, स्वीडन और स्विटजरलैण्ड आदि का समावेश होता है। जहाँ तक इन देशों को भारत के निर्यात का प्रश्न है, वह प्रथम योजना से लेकर बीस वर्षों तक लगभग 9 से 10 प्रतिशत रहा है जबकि इन देशों से आयात में वृद्धि हुई है। यूरोपीय साझा बाजार के देशों के साथ व्यापार करने में भारत को काफी घाटा हुआ है। द्वितीय योजना काल में यह व्यापार का घाटा 711 करोड़ रुपये का था तथा 1966-71 की अवधि में 647 करोड़ रुपये का था। इस बाजार में ब्रिटेन के शामिल हो जाने के बाद ब्रिटेन को किये जाने वाले हमारे निर्यातों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार कुल निर्यातों के प्रतिशत के रूप में 1974-75 में, अमरीका, यूरोपीय साझा बाजार और जापान को किये जाने वाले निर्यात का प्रतिशत 42 रह गया जबकि यही प्रतिशत 1973-74 में 52 था। यूरोपीय साझा बाजार और यूरोपीय स्वतन्त्र बाजार क्षेत्र को मिलाकर पश्चिमी यूरोप से होने वाले भारतीय आयात में कमी हुई है जो 1951 में 30 5 प्रतिशत से घटकर 1974-75 में 20 प्रतिशत रह गया। 1977-78 में यूरोपीय साझा बाजार के देशों को भारतीय निर्यात में 1976-77 की अपेक्षा 15 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। आयात में लगभग 22 प्रतिशत की वृद्धि हुई। साझा बाजार की स्वामसेन समिति के अनुसार यूरोपीय साझा बाजार के देशों के साथ 1980-81 तक भारत का व्यापार दुगना हो सकता है।

(iv) गैर स्टर्लिंग क्षेत्र से भारतीय विदेशी व्यापार में उल्लेखनीय प्रगति हुई है। इसमें रूस, पोलैण्ड, रूमानिया, बल्गारिया, हंगरी, यूगोस्लाविया एवं अन्य एशिया के देशों का समावेश होता है। भारत द्वारा इन देशों को किये जाने वाले निर्यात में उल्लेखनीय प्रगति हुई है। इसमें रूस के साथ होने वाला व्यापार उल्लेखनीय है। 1960-61 में रूस को भारत से केवल 15 करोड़ का निर्यात हुआ जो 1974-75 में बढ़कर 418 करोड़ से भी अधिक हो गया। 1960-61 में रूस से हमारा आयात केवल 30 करोड़ रुपये का था जो 1974-75 में बढ़कर 402 5 करोड़ रुपये का हो गया। 1973-74 में भारत के कुल आयातों का एक तिहाई रूस, जापान और ईरान से होता था। 1974-75 में भारत में पूर्वी यूरोपीय देशों से होने वाले आयात का प्रतिशत 15·3 था तथा इन देशों के साथ भारत का व्यापार सन्तुलन अनुकूल था।

उपर्युक्त देशों को भारत से चाय, काजू, मसाले, तम्बाकू, चमड़ा, जूट का सामान, धातु अभ्रक आदि का निर्यात किया जाता है तथा इन देशों से लोहा और इस्पात, कागज, दवाइयाँ, पेट्रोलियम उत्पादन, रसायन एवं पूँजीगत वस्तुएँ आदि का आयात किया जाता है।

इसके अतिरिक्त अरब देशों के हमारे निर्यात में भी वृद्धि हुई है। अप्रैल-सितम्बर 1977 तक इन देशों को भारत से लगभग 340 करोड़ रु० का निर्यात हुआ। इन देशों में सऊदी अरब, आबूधाबी, कुवैत, मिस्र, ईराक, सूडान, लीबिया, सीरिया, जोर्डन, ट्यूनीसिया, मोरक्को आदि हैं। यदि एशियाई साझा बाजार बन जाता है तो फिर एशिया के देशों में भारतीय निर्यात की अच्छी सम्भावनाएँ होंगी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत के विदेशी व्यापार में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। व्यापार के क्षेत्र में हम किसी गुट विशेष के साथ बँधे नहीं हैं वरन् हमारे व्यापार मे अमरीका भी उसी प्रकार साझेदार है जिस प्रकार सोवियत संघ और यूरोपीय आर्थिक समुदाय के विभिन्न सदस्य। हमारे व्यापार का क्षेत्र केवल बड़े देशों से ही नहीं, अफ्रीका, एशिया और यूरोप के छोटे-छोटे देशों तक फैला हुआ है।

व्यापार की दिशा मे यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि पिछले 25 वर्षों मे ब्रिटेन के साथ हमारे व्यापार की मात्रा घटी है तथा अमरीका, रूस, जापान, ईरान, ईराक, बगला देश, इण्डोनेशिया आदि देशों से हमारा व्यापार बढ़ रहा है। आज भारत का 68 प्रतिशत व्यापार समुद्री मार्ग से हो रहा है। भारत के परम्परागत निर्यात की मात्रा 72 प्रतिशत से घटकर 44 प्रतिशत रह गयी है। गत कुछ वर्षों मे भारत के विदेशी व्यापार मे द्विपक्षीय समझौतो एवं राजकीय व्यापार का महत्व बढ़ा है। भारत के विदेशी व्यापार मे कनाडा एवं ईरान का महत्वपूर्ण स्थान है। जापान के साथ भी हमारा व्यापार बढ़ रहा है। 1972-73 मे भारत से जापान को 317 करोड रुपये का सामान निर्यात किया गया जो 1973-74 मे बढकर 359 करोड रुपये हो गया। एशिया और सुदूरपूर्व आर्थिक आयोग (ECAFE) के क्षेत्र के साथ भी हमारे व्यापार मे वृद्धि हुई है।

भारत के विदेशी व्यापार में विविधता एवं आधुनिक प्रवृत्तियाँ

(DIVERSIFICATION AND RECENT TRENDS IN INDIA'S FOREIGN TRADE)

पिछले कुछ वर्षों मे भारत के विदेशी व्यापार मे काफी विविधता आयी है तथा इसमे नयी प्रवृत्तियाँ जन्म ले रही है। इनका अध्ययन हम निम्न रूप से कर सकते हैं :

(1) निर्यात मे विविधता—वस्तु और बाजार दोनो ही दृष्टियो से हमारे निर्यात मे विविधता आयी है। हमारे निर्यात व्यापार मे परम्परागत वस्तुओ का भाग घटा है और उनका स्थान विभिन्न प्रकार की निर्मित और अर्द्ध-निर्मित वस्तुओं ने ले लिया है। यह कम आश्चर्यजनक नही है कि सदा अनाज का आयात करने वाला भारत, अब खाद्यान्न का निर्यातक देश बन गया है। अब हमारी अर्थव्यवस्था बहिर्मुखी हो रही है देश में ठोस औद्योगिक संरचना का निर्माण होने से अब देश आधुनिक उपभोग और पूँजीगत वस्तुओं के निर्यात में अन्य देशों से प्रतियोगिता कर रहा है। अब हम बड़ी मात्रा मे खनिज लोह, चमड़ा और चमड़े की बनी वस्तुएँ, इंजीनियरिंग सामान, घड़ियाँ, सूतीवस्त्र, हीरे जवाहरात, ट्यूब, टायर तथा रबर के बने अन्य सामानो का निर्यात करते हैं। इन्जीनियरिंग वस्तुओ के निर्यात मे काफी विविधता आयी है। 1970-71 मे लगभग 116 करोड़ रु० की इंजीनियरिंग वस्तुओ का निर्यात हुआ जो 1976-77 में बढ़कर 552 करोड़ रु० हो गया। यद्यपि इन वस्तुओ के प्रमुख ग्राहक एशिया के देश ही हैं, फिर भी पश्चिमी यूरोप, पूर्वी यूरोप, उत्तर अमरीका और अफ्रीका को भी इन वस्तुओ का निर्यात होने लगा है। यह भी हमारे निर्यात की विविधता है कि भारत इलेक्ट्रानिक वस्तुओ का भी निर्यात कर रहा है जिनमे रेडियो, टेलीफोन, टेलीप्रिंटर और डाटा प्रोसेसिंग मशीनें प्रमुख हैं।

(2) निर्यात मे वृद्धि—भारत के निर्यात मे निरन्तर वृद्धि हुई है। 1950-51 मे भारत ने 601 करोड़ रु० का निर्यात किया जो 1976-77 मे बढ़कर 5,143 करोड रु० का हो गया। 1972-73 की तुलना मे 1976-77 मे पाँच वर्षों की अवधि में हमारा निर्यात व्यापार लगभग ढाई गुने से भी अधिक हो गया। यह हमारे बढ़ते निर्यात की उल्लेखनीय घटना है कि 1976-77 मे हमारे व्यापार मे 69 करोड़ रु० का अतिरेक हुआ। मोटर टायरों एवं रबर के सामान तथा स्कूटर के निर्यात मे भी निरन्तर वृद्धि हो रही है। यहाँ यह बताना आवश्यक है कि 1961-71 के दशक में निर्यात वृद्धि की औसत वार्षिक दर 4 1 प्रतिशत थी जो 1973-74 मे बढ़कर 28% तथा 1974-75 में 31 प्रतिशत हो गयी।

इस प्रकार हमारा विदेशी व्यापार निर्यातोन्मुखी आर्थिक नीति की ओर बढ़ रहा है। यह प्रशंसनीय है कि विदेशों में भारत की तस्वीर एक निर्यातक देश के रूप में उभरने लगी है।

(3) आयात में भी वृद्धि—यद्यपि भारत ने निर्यातों की वृद्धि पर भारी बल दिया है फिर भी 1951 से हमारे विदेशी व्यापार की यह प्रवृत्ति रही है कि उसमें निर्यातों की तुलना में आयातों की अधिकता रही है। 1951 में हमारा आयात 650 करोड़ रु० का था जो चौथी योजना के अन्त में बढ़कर 2,955 करोड़ रु० का हो गया जबकि उसी अवधि में निर्यात 601 करोड़ रु० से बढ़कर 2,523 करोड़ रु० का ही हुआ। औद्योगिक विकास एवं अन्य कारणों से भारत के आयातों में भारी वृद्धि हुई है। नयी विदेशी व्यापार नीति के अन्तर्गत भारत में ही उत्पादन की मात्रा बढ़ाकर आयातों से छुटकारा पाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

(4) प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन—कुछ अपवादों को छोड़कर 1951 से लेकर 1977 तक भारत के विदेशी व्यापार की कहानी प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन की कहानी है। केवल 1972-73 और 1976-77 इन वर्षों की अवधि में व्यापार-शेष हमारे पक्ष में था—1972-73 में 173 करोड़ रु० का अतिरेक तथा 1976-77 में 69 करोड़ रु० का अतिरेक हुआ। यद्यपि हमारे निर्यातों में वृद्धि हुई है किन्तु विदेशी व्यापार में भारतीय अर्थव्यवस्था को आत्मनिर्भर बनाने के लिए अभी बहुत कुछ करना शेष है तभी हम व्यापार को अनुकूल बना सकते हैं। योजना काल में प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन का कारण यह था कि एक ओर तो नियोजित आर्थिक विकास के कारण हमें अधिक मात्रा में मशीनों, खाद्यान्न, उपभोग वस्तुओं, रुई आदि का आयात करना पड़ा तथा दूसरी ओर हम निर्यातों को वांछनीय रूप में नहीं बढ़ा सके।

(5) निर्यात के नये बाजार—यह हमारे व्यापार की एक आधुनिक प्रवृत्ति ही है कि हमारे विश्व बाजार का क्षेत्र बढ़ता जा रहा है तथा निरन्तर नये बाजारों की खोज की जा रही है। आज विश्व के प्राय सभी देश भारतीय माल का कुछ न कुछ आयात करते हैं। हमारे निर्यात के मुख्य क्षेत्र उत्तर अमरीका, एशिया, यूरोपीय साझा बाजार, यूरोपीय मुक्त व्यापार क्षेत्र, सुदूर पूर्व यूरोप व अफ्रीका आदि हैं। भारत अब रुपये के आधार पर पूर्वी यूरोपीय देशों से व्यापार कर रहा है। चूँकि भारत ने स्टर्लिंग-पौण्ड से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया है अतः अब गैर-स्टर्लिंग देशों के साथ हमारा व्यापार काफी बढ़ रहा है। अरब देशों को भी हमारा निर्यात निरन्तर बढ़ रहा है।

(6) विश्व निर्यात में भारत का गिरता हुआ प्रतिशत—यह एक निराशाजनक स्थिति है कि विश्व के कुल निर्यातों में भारत का प्रतिशत गिरा है। जहाँ 1950 में विश्व निर्यात में भारत का प्रतिशत 2.2 था, वहीं गिरकर 1960 में 1·19 प्रतिशत तथा 1975 में घटकर 0.53 प्रतिशत रह गया। यह निम्न तालिका से स्पष्ट है

तालिका 44.8—विश्व निर्यात में भारत

(यू एस मिलियन डालर में)

वर्ष	विश्व निर्यात	भारत का निर्यात	विश्व निर्यात में भारत का प्रतिशत
1950	55,800	1,145	2·1
1955	83,365	1,263	1·5
1960	1,13,275	1,331	1.2
1965	1,65,405	1,687	1·0
1970	2,80,700	2,026	0.7
1975	7,93,254	4,180	0.5

[Source—*International Financial Statistic IMF* (Various issues)]

पिछली तालिका स्पष्ट करती है कि 1950 के बाद निरन्तर विश्व निर्यात में भारत के निर्यात का प्रतिशत गिरता रहा है जो 1950 के बाद 25 वर्षों में घटकर एक चौथाई रह गया।

(7) *निर्यात की वस्तुओं की विदेशों में लोकप्रियता—जिन वस्तुओं का भारत से निर्यात* किया जाता है उनके गुणात्मक स्तर में भारी सुधार हुआ है तथा अब विदेशों में "भारत में बनी" वस्तुओं का आकर्षण बढ़ रहा है। आज एच. एम. टी. की घड़ियाँ आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और यूरोप के देशों में लोकप्रिय हो रही हैं तथा इन घड़ियों की विदेशों में इतनी अधिक माँग है कि हम उसकी केवल एक तिहाई की ही पूर्ति कर पा रहे हैं। भारत में बनी आयुर्वेदिक और यूनानी दवाइयों का सेवन रूस, इण्डोनेशिया एवं स्विटज़रलैण्ड के मरीज करते हैं और स्वास्थ्य लाभ कर रहे हैं। चमड़े की बनी वस्तुओं के लिए विदेशों में चाह है तथा भारतीय कपड़ा भी लोकप्रिय हो रहा है। भारत में बने मालगाड़ी के डिब्बों की ऊँची कीमत पर यूगोस्लाविया में बिक्री हो रही है तथा न्यूयार्क के लोग भारत में बनी माईक्रिनो पर सैर करते हैं। 1975-76 में भारत से 25 करोड़ रु० की माईक्रिनो का निर्यात हुआ तथा 1978-79 के लिए 31·5 करोड़ रु० का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। भारतीय साड़ियों के लिए भी रूस, इंगलैण्ड, फ्रांस, सूडान, सिंगापुर, मारीशस आदि में विशेष चाह है। इसके अतिरिक्त सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री का भी भारत निर्यात कर रहा है।

(8) घरेलू उपभोग को प्राथमिकता—हमारे विदेशी व्यापार की बिलकुल नवीनतम प्रवृत्ति यह है कि अब देश के उपभोग को प्रमुखता दी जा रही है अर्थात् देश के उपभोग की बलि देकर निर्यातों को प्रोत्साहित नहीं किया जा रहा है। इसके फलस्वरूप देश से सब्जियों, केला, चाय, तिलहन आदि का निर्यात रोक दिया गया है। इसके साथ ही कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिनका भारत सीमान्त उत्पादक है जैसे काफी, रुई, खालें और चमड़ा, मूँगफली इत्यादि इनकी घरेलू खपत में वृद्धि हुई है जिससे हमारे निर्यात कम हुए हैं।

(9) विदेशी व्यापार में सरकारी नियन्त्रण में वृद्धि—भारतीय विदेशी व्यापार में सरकारी नियन्त्रण में वृद्धि हुई है यद्यपि नवीनतम आयात निर्यात नीति में सरकार ने काफी उदारता का परिचय दिया है। अब देश के आयात व्यापार का 3/5 भाग और निर्यात व्यापार का एक चौथाई भाग विभिन्न राजकीय व्यापारिक एजेन्सियों के माध्यम से होता है। 1974-75 में राजकीय व्यापार निगम ने लगभग 140 वस्तुओं का निर्यात किया तथा 200 वस्तुओं का आयात किया। इसके अतिरिक्त 12 और अन्य निगम हैं जो सम्बन्धित क्षेत्र में विदेशी व्यापार में संलग्न हैं।

(10) निर्यातों में अभी भी केन्द्रीयकरण—पिछले पाँच वर्षों में हमारे विदेशी व्यापार में भारी विविधता के बावजूद भी केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति अब भी बनी हुई है जो संरचना तथा दिशा दोनों में दृष्टिगत है। अभी भी दस प्रमुख वस्तुओं (जूट का सामान, चाय, लाख, अभ्रक, तम्बाकू, चमड़ा, वनस्पति, फल और मेवा, मैंगनीज अयस्क आदि) का निर्यात में 60 प्रतिशत हिस्सा है। इसी प्रकार पाँच बड़े देश (इंगलैण्ड, अमरीका, रूस, जापान तथा पश्चिमी जर्मनी) हमारे निर्यातों का 55 प्रतिशत भाग खरीदते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ यह स्पष्ट करती हैं कि हाल के वर्षों में हमारे निर्यात की विविधता तथा मात्रा ने भारत के विदेशी व्यापार को एक नयी स्फूर्ति प्रदान की है तथा गैर-परम्परागत वस्तुओं का प्रतिस्पर्द्धापूर्ण बाजारों में निर्यात किया जा रहा है।

भारत का व्यापार सन्तुलन
(INDIA'S BALANCE OF TRADE)

व्यापार सन्तुलन में दृश्य आयातों एवं निर्यातों का विवरण होता है। यदि निर्यातों की तुलना में आयात अधिक होते हैं तो व्यापार-शेष प्रतिकूल रहता है। यदि आयातों की तुलना में निर्यात अधिक होते हैं तो व्यापार-शेष अनुकूल रहता है। यदि आयात और निर्यात दोनों बराबर होते हैं तो व्यापार-शेष सन्तुलन में रहता है।

विश्वयुद्ध के पूर्व यद्यपि भारत का व्यापार सन्तुलन उसके पक्ष में था किन्तु 1951 के बाद भारत के विदेशी व्यापार में "प्रतिकूल व्यापार-शेष" की समस्या रही है। 1951 से लेकर 1977-78 तक की अवधि में केवल दो बार ही भारत का व्यापार-शेष उसके अनुकूल रहा है। यह निम्न तालिका से स्पष्ट है :

तालिका 44 9—भारत का व्यापार-शेष

(करोड़ रुपये में)

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापार-शेष
1951-52	962 9	730 1	—238 8
1955-56	773 1	640 3	—132·8
1960-61	1,105 7	630 5	—472·2
1965-66	1,350·0	783 0	—566·7
1970-71	1,634 2	1,535 1	— 99·1
1972-73	1,796 7	1,969·9	+173·2
1975-76	5,265 2	4,042·8	—1,222·4
1976-77	5,074 4	5,143 4	+ 69·0
1977-78 (Apr.-Dec.)	3,836 1	3,603·7	—232 4

उपर्युक्त तालिका स्पष्ट करती है कि 1950 से लेकर लगातार 28 वर्षों की अवधि में केवल दो वर्षों को छोड़कर हमारा व्यापार-शेष सदैव प्रतिकूल रहा है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1 आर्थिक नियोजन की अवधि में भारत के विदेशी व्यापार की संरचना और दिशा में हुए महत्वपूर्ण परिवर्तनों का विश्लेषण कीजिए।
2. भारत के विदेशी व्यापार की नवीनतम विविधताओं एवं प्रवृत्तियों का उल्लेख कीजिए ?
3. भारत द्वारा निर्यात एवं आयात की जाने वाली प्रमुख वस्तुओं का विवरण दीजिए इनमें होने वाले आधुनिक परिवर्तनों को भी स्पष्ट कीजिए ?
4. भारत का व्यापार-शेष प्रतिकूल क्यों रहा है ? इसे ठीक करने के लिए आप क्या सुझाव देंगे ?

अध्याय 45

भारत की आयात एवं निर्यात नीति अथवा विदेशी व्यापार नीति

[IMPORT AND EXPORT POLICY OF INDIA OR FOREIGN TRADE POLICY]

परिचय

पिछले पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि स्वतन्त्रता के बाद प्रायः भारत का व्यापार सन्तुलन प्रतिकूल रहा है और इसका परिणाम यह हुआ है हमारा भुगतान-शेष भी प्रतिकूल हो गया। इसे ठीक करने के लिए यद्यपि और भी उपाय आवश्यक हैं पर व्यापार-शेष में सुधार करना भी बहुत जरूरी है। इसके लिए आवश्यक है कि देश की एक उचित व्यापार की नीति हो जिसका उद्देश्य आयातों और निर्यातों में इस प्रकार समन्वय करना होना चाहिए कि देश का आर्थिक विकास हो और वह आत्म-निर्भर बन सके। इसमें दो मत नहीं हैं कि किसी भी देश की आर्थिक प्रगति प्रत्यक्ष रूप से अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में हुई प्रगति पर निर्भर रहती है। जहाँ तक औद्योगिक क्षेत्र की प्रगति का सम्बन्ध है, वह काफी हद तक देश में उत्पादित और आयातित आवश्यक उपकरणों तथा अन्य चीजों की सामयिक प्राप्ति पर ही निर्भर रहती है। इसके साथ यह भी आवश्यक है कि देश के निर्यात में वृद्धि की जाये।

भारत की विदेशी व्यापार नीति, उद्देश्य एवं विभिन्न-अवस्थाएँ

उद्देश्य—प्रारम्भ से ही हमारी विदेशी व्यापार नीति के निम्न उद्देश्य रहे हैं :

(i) केवल आवश्यक वस्तुओं का ही आयात करना।

(ii) आयात-प्रतिस्थापित वस्तुओं के उद्योगों की स्थापना करना एवं उनके लिए आवश्यक कच्चे माल की देश में व्यवस्था करना।

(iii) निर्यात प्रोत्साहित करने वाले उद्योगों को बढ़ावा देना।

(iv) निर्यात क्षेत्र में अतिरेक का सृजन कर निर्यातों की वृद्धि करना, एवं

(v) घरेलू बाजार में उचित कीमतों पर वस्तुओं का समान एवं न्यायपूर्ण वितरण करना।

संक्षेप में व्यापार-नीति का उद्देश्य आयातों को सीमित करना एवं निर्यातों को प्रोत्साहित करना रहा है।

विभिन्न अवस्थाएँ—भारत की व्यापार नीति को हम अध्ययन की सुविधा के लिए निम्न भागों में बाँट सकते हैं :

(1) 1947-48 से 1951-52 तक की व्यापार नीति।

(2) 1952-53 से 1956-57 तक की व्यापार नीति।

(3) 1956-57 से लेकर जून 1966 तक की व्यापार नीति।

(4) अवमूल्यन के बाद (जून 1966) से 1975-76 तक की व्यापार नीति।

(5) 1975-76 से 1978-79 तक की नवीनतम व्यापार नीति।

अब हम क्रमशः इनका अध्ययन करेंगे

(1) 1947-48 से 1951-52 तक की व्यापार नीति—इस काल मे भारत आयातों के सम्बन्ध मे उदार नीति बना सकता था पर ब्रिटेन ने स्टर्लिंग-शेष के प्रयोग पर कई प्रकार के कठोर नियन्त्रण लगा दिये थे अतः भारत को युद्धकालीन नियन्त्रण जारी रखना पड़े। डालर-क्षेत्र के साथ हमारा भुगतान-शेष काफी प्रतिकूल था अतः इस क्षेत्र से आयातों को प्रतिबन्धित किया गया एवं निर्यातों मे वृद्धि की गयी। इसी कारण भारत को 1949 में रुपये का अवमूल्यन करना पड़ा। कुल मिलाकर इस काल मे भारत को विदेशी व्यापार नीति के क्षेत्र मे कठोर आयात नियन्त्रण नीति का सहारा लेना पड़ा। साथ ही देश में वस्तुओं की कमी को देखते हुए कुछ अंशों मे निर्यातों को भी नियन्त्रित करना पड़ा।

(2) 1952-53 से 1956-57 तक की व्यापार नीति—इस अवधि में विदेशी व्यापार नीति को उदार बनाया गया। द्विपक्षीय और क्षेत्रीय समझौते बनाये रखने के अतिरिक्त इस काल में आयातों व निर्यातों का सतर्क नियमन आवश्यक समझा गया। फिर भी आयात लाइसेन्स उदारतापूर्वक दिये गये तथा निर्यात बढ़ाने के लिए कई प्रकार की रियायतें दी गयीं जैसे निर्यात नियन्त्रणों में ढील, निर्यात कर में छूट, निर्यात-अभ्यंशों की समाप्ति तथा निर्यात के लिए प्रोत्साहन। निर्यातों को बढ़ाने के लिए 1954 में "निर्यात सम्वर्धन परिषद" की स्थापना की गयी।

आयातों को उदार बनाने के फलस्वरूप आयातों मे तो वृद्धि हुई पर निर्यातों मे वृद्धि नहीं हो सकी। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारे विदेशी विनिमय रिजर्व में कमी आयी जो 1955-56 में 824 करोड़ रु० से घटकर 1957-58 में 427 करोड़ रु० रह गया। अतः व्यापार नीति में पुनः परिवर्तन करना पड़ा।

(3) 1956-57 से जून 1966 तक की व्यापार नीति—इस अवधि मे द्वितीय और तृतीय योजना काल का समावेश होता है। इस काल में नियोजित आर्थिक विकास के उद्देश्यों को दृष्टि मे रखते हुए व्यापार-नीति का पुनर्निर्धारण करना पड़ा।

द्वितीय योजनाकाल (1956-61) मे विदेशी विनिमय संकट को दृष्टि मे रखते हुए आयातों पर कठोर नियन्त्रण लगाये गये। उदार लाइसेन्सिंग नीति के स्थान पर वास्तविक प्रयोगकर्ताओं को प्राथमिकता की प्रणाली अपनायी गयी। अनावश्यक वस्तुओं के आयात को पूर्ण रूप से निषिद्ध कर दिया गया। आयात नीति की यह विशेषता थी कि आयातों को घरेलू उत्पादन के साथ सम्बन्धित किया गया।

इस योजना मे विशाल पैमाने पर निर्यातों को बढ़ाने के उपाय किये गये तथा इसके लिए राजकीय व्यापार निगम, निर्यात प्रोत्साहन समिति, वस्तु बोर्ड एवं निर्यात जोखिम बीमा निगम आदि की स्थापना की गयी। किस्म नियन्त्रण की प्रणाली भी आरम्भ की गयी। परिवहन के क्षेत्र मे भी प्राथमिकता दी गयी। सरकार ने लगभग 200 वस्तुओं के निर्यात पर से नियन्त्रण हटा लिये। भारतीय वस्तुओं के विदेशी बाजार के विस्तार के लिए कई प्रकार की प्रशुल्क रियायतें भी दी गयीं।

तीसरी योजना अवधि मे आयातों को और अधिक नियन्त्रित कर दिया गया पर देश में युद्ध की स्थिति होने के कारण रक्षा सामग्री के आयातों को प्राथमिकता दी गयी। मशीनों और महत्वपूर्ण उपकरणों को आयात करने के सम्बन्ध में सरकार ने चयनात्मक आयात नियन्त्रण नीति का सहारा लिया।

निर्यातों को बढ़ाने के लिए सरकार की ओर से और भी सुविधाएँ दी गयी तथा इस सम्बन्ध में संस्थागत सुविधाएँ प्रदान की गयी एवं कुछ संस्थाओं की स्थापना की गयी जैसे—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संस्थान, आयात-प्रतिस्थापन समिति, निर्यात निरीक्षण परामर्शदाता समिति एवं खनिज तथा धातु व्यापार निगम इत्यादि। इस बात पर भी बल दिया गया कि परम्परागत वस्तुओं के साथ ही साथ नयी वस्तुओं के निर्यातों को भी प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

(4) जून 1966 से 1975-76 तक की व्यापार नीति—जून 1966 में भारतीय रुपये का अवमूल्यन किया गया जिससे विदेशी व्यापार नीति में एक नयी दिशा का सूत्रपात हुआ। अवमूल्यन के साथ ही सरकार ने देश के 59 उद्योगों के लिए आयात नीति को उदार बना दिया। 1975-76 में सरकार ने पुनः निर्यात उत्पादन में वृद्धि करने के लिए आयातों को विशेष रूप से अनुरक्षण आयातों को उदार बनाने की नीति अपनायी है।

(5) 1975-76 से 1978-79 तक की व्यापार नीति—इस अवधि में विदेशी व्यापार नीति को और अधिक उदार बनाया गया है तथा आयातों पर से कठोर नियन्त्रणों को हटा लिया गया है। इस पर हम विस्तार से इसी अध्याय के अन्त में समन्वित रूप से "आयात-निर्यात नीति" के अन्तर्गत विवेचन करेंगे।

अभी तक हमने पाँच खण्डों के अन्तर्गत आयात-निर्यात नीति का संक्षिप्त परिचय दिया है किन्तु सरलता की दृष्टि से यह उत्तम होगा कि आयात और निर्यात नीति का अलग-अलग खण्डों में विवेचन किया जाय।

आयात नीति
(IMPORT POLICY)

1948-49—1951-52

स्वतन्त्रता के पूर्व भारत में ब्रिटिश हितों को दृष्टि में रखकर आयातों का नियमन किया जाता था तथा औपनिवेशिक व्यापार को दृष्टि में रखते हुए निर्मित वस्तुओं का आयात किया जाता था किन्तु स्वतन्त्रता के बाद विकास-जनित आयात नीति को अपनाया गया जिसके निम्न तीन निर्धारक तत्व थे

(1) विदेशी विनिमय के संरक्षण हेतु, जहाँ तक सम्भव हो, आयातों को सीमित रखा जाना चाहिए।

(2) आयातों की प्रकृति इस प्रकार संशोधित की जानी चाहिए कि उसमें निर्यात-प्रोत्साहन में सहायता मिले।

(3) उन वस्तुओं के आयातों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए जिससे देश के औद्योगीकरण में सहायता मिले। जिन वस्तुओं का उत्पादन देश में किया जा सकता है, या तो पूर्ण रूप से उनका आयात रोक देना चाहिए अथवा सीमित कर देना चाहिए। इस प्रकार आवश्यक और अनावश्यक (आयातों की दृष्टि से) वस्तुओं में भेद किया गया।

1949-52 की अवधि में भारत सरकार ने डालर क्षेत्र के देशों के सम्बन्ध में विवेचनात्मक आयात नीति (Discriminating Import Policy) का अनुसरण किया तथा इस क्षेत्र से आयातों को प्रतिबन्धित कर दिया गया। डालर की दुर्लभता के कारण ऐसा किया गया। किन्तु सुलभ मुद्रा क्षेत्र विशेष रूप से इंगलैण्ड से उदारतापूर्ण आयात की नीति अपनायी गयी क्योंकि भारत के पास स्टर्लिंग पौण्ड का अच्छा अतिरेक था किन्तु भारत जो स्टर्लिंग शेष इंगलैण्ड के पास था, उसे इंगलैण्ड ने अवरुद्ध कर दिया अतः भारत इस क्षेत्र के साथ भी उदार आयात-नीति को जारी नहीं रख सका। यहाँ तक कि 1949 में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के बाद भी आयातों की कठोर नीति अपनायी गयी।

एक ओर आयातो का नियन्त्रण और दूसरी ओर अवमूल्यन के फलस्वरूप निर्यात प्रोत्साहन से भारत की भुगतान-शेष की स्थिति मे सुधार हुआ। आयातो के सम्बन्ध मे कुछ वस्तुओ पर कठोर नियन्त्रण के बावजूद खाद्यान्न, औद्योगिक कच्चा माल एवं मशीनो के आयात के सम्बन्ध मे उदार नीति अपनायी गयी।

प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजना में आयात नीति

प्रथम योजना मे आशातीत सफलता मिली। इस योजना मे यद्यपि कुछ अशो मे देश में औद्योगीकरण की नींव रखी जा चुकी थी, पूर्ण रूप से औद्योगीकरण की प्रक्रिया दूसरी योजना मे आरम्भ हुई। अत: 1955 और 1956 मे आयात की उदार नीति अपनायी गयी। सार्वजनिक क्षेत्र मे भारी उद्योगो की स्थापना तथा निजी क्षेत्र मे उद्योगों की स्थापना से पूँजीगत वस्तुओं का इतनी अधिक मात्रा मे आयात किया गया कि 1956-57 मे आयात की राशि 1,102 करोड़ रुपये हो गयी तथा 1957-58 मे बढ़कर यह 1,233 करोड़ रुपये हो गयी। अत. आयातो को प्रतिबन्धित करने का निर्णय लिया गया। यद्यपि पूँजीगत वस्तुओं का आयात जारी रहा किन्तु उपभोग वस्तुओ को कठोरता के साथ नियन्त्रित कर दिया गया।

तीसरी योजना में आयात नीति—मुदालियर कमेटी द्वारा समीक्षा

1962 मे नियुक्त आयात और निर्यात समिति, जिसके अध्यक्ष श्री मुदालियर थे, ने आयात नीति की समीक्षा की। कमेटी का मत था कि विकासात्मक और अनुरक्षण आयात देश के लिए जरूरी थे अत देश को विद्यमान उद्योगो की आवश्यकता पूर्ति हेतु आयात करना चाहिए तथा निम्न क्षेत्रों मे नये उद्योगो को प्राथमिकता देना चाहिए :

(i) परिवहन और शक्ति जिनके अभाव से उद्योगो मे व्यवधान होता है।

(ii) निर्यात को प्रोत्साहित करने वाले उद्योग।

(iii) कच्चा माल और उन सामानो का उत्पादन करने वाले उद्योग जिनका आयात किया जाता है।

(iv) वे उद्योग जो पूर्ण रूप से घरेलू कच्चे माल पर ही आधारित हैं।

उक्त सिफारिशो को सरकार द्वारा पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया गया। 1965-66 की आयात नीति ने अतिरिक्त 60 वस्तुओ के आयात को सीमित कर दिया। इसका उद्देश्य यह था कि अधिक आवश्यक वस्तुओ—खाद्यान्न, उर्वरक और रक्षा सामग्री के आयात के लिए विदेशी मुद्रा का प्रयोग किया जा सके।

1966 में अवमूल्यन के बाद आयात नीति

1966 मे भारतीय रुपये के अवमूल्यन के कारण आयात नीति मे बड़ा परिवर्तन आया। अभी तक कठोर आयात नीति के स्थान पर कुछ उदार आयात नीति बनायी गयी तथा 59 प्राथमिकता वाले उद्योगो के लिए कच्चे माल, एवं कलपुर्जों के आयात को उदार बनाया गया जिसका उद्देश्य था उद्योगो की पूर्ण उत्पादन क्षमता का प्रयोग करना।

1966-67 की आयात नीति की दूसरी विशेषता यह थी कि कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए उर्वरक और कीटाणुनाशक दवाईयो के आयात को प्राथमिकता दी गयी। लघु उद्योग इकाइयो को प्राथमिकता के आधार पर आयात लाइसेन्स दिये गये। आयात लाइसेन्स प्रदान करने के लिए निर्यातकों के नाम दर्ज करने की नीति चालू की गयी।

चौथी योजना मे आयात नीति

1969-70 की आयात-नीति मे 319 वस्तुओ के आयात को रोक दिया गया तथा 219 वस्तुओ के आयात को नियन्त्रित कर दिया। 1970-71 की आयात नीति मे उन उत्पादको

को विदेशी मुद्रा के उपयोग की सुविधा दी गयी जो अपने कुल उत्पादन 25 या इससे अधिक प्रतिशत का निर्यात करते हैं। इस वर्ष की आयात नीति में 22 वस्तुओं के आयात व्यापार को पूर्ण रूप से सरकारी नियन्त्रण में ले लिया गया। 1971-72 की आयात नीति में सरकार द्वारा आयात की जाने वाली वस्तुओं की संख्या बढ़ाकर 51 कर दी गयी। 1972-73 में पूर्व वर्ष की आयात नीतियों का विस्तार किया गया। इस वर्ष उद्योगों को उनकी उत्पादन क्षमता दुगनी करने का अधिकार दिया गया एवं इस हेतु विदेशी विनिमय का विशेष रूप से आवंटन किया गया तथा कच्चे माल के आयात को छूट दी गयी। किन्तु 160 ऐसी वस्तुओं के आयात को निषिद्ध कर दिया गया जिनको पहले वास्तविक उपभोक्ताओं को आयात करने की छूट थी। 1973-74 की आयात-नीति में 1972-73 की तुलना में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं किये गये।

पाँचवीं योजना की आयात नीति

1974-75 में घोषित आयात नीति में निर्यात व्यापार में संलग्न उद्योगों को आयातों के मामले में प्राथमिकता दी गयी। आयात लाइसेंस की प्रक्रिया को सरल बनाया गया तथा निर्यात उद्योगों को उनके कार्यों एवं सफलता के आधार पर प्राथमिकता दी गयी। 1973-74 लघु औद्योगिक इकाइयों को जितने लाइसेंस कच्चे माल, अतिरिक्त कलपुर्जों तथा अन्य प्रकार की सामग्री के लिए दिये गये थे, 1974-75 के प्रथम छः माह में उनके 50% मूल्य का आयात करने की अनुमति दे दी गयी। इसे Repeat Operation कहते हैं। जिन औद्योगिक इकाइयों ने 1973-74 में अपने उत्पादन का 10 प्रतिशत या इससे अधिक निर्यात किया था 1974-75 में उनकी उत्पादन क्षमता को बढ़ाने के लिए उन्हें आयात की प्राथमिकता दी गयी। 1974-75 में सार्वजनिक क्षेत्र की संस्थाओं का आयात व्यापार में अधिकार बढ़ाने के लिए 10 नयी वस्तुओं के आयात अधिकार इन्हें दिये गये जिन्हें मिलाकर इन संस्थाओं का 210 वस्तुओं के आयात पर एकाधिकार हो गया।

1975-76 में सरकार ने उदार आयात नीति की घोषणा की जिसका उद्देश्य विशेष रूप से निर्यात उत्पादन बढ़ाना था जिसके लिए अनुरक्षण आयातों पर जोर दिया गया। इस आयात नीति की निम्न विशेषताएँ थीं :

(i) इसमें एक स्वतः अग्रदाय लाइसेंस (Automatic Imprest Licensing) की प्रणाली शुरू की गयी जिसके अन्तर्गत जिस उत्पादक या निर्यातक को 1974-75 में आयात लाइसेंस मिला हुआ था, उसे उतने ही मूल्य का तथा उतने ही समय का आयात लाइसेंस पुनः दे दिया जायगा।

(ii) जो इकाइयाँ अपने उत्पादन का कम से कम 20% निर्यात करती हैं, उन्हें प्रयुक्त किये जाने वाले कच्चे माल के मूल्य के बराबर आयात करने हेतु लाइसेन्स दिये जायेंगे।

(iii) अतिरिक्त सामानों (spare parts) का आयात करने के लिए प्रत्येक उद्योग को पृथक रूप से आयात लाइसेंस दिये जायेंगे।

(iv) लघु इकाईयों की सहायता करने के लिए उन्हें निःशुल्क विदेशी विनिमय की मात्रा बढ़ाकर 10,000 रु० तक कर दी गयी।

(v) मशीनों का आयात करने के लिए पहले जो 6 लाख की सीमा थी, उसे बढ़ाकर 7·5 लाख कर दिया गया।

(vi) नयी आयात नीतियों में लाइसेंस के आवेदन पत्र सीधे सम्बन्धित अधिकारी को देने की सुविधा प्रदान की गयी।

आलोचकों का मत है कि 1974-75 में भारी मात्रा में, व्यापार-शेष में घाटे के बावजूद उदार आयात नीति अपनायी गयी जो उचित कदम नहीं था। आयात-प्रतिस्थापित उद्योगों के स्थान पर सरकार ने निर्यात उद्योगों को अधिक प्रोत्साहन दिया।

दी गयी। इन निर्यातकों को उपकरण तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ अपनी जरूरत के अनुसार मंगाने की व्यवस्था की गयी।

(3) **देश के उत्पादकों को संरक्षण**—देश के उत्पादकों के हितों को दृष्टि में रखते हुए, विदेशी माल मंगाने की कुछ सीमाएं निश्चित कर दी गयी तथा कुछ प्रतिबन्ध भी लगा दिये गये। इसका उद्देश्य देश के उत्पादकों को आवश्यक संरक्षण देना था।

(4) **शुल्क मुक्त आयात योजना का नया रूप**—यद्यपि अग्रिम लाइसेन्सों के मामले में शुल्क मुक्त आयात की योजना कुछ समय से लागू थी फिर भी वह सुचारु रूप से नहीं चल रही थी अतः इसे नया रूप दिया गया और आयात शुल्क के भुगतान के बिना ही आयात की सूची में 94 चीजें शामिल कर ली गयीं।

(5) **मशीनों के आयात की व्यवस्था**—देशी मशीनों और प्लाण्टों की पूर्ति करने वालों के हितों की रक्षा करने के लिए कुछ दशाओं में मशीनों के आयात लाइसेन्स की व्यवस्था की गयी। लाइसेन्स के कुल मूल्य के दस प्रतिशत तक मशीनों के आयात के लिए लाइसेन्स देने का प्रावधान रखा गया। कारखाने के विस्तार, आधुनिकीकरण, अनुसन्धान, विकास आदि के लिए लाइसेन्स के अनुसार पूरी राशि मशीनें मगाने पर खर्च की जा सकेगी।

(6) **राज्य व्यापार संस्थाओं द्वारा आयात**—अनेक चीजों का आयात राज्य व्यापार निगम, खनिज और धातु व्यापार निगम आदि सार्वजनिक क्षेत्र के संगठनों द्वारा करने की व्यवस्था की गयी तथापि निर्यातकों को इनमें से अनेक चीजों का आयात स्वय करने की छूट भी दे दी गयी।

(7) **सामान्य जरूरतों का ध्यान**—आयात नीति में जन सामान्य की जरूरतों की उपेक्षा नहीं की गयी है। कैंसर निरोधी और प्राण रक्षक दवाओं, अन्धे लोगों के जरूरत की चीजों, डाक्टरों, अस्पतालों और चिकित्सा संस्थानों की जरूरत की चीजों तथा विज्ञान-टेकनालाजी की ऐसी विशिष्ट पुस्तकें जिनके भारतीय संस्करण उपलब्ध नहीं है, बेरोकटोक मगाने की व्यवस्था भी गयी।

(8) **अनुसन्धान एव विकास सम्बन्धी आयात**—मान्यता प्राप्त सभी अनुसन्धान और विकास संस्थाओं को बिना किसी लाइसेन्स के प्रति वर्ष 5 लाख रु० तक का कच्चा माल, उपकरण, औजार आदि विदेशों से मगाने की व्यवस्था की गयी।

(9) **आयात प्रतिस्थापन**—आयात नीति में आयात प्रतिस्थापन के क्षेत्र को बढ़ाने पर भी जोर दिया गया क्योंकि इसका उद्देश्य भी आत्म निर्भर बनना है। अत. आयात नीति का उद्देश्य शीघ्र और पूर्ण निष्ठा के साथ आत्म-निर्भरता प्राप्त करना रखा गया जिसका आधार "मानव में विश्वास" की भावना है।

1978-79 की नवीनतम आयात नीति

भारत के वाणिज्य मन्त्री श्री मोहन धारिया ने 3 अप्रेल, 1978 को नयी आयात नीति की घोषणा की जिसे भारतीय अर्थव्यवस्था की दृष्टि में यथार्थवादी चिन्तन का प्रतीक बताया गया है। इस नीति के दो बड़े गुण उसका सरल स्वरूप और उसकी उदारता है। पिछले 30 वर्षों में पहली बार भारत सरकार ने अपनी आयात-निर्यात नीति की जटिलताओं को समाप्त कर उस पर से सरकार का कठोर नियन्त्रण और एकाधिकार ढीला किया है। नयी आयात नीति की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार है :—

(1) **उदार आयात**—नयी आयात नीति के अन्तर्गत आयात किये हुए सामान का प्रयोग करने वाले वास्तविक उत्पादकों को सीधे ही अपनी आवश्यकता की सामग्री प्राप्त हो सकेगी,

विशेषरूप से निर्यात के लिए उत्पादन की जाने वाली वस्तुओं के लिए यदि किसी विदेशी वस्तु के आयात की आवश्यकता हो तो उसका सीधे आयात किया जा सकेगा।

(2) खुले सामान्य लाइसेंस की प्रणाली—मुक्त लाइसेन्सिंग प्रणाली को समाप्त करके उसे खुले सामान्य लाइसेंस प्रणाली में विलीन कर दिया गया है जिसमें वस्तुओं की संख्या बढ़ाकर 253 कर दी गयी है जिसमें मुख्यतः चर्म उद्योग, तैयार वस्त्र और होजियरी उद्योग और कई प्रकार के मशीन टूल्स शामिल हैं। खुले सामान्य लाइसेंस का अर्थ है कि इन वस्तुओं का आयात बिना अनुमति लिए किया जा सकेगा।

(3) आयात लाइसेंस की प्रक्रिया का विकेन्द्रीकरण—दस लाख रुपये से नीचे की पूँजीगत वस्तुओं के आयात लाइसेंस जारी करने का कार्य विकेन्द्रित कर दिया गया है। सरकार द्वारा मान्य चिकित्सालयों, शोध और विकास संस्थानों, उच्चतर शिक्षा केन्द्रों आदि को अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए तकनीकी सामग्री प्रतिवर्ष दस हजार रुपये की सीमा में आयात करने की छूट दी गयी है।

(4) आवश्यक आयात स्वतन्त्र—पिछले वर्ष के समान प्राणरक्षक दवाइयों, अन्धे व्यक्ति की जरूरतों का सामान, यूनानी, आयुर्वेदिक और होम्योपैथिक दवाइयों और महत्वपूर्ण पुस्तकों एवं पत्रिकाओं को खुले सामान्य लाइसेंस श्रेणी में रखा गया है।

(5) आयात नीति में स्थिरता—आयात नीति को बनाने के लिए एक सरकारी समिति बनाने की व्यवस्था की गयी जो प्रथम तीन महीनों में आयातों के सम्बन्ध में सुझाव एवं आपत्तियाँ ग्रहण करेगी तथा सरकार इस सम्बन्ध में अपनी अनुशंसा देगी। मुख्य आयात-निर्यात नियन्त्रक द्वारा इस सम्बन्ध में प्रतिमाह स्पष्टीकरण देने की व्यवस्था भी की गयी।

(6) सार्वजनिक और निजी क्षेत्र में भेद समाप्त—लाइसेंस की आवश्यकता, सुविधाओं एवं प्रक्रिया के सम्बन्ध में सार्वजनिक और निजी क्षेत्र में कोई भेद नहीं किया गया है। सरकार के वे प्रतिष्ठान जो विभागीय रूप से कार्य करते हैं, विदेशी विनिमय प्राप्त होने पर सुविधाजनक रूप में लाइसेंस प्राप्त कर सकते हैं।

(7) लघु उद्योगों को प्रोत्साहन—लघु उद्योगों को बढ़ावा देने की दृष्टि से उद्यमियों को प्रत्येक लघु उद्योग के लिए तीन लाख रुपये तक का आयात लाइसेंस दिया जायगा तथा यदि किसी परिगणित जाति अथवा जनजाति का कोई सदस्य किसी पिछड़े हुए क्षेत्र में उद्योग लगाना चाहे तो उसे पाँच लाख रुपये तक का आयात लाइसेंस मिल सकेगा।

(8) वास्तविक उपयोगकर्ताओं का क्षेत्र विस्तृत—गैर औद्योगिक वास्तविक उपयोगकर्ताओं (Actual Users) का क्षेत्र बढ़ा दिया गया है तथा उसमें अनुरक्षण कर्मशालाओं, सेवा केन्द्रों, मुद्रक, प्रकाशक, अस्पताल और शैक्षणिक संस्थानों को शामिल कर लिया गया है।

(9) अतिरिक्त सामान और कलपुर्जों में भेद—आयात की दृष्टि से अतिरिक्त सामान (Components) और कलपुर्जों (Spares) में स्पष्ट भेद कर दिया गया है। इससे कलपुर्जों का प्रयोग करने वालों को विशेष संरक्षण एवं सुविधा मिल सकेगी।

(10) उपभोक्ता वस्तुओं पर पाबन्दी—उपभोक्ता वस्तुओं के आयात पर कुछ अपवादों को छोड़कर पूर्ण पाबन्दी लगा दी गयी है।

(11) भारतीय मूल के लोगों को विशेष सुविधा—जो भारतीय मूल के लोग विदेशों से लौटकर भारत में ही बसना चाहते हैं और अपनी पसन्द का कोई भी उद्योग लगाना चाहते हैं, उन्हें इस हेतु अपनी बचत का प्रयोग करने की पूरी छूट होगी। पहले साल के लिए कच्चे माल का आयात करने की पूर्ण सुविधा दी जायगी।

आयात नीति और अधिक उदार

जुलाई 1978 में भारत सरकार द्वारा की गयी घोषणा के अनुसार आयात नीति को और अधिक उदार बना दिया गया है। विगत अप्रैल में घोषित आयात नीति के अन्तर्गत जिन वस्तुओं के आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था, अब उस प्रतिबन्ध को हटा लिया गया है। नयी आयात नीति को पूर्व की अपेक्षा सरल बनाया गया है और निर्यात योग्य सामग्री के उत्पादन के लिए जिन वस्तुओं का आयात आवश्यक समझा गया है उनके आयात की छूट दे दी गयी है। मूल आयात नीति के अन्तर्गत निर्यातकों को 76 चीजें आयात करने की अनुमति नहीं थी, अब उनमें से 26 चीजों को काट दिया गया है।

यह आशा व्यक्त की गयी है कि चालू वर्ष की आयात निर्यात नीति में देश में कृषि और उद्योग का तेजी से विकास होगा तथा रोजगार के अवसर बढ़ेंगे। यह भी आशा व्यक्त की गयी है कि नयी नीति से देश के निर्यातों में तेजी से वृद्धि होगी।

निर्यात नीति
(EXPORT POLICY)

1947-48 से 1950-51 तक भारत की निर्यात नीति के दो निर्धारक तत्व थे—(i) दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र में निर्यात बढ़ाकर दुर्लभ मुद्रा की मात्रा बढ़ाना, एवं (ii) यदि घरेलू माँग में कमी पड़ती है तो निर्यातों को रोक दिया जाय। इस अवधि में निर्यात की नीति नियन्त्रणात्मक थी क्योंकि देश में वस्तुओं की कमी और बढ़ते हुए मूल्यों को दृष्टि में रखते हुए निर्यातों को ज्यादा प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। 1949 में रुपये के अवमूल्यन से यद्यपि निर्यातों को कुछ प्रोत्साहन मिला पर यह ज्यादा दिनों तक नहीं चल सका। प्रथम योजना में चूँकि आर्थिक विकास की नींव रखी जा चुकी थी, अतः इसके अन्तिम वर्षों में निर्यात बढ़ाने के प्रश्न पर गम्भीरता से विचार किया गया किन्तु फिर भी 1951-61 के दशक में भारत के निर्यात लगभग स्थिर रहे। चूँकि उक्त दशक के प्रारम्भ में भारत के पास स्टर्लिंग-शेष अधिक था, निर्यात बढ़ाने की आवश्यकता पर बल नहीं दिया गया। इसका कारण यह था कि एक ओर तो देश में निर्यात बढ़ाने के लिए जागरूकता नहीं थी और दूसरी ओर इस बात पर बल दिया जा रहा था कि भारत के लिए आयात-प्रतिस्थापन की नीति ही उचित है और इसी से भारत की विदेशी विनिमय की समस्या का हल हो जायगा

दूसरी योजना में यह अनुभव किया गया कि औद्योगीकरण के अभाव में निर्यातों को नहीं बढ़ाया जा सकता। इस अवधि में निर्यातों से होने वाली आय का 50 प्रतिशत केवल चाय, जूट और सूती वस्त्रों के निर्यात से होता था अतः इस बात पर बल दिया गया कि निर्यात बढ़ाने के लिए अन्य वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि की जाय।

निर्यात प्रोत्साहन—तीसरी योजना में निर्यात बढ़ाने की आवश्यकता को स्पष्ट रूप से अनुभव किया गया। इसके लिए योजना में निम्न तीन उपायों पर जोर दिया गया :

(i) उचित सीमा में घरेलू उपभोग में कटौती की जाय ताकि अतिरेक का सृजन कर निर्यात बढ़ाया जा सके।

(ii) अर्थव्यवस्था में विकास होने के साथ ही, निर्यातों में लाभ प्राप्त करना आवश्यक है।

(iii) लागत को दृष्टि में रखते हुए, विशेष रूप से निर्यात उद्योगों को अधिक से अधिक प्रतियोगी बनाना चाहिए। निर्यातों की विविधता पर भी बल दिया गया।

मुदालियर कमेटी की सिफारिशें

1962 में नियुक्त "आयात-निर्यात नीति समिति" जिसके अध्यक्ष श्री मुदालियर थे, ने निर्यातों के बढ़ाने के सम्बन्ध में विभिन्न कठिनाइयों की चर्चा करते हुए निम्न सुझाव दिये .

(i) देश में उत्पादन बढ़ाने के मार्ग में कच्चे माल की कमी एक बड़ी बाधा है अतः ऐसे कच्चे माल और कलपुर्जों का आयात किया जाना चाहिए जिससे उत्पादन बढ़े और निर्यात किया जा सके। .

(ii) निर्यात करने वालों को, उनके द्वारा अर्जित विदेशी मुद्रा के आधार पर आयात लाइसेंस दिये जाना चाहिए और उन्हें उक्त विदेशी मुद्रा के एक निश्चित प्रतिशत को व्यय करने का अधिकार होना चाहिए जिसके दो लाभ होंगे--

(A) उत्पादक अपने उद्योग की उन्नति के लिए आवश्यक कच्चे माल और औजार खरीद सकेगा।

(B) ऐसी वस्तुओं का आयात किया जा सके जिसे उत्पादक कुछ लाभ कमाकर बेच सके तथा वह अपने निर्यातों में होने वाली क्षति की पूर्ति कर सके।

सरकार ने उक्त सिफारिश को स्वीकार कर लिया।

(iii) निर्यातों से अर्जित आय पर, आय-कर (Income Tax) में रियायत दी जानी चाहिए।

(iv) निर्यात के क्षेत्र में जो हतोत्साहित करने वाले कारक है, उन्हें हटाया जाना चाहिए।

उक्त समिति के सुझावों के अनुरूप पृथक रूप में "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विभाग" का मन्त्री मण्डल में गठन किया गया एवं सरकार को विदेशी व्यापार के मामले में सुझाव देने के लिए "व्यापार मण्डल" (Board of Trade) की स्थापना की गयी। इसके अतिरिक्त "निर्यात प्रोत्साहन सलाहकारी परिषद" (Export Promotion Advisory Council) की भी स्थापना की गयी। परन्तु निर्यात बढ़ाने के लिए उक्त उपाय पर्याप्त सिद्ध नहीं हुए तथा जून 1966 में निर्यात बढ़ाने के लिए भारतीय रुपये का अवमूल्यन करना पड़ा और निर्यात प्रोत्साहन हेतु सरकार ने निम्न कदम उठाये—(A) निर्यात उत्पादन बढ़ाने के लिए अतिरेक-क्षमता का विस्तार, (B) आवश्यक कच्चे माल की पूर्ति, (C) नकदी सहायता, एवं (D) संस्थाओं के माध्यम से निर्यात हेतु वित्तीय सहायता।

अवमूल्यन के बाद निर्यातों की स्थिति—अवमूल्यन के बाद 1966-67 में तो निर्यातों में वृद्धि नहीं हुई बल्कि पिछले वर्ष की तुलना में इसमें 9 प्रतिशत की कमी हुई किन्तु 1967-68 और 1968-69 में पिछले वर्ष की तुलना में क्रमशः 3.5 एवं 13 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

चौथी योजना की निर्यात नीति

चौथी योजना में निर्यात से अर्जित राशि को प्रतिवर्ष 7 प्रतिशत चक्रवृद्धि की दर से बढ़ाने का लक्ष्य रखा गया तथा निम्न कार्यक्रम निर्धारित किये गये

(i) निर्यात बढ़ाने के लिए कृषि, खनिज और औद्योगिक क्षेत्रों में उत्पादन लक्ष्य बढ़ाने पर बल दिया गया।

(ii) निर्यात के लिए अतिरेक का सृजन करने हेतु उपभोग पर नियन्त्रण रखने पर भी जोर दिया गया।

(iii) निर्यात प्रोत्साहन के लिए आन्तरिक कीमतों में स्थायित्व को आवश्यक समझा गया।

(iv) निर्यात वस्तुओं की लागत घटाने तथा उनके गुणात्मक स्तर में सुधार करने पर बल दिया गया।

(v) बन्दरगाहों के विकास और आधुनिकीकरण पर जोर दिया गया।

(vi) गैर-परम्परागत निर्यातों को बढ़ाने के लिए पर्याप्त प्रचार एवं विपणनोत्तर सेवा को आवश्यक समझा गया। साथ ही नये निर्यातों के बाजार की खोज पर भी जोर दिया गया।

(vii) निर्यात बढ़ाने हेतु सार्वजनिक क्षेत्रों को अधिक महत्व दिया गया।

उक्त उपायों के फलस्वरूप 1969-70 में निर्यातों में पिछले वर्ष की तुलना में 4·3 प्रतिशत की वृद्धि हुई। 1972-73 में पहली बार आयात की तुलना में अधिक निर्यात हुए तथा इस वर्ष पिछले वर्ष की तुलना में 22% अधिक निर्यात हुए एवं 1973-74 में पूर्व वर्ष की तुलना में 26% निर्यात बढ़े।

उक्त योजना की अवधि में निर्यातों में उल्लेखनीय वृद्धि हुई जिसके तीन कारण थे—(i) विभिन्न निर्यात-प्रोत्साहन कारणों का अनुकूल प्रभाव, (ii) उत्पादक एवं पूंजीगत वस्तुओं की घरेलू माँग में कमी, (iii) लोहा और इस्पात एवं इन्जीनियरिंग वस्तुओं के निर्यात में भारी वृद्धि।

पाँचवीं योजना—निर्यात रणनीति

पाँचवीं योजना की अवधि में निर्यातों में प्रतिवर्ष 7·6 प्रतिशत की दर से वृद्धि का लक्ष्य निर्धारित किया गया तथा निम्न 7 वस्तुओं के निर्यात से लगभग दो-तिहाई आय प्राप्त होने की आशा की गयी—इन्जीनियरिंग वस्तुएँ, लोहा-इस्पात, हाथकरघा उद्योग की वस्तुएँ, सूती वस्त्र, लौह-अयस्क, मछली तथा चमड़ा और उससे निर्मित वस्तुएँ। निर्यात लक्ष्य की पूर्ति के लिए घरेलू उत्पादन को बढ़ाने, उचित कीमतों वाली वस्तुओं का निर्माण करने तथा घरेलू कमी होने पर भी निर्यात के स्तर को बनाये रखने पर बल दिया गया।

1974-75 में पिछले वर्ष की तुलना में निर्यात में 32 प्रतिशत की वृद्धि हुई एवं 1975-76 में यह वृद्धि 18 प्रतिशत थी। 1976-77 में आयात की तुलना में निर्यात अधिक हुआ तथा इस वर्ष पिछले वर्ष की तुलना में निर्यात में 27 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

1977-78 की निर्यात नीति

1977-78 की निर्यात नीति में ऐसी व्यवस्था की गयी कि छोटे पैमाने के तथा ग्राम और कुटीर उद्योग में निर्मित माल का और अधिक निर्यात किया जा सके। छोटे पैमाने के उद्योगों के बारे में निर्यात संगठन की मान्यता प्राप्त करने के लिए चुनी हुई वस्तुओं के मामले में निर्यात की सीमा घटाकर 25 लाख रुपये और अन्य वस्तुओं के मामले में दो करोड़ रुपये कर दी गयी। छोटे पैमाने के जो उद्योग उपर्युक्त घटी हुई सीमा तक भी यदि निर्यात न कर सकें तो उन्हें यह सुविधा दी गयी कि कई छोटे उद्योग मिलकर अपना निर्यात संगठन बना लें। यदि ये मिले हुए छोटे उद्योग 25 लाख रुपये तक का निर्यात न कर पायें तो इन्हें निर्यात संघ का दर्जा दिया जायगा। इनके साथ यह शर्त थी कि इनका निर्यात दस लाख रु० का हो और ये प्रतिवर्ष 5 लाख रुपये का निर्यात बढ़ाकर अपना निर्यात व्यापार 25 लाख रुपये तक ले आयें।

निर्यात संगठनों से सम्बद्ध योजना को सरल किया गया जिसका उद्देश्य यह था कि निर्माताओं को, विशेषकर छोटे निर्माताओं को विदेशों में अपना माल बेचने में कोई कठिनाई न हो। किन्तु निर्यात बढ़ाने के लिए निर्यात संगठन की मान्यता प्राप्त करने के लिए चुनी हुई निर्यात वस्तुओं के मामले में निर्यात की सीमा बढ़ाकर एक करोड़ तथा अन्य वस्तुओं के मामले में 5 करोड़ कर दी गयी।

निर्यातकों को अनेक वस्तुओं के आयात की छूट दी गयी ताकि वे अपनी जरूरत की चीजें सस्ते भाव पर आयात कर सकें और देश के उत्पादन कार्यक्रमों तथा प्राप्त निर्यात आर्डरों के अनुसार माल भेजने के लिए ठीक समय पर आयात कर सकें।

1978-79 की नयी निर्यात नीति

1978-79 की निर्यात नीति को स्पष्ट और यथार्थवादी निरूपित किया गया है। पहली बार देश की आयात निर्यात नीति को नियन्त्रण के स्थान पर विकास पर आधारित किया गया है। निर्माताओं को अधिक आयात की छूट देकर नयी नीति ने निर्यात में वृद्धि की गुंजाइश पैदा कर दी है।

दुबारा आयात करने के लाइसेंस (Replenishment License) को निर्यात-उत्पादन के साथ सम्बद्ध कर दिया गया है। पंजीकृत निर्यातकों को तीन और अधिक वस्तुओं—कच्ची फिल्में, स्टेनलेस स्टील, एवं कच्चा रेशम, को प्रत्यक्ष आयात की सुविधा दी गयी है।

प्रतिष्ठित निर्यातकों के मामले में कुछ परिवर्तन किया गया है। अब इन्हें दी जाने वाली सहायता इस बात पर निर्भर रहेगी कि वे लघु और कुटीर उद्योगों के उत्पादन में कितनी सहायता देते हैं।

कुछ सीमित वस्तुओं के ऊपर निर्यात नियन्त्रण लागू रहेगा। जो वस्तुएँ देश के उपभोग के लिए आवश्यक हैं, उनका निर्यात या तो समाप्त अथवा सीमित कर दिया जायगा। पहले जिन वस्तुओं को निर्यात की छूट मिली हुई है, उनका निर्यात जारी रहेगा तथा उनके लिए निर्यात लाइसेंस की आवश्यकता नहीं होगी।

1977-78 के आर्थिक सर्वेक्षण में कहा गया है कि निर्यात प्रोत्साहन की बहुत आवश्यकता है अतः निर्यात बाजार के लिए दिया जाने वाला प्रोत्साहन (Export Market Development Allowance) जारी रहना चाहिए।

लघु उद्योगों को प्रतिष्ठित निर्यातकों (Export Houses) का दर्जा देने के लिए शर्तों को उदार बना दिया गया है। जिन छोटे उद्योगों का निर्यात कम से कम 10 लाख है और जो प्रतिवर्ष 5 लाख का निर्यात बढ़ाने की क्षमता रखते हैं, उन्हें भी प्रतिष्ठित निर्यातक का दर्जा प्राप्त होने की क्षमता होगी।

भारत के रिजर्व बैंक द्वारा निर्यातकों को दी जाने वाली विदेशी विनिमय की सुविधा को बढ़ाकर उसकी सीमा को 5 लाख रुपये कर दिया गया है।

प्रतिष्ठित निर्यातकों को दी जाने वाली लाइसेंस प्रणाली को विकेन्द्रीकृत कर दिया गया है।

सरकार ऐसे किसी बड़े उद्योग को निर्यात के लिए लाइसेंस नहीं देगी जो उत्पाद छोटे उद्योगों के लिए है।

विदेशी व्यापार से सम्बन्धित अधिक उत्तरदायित्व पूर्ण कार्यों के निर्वाह के लिए "आयात-निर्यात मुख्य नियन्त्रक" (Chief Controller of Imports & Exports) का नाम बदलकर Director General of Foreign Trade कर दिया गया है। यह संस्था न केवल निर्यातकों की समस्या को हल करेगी वरन् भारतीय निर्यातकों के बारे में विदेशी शिकायतों की भी जाँच करेगी तथा सम्बन्धित मन्त्रालयों के बीच समन्वय स्थापित करेगी।

आशा की गयी है कि उक्त निर्यात नीति से निर्यातों को प्रोत्साहन मिलेगा।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. विभिन्न योजनाओं में भारत सरकार की विदेशी व्यापार की क्या नीति रही है? उसकी पूर्ण समीक्षा कीजिए।
2. क्या सरकार अपने निर्यात के लक्ष्यों को बढ़ाने में सफल हो सकी है? कारण सहित व्याख्या कीजिए?
3. हाल ही के वर्षों में भारत सरकार की आयात-निर्यात नीति के क्या परिणाम हुए हैं, समझाइए?

अध्याय **46**

भारत में निर्यात सम्वर्द्धन

[EXPORT PROMOTION IN INDIA]

परिचय

आर्थिक विकास की प्रक्रिया में किसी भी विकासशील देश को किन्हीं न किन्हीं कारणों से विदेशी विनिमय की समस्या का सामना करना पड़ता है। सम्भावित कारण हो सकते हैं—(i) विदेशी माँग की प्रतिकूल दशाएँ, (ii) अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में असन्तुलन और ढाँचे की कठोरताएँ, (iii) आर्थिक नीतियों के सही कार्यान्वयन का अभाव। यदि विदेशी सहायता पर्याप्त रूप से उपलब्ध नहीं होती तो विदेशी विनिमय के संकट को दूर करने के लिए इन देशों के पास दो विकल्प रह जाते हैं.

(A) आयात प्रतिस्थापन के माध्यम से आयातों में कमी, एवं

(B) निर्यातों को प्रोत्साहन देकर उनसे अर्जित आय में वृद्धि।

चूँकि प्रारम्भिक चरण में, अल्प विकसित देशों को आर्थिक विकास के लिए बढ़ते आयातों की आवश्यता होती है अतः आयातों को कम नहीं किया जा सकता। तब केवल एक ही उपाय है निर्यातों को बढ़ाना।

निर्यात अपने आप में लक्ष्य नहीं है वरन् ऐसा माध्यम है कि जिससे हमें विदेशी मुद्रा मिलती है जिससे हम आयातों का भुगतान कर सकते हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि निर्यातों से अर्जित आय का आर्थिक विकास की गति से निकटतम सम्बन्ध है। एक विकासशील देश होने के कारण भारत के सामने भी निर्यातों को बढ़ाने की आवश्यकता सर्वाधिक महत्वपूर्ण रही है।

भारत में निर्यात सम्वर्द्धन की आवश्यकता

देश की सुरक्षा और आर्थिक विकास को दृष्टि में रखते हुए निर्यातों में वृद्धि करना भारत के विदेशी व्यापार का प्रमुख उद्देश्य रहा है। किन्तु 1951 से ही हमारे विदेशी व्यापार की यह विशेषता रही है कि आयातों में भारी वृद्धि हुई है तथा तुलनात्मक रूप से निर्यातों में कम वृद्धि हुई है। यह इस बात से स्पष्ट है कि 1950 में भारत का निर्यात कुल विश्व निर्यात का 2·1 प्रतिशत था जो 1975 में घटकर 0.5 प्रतिशत रह गया। हमारी अर्थव्यवस्था के लिए यह चिन्ता का विषय है तथा इस स्थिति को समाप्त कर विश्व निर्यात में भारत का निर्यात का प्रतिशत बढ़ाना आवश्यक है। विशेष रूप से निर्मित एवं अर्द्धनिर्मित माल का निर्यात बढ़ाना बहुत जरूरी है ताकि आर्थिक विकास की गति को तीव्र किया जा सके। इसका कारण यह है कि अल्पकाल में कृषि क्षेत्र में भारी मात्रा में निर्यात करने की सम्भावना सीमित रहती है और चूँकि हमारे देश में औद्योगिक आधार का निर्माण हो चुका है अतः औद्योगिक उत्पादन के निर्यात का देश के लिए बहुत महत्व है।

(7) राजकीय व्यापार निगम[1]—भारत के निर्यातों में वृद्धि करने तथा आवश्यक आयातों की व्यवस्था करने के उद्देश्य से 1956 में राजकीय व्यापार निगम की स्थापना की गयी। इस निगम के माध्यम से विदेशी व्यापार इस ढंग से किया जाता है जिससे सामाजिक लक्ष्यों की पूर्ति में सहायता मिले। निगम के कार्यों में निर्यात का विविधीकरण विद्यमान बाजारों का विस्तार, निर्यातों का प्रोत्साहन तथा आयातित वस्तुओं के वितरण की व्यवस्था प्रमुख हैं। इसके सहायक संगठन भी हैं जैसे हस्तकला और हाथकरघा निर्यात निगम, भारतीय काजू निगम, भारतीय चल-चित्र निर्यात निगम, परियोजना और उपकरण निगम आदि।

(8) निर्यात प्रोत्साहन पुरस्कार—निर्यात में उल्लेखनीय वृद्धि करने के लिए सरकार ने निजी उद्यमियों को समय-समय पर पुरस्कृत किया है ताकि उन्हें और अधिक प्रोत्साहन मिले एव वे अपनी वस्तुओं के गुणात्मक स्तर में सुधार कर अपने निर्यात बाजार को विस्तृत कर सकें।

(9) विपणन विकास कोष—निर्यात प्रयासों में सहायता देने के लिए जुलाई 1963 में भारत सरकार द्वारा एक विपणन विकास कोष की स्थापना की गयी। यह कोष निर्यात प्रोत्साहन परिषदों और अन्य निर्यात सगठनों को अनुदान देता है ताकि वे निर्यातों का विकास कर सकें, निर्यात प्रोत्साहन योजनाओं का खर्च उठा सकें और विदेशी मण्डियों में भारतीय वस्तुओं के लिए परियोजनाएँ चला सकें।

(10) निर्यात सदन योजना- निर्यात के क्षेत्र में विशेष योग्यता प्राप्त करने के फलस्वरूप सरकार ने मुख्य व्यावसायिक फर्मों को निर्यात सदनों के रूप में मान्यता देने की योजना लागू की। इसके अन्तर्गत इन सदनों को निर्यात क्षेत्र में विशेष सुविधाएँ एव रियायतें दी जाती हैं। 1976-77 में निर्यात सदन का प्रमाणपत्र पाने के लिए प्रक्रिया को सरल बना दिया गया जिसके अन्तर्गत केवल "आयात निर्यात के मुख्य नियन्त्रक" को आवेदन पत्र देकर उक्त प्रमाणपत्र प्राप्त किया जा सकता है किन्तु निर्यात सदन की पात्रता के लिए चुनी हुई वस्तुओं के सम्बन्ध में निर्यात की सीमा 25 लाख से बढ़ाकर 50 लाख कर दी गयी तथा अन्य वस्तुओं के लिए न्यूनतम सीमा तीन करोड़ रखी गयी। लघु उद्योगों को विशेष रियायतें दी गयी। 1978-79 की नयी निर्यात नीति में निर्यात सदन की भूमिका में यह परिवर्तन किया गया है कि अब उनको सहायता दिये जाने का आधार अथवा माप यह होगा कि वे उनके निर्यात से सहायक निर्माणकर्ता एव लघु तथा कुटीर उद्योगों के उत्पादन पर क्या प्रभाव पड़ता है।

(11) व्यापार विकास सस्था—सन् 1971 में भारत सरकार ने निर्यात व्यापार की वृद्धि के उद्देश्य से व्यापार विकास संस्था (Trade Development Authority) की स्थापना की जिसका मुख्य कार्य निर्यात सम्वर्द्धन के क्षेत्र में कार्यरत विभिन्न सस्थाओं में समन्वय स्थापित करना है तथा उन्हें आवश्यक सेवाएँ उपलब्ध कराना है।

(12) प्रचार अभियान तथा अन्तर्राष्ट्रीय मेला—विदेशों में भारतीय वस्तुओं का प्रचार करने तथा निर्यात बढ़ाने के लिए प्रदर्शन सभाभवनालय की स्थापना की गयी। समय-समय पर आयोजित मेलों ने भी निर्यात बढ़ाने में सहायता दी है क्योंकि इनमें भारतीय वस्तुओं का विदेशों में प्रदर्शन किया जाता है। भारत सरकार ने इस वर्ष (1978) में मास्को में अब तक का सबसे बड़ा भारतीय व्यापार मेला आयोजित किया है। इस मेले का उद्देश्य पूर्वी यूरोप के देशों को निर्यात बढ़ाना है क्योंकि इन देशों के साथ सरकारी संगठनों द्वारा व्यापार करने के बावजूद इन देशों में निर्यात सम्वर्द्धन की काफी गुन्जाइश है।

---

[1] विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 34 देखें।

(13) निर्यात निरीक्षण संस्था—वस्तुओं की किस्म पर नियन्त्रण रखने के लिए और जहाज पर लदाने से पहले माल सुनियोजित ढंग से नियन्त्रण करने के लिए एक निर्यात निरीक्षण संस्था बनायी गयी। वर्तमान में देश का 90 प्रतिशत निर्यात व्यापार इस संस्था के तत्वावधान में होता है। इससे विदेशों में भारतीय माल की प्रतिष्ठा बढ़ी है।

(14) निर्यात प्रक्रियन क्षेत्र—भारत सरकार ने इलेक्ट्रोनिक उपकरणों के निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए सान्ताक्रुज, बम्बई में एक निर्यात प्रक्रियन क्षेत्र (Export Processing Zone) बनाया है। इसका उद्देश्य केवल निर्यातों को बढ़ाना है एवं इस क्षेत्र में बने समस्त उपकरणों का निर्यात कर दिया जाता है।

(15) निर्यात साख और प्रत्याभूति निगम—भारत सरकार ने 1964 में निर्यात साख और प्रत्याभूति निगम (Export Credit and Guarantee Corporation) की स्थापना की जिसका उद्देश्य निर्यात प्रोत्साहन की दृष्टि से निर्यातकों को वित्तीय सहायता देना तथा निर्यात व्यापार के जोखिमों के प्रति सुरक्षा प्रदान करना है।

(16) व्यापारिक प्रतिनिधियों की नियुक्ति—विदेशों में भारतीय माल की जानकारी बहुत कम है अतः हम वांछनीय निर्यात नहीं बढ़ा पाते अतः विदेशों में भारतीय माल के निर्यात की सम्भावनाओं का सतत अध्ययन करने एवं भारत में निर्मित माल की विदेशों में जानकारी देने के लिए भारत सरकार ने लगभग 50 से अधिक देशों में व्यापारिक प्रतिनिधियों की नियुक्ति की है।

(17) समुद्री उत्पाद निर्यात विकास संस्था (Marine Products Export Development Authority)—इस संस्था की स्थापना 1972 में एर्नाकुलम में की गयी जिसका उद्देश्य समुद्री उत्पादों के निर्यातों को प्रोत्साहन देने के साथ ही साथ उनके उत्पादन को बढ़ाना है।

(18) अन्य उपाय—उपर्युक्त उपायों के अतिरिक्त भारत सरकार ने निर्यात बढ़ाने के लिए अन्य उपायों को भी अपनाया है जैसे नकद सहायता, करों में छूट, आयात लाइसैन्स के हस्तांतरण की सुविधा, बैंकों द्वारा वित्तीय सहायता प्राप्त करने में प्राथमिकता इत्यादि। भारत सरकार ने देश में पूँजी का विनियोग करने एवं निर्यात के लिए उत्पादन बढ़ाने की दृष्टि से विदेशी विनियोजकों को काफी सुविधाएँ प्रदान की है।

निर्यात-वृद्धि के लिए सुझाव

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि भारत सरकार द्वारा प्रारम्भ किये गये विभिन्न प्रयत्नों के फलस्वरूप निर्यातों में काफी वृद्धि हुई है। उदाहरण के लिए 1951-52 में हमारा कुल निर्यात 730 करोड़ रु० का था जो 1976-77 में बढ़कर 5,143 करोड़ रु० तथा 1977-78 में 5,400 करोड़ रु० का हो गया। यह बात दूसरी है कि आयातों में भारी वृद्धि के कारण हमारा व्यापार-शेष प्राय: असन्तुलित रहा। किन्तु फिर भी यह आवश्यक है कि भारतीय अर्थव्यवस्था को व्यापार-निर्भर बनाने के उद्देश्य से निर्यातों में और अधिक वृद्धि आवश्यक है। इस दृष्टि से निम्न सुझाव महत्वपूर्ण है .

(1) उत्पादन वृद्धि ही निर्यात का आधार—भारत सरीखे देश में जहाँ जनसंख्या में वृद्धि हो रही है, निर्यात अतिरेक उसी समय सम्भव है जब उन वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाया जाय जिनकी घरेलू और विदेशों में विस्तृत माँग है। जब तक उत्पादन नहीं बढ़ाया जाता, निर्यात-अतिरेक सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से विदेशी माँग एवं निर्यात योग्य वस्तुओं के उत्पादन में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया जाना चाहिए। हम खाद्यान्न का निर्यात इसी कारण कर सके क्योंकि खाद्यान्न के उत्पादन में काफी वृद्धि हुई। एक अनुमान है कि यदि हम 1980 तक इन्जीनियरिंग वस्तुओं का निर्यात 752 करोड़ रु० तक पहुँचाना चाहते है तो देश में इन वस्तुओं का उत्पादन 4,424 करोड़ रु० का

होना चाहिए। इसी प्रकार यदि हम जूट-निर्मित माल के निर्यात को प्रतिवर्ष 35,000 टन करना चाहते हैं तो इसका घरेलू उत्पादन 1,61,000 टन करना होगा।

(2) अतिरिक्त बचत—यदि हम निर्यात बढ़ाने के लिए उद्योगों में विनियोग बढ़ाना चाहते हैं तो इसके लिए अतिरिक्त बचत करना अनिवार्य है। बचत के अभाव में हम निर्यात-विस्तार कार्यक्रम को सफल नहीं बना सकते। एक अनुमान के अनुसार औसत रूप में एक रु० के बराबर माल का निर्यात करने के लिए अतिरिक्त 0.75 रु० के विनियोग की आवश्यकता होती है। 1970-75 में जो निर्यात की वृद्धि हुई है, उसके आधार पर यह गणना की गयी है कि निर्यात उत्पादन के लिए प्रतिवर्ष 160 करोड़ अतिरिक्त बचत (कुल राष्ट्रीय उत्पाद का 0.38 प्रतिशत) का प्रयोग किया गया है। यदि हम निर्यात लक्ष्य को बनाये रखना चाहते हैं तो 1980-81 तक निर्यात उत्पादन के लिए 600 करोड़ का प्रयोग करना होगा अर्थात् उक्त अवधि तक कुल राष्ट्रीय उत्पाद का 0.81 प्रतिशत भाग बचत के रूप में रखना होगा ताकि निर्यात-उद्योगों की वित्तीय व्यवस्था की जा सके।

(3) लागत में कमी तथा वस्तुओं की किस्म में सुधार—विदेशों में राजनीतिक बाधाएँ, मुद्रा संकट, रुचि एवं फैशन में परिवर्तन तथा अन्य आर्थिक समस्याओं के कारण हमारे निर्यात व्यापार में स्थिरता तथा नियमितता का अभाव रहा है तथा हमें विदेशों में बड़ी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा है। विदेशी बाजार में जमे रहने के लिए यह आवश्यक है कि हमारी लागत ऐसी हो कि वस्तुएँ विदेशी प्रतियोगिता में टिक सकें तथ हमारी वस्तुएँ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की हों। यह इसी समय सम्भव है जब हमारे बड़े निर्यात उद्योगों का विवेकीकरण (Rationalisation) किया जाय।

(4) सरकार द्वारा निर्यातों का सुव्यवस्थित नियोजन—सरकार को अपने दीर्घकालीन नियोजन में निर्यातों एवं उनसे सम्बन्धित उद्योगों में विनियोग करने के प्रश्न का समावेश करना चाहिए एवं निर्यात-नियोजन एवं उसके कार्यान्वयन से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित होना चाहिए तथा विदेशों में विपणन दशाओं का निर्माण करना चाहिए।

(5) उद्योगों का बाजार उन्मुख (Market Oriented) होना—निर्यात करने वाले उद्योगों और सरकार में घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए एवं दोनों में पारस्परिक विश्वास होना भी आवश्यक है। सरकार का कार्य केवल औद्योगिक उत्पादन के लिए विदेशी बाजारों की खोज करने में नेतृत्व करना ही नहीं है वरन उद्योगों को उसके लिए भी प्रोत्साहित करना है कि वे बाजारों को देखते हुए उत्पादन करें अर्थात् ऐसी वस्तुओं का उत्पादन करें जिनके लिए अच्छे बाजार की खोज कर ली गयी है।

(6) निर्यात की सम्भावनाओं का दोहन—भारत को हस्तशिल्प तथा हथकरघा उत्पादों को विकसित करना चाहिए क्योंकि विदेशों में इनकी माँग बढ़ रही है। इसी प्रकार इस्पात, सीमेण्ट, इलेक्ट्रानिक्स और इंजीनियरिंग वस्तुओं के निर्यात का भी विस्तृत क्षेत्र है। अपनी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के कारण भारत, पश्चिमी एशियाई देशों को निर्यात करने की लाभजनक स्थिति में है। साथ ही पूर्वी यूरोप के देशों में भी निर्यात की काफी गुंजाइश है। इसी प्रकार यह अनुमान लगाया गया है कि यदि पूरे स्तर पर प्रयत्न किये जायें तो 1980-81 तक यूरोपीय साझा बाजार के देशों के साथ हमारा व्यापार दुगुना हो सकता है।

(7) निर्यात उद्योगों की महत्त्वपूर्ण भूमिका—वर्तमान स्थिति में भारत के सामने निर्मित वस्तुओं के निर्यात की उज्ज्वल सम्भावनाएँ हैं। उनका निर्यात बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि सार्वजनिक और निजी क्षेत्र में उनका उत्पादन करने वाली इकाइयों का निर्यात के प्रति क्या दृष्टिकोण है? इन इकाइयों को यह आश्वासन मिलना चाहिए कि विश्व-बाजार में निर्यात करना

इन इकाईयों के लिए दीर्घकाल में लाभप्रद है तथा उनके द्वारा चुनी गयी वस्तु बाजार की सम्भावनाएँ दीर्घकाल में मितव्ययितापूर्ण सिद्ध होंगी। और यह भी सम्भव है कि आगे चलकर निर्यात उत्पादन करने वाली इकाइयाँ बिना सरकारी सहायता के ही अपनी निर्यात नीतियों को कार्यान्वित कर सकती हैं।

(8) निर्यात प्रोत्साहनों को अधिक युक्तिसंगत बनाना—सरकार द्वारा दिये जाने वाले निर्यात प्रोत्साहनों को इस प्रकार तर्कसंगत बनाया जाना चाहिए कि उद्यमी लागत में कमी कर सकें तथा उत्पादन में सुधार कर अपने माल को विदेशी बाजार में प्रतियोगिता के योग्य बना सकें। उदाहरण के लिए सरकारी कानून में इस प्रकार का परिवर्तन किया जाना चाहिए कि निर्यात-लाभ को आयात कर से मुक्त किया जा सके अथवा उसमें अधिक से अधिक छूट दी जा सके। अन्य प्रोत्साहनों में विदेशों से कच्चे माल का आयात, वित्तीय सुविधाएँ, दरों में कटौती, अनावश्यक विलम्ब की समाप्ति आदि को शामिल किया जा सकता है।

(9) श्रम-गहन वस्तुओं के निर्यात को प्रोत्साहन—उच्च विकसित देशों में श्रम-लागत इतनी अधिक है कि ये देश पूंजी प्रधान वस्तुओं के उत्पादन की ओर झुक रहे हैं। अतः इन देशों में श्रम प्रधान वस्तुओं का अच्छा बाजार है। इस दृष्टि से रखते हुए अमेरिका और यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देशों में श्रम-गहन तकनीक से निर्मित इंजीनियरिंग वस्तुओं के निर्यात के अच्छे अवसर हैं। फिर दूसरी बात यह है कि हमें इन देशों से अधिमान की सामान्य प्रणाली (Generalised System of Preferences) का लाभ भी मिल सकता है जिसका उद्देश्य विकासशील देशों के निर्मित माल के निर्यात को प्रोत्साहन देना है।

(10) निर्यात उद्योगों को वित्तीय सहायता—विश्व बाजार में भारत को औद्योगिक रूप से विकसित देशों के साथ समान स्तर पर प्रतियोगिता करनी पड़ती है। इन देशों के बड़े पैमाने के उद्योगों की लागत भारत की तुलना में कम होती है और कुछ मामलों में उनकी वस्तुएँ भी श्रेष्ठ होती हैं। भारत अपने निर्मित माल का निर्यात तभी समय बढ़ा सकता है जब कुछ चुनी हुई ऐसी औद्योगिक इकाईयों की स्थापना की जाय जिनके निर्यात की प्रबल एवं भारी पैमाने की सम्भावनाएँ हैं। इन उद्योगों को उदार शर्तों पर वित्तीय सहायता भी दी जानी चाहिए।

उक्त सुझावों के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें और हैं जो निर्यात बढ़ाने में सहायक हो सकती हैं जैसे विदेशों में विज्ञापन और प्रचार, व्यापारिक समझौते, अनुसन्धान इत्यादि। इसके सिवाय कुछ ऐसी बातें हैं जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ही हल किया जा सकता है। जैसे विकसित देशों द्वारा पिछड़े देशों को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में पैर जमाने के लिए ऋण सुविधा, दरों में रियायतें इत्यादि। इन कठिनाइयों का हल अन्तर्राष्ट्रीय विचार-विमर्श द्वारा ही किया जा सकता है।

भारतीय निर्यातकों का भी यह नैतिक दायित्व है कि वे भारतीय माल के निर्यात के लिए नये-नये बाजारों की खोज करें, अपने माल को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में अपने बलबूते खड़ा करें एवं निर्यात प्रोत्साहन के लिए सरकार द्वारा जो सुविधाएँ उन्हें दी जाती हैं उनका दुरुपयोग न करें। यह मानना होगा कि निर्यात बढ़ाने के हमारे प्रयत्न फलीभूत हुए हैं किन्तु इस दिशा में सदैव सजग रहना आवश्यक है ताकि हमारे निर्यात प्रयत्न ढीले न पड़ जायें। विकसित देशों में संरक्षणवाद पर जोर दिये जाने के कारण नये बाजारों की खोज आवश्यक है। यद्यपि 1976-77 की तुलना में 1977-78 में निर्यात में 5 प्रतिशत की वृद्धि हुई है किन्तु निर्यात के क्षेत्र में केवल यह अधिक महत्वपूर्ण नहीं है कि हम कितने मूल्य का निर्यात करते हैं वरन् यह अधिक महत्वपूर्ण है कि हम किन-किन चीजों का निर्यात करते हैं। यह उल्लेखनीय है कि 1977-78 में मास्को मेले में भाग लेने पर भारत का दो करोड़ रुपये का खर्च हुआ पर इसके परिणामस्वरूप 100 करोड़ रु० के व्यवसाय के लिए समझौता वार्ता का अवसर मिला।

आयात प्रतिस्थापन
(IMPORT SUBSTITUTION)

वर्तमान में भारत में आयात-प्रतिस्थापन चर्चा का विषय बन गया है, अतः आवश्यक है कि हम इसका अर्थ समझ लें। पिछले पृष्ठों में यह कई बार स्पष्ट किया जा चुका है कि स्वतन्त्रता के बाद से ही भारत को विदेशों से पूंजीगत वस्तुओं, मशीनों, कच्चा माल, उपभोग वस्तुओं और खाद्यान्न आदि को भारी मात्रा में आयात करना पड़ा है। इससे हमारे व्यापार शेष में भारी घाटा रहा है अतः यह अनुभव किया गया कि आयात की जाने वाली वस्तुओं का देश में ही उत्पादन किया जाना चाहिए अर्थात् आयात रोक देना चाहिए। इस प्रकार आयात प्रतिस्थापन का अर्थ है कि विदेशों से मगायी जाने वाली वस्तुओं के स्थान पर घरेलू वस्तुओं का ही प्रयोग किया जाय अर्थात् जिन वस्तुओं का आयात किया जाता था, उन नियन्त्रित कर देश में ही ऐसी वस्तुओं का उत्पादन किया जाय। निम्न तालिका से स्पष्ट है कि आयात प्रतिस्थापन के फलस्वरूप हमारे आयातों में कमी हुई है :

तालिका 46·1—आयात प्रतिस्थापन का आयात पर प्रभाव (प्रतिशत में)

उद्योग	देश में कुल पूर्ति में आयात का प्रतिशत	
	1950-51	1975-76
खाद्यान्न	5 9	6·3
कपास	27·8	3·2
चीनी मिल मशीनें	100 0	0·2
लोहा इस्पात	25·2	8·9
एल्युमीनियम	72·8	3·9
अखबारी कागज	100·0	65·6
कागज और कागजबोर्ड	23·2	2·0
अमोनिया सल्फेट	88 9	4·5

[Source—*Economic Survey*, p. 106.]

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि आयात प्रतिस्थापन की योजना ने आयातों को घटाने में महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त की है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. *भारतीय निर्यात वृद्धि के लिए भारत सरकार द्वारा उठाये गये विभिन्न कदमों की विवेचना कीजिए ?*
2 हमारे देश में निर्यातों की वृद्धि के लिए आप कौन से सुझाव देंगे ?

अध्याय 47

भारत का भुगतान शेष
[INDIA'S BALANCE OF PAYMENT]

परिचय

भुगतान शेष का सैद्धान्तिक विवेचन विस्तार से अध्याय 23 में किया जा चुका है। एक देश का भुगतान सन्तुलन एक निश्चित काल के भीतर शेष विश्व के साथ उसके मौद्रिक सौदों का लेखा होता है। व्यापार-शेष में केवल वस्तुओं के आयात-निर्यात को ही शामिल किया जाता है किन्तु भुगतान शेष में व्यापार शेष के अतिरिक्त भुगतान की अन्य अदृश्य मदों का भी समावेश किया जाता है। इन दोनों को मिलाकर ही चालू खाते के भुगतान-शेष को ज्ञात कर सकते हैं।

भुगतान-शेष को दो भागों में विभाजित किया जाता है.

(i) चालू खाते का भुगतान शेष, एवं (ii) पूंजी खाते का भुगतान शेष। जहाँ चालू खाते के भुगतान शेष में वस्तुओं तथा सेवाओं का हस्तान्तरण एवं एकपक्षीय हस्तान्तरण शामिल किया जाता है पूँजी खाते के भुगतान शेष में पूँजीगत मदों के लेन-देन को सम्मिलित किया जाता है। जैसे पूँजी को उधार देना तथा लेना, पूँजी का भुगतान, विदेशियों को तथा विदेशियों से परिसम्पत्तियों (Assets) का क्रय-विक्रय। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि एक देश के विदेशी विनिमय रिजर्व में होने वाले परिवर्तनों को पूँजी खाते में शामिल किया जाता है।

यदि हम किसी देश की अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन की सही स्थिति जानना चाहते हैं तो इसे मात्र व्यापार-शेष से ज्ञात नहीं किया जा सकता वरन् इसके लिए भुगतान-शेष की स्थिति जानना जरूरी है। भारत में भुगतान-शेष की स्थिति ने हमारे आर्थिक विकास को काफी प्रभावित किया है जिसका विवरण इन पृष्ठों में दिया जा रहा है।

स्वतन्त्रता के बाद भारत की भुगतान-शेष (चालू-खाता) स्थिति

1948 से 1951 तक भारत का भुगतान-शेष प्रतिकूल था। इन तीन वर्षों में व्यापार का घाटा 377 करोड़ रुपए था किन्तु इसी अवधि में शुद्ध अदृश्य मदों की आय 117 करोड़ रुपये हुई अतः भुगतान-शेष में 260 करोड़ रुपये का घाटा हुआ। इसका मुख्य कारण यह था कि द्वितीय युद्ध के बाद माँग में भारी वृद्धि हुई। साथ ही 1949 के अवमूल्यन से भुगतान-शेष की प्रतिकूलता को कम करने में कोई विशेष सहायता नहीं मिली।

प्रथम योजना में भुगतान-शेष (1951-52 से 1955-56)

प्रथम योजना में भारत में विदेशी विनिमय की स्थिति सन्तोषजनक थी। यद्यपि पाँचों ही वर्षों में व्यापार-शेष में घाटा रहा किन्तु शुद्ध अदृश्य मदों के धनात्मक रहने के कारण भुगतान-शेष में केवल 42 3 करोड़ का घाटा रहा। उक्त अवधि में हमारे भुगतान-शेष पर तीन बातों का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा—कोरिया युद्ध के कारण भारतीय निर्यातों में वृद्धि, अमरीका में 1953 में मन्दी एवं देश में अनुकूल मानसून जिसमें कृषि उत्पादन बढ़ा। अग्रांकित तालिका में भुगतान शेष की स्थिति को स्पष्ट किया गया है:

तालिका 47·1—प्रथम योजना में भारत का भुगतान-शेष

(करोड़ रु० में)

वर्ष	व्यापार-शेष	शुद्ध अदृश्य मदें	भुगतान-शेष
1951-52	−232·8	+70·2	−162·6
1952-53	−31·1	+91·2	+60·2
1953-54	−52·1	+99·5	+47·4
1954-55	−93·1	+99·1	+6·0
1955-56	−132·8	+139·5	+6·7
योग	−541·9	+499·5	−42·3

तालिका 47·2—द्वितीय योजना में भारत का भुगतान-शेष

(करोड़ रु० में)

वर्ष	व्यापार शेष	शुद्ध अदृश्य मदें	भुगतान शेष
1956-57	−466·9	+154·1	−312·8
1957-58	−639·0	+132·2	−506·8
1958-59	−453·0	+126·0	−327·0
1959-60	−304·9	+119·3	−185·6
1960-61	−475·2	+82·8	−392·4
योग	−2,339·0	+614·4	−1,724·6

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि द्वितीय योजना में भुगतान शेष में कुल घाटा 1,724·6 करोड़ रुपये का था। इसका मुख्य कारण यह है कि आयातों में भारी वृद्धि हुई यहाँ तक कि 1957-58 में दूसरी योजना में सर्वाधिक घाटा 1,233 करोड़ रुपये का हुआ। कुल मिलाकर व्यापार में घाटा 2,339 करोड़ रुपये का हुआ तथा अदृश्य मदों से कुल लाभ 614 करोड़ रुपये की हुई। इस प्रकार दूसरी योजना में भुगतान-शेष की प्रतिकूलता 1,725 करोड़ रुपये की थी। दूसरी योजना में भुगतान शेष में भारी प्रतिकूलता के निम्न चार कारण थे:

(i) देश में भारी उद्योगों की स्थापना के लिए विदेशों से पूँजीगत वस्तुओं का आयात।

(ii) देश में उपभोग एवं औद्योगिक कच्चे माल की पूर्ति हेतु आयातों के परिमाण में वृद्धि की आवश्यकता।

(iii) निर्यातों में वांछनीय वृद्धि का अभाव, एवं

(iv) विकासशील अर्थव्यवस्था के लिए न्यूनतम मात्रा में अनुरक्षण आयातों (Maintenance Imports) का आवश्यक होना।

उपर्युक्त कारणों से निर्यातों में वृद्धि एवं आयातों में कमी करने का निर्णय लिया गया।

तीसरी योजना में (1961-62 से 1965-66) भारत का भुगतान-शेष

तीसरी योजना की अवधि में पाँचो वर्षों में भारत का व्यापार शेष प्रतिकूल रहा तथा कुल घाटा लगभग 2,384 करोड़ रुपये का रहा किन्तु अदृश्य मदों के सम्बन्ध में 432 करोड़ रुपये की मात्रा में, भुगतान शेष हमारे पक्ष में था। इस प्रकार कुल भुगतान शेष की प्रतिकूलता 1,951 करोड़ रुपये की थी जो दूसरी योजना की राशि से अधिक थी। इसका परिणाम यह हुआ कि तीसरी योजना की पूरी अवधि में भुगतान शेष प्रतिकूल रहा जो निम्न तालिका से स्पष्ट है :

तालिका 47.3—तीसरी योजना में भारत का भुगतान-शेष

(करोड़ रुपये में)

वर्ष	व्यापार-शेष	शुद्ध अदृश्य मदें	भुगतान-शेष
1961-62	— 337.7	+ 31.3	— 306.4
1962-63	— 415.9	+ 61.9	— 354.0
1963-64	— 443.4	+ 94.0	— 349.4
1964-65	— 619.9	+ 167.9	— 452.0
1965-66	— 566.7	+ 76.9	— 489.8
योग	—2,383.7	+ 432.0	1,951.6

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि तीसरी योजना में भुगतान शेष की कुल प्रतिकूलता 1,951.6 करोड़ रुपये की थी। योजना के अन्तिम दो वर्षों में भुगतान-शेष में घाटा तुलनात्मक रूप से अधिक था।

वार्षिक योजनाओं (1966-67 से 1968-69) में भारत का भुगतान-शेष

वार्षिक योजनाओं की अवधि में व्यापार-शेष का कुल घाटा 2,067 करोड़ रुपये का था तथा यह घाटा पूरी अवधि में लगातार तीन वर्षों तक रहा है तथा 1967-68 में शुद्ध अदृश्य मदों में भी 16 करोड़ का घाटा रहा तथा तीन वर्षों में इन मदों से कुल 51.7 करोड़ रुपये का अतिरेक हुआ। इस प्रकार कुल मिलाकर इस अवधि में भुगतान शेष की प्रतिकूलता 2,015 करोड़ रुपये की थी।

चौथी योजना (1969-70 से 1973-74) में भारत का भुगतान-शेष

चौथी योजना में भी भुगतान शेष भारत के प्रतिकूल रहा। यद्यपि प्रारम्भिक वर्षों में निर्यात में कुछ वृद्धि होने से, प्रतिकूलता में कुछ कमी आयी किन्तु बाद के वर्षों में अधिक वृद्धि हुई। यद्यपि 1972-73 में व्यापार शेष में 173 करोड़ रुपये का अतिरेक हुआ किन्तु भारत की देनदारी अधिक रही अतः उक्त अतिरेक नहीं के बराबर था। योजना के प्रथम वर्ष में भुगतान-शेष का घाटा 217 करोड़ रुपये था, दूसरे वर्ष में यह 331 करोड़ रुपये का था तथा 1971-72 और 1972-73 में यह घाटा क्रमशः 401 करोड़ रुपये और 251 करोड़ रुपये का था। इस प्रकार प्रथम चार वर्षों में यह घाटा 1,201 करोड़ रुपये के बराबर था। जो अन्तिम वर्ष में काफी बढ़ गया।

पांचवीं योजना में भुगतान शेष (1974-75 से 1977-78)

पाँचवी योजना के प्रथम दो वर्षों में निर्यात में तेजी से वृद्धि हुई। 1974-75 में निर्यात की राशि बढ़कर 3,329 करोड़ रुपये हो गयी और 1975-76 में यह बढ़कर 4,042 करोड़ रुपये

हो गयी। ऐसा अनुमान लगाया गया था कि उक्त योजना की अवधि में 21,722 करोड़ रुपये का निर्यात होगा एवं 28,524 करोड़ रुपये का आयात होगा। इस प्रकार व्यापार शेष में 6,802 करोड़ रुपये का घाटा रहेगा। अदृश्य लेन देन में 1,371 करोड़ रुपये प्राप्त होने की आशा थी। इस प्रकार भुगतान शेष के चालू लेखे में 5431 करोड़ रुपये का घाटा होने का अनुमान था किन्तु पाँचवीं योजना को एक वर्ष पहले ही समाप्त कर दिया गया है अतः गणना में काफी कठिनाई उपस्थित हो गयी है। 1974-75 से 1977-78 तक व्यापार शेष में लगभग 2,575 करोड़ रुपये का घाटा हुआ। यह उल्लेखनीय है कि 1976-77 में व्यापार शेष में 69 करोड़ रुपये का अतिरेक हुआ।

भारत में विदेशी विनिमय संकट के कारण

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि भारत का भुगतान शेष लम्बी अवधि तक प्रतिकूल रहा है। इसके फलस्वरूप भारत को विदेशी विनिमय संकट का सामना करना पड़ा। नीचे हम ऐसे कारणों का विश्लेषण करेंगे जो हमारे भुगतान शेष के प्रतिकूल रहने के लिए उत्तरदायी हैं :

(1) **आयातों में अधिक वृद्धि**—भारत में विदेशी विनिमय के प्रतिकूल रहने का प्रमुख कारण यह है कि देश में आयातों की भारी वृद्धि हुई है। प्रथम योजनाकाल में तो आयात उतने अधिक नहीं हुए किन्तु द्वितीय योजना काल में आयातों में भारी वृद्धि हुई क्योंकि इस योजना में देश में विभिन्न भारी उद्योगों की स्थापना की गयी। इसके लिए भारी मात्रा में पूँजीगत वस्तुओं, मशीनों एवं कच्चे माल का आयात किया। इसके बाद आने वाली अगली योजनाओं में भी विकासात्मक आयातों के साथ पहले से स्थापित उद्योगों के अनुरक्षण (Maintenance) के लिए भी आयात करना पड़ा। भारत में बढ़ती हुई जनसंख्या एवं उसकी पूर्ति हेतु खाद्यान्न के अभाव के कारण भी, भारी मात्रा से खाद्यान्न का आयात करना पड़ा। जहाँ प्रथम योजना काल में 595 करोड़ रुपये का खाद्यान्न आयात किया गया वहीं तीसरी योजना में खाद्यान्न के आयात की यह राशि बढ़कर 1,204 करोड़ रुपये हो गयी। प्रथम योजना में कुल आयातों में पूँजीगत वस्तुओं के आयात का प्रतिशत 29 था जो चौथी योजना में बढ़कर 41·5 हो गया। आयात में वृद्धि का एक कारण यह भी था कि 1962 और 1965 में देश में युद्ध की स्थिति के कारण रक्षा सामग्री का आयात भी करना पड़ा।

(2) **आयातों के मूल्य में वृद्धि**—भारत के आयातों में तो वृद्धि हुई, साथ ही आयातों के मूल्य में भी भारी वृद्धि हुई जिससे हमें अधिक मात्रा में विदेशी विनिमय व्यय करना पड़ा और इसका भुगतान शेष पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। उदाहरण के लिए 1973-74 से भारत के विदेशी व्यापार की स्थिति निरन्तर बिगड़ रही है जोकि खाद्य, उर्वरक और पेट्रोल तथा स्नेहक के मूल्य में तेजी से बढ़ने के कारण हुआ। 1968-69 को आधार वर्ष मानकर इन तीन वस्तुओं का यूनिट मूल्य सूचकांक बढ़कर क्रमशः 1973-74 में 182, 91 और 334, 1974-75 में बढ़कर 229, 173 और 736 और 1975-76 में 276, 167 और 829 हो गया। मूल्यों में वृद्धि के कारण पाँचवीं योजना के प्रारूप को दुबारा तैयार किया गया। भुगतान सन्तुलन की स्थिति इसलिए अस्त-व्यस्त रही क्योंकि तेल के मूल्यों में चौगुनी वृद्धि हुई और अनाज, उर्वरक, मशीनों व उपस्कर, अलौह धातुओं और अन्य प्रकार के आयातित सामान के मूल्य में भी काफी वृद्धि हुई। आयात की जाने वाली तीन चीजों अर्थात् खाद्य सामग्री, उर्वरक और पेट्रोल व अन्य स्नेहक का आयात बिल 1973-74 में 1,260 करोड़ रुपये (कुल आयात का 42·6 प्रतिशत) था जो 1974-75 में बढ़कर 2,500 करोड़ रुपये (कुल आयात का 53 प्रतिशत) हो गया।

(3) **निर्यातों में वांछनीय वृद्धि नहीं**—भुगतान सन्तुलन के प्रतिकूल रहने का एक कारण यह भी था कि निर्यातों में वांछनीय वृद्धि नहीं हुई तथा विश्व निर्यात की तुलना में भारत का

प्रतिशत व्यापार गिरता गया। इसे हम अध्याय 44 में स्पष्ट कर चुके हैं। यह कहना गलत होगा कि निर्यातों में बिल्कुल वृद्धि नहीं हुई किन्तु यह कहा जा सकता है कि निर्यातों में सापेक्षिक रूप में कम वृद्धि हुई। उदाहरण के लिए सन् 1950 में हमारा निर्यात कुल 600 करोड़ रुपये का हुआ जो 1973-74 के अन्त तक बढ़कर 2,523 करोड़ रुपये हो गया किन्तु इसी अवधि में हमारा आयात 650 करोड़ रुपये से बढ़कर 2,955 करोड़ रुपये हो गया। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि 1972-73 और 1976-77 को छोड़कर लगातार हमारा व्यापार शेष प्रतिकूल रहा है। वर्ष 1974-75 की आर्थिक समीक्षा में कहा गया कि "निःसन्देह निर्यात किये जाने वाले सामान के मूल्य में भी वृद्धि हुई परन्तु भुगतान सन्तुलन की स्थिति निरन्तर घाटे की बनी रही। जो व्यापार का अन्तर 1972-73 में 173 करोड़ रु० का अतिरेक था, वह 1973-74 में जाकर 432 करोड़ रुपये और 1974-75 में जाकर 1,190 करोड़ रुपये के घाटे का हो गया।

(4) अदृश्य मदों में भुगतान—भुगतान सन्तुलन में वस्तुओं के व्यापार के साथ अदृश्य मदों की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यद्यपि अदृश्य मदें लम्बी अवधि तक भारत के पक्ष में रहीं किन्तु अदृश्य मदों से प्राप्त होने वाली राशि काफी कम थी। इसका कारण यह था कि इन अदृश्य मदों विशेष रूप से ऋणों की अदायगी और उन पर ब्याज पर काफी भुगतान किया गया। उदाहरण के लिए पाँचवीं योजना की अवधि में पूँजीगत लेन-देन में 3,371 करोड़ रुपये जिनमें से 2,465 करोड़ रुपये ऋण की अदायगी के हैं विदेशों को भुगतान किये जाने का लक्ष्य रखा गया।

(5) आय प्रभाव और कीमत प्रभाव—प्रायः विकासशील देशों में, आय प्रभाव और कीमत प्रभाव भी भुगतान शेष को प्रतिकूल बना देते हैं। आय प्रभाव का यह अर्थ है कि देश के लोगों की आय में वृद्धि के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ता है। यदि निर्यातों में वृद्धि के कारण लोगों की आय बढ़ती है तो आयातों में वृद्धि होने लगती है इसे व्यापार का "पूर्व-व्यापार अभिनत" (Pro-Trade Biased) अथवा निर्यात अभिनत (Export Biased) प्रभाव कहते हैं। चूंकि विकासशील देशों की आयात की सीमान्त प्रवृत्ति तीव्र होती है, इन देशों में आयात में वृद्धि होने लगती है जिनमें उपभोग की विलासिता पूर्ण वस्तुएं प्रमुख होती हैं। इसका एक प्रभाव यह भी होता है कि घरेलू माँग में वृद्धि होने के कारण निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा भी कम हो जाती है। फलस्वरूप भुगतान शेष प्रतिकूल हो जाता है।

कीमत प्रभाव का अर्थ यह है कि देश की कीमतों की वृद्धि का व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ता है। स्पष्ट है कि कीमतों में वृद्धि से हमारे निर्यातों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और दूसरी ओर आयातों में वृद्धि होने लगती है क्योंकि देश के लोग विदेशों के सस्ते बाजारों से खरीदना पसन्द करते हैं। देश में कीमतों में वृद्धि के कई कारण हो सकते हैं। कीमतों में वृद्धि से निर्यात हतोत्साहित होते हैं तथा आयात बढ़ जाते हैं। अतः भुगतान शेष प्रतिकूल हो जाता है।

भारत के भुगतान शेष के प्रतिकूल होने में आय-प्रभाव और कीमत प्रभाव दोनों का हाथ रहा है।

(6) विदेशी विनिमय की आवश्यकता का कम आकलन—प्रतिकूल भुगतान शेष का एक कारण यह भी था कि सरकारी परियोजनाओं पर होने वाले विदेशी विनिमय का सही अनुमान नहीं लगाया जा सका और उनके लिए जितनी विदेशी मुद्रा की व्यवस्था की गयी थी, उतने में उन्हें पूरा नहीं किया जा सका। अतः विभिन्न योजनाओं में विदेशी विनिमय के अनुमान को बढ़ाना पड़ा जैसे रेलों के विकास के सम्बन्ध में विदेशी विनिमय की आवश्यकता काफी बढ़ गयी।

(7) विदेशी ऋण और व्यापार में प्रत्यक्ष सम्बन्ध का अभाव—भारत के अधिकांश विदेशी ऋणों का विदेशी व्यापार से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहा अर्थात् इन ऋणों को ऐसे उत्पादनों में नहीं लगाया गया जिससे निर्यात में वृद्धि हो सके अथवा आयातों में अधिक कमी हो सके। इसमें

सन्देह नहीं कि आयात प्रतिस्थापन ने हमारी सहायता की है किन्तु जहाँ तक ऋणों का प्रश्न है, इनके भुगतानों के उत्तरदायित्वों को व्यापार से नहीं जोड़ा गया ।

इस प्रकार उपर्युक्त कारणों से भारत का भुगतान शेष प्रतिकूल रहा ।

भारत सरकार द्वारा विदेशी विनिमय के समाधान हेतु किये गये उपाय

भारत सरकार के लिए प्रारम्भ में ही प्रतिकूल भुगतान शेष चिन्ता का विषय रहा है और समय-समय पर उसके समाधान के लिए कई उपाय किये गये जो संक्षेप में इस प्रकार है—

(1) **मुद्रा प्रणाली में परिवर्तन**—विदेशी विनिमय के संकट को देखते हुए 1956 में नोट निर्गमन की आनुपातिक कोष प्रणाली के स्थान पर न्यूनतम कोष प्रणाली को अपनाया गया जिसमे न्यूनतम कोष की राशि घटाकर 200 करोड़ रुपये करदी गयी जिसमे 115 करोड़ रुपये का सोना तथा 85 करोड़ रुपये की विदेशी प्रतिभूतियाँ रखी जा सकती है जबकि इसके पहले की प्रणाली मे 115 करोड़ रुपये के मूल्य का सोना तथा 400 करोड़ रुपये की विदेशी प्रतिभूतियाँ रखना आवश्यक था । इसका उद्देश्य था कि शेष विदेशी विनिमय का प्रयोग आर्थिक विकास के लिए आवश्यक आयात करने मे किया जा सके ।

(2) **आयातों पर प्रतिबन्ध**—भुगतान-शेष की कठिनाई को हल करने के लिए भारत सरकार ने अपनी व्यापारिक नीति मे समय समय पर आयातो पर कड़े प्रतिबन्ध लगाये । उदाहरण के लिए 1978-79 की आयात नीति मे उपभोग की वस्तुओं के आयात को प्रतिबन्धित कर दिया गया है । आयातो पर प्रतिबन्ध लगाने का मुख्य उद्देश्य यह था कि दुर्लभ विदेशी मुद्रा का प्रयोग केवल बहुत ही आवश्यक वस्तुओ के आयात पर किया जा सके । अध्याय 45 मे आयात नीति का विस्तृत विवेचन किया जा चुका है अतः उसका अध्ययन भी करें ।

(3) **निर्यात प्रोत्साहन**—अधिक मात्रा मे विदेशी विनिमय प्राप्त करने के लिए सरकार ने निर्यातों को प्रोत्साहित किया । इसके लिए उन्ही आवश्यक वस्तुओं का आयात किया गया जिससे निर्यात सम्वर्द्धन मे सहायता मिल सकती थी । निर्यात प्रोत्साहन के लिए सरकार ने जो उपाय अपनाय और इस सम्बन्ध में जो सुझाव महत्वपूर्ण है उसका विस्तृत विवेचन अध्याय 46 "भारत में निर्यात सम्वर्द्धन" मे किया जा चुका है अतः उसका अध्ययन करें ।

(4) **अधिक विदेशी सहायता**—विदेशी विनिमय की समस्या हल करने के लिए भारत ने विदेशो से और विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक और वित्तीय संस्थाओ से भारी मात्रा मे ऋण लिये । किन्तु इससे हमारी अल्पकालीन समस्या तो हल हो गयी किन्तु यह हमारी समस्या का सही समाधान नहीं है । क्योंकि दीर्घकाल मे ऋणो के भुगतान की समस्या तो रहती ही है ।

(5) **स्थगित भुगतान पद्धति**—विदेशी विनिमय के वर्तमान प्रयोगो मे बचत की जा सके इस उद्देश्य से सरकार ने आयातो का भुगतान करने के लिए स्थगित भुगतान पद्धति का सहारा लिया । नयी परियोजनाओ के लिए आयात लाइसेंस उसी शर्त पर दिये गये जब आयातो का प्रबन्ध स्थगित भुगतान के आधार पर करना सम्भव था । इसके अतिरिक्त विनिमय नियन्त्रण के अन्य उपायो का भी सहारा लिया गया ।

(6) **विदेशी विनिमय एक्ट**—1973 मे एक विदेशी विनिमय व्यवस्था एक्ट पारित किया गया जिसे 1974 में लागू किया गया । इसके फलस्वरूप विदेशो मे रह रहे भारतीयो ने भारत के रिजर्व बैंक के माध्यम से अपने देश को अधिक मात्रा मे धन भेजा । हमारे विदेशी मुद्रा कोष मे वृद्धि होने का यह एक महत्वपूर्ण कारण था ।

(7) **आयात प्रतिस्थापन**—हमारे देश की आयातो पर निर्भरता कम हो सके, इस उद्देश्य से सरकार ने आयात प्रतिस्थापन नीति का सहारा लिया अर्थात् जिन वस्तुओं का आयात किया जाता था, उनका देश मे ही उत्पादन किया जाय एवं आयात बन्द कर दिया जाय । आयात प्रति-

स्थापन की नीति को भारी सफलता मिली है। इसे अध्याय 46 की तालिका 46.1 में स्पष्ट कर दिया गया है। आवश्यकता इस बात की है कि सरकार और उद्योगपतियों को आयात प्रतिस्थापन सम्बन्धी अनुसन्धान एवं विकास कार्यों पर पर्याप्त ध्यान देना चाहिए तथा आयात प्रतिस्थापन की लागत पर भी दृष्टि रखना चाहिए।

(8) सरकार की स्वर्ण-नीति—1962 में विदेशी विनिमय की कमी का विश्लेषण भारत सरकार ने किया तथा स्वर्ण का आकर्षण कम करने के लिए नयी स्वर्णनीति की घोषणा की। देश के विदेशी विनिमय रिज़र्व को समृद्ध रखने के लिए पहले सरकार ने स्वर्ण बाण्ड जारी करने का निर्णय लिया जिस पर 15 वर्ष की अवधि के लिए 6 प्रतिशत वार्षिक ब्याज की दर थी। दूसरे, स्वर्ण में सट्टा बाज़ारी रोकने के उद्देश्य से सरकार ने स्वर्ण का अग्रिम व्यापार रोक दिया। जनवरी 1963 में सरकार ने स्वर्ण नियन्त्रण कानून लागू किया जिसमें बिना पूर्व घोषणा आभूषणों के अलावा स्वर्ण रखने को अवैध करार कर दिया गया तथा यह कानून बनाया गया कि आभूषणों की शुद्धता 14 कैरेट की होगी तथा जिस व्यक्ति के पास गैर आभूषणों में 50 ग्राम से अधिक सोना है, उसे एक माह के भीतर इसकी घोषणा करने को आवश्यक बना दिया गया। इस कानून में आगे चलकर और भी संशोधन किये गये किन्तु विदेशी विनिमय के लिए स्वर्ण को एकत्रित करने का उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सका।

स्वर्ण के बारे में नवीनतम नीति यह है कि सरकार स्वर्ण आभूषणों के निर्यात को प्रोत्साहित कर रही है क्योंकि विदेशों में स्वर्ण-आभूषणों की भारी माँग है तथा स्वर्ण उन्हीं को खरीदने की अनुमति दी जायगी जो स्वर्ण आभूषण को निर्यात कर विदेशी मुद्रा प्राप्त करते हैं। यह योजना 21 अगस्त, 1978 से शुरू हो गयी है।

इस प्रकार सरकार द्वारा विदेशी विनिमय के संकट को हल करने के लिए विभिन्न उपाय अपनाये गये हैं तथा उनमें सफलता भी मिली है। इन सबका परिणाम यह हुआ कि हमारे विदेशी मुद्रा के कोष में काफी वृद्धि हुई है।

विदेशी विनिमय की समस्या को हल करने के लिए कुछ सुझाव

सरकार द्वारा अपनाये गये उपर्युक्त उपायों के अतिरिक्त भारत के विदेशी विनिमय संकट को हल करने की दिशा में निम्न सुझावों पर भी ध्यान दिया जा सकता है :

(1) घरेलू उपभोग पर नियन्त्रण—जो वस्तुएँ देश के उपभोग के लिए विशेषकर जन-सामान्य के लिए आवश्यक हैं, उनके उपभोग पर तो नियन्त्रण नहीं लगाया जा सकता किन्तु जिन वस्तुओं का उपभोग मात्र प्रदर्शन की इच्छा से उच्च आय वर्ग द्वारा किया जाता है, उस पर कुछ मात्रा में नियन्त्रण लगाया जाना चाहिए तथा निर्यात-अतिरेक का सृजन किया जाना चाहिए ताकि निर्यात में वृद्धि हो सके।

(2) मूल्यों में स्थिरता—उत्पादन में वृद्धि हो तथा हमारे निर्यातों की विदेशों में माँग हो, इसके लिए आवश्यक है कि हमारे मूल्यों में स्थिरता रहे। वर्तमान में देश में मूल्यों में काफी उच्चावचन हो रहे हैं जो देश की अर्थव्यवस्था के लिए अच्छी प्रवृत्ति नहीं है। यदि मूल्य बढ़ते हैं तो विदेशी हमारे देश से नहीं खरीदना चाहते और यदि मूल्यों में गिरावट होती है तो हमारे उत्पादक उत्पादन बढ़ाने में हतोत्साहित होते हैं।

(3) विदेशी विनियोग को प्रोत्साहन—कुछ शर्तों के साथ भारत में विदेशी विनियोजन को प्रोत्साहित किया जा सकता है जैसे वे कमाये हुए लाभ का एक निश्चित प्रतिशत देश में ही विनियोग करेंगे तथा आयात-निर्यात के सम्बन्ध में वे पूर्ण रूप से भारत सरकार के नियन्त्रण में रहेंगे।

(4) निर्यात के लिए और अधिक प्रोत्साहन—यद्यपि भारत सरकार द्वारा दिये गये

प्रोत्साहनों के फलस्वरूप निर्यातों में वृद्धि हुई है फिर भी अभी इस क्षेत्र में अधिक प्रोत्साहनों की आवश्यकता है ताकि निर्यातों में अविरतम वृद्धि हो सके।

(5) उद्योगों का सही चयन—इस सम्बन्ध में दो बातें महत्वपूर्ण हैं। पहली तो यह कि जिन वस्तुओं के आयात पर भारी व्यय करना पड़ता है जैसे पेट्रोलियम, उनका देश में ही अनुसन्धान और उत्पादन पर जोर दिया जाना चाहिए। दूसरे, ऐसे उद्योगों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए जो आयात की सहायता बिना ही स्थापित किये जा सकते हैं अथवा चालू होने के बाद अपेक्षाकृत कम समय में विदेशी मुद्रा अर्जित कर सकते हैं।

उपर्युक्त उपायों से विदेशी विनिमय समस्या के हल में सहायता मिलेगी।

भारत का विदेशी मुद्रा कोष (Foreign Exchange Reserve of India)

रिजर्व बैंक की 1976-77 की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार भारत की विदेशी मुद्रा की संचित राशि 30 जून, 1977 को 3,582 करोड़ रु० हो गयी थी। नवीनतम आँकड़ों के अनुसार मई 1978 में यह राशि बढ़कर 4,103 करोड़ रुपए और जून 1978 में बढ़कर 4,500 करोड़ रुपये हो गयी है तथा इसमें स्वर्ण और एस० डी० आर० (विशेष आहरण अधिकार) शामिल नहीं है। 1970-71 से लेकर अब तक विदेशी विनिमय कोष में जो वृद्धि हुई है, वह निम्न तालिका में स्पष्ट है:

तालिका 47·4—भारत का विदेशी विनिमय कोष (करोड़ रुपये में)

वर्ष	विदेशी विनिमय कोष (स्वर्ण और एस० डी० आर० को निकालकर)	प्रतिवर्ष निरपेक्ष परिवर्तन
1970-71	438 1	—108·3
1971-72	480·4	+42·3
1972-73	478·9	—1·5
1973-74	580·8	+101·9
1974-75	610·5	+29 7
1975-76	1,491·7	+881·2
1976-77	2,863 0	+1,371·3
1977-78	3,959·3	+1,096·3

[Source : State Bank of India, Monthly Review, Sep. 1977 & March 78.]

उपर्युक्त तालिका स्पष्ट करती है कि 1970-71 और 1972-73 को छोड़कर शेष सारे वर्षों में विदेशी मुद्रा कोष में भारी वृद्धि हुई। तालिका के आखिरी तीन वर्षों में विनिमय कोष में वृद्धि, पिछले वर्षों की तुलना में अधिक रही।

विदेशी मुद्रा कोष में वृद्धि—भारत के विदेशी मुद्रा कोष में इतनी अधिक वृद्धि आश्चर्य का विषय है जहाँ तक व्यापार-शेष के अतिरेक का प्रश्न है, 1976-77 में इसमें केवल 69 करोड़ रुपये का अतिरेक हुआ जबकि इस वर्ष विदेशी मुद्रा की संचित राशि में 1,371 करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि विदेशी मुद्रा कोष में होने वाली इस अप्रत्याशित वृद्धि के पाँच कारण उत्तरदायी हैं—

(i) तस्करों की गतिविधियों पर लगाये गये कड़े प्रतिबन्ध।

(ii) रुपये के सरकारी तथा अनधिकृत मूल्यों के बीच रहने वाले अन्तर में कमी।

(iii) विदेशों में बसे भारतीयों द्वारा अपनी बचत रिजर्व बैंक के माध्यम से भेजना।

(iv) विदेशी व्यापार के घाटे में कमी, एवं

(v) विदेशों से प्राप्त होने वाली सहायता में वृद्धि।

हमारे विदेशी मुद्रा कोष में 1951-52 से 1965-66 तक निरन्तर गिरावट आती रही। इसके बाद 1966 से रुपये के अवमूल्यन से लेकर 1972-73 तक उसमें कभी कमी तो कभी वृद्धि होती रही है। इसमें निरन्तर वृद्धि का क्रम 1973-74 से शुरू हुआ। ऐसा अनुमान है कि प्रति-माह 130 करोड़ रुपये की वृद्धि की दर से विदेशी मुद्रा कोष में वृद्धि हो रही है अतः ऐसा अनुमान है कि 1978-79 में इस कोष की मात्रा 5,000 करोड़ से अधिक हो जायगी।

विदेशी मुद्रा कोष का प्रयोग किस तरह किया जाय

विदेशी मुद्रा के बढ़ते हुए कोष पर अर्थशास्त्री और समाचार-पत्र गहरी चिन्ता प्रकट करने लगे हैं क्योंकि उन्हें डर है कि इससे देश में मुद्रा स्फीतिक दशाएँ पैदा हो सकती हैं अथवा संचित मुद्रा के कारण अन्य देश हमें उतनी मात्रा में सहायता नहीं देंगे जितनी मात्रा में अब तक देते रहे हैं। कुछ लोग यह भी सोचने लगे हैं कि उक्त कोष इस बात का सूचक है कि भारत विदेशी व्यापार मात्र से विकास नहीं कर सकता। कुछ भी हो, यह तो निश्चित है कि बढ़ते हुए कोषों के कारण हमें व्यापार नीति और विनिमय दर नीति में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया है। इससे प्रभावित होकर भारत सरकार ने पूँजीगत वस्तुओं, कच्चे माल एवं उपभोक्ता वस्तुओं के आयात को 1977-78 की आयात नीति में उदार बना दिया तथा कुछ आवश्यक वस्तुओं के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

1977-78 के आर्थिक सर्वेक्षण में कहा गया है कि विदेशी मुद्रा कोष का प्रयोग आर्थिक विकास को बढ़ाने एवं मुद्रा पूर्ति को सीमित रखने के लिए किया जाना चाहिए। आयातों में वृद्धि तीन प्रकार से हो सकती है—

(i) ऐसे पदार्थों का आयात जो भारत में उपलब्ध नहीं है जैसे अलौह धातुएँ,

(ii) ऐसे उपकरणों के आयात में वृद्धि जो भारत में नहीं बनाये जाते, एवं

(iii) उन वस्तुओं के आयात में वृद्धि जो यद्यपि भारत में तैयार की जाती है किन्तु घरेलू उत्पादन की तुलना में माँग अधिक रहती है।

1977-78 का बजट प्रस्तुत करते समय वित्तमन्त्री श्री एच. एम. पटेल ने कहा था कि "आयातों में वृद्धि के बावजूद देश के विदेशी मुद्रा कोष में वृद्धि हुई है जिसका कारण यह है कि विदेशों में रह रहे भारतीयों ने देश को अधिक मात्रा में धन भेजा और व्यापार खाते में थोड़ा अति-रेक रहा। यह आवश्यक है कि इस कोष का प्रयोग देश के आन्तरिक विकास के लिए किया जाना चाहिए। उन्होंने यह स्वीकार किया कि गत वर्ष इस कोष में से जो 800 करोड़ रुपये उन्होंने सार्वजनिक क्षेत्र के लिए निकाले थे, वे उनका सदुपयोग नहीं कर पाये।"

कुछ महत्वपूर्ण सुझाव

यह स्पष्ट है कि भारत का आर्थिक विकास बहुत कुछ इस बात पर निर्भर रहेगा कि विदेशी मुद्रा कोष को किस तरह विकास कार्यों में प्रयुक्त किया जाता है। लगता है कि लगातार विदेशी मुद्रा कोष में घाटे का अभ्यासी हमारा प्रशासन तन्त्र इतनी बड़ी मात्रा में संचित कोष देखकर हतप्रभ हो गया है और उसे सूझ नहीं रहा है कि किस प्रकार इस कोष का प्रयोग किया जाय। विदेशी मुद्रा कोष इतना अधिक नहीं हो गया है कि उससे अर्थव्यवस्था को खतरा पैदा हो जाय इसमें तो केवल 8-9 महिनों का आयात बिल ही चुकाया जा सकता है। फिर भी यह आवश्यक है कि इस कोष का प्रयोग राष्ट्रीय आय को बढ़ाने के लिए किया जाय। इसका सही उप-योग देश की अर्थव्यवस्था को नयी दिशा दे सकता है। इस सम्बन्ध में निम्न सुझाव विचारणीय हैं :

(1) विदेशी मुद्रा का उपयोग सर्वप्रथम विद्युत उपलब्ध कराने, खनिज तेल की खोज तथा खुदाई करने एवं ऐसे उद्योगों का विकास करने के लिए किया जा सकता है जो हमारे निर्यात को बढ़ा सकें।

(2) विदेशी मुद्रा का उपयोग आवश्यक वस्तुओं जैसे खाद्य तेल, औद्योगिक कच्चा माल आदि के आयात के लिए किया जाये।

(3) विदेशी मुद्रा का प्रयोग कच्चे स्वर्ण, एवं अन्य फुटकर वस्तुओं एवं देश की परिस्थितियों के अनुरूप तकनीक का आयात करने के लिए किया जा सकता है। वर्तमान में सरकारी नीलामी के बावजूद स्वर्ण की कीमतें कम नहीं हैं। आशा है स्वर्ण आयात से इनमें कमी होगी।

(5) इस बात का ध्यान रखा जाय कि विदेशी मुद्रा कोष का प्रभाव आन्तरिक कीमत स्तर को बढ़ाने के क्षेत्र में न पड़े।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. प्रथम पंचवर्षीय योजना से लेकर अब तक भारत की भुगतान सन्तुलन की स्थिति पर प्रकाश डालिए ?
2. भारत में भुगतान सन्तुलन के प्रतिकूल होने के क्या कारण थे ? इसे हल करने के लिए भारत सरकार ने क्या उपाय अपनाये ? समझाइए।
3. भारत के विदेशी मुद्रा कोष में अप्रत्याशित वृद्धि के क्या कारण हैं ? इस कोष का सदुपयोग किस प्रकार किया जा सकता है ?

अध्याय **48**

भारत की व्यापारिक अथवा तट-कर नीति

[INDIA'S COMMERCIAL OR TARIFF POLICY]

परिचय

किसी भी देश की व्यापारिक अथवा तटकर (प्रशुल्क) नीति उसके औद्योगिक ढाँचे का आधार होती है। विकासशील देशों के विशेष सन्दर्भ में औद्योगीकरण को दृष्टि में रखते हुए उचित तटकर नीति के निम्न उद्देश्य होना चाहिए :

(i) पुराने एवं नये दोनों उद्योगों में विनियोग की वृद्धि करना।

(ii) अनुत्पादन कार्यों में सट्टा प्रेरक विनियोग को हतोत्साहित करना।

(iii) द्वितीयक उद्योगों में लगे उत्पत्ति के विभिन्न साधनों की उत्पादकता में वृद्धि करना।

तट-कर नीति देश की संरक्षण नीति को प्रभावित करती है क्योंकि इससे आयात और निर्यात प्रभावित होते हैं। इस दृष्टि से भारत की तटकर नीति का अध्ययन महत्वपूर्ण है कि इस नीति ने हमारे देश में उद्योगों के विकास को किस प्रकार प्रभावित किया है।

ऐतिहासिक विवेचन—1947 से पूर्व भारत की प्रशुल्क नीति हमारे देश के हित में नहीं थी। इसका कारण यह था कि उक्त नीति साम्राज्य देश ब्रिटेन द्वारा भारत पर लादी गयी थी एवं ब्रिटेन के हितों के ही अनुकूल थी। प्रथम विश्व युद्ध (1914-18) से पूर्व भारत में स्वतन्त्र व्यापार की नीति को ही सर्वोत्तम नीति माना जाता था। ब्रिटेन ने भारत के लिए मुक्त व्यापार की नीति को इस दृष्टि से अपनाया था कि भारत मात्र कच्चे माल की पूर्ति करने वाला एवं ब्रिटेन से आयातित पक्के माल का खरीदने वाला देश बना रहे। 1923 तक भारत ने स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपनायी। इस अवधि में केवल आय प्राप्त करने के उद्देश्य से ही आयात कर लगाये जाते थे। उन दिनों कभी इस बात पर विचार भी नहीं किया गया कि भारत में आयात करों का प्रयोग संरक्षण के लिए किया जाय एवं देश में उद्योगों की स्थापना की जाय। इसका परिणाम यह हुआ कि देश का एकपक्षीय विकास हुआ। इस अवधि में भारत में केवल दो उद्योग ही विकसित हो सके—जूट एवं सूती वस्त्र उद्योग—जिसमें भारत को काफी प्राकृतिक लाभ थे।

किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के बाद भारत में कुछ संरक्षण की नीति को प्रोत्साहन मिला जिसके लिए निम्न तीन परिस्थितियाँ उत्तरदायी थी -

(i) जर्मनी, जापान, अमेरिका आदि देशों में संरक्षण की नीति के कारण औद्योगीकरण को प्रोत्साहन मिला। अतः यह अनुभव किया गया कि पिछड़े देशों के लिए मुक्त व्यापार की नीति की अपेक्षा संरक्षण की नीति अधिक उपयुक्त है।

(ii) विश्व युद्ध ने यह सिद्ध कर दिया कि जो देश आवश्यक वस्तुओं, मशीनों, लोहा-इस्पात आदि के लिए विदेशों पर निर्भर रहता है वह विकास नहीं कर सकता। यह भी स्पष्ट हो गया कि भारत में औद्योगिक विकास की काफी सम्भावनाएँ हैं।

कि अर्द्धविकसित देशों के व्यापार में विकसित देशों के समान वृद्धि क्यों नहीं हुई है। 1958 में उक्त रिपोर्ट जिसे "हैबरलर रिपोर्ट" कहते हैं, प्रस्तुत की गयी। कई अर्थों में यह रिपोर्ट गैट के इतिहास में मील का पत्थर है जिसने अर्द्धविकसित देशों की समस्याओं को हल करने के लिए चिन्तन को एक नयी दिशा दी है। इस रिपोर्ट के फलस्वरूप गैट ने 1958 में एक उत्साहपूर्ण व्यापार विस्तार कार्यक्रम अपनाया जिसके दो कदम अर्द्धविकसित देशों के लिए काफी महत्वपूर्ण थे—प्रथम, कृषि उत्पादन के व्यापार पर विशेष बल देना और द्वितीय अर्द्धविकसित देशों से निर्यात व्यापार में वृद्धि के उपाय करना।

1963 में गैट द्वारा एक विशेष कार्यक्रम लागू किया गया जिसे 21 अर्द्धविकसित देशों द्वारा प्रस्तावित किया गया था। इस कार्यक्रम में 7 बिन्दु हैं जिनका अर्द्धविकसित देशों की व्यापार समस्याओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

उक्त सब कार्यों के फलस्वरूप अर्द्धविकसित देशों की समस्याओं को कुछ अंशों तक तो हल किया गया है किन्तु पूर्ण रूप से ये हल नहीं हुई हैं। कैनेडी-प्रशुल्क नीति के अन्तर्गत भी इन देशों पर पूर्ण ध्यान नहीं दिया गया। इन देशों के प्रतिनिधियों ने भी यह स्वीकार किया है कि गैट ने अर्द्धविकसित देशों की व्यापार नीति एवं आर्थिक विकास की आवश्यकता को अच्छी तरह नहीं समझा है।

गैट का आलोचनात्मक मूल्यांकन

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के क्षेत्र में गैट की स्थापना सर्वाधिक महत्वपूर्ण विकास है। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि अपने उद्देश्यों में गैट काफी हद तक सफल हुआ है फिर भी निम्न आधार पर गैट की आलोचनाएँ की जाती हैं :

(1) **अर्द्धविकसित देशों की समस्याओं को हल करने में सफलता का अभाव**—चूँकि अर्द्धविकसित देशों की व्यापार की समस्याएँ, विकसित देशों की तुलना में अधिक भीषण हैं, उन्हें हर सम्भव कीमत पर प्राथमिकता दी जानी चाहिए थी पर ऐसा नहीं हुआ और अधिकांश पिछड़े देशों को इससे निराशा ही हाथ लगी।

(2) **उदार नीतियों का अनुचित लाभ**—गैट ने परिमाणात्मक प्रतिबन्धों के सम्बन्ध में कुछ अपवाद स्वीकार किये हैं अर्थात् विशेष कारणों से पिछड़े देशों को इन प्रतिबन्धों को लागू करने की अनुमति दी गयी है किन्तु और अन्य मामलों में गैट इन परिमाणात्मक प्रतिबन्धों को समाप्त करने में सफल नहीं हुआ है। कुछ देशों ने अपवाद और रियायतों का अनुचित लाभ उठाया है।

(3) **पारस्परिक लाभ के सिद्धान्त से अहित**—गैट में प्रशुल्कों में कमी पारस्परिक लाभ के आधार पर की जाती है किन्तु पिछड़े देशों की यह शिकायत रही है कि इससे उनकी मोलभाव की शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है तथा विकसित देशों ने इस धारा का लाभ उठाकर कि एक देश किसी वस्तु पर समझौता करने से इंकार कर सकता है अर्द्धविकसित देशों की महत्वपूर्ण वस्तुओं की अवहेलना की है।

(4) **विवादों को निपटाने में असफलता**—यद्यपि गैट को बहुपक्षीय आधार पर सदस्य देशों के विवादों को निपटाने में सहायता मिली है किन्तु इसमें असफलताएँ भी कम नहीं हैं। सबसे बड़ी असफलता यह है कि गैट के बार-बार कहने पर भी संयुक्त राज्य अमेरिका ने दुग्ध पदार्थों पर लगे आयात प्रतिबन्धों को समाप्त नहीं किया तब फिर बदला लेने के लिए नीदरलैण्ड ने भी अमेरिका के गेहूँ के आटे के आयात पर प्रतिबन्ध लगाया।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि गैट अपने उद्देश्यों में पूर्ण रूप से सफल नहीं हो पाया है।

गैट एवं भारत (GATT and India)

भारत प्रारम्भ से ही गैट का सदस्य है तथा इसके समस्त सम्मेलनों में भाग लेता रहा है। गैट के प्रावधानों के अन्तर्गत भारत में बहुत से देशों को तटकर की छूट मिली है तथा इसके बदले भारत को भी इसी प्रकार की छूट मिली है। प्रत्येक सम्मेलन में भारत ने अपने व्यापार को बढ़ाने का प्रयास किया है जैसे 1962 में हुए प्रशुल्क सम्मेलन में भारत ने अमेरिका से एक व्यापार समझौता किया जिसके अन्तर्गत भारत को 28 वस्तुओं पर अमेरिका से तटकर में छूट मिली तथा भारत ने भी अमेरिका की 17 वस्तुओं पर से प्रशुल्क हटा दिया। इसी सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधि ने यह सुझाव भी दिया कि अर्द्धविकसित देशों को एकपक्षीय स्वतन्त्र व्यापार की सुविधा दी जानी चाहिए। भारत द्वारा दिये गये सुझावों पर गैट द्वारा सहानुभूतिपूर्ण ढंग से विचार किया गया है।

गैट का भविष्य (Future of GATT)

अभी तक जो सफलताएँ गैट ने प्राप्त की हैं उन्हें देखते हुए गैट के भविष्य के बारे में आशान्वित हुआ जा सकता है। विश्व व्यापार को व्यवस्थित करने की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण कदम है। यदि विश्व व्यापार को गला-काट प्रतियोगिता, अन्तर्राष्ट्रीय संघों के शोषण एवं आपसी द्वेष से बचाना है तो गैट सरीखी संस्थाओं का बने रहना बहुत जरूरी है। हाँ, यह बात जरूर है कि गैट का भविष्य इस बात पर निर्भर रहेगा कि यह अर्द्धविकसित देशों की व्यापार सम्बन्धी समस्याओं को किस हद तक हल कर पाता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1 गैट पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए तथा बताइए कि इस समझौते से विश्व के कुल व्यापार को बढ़ाने में कहाँ तक सहायता मिली है?

2. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर से प्रतिबन्ध हटाने के सम्बन्ध में गैट के योगदान की विवेचना कीजिए?

3 गैट के क्या उद्देश्य हैं? इन उद्देश्यों को पूरा करना उसके लिए कहाँ तक सम्भव हो सका है? अर्द्धविकसित देशों के विशेष सन्दर्भ में समझाइए?

4. गैट की प्रगति का विवरण देते हुए उसका आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए?

Selected Readings

1. P T. Ellsworth — *The International Economy*
2 K. R Gupta — *International Economics*
3 D M Mithani — *Introduction to International Economics*
4 GATT — *Haberler Report—International Trade.*

अध्याय **40**

व्यापार और विकास के लिए संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन —अंकटाड

[UNITED NATIONS CONFERENCE ON TRADE AND DEVELOPMENT —UNCTAD]

परिचय—अंकटाड का जन्म

गैट से विकसित देश अधिक लाभान्वित हुए तथा अर्द्धविकसित देशों को उससे निराशा हुई अत: यह अनुभव किया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और सहयोग के लिए नयी संस्थाओं की स्थापना की जानी चाहिए जो अर्द्धविकसित देशों के व्यापार अन्तराल को दूर कर सके। इसी के फलस्वरूप अंकटाड का जन्म हुआ। अंकटाड विश्व व्यापार के विस्तार और विशेष रूप से अर्द्धविकसित देशों में जीवन स्तर में वृद्धि करने का एक महत्वपूर्ण प्रयास है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने 1961 की दशाब्दी को "संयुक्त राष्ट्र विकास दशाब्दी" की संज्ञा दी तथा महासचिव से ऐसी सम्भावनाओं का पता लगाने के लिए कहा जिससे व्यापार और विकास से सम्बन्धित समस्याओं पर एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया जा सके। जुलाई 1962 में कैरो में जो व्यापार मन्त्रियों का सम्मेलन हुआ, उसमें भी व्यापार और विकास पर सम्मेलन आयोजित करने की आवश्यकता पर बल दिया गया। इस समर्थन के फलस्वरूप संयुक्त-राष्ट्र संघ ने मार्च-जून 1964 में संयुक्त राष्ट्र व्यापार और विकास सम्मेलन आयोजित करने का निर्णय लिया और इस प्रथम सम्मेलन के साथ ही अंकटाड का जन्म हुआ। इसे स्थापित करने का श्रेय डॉ. राउल प्रेबिश को है।

अंकटाड का संगठन (Organisation of UNCTAD)

अंकटाड संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा का एक स्थायी अंग है किन्तु उसकी स्वयं की सहायक संस्थाएँ हैं तथा स्वतन्त्र सचिवालय है। इसकी एक स्थायी कार्यकारिणी है जिसे व्यापार एवं विकास मण्डल (Trade and Development Board) कहते हैं। अंकटाड सम्मेलनों की अवधि के बीच में मण्डल कार्यशील रहता है तथा इसकी साल में दो बैठकें होती हैं। इसके 55 सदस्य होते हैं जिनका चुनाव सम्मेलन में समान भौगोलिक वितरण के आधार पर किया जाता है। इस मण्डल की चार सहायक संस्थाएँ हैं जो इस प्रकार हैं :

(i) वस्तुओं की कमेटी, (ii) निर्माण उद्योगों की कमेटी, (iii) नौ परिवहन कमेटी, एवं (iv) अदृश्य वस्तुओं एवं व्यापार से सम्बन्धित वित्तीय व्यवस्था की कमेटी। यद्यपि इन कमेटियों की वर्ष में एक बार बैठक होती है किन्तु कभी भी उनकी विशेष बैठक आयोजित की जा सकती है।

अंकटाड के प्रमुख कार्य

अंकटाड की स्थापना इसी उद्देश्य से की गयी है कि अर्द्धविकसित देशों के व्यापार सम्बन्धी मामलों में उनकी सहायता कर, इन देशों में आर्थिक विकास को गतिशील बनाया जा सके। अंकटाड के मुख्य कार्य इस प्रकार हैं :

(1) पूरे विश्व में विकसित एवं अर्द्धविकसित देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन देना और आर्थिक विकास को गतिशील बनाना।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं उससे सम्बन्धित मामलों तथा आर्थिक विकास से सम्बन्धित समस्याओं के लिए सिद्धान्त एवं नीतियों का निर्माण करना।

(3) उपर्युक्त सिद्धान्त एवं नीतियों को कार्यान्वित करने के लिए प्रस्ताव तैयार करना।

(4) संयुक्तराष्ट्र संघ में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित जो अन्य संस्थाएँ हैं, उनका अंकटाड से समन्वय स्थापित करना एवं उनकी प्रगति की समीक्षा करना।

(5) विश्व के देशों के बीच सुखद व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने हेतु एक केन्द्र के रूप में कार्य करना।

अंकटाड और गैट—एक तुलना

अभी पिछले अध्याय में हमने गैट के बारे में अध्ययन किया है। यह कहा जा सकता है कि अंकटाड भी गैट के समान ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाने वाली संस्था है तथा दोनों के एक से ही कार्य हैं और यदि ऐसा है तो फिर अंकटाड की क्या आवश्यकता थी। ऊपरी तौर पर भले ही ये दोनों संस्थाएँ एक समान उद्देश्यों वाली दिखती हैं किन्तु वास्तव में इन दोनों में अन्तर है जो इस प्रकार हैं :

(i) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में गैट उतनी व्यापक एवं विस्तृत संस्था नहीं है जितनी कि अंकटाड।

(ii) अंकटाड का जन्म संयुक्तराष्ट्र संघ के अन्तर्गत विशेष रूप से अर्द्धविकसित देशों की व्यापारिक समस्याओं के हल एवं आर्थिक विकास के लिए हुआ है जबकि गैट एक स्वतन्त्र संस्था है जिसके इतने व्यापक उद्देश्य नहीं हैं।

(iii) गैट एक समझौता करने वाला नियामक संगठन है जबकि अंकटाड एक रचनात्मक एवं भेदभाव समाप्त कर एकता स्थापित करने वाली संस्था है।

(iv) निष्कर्ष रूप में अंकटाड गतिशील संस्था है जो आर्थिक विकास और समानता के प्रति समर्पित है जबकि व्यापारिक नीतियों के प्रति गैट का दृष्टिकोण कुछ स्थैतिक है।

अंकटाड के विभिन्न सम्मेलन—सुझाव एवं उपलब्धियाँ

अंकटाड ने अब तक जो प्रगति की है, उसका लेखा उसके विभिन्न सम्मेलनों में दिये गये सुझावों और उनको कार्यान्वित करने हेतु किये गये उपायों से ही लगाया जा सकता है। हम इनका अध्ययन करेंगे।

अंकटाड का प्रथम सम्मेलन (1964)

अंकटाड का प्रथम सम्मेलन जेनेवा में 23 मार्च से 16 जून, 1964 तक आयोजित किया गया जिसमें 120 देश के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इसमें विचार करने के लिए निम्न आठ बिन्दु का कार्यक्रम तैयार किया गया

(i) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार तथा आर्थिक विकास में इसका महत्व,

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु समस्याएँ,

(iii) निर्मित और अर्द्धनिर्मित वस्तुओं का व्यापार,

(iv) अर्द्धविकसित देशों के अदृश्य व्यापार में सुधार,

देश, विकासशील देशों को अपनी आय का एक प्रतिशत भी विदेशी सहायता के रूप में देने को तैयार नहीं है। विकासशील देशों ने भी प्रशुल्कों को कम करने की दिशा में कोई महत्वपूर्ण प्रगति नहीं की है। विकासशील देशों से जो औद्योगिक माल आयात किया जाता है, उसके सम्बन्ध में परिमाणात्मक प्रतिबन्धों को न तो हटाया गया है और न कम किया गया है।

विकासशील देशों को सामान्य रूप से प्राथमिकता देने के मामले में विकसित देशों में काफी मतभेद हैं। कैनेडी प्रशुल्क नीति के अन्तर्गत यह स्वीकार किया गया कि अर्द्धविकसित देशों को प्राथमिकता के आधार पर व्यापार के क्षेत्र में प्रवेश दिया जाय किन्तु इसे व्यवहार में नहीं लाया गया। अंकटाड को इसमें केवल यह लाभ हुआ कि प्रशुल्क समझौतों में पारस्परिक लाभ के सिद्धान्त से छूट दे दी गयी। किन्तु विकसित देशों द्वारा प्रशुल्क के स्थान पर कई अन्य प्रतिबन्ध स्थापित कर दिये गये।

यद्यपि अंकटाड का प्रथम सम्मेलन कई अर्थों में असफल हो गया फिर भी यह उसकी सफलता कही जायगी कि इससे विकासशील देशों में एकता की भावना जागृत हुई। प्रथम सम्मेलन के बाद एशिया, अफ्रीका और अमेरिका के विकासशील देश 1967 में अल्जियर्स में एक मन्त्री स्तर की बैठक के शामिल हुए और "अल्जियर्स चार्टर" को पारित किया तथा 77 देशों ने अंकटाड के क्षेत्र के बाहर भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और आर्थिक मामलों में सहयोग करने का निर्णय लिया।

अंकटाड का द्वितीय सम्मेलन (1968)

अंकटाड का द्वितीय सम्मेलन 1 फरवरी से 28 मार्च, 1968 तक नई-दिल्ली में आयोजित हुआ। इसमें विश्व व्यापार और विकासशील देशों की समस्याओं पर गहनता से विचार किया गया। इस सम्मेलन के निम्नलिखित उद्देश्य थे :

(1) अंकटाड प्रथम के सुझावों को कार्यान्वित करने के फलस्वरूप हुए आर्थिक परिवर्तनों की समीक्षा करना।

(2) ऐसे उचित समझौतों के फलस्वरूप विशिष्ट उद्देश्यों को प्राप्त करना जिनसे विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में प्रगति की जा सकती है।

(3) महत्वपूर्ण समझौतों को सम्पन्न करने के पहले, सम्बन्धित मामलों पर पूर्ण विचार करना।

उक्त उद्देश्यों को दृष्टि में रखते हुए सम्मेलन की विषय सूची में निम्न कार्यक्रम शामिल किये गये :

(i) विश्व व्यापार और विकास की प्रवृत्तियाँ एवं समस्याएँ।

(ii) वस्तु समस्याएँ एवं विभिन्न देशों की नीतियाँ।

(iii) विकासशील देशों के विकास, विकास-वित्तीय व्यवस्था एवं सहायता की समस्याएँ।

(iv) विकासशील देशों की निम्न विशिष्ट समस्याएँ :

(a) निर्मित एवं अर्द्धनिर्मित वस्तुओं के निर्यातों में विस्तार एवं विविधता।

(b) नौपरिवहन सहित अन्य अदृश्य मदें।

(v) विकासशील देशों में व्यापार वृद्धि एवं आर्थिक एकीकरण की समस्याएँ एवं उन्हें हल करने के उपाय।

(vi) विकासशील देशों में जो सबसे कम विकसित हैं उनके आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति हेतु विशिष्ट उपाय।

(vii) अंकटाड के कार्यों की सामान्य समीक्षा।

द्वितीय अंकटाड की उपलब्धियाँ

इस सम्मेलन से विकासशील देशों को काफी आशाएँ थी किन्तु इसके परिणाम आशाजनक

नही थे क्योकि कई विवादग्रस्त विषयो पर देशो मे कोई समझौता नही हो सका। द्वितीय सम्मेलन इसलिए वांछित रूप से सफल नही हो पाया क्योकि इसके लिए आर्थिक वातावरण अनुकूल नही था—स्वर्ण संकट, ब्रिटेन और अमेरिका मे भुगतान शेष की कठिनाई, अमेरिका मे मन्दी, वियतनाम युद्ध इत्यादि। *किन्तु इसका यह निष्कर्ष नही है कि सम्मेलन पूर्ण रूप से असफल था,* वास्तव मे सम्मेलन ने कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त की, जो इस प्रकार है :

(1) **वस्तु समझौते**—इस सम्मेलन मे विकसित राष्ट्रो ने यह स्वीकार किया कि यदि वस्तुओ की कीमतो मे एक निश्चित सीमा के बाद गिरावट होती है तो इसका प्रभाव न केवल उत्पादक देशो पर पड़ता है वरन् आयात करने वाले देशो पर भी पड़ता है क्योकि उत्पादक देशो की निर्यात आय गिर जाने से उनकी आयात-क्षमता भी गिर जाती है जिससे विकसित देशो के निर्यात प्रतिकूल ढंग से प्रभावित होते हैं। सम्मेलन में यह तय किया गया कि कोको की कीमत पर अन्तर्राष्ट्रीय सहमति के लिए जून 1968 में पुन: बैठक होनी चाहिए तथा शक्कर समझौता जनवरी 1969 के पूर्व क्रियाशील हो जाना चाहिए। कीमत नीति, व्यापार को उदार बनाने एवं विकासशील देशो के उत्पादन को बाजार प्रदान करने के सम्बन्ध मे कोई सहमति नही हो सकी। अन्य वस्तुओ के सम्बन्ध मे यह निर्णय लिया गया कि इनके सम्बन्ध मे गहन अध्ययन किया जाना चाहिए।

(2) **प्राथमिकताएँ**—यह प्रस्ताव पारित किया गया कि पूर्व मे स्वीकृत सामान्य भेद-भाव हीन एवं गैर पारस्परिक ढंग से प्राथमिकताएं सर्व स्वीकृति से जारी रहना चाहिए जिनसे विकासशील देशो को लाभ होगा। विकसित देशो ने भी प्राथमिकताओ की एक सामान्य योजना को स्वीकार कर लिया तथा इसका विस्तृत ब्यौरा एक विशेष समिति के लिए तैयार करने को छोड़ दिया। इस योजना को प्राथमिकताओ की सामान्य योजना (G.S.P) कहते है। जिसके निम्न तीन उद्देश्य थे :

(i) विकासशील देशो की निर्यात आय मे वृद्धि करना।

(ii) इन देशो के औद्योगीकरण मे वृद्धि करना, एवं

(iii) इन देशो के आर्थिक विकास की दर को गतिशील बनाना।

(3) **पूरक वित्तीय व्यवस्था**—विकसित देश पूरक वित्तीय व्यवस्था की योजना के लिए भी सहमत हो गये। इस योजना के अन्तर्गत विकासशील देशो मे निर्यात क्षेत्र मे आय की कमी से होने वाली समस्याओ को हल करने का प्रावधान है। इस कमी को भुगतान शेष की सहायता से ठीक नही किया जा सकता।

(4) **विदेशी सहायता** - अकटाड प्रथम मे यह निर्णय लिया गया था कि विकसित राष्ट्रो को अपनी आय का एक प्रतिशत विकासशील देशो को विदेशी सहायता के रूप मे देना चाहिए किन्तु इसका विकासशील देशो ने कुल राष्ट्रीय आय का एवं विकसित देशो ने वास्तविक राष्ट्रीय आय का एक प्रतिशत अलग-अलग अर्थ लगाया किन्तु द्वितीय सम्मेलन मे पुनः तय किया गया कि यह एक प्रतिशत कुल राष्ट्रीय आय का होगा। यह भी निर्णय लिया गया कि विदेशी सहायता संगठित रूप मे होना चाहिए तथा सहायता की शर्तें उदार एवं सरल होना चाहिए। परन्तु कुछ देश तो 1972 तक इस सहायता देने को तैयार हुए किन्तु कुछ देशो ने मात्र सहायता देने का वचन दिया।

(5) **समाजवादी देशो के साथ व्यापार**—सम्मेलन मे विश्व व्यापार बढ़ाने के साथ ही जहाँ एक ओर पूर्वी-पश्चिमी देशो के साथ व्यापार पर बल दिया गया वही दूसरी ओर विकासशील और समाजवादी देशों के बीच भी व्यापार बढ़ाने पर जोर दिया गया। समाजवादी देशो मे यह अनुरोध किया गया कि वे विकासशील देशों के साथ अपने व्यापार मे वृद्धि एवं विविधता लायें

तथा विकासशील देशों के आयातों को प्राथमिकता दें। विकासशील देशों से भी कहा गया कि वे समाजवादी देशों के व्यापार को वही दशाएँ उपलब्ध करें जो वे विकसित देशों को करते हैं।

(6) विकासशील देशों में संगठन—सम्मेलन में विकासशील देशों में व्यापार के विकास और उनमें संगठन के प्रश्न पर कुछ प्रगति का अनुभव किया गया। विकासशील देशों ने विकसित देशों से जो "आशा की घोषणा" (Declaration of Interest) की वह विकसित देशों की "समर्थन की घोषणा" (Declaration of Support) के अनुरूप थी। विकसित देशों ने विकासशील देशों को वित्तीय एवं तकनीकी सहायता देने का वचन दिया तथा विकासशील देशों ने आपस में क्षेत्रीय एकता एवं व्यापार बढ़ाने पर जोर दिया।

आलोचनात्मक मूल्यांकन

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अंकटाड का द्वितीय दिल्ली सम्मेलन महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ नहीं ला सका तथा उसकी उत्साही योजनाएँ निराशा में परिणित हो गयी। अंकटाड के महासचिव राउल प्रेबिश ने इस सम्मेलन में सम्पन्न देशों को बार-बार यह समझाने का असफल प्रयास किया कि वे विकासशील देशों के प्रति उदारवादी रवैया अपनाएँ मगर सम्पन्न देशों ने उनकी एक नहीं सुनी और लगातार विरोध किया अतः दिल्ली सम्मेलन की असफलता ने उन्हें बुरी तरह तोड़ दिया। सम्मेलन में जिन विषयों पर चर्चा की गयी, उनमें से अधिकांश को हल नहीं किया जा सका क्योंकि उन पर आम सहमति प्राप्त नहीं हो सकी। इसे असफलता ही कहा जायगा कि विकसित राष्ट्र अपनी कुल आय का एक प्रतिशत सहायता के रूप में देने के स्थान पर 0.7 प्रतिशत भी देने को तैयार नहीं हुए।

अंकटाड का तृतीय सम्मेलन (1972)

अंकटाड का तृतीय सम्मेलन चिली की राजधानी सेण्टियागो में 13 अप्रैल, 1972 से 17 मई, 1972 तक हुआ जिसमें 120 देशों ने भाग लिया। इन देशों में 96 प्रतिनिधि विकासशील देशों से आये थे। इस सम्मेलन के अवसर पर विश्व की आर्थिक परिस्थितियों में काफी परिवर्तन हो चुके थे। जैसे यूरोपीय साझा बाजार में ब्रिटेन का प्रवेश, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में SDR की व्यवस्था तथा विकसित एवं विकासशील देशों के बीच व्यापार की नयी शुरूआत। अतः इस सम्मेलन में इन परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए विचार किया जाना था।

इस सम्मेलन में निम्न विषयों पर विचार किया गया :

(i) विकासशील देशों को, विकसित देशों की ओर से विदेशी सहायता जारी रहना।
(ii) देशों के ऋण-भार में राहत।
(iii) पिछड़े देशों को कम ब्याज की दर पर शर्तरहित ऋण।
(iv) नौपरिवहन भाड़े की समस्या।
(v) विकास हेतु वित्तीय सहायता एवं SDR में सम्बन्ध।

इन विषयों पर विचार कर सम्मेलन में निम्न मुद्दों पर निर्णय लिये गये :

(1) विकसित देशों से विकासशील देशों को तकनीकी हस्तान्तरण।
(2) अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सुधार।
(3) सामान्य प्राथमिकताएँ।
(4) अंकटाड की कार्यप्रणाली में सुधार।

सम्मेलन के महत्वपूर्ण सुझाव

अंकटाड द्वितीय सम्मेलन के परिणामों से विकासशील देशों को काफी आघात लगा था अतः विकासशील देशों ने विकसित देशों के उस रवैये की कटु आलोचना की जिसके अनुसार वे विकासशील देशों की वांछनीय आर्थिक सहायता करने को तैयार नहीं थे।

इस बात पर पर्याप्त बल दिया गया कि यद्यपि पिछली दशाब्दी में विश्व व्यापार में पर्याप्त वृद्धि हुई है, किन्तु विकसित देशों की तुलना में विकासशील देशों का व्यापार काफी धीमी गति से बढ़ा है। 1960 में विकसित देशो का निर्यात कुल विश्व निर्यात का 67 प्रतिशत [redacted] जो 1970 मे बढ़कर 71 प्रतिशत हो गया जबकि इसी अवधि में विकासशील देशो का निर्यात 21 प्रतिशत से घटकर 18 प्रतिशत रह गया। 1960-70 की दशाब्दी में जहाँ अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में चार गुनी वृद्धि हुई, यूरोपीय आर्थिक समुदाय मे दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशो का व्यापार 3 प्रतिशत से घटकर 1·6 प्रतिशत रह गया।

तृतीय सम्मेलन मे धनी एवं निर्धन देशो के बीच बढ़ती हुई खाई को पाटने के लिए सुझाव प्रस्तुत किये गये। विश्व बैंक के अध्यक्ष रावर्ट मेकनामारा ने समृद्ध देशों को स्मरण दिलाया कि जब गरीब देशों के एक अरब से ज्यादा लोगों की प्रति व्यक्ति आय स्थिर हो गयी है तब अमीर देशों की समृद्धि बढ़ती जा रही है। उन्होंने कहा कि विकसित देशो मे विपन्नतम देशों की सहायता के लिए जरा भी कमी नहीं करना पड़ेगी।

जहाँ तक विकसित देशो का प्रश्न है, उनके दृष्टिकोण से यह सम्मेलन सफल था क्योंकि कई महत्वपूर्ण मुद्दो पर विकसित और विकासशील देशो में सहमति थी किन्तु विकासशील देशों के दृष्टिकोण से इसे सफल नही कहा जा सकता क्योंकि उनके द्वारा प्रस्तुत प्रस्तावों में सहमति नही हो सकी और न ही उनके अनुकूल मौद्रिक सुधार सम्भव हुआ। यद्यपि विकसित देश इसके लिए तैयार हो गये हैं कि SDR एवं विकासशील देशों को दी जाने वाली वित्तीय सहायता में सम्बन्ध होना चाहिए क्योंकि विकासशील देशो द्वारा खर्च किये जाने वाले SDR से विकसित देशों को ही लाभ होगा। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सुधार से सम्बन्धित कई महत्वपूर्ण मुद्दो पर आम सहमति नही हो पायी।

मैण्टियागो सम्मेलन में नौपरिवहन भाड़ा (Shipping Freight) की समस्या पर भी विचार हुआ। यह अनुभव किया गया कि पिछड़े देशों के भुगतान-शेष मे एक-तिहाई घाटा ऊँची नौपरिवहन-भाड़ा की दरों के कारण है। समृद्ध देशो के पास विश्व के कुल 92 प्रतिशत व्यापारिक जहाज हैं जबकि इन पर ले जाने वाले कुल माल का दो तिहाई विकासशील देशो का होता है। सम्मेलन में इस सम्बन्ध मे एक आचार संहिता तैयार की गयी जिसके अनुसार विश्व व्यापार में विकासशील देशो के जहाजों की महत्वपूर्ण भूमिका होगी। यह भी तय किया गया कि परिवहन का किराया व्यापारिक दृष्टिकोण से सम्भवत: कम से कम होना चाहिए।

यद्यपि सम्मेलन मे विकासशील देशों की अनेक आवश्यकताओ की अवहेलना की गयी है फिर भी निम्नलिखित मुद्दों पर सहमति व्यक्त की गयी है :

(A) अधिकांश यूरोपीय देशो ने विकासशील देशों को दी जाने वाली प्राथमिकताओं को स्वीकार कर लिया है।

(B) वस्तु समझौतो पर विशेष जोर दिया गया है।

(C) विकसित देशो ने तय किया कि वे विकासशील देशों को आर्थिक सहायता देंगे ताकि विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था मे विकास एवं व्यापार मे विविधीकरण हो सके।

(D) विकासशील देशों की परिवहन लागतों को कम करने के प्रयत्न किया जाना चाहिए।

(E) विकासशील देशो के निर्यात में वृद्धि करने के लिए आवश्यक कदम उठाये जायें।

मूल्यांकन

यद्यपि तृतीय सम्मेलन अपने उद्देश्यो मे सफल नही हुआ किन्तु इसने असफलताओं को कम करने की दिशा मे एक कदम आगे बढ़ाया है। इसमें विकासशील देशो को निराश नही होना चाहिए पर और अधिक संगठित होकर अपनी समस्याओं के समाधान के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

अंकटाड का चतुर्थ सम्मेलन (1976)

अंकटाड का चौथा सम्मेलन केन्या की राजधानी नैरोबी में 5 मई, 1976 से 5 जून, 1976 तक हुआ। इस सम्मेलन का उद्घाटन केन्या के राष्ट्रपति श्री केन्याता के भाषण से हुआ तथा इसमें 153 राष्ट्रों के दो हजार प्रतिनिधियों ने भाग लिया। तृतीय सम्मेलन के बाद की अवधि में यह अनुभव किया गया कि विश्व व्यापार के प्रचलित ढाँचे और कार्यप्रणालियों के कारण विकासशील देशों की आर्थिक प्रगति की दर में निरन्तर बाधा उपस्थित हुई है अतः चतुर्थ सम्मेलन में इन बाधाओं को दूर करने के लिए आवश्यक कदम उठाने का निश्चय लिया गया। श्री केन्याता ने अपने उद्घाटन भाषण में कहा कि विकासशील देशों का सबसे बड़ा संकट यह है कि इनकी बढ़ती हुई आकांक्षाओं के पूरा होने की गति धीमी पड़ती जा रही है। उन्होंने कहा कि सम्मेलन के समक्ष (i) विकासशील देशों को तकनीकी ज्ञान हस्तान्तरित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समझौता करना। (ii) विकासशील देशों के बीच परस्पर व्यापार वृद्धि के लिए बाह्य सहायता दिलाना, और (iii) कच्चे माल की बिक्री में कीमतों के उच्चावचनों को नियन्त्रित करना—ये तीन प्रमुख कार्य हैं।

सम्मेलन के प्रमुख समझौते एवं प्रस्ताव

सम्मेलन में यह निर्णय लिया गया कि विकासशील देशों के सामने जो प्रमुख समस्याएँ हैं उनके समाधान के लिए आर्थिक दृष्टि से बुद्धिमानी और राजनीतिक सद्भावना की अपेक्षा है। यह भी प्रस्तावित किया गया कि विश्व से जितनी जल्दी हो सके उपनिवेशवाद को उखाड़ फेंकना चाहिए क्योंकि पिछड़े देशों के आर्थिक विकास में यह सबसे बड़ी बाधा है।

चतुर्थ अंकटाड प्रारम्भ करते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव डॉ. कुर्त वाल्डहाइम ने अपील की कि विकासशील देशों को गरीबी और निराशा से मुक्त किया जाना चाहिए। उन्होंने कहा कि विकासशील देशों की स्थिति में सुधार के लिए गत 12 वर्षों की बातचीत का कोई ठोस परिणाम नहीं निकला है। सम्मेलन के महासचिव डॉ. गमानी कोरिया ने अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय को चेतावनी दी कि संगठित तीसरी दुनिया के देशों की न्यायोचित तथा वास्तविक माँगों की वह अवहेलना नहीं कर सकता। यह सर्वथा अकल्पनीय है कि विकसित देश अपनी सम्पन्नता पर इतराते रहें और जनसंख्या का एक बड़ा भाग अभाव में जीता रहे। विकासशील देशों के मूल उत्पादों के व्यापार को सचालित करने के लिए एक नया ढाँचा इस व्यवस्था में जरूरी है। इस प्रकार एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर बल दिया गया।

नैरोबी सम्मेलन में 77 देशों का गुट गरीब देशों का है। इन देशों ने फरवरी 1976 में अपना सम्मेलन मनीला में किया था पर ये देश इस बात पर सहमत नहीं हो पाये कि किन वस्तुओं को संरक्षण की जरूरत है। इनके दो गुट हो गये। एक गुट तेल उत्पादक देशों का है और दूसरा गुट तेल हीन देशों का है। ठोस तथ्य यह है कि मूलतः तेल उत्पादक देशों के साथ अमीर दुनियाँ के हित जुड़ गये हैं। 1975 में अंकटाड के अन्तर्गत लीमा सम्मेलन में शोषणविहीन एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की स्थापना पर जोर दिया गया था। जनवरी 1975 में डॉ. हेनरी किसिंजर ने तेल उत्पादक देशों को यह धमकी दे दी थी कि यदि स्थिति अधिक गम्भीर हो गयी तो उनके विरुद्ध बल प्रयोग किया जा सकता है।

नैरोबी सम्मेलन में पुनः डॉ. किसिंजर ने यह धमकी दे डाली कि विकासशील राष्ट्र आर्थिक युद्ध छेड़कर स्वयं ही चोट खायेंगे। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय कोष, भण्डारण तथा आवश्यक वस्तुओं के कीमतों की बात को निरस्त कर दिया और उसकी जगह एक अरब डालर के एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना का प्रस्ताव रखा जो विकासशील राष्ट्रों के शोषण का अन्य तरीका है।

मनीला घोषणा के बाद विकासशील राष्ट्रो को यह आशा बँधी थी कि उनकी अर्थव्यवस्था को राहत पहुँचाने के लिए समृद्ध राष्ट्र ऋणो मे छूट देंगे, अधिक आयात करेंगे, निर्यात किये जाने वाले माल की कीमतो की कमी करेंगे तथा कच्चे माल के उचित दाम देंगे। अन्तर्राष्ट्रीय भण्डारण की ऐसी व्यवस्था की आशा की गयी थी जिससे उनकी कीमतो मे आवश्यक उतार चढाव न हों साथ ही संकटग्रस्त राष्ट्रो की सहायता के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय कोष की स्थापना भी होगी किन्तु यह सब नही हो सका।

सम्मेलन मे फ्रास का दृष्टिकोण पर्याप्त रचनात्मक रहा। उसने अमरीकी वैकल्पिक प्रस्तावो की उपेक्षा कर नये प्रस्ताव रखे।

आलोचनात्मक मूल्यांकन

चौथे सम्मेलन मे विकसित और विकासशील देशो के स्पष्ट मतभेद उभर कर सामने आ गये हैं। यह बात स्पष्ट हो गयी है कि विश्व मे एक नयी अर्थव्यवस्था के निर्माण के इच्छुक देशो को काफी लम्बा संघर्ष करना होगा। विकासशील राष्ट्रो की ओर से जो नूतन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की माँग उठायी जा रही है, पूँजीवादी पश्चिमी जगत इस माँग का विरोधी रहा है और नौरोबी मे हुए अंकटाड सम्मेलन मे यह स्पष्ट हो गया है। इस प्रकार विषमता की खायी गहरी होती जा रही है। अमीर देशो ने जो अपनी सकुल राष्ट्रीय आय का एक प्रतिशत सहायता के रूप में देने का वचन दिया था वह घटकर 0 24 प्रतिशत ही रह गयी है। अंकटाड को विकासशील देशो की इस आवश्यकता पर ध्यान देना चाहिए कि वे व्यापार की अधिक सुविधाएँ प्राप्त करने के अकांक्षी है। वे चाहते है कि विकसित राष्ट्र उनका शोषण न करें न उनके कच्चे माल का कम मूल्य दें और न अपने तैयार माल के लिए अधिक मूल्य वसूल करें।

अंकटाड की जेनेवा बैठक (मार्च 1978)—मार्च 1978 मे जेनेवा मे आयोजित संयुक्त राष्ट्र व्यापार और विकास सम्मेलन ने अपनी बैठक मे विकसित देशो द्वारा अर्द्धविकसित देशो को दिये गये विकास ऋणो से राहत के प्रश्न पर कुल मिलाकर एक सराहनीय निश्चय किया है जिसके अनुसार विकसित देशो ने यद्यपि विकासशील देशो पर चढे अपने 250 खरब डालर के कर्ज को एकदम तो माफ नही किया और न ही उसकी माफी की कोई प्रक्रिया निर्धारित की फिर भी अप्रत्यक्ष रूप से इस ऋण मे काफी छूट की सम्भावना उत्पन्न हो गयी है।

सम्मेलन में यह निश्चय किया गया है कि विकसित देश अपने ऋणी देशो के ऋण की शर्तों का पीछे से संशोधन करेंगे जिसका परिणाम यह होगा कि ब्रिटेन और पश्चिमी जर्मनी जैसे देशो द्वारा दिये गये ऋण प्राय. माफ कर दिये जायेंगे। इतनी बडी मात्रा मे ऋणो की माफी हो जाने से विकासशील देशो के प्रारम्भिक निवेश पर पडने वाला आर्थिक दबाव समाप्त हो जायेगा। इससे विकासशील देशो की उत्पादन क्षमता बढने के साथ अन्तर्राष्ट्रीय बाजारो मे विकासशील देशों का माल विकसित राष्ट्रो के माल से प्रतियोगिता करके अपना स्थान बना लेगा। सम्मेलन में यह अनुभव किया गया कि जब तक विकासशील देशो के विदेशी व्यापार मे वृद्धि नही होती तब तक ये राष्ट्र न तो बड़े पैमाने के उद्योगो को मुनाफे पर चला सकेंगे और न ही व्यापार शेष उनके पक्ष मे हो सकेगा।

सम्मेलन के दौरान ऐसी भी चेष्टा हुई कि तृतीय विश्व के देशो और विकासशील राष्ट्रों के बीच भेद किया जाय और तथाकथित निर्धनतम राष्ट्रो का ही कर्ज माफ किया जाय। सौभाग्य की बात है कि विकसित और विकासशील दोनो प्रकार के राष्ट्रो ने इस व्यवस्था के खतरों को पहचाना और भारत तथा कुछ अन्य राष्ट्रो के विरोध पर इसका परित्याग कर दिया गया तथा यह निश्चय किया गया कि उन समस्त देशों को ऋण से राहत दी जाय जिनमें प्रति व्यक्ति वार्षिक औसत आय 285 डालर या इससे कम है।

इस प्रकार अंकटाड के विभिन्न सम्मेलनों में इस बात का प्रयत्न किया गया है कि अमीर और गरीब देशों के बीच विषमता समाप्त हो तथा उनके बीच टकराव की स्थिति को टाला जाय और एक ऐसी अर्थव्यवस्था का विकास किया जाय जिसमे सब राष्ट्रों को उन्नति का समान अवसर मिले।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. विकासशील देशों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे विविधता लाने मे अंकटाड की भूमिका पर प्रकाश डालिए ?
2. अंकटाड के क्या उद्देश्य हैं ? क्या वह विभिन्न सम्मेलनों मे अपने उद्देश्यों मे सफल हो सका है ? विस्तार मे लिखिए ?
3. विकसित और विकासशील देशों के बीच आर्थिक विषमता को समाप्त करने की दिशा मे अंकटाड ने क्या कार्य किये हैं ? समझाइए ?
4. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे वृद्धि और आर्थिक सहयोग प्राप्त करने के मार्ग मे अंकटाड द्वारा किये गये कार्यों का आलोचनात्मक मूल्याकन कीजिए ?

अध्याय 41

यूरोपीय साझा बाजार
[EUROPEAN COMMON MARKET]

परिचय

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद यूरोप में राजनीतिक और आर्थिक एकीकरण की लहर आयी जिसके फलस्वरूप 1948 में यूरोपीय आर्थिक सहयोग संघ (OEEC) की स्थापना हुई जिसने यूरोप के देशों में व्यापार को पुनर्जीवित कर उनमें सहयोग स्थापित किया। किन्तु बाद में यह अनुभव किया गया कि जब तक देशों में साख की सुविधा उपलब्ध नहीं की जाती और भुगतानों को बहुपक्षीय नहीं बनाया जाता तब तक आपस देशों में व्यापार सम्भव नहीं है अत इसके लिए 1950 में यूरोपीय भुगतान संघ की स्थापना की गयी। सहयोग के क्षेत्र में एक और महत्वपूर्ण घटना थी। 1952 में यूरोपीय कोयला और इस्पात समुदाय (European Coal and Steel Community-ECSC) की स्थापना जिसके सदस्य थे—फ्रांस, जर्मनी, इटली एवं तीन अन्य बेनेलक्स देश। इसका उद्देश्य था कोयला, कच्चा लोहा, और इस्पात के क्षेत्र में साझा बाजार की स्थापना करना। 1944 में बेल्जियम, नीदरलैण्ड्स एवं लक्जेमबर्ग ने एक कस्टम यूनियन की स्थापना की थी जिसे बेनेलक्स (BENELUX) नाम दिया गया था। इन संघों के सुखद अनुभव ने ही एक विस्तृत आर्थिक संघ की स्थापना का पथ प्रशस्त किया जिसका परिणाम था यूरोपीय साझा बाजार की स्थापना।

यूरोपीय आर्थिक समुदाय (European Economic Community—EEC)

24 मार्च, 1957 को रोम में एक सन्धि पर हस्ताक्षर हुए जिसके फलस्वरूप आर्थिक समुदाय का निर्माण हुआ जिसमें 6 सदस्य थे—फ्रांस, जर्मनी, इटली, बेल्जियम, नीदरलैण्ड्स एवं लक्जेमबर्ग। रोम सन्धि के अनुसार यूरोपीय आर्थिक समुदाय का उद्देश्य एक साझा बाजार की स्थापना करना था ताकि सदस्य देशों में विकास, स्थिरता एवं लोगों के जीवनस्तर में वृद्धि हो सके। इन छः देशों की साझा बाजार स्थापित करने की व्यवस्था को ही लोकप्रिय शब्दों में यूरोपीय साझा बाजार (ECM) कहते हैं जिसका प्रारम्भ 1 जनवरी, 1958 को हुआ। इस प्रकार यूरोपीय आर्थिक समुदाय का ही दूसरा नाम यूरोपीय साझा बाजार है।

यूरोपीय साझा बाजार

उपर्युक्त छः देशों ने एक सीमा संघ (Custom Union) बनाने की आवश्यकता इसलिए अनुभव की क्योंकि उनका यह विश्वास था कि जब तक उनके बीच आर्थिक एकीकरण नहीं होता उनकी आर्थिक समृद्धि सम्भव नहीं है। यूरोपीय साझा बाजार में इस प्रकार एक सीमा संघ की स्थापना काफी महत्वपूर्ण है जिसके फलस्वरूप उक्त छः राष्ट्र मिलकर एक सीमा शुल्क क्षेत्र में परिवर्तित हो गये। इन देशों में वस्तुओं और सेवाओं के आवागमन की पूर्ण स्वतन्त्रता है। इन देशों के बीच कोई प्रशुल्क नहीं है तथा बाहरी देशों के लिए इनकी प्रशुल्क नीति समान है।

1973 में यूरोपीय साझा बाजार के सदस्यों की संख्या 9 हो गयी क्योंकि इसमें इंगलैण्ड सहित तीन राष्ट्र (डेनमार्क और नार्वे) और शामिल हो गये। आशा है कि इसमें ग्रीस, स्पेन और पुर्तगाल के शामिल होने पर यह सदस्य संख्या 12 हो जायगी। रोम-सन्धि में यह शर्त थी कि 12 वर्ष की अवधि में दस दौरों में प्रशुल्कों को कम किया जायगा। 12 वर्ष की अवधि को तीन खण्डों में (प्रत्येक 4 वर्ष) बाँटा जायगा। यह आशा की गयी थी कि प्रथम चार वर्ष की अवधि में प्रत्येक देश के प्रशुल्क में 30 प्रतिशत की कटौती हो जायगी जो दूसरी अवधि में कुल 60 प्रतिशत हो जायगी तथा शेष 40 प्रतिशत कटौती तीसरी चार वर्ष की अवधि में हो जायगी।

यूरोपीय साझा बाजार के उद्देश्य

पश्चिमी यूरोप के देशों ने आर्थिक एकता पैदा करने के उद्देश्य से साझा बाजार का निर्माण किया और एक सीमा संघ का निर्माण किया किन्तु इसका उद्देश्य केवल एक संघ बनाने तक ही सीमित नहीं है किन्तु इससे अधिक व्यापक है। रोम सन्धि में यह प्रावधान है कि इन देशों के बीच श्रम और पूंजी का स्वतन्त्र आवागमन हो तथा राष्ट्रीय आर्थिक नीतियों में समन्वय हो। यूरोपीय साझा बाजार को एक ऐसे पूर्ण विकसित आर्थिक संघ में परिणित करने का विचार था जहाँ सदस्य देशों की आर्थिक, वित्तीय और सामाजिक नीतियों में एकीकरण होगा जिससे यूरोपीय आर्थिक समुदाय का सर्वांगीण विकास होगा।

उपर्युक्त प्रावधानों को दृष्टि में रखते हुए रोम सन्धि में साझा बाजार के निम्न उद्देश्य निर्धारित किये गये :

(1) सदस्य राष्ट्रों के बीच प्रशुल्कों एवं आयात-निर्यात अभ्यंशों को हटाना।

(2) सदस्य राष्ट्र के बाहर के देशों के लिए एक समान प्रशुल्क और व्यापारिक नीति अपनाना।

(3) सदस्य देशों के लिए एक समान कृषि नीति को अपनाना तथा इसे निर्माण उद्योगों के समान महत्व देना।

(4) साझा बाजार के देशों में प्रतियोगिता की प्रणाली स्थापित करना।

(5) साझा बाजार के सदस्यों के बीच श्रम और पूंजी के आवागमन में आने वाली बाधाओं को हटाना।

(6) सदस्य राष्ट्रों की आर्थिक नीतियों के एकीकरण के लिए उपायों को निर्धारित करना तथा राष्ट्रों की भुगतान-शेष की कठिनाइयों को हल करना।

(7) साझा बाजार व्यवस्थित ढंग से कार्य कर सके, इसके लिए विभिन्न राज्यों के कानूनों में समन्वय स्थापित करना।

(8) यूरोपीय विनियोग बैंक और यूरोपीय सामाजिक कोष की स्थापना करना ताकि आर्थिक विकास गतिशील हो एवं रोजगार में वृद्धि से श्रमिकों के जीवन स्तर में सुधार हो।

(9) समुद्रपारीय निर्भर क्षेत्रों की यूरोपीय आर्थिक समुदाय के साथ एकता स्थापित करना। इस उद्देश्य से 1958 में एक समुद्रपारीय विकास कोष (Overseas Development Fund) की स्थापना की गयी।

आर्थिक संघ की स्थापना के साथ ही साथ, यूरोपीय आर्थिक संघ का उद्देश्य एक राजनीतिक संघ बनाना भी है। इस बात की पूरी सम्भावना है कि साझा बाजार संगठन निकट भविष्य में यूरोपीय राष्ट्रों की एक संघीय सरकार बनाने में सफल होगा।

यूरोपीय साझा बाजार का संगठन

जिस प्रकार किसी देश की शासन व्यवस्था को संचालित करने के लिए एक सरकार होती है, उसी प्रकार यूरोपीय साझा बाजार की आर्थिक मामलों में एक विशिष्ट सरकार (Super

Government) के समान है तथा विभिन्न आर्थिक मामलो के कार्यों का सम्पादन करने के लिए इसकी विभिन्न संस्थाएँ है जो इस प्रकार है—

(1) यूरोपीय आर्थिक परिषद (European Economic Council)—यह यूरोपीय आर्थिक समुदाय की प्रमुख प्रशासनिक सस्था है। यह छः राष्ट्रो का एक प्रकार का आर्थिक मन्त्री-मण्डल है। इसमें प्रत्येक राष्ट्र का एक सदस्य होता है। समुदाय के लिए यह परिषद कार्यकारी एजेण्ट के रूप मे कार्य करती है। इस परिषद की बैठक एक माह मे कम से कम एक बार होती है। यद्यपि रोम सन्धि के अनुसार सारे निर्णय बहुमत से लिया जाना चाहिए परन्तु अब तक प्रायः सारे निर्णय सर्वसम्मति से लिये गये है।

(2) कार्यकारी आयोग (The Executive Commission)—इसका दायित्व समुदाय की नीतियों का निर्धारण, तथा उन्हें कार्यान्वित करना है। इसका मुख्यालय ब्रुसेल्स मे स्थित है। इस आयोग का मुख्य कार्य यह देखना है कि सदस्य देशो की सरकारें निर्धारित नीतियो के अनुसार आचरण करती है अथवा नही। इस आयोग ने सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य ट्रस्ट विरोधी क्षेत्र मे किया है।

(3) यूरोपीय संसद (The European Parliament)—यह सदस्य देशो के संसद सदस्यो की एक ऐसी सस्था है जिसका मुख्य कार्य यूरोपीय आर्थिक समुदाय से सम्बन्धित मामलो पर अपनी सहमति प्रदान करना है। रोम की सन्धि के अनुसार सदस्य राष्ट्रो की जनता को अपने प्रतिनिधियो का चुनाव करना होता है पर फ्रास सरकार ने इसका उल्लघन कर स्वय प्रतिनिधियो को मनोनीत किया है। इस संसद के एक साल मे 8 सत्र क्रमश लक्जेमबर्ग, स्ट्रासबर्ग और फ्रांस मे होते हैं।

(4) मौद्रिक समिति (Monetary Committee)—यूरोपीय आर्थिक समुदाय के भुगतान शेष एव अन्य सम्बन्धित वित्तीय मामलो मे सलाह देने के लिए एक मौद्रिक समिति है जिसमे आयोग के प्रतिनिधि, सदस्य देशो के केन्द्रीय बैंक के अधिकारी एवं प्रख्यात अर्थशास्त्री शामिल रहते हैं।

(5) न्यायालय (The Court of Justice)—आर्थिक समुदाय के मामलो से सम्बन्धित विवादो को निपटाने के लिए एक न्यायालय है जो लक्जेमबर्ग मे स्थित है। इस न्यायालय को यह विशेष अधिकार है कि वह यूरोपीय आर्थिक समुदाय से सम्बन्धित मामले पर सदस्य राष्ट्र द्वारा दिये गये निर्णय को अमान्य करते हुए अपना निर्णय दे सकता है जो सबको मान्य होता है।

(6) यूरोपीय आर्थिक एवं सामाजिक समिति (The European Economic and Social Committee)—यह एक सलाह देने वाली संस्था है जिसमे सदस्य देशो के उद्योग, कृषि, श्रमिको एव उपभोक्ताओ के प्रतिनिधि शामिल रहते हैं।

(7) द' एविनान कमेटी (The D'avignon Committee)—यद्यपि रोमसन्धि के अनुसार यूरोपीय साझा बाजार एक आर्थिक सस्था है फिर भी यह अनुभव किया गया कि सदस्य देशो की विदेश-नीति मे समानता होना चाहिए। इस उद्देश्य से द' एविनान कमेटी की नियुक्ति की गयी जो बेल्जियम के विदेश मन्त्रालय के निर्देशक वी. ई. द' एविनान के नाम पर आधारित है। यह समिति सदस्य राष्ट्रो की विदेशी नीति मे सम्बन्धित मामलो पर सलाह देती है।

यूरोपीय साझा बाजार में ब्रिटेन का प्रवेश

जब यूरोपीय देशो मे यूरोपीय आर्थिक समुदाय को स्थापित करने के प्रयत्न चल रहे थे, तब ब्रिटेन ने एक मुक्त व्यापार क्षेत्र का प्रस्ताव रखा जिसमे यूरोपीय आर्थिक सघ (OEEC) के देश शामिल होंगे। इसमे यह प्रावधान था कि सदस्य राष्ट्रों के बीच कोई प्रशुल्क की दीवार नही होगी किन्तु बाहरी राष्ट्रो के साथ प्रशुल्क के मामले मे प्रत्येक राष्ट्र स्वतन्त्र होगा। किन्तु ब्रिटेन का प्रस्ताव पारित नही हो सका तथा रोमसन्धि के फलस्वरूप 1 जनवरी, 1958 से यूरोपीय

साझा बाजार स्थापित हो गया। इसके विरोध में ब्रिटेन ने दिसम्बर 1959 में यूरोपीय स्वतन्त्र व्यापार संघ (EFTA) की स्थापना की जिसके सदस्य थे ब्रिटेन, आस्ट्रिया, डेनमार्क, नार्वे, पुर्तगाल, स्वीडन और स्विटजरलैण्ड। इसके उद्देश्य भी बहुत कुछ रोमसन्धि से मिलने-जुलने थे।

किन्तु जैसे-जैसे यूरोपीय आर्थिक समुदाय विकसित हुआ, ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था को कठिनाई का अनुभव हुआ अर्थात् उसकी विकास की दर ECM की विकास दर से पिछड़ गयी तथा विश्व के आर्थिक एवं राजनीतिक पटल पर ब्रिटेन का महत्व घट गया। अतः 1961 में ब्रिटेन ने यूरोपीय आर्थिक समुदाय का पूर्ण सदस्य बनने के लिए आवेदन किया किन्तु कई कारणों से उस समय ब्रिटेन को शामिल नहीं किया गया। किन्तु ब्रिटेन अपने मामले के पीछे पड़ा रहा और अन्त में 1 जनवरी, 1973 को ब्रिटेन और आयरलैण्ड को यूरोपीय साझा बाजार का सदस्य बना लिया गया। यूरोप के आर्थिक एकीकरण की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण कदम है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से यूरोप में ब्रिटेन का स्थान सर्वोपरि है।

ब्रिटेन प्रवेश के सम्भावित परिणाम

प्रारम्भ में फ्रांस ने साझा बाजार में ब्रिटेन के प्रवेश का इसलिए विरोध किया था क्योंकि साझा बाजार के सदस्य बनने के साथ ही साथ ब्रिटेन राष्ट्रकुल के सदस्य देशों को दी गयी प्रशुल्क रियायतें जारी रखना चाहता था जबकि साझा बाजार के देश इसे समाप्त करने पर ही ब्रिटेन को प्रवेश देना चाहते थे। दूसरा कारण यह था साझा बाजार के देश यह चाहते थे कि ब्रिटेन, फ्रांस के कृषि उत्पादनों के लिए अपना बाजार खोल दे किन्तु ब्रिटेन फ्रांस की कृषि वस्तुओं पर विद्यमान प्रशुल्क दरों को जारी रखना चाहता था। फ्रांस कुछ राजनीतिक कारणों से भी ब्रिटेन को साझा बाजार में शामिल नहीं रखना चाहता था। किन्तु 1 जनवरी, 1973 को ब्रिटेन के साथ निम्न समझौते कर उसे साझा बाजार का सदस्य बना लिया गया

(1) ब्रिटेन द्वारा राष्ट्र कुल देशों को दी गयी प्रशुल्क रियायतें हटा ली जायेंगी।

(2) ब्रिटेन, फ्रांस के कृषि उत्पादन के आयातों के लिए अपना बाजार खोल देगा तथा समस्त कृषि वस्तुओं पर समान प्रशुल्क लगायेगा।

(3) जिस प्रकार साझा बाजार के अन्य राष्ट्र यूरोपीय आर्थिक समुदाय के संयुक्त बाजार तथा विशिष्ट सहायता कोष के लिए धन राशि देते हैं, उसी प्रकार ब्रिटेन भी आवश्यक धन-राशि देगा।

(4) ब्रिटेन व साझा बाजार के अन्य सदस्य राष्ट्रों के बीच औद्योगिक वस्तुओं के आयात पर जो प्रशुल्क लगाये जाते हैं, उन्हें पाँच चरणों में समाप्त कर दिया जायगा।

ब्रिटेन के प्रवेश का भारत पर प्रभाव

ब्रिटेन की साझा बाजार में प्रवेश की खबर भारत के लिए सुखद नहीं थी क्योंकि इससे भारत को ब्रिटेन से मिलने वाली प्रशुल्क रियायतें बन्द हो जाने वाली थी। 1961 में भारत के कुल निर्यात का 27 प्रतिशत ब्रिटेन को जाता था जो 1970 में घटकर 12 प्रतिशत रह गया था पर इसके बावजूद भारत को भारी नुकसान था क्योंकि इससे भारत को अपने माल पर प्रशुल्क का भुगतान करना होगा जिससे भारतीय वस्तुएँ ब्रिटेन में मँहगी हो जायेंगी तथा हमारे ब्रिटेन को निर्यातों में कमी होगी। साथ ही भारत को कड़ी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ेगा और विशेष रूप से भारत को कनाडा, पाकिस्तान, लंका, ब्राजील आदि देशों से प्रतियोगिता करना पड़ेगी।

दीर्घकाल में ब्रिटेन के प्रवेश का भारत पर क्या प्रभाव पड़ता है यह निम्न दो बातों पर निर्भर होगा :

(A) ब्रिटेन में भारतीय वस्तुओं की माँग की लोच, एवं

अध्याय 38

सीमा संघ का सिद्धान्त
[THE THEORY OF CUSTOMS UNION]

परिचय

वर्तमान मे समस्त देश समान रूप से भेदभाव पूर्ण व्यापार नीति नहीं अपनाते अर्थात् वे सारे देशो के साथ एक सा भेद नही करते। आजकल देशों के बीच कई प्रकार के आर्थिक संघों का निर्माण हो गया है जिनके अन्तर्गत देश कुछ चुने हुए देशों के साथ ही भेद की व्यापार नीति का व्यवहार करते हैं। इन संघों के प्रमुख तीन रूप हैं :

स्वतन्त्र बाजार क्षेत्र, सीमा संघ और साझा बाजार।

स्वतन्त्र व्यापार क्षेत्र (Free Trade Area)

स्वतन्त्र बाजार क्षेत्र का आशय उन देशों के समूह से होता है जो अपने बीच मे समस्त प्रशुल्क की रुकावटों को समाप्त कर देते हैं किन्तु उक्त क्षेत्र के बाहर के देशो के लिए, प्रत्येक देश किसी भी सीमा में प्रशुल्क लगा सकता है।

सीमा संघ (Customs Union)

सीमा संघ, एक समूह के सदस्यो के बीच ऐसा समझौता है जिसके अन्तर्गत सदस्य देशों के बीच व्यापार मे समस्त प्रशुल्क समाप्त कर दिये जाते है किन्तु सदस्य के बाहर के देशों के लिए, ये सब देश समान प्रशुल्क (आयात करों) का प्रयोग करते है। सीमा संघ और स्वतन्त्र बाजार क्षेत्र मे यह अन्तर है कि सीमा संघ मे प्रशुल्क का एक समान ढाँचा होता है अर्थात् गैर सदस्य देशों के लिए प्रशुल्क का समानीकरण किया जाता है। जबकि स्वतन्त्र बाजार क्षेत्र में सदस्य देश प्रशुल्क के मामले में गैर सदस्य देशों के लिए अलग-अलग एवं भेदपूर्ण नीति अपनाते हैं।

सीमा संघ या तो सीमित अथवा पूर्ण हो सकते हैं। सीमित संघ में एक अथवा कुछ वस्तुओं के सम्बन्ध में व्यापार समझौता किया जाता है जबकि पूर्ण सीमा संघ मे समस्त रुकावटों को दूर कर दिया जाता है एवं सदस्य देशो के बीच उत्पत्ति के साधनों की भी स्वतन्त्र गतिशीलता होती है तथा इन देशों में मौद्रिक एवं राजस्व नीतियों मे भी समानता होती है। इस प्रकार के पूर्ण संघ को आर्थिक संघ (Economic Union) कहते है।

साझा बाजार (Common Market)

साझा बाजार आर्थिक एकीकरण का पूर्ण विकसित रूप है तथा इसमें सदस्य देश एक दूसरे में घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित तथा निर्भर होते हैं। साझा बाजार में सदस्य देशो के बीच न केवल वस्तुओं की पूर्ण गतिशीलता पायी जाती है वरन् उत्पत्ति के साधनो में भी पूर्ण गतिशीलता होती है।

सीमा संघ का विशुद्ध सिद्धान्त

गेट (GATT) द्वारा दी गयी परिभाषा के अनुसार, सीमा संघ में दो बातों का समावेश होता है—प्रथम सदस्य देशों के बीच में समस्त प्रशुल्कों और व्यापार को सीमित करने वाले कारणों की समाप्ति एवं द्वितीय गैर सदस्य देशों के विदेशी व्यापार पर समान प्रशुल्क और अन्य नियमनों (Regulations) की स्थापना। वास्तव में सीमा संघ का सिद्धान्त, प्रशुल्क सिद्धान्त की शाखा है। इसके मुख्य प्रतिपादक प्रो मीड (J E Meade), प्रो वाइनर, प्रो. वान्के (Vanke), प्रो लिप्से (Lipsey) और प्रो लैंकेस्टर (Lancaster) हैं। सीमा संघ के निर्माण में प्रशुल्क के ढाँचे में परिवर्तन होता है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भेद-नीति शुरू होती है। इस प्रकार सीमा संघ का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भेद-पूर्ण नीति का सिद्धान्त है।

सीमा संघ का उद्देश्य सदस्य देशों के आयातों को प्रशुल्क के मामले में रियायतें देता है और गैर-सदस्य देशों के आयातों में भेद करना है। इस प्रकार की नीति का सदस्य देशों के उत्पादन और उपभोग पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

सीमा संघ के बारे में नवीनतम विवेचना का प्रारम्भ द्वितीय विश्व युद्ध के बाद प्रो वाइनर की पुस्तक *"The Customs Union Issue"* के प्रकाशन के बाद हुआ। इसके विकास में Trade Creation and Trade Diversion के विचार ने भी योगदान दिया। प्रो वाइनर के पहले सीमा संघ के बारे में यह धारणा प्रचलित थी कि स्वतन्त्र व्यापार से विश्व कल्याण अधिकतम होता है। एक संघ में प्रशुल्कों को समाप्त कर सीमा संघ स्वतन्त्र व्यापार के प्रति गतिशील होता है और इस प्रकार विश्व कल्याण को बढ़ाता है भले ही इससे विश्व कल्याण अधिकतम न हो। इस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए प्रो वाइनर ने दो विचारों को विकसित किया है—व्यापार सृजन (Trade Creation) और व्यापार दिशा-परिवर्तन (Trade Diversion) एवं इस बात की जाँच की है कि क्या एक सीमा संघ आवश्यक रूप से विश्व कल्याण में वृद्धि करता है। प्रो. वाइनर का विश्लेषण उपभोग-लाभ से सम्बन्धित नहीं है तथा केवल सीमा संघ के उत्पादन प्रभाव की विवेचना करता है।

अब हम वाइनर के द्वारा प्रतिपादित सीमा संघ के उत्पादन प्रभाव का अध्ययन करेंगे जो स्थैतिक उत्पादन प्रभाव है तथा जिसे व्यापार सृजन एव व्यापार दिशा परिवर्तन के माध्यम से व्यक्त किया गया है।

उत्पादन प्रभाव (Production Effect)

प्रो. वाइनर के अनुसार स्थैतिक दशाओं के अन्तर्गत एक सीमा संघ का उत्पादन प्रभाव, विभेदात्मक प्रशुल्क के व्यापार सृजन एवं व्यापार दिशा परिवर्तन के प्रभावों पर निर्भर रहता है। व्यापार सृजन का तात्पर्य संघ के सदस्यों में होने वाले नये व्यापार से है तथा व्यापार दिशा-परिवर्तन का आशय उस व्यापार से है जो गैर सदस्य देशों द्वारा सदस्य देशों के साथ किया जाता है। ये दोनों प्रकार के व्यापार सदस्य देशों में प्रशुल्क की समाप्ति के फलस्वरूप होते हैं व्यापार सृजन और व्यापार दिशा परिवर्तन प्रभावों को हम एक उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं। मानलो A, B और C तीन देश हैं जिनमें A और B सदस्य देश हैं तथा C गैर सदस्य देश है। इनमें X वस्तु के व्यापार पर हम विचार करेंगे जिसकी Y वस्तु के सन्दर्भ में कीमत अग्रांकित तालिका में दी गयी है। संघ के निर्माण के पहले A देश में X वस्तु की कीमत 180 है तथा उसकी प्रशुल्क की मात्रा 50 प्रतिशत है।

तालिका 38·1

	उत्पादक देश B	C
वस्तु X की कीमत (Y के सन्दर्भ में)	100	80
प्रशुल्क (50 प्रतिशत)	50	40
प्रशुल्क सहित X की कीमत	150	120

A और B में संघ बनने के पूर्व, A देश में X कीमत आयात न होने की स्थिति में Y की 180 इकाइयों के बराबर होगी। किन्तु A में इस सीमा तक कीमत नहीं बढ़ेगी क्योंकि संघ बनने के पहले A वस्तु X को बाहरी देश C से सस्ते में खरीद सकता है तथा प्रशुल्क का भुगतान कर X को, Y की 120 इकाइयों में खरीद सकता है।

A और B में सीमा संघ बनने के बाद इनमें सारे प्रशुल्क समाप्त हो जाते हैं तथा बाहरी देशों के लिए 50 प्रतिशत प्रशुल्क रहता है। अब A देश B देश से X को Y की 100 इकाईयों में खरीद सकता है अर्थात् 20 इकाई कम में। इसका परिणाम यह होगा कि A देश X की अधिक मात्रा का आयात करेगा जो इन दोनों देशों के बीच स्वतन्त्र व्यापार का परिणाम है। इस प्रकार व्यापार की वृद्धि सीमा संघ का व्यापार सृजन प्रभाव है। अन्य शब्दों में, यदि सदस्य देशों में व्यापार सुविधाजनक बनाने के लिए, संघ ऊँची लागत वाले घरेलू उत्पादन को दूसरे सदस्य के नीची लागत के उत्पादन से प्रतिस्थापित कर देता है तो यह व्यापार सृजन प्रभाव है। इससे उत्पादन के साधनों की अधिक कुशलतापूर्ण प्रयोगों में लगाया जा सकता है जिससे विश्व उत्पादन क्षमता में वृद्धि होती है यह उत्पादन प्रभाव का ही एक अंश है।

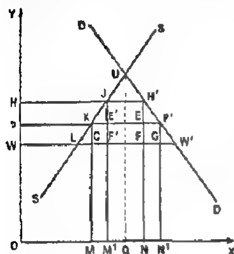
इसका यह प्रभाव भी हो सकता है कि अब सदस्य देश, अधिक नीची लागत वाले देश से आयात नहीं कर पाता अर्थात् C देश में X की लागत कम है किन्तु चूँकि वह संघ के बाहर का देश है, उससे आयात नहीं किया जाता। संघ का निर्माण होने के बाद A देश, विश्व के कुशलतम उत्पादक से माल नहीं खरीदता वरन् संघ में ही सर्वाधिक कुशल (B देश) उत्पादक से आयात करता है। यह व्यापार दिशा-परिवर्तन है जो नीची लागत वाले उत्पादक से ऊँची लागत वाले उत्पादक की ओर होता है। यह अनार्थिक दिशा परिवर्तन है जिससे विश्व के कुल उत्पादन में कमी होती है तथा वास्तविक आय कम हो जाती है।

इस प्रकार सीमा संघ का कुल उत्पादन प्रभाव, व्यापार सृजन और व्यापार दिशा परिवर्तन के अन्तर पर निर्भर रहता है। कुशलता की दृष्टि से सीमा संघ का वास्तविक कल्याण प्रभाव उस समय धनात्मक होगा जब व्यापार दिशा परिवर्तन के प्रतिकूल प्रभाव की तुलना में, व्यापार सृजन का अनुकूल प्रभाव अधिक है तथा कल्याण प्रभाव ऋणात्मक होगा यदि व्यापार दिशा परिवर्तन के प्रतिकूल प्रभाव की तुलना में, व्यापार सृजन का अनुकूल प्रभाव कम है।

व्यापार सृजन और व्यापार दिशा परिवर्तन का रेखाचित्रीय प्रदर्शन

यह प्रदर्शन आंशिक सन्तुलन के अन्तर्गत किया जा सकता है। जबकि रेखाचित्र 38·1 में D D और S S वक्र A देश के मांग और पूर्ति वक्र हैं जो वस्तु X से सम्बन्धित हैं। यह भी मान्यता है कि X वस्तु दोनों B और C देशों में स्थिर लागत के अन्तर्गत उत्पादित की जाती है।

B देश की पूर्ति OP कीमत पर पूर्ण लोचदार है तथा C देश की पूर्ति भी OW कीमत पर पूर्ण लोचदार है। देश A का बाहरी देशों के लिए प्रशुल्क WH है। यह निम्न रेखाचित्र में स्पष्ट है :



रेखाचित्र 38.1

A और B देश में संघ बनने के पूर्व की स्थिति इस प्रकार है—आयात के अभाव में A देश में X वस्तु की कीमत का निर्धारण DD और SS के कटन बिन्दु पर होगा तथा कीमत QU होगी किन्तु A में कीमत स्तर इस बिन्दु तक नहीं बढ़ेगा क्योंकि X का आयात कम उत्पादन लागत वाले देश C से किया जा सकता है जहां प्रशुल्क WH का भुगतान कर X को OH (OW+WH) कीमत पर आयात हो सकता है। B देश से आयात नहीं होगा क्योंकि प्रशुल्क के बिना उसकी कीमत OP, देश C से अधिक होगी। इस प्रकार सीमा संघ बनने से पूर्व A देश के उत्पादक X वस्तु की OM' मात्रा की पूर्ति करेंगे क्योंकि यह मात्रा वे OH से कम कीमत पर दे सकते हैं तथा शेष M'N मात्रा का C से आयात किया जायगा अतः संघ बनने के पूर्व A में प्रभावपूर्ण पूर्तिवक्र SJH' होगा।

A और B का सीमासंघ बनने के बाद इन दोनों के बीच प्रशुल्क समाप्त कर दिया जाता है तथा C से आयात के लिए WH प्रशुल्क का प्रयोग किया जाता है। अब A देश X को B से OP कीमत पर आयात कर सकता है जो प्रशुल्क सहित OH से कम है। ऐसी स्थिति में A द्वारा X की अधिक मात्रा का आयात होगा और व्यापार का विस्तार M'N से MN' हो जाता है। यह व्यापार सृजन प्रभाव है जो दो कारणों से होता है—उत्पादन के द्वारा एवं उपभोग के द्वारा।

उत्पादन के कारण व्यापार सृजन इसलिए होता है क्योंकि संघ बनने के पहले, C देश की X वस्तु की कीमत प्रशुल्क सहित OH थी तथा A देश के उत्पादक X की OM' मात्रा का उत्पादन करते थे जो अधिक सस्ता था। जब A देश को X वस्तु OP कीमत पर मिलने लगती है तो A के उत्पादक सस्ती कीमत में केवल OM मात्रा का ही उत्पादन करते हैं अतः KE' मात्रा की पूर्ति विदेशों से होती है। इसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि होती है और व्यापार-सृजन होता है।

सीमा संघ के फलस्वरूप A देश के लोगों के कल्याण में भी वृद्धि होती है X वस्तु की KE' मात्रा का उत्पादन करने की साधन लागत A देश के पूर्तिवक्र के क्षेत्र KJM'M के बराबर है। जब KE' मात्रा का B से आयात किया जाता है तो A देश के निवासियों को KE'M'M का भुगतान करना होता है। इस प्रकार A देश की उत्पादन लागत तथा आयात करने की लागत में जो अन्तर होता है वह A देश के लोगों की वास्तविक बचत, होती है जो रेखाचित्र में KJE' के बराबर है। यह व्यापार सृजन के प्रभावों के फलस्वरूप आर्थिक कल्याण में होने वाली वृद्धि है।

व्यापार सृजन, उपभोग-प्रभाव के द्वारा भी होता है। A देश में X वस्तु का उपभोग ON से बढ़कर ON' हो जाता है जो सीमा संघ बनने से X वस्तु की कीमत गिरने के फलस्वरूप होता है। अधिक X वस्तुएँ उपलब्ध होने के कारण A देश के लोगों की उपयोगिता H'P'N'N हो

जाता है जिसके लिए उन्हें EP'N'N का भुगतान X की अतिरिक्त NN' इकाइयों के लिए करना पड़ता है अतः EP'H' के बराबर कल्याण में वृद्धि उपभोक्ताओं की होती है।

अब हम व्यापार दिशा परिवर्तन के प्रभाव को स्पष्ट करेंगे। सीमा संघ बनने के पूर्व A देश X की M'N मात्रा C देश से आयात करता था किन्तु संघ बनने के बाद अब A देश X की MN' मात्रा B से आयात करता है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि X वस्तु की MM'+NN' इकाइयों का आयात व्यापार सृजन के फलस्वरूप होता है। जब A देश X वस्तु की M'N मात्रा का C से आयात करता था तो A के आयात-कर्ता M' NFF' के बराबर भुगतान करते थे तथा A के उपभोक्ताओं को अतिरिक्त प्रशुल्क का भुगतान WH की दर से (JH'FF' के बराबर) करना पड़ता था अतः कुल भुगतान JH'NM के बराबर हो जाता था तथा इसमें से प्रशुल्क की मात्रा A के कस्टम विभाग को मिलती थी अर्थात् आय का पुनर्वितरण होता था। संघ बनने के बाद A देश के निवासियों को X की उतनी ही मात्रा का आयात करने के लिए B के निर्यातकों को E'ENM' के बराबर भुगतान करना पड़ता है (जबकि C को M'NFF' के बराबर भुगतान करते थे) अतः भुगतान की मात्रा E'EFF' के बराबर बढ़ गयी है जो व्यापार दिशा परिवर्तन के फलस्वरूप होने वाली क्षति है जिसकी केवल आंशिक पूर्ति ही कीमतों की कमी से हो पाती है, पूर्ण रूप से क्षतिपूर्ति नहीं होती।

स्थैतिक उपभोग प्रभाव

सीमा-संघ बनाने के बाद व्यापार में जो विस्तार होता है उसका उपभोग पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव होता है। कुछ विशेष मान्यताओं के अन्तर्गत यह स्पष्ट किया जा सकता है कि संघ बनने के फलस्वरूप उपभोग में वृद्धि होती है और सदस्य देशों के कल्याण में वृद्धि होती है। इसे मेकोवर-मार्टन माडल[1] में स्पष्ट किया गया है जिसका हम नीचे उल्लेख करेंगे :

उपभोग में वृद्धि—मेकोवर-मार्टन माडल (Makower-Morton Model)

यह माडल निम्न मान्यताओं पर आधारित है :

(i) केवल दो देश A और B हैं जो केवल दो ही वस्तुओं X और Y का उत्पादन कर सकते हैं।

(ii) प्रत्येक देश का उत्पादन सम्भावना वक्र रैखिक (Linear) है अर्थात् सीधी रेखा के है।

(iii) प्रारम्भ में दोनों देशों का कोई सम्बन्ध नहीं है।

(iv) जब दोनों देश एक दूसरे से पृथक रहते हैं तो उनके उत्पादन सम्भावना वक्र के ढाल में अन्तर होता है अर्थात् दोनों देशों में वस्तु प्रतिस्थापन दर अलग-अलग है।

(v) पृथक रहने पर किसी भी देश में पूर्ण विशिष्टीकरण नहीं होता।

(vi) दोनों देशों में उपभोग का ढाँचा एक समान है।

अब हम रेखाचित्र से इसे स्पष्ट करेंगे :

अग्रांकित रेखाचित्र 38 2 में AA' सीधी रेखा देश A का उत्पादन सम्भावना वक्र है तथा BB' सीधी रेखा B देश का उत्पादन सम्भावना वक्र है। चूँकि दोनों उत्पादन सम्भावना वक्र समान्तर नहीं हैं अतः X और Y दोनों वस्तुओं की प्रतिस्थापन दर में अन्तर है। पृथक रहने पर उपर्युक्त दशाओं के अन्तर्गत प्रत्येक देश की माँग की स्थिति उपभोग बिन्दु का निर्धारण करती है जो A देश के लिए P तथा B के लिए R है। ये दोनों बिन्दु ON सीधी रेखा पर हैं जो दोनों देशों के समान उपभोग ढाँचे को स्पष्ट करती है।

---

1 H. Makower and G. Morton, *Article in the Economic Journal*, March 1973.

अब A और B दोनों मिलकर सीमा संघ (Custom Union) बनाते हैं तथा अब एक उत्पादक क्षेत्र के अन्तर्गत दोनों का उत्पादन सम्भावना वक्र CDE हो जाता है। CDE वक्र को AA′ तथा BB′ को मिलाकर प्राप्त किया गया है अतः AC=OB और B′E=OA′ है। सीमा संघ बनने के बाद उपभोग सन्तुलन बिन्दु T पर है जिस पर दोनों देशों के लिए X और Y दोनों वस्तुओं की कुल उपभोग की मात्रा उस उपभोग से ज्यादा है जो सीमा संघ बनने के पूर्व थी। इसे सिद्ध करने के लिए हम A′P के समान्तर BM रेखा खींचते हैं जो ON रेखा को M बिन्दु पर काटती है इस प्रकार :

OA′=B′E

इसलिए OP=MT

रेखाचित्र 38·2

सीमा संघ बनने के बाद कुल उपभोग OT है। संघ बनने के पूर्व कुल उपभोग OP+OR=MT+OR अतः संघ बनने के बाद, पूर्व की तुलना में उपभोग RM अधिक है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रारम्भ में दी गयी मान्यताओं के अन्तर्गत संघ बनने के पश्चात अधिक कुशलता से उत्पादन किया जा सकता है तथा वास्तविक आय में वृद्धि की जा सकती है।

सीमा संघ और द्वितीय श्रेष्ठतम का सिद्धान्त
(CUSTOMS UNION AND THE THEORY OF THE SECOND BEST)

प्रो मीड और प्रो. लिप्से (Prof Meade and Lipsey) द्वारा प्रस्तुत सीमा संघ की विवेचना में यह निष्कर्ष निकाला गया है कि सीमा संघ का सिद्धान्त द्वितीय श्रेष्ठतम के सिद्धान्त को समर्थन प्रदान करता है। वास्तव में द्वितीय श्रेष्ठ का सिद्धान्त उप श्रेष्ठतम (Sub optimal) का सब स्थितियों पर लागू होता है तथा सीमा संघ का उदाहरण इसका ही विशेष उदाहरण है। प्रो. लिप्से ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—"जब कुछ प्रशुल्कों में परिवर्तन किया जाता है, तो कल्याण में उस समय अधिक वृद्धि होगी जब इन प्रशुल्कों को समाप्त करने के बदले उन्हें कम कर दिया जाय। इसका कारण यह है कि दो देशों के बीच प्रशुल्क समाप्त करने से विश्व उत्पादन क्षमता में वृद्धि होने की सम्भावना नहीं है यदि व्यापार दिशा परिवर्तन प्रभाव व्यापार सृजन के प्रभावों को समाप्त कर देता है अर्थात् हीन बना देता है। यही द्वितीय श्रेष्ठतम का सिद्धान्त है यदि कोई श्रेष्ठतम को प्राप्त नहीं कर सकता अर्थात् स्वतन्त्र व्यापार तो कुछ प्रशुल्कों को हटा लेना गलत होगा तथा कुछ प्रशुल्कों का बना रहना अच्छा होगा।

सीमा संघ में स्वतन्त्र व्यापार और बढ़े हुए संरक्षण दोनों के तत्व निहित हैं। इसकी व्याख्या पारम्परिक कल्याण सिद्धान्त से करना सम्भव नहीं है क्योंकि इसमें केवल सर्वोत्तम दशाओं (Optimum Conditions) की ही व्याख्या है किन्तु सीमा संघ के सिद्धान्त में इन कुछ सर्वोत्तम दशाओं का उल्लंघन किया गया है तथा इसमें श्रेष्ठतम कल्याण प्राप्त करने की अपेक्षा श्रेष्ठतम दशाओं को ही प्राप्त करने का प्रयत्न है। इसीलिए इसे द्वितीय श्रेष्ठतम सिद्धान्त कहा गया है। प्रो. वाइनर ने सीमा संघ के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है तथा इसे प्रो लिप्से प्रो. लैन्केस्टर[1] ने अधिक सामान्य रूप से प्रस्तुत किया है।

1 Lipsey and Lancaster, *Article in Review of Economic Studies*, Vol. XXIV, 1956-57.

द्वितीय श्रेष्ठतम का सामान्य सिद्धान्त

अर्थशास्त्र के छात्र इस बात से परिचित है कि परेटो का अनुकूलतम (Paretian Optimum) उस स्थिति का सूचक है जहाँ सामाजिक कल्याण अधिकतम होता है। इसे उत्पादन एवं विनिमय की अनुकूलतम दशाओं के माध्यम से ही प्राप्त किया जा सकता है। यदि सामान्य सन्तुलन की प्राप्ति मे कुछ बाधाएं उपस्थित होती हैं तो परेटो की अनुकूलतम दशाओ को प्राप्त नही किया जा सकता। ऐसी स्थिति मे द्वितीय श्रेष्ठतम का सामान्य सिद्धान्त स्पष्ट करता है कि परेटो की अन्य दशाएँ, यद्यपि उन्हें प्राप्त किया जा सकता है, वाछनीय नही है। परेटो की उक्त दशाओ को छोड़कर अन्त मे जो अनुकूलतम स्थिति प्राप्त होगी, उसे द्वितीय श्रेष्ठतम अनुकूलतम (Second Best Optimum) कहेंगे।

उक्त सिद्धान्त मे प्रो लिप्से एव प्रो. लेन्केस्टर ने कुछ विपरीत निष्कर्ष निकाले हैं। उनके अनुसार उन विभिन्न स्थितियो की पूव जाँच नही की जा सकती जिनमें परेटो की अनुकूलतम की कुछ दशाएँ पूर्ण होती है तथा कुछ नही। विशेष रूप मे यह सही नही है कि वह स्थिति जिसमे अनुकूलतम दशाओं मे से अधिक की (सब नहीं) सन्तुष्टि होती है उस स्थिति से श्रेष्ठ होगी जिसमें कुछ कम दशाओं की सन्तुष्टि होती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ऐसी स्थिति मे जिसमे कई बाधाओ के कारण परेटो की अनुकूलतम दशाओ की सन्तुष्टि नही हो पाती, किसी भी बाधा को हटाने मे कल्याण अथवा क्षमता पर यह प्रभाव होगा कि या तो उसमें वृद्धि होगी, या कमी होगी अथवा अपरिवर्तित रहेगी।

इसे एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। कल्याणकारी अर्थशास्त्र मे विनिमय की अनुकूलतम दशा यह होती है जहाँ किन्ही दो वस्तुओं मे प्रत्येक व्यक्ति के लिए जो दोनों वस्तुओं का उपभोग करता है, प्रतिस्थापन की सीमान्त दर समान रहती है। इसके लिए यह आवश्यक शर्त है कि प्रत्येक उपभोक्ता के लिए कीमते समान रहना चाहिए। यह निष्कर्ष उसी समय मान्य रहता है जब समस्या केवल दिये हुए वस्तुओं के संग्रह को कुशलता के साथ वितरण करने की है। किन्तु यदि उत्पादन मे परिवर्तन होता है तो कल्याण मे वृद्धि के लिए आवश्यक दशाओ मे बाधा उपस्थित हो जाती है। इसे स्पष्ट करने के लिए हम ऐसे दो व्यक्तियो की कल्पना करते हैं जिनकी रुचियाँ भिन्न-भिन्न हैं। अब सरकार कुछ आय प्राप्त करना चाहती है। दोनो व्यक्तियो ने यह निर्णय ले लिया है कि प्रत्येक व्यक्ति को सरकार द्वारा चाही गयी आय का 50 प्रतिशत योगदान देना चाहिए। आय अप्रत्यक्ष करो द्वारा वसूल की जाना है। आय प्राप्त करने का सर्वोत्तम तरीका है असमान अप्रत्यक्ष कर लगाना। विलासिता की पूरक वस्तुओ पर उच्चतम दर से कर लगाया जाता है एव विलासिता की प्रतिस्थापनीय वस्तुओ पर कम दर से कर लगाया जाता है। चूंकि दोनो व्यक्तियो की रुचि भिन्न है, प्रथम व्यक्ति के लिए X वस्तु विलासिता की प्रतिस्थापनीय वस्तु है तथा यही वस्तु दूसरे व्यक्ति के लिए विलासिता की पूरक वस्तु है। Y वस्तु प्रथम व्यक्ति के लिए विलासिता की पूरक तथा यही वस्तु दूसरे व्यक्ति के लिए विलासिता की प्रतिस्थापनीय वस्तु है। आय प्राप्त करने की सर्वोत्तम विधि यह है कि जब X वस्तु प्रथम व्यक्ति को बेची जाय तो उस पर नीची दर से कर लगाया जाय तथा जब इसे द्वितीय व्यक्ति को बेचा जाय तो उस पर ऊँची दर से कर लगाया जाय जबकि Y पर उस समय ऊंचा कर लगाया जाय जब उसे प्रथम व्यक्ति को बेचा जाय तथा दूसरे व्यक्ति को इसे बेचे जाने पर कम कर लगाया जाय।

इस प्रकार द्वितीय श्रेष्ठतम की अनुकूलतम दशा के लिए यह आवश्यक है कि दोनों व्यक्तियो के लिए सापेक्षिक कीमतें भिन्न-भिन्न हो।

सीमा संघ के प्रावैगिक प्रभाव
(DYNAMIC EFFECTS OF CUSTOMS UNIONS)

व्यापार सृजन और व्यापार दिशा परिवर्तन सीमा संघ के स्थैतिक प्रभाव हैं किन्तु स्थैतिक प्रभावों का व्यावहारिक जगत में अधिक महत्व नहीं है। सीमा संघ के फलस्वरूप बाजार का जो विस्तार होता है, उसके प्रावैगिक प्रभाव स्थैतिक प्रभाव की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। प्रावैगिक प्रभाव इस प्रकार है

(1) **प्रतियोगिता में वृद्धि**—सीमा संघ के फलस्वरूप बाजार का विस्तार होता है जिससे प्रतियोगिता में वृद्धि होती है। अब तक जिन उद्योगों को संरक्षण प्राप्त था, उन्हें जीवित रहने के लिए नवप्रवर्तन करना होता है। संघ के फलस्वरूप आन्तरिक प्रतियोगिता में अधिक वृद्धि होती है जिससे सीमान्त फर्मों को अपने उत्पादन की विधि में सुधार करना होता है एवं साधनों का आवंटन कम कुशल प्रयोगों से अधिक कुशल प्रयोगों में होता है। प्रो. एल्सवर्थ के अनुसार, "(सीमा संघ के फलस्वरूप) रूढ़िवादी और पारम्परिक उद्योग प्रगतिशील और सक्रिय हो जाते हैं और व्यापार में बने रहने के लिए उन्हें विकसित विधियों का प्रयोग करना होता है।"[1]

इस बात की पूर्ण सम्भावना रहती है कि सीमा संघ प्रतियोगिता में वृद्धि करेगा एवं एकाधिकार तथा अल्पाधिकार की प्रवृत्तियों को समाप्त करेगा। इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि सीमा संघ बनने के पूर्व यदि राष्ट्रीय बाजारों में कार्टेल सक्रिय थे तो सम्भव है कि सीमा संघ बनने के बाद अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल बन जाये जो उत्पादन को सीमित कर कीमतों को बढ़ायें। अतः स्पष्ट है कि समान नीति के अभाव में सीमा संघों से उपभोक्ता के हितों में वृद्धि नहीं होगी।

(2) **पैमाने की बचतें**—बाजार के विस्तार एवं उत्पादकता में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। सीमा संघ से बाजार का विस्तार होता है तथा बाजार का विस्तार होने से उत्पादकता में वृद्धि होती है तथा बड़े पैमाने के उत्पादन से अनेक प्रकार की बाह्य तथा आन्तरिक बचतें प्राप्त होती हैं। प्रो. मार्शल के अनुसार, "बड़े पैमाने के उत्पादन के मुख्य लाभ हैं कुशलता में मितव्ययता, मशीनों एवं कच्चे माल तथा अन्य पदार्थों में मितव्ययता।" कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि अर्द्धविकसित देशों के लिए सीमा संघों से बड़े पैमानों की बचतों की सबसे बड़ी आशा है।

(3) **तकनीकी विकास**—सीमा संघ से तकनीकी विकास भी होता है। बाजार के विस्तार से कुछ उद्योग तो अवश्य ही पैमाने की बचत प्राप्त करते हैं। इन उद्योगों में बड़ी फर्में बाजार में अपना हिस्सा बढ़ा लेती हैं तथा ये बड़ी फर्में शोध कार्यों में अधिक व्यय करती हैं जिससे तकनीकी विकास होता है।

(4) **विनियोग एवं नये उद्योगों का सृजन**—यदि सीमा संघों से उत्पादन क्षमता अनुकूल ढंग से प्रभावित होती है तो कुल वास्तविक आय और बचत में वृद्धि होती है तथा विनियोग की कुल मात्रा भी अधिक होती है। नये विनियोग के फलस्वरूप अधिक प्रावैगिक लाभ होते हैं। यदि सीमा संघ आर्थिक, वित्तीय, एवं सामाजिक नीतियों में समन्वय कर सकता है तो नये निर्यात उद्योगों का विस्तार किया जा सकता है।

(5) **व्यापार शर्तों में सुधार**—सीमा संघ का यह भी प्रावैगिक लाभ है कि इसके अन्तर्गत आने वाले क्षेत्रों की वस्तु व्यापार शर्तों में सुधार होता है। यह उस समय सम्भव है जब संघ बन जाने के बाद सदस्य देशों का बाहरी देशों से आयात कम हो जाता है। व्यापार की शर्तों पर प्रावैगिक प्रभाव उसी समय महत्वपूर्ण होते हैं जब विश्व बाजार में संघ के सदस्य देश मुख्य निर्यातक हों।

इस प्रकार सीमा संघ के महत्वपूर्ण प्रावैगिक प्रभाव होते हैं।

1 Ellsworth, *The International Economy*, p. 534

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. सीमा संघ से आप क्या समझते हैं ? इसके उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभावों को व्यापार सृजन और व्यापार दिशा परिवर्तन के माध्यम से स्पष्ट कीजिए ?
2. द्वितीय श्रेष्ठतम का सामान्य सिद्धान्त क्या है ? इसे स्पष्ट कीजिए ?
3. सीमा संघ के स्थैतिक उपभोग प्रभाव को रेखाचित्र बनाकर स्पष्ट कीजिए ?
4. सीमा संघ के प्रावैगिक प्रभावों को स्पष्ट कीजिए ?

Selected Readings

1. Ellsworth : *The International Economy*
2. Ray & Kundu : *International Economics*
3. D. M. Mithani : *Introduction to International Economics*
4. Jacob Viner : *The Custom Union Issue.*

अध्याय 39

प्रशुल्क एवं व्यापार सम्बन्धी सामान्य समझौता

[GENERAL AGREEMENT ON TARIFFS AND TRADE—GATT]

परिचय

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में विश्व आर्थिक सहयोग की एक नयी प्रवृत्ति प्रकाश में आयी और इसी के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक की स्थापना हुई। इन दोनों की सफलता से प्रेरित होकर विश्व के अनेक राष्ट्रों ने विश्व व्यापार में वृद्धि करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में सहयोग की इच्छा व्यक्त की। इस दिशा में पूर्व में जो द्विपक्षीय समझौते, क्षेत्रीय संघों की स्थापना आदि हुई, उससे वांछित सहयोग प्राप्त नहीं हो सका। यह अनुभव किया गया कि विश्व व्यापार का समुचित विकास करने के लिए देशों को आपस में प्रशुल्क की दीवारों को तोड़ना चाहिए। इन सब विचारों के फलस्वरूप ही प्रशुल्क एवं व्यापार सम्बन्धी सामान्य समझौते (GATT-गैट) की उत्पत्ति हुई।

गैट की स्थापना के लिए प्रस्ताव और उसका उदय

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सहयोग लाने के उद्देश्य से विभिन्न देशों द्वारा विचार विमर्श किया गया एवं 1945 के अन्त में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के राज्य विभाग ने एक पुस्तिका का प्रकाशन किया जिसका शीर्षक था—'*Proposals for Expansion of World Trade and Employment*'' जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित अनेक विषयों पर विचार व्यक्त किये गये जैसे प्रशुल्क प्राथमिकता, अभ्यंश और लाइसेन्स प्रणाली, अदृश्य संरक्षण, अनुदान, वस्तु समझौते, पूर्ण रोजगार की प्राप्ति एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन (International Trade Organisation —I T O) की स्थापना जो समझौतों को कार्यान्वित कर सके।

उक्त उद्देश्यों को लेकर व्यापार और रोजगार पर एक सम्मेलन 1946 में लन्दन में आयोजित किया गया तथा 1947 में इन्हीं विषयों पर जेनेवा में सम्मेलन हुआ जिसका समापन 1947-48 में हवाना में हुआ जहाँ 53 राष्ट्रों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन के लिए हस्ताक्षर किये। यद्यपि हवाना चार्टर का उद्देश्य I.T.O. की स्थापना करना था, किन्तु कई कठिनाइयों एवं सर्व-स्वीकृति के अभाव में इसे कार्यान्वित नहीं किया जा सका। किन्तु हवाना चार्टर के एक महत्वपूर्ण मुद्दे—व्यापार प्रतिबन्धों में ढिलाई—को कई देशों ने पुनर्जीवित किया जिसके फलस्वरूप GATT का जन्म हुआ। भारत सहित 23 देशों ने 1947 में इस पर हस्ताक्षर किये। अब इसकी संख्या बढ़कर 83 से भी अधिक हो गयी है।

प्रो. एल्सवर्थ के अनुसार गैट दो विभिन्न विचारों की अद्भुत उपज है। मूल रूप में यह एक व्यापारिक समझौता है किन्तु साथ ही यह एक बन्धनमुक्त (Loose) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन भी है। जब सम्बन्धित देशों ने प्रशुल्क रियायतों पर हस्ताक्षर किये, तब उन्होंने व्यापारिक नीति से

सम्बन्धित I.T.O. के प्रावधानों को भी ग्रहण किया जिनमें से एक प्रावधान भेदविहीन (Non discriminatory) अथवा परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार से सम्बन्धित है जिसका हम आगे चलकर उल्लेख करेंगे।

गैट के मुख्य उद्देश्य (Main Objectives of GATT)

गैट की स्थापना निम्न उद्देश्यों को लेकर की गयी है :

(i) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार करना।

(ii) सदस्य देशों में पूर्ण रोजगार की व्यवस्था कर विश्व उत्पादन में वृद्धि करना।

(iii) विश्व संसाधनों का विकास करना तथा उनका पूर्ण प्रयोग करना, एवं

(iv) विश्व में, समग्र दृष्टिकोण के आधार पर, सम्पूर्ण समाज के लोगों का जीवन स्तर ऊँचा उठाना।

जाती हैं, वह बिना किसी शर्त के तत्काल, सदस्य राष्ट्रों के सम्बन्धित उत्पादन के लिए दी जायेगी। इस प्रकार परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार का सिद्धान्त स्पष्ट करता है कि प्रत्येक राष्ट्र को सर्वाधिक अनुग्रह वाला राष्ट्र समझा जाना चाहिए। इसके अनुरूप GATT के सदस्य राष्ट्रों को, अन्य देशों को नयी प्राथमिकता देने की अनुमति नहीं दी जाती। इस बात का भी प्रावधान है कि सदस्य देशों में द्विपक्षीय आधार पर जो समझौते किये जाते हैं और उनके अन्तर्गत जो रियायतें दी जाती हैं, वे सब सदस्य देशों को दी जानी चाहिए।

गैट इस बात पर भी बल देता है कि सदस्य देशों में राज्य व्यापार भी बिना किसी भेद-भाव के होना चाहिए। इस शर्त पर सीमा संघों एवं स्वतन्त्र व्यापार क्षेत्रों के निर्माण की अनुमति दी जाती है कि उनके फलस्वरूप सम्बन्धित क्षेत्रों में व्यापार सुविधाजनक होगा तथा अन्य सदस्य राष्ट्रों के विरोध में व्यापार पर प्रतिबन्ध नहीं लगाये जायेंगे।

(2) **परिमाणात्मक प्रतिबन्धों में कमी करना**—गैट में यह भी व्यवस्था है कि सदस्य देशों को व्यापार क्षेत्र में लगाये गये परिमाणात्मक प्रतिबन्धों को कम करना चाहिए ताकि अनावश्यक रूप से अन्य सदस्य देशों को हानि न हो। किन्तु एक बात स्पष्ट है कि इन प्रतिबन्धों को कम करने के लिए गैट में कोई कठोर व्यवस्था नहीं है। इस सम्बन्ध में प्रो. एल्सवर्थ का कथन है कि जहाँ तक प्रतिबन्धों की कमी का प्रश्न है, गैट ने न तो इस क्षेत्र में घुटने टेके हैं और न ही वह प्रतिबन्धों को कम करने में सफल हुआ है। किसी न किसी तरह उक्त स्थिति में गैट ने भुगतान-शेष की कठिनाइयों से पूर्ण द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त की अवधि को पार कर लिया है।

अपवाद स्वरूप गैट निम्न परिस्थितियों में ही प्रतिबन्धों की अनुमति देता है :

(i) जब देश भुगतान-शेष के संकट में हो तो विनिमय रिजर्व की सुरक्षा के लिए।

(ii) उन आयातों को नियन्त्रण करके जिनसे सदस्य देश की कीमत समर्थन नीति एवं उत्पादन नियन्त्रण कार्यक्रम को नुकसान पहुँचे, एवं

(iii) अर्द्धविकसित देशों को, उनके आर्थिक विकास को गतिशील बनाने के लिए गैट द्वारा अनुमोदित कार्यक्रम के अनुसार विशेष प्रतिबन्धों की अनुमति देना।

(3) **प्रशुल्क समझौते**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पूर्ण विकास में देशों द्वारा खड़ी की गयी प्रशुल्क की दीवारें सबसे बड़ी बाधा हैं। अतः गैट में इस प्रकार का प्रावधान है कि सदस्य देश आपस में मिलकर प्रशुल्क को घटाने का प्रयत्न करें। विशेष रूप से उन बड़ी मात्रा के प्रशुल्कों को कम किया जाय जो आयात की न्यूनतम मात्रा को भी हतोत्साहित करते हैं। इस प्रकार के समझौते पारस्परिक रूप से एक दूसरे के लाभ पर आधारित होते हैं।

निम्न बातों को दृष्टि में रखकर समझौते किये जाते हैं,

(i) सदस्य देशों एवं व्यक्तिगत उद्योगों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए,

(ii) अर्द्धविकसित देशों के आर्थिक विकास के लिए संरक्षण एवं आय प्राप्त करने के लिए प्रशुल्क की आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए, एवं

(iii) सदस्य देशों की सम्बन्धित परिस्थितियों जैसे राजस्व, विकास सम्बन्धी एवं अन्य को दृष्टि में रखते हुए।

प्रशुल्क में कटौती करने के सम्बन्ध में निम्न नियमों का अनुसरण किया जाता है :

(i) **पारस्परिक लाभ**—प्रशुल्क में कटौती पारस्परिक लाभ के आधार पर हुए समझौते के अनुसार की जाती है अर्थात् कोई भी सदस्य एकपक्षीय आधार पर प्रशुल्क में कटौती नहीं करता।

(ii) प्रशुल्क की नीची दरों का बन्धन—प्रशुल्क सम्बन्धी समझौते या तो प्रशुल्क में कटौती करने, या नीची दरों का प्रशुल्क लगाने या इस उद्देश्य से किये जाते हैं कि प्रशुल्क में निश्चित सीमा से अधिक वृद्धि नहीं होगी। नीची प्रशुल्क दरों का बन्धन विशेष रूप से लाभदायक है क्योंकि सदस्य देशों के व्यापारी इस बात से आश्वस्त रहते हैं कि प्रशुल्क की नीची दरें जारी रहेंगी अतः वे बिना किसी प्रशुल्क जोखिम के विनियोग और उत्पादन में वृद्धि कर सकते हैं।

(iii) सौदेबाजी प्रशुल्क के विरोधी नियम—समझौता इस आधार पर किया जाता है कि सदस्य देश पूर्ण विश्वास के साथ उसका पालन करेंगे और अपनी सौदेबाजी की शक्ति में वृद्धि करने के लिए न तो प्रशुल्क बढ़ायेंगे और न प्रतिबन्धात्मक उपायों का सहारा लेंगे। प्रशुल्क समझौते के लिए यह आवश्यक शर्त है।

(iv) अधिमान की दरें एवं अधिमान की सीमा—अधिमान की सीमा का माप परमानुग्रहित राष्ट्र की दरों एवं समान उत्पादन के लिए करों की रियायती दरों के अन्तर के आधार पर होता है। यदि परमानुग्रहित राष्ट्र की दर को कम कर दिया जाता है तो अधिमान की सीमा भी घट जाती है। यदि अधिमान की दर कम कर दी जाती है तो उसी के अनुरूप परमानुग्रहित राष्ट्र दर में भी कमी करना पड़ती है क्योंकि समझौते के अनुसार अधिमान की सीमा में वृद्धि की अनुमति नहीं होती।

(v) बन्धन-युक्त एवं बन्धन-हीन दरें—समझौते के फलस्वरूप सदस्य देश प्रशुल्क की जिस नयी दर को स्वीकार करता है उसे उस देश की सूची में शामिल कर दिया जाता है तथा इसमें वृद्धि नहीं की जा सकती इसे बन्धन युक्त दर कहते हैं। जिन मामलों में प्रशुल्क की सीमा को सदस्य देश द्वारा स्वीकार नहीं किया जाता उसे सूची में शामिल नहीं किया जाता तथा इसे बन्धनहीन दर कहते हैं। बन्धनहीन प्रशुल्क की दरों में वृद्धि की जा सकती है किन्तु शर्त यह रहती है कि ये दरें सब सदस्य देशों पर एक समान रूप से लागू हों तथा किसी के प्रति किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जाय। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि बन्धनहीन दरों में अधिमान की सीमा में वृद्धि नहीं की जा सकती।

(vi) बहु-पक्षीय एवं द्वि-पक्षीय विधि—गैट ने प्रशुल्क में कटौती सम्बन्धी समझौते करने के लिए द्विपक्षीय और बहुपक्षीय नीति को अपनाया। यह विधि द्विपक्षीय इस सन्दर्भ में थी कि प्रत्येक राष्ट्र को लेकर समझौते किये गये। समस्त सदस्यों ने दो-दो के समूह बनाकर चुनी हुई वस्तुओं को लेकर प्रशुल्क समझौते किये। ये समझौते इस अर्थ में बहुपक्षीय थे कि द्विपक्षीय आधार पर किये गये समझौतों को परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार के आधार पर अन्य सदस्य देशों पर भी लागू किया गया। ये दोनों प्रकार के समझौते मई 1964 तक किये गये तथा इस समय प्रशुल्क समझौते सम्बन्धी पाँच मुख्य सम्मेलन हुए जिनमें भाग लेने वाले देशों की 60,000 प्रशुल्क दरें या तो कम की गयी अथवा उन्हें स्थिर बनाया गया।

द्विपक्षीय बहुपक्षीय समझौतों के दोष

(i) चूंकि द्विपक्षीय समझौतों के सम्बन्ध में प्राथमिक उत्पादन करने वाले अर्द्धविकसित देशों की मोलभाव करने की शक्ति कमजोर रहती है उनकी व्यापार की शर्तों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(ii) विभिन्न देशों के प्रशुल्क ढाँचे में अनिश्चितता एवं अस्थिरता आती है।

(iii) जिन देशों की प्रशुल्क की दरें पहले से ही नीची रहती है, उन देशों के साथ अन्याय होता है क्योंकि उनकी मोलभाव की शक्ति कमजोर हो जाती है।

(iv) प्रशुल्क में कटौती करने की यह काफी धीमी विधि है।

व्यापारिक समझौतों की कैनेडी प्रशुल्क नीति
(KENNEDY ROUND OF TRADE NEGOTIATIONS)

इन समझौतों को इसलिए Kennedy Round कहते हैं क्योंकि संयुक्त राष्ट्र अमरीका के व्यापार विस्तार कानून (11 अक्टूबर, 1962) द्वारा ये सम्भव हुए हैं जिनकी प्रस्तावना राष्ट्रपति कैनेडी ने की थी। इसके अन्तर्गत राष्ट्रपति को पारस्परिक आधार पर अमरीका के प्रशुल्क को 50 प्रतिशत कम करने की अभूतपूर्व शक्ति प्राप्त हो गयी जिनकी अवधि पाँच वर्ष थी। इस समझौते की महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि राष्ट्रपति को यह अधिकार था कि वे एक-एक वस्तु के आधार पर समझौतों के स्थान पर वस्तुओं के वर्ग के लिए प्रशुल्क समझौते कर सकते थे।

1961 में सदस्य देशों के मन्त्रियों की बैठक में यह निर्णय लिया गया कि परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार के आधार पर प्रशुल्क में कटौती जारी रखी जाय किन्तु यह भी तय किया गया कि वस्तु और देश के आधार पर प्रशुल्क समझौते करना, बदलते हुए व्यापार के युग में उचित नहीं था। फिर भी यह स्वीकार किया गया कि ऐसा करने में गैट के मूल सिद्धान्तों पर आँच नहीं आनी चाहिए।

6 मई, 1964 को जेनेवा में भाग लेने वाले सदस्य देशों के मन्त्रियों ने कैनेडी प्रशुल्क समझौतों पर विचार विमर्श किया जिसमें यह निर्णय लिया गया कि औद्योगिक राष्ट्रों द्वारा गैट *कृषि उत्पादनों के लिए 50 प्रतिशत प्रशुल्क कटौती को तत्कालीन स्थितियों में समान रूप से जारी* रखा जाय। कृषि वस्तुओं के सम्बन्ध में यह स्वीकार किया गया कि कैनेडी प्रशुल्क के अन्तर्गत इन वस्तुओं को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार प्राप्त करने में सहायता की जायगी। मार्च 1965 में व्यापार समझौता कमेटी ने कृषि प्रशुल्कों में समझौता करने का मामला लिया और उसमें काफी हद तक सफलता प्राप्त की। इसी अवधि में कमेटी ने अर्द्ध विकसित देशों के प्रशुल्क के मामले में भी हस्तक्षेप किया।

कैनेडी प्रशुल्क की अवधि 30 जून, 1967 को समाप्त होने वाली थी अतः इस अवधि की समाप्ति के काफी पहले से ही कई प्रकार के प्रशुल्क समझौते किये गये एवं बड़े औद्योगिक देशों के बीच इनके सम्बन्ध में सहमति भी हो गयी। ये समझौते रसायन पदार्थों, लोहा-इस्पात और खाद्यान्न के सम्बन्ध में थे। 30 जून, 1967 को उक्त समझौतों के अन्तिम रूप पर उन प्रतिनिधियों द्वारा हस्ताक्षर किये गये जिन्होंने कैनेडी प्रशुल्क सम्मेलन में भाग लिया। इनका समावेश व्यापार के सामान्य समझौते के अन्तर्गत जेनेवा प्रोटोकोल 1967 में किया गया है। इसके फलस्वरूप 1968 में 16 विकसित पश्चिमी देशों ने अमेरिका के निर्यातों पर प्रशुल्क में कटौती करने की घोषणा की ताकि अमरीका के भुगतान शेष की स्थिति में सुधार किया जा सके। *1969* में गैट ने इस दिशा में जो प्रयास किये उसके फलस्वरूप प्रशुल्कों में और भी कमी की गयी किन्तु अगस्त 1971 में अमरीकन राष्ट्रपति निक्सन ने घोषणा कर विकासशील देशों के आयातों पर 10 प्रतिशत अतिरिक्त प्रशुल्क लगा दिया जिसका गैट के सदस्यों द्वारा विरोध किया गया तथा अन्त में इसे अमरीका ने वापस ले लिया।

गैट की प्रगति अथवा उसके कार्यों का लेखा-जोखा

समग्र रूप से विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि गैट ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को सुव्यवस्थित किया है तथा प्रशुल्कों को कम कर व्यापार में विस्तार किया है। संक्षेप में गैट द्वारा किये गये कार्यों का विवरण इस प्रकार है जो उसकी प्रगति का सूचक है.

(1) अनुचित व्यापार की प्रवृत्तियों पर रोक—केवल प्रशुल्क और परिमाणात्मक प्रतिबन्ध लगाकर ही आयातों एवं निर्यातों को नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। परन्तु कई अनुचित प्रवृत्तियों के द्वारा भी इन्हें नियन्त्रित किया जा सकता है जैसे यदि आयात की हुई वस्तुओं

पर देश के भीतर कर की मात्रा बढ़ा दी जाय तो इसका वही प्रभाव होगा जो प्रशुल्क बढ़ाने का होता है। इसी प्रकार मूल्यांकन की विधि में परिवर्तन कर मूल्यानुसार प्रशुल्क में वृद्धि की जा सकती है। इन सब अनुचित प्रवृत्तियों को रोकने के लिए गैट में व्यापार के क्षेत्र में उचित व्यवहार की आचार संहिता है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में एक समुचित व्यवस्था का निर्माण हुआ है।

(2) विवादों का निपटारा – गैट के सदस्य देशों में व्यापार को लेकर जो विवाद समय समय पर खड़े हुए हैं उन्हें निपटाने में गैट ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। गैट की धारा XXIII में इस बात का प्रावधान है कि गैट के नियमों का उल्लघन किये जाने पर या समझौते के भंग किये जाने पर सदस्य देश की शिकायत की जा सकती है। अन्य सदस्य देश इसकी अविलम्ब जाँच करने के लिए एक पैनल की नियुक्ति करते हैं जो सम्बन्धित पक्षों को सुनने के बाद अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करता है। बहुधा इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि समस्या का ऐसा हल निकाला जाय जो दोनों पार्टियों को स्वीकार्य हो। इसके अतिरिक्त द्विपक्षीय विचार विमर्श के माध्यम से भी विवादों को हल किया जाता है।

गैट ने कुछ उलझे हुए मामलों को सफलतापूर्वक निपटाया है। उदाहरण के लिए चिली ने, जो भारी मात्रा में प्राकृतिक शोरे का निर्यात करता है गैट को जब यह शिकायत की कि आस्ट्रेलिया कृत्रिम खाद (उर्वरक) को आर्थिक अनुदान देकर चिली द्वारा आस्ट्रेलिया को दी जाने वाली प्रशुल्क रियायत को निरर्थक कर रहा है तो गैट ने जाँच कर यह निर्णय दिया कि आस्ट्रेलिया को अपनी आर्थिक अनुदान की नीति में परिवर्तन करना चाहिए और आस्ट्रेलिया ने इसे स्वीकार कर लिया।

(3) क्षेत्रीय संघों की स्थापना—गैट ने सदस्य देशों के स्वतन्त्र व्यापार को सदैव प्रोत्साहन दिया है और इसी उद्देश्य से इन देशों में सीमा संघ बनाने की भी अनुमति दी गयी है किन्तु उसके साथ यह शर्त रही है कि इन संघों का उद्देश्य व्यापार का प्रोत्साहन होना चाहिए न कि अन्य देशों के व्यापार में रुकावटें पैदा करना। इस प्रकार का बनाने के पहले सम्बन्धित सदस्यों को इसकी विस्तृत योजना प्रस्तुत करना जरूरी होता है जिस पर अन्य सदस्यों की बैठक में विचार कर यदि आवश्यक होता है तो सुझाव दिये जाते हैं जिनको कार्यान्वित करना आवश्यक होता है—इस प्रावधान में दो बातें महत्वपूर्ण हैं—प्रथम सदस्य देशों को कस्टम यूनियन के नाम पर रियायती समझौतों को लागू होने से रोकना सम्भव हो जाता है और द्वितीय जहाँ उचित और आवश्यक होता है, उक्त प्रकार के संघों को बनाने की अनुमति दी जाती है।

निर्धारित शर्तों की पूर्ति होने पर गैट ने कई प्रकार के सीमा संघों को बनने की अनुमति दी है जैसे यूरोपियन साझा बाजार (E.C.M.), यूरोपीय स्वतन्त्र व्यापार संघ (EFTA) तथा लेटिन अमेरिका मुक्त व्यापार संघ।

(4) परिमाणात्मक प्रतिबन्ध—गैट का उद्देश्य है बिना किसी भेद भाव के बहुपक्षीय आधार पर विश्व व्यापार का विस्तार करना। व्यापार में लगे परिमाणात्मक प्रतिबन्ध इस उद्देश्य में बाधक होते हैं अतः गैट की धारा XI में इन प्रतिबन्धों को समाप्त करने की व्यवस्था की गयी है किन्तु इसके कुछ अपवादों की भी व्यवस्था है जो इस प्रकार है :

(i) यदि निर्यातक सदस्य देश में सम्बन्धित वस्तु का अभाव है तो अस्थायी तौर पर निर्यातों पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है।

(ii) यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वस्तुओं के वर्गीकरण एवं प्रमापीकरण के लिए आवश्यक है तो उन वस्तुओं के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है।

(iii) यदि सरकारी उपायों को लागू करने के लिए जरूरी है तो खाद्यान्न और मछलियों के आयात पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है।

यह उल्लेखनीय है कि गैट अपने परिमाणात्मक प्रतिबन्धो मे कुछ अंशो में ही सफल हो पाया है।

(5) **कैनेडी प्रशुल्क नीति**—प्रशुल्को में कटौती करने की कैनेडी प्रशुल्क नीति छटवीं नीति थी तथा इसके पहले गैट के तत्वावधान मे पाँच नीतियाँ 1947, 1949, 1951, 1956 और 1961 मे कार्यान्वित की जा चुकी थी। प्रो. सेमुअलसन के अनुसार, "कैनेडी व्यापार कानून (1962) जिसका उद्देश्य पारस्परिक आधार पर प्रशुल्क मे कटौती करना था, मानव के लिए सर्वाधिक योग्य यादगार है।" कुल मिलाकर कैनेडी प्रशुल्क नीति के जो परिणाम सामने आये वे काफी सन्तोषजनक थे किन्तु इससे अर्द्धविकसित देशो की आशाएँ पूरी नही हो सकीं। इसका कारण यह था कि इस सम्बन्ध मे विकसित देशो के उत्पादन को अधिक महत्व दिया गया तथा अल्पविकसित देशो के लिए जो उत्पादन महत्वपूर्ण थे उन्हे कम प्राथमिकता दी गयी।

(6) **भुगतान शेष में सुधार के लिए नियन्त्रण**—यद्यपि गैट मे परिमाणात्मक प्रतिबन्धो की व्यवस्था है फिर भी अपवादस्वरूप भुगतान शेष में सुधार के लिए प्रतिबन्धों को लागू किया जा सकता है। जिन देशो के सामने प्रतिकूल भुगतान शेष का भीषण संकट है उनके लिए प्रतिबन्धो को लागू करना अपरिहार्य है। इस सम्बन्ध मे गैट का प्रावधान काफी उदार है क्योंकि उसमे न केवल पूर्व मे हुए प्रतिकूल भुगतान शेष को ठीक करने की व्यवस्था है किन्तु सदस्य देश भविष्य मे भुगतान शेष मे कठिनाई की आशंका से भी प्रतिबन्धो को लागू कर सकता है किन्तु साथ ही यह भी प्रावधान है कि कोई भी सदस्य देश इस रूप मे परिमाणात्मक प्रतिबन्धों को लागू नही करेगा जिससे अन्य सदस्य राष्ट्रो के व्यापारिक या आर्थिक हितो को आघात पहुँचे।

इस अपवाद से अर्द्धविकसित देशो को काफी लाभ हुआ है।

(7) **नये अध्याय की सार्थकता**—गैट मे एक नया अध्याय जोड़ा गया है जिसकी तीन धाराएँ हैं—प्रथम का सम्बन्ध गैट के सिद्धान्तो एवं उद्देश्यो से है, द्वितीय के अन्तर्गत विकसित एवं अर्द्धविकसित देशो के गैट के सिद्धान्तो एवं उद्देश्यो की पूर्ति के लिए कुछ उत्तरदायित्व है तथा तृतीय का सम्बन्ध सदस्य देशो की उस संयुक्त कार्यवाही से है जो विश्व व्यापार के विस्तार के लिए आवश्यक है। नये अध्याय के उद्देश्यो की पूर्ति के लिए एक नयी कमेटी की नियुक्ति की गयी है जिसका नाम है व्यापार विकास कमेटी (Committee on Trade Development)। विशेष रूप से अर्द्धविकसित देशो की व्यापार सम्बन्धी समस्याओ को हल करने के लिए नया अध्याय गैट का एक उल्लेखनीय कदम है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि विश्व की व्यापार सम्बन्धी समस्याओ को हल करने मे गैट ने उल्लेखनीय कार्य किया है।

गैट तथा अर्द्ध विकसित देश
(GATT AND UNDERDEVELOPED COUNTRIES)

गैट के विभिन्न उद्देश्य एवं कार्यों मे अर्द्धविकसित देशो को प्राथमिकता दी गयी है तथा नये अध्याय को भी गैट मे इसी उद्देश्य से जोड़ा गया है और वास्तविकता तो यही है कि अर्द्धविकसित देश अपनी समस्याओ के समाधान के लिए ही गैट के सदस्य बने हैं। इन देशो को विदेशी व्यापार के क्षेत्र मे कई समस्याओ का सामना करना पड़ता है जैसे शिशु उद्योगो का संरक्षण, प्राथमिक उत्पादनो की कीमतो मे अस्थिरता, भुगतान-शेष मे प्रतिकूलता इत्यादि। इस प्रकार ये समस्याएँ गैट के लिए एक बड़ी चुनौती हैं तथा भविष्य मे गैट की सफलता इसी बात पर निर्भर रहेगी कि यह पिछड़े देशो की समस्याओ को किस सीमा तक हल कर पाता है।

यह प्रशंसनीय है कि इन देशो की समस्याओ को हल करने में गैट ने अपने प्रयत्न तेज कर दिये हैं। 1957 मे गैट ने इस बात की जाँच करने के लिए एक विशेषज्ञो की समिति नियुक्त की

अध्याय 36

प्राथमिक उत्पादन की कीमतों में स्थिरीकरण

[STABILISATION OF PRICES OF PRIMARY PRODUCTS]

परिचय

प्राथमिक उत्पादन का सम्बन्ध मुख्य रूप से अर्द्धविकसित देशों से है। इन देशों के सामने सबसे प्रमुख समस्या यह रहती है कि प्राथमिक वस्तुओं की कीमतों में स्थिरीकरण कैसे लाया जाय? इन वस्तुओं की माँग और पूर्ति में समायोजन उसी समय सम्भव है जब कीमतों में परिवर्तन के फलस्वरूप माँग और पूर्ति में त्वरित परिवर्तन होता है। प्राथमिक उत्पादन की कीमतों में जल्दी-जल्दी होने वाले परिवर्तनों से उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं के बीच आय का हस्तान्तरण होता है एवं आर्थिक तथा सामाजिक सम्बन्धों में व्यवधान पैदा होता है जो माँग और पूर्ति के समायोजन में बाधक होता है। प्राथमिक उत्पादनों की माँग और पूर्ति की लोच सापेक्षिक रूप से कम रहती है तथा उनका प्रतिवाद (Response) भी कम रहता है। इसके फलस्वरूप प्राथमिक उत्पादनों की कीमतों में दीर्घकालीन चक्रीय उच्चावचन होते हैं जिससे उनके उत्पादन तथा निर्यातों से होने वाली आय में भी परिवर्तन एवं अनिश्चितता रहती है। अतः प्राथमिक उत्पादकों को भारी कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

अर्द्धविकसित देशों के सन्दर्भ में कीमतों में अस्थिरता

अर्द्धविकसित देशों को अपने आर्थिक विकास के कार्यक्रमों के लिए विदेशों से पूँजीगत और तकनीकी वस्तुओं का आयात करना पड़ता है। इन वस्तुओं को आयात करने की क्षमता उनकी विदेशी विनिमय की आय पर निर्भर रहती है। ये देश अपने प्राथमिक उत्पादनों के निर्यात से ही विदेशी मुद्रा प्राप्त कर सकते हैं। यदि इन प्राथमिक उत्पादन की कीमतों में उच्चावचन होता है तो ये देश समुचित रूप से अपने विकास एवं नियोजन को कार्यान्वित नहीं कर पाते।

इसके साथ ही व्यापार-चक्र की समृद्धि एवं अवसाद की अवस्थाएँ भी कीमतों में परिवर्तन करती हैं। यदि निर्यातों से आय वृद्धि होती है तो इन देशों में विलासिता की वस्तुओं का आयात बढ़ता है। मन्दी के फलस्वरूप इन देशों की आय कम हो जाती है तथा सरकार के लिए व्यय में कटौती करना कठिन हो जाता है। अतः इन देशों को हीनार्थ प्रबन्धन का सहारा लेना पड़ता है जिससे मुद्रा प्रसार होता है।

अर्द्धविकसित देशों में प्राथमिक वस्तुओं की कीमतों में उच्चावचन से विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन नहीं मिलता तथा निर्यात वस्तुओं के उत्पादन के स्थान पर आयात प्रतिस्थापित वस्तुओं का उत्पादन होता है। इससे विदेशी विनिमय की कठिनाई होती है। कीमतों में अस्थिरता से न केवल सट्टे की क्रियाओं को प्रोत्साहन मिलता है वरन् उत्पादन के संसाधनों के आवंटन में भी परिवर्तन होता है एवं साधनों की बर्बादी होती है।

अर्द्धविकसित देशो के उत्पादन के ढाँचे मे लोच का अभाव रहता है। जब उनके उत्पादनों की कीमतें घटती हैं तो इन देशो को निर्यात उद्योगो से आयात प्रतिस्थापित उद्योगो मे साधनो को हस्तान्तरित करने मे कठिनाई होती है। यद्यपि यह कहा जाता है कि प्राथमिक उत्पादनो की कीमतो मे उच्चावचन मे औद्योगीकरण को बढ़ावा मिलता है किन्तु यह औद्योगीकरण की बड़ी मँहगी प्रणाली है। ऐसी बात नहीं है कि उच्चावचन का प्रभाव केवल अर्द्धविकसित देशो पर ही पड़ता है वरन् इन वस्तुओं की कीमतों मे उच्चावचन से विकसित देशो मे कीमतो एवं रोजगार का स्तर भी प्रभावित होता है। यदि प्राथमिक उत्पादन की कीमतो मे वृद्धि होती है तो चूंकि विकसित देशों को कच्चे माल की वस्तुओं के आयात पर निर्भर रहना पड़ता है अत. विकसित देशो के भुगतान-शेष मे कठिनाई उपस्थित होती है। विकसित देश, अर्द्धविकसित देशो की कीमतो की स्थिरता मे इसलिए अभिरुचि रखते हैं क्योंकि इससे उन्हे अपने निर्मित माल के लिए अच्छा बाजार मिलता है।

यदि प्राथमिक उत्पादनो की कीमतो मे अनिश्चितता रहती है तो इन उत्पादनो मे विनियोग भी हतोत्साहित हो जाता है। इन सब स्थितियो को देखते हुए यह बहुत आवश्यक होता है कि प्राथमिक उत्पादन की कीमतो मे स्थायित्व लाया जाय।

प्राथमिक उत्पादन की कीमतों में अस्थिरता के कारण

अर्द्धविकसित देशो मे प्राथमिक उत्पादन की कीमतो मे निम्न कारणो से अस्थिरता होती है :

(1) **व्यापार चक्र**—आर्थिक क्रियाओं मे उतार-चढ़ाव अथवा मन्दी-तेजी की अवस्थाएँ एक नियमित ढग से आती रहती हैं। इन परिवर्तनों का एक मुख्य कारण कुल माँग मे होने वाला परिवर्तन है। प्राथमिक उत्पादन की कीमतो मे उच्चावचन लाने मे इन चक्रीय परिवर्तनों का महत्वपूर्ण हाथ होता है।

(2) **आकस्मिक होने वाले उच्चावचन**—कीमतो मे आकस्मिक उच्चावचन उस समय होते हैं जब कुछ गैर आर्थिक कारणों से कुल व्यय मे एकाएक वृद्धि हो जाती है अथवा उसमे कमी हो जाती है। जैसे कोरिया का युद्ध एव स्वेज सकट के कारण कीमतो मे भारी वृद्धि हो गयी।

(3) **कीमतों मे और अधिक परिवर्तन होने की आशा**—जब कीमतो मे कुछ कमी होती है तो यह आशा की जाती है कि भविष्य मे कीमतें और गिरेंगी अत माँग कम रहती है अत. वस्तु का स्टाक रखने वाले उत्पादक कीमतो को और घटाकर बेचने लगते हैं। इसी प्रकार जब कीमतो मे थोडी वृद्धि होती है तो उत्पादक इस आशा से वस्तुओ का स्टाक करने लगते हैं कि भविष्य मे कीमतें और बढ़ेंगी. उपभोक्ता भी इसी भय से वस्तुओं का सग्रह करने लगते है। फलस्वरूप माँग बढ़ती है तथा कीमतें बढ़ने लगती है।

(4) **परिपक्व अवधि**—कृषि उत्पादन के क्षेत्र मे परिपक्व अवधि (Gestation period) औद्योगिक क्षेत्र की तुलना मे लम्बी होती है। अर्थात् कृषि क्षेत्र मे जो विनियोग किया जाता है उसका प्रतिफल लम्बे समय के बाद मिलता है और इनके उत्पादन मे कुछ न कुछ अनिश्चितता भी रहती है जिसके फलस्वरूप कभी तो प्राथमिक उत्पादन के क्षेत्र मे अतिरेक होता है और कभी कमी हो जाती है। इससे कीमतो मे अस्थिरता रहती है।

(5) **माँग और पूर्ति मे लोच की कमी**—औद्योगिक वस्तुओं की तुलना मे प्राथमिक वस्तुओं की माँग कम लोचपूर्ण रहती है। उद्योगो मे माँग के अनुसार पूर्ति मे समायोजन किया जा सकता है। जब प्राथमिक वस्तुओं की कीमतो मे वृद्धि होती है तो अल्पकाल मे इनके उत्पादन मे वृद्धि करना सम्भव नहीं होता जबकि उद्योगो मे कार्य के घण्टे बढ़ाकर उत्पादन बढ़ाया जा सकता

है। यदि कीमतो में कमी होने के फलस्वरूप उत्पादन घटता है तो लागत नही घटती क्योकि कुछ लागतें अपरिवर्तनशील होने से कृषि का उत्पादन अमितव्ययतापूर्ण हो जाता है।

औद्योगिक पूर्ति की तुलना मे प्राथमिक वस्तुओ की पूर्ति मे होने वाले परिवर्तन कीमतों मे अधिक उच्चावचन लाते हैं। यदि कृषि या कच्चे माल की पूर्ति मे वृद्धि अथवा कमी पूरे विश्व के देशो मे होती है तो कीमतो मे होने वाले विपरीत परिवर्तनो से पूर्ति के आय पर पड़ने वाले प्रभाव का प्रतिकार किया जा सकता है। यदि पूर्ति मे होने वाला परिवर्तन कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित रहता है और पूर्ति मे होने वाला परिवर्तन विश्व कीमतो को प्रभावित नही कर पाता तो उक्त क्षेत्र मे आय मे अधिक उच्चावचन होते हैं।

(6) प्राकृतिक संकट—प्राथमिक उत्पादनो की कीमतो मे उच्चावचन होने का एक कारण यह भी है कि कृषि क्षेत्र मे प्राकृतिक संकट जैसे बाढ़, सूखा, तूफान आदि के कारण कृषि उत्पादन मे कमी हो जाती है और इनकी कीमतें बढ़ने लगती हैं। इसके विपरीत जब जलवायु, वर्षा और मौसम अनुकूल होता है तो कृषि उत्पादन मे वृद्धि होती है और इनके मूल्य गिरने लगते हैं।

स्थायित्व किस सन्दर्भ मे हो

कभी-कभी स्थायित्व को अस्पष्ट रूप में ग्रहण किया जाता है तथा यह स्पष्ट नही हो पाता कि किसमे स्थायित्व लाया जाय ? इसके सम्भावित निम्न चार अर्थ हो सकते हैं :

(i) क्या देश के उत्पादन के कुल मूल्य को स्थिर रखा जाय ? अथवा व्यक्तिगत रूप से प्राथमिक उत्पादन की आय स्थिर रहे या निर्यात से होने वाली आय मे स्थिरता हो ?

(ii) क्या प्राथमिक वस्तुओ के उत्पादन को मौद्रिक रूप मे अथवा वास्तविक रूप में स्थिर रखा जाय ?

(iii) क्या एकाकी वस्तुओ अथवा वस्तुओ के समूह के मूल्यो में स्थिरता लायी जाय ?

(v) क्या प्राथमिक वस्तुओं के मूल्य मे स्थिरता किसी विशेष देश के सन्दर्भ मे हो अथवा सारे देशो के लिए हो ?

यह सम्भव नही है कि उपर्युक्त चारो सन्दर्भ मे एक साथ स्थिरता कायम की जा सके। यहाँ मुख्य आशय प्राथमिक वस्तुओ की कीमतो मे स्थिरता से है जो एक ही देश के सन्दर्भ मे न होकर सब देशों के सन्दर्भ मे हो।

किन्तु स्थायित्व का आशय यह नही है कि कीमतो को बिलकुल अवरुद्ध (Frozen) कर दिया जाय वरन् अर्थ यह है कि दीर्घकाल मे उनमें भारी उच्चावचन न हो किन्तु थोड़े बहुत परिवर्तन हो सकते है जो कीमत यन्त्र के अनुसार वाछनीय हों।

एक बात और महत्वपूर्ण है कि प्राथमिक उत्पादनो की कीमतों मे स्थिरता निरपेक्ष न होकर सापेक्षिक हो अर्थात् स्थिरता पूँजीगत वस्तुओ और निर्मित माल के सन्दर्भ मे हो। अर्द्ध-विकसित देश यह चाहते है कि प्राथमिक उत्पादन और औद्योगिक उत्पादन की कीमतो मे उचित, न्यायपूर्ण एव तर्क युक्त सम्बन्ध होना चाहिए एव कीमत यन्त्र का प्रयोग उत्पादक संसाधनो के उचित वितरण के लिए होना चाहिए। प्राथमिक और औद्योगिक उत्पादन की कीमतो मे इस प्रकार सम्बन्ध होना चाहिए कि अर्द्धविकसित देश मे प्राथमिक उत्पादन मे लगे श्रमिको को उचित मजदूरी दी जा सके एव इन देशो के आर्थिक विकास की क्रियाओ की वित्तीय व्यवस्था की जा सके ताकि विकसित और अर्द्धविकसित देशों के जीवन-स्तर मे विषमता को कम किया जा सके।

प्राथमिक उत्पादन की कीमतों में स्थिरता लाने के उपाय
(STABILISATION MEASURES OF PRIMARY PRODUCTS)

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि कतिपय महत्वपूर्ण कारणों से यह जरूरी है कि प्राथमिक उत्पादन की कीमतो मे स्थिरता लायी जाय। इसके अग्र उपाय प्रभावशील हो सकते है :

(1) व्यापार-चक्रों पर नियन्त्रण—विकसित देशों में होने वाले व्यापार-चक्रीय परिवर्तनों का प्राथमिक उत्पादन की कीमतों पर भारी प्रभाव पड़ता है। अतः यह आवश्यक है कि विकसित देशों में व्यापार चक्रों को नियन्त्रित किया जाय। क्योंकि इससे प्राथमिक उत्पादनों की कीमतों में स्थिरता लाने में सहायता मिलेगी। किन्तु दो कारणों से केवल इस उपाय पर निर्भर नहीं रहा जा सकता। प्रथम तो यह कि तमाम प्रयत्नों के बावजूद विकसित देश व्यापार चक्रों को नियन्त्रित करने में सफल नहीं हो पाते और द्वितीय यह कि प्राथमिक उत्पादनों में अस्थिरता केवल व्यापार चक्रों से ही नहीं आती वरन् अन्य कारणों से भी होती है अतः उन्हें भी नियन्त्रित किया जाना चाहिए।

(2) बहुपक्षीय समझौते[1]—इन समझौतों के अन्तर्गत व्यापार करने वाले देशों के साथ वस्तु की कीमत की ऊपरी और निचली सीमा एवं क्रय तथा विक्रय की जाने वाली मात्रा का समझौता कर लिया जाता है। कीमतों में परिवर्तन के फलस्वरूप आय में होने वाले भीषण उच्चावचनों से जो हानि प्राथमिक उत्पादकों को होती है, उसे बहुपक्षीय समझौतों द्वारा दूर किया जा सकता है। इससे कीमतों में स्वतन्त्र बाजार की कीमतों की तुलना में कम परिवर्तन होता है।

जिन वस्तुओं को विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है (प्रमापीकृत) उनके सम्बन्ध में बहुपक्षीय समझौते अधिक सफल होते हैं और प्राथमिक उत्पादन को कुछ अपेक्षाकृत स्थायी वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। बहुपक्षीय व्यापार में एक सुविधा यह भी रहती है कि स्वतन्त्र बाजार की शक्तियों में कम से कम हस्तक्षेप करना पड़ता है तथा व्यापार का ढाँचा भी अप्रभावित रहता है।

बहुपक्षीय समझौतों के अन्तर्गत अर्द्धविकसित देश अपनी ही अर्थव्यवस्था में स्वयं विनियोग कर सकते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग की आवश्यकता नहीं होती।

बहुपक्षीय समझौतों से सदस्य देशों की आय में कीमत अनित उच्चावचनों को भी रोका जा सकता है। इसका लाभ प्राथमिक वस्तुओं के उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं को मिले, इसके लिए आवश्यक है कि सरकार का विस्तृत नियन्त्रण होना चाहिए। यह नियन्त्रण न केवल निर्यातक देश में होना चाहिए वरन् आयातक देशों में भी होना चाहिए।

कुछ आलोचकों का कहना है कि बहुपक्षीय समझौतों को पूर्ण करने में कभी-कभी प्राथमिक उत्पादक देशों को भारी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। उदाहरण के लिए यदि उत्पादन कम होता है और समझौता उससे अधिक मात्रा में निर्यात करने का है तो मुश्किल होता है। और फिर यदि भारी मात्रा में निर्यात के लिए समझौता नहीं किया जाता तो कीमतों को स्थिर करने में इसका प्रभाव भी नहीं होता। यह भी कहा जाता है कि जिन वस्तुओं के व्यापार का समझौता नहीं किया जाता उनकी कीमतों में काफी उच्चावचन होते हैं।

यदि कीमतें समझौते की निश्चित सीमा से गिरती हैं तो निर्यातक देशों के उत्पादन में कमी हो जाने की सम्भावना हो जाती है। यद्यपि सदस्य देश उत्पादन करते रहते हैं किन्तु अन्य देश इसमें कमी कर देते हैं अतः सदस्य देशों में कीमतों में स्थिरता गैर सदस्य देशों के बल पर होती है। एक बात और है यदि बहुपक्षीय समझौते किसी एक वस्तु के सम्बन्ध में किये जाते हैं तो उनमें अस्थिरता रहती है।

(3) द्विपक्षीय समझौते—प्राथमिक उत्पादन और औद्योगिक उत्पादन की कीमतों में उचित सम्बन्ध स्थापित करने एवं उत्पादन तथा कीमतों में स्थायित्व लाने के उद्देश्य से दो देशों

[1] विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 35 भी देखें।

के बीच, द्विपक्षीय व्यापार समझौते किये जाते हैं। जिन देशों में बड़ी मात्रा में आयात और निर्यात किये जाते हैं, वहीं ये समझौते उचित होते हैं।

द्विपक्षीय समझौते उस दिशा में अधिक सफल होते हैं जब ये निजी संस्थाओं की अपेक्षा दो देशों की सरकार द्वारा किये जाते हैं। इन समझौतों के कारण निर्यातक देश एक निश्चित कीमत पर एक निश्चित बाजार प्राप्त करने के लिए आश्वस्त रह सकता है जो प्राथमिक उत्पादन के विस्तार के लिए आवश्यक है। इसी प्रकार आयातक भी एक निश्चित कीमत पर निश्चित मात्रा को आयात करने के लिए आश्वस्त रह सकता है।

किन्तु बहुपक्षीय समझौतों की तुलना में, द्विपक्षीय समझौतों की कीमतों को स्थिर रखने में अपनी कुछ सीमाएँ हैं। यदि उत्पादन लागत में एकाएक वृद्धि होती है तो निर्यातक देश को भारी हानि होती है। और यदि लागत घट जाती है तो काफी लाभ भी निर्यातकों को होता है। इन समझौतों में आयातक देशों को उस समय भी जोखिम रहता है जब स्वतन्त्र बाजार की कीमतों और समझौतों की कीमतों में अन्तर होता है।

द्विपक्षीय समझौतों में व्यापार की शर्तें विकसित देशों के अधिक अनुकूल होती हैं अतः प्राथमिक उत्पादक देशों के शोषण होने की प्रबल सम्भावना रहती है। द्विपक्षीय समझौते प्रकृति से अस्थिर होते हैं तथा इनका नियन्त्रण भी जटिल होता है एवं समझौते से बाहर के व्यापार में ये अधिक अस्थिरता पैदा करते हैं। इन समझौतों की अवधि भी अल्पकालीन होती है अतः इनका कीमतों को स्थिर करने में दीर्घकालीन प्रभाव नहीं होता।

उक्त दोषों को देखते हुए इसमें सन्देह प्रकट किया जाता है कि ये समझौते, प्राथमिक उत्पादकों की वास्तविक आय में स्थिरता ला सकते हैं। वास्तव में इन समझौतों में कीमतों का निर्धारण देशों की सौदेबाजी करने की शक्ति पर निर्भर रहता है। किन्तु वास्तविक आय में स्थायित्व तभी सम्भव है जब कीमतों का निर्धारण उत्पादन लागत और सामान्य मूल्य स्तर के आधार पर किया जाय।

अतः द्विपक्षीय समझौतों की कीमतों में स्थिरता का महत्वपूर्ण उपाय नहीं माना जा सकता। हाँ, इसे एक पूरक उपाय के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार, "छोटी वस्तुओं के बाजार के स्थायित्व के लिए द्विपक्षीय समझौते सम्भव साधन हो सकते हैं जहाँ अन्य उपाय सफल नहीं हो पाते अथवा जहाँ कुछ विशेष दशाओं के कारण सफलता मिलने की सम्भावना रहती है।"[1]

(4) **अन्तर्राष्ट्रीय अभ्यंश समझौते**—अभ्यंश समझौतों का सम्बन्ध किसी वस्तु के उत्पादन, उपभोग अथवा आयात-निर्यात के नियमन से हो सकता है। इन समझौतों का सम्बन्ध सदस्य देशों में आयातों अथवा निर्यातों के आवंटन से भी हो सकता है। अभ्यंश समझौतों का प्रयोग निर्यात करने वाले देशों द्वारा, उत्पादन अथवा वस्तु के निर्यात को सीमित करके गला-काट प्रतियोगिता रोकने और उसके फलस्वरूप कीमतों में होने वाली गिरावट को रोकने के लिए किया गया है। समझौतों के अनुसार सदस्य देशों को उत्पादन और निर्यात करने के लिए एक निश्चित अभ्यंश आवंटित कर दिया जाता है तथा प्रत्येक सदस्य देश अपने उत्पादकों में अभ्यंश को वितरित कर देता है।

यह तर्क दिया जाता है कि अभ्यंश समझौते द्वारा अतिरेक पूर्ति को नियन्त्रित कर कीमतों में स्थिरता लायी जाती है किन्तु इनके विरुद्ध भी आलोचकों ने आपत्ति उठायी है। आलोचकों का

1 United Nations—*Commodity Trade and Economic Development* (Newyork 1953), p. 42.

कहना है कि अभ्यंश समझौतों के द्वारा उत्पत्ति के ससाधनों का पूर्ण प्रयोग नहीं हो पाता। अभ्यंशों के अन्तर्गत उत्पादन को सीमित कर दिया जाता है किन्तु यह उसी समय उचित है जब यह निश्चित हो जाय कि माँग में होने वाली कमी स्थायी प्रवृत्ति की है तथा वस्तुओं के स्टाक का भविष्य में प्रयोग नहीं किया जा सकता। और यदि माँग की कमी स्थायी है तो वस्तु की पूर्ति को सीमित करने के स्थान पर माँग में वृद्धि हेतु प्रयत्न किया जाना चाहिए।

मन्दी के समय कीमतों को बढ़ाने के लिए अभ्यंश समझौते भूतकाल में किये गये हैं किन्तु इनसे कोई विशेष लाभ तो नहीं हुआ उल्टे अभ्यंश की प्रणाली, ऊँची लागत वाले उत्पादकों के संरक्षण का माध्यम बन गयी और कम लागत वाले उत्पादकों के लिए बाधक भी बनी।

आय और कीमतों में स्थिरता की समस्या केवल उसी समय पैदा नहीं होती जब पूर्ति अधिक मात्रा में होती है किन्तु उस समय भी पैदा होती है जब पूर्ति सीमित रहती है लेकिन इस स्थिति में कीमतों में स्थिरता रखने के लिए अभ्यंश प्रणाली उपयोगी सिद्ध नहीं होती।

(5) **अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षित भण्डार (Buffer Stock) समझौते**—सुरक्षित भण्डार प्रणाली में ऐसा सगठन होता है जो *स्वतन्त्र बाजार में वस्तु का क्रय-विक्रय कर एक निश्चित कीमत को बनाये* रखने का प्रयत्न करता है जब स्वतन्त्र बाजार कीमत एक वाञ्छनीय कीमत स्तर से ऊपर उठ जाती है अथवा नीचे गिर जाती है। इसके अन्तर्गत जब वस्तु प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है तो उसका स्टाक कर लिया जाता है एवं जब वस्तु की दुर्लभता होती है तो उसका विक्रय किया जाता है। इस प्रकार वस्तु की नियमित पूर्ति को बनाये रखा जाता है और अल्पकाल में कीमत स्थिर रखी जाती है।

अभ्यंश प्रणाली की तुलना में, सुरक्षित भण्डार की यह श्रेष्ठता है कि यह न तो उत्पादन को सीमित करता है और निर्यातों पर ही प्रतिबन्ध लगाता है अर्थात् स्वतन्त्र व्यापार में हस्तक्षेप नहीं करता। सदस्य देशों की स्वीकृति से इसे सरलता से कार्यान्वित किया जा सकता है।

सट्टे की क्रियाओं से कीमतों की अस्थिरता को बढ़ावा मिलता है और सुरक्षित भण्डार के समझौते इस प्रकार की सट्टे की क्रियाओं को रोकते हैं। यदि सगठन के पास पर्याप्त मात्रा में वस्तु का सुरक्षित भण्डार है तो किसी भी सट्टे की क्रिया को रोका जा सकता है।

एक प्रश्न यह है कि सुरक्षित भण्डार-सगठन को किस कीमत को बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिए तथा किस आधार पर उस कीमत में परिवर्तन करना चाहिए ? सुरक्षित भण्डार का उद्देश्य अल्पकालीन और चक्रीय उच्चावचनों को रोकना है। अतः प्रारम्भिक कीमत दीर्घकालीन प्रवृत्ति पर आधारित होना चाहिए। तथा इसके निर्धारण में हर सम्भव सावधानी रखी जानी चाहिए। कीमतों में परिवर्तन आवश्यक होने पर सम्बन्धित देशों की सहमति से किया जा सकता है। जहाँ तक सुरक्षित भण्डार एजेन्सी की वित्तीय व्यवस्था का प्रश्न है, अधिकांश व्यवस्था आयात और निर्यात करने वाले देशों द्वारा की जा सकती है। Measures for International Economic Stability की रिपोर्ट के अनुसार उपर्युक्त स्रोत के अतिरिक्त किसी अन्तर्राष्ट्रीय सस्था द्वारा भी सगठन को वित्तीय व्यवस्था दी जानी चाहिए। इस क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की भूमिका महत्वपूर्ण है। आवश्यक अतिरिक्त कोषों को वित्तीय बाजार से ऋण के रूप में लिया जा सकता है।

किन्तु बफर-स्टाक प्रणाली की अपनी कुछ सीमाएँ भी हैं। यदि उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन के फलस्वरूप कीमतों में उच्चावचन होते हैं, तो सुरक्षित भण्डार प्रणाली से एक ओर कीमतों में स्थिरता तो होगी किन्तु दूसरी ओर उत्पादकों की आय और निर्यातक देश की विदेशी विनिमय मात्रा पर अस्थिरता सम्बन्धी प्रभाव होगा। यह प्रणाली केवल उन वस्तुओं के सम्बन्ध में सफल हो सकती है जिनका सग्रह किया जा सकता है एवं जिनकी सग्रह की लागत ऊँची नहीं

होती। जिन वस्तुओं की वैकल्पिक वस्तुएँ होती हैं, उनके सम्बन्ध में भी सुरक्षित भण्डार की प्रणाली उपयोगी नहीं है। वस्तुओं की विभिन्नता के कारण भी बफर-स्टाक में कठिनाई होती है।

सुरक्षित भण्डार प्रणाली को मन्दी के समय ही कार्यान्वित किया जा सकता है। क्योंकि यदि सामान्य अथवा तेजी की अवधि में वस्तुओं का स्टाक किया जाता है तो इससे वस्तुओं का अभाव होगा और कीमतों में अस्थिरता आयगी।

(6) एक वस्तु और बहुवस्तु समझौते—चूँकि वस्तुओं में विभिन्नता पायी जाती है, सब वस्तुओं के मूल्य की स्थिरता के लिए एक विधि का प्रयोग नहीं किया जा सकता अतः वस्तु के अनुसार इन विधियों में अन्तर होगा। किन्तु इन भिन्न विधियों में समन्वय होना चाहिए।

आलोचकों का कहना है कि प्राथमिक उत्पादनों के बाजार में एक वस्तु समझौते पूर्ण स्थिरता प्राप्त नहीं कर सकते। फिर भी यदि उन वस्तुओं के सम्बन्ध में समझौता किया जा सकता है जिसमें भारी उच्चावचन होते है तो पर्याप्त स्थिरता प्राप्त की जा सकती है। यह भी कहा जाता है कि यदि कुछ वस्तुओं के सम्बन्ध में स्थिरता प्राप्त की जा सकती है तो इससे अन्य वस्तुओं की कीमतों में भी स्थिरता आयगी।

ऊपरी तौर पर भले ही ऐसा लगे, कि वस्तु समझौते आसानी से किये जा सकते है किन्तु वास्तविकता यह है बहु-वस्तु (Multi Commodity) समझौतों के लिए देश अधिक तत्पर रहते हैं। ऐसे सुरक्षित भण्डार संगठन जो अधिक वस्तुओं से सम्बन्धित है, को कम वित्तीय साधनों की आवश्यकता होती है अपेक्षाकृत उनके जो अलग अलग एक वस्तु से सम्बन्धित हैं।

जिस वस्तु के कई विकल्प होते हैं, उनके सम्बन्ध में एक वस्तु समझौते प्रभावपूर्ण नहीं होते।

बहु-वस्तु समझौतों की भी अपनी सीमाएँ होती है। यदि ये असफल होते हैं तो सम्बन्धित देशों को इससे भारी आघात लगता है।

(7) वस्तु-रिजर्व मुद्रा प्रणाली (Commodity Reserve Currency Schemes)—इस प्रणाली का मुख्य उद्देश्य एक वस्तु इकाई की कीमतों में स्थिरता लाना है। इस वस्तु इकाई में निश्चित संख्या में महत्वपूर्ण प्रामाणिक और संग्रह करने योग्य वस्तुओं का समावेश होता है। कीमतों में स्थिरता, वस्तु को असीमित मात्रा में क्रय और विक्रय करके किया जाता है जब उनकी कीमतों में वाछनीय स्तर से ऊपर अथवा नीचे की दिशा में परिवर्तन होता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत समग्र रूप में वस्तु इकाई के मूल्य में स्थिरता लाने का प्रयत्न किया जाता है तथा इकाई की अन्य वस्तुओं के सापेक्षिक मूल्यों में परिवर्तन होता रहता है।

उपर्युक्त प्रणाली का प्रस्ताव 1930 में अलग-अलग तीन अर्थशास्त्रियों द्वारा किया गया था—जे. गोर्डरियान (J. Gourdriaan), बेंजामिन ग्राहम (Banjamin Graham) एवं फ्रैंक डी. ग्राहम (Frank D. Graham)। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की स्थापना के बाद उक्त प्रणाली के पूरक के रूप में वस्तु रिजर्व-मुद्रा प्रणाली को प्रारम्भ किया गया। बेंजामिन ग्राहम ने यह सुझाव दिया है कि एक अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु निगम की स्थापना की जाय जो वस्तु रिजर्व योजना के माध्यम से प्राथमिक उत्पादनों की कीमतों में स्थिरता लाने का कार्य मुद्रा कोष के पूरक के रूप में करे।

(8) क्षतिपूर्ति योजनाएँ—प्राथमिक उत्पादनों की कीमतों में स्थिरता लाने का एक उपाय यह है कि जब प्राथमिक उत्पादन बाजार में अल्पकालीन अथवा चक्रीय उच्चावचन हों तो क्षतिपूर्ति के रूप में क्रय शक्ति का अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह होना चाहिए। इसकी दो विधियाँ है—एक तो चक्र विरोधी ऋण प्रदान करना और द्वितीय स्वयं क्षतिपूर्ति योजना (Automatic Compensatory Schemes)। प्रथम के अन्तर्गत जब प्राथमिक उत्पादन देशों की कीमतों में मन्दी के समय

गिरावट होती है तो इन्हें ऋण प्रदान किये जायें ताकि मन्दी का सामना किया जा सके और जब कीमतें समृद्धि के समय बढ़ें तो इन ऋणों की अदायगी कर दी जाय।

स्वयं क्षतिपूर्ति योजना के अन्तर्गत देशों के बीच एक निश्चित समझौते के अनुसार अपने आप एवं बिना शर्त के मुद्रा का हस्तान्तरण किया जाता है जैसे अल्पकालीन और चक्रीय परिवर्तनों को दूर करने के लिए क्षतिपूर्ति भुगतान किया जा सकता है।

इस प्रकार उपर्युक्त उपायों से प्राथमिक उत्पादनों की कीमतों में स्थिरता लायी जा सकती है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. प्राथमिक उत्पादन की कीमतों में स्थिरता लाना क्यों आवश्यक है। पूर्ण रूप से समझाइए?
2. प्राथमिक उत्पादन की कीमतों में अस्थिरता होने के प्रमुख कारणों की विवेचना कीजिए?
3. उन उपायों की तुलनात्मक विवेचना कीजिए जिनसे प्राथमिक उत्पादन की कीमतों में स्थिरता लायी जा सके?

Selected Readings

1. K. R. Gupta ; *International Economics.*

अध्याय **37**

व्यापारिक सन्धियाँ—परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार अथवा वाक्य

[COMMERCIAL TREATIES—MOST FAVOURED NATION CLAUSE]

परिचय

व्यापारिक सन्धियों के अन्तर्गत व्यापक विषयों का समावेश हो सकता है। जैसे-वाणिज्यिक दूतों से सम्बन्धित विषय (Consular Matters), विदेशियों के अधिकार सम्बन्धी विषय, परिवहन सम्बन्धी विषय तथा प्रशुल्क एवं व्यापार सम्बन्धी विषय। जैसे-जैसे विकास होता जा रहा है, वैसे ही वैसे राज्यों के बीच आर्थिक सम्बन्ध भी जटिल होते जा रहे हैं तथा विशेष समझौतों के द्वारा इन आर्थिक सम्बन्धों का नियमन करना आवश्यक हो गया है। विशेष रूप से प्रशुल्क सम्बन्धी विषयों पर इस प्रकार के समझौते काफी प्रचलित और लोकप्रिय हो गये हैं।

जहाँ तक व्यापारिक सन्धियों के रूप का प्रश्न है इन्हें मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है—द्विपक्षीय सन्धियाँ (Bilateral Treaties) एवं बहुपक्षीय सन्धियाँ (Multilateral Treaties)। द्विपक्षीय सन्धियाँ दो राष्ट्रों के बीच होती हैं तथा बहुपक्षीय सन्धियाँ दो से अधिक राष्ट्रों के बीच होती हैं। किन्तु द्विपक्षीय सन्धियों के स्वरूप का निर्धारण भी सामूहिक विचार-विमर्श के बाद होता है। संकुचित अर्थ में व्यापारिक सन्धियों को दो प्रकार से विभाजित किया जा सकता है, विशुद्ध परमानुग्रहित राष्ट्र सन्धियाँ एवं प्रशुल्क सन्धियाँ। यह विभाजन आयात करों के लगाने एवं उनकी सीमाओं से सम्बन्धित है। इस अध्याय में हम इन दोनों का विस्तृत विवेचन करेंगे।

परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार
(MOST FAVOURED NATION CLAUSE)

अर्थ (Meaning)

प्रो. हेबरलर के अनुसार, "परमानुग्रहित राष्ट्र सन्धि अथवा व्यवहार के अन्तर्गत एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से आने वाले माल पर उस आयात कर से ऊँचा आयात दर नहीं लगाता जितना कि वह किसी तीसरे राष्ट्र के माल पर लगाता है।" इस प्रकार आयात करों में जो रियायत एक राष्ट्र तीसरे देश को देता है, वह रियायत उस राष्ट्र को इस दूसरे राष्ट्र को भी देना चाहिए जिसके साथ इस प्रकार की सन्धि की जाती है।

इस सन्धि के शब्दों से ऐसा ज्ञात होता है कि इसके अन्तर्गत कुछ विशेष प्रकार की रियायतें दी जाती हैं किन्तु ऐसी बात नहीं है। यह सन्धि केवल समान व्यवहार पर जोर देती है और भेद-भाव नहीं करती। शायद यही कारण है कि प्रो. कालबर्टसन (Culbertson) ने कहा है कि परमानुग्रहित व्यवहार के स्थान पर सन्धि को समान राष्ट्र-व्यवहार सन्धि कहा जाना चाहिए।

प्रत्येक राष्ट्र के लिए यह काफी महत्वपूर्ण है कि विश्व बाजार में अन्य राष्ट्रों के व्यापार की तुलना में, उसके व्यापार के साथ कोई हीन व्यवहार न किया जाय। प्रत्येक राष्ट्र यह चाहता है कि जो रियायतें अथवा गारण्टी अन्य राष्ट्रों को दी जाती हैं, वे उसे भी मिलनी चाहिए ताकि विश्व प्रतियोगिता में उसके व्यापार को हानि न हो। इसी विचारधारा ने परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार को जन्म दिया। इसका उद्देश्य किसी राष्ट्र के प्रति प्राथमिकता अथवा किसी भी प्रकार के भेदभाव को रोकना है।

सन् 1930 के बाद बहुपक्षीय व्यापार समाप्त होने के बाद, कई राष्ट्रों ने द्विपक्षीय व्यापार समझौते किये। ये समझौते तीसरे राष्ट्र के प्रति भेदभाव कर उनके आर्थिक हितों को क्षति पहुँचाते हैं जिससे अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों में कटुता आती है और फिर द्विपक्षीय समझौते अल्पकाल के लिए किये जाते हैं जिनमें बाद में अस्थिरता और अनिश्चितता का वातावरण फैलता है। द्विपक्षीय व्यापार समझौतों में मजबूत राष्ट्र द्वारा कमजोर राष्ट्र का शोषण भी किया जाता है। परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार से द्विपक्षीय व्यापार के अप्रिय परिणामों से बचा जा सकता है। इसका कारण यह है कि मजबूत देश यह जानता है कि जिन शर्तों एवं रियायतों पर वह कमजोर राष्ट्र से व्यापार करेगा वही रियायतें अन्य राष्ट्रों को भी दी जायेंगी अतः वह कमजोर राष्ट्र से विशेष रियायतें प्राप्त करने में कोई उत्साह नहीं दिखाता।

परमानुग्रहित राष्ट्र वाक्य से भेदभाव की नीति समाप्त हो जाती है अतः भेदभाव के जो भी दुष्परिणाम होते हैं उनसे बचा जा सकता है। इसमें यह प्रावधान रहता है कि वस्तुओं का आयात उस राष्ट्र से किया जाता है जहाँ उत्पादन लागत न्यूनतम रहती है। द्विपक्षीय व्यापार समझौते के अन्तर्गत उस देश की उत्पादन लागत, जो कुछ रियायतों के फलस्वरूप निर्यात करता है, तुलनात्मक रूप से ऊँची रह सकती है।

परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार के भेद

इसके अन्तर्गत दी जाने वाली रियायतों को तीन खण्डों में निम्न प्रकार से विभाजित किया जा सकता है :

(1) शर्तपूर्ण अथवा शर्त-रहित (Conditional or Unconditional),

(2) सीमित अथवा असीमित (Limited or Unlimited),

(3) द्विपक्षीय अथवा एकपक्षीय (Bilateral or Unilateral)।

(1) **शर्तपूर्ण अथवा शर्तरहित**—शर्तपूर्ण परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार के अन्तर्गत अनुबन्ध करने वाले देशों में से प्रत्येक देश दूसरे देश को वह रियायत देने का वचन देता है अथवा सहमति व्यक्त करता है जो उसने किसी तीसरे राष्ट्र को दी है। किन्तु, इसके साथ यह शर्त रहती है कि दूसरा राष्ट्र भी अनुबन्ध करने वाले राष्ट्र को वही रियायतें देगा जो वह तीसरे राष्ट्र से प्राप्त करता है।

शर्तरहित परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार के अन्तर्गत यदि अनुबन्ध करने वाले देश ने किसी तीसरे देश को कोई विशेष रियायत प्रदान की है तो वह रियायत अनुबन्धित किये जाने वाले दूसरे राष्ट्र को भी तत्काल, अपने आप बिना किसी क्षतिपूर्ति के प्राप्त हो जाती है। शर्तरहित व्यवहार को यूरोपियन अर्थ में लिया जाता है क्योंकि उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में यूरोप के देशों ने इसे अपनाया जबकि अमरीका ने शर्त पूर्ण व्यवहार अपनाया।

(2) **सीमित एवं असीमित परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार**—सीमित परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार के अन्तर्गत समझौता विशिष्ट मामलों, देशों एवं वस्तुओं से सम्बन्धित होता है जबकि असीमित व्यवहार के अन्तर्गत समझौते का सम्बन्ध वस्तुओं एवं देशों से होता है।

(3) द्विपक्षीय (पारस्परिक) एवं एकपक्षीय (गैर-पारस्परिक) परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार —समझौता उस समय द्विपक्षीय होता है जब अनुबन्ध करने वाले दोनों राष्ट्र एक दूसरे को वह रियायत देने को तैयार रहते है जो वे तीसरे राष्ट्र को देते हैं।

समझौता उस समय एकपक्षीय होता है जब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को वह रियायत देने को तैयार रहता है जो वह तीसरे राष्ट्र को देता है पर दूसरा राष्ट्र अनुबन्ध करने वाले राष्ट्र को उक्त प्रकार की रियायतें देने का वचन नहीं देता। इस प्रकार के समझौते मजबूत और कमजोर राष्ट्र अथवा विजेता और विजित राष्ट्र के बीच किये जाते हैं।

शर्तरहित, असीमित एव द्विपक्षीय परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार व्यापार में भेदभाव समाप्त करने के लिए सर्वोत्तम है। इनमे शर्तपूर्ण एव शर्तरहित व्यवहार अधिक महत्वपूर्ण है जिसका हम विस्तार से अध्ययन करेंगे।

शर्तपूर्ण एवं शर्तरहित परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार

इन दोनो की प्रारम्भिक जानकारी के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि जहाँ तक समानता का प्रश्न है, शर्तपूर्ण व्यवहार अधिक उपयुक्त है क्योंकि इसके अन्तर्गत तीसरे पक्ष को दी जाने वाली रियायत अनुबन्ध करने वाले दूसरे पक्ष को उसी समय दी जाती है जब दूसरा पक्ष भी तीसरे पक्ष के समान रियायतें देने को तत्पर रहता है। यदि देश A दूसरे देश B को उससे समान रियायतें पाने के बदले, उसे उतनी ही रियायतें देता है तो बिना समान रियायतें पाये, किसी अन्य देश C को उतनी ही रियायतें देना अन्यायपूर्ण होगा। यदि सारे देशों के साथ समान व्यवहार किया जाना है तो इसकी प्राप्ति शर्तपूर्ण परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार के माध्यम से की जा सकती है। किन्तु प्रत्येक स्थिति में शर्तरहित व्यवहार उतना अधिक अन्यायपूर्ण नहीं होता। यदि एक देश दूसरे देश को बिना कोई भुगतान लिए कुछ रियायतें देता है तो वह दूसरे देश से भी ऐसी ही रियायतें बिना किसी भुगतान के प्राप्त करता है।

शर्तपूर्ण परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार के दोष

इसके निम्न दोष है :

1. यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भेदपूर्ण व्यवहार को पूर्ण रूप से समाप्त नहीं करता।

2. इसमे सबसे बडी समस्या यह निर्धारित करने की है कि पूर्ण रूप से समान रियायत क्या हो ? यदि प्राप्त होने वाले लाभ को आधार माना जाय तो प्रत्येक समान रियायत से समान लाभ प्राप्त नहीं होते। वास्तव मे इसका निर्धारण आत्मगत (Subjective) प्रश्न है तथा इसका कोई वस्तुगत माप (Objective Measure) नहीं है। सही रूप मे शर्तपूर्ण परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार एक अनुग्रह के सिवाय और कुछ नहीं है जिसके आधार पर एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ अनुबन्ध करता है।

3. इसके प्रशासन एव प्रबन्ध मे भारी समय की बर्बादी होती है क्योंकि रियायतो में परिवर्तन के साथ उनका पुनर्मूल्यांकन करना होता है।

4. इसमे व्यापार मे जटिलता आ जाती है और कुल विश्व व्यापार सीमित हो जाता है।

5 जहाँ तक अधिकार और अनुग्रह प्रदान करने का प्रश्न है, इसमे ऐसी कोई बात नहीं है क्योंकि रियायतों के बदले रियायतों का सौदा किया जाता है।

6. एक देश जो शर्त पूर्ण एव शर्त-रहित दोनो प्रकार के अनुबन्ध करता है, वह उस देश की तुलना में घाटे मे रहता है जो केवल शर्तपूर्ण अनुबन्ध करता है।

शर्तरहित परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार के दोष

इसकी निम्न आलोचना की जाती हैं :

1. प्रशुल्क दीवारो को समाप्त करने मे, शर्त-रहित व्यवहार बाधक सिद्ध होता है। यदि

एक देश परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार के अन्तर्गत समस्त प्रशुल्क रियायतों का लाभ उठा सकता है तो वह अपने प्रशुल्कों में द्विपक्षीय कटौती नहीं करता।

2. आलोचकों का कहना है कि शर्तरहित परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार अवसर की समानता प्रदान नहीं करता।

3. इससे अनिश्चितता और अस्थिरता को प्रोत्साहन मिलता है जिससे प्रशुल्क के प्रभाव में वृद्धि होती है और आर्थिक हानि होती है।

परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार के अपवाद

वास्तविक जगत में, व्यापारिक व्यवहारों में पूर्ण समानता स्थापित करना कठिन है फिर भी इसके लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए। सामान्य रूप से परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार के निम्न अपवाद होते हैं।

(1) पहले अपवाद का सम्बन्ध व्यापार की उस छोटी मात्रा से है जो सीमा से लगे जिलों के द्वारा किया जाता है। ये जिले सीमा के पार लगे हुए देश में या तो बिना आयात कर दिये हुए अथवा कम दर पर प्रशुल्क का भुगतान कर वस्तुएँ ला सकते है और कोई तीसरा देश परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार के आधार पर इस रियायत को पाने का दावा नहीं कर सकता। सामान्य तौर पर उक्त व्यवहार की सन्धियों में, सीमा के व्यापार को शामिल नहीं किया जाता।

(2) दूसरे अपवाद का सम्बन्ध एक पूर्ण सीमा संघ (Custom Union) के भविष्य में निर्माण होने से है। यदि ऐसे संघ का निर्माण हो जाता है तो कोई भी तीसरा देश इस बात का दावा नहीं कर सकता कि उसकी वस्तुओं पर आयात कर समाप्त किये जायें।

(3) परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार के कुछ क्षेत्रीय अपवाद पारंपरिक तौर पर स्वीकृत हैं। बहुत से देश अपनी सन्धियों में उन देशों को विशेष लाभ देने का प्रावधान रखते हैं जिनके साथ उनके घनिष्ठ सम्बन्ध होते हैं जबकि ये लाभ अन्य देशों को नहीं दिये जाते। स्कैंडनेवियन देशों में इस प्रकार का प्रावधान हैं। इसी प्रकार रूस के सीमावर्ती प्रान्तों में भी "बाल्टिक-धारा" (Baltic-Clause) की सन्धि में इसी प्रकार का उल्लेख है।

ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत आने वाले देशों में उक्त अपवाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण रहा है। इसे साम्राज्य अधिमान (Imperial Preference) कहते हैं। इसके अन्तर्गत साम्राज्य देशों को जो रियायतें दी जाती है, उनका दावा अन्य विदेशी राष्ट्र नहीं कर सकते।

परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार के लाभ

इसके निम्नलिखित लाभ हैं

(1) स्वतन्त्र व्यापार करने वाले देशों के लिए परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार प्रणाली सर्वाधिक योग्य है। स्वतन्त्र व्यापार करने वाले देश प्रशुल्क के सम्बन्ध में सन्धियाँ नहीं कर सकते क्योंकि उनके पास क्षतिपूर्ति रियायतें नहीं होती। अधिक से अधिक वे स्वतन्त्र व्यापार-नीति का त्याग करने की धुड़की दे सकते हैं। अत: इन देशों को परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार की सन्धि करना चाहिए ताकि अन्य देश उनके साथ भेदभाव न कर सकें।

(2) बहुत से राष्ट्र इस बात को स्वीकार नहीं करते कि उनकी प्रशुल्क की ऊँचाई का निर्धारण अन्य राष्ट्रों के साथ समझौते के आधार पर होना चाहिए। इन देशों के लिए भी परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार की सन्धि काफी उपयोगी है।

(3) बहुत से राष्ट्रों का यह सिद्धान्त रहता है कि वे न तो कोई रियायत किन्हीं अन्य देशों को देना चाहते है और न ऐसी रियायतें दूसरे देशों से प्राप्त करना चाहते हैं। किन्तु यदि ये देश अन्य देशों के साथ अच्छे सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं और शान्ति बनाये रखना चाहते

हैं तो समान व्यवहार इन देशों में होना चाहिए जिसे परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार से प्राप्त किया जा सकता है। यह ध्यान रहे कि असमानता के कारण राष्ट्रों में संघर्ष और द्वेष की भावना फैलती है।

(4) शर्त-रहित परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार यदि उसका प्रयोग सर्वव्यापक है, का यह लाभ है कि यह देश की समस्त व्यापारिक सन्धियों के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है और समस्त आयातों पर समान आयात कर लगाने की व्यवस्था करता है।

परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार की आलोचना अथवा इस पर विवाद
(CRITICISM OR DISPUTE OVER THE M F N SYSTEM)

हाल के ही वर्षों में परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार के सम्बन्ध में विवाद खड़ा हो गया है तथा आलोचकों ने निम्न आधारों पर इसकी आलोचना की है :

(1) शर्तरहित व्यवहार के विरुद्ध सबसे बड़ी आलोचना यह की जाती है कि ऐसे देशों को रियायतें देना अन्यायपूर्ण है जो बदले में ऐसी ही रियायतें प्रदान नहीं करते। इस तर्क का उदय उस अव्यावहारिक संरक्षण की नीति से हुआ है कि एक देश द्वारा प्रशुल्क में की जाने वाली एकपक्षीय कटौती एक त्याग है। इस तर्क की जाँच करने के लिए हमें निम्न दो बातों पर विचार करना होगा :

(a) शर्तरहित व्यवहार के अन्तर्गत, किसी तीसरे देश के प्रति भेदभाव की नीति अथवा सम्भावना समाप्त हो जाती है किन्तु यह अनुभव नहीं किया जाता कि यह अपने आप में एक रियायत है।

(b) एक देश द्वारा, तीसरे देश को जो रियायत दी जाती है उसे बिना किसी क्षतिपूर्ति के अनुबन्ध किये जाने वाले दूसरे राष्ट्र को दिया जाना चाहिए जिस प्रकार कि पहले देश को दूसरे देश से वे रियायतें मिलती हैं जो कि दूसरा देश तीसरे देशों को देता है।

यह देखते हुए उपर्युक्त आलोचना अधिक सशक्त नहीं है।

(2) परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार की यह आलोचना भी की जाती है कि इससे रियायती प्रशुल्कों (Preferential Tariffs) अथवा आर्थिक संघों के निर्माण में बाधा उपस्थित होती है जिनसे प्रशुल्कों में आंशिक कमी की जा सकती थी। बहुधा यह होता है कि एक देश, दूसरे देश को प्रशुल्क में कटौती करने को तैयार रहता है किन्तु शर्त यह रहती है—अन्य देश इसमें शामिल नहीं होंगे। यह तर्क दिया जाता है कि घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित देशों को एक दूसरे को रियायती-प्रशुल्क देने का अधिकार होना चाहिए एवं अन्य देशों को परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार की हैसियत से यह अधिकार नहीं मिलना चाहिए।

(3) इस बात पर भी सन्देह प्रकट किया जाता है कि परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार के माध्यम से एक देश सारी आवश्यक रियायतें प्राप्त कर सकता है। कुछ ऐसी रियायतें हो सकती हैं जो एक देश के लिए, अन्य देशों की तुलना में महत्वपूर्ण हो सकती हैं किन्तु इन्हें पाने के लिए उसे भी विनिमय में रियायतें देनी होंगी अर्थात् एक देश रियायतें पाने के लिए, दूसरे देश पर निर्भर हो जाता है।

(4) जो देश परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार से अप्रत्यक्ष रूप से रियायतें पाता है, वह प्रतिकूल स्थिति में रहता है क्योंकि उसे ऐसी रियायतें निरन्तर रूप से पाने का आश्वासन नहीं मिलता। यदि अनुबन्ध करने वाले देश इसे समाप्त कर देते हैं तो अपने आप अन्य देशों की रियायतें समाप्त हो जाती हैं।

निष्कर्ष—क्या भविष्य में परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की नीति का प्रमुख आधार रहेगा, इसका निर्धारण बड़ी आर्थिक शक्तियों द्वारा होगा न कि छोटे राज्यों द्वारा।

छोटे देशो के लिए तो यह महत्वपूर्ण है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे समान अधिकारों एवं व्यवहारों का प्रयोग हो। यदि व्यापार मे पारस्परिक आदान-प्रदान ही मुख्य सिद्धान्त बना रहता है तो निश्चित ही छोटे देशो को इससे हानि होगी जिनके पास बदले मे देने के लिए कुछ नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में इस बात का आश्वासन दिया गया है कि असीमित और शर्तरहित परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नीति का आधार बना रहेगा।

प्रशुल्क सन्धियाँ
(TARIFF TREATIES)

बहुत से देशो मे परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार के अन्तर्गत पारस्परिक रियायतें प्रदान करना तो एक साधारण बात हो गयी है, किन्तु साथ ही विशेष आयात करो की सीमा के सम्बन्ध मे भी देशो के बीच विनिमय होता है। इसका प्रावधान यह हो सकता है कि अनुबन्ध करने वाले देश यह समझौता करें कि वे वर्तमान प्रशुल्क की दरें नहीं बढ़ायेंगे अथवा विशिष्ट प्रशुल्क की दरें कम कर देंगे। प्रशुल्क मे कटौती या तो सामान्य (General) हो सकती है अथवा विशेष (Particular)। सामान्य के अन्तर्गत समस्त प्रशुल्को मे एक निश्चित प्रतिशत से एक या अनेक बार कमी की जाती है जबकि विशेष के अन्तर्गत अनुबन्धित प्रशुल्को को विविध प्रतिशत मे कम किया जाता है।

पिछले वर्षों मे जो संरक्षण की नीति का विकास हुआ है उसका परिणाम यह हुआ है कि देशो ने प्रशुल्को मे सामान्य कटौती करना बन्द कर दिया है तथा कुछ विशेष प्रशुल्को मे ही कटौती की जाती है। वर्तमान मे सौदेबाजी के उद्देश्य से प्रशुल्क लगाये जाते हैं तथा इसके पहले ही उनकी दरो मे वृद्धि कर दी जाती है। रियायतो के बदले मे भी इनमे कमी नहीं की जाती अर्थात् सौदेबाजी के फलस्वरूप भी प्रशुल्को मे कोई उल्लेखनीय कमी नहीं हुई है। बल्कि इसका उद्देश्य बहुधा यह रहा है कि अन्य देश भी प्रशुल्क मे वृद्धि कर लें। अब स्थिति यह है कि देश A, देश B से यह नहीं कहता कि यदि आप हमारे निर्यातों के लिए अमुक रियायतें (आयात करो मे) देंगे तो उसके बदले मे हम भी अमुक रियायतें आपको देंगे वरन् यह कहता है कि यदि आप मुझे अमुक प्रशुल्क मे वृद्धि करने की अनुमति देंगे (यद्यपि यह समझौते के प्रतिकूल है) तो मैं भी आपके द्वारा प्रशुल्क मे की जाने वाली वृद्धि का विरोध नहीं करूँगा।''

पहले जितनी लम्बी अवधि के लिए प्रशुल्क सन्धियो का समझौता होता था, अब उसमे कमी हो गयी है। जर्मनी द्वारा 1890 मे जो केप्रिवी सन्धि (Caprivi treaty) की गयी थी एव 1904 मे बुलो-सन्धि (Bulow treaty) की गयी थी उसमे 10-12 वर्ष तक के लिए प्रशुल्क समझौते किये गये थे किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इन सन्धियो की अवधि घटकर एक दो वर्ष रह गयी है। इस अनिश्चितता से प्रशुल्क के संरक्षण सम्बन्धी प्रभावो मे भी काफी अस्थिरता आ गयी है।

रियायती आयात कर
(PREFERENTIAL DUTIES)

युद्धोपरान्त काल मे यह विचार महत्वपूर्ण हो गया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नीति का वांछनीय उद्देश्य क्या होना चाहिए तथा इस उद्देश्य की प्राप्ति किस प्रकार की जानी चाहिए? प्रशुल्क मे सामान्य कमी करना वांछनीय नहीं था। या तो लोग स्वतन्त्र व्यापार की नीति को अच्छी तरह समझ नहीं पाये थे अथवा उसमे विश्वास नहीं करते थे। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन पर लोगों का विश्वास कम हो गया था एवं व्यापारिक समस्याओं के हल के लिए आर्थिक संघों एवं विस्तृत आर्थिक क्षेत्रों को प्राथमिकता दी जाती थी एवं इनके निर्माण के लिए विविध तर्क दिये जाते थे। इन संघों एवं क्षेत्रों मे रियायती करो को महत्व दिया जाता था।

रियायती करों का आर्थिक मूल्यांकन (Economic Appraisal of Preferential Duties)

रियायती करो के मूल्यांकन में सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न है कि प्रशुल्क में सामान्य कटौती की तुलना में रियायती कर किन अर्थों में श्रेष्ठ हैं ? यहाँ हम केवल आर्थिक दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करेंगे।

रियायती करो से उसी समय लाभ होता है जब इसके फलस्वरूप प्रशुल्क की दरों में कमी हो जिसे अन्य साधन के माध्यम से प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस प्रशुल्क की कटौती का मूल्यांकन उसी रूप में किया जा सकता है जिस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन के विस्तार से करो में सामान्य कटौती होती है। सामान्य स्वतन्त्र व्यापार सिद्धान्त के आधार पर ही रियायती करो को न्यायोचित कहा जा सकता है। जहाँ तक प्रशुल्क में सामान्य कटौती और कुछ देशो के आयात पर सीधी रियायती दरों के प्रयोग की तुलना का प्रश्न है इन दोनो में प्रकार का अन्तर न होकर केवल "अंश" (degree) का अन्तर है। प्रशुल्क में कुछ भी कटौती न करने की तुलना में, आंशिक कटौती करना अच्छा है। इसके विपरीत प्रशुल्क में समान वृद्धि की तुलना में अपवादस्वरूप कुछ रियायतें देते हुए प्रशुल्क बढ़ाना अच्छा है। किन्तु उस समय रियायती कर उचित नहीं है जब वे विदेशो के विरुद्ध करो को बढ़ाने के लिए एक बहाना प्रदान करते हैं एवं पारस्परिक रियायतें पाने वाले देशो में व्यापार की बाधाओं को समाप्त नहीं करते।

आर्थिक दृष्टिकोण से रियायती करो को स्वतन्त्र व्यापार के तर्कों के माध्यम से ही न्यायोचित ठहराया जा सकता है जबकि रियायती करो के समर्थक स्वतन्त्र व्यापार का विरोध करते है। नीचे हम इसका परीक्षण करेंगे :

(1) प्रो. वाइनर ने इस बात पर आपत्ति उठायी कि सभी परिस्थितियों में प्रशुल्क में कुछ भी कटौती न करने की तुलना में रियायती कटौती अच्छी है। इसका कारण यह है कि रियायती कटौती से देशो में भेदभाव किया जा सकता है अथवा विद्यमान भेद-भाव को समाप्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त रियायती करो के विरुद्ध यह प्रमुख आलोचना की जाती है कि प्रशुल्क में भेद-भाव के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विवेकपूर्ण एवं उचित ढंग से नहीं किया जा सकता। यदि हम सम्पूर्ण विश्व की एक अर्थव्यवस्था की दृष्टि से देखें तो उक्त तर्क सही प्रतीत होता है। किन्तु राष्ट्रीय दृष्टिकोण से इसमें भिन्नता हो सकती है।

(2) प्रो. टाजिग (Prof. Taussing) ने भी रियायती करो की आलोचना की है उनकी व्याख्या इस प्रकार है—जब A देश, B देश को करो में रियायत देता है और B इस स्थिति में नहीं है कि देश A की समस्त आयातो की आवश्यकता की पूर्ति कर सके तो इस स्थिति में A द्वारा करों में कटौती मात्र एक आर्थिक सहायता है जो B को दी जाती है। यदि A अपने आयातो के पूरक के रूप में विश्व के अन्य देशो से बुलाता है तो A में घरेलू कीमत में परिवर्तन नहीं होगा। B को रियायत देने के बाद भी A विश्व कीमत स्तर (जिसमें मूल आयात करो को शामिल कर लिया जाता है) पर रहता है तथा A में उपभोक्ताओं को कोई लाभ प्राप्त नहीं होगा जबकि B देश के उत्पादकों को करो में रियायत के कारण लाभ होगा।

इस प्रकार के रियायती कर जिसमें घरेलू मूल्य अपरिवर्तित रहता है न तो रियायत देने वाले देश के व्यापार की मात्रा को बढ़ाते हैं और न ही इनसे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन में वृद्धि होती है। कुल आयातो में भी बिलकुल वृद्धि नहीं होती। इस प्रकार के रियायती कर व्यापार नीति के निर्धारण के लिए अर्थहीन होते हैं तथा इन्हें प्रशुल्क में सामान्य कमी के समकक्ष नहीं रखा जा सकता। यह उस समय और भी लागू होता है जब रियायती कटौती कम मात्रा में की जाती है। आजकल रियायती कर केवल इसलिए लोकप्रिय हैं क्योंकि ये व्यापार नीति के उदार विचार के मार्ग में झूठी रियायतें देने के साधन बन गये हैं।

(3) प्रो. हैबरलर का विचार है कि करों में कम मात्रा में सामान्य कटौती से व्यापार की मात्रा एवं अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन पर उन्हीं प्रभावों को प्राप्त किया जा सकता है जिन्हें रियायती दरों से प्राप्त किया जाता है। सदैव यह तर्क दिया जाता है कि जिन दो देशों के बीच घनिष्ठ आर्थिक, भौगोलिक एवं राजनीतिक सम्बन्ध होते हैं उन्हें रियायती करों का प्रयोग करना अधिक लाभप्रद होता है। किन्तु प्रो. वाइनर का कहना है कि न केवल उपर्युक्त लाभ वरन् अतिरिक्त आर्थिक लाभ, प्रशुल्क में सामान्य कटौती से प्राप्त किये जा सकते हैं।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार से आप क्या समझते हैं? इसके गुण-दोषों की विवेचना कीजिए?
2. प्रशुल्क में सामान्य कटौती और रियायती करों से आप क्या समझते हैं? इन दोनों का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।

Selected Readings

1. Haberler *The Theory of International Trade.*
2. K. R. Gupta *International Economics.*

अध्याय 33

साम्राज्य अधिमान
[IMPERIAL PREFERENCE]

परिचय

साम्राज्य अधिमान—आर्थिक और राजनीतिक नीति का एक मिला-जुला रूप है जिसका मोटे-तौर पर अर्थ होता है साम्राज्य को अधिमान या प्राथमिकता देना और सामान्य रूप में यह अधिमान व्यापारिक क्षेत्र में दिया जाता है। एक साम्राज्य के अन्तर्गत कई देश हो सकते हैं और साम्राज्य अधिमान में इन्हीं सदस्यों अथवा सदस्य देशों को व्यापारिक रियायतें दी जाती हैं। किन्तु आजकल साम्राज्य समाप्त हो रहे हैं अतः इसका अधिक व्यापारिक महत्त्व नहीं रह गया है।

साम्राज्य अधिमान का अर्थ (Meaning of Imperial Preference)

सामान्य रूप से साम्राज्य अधिमान का अर्थ है "साम्राज्य के सदस्य राष्ट्रों का व्यापार बढ़ाने के लिए विभिन्न सदस्य देशों के बीच प्रशुल्क की मात्रा को यथासम्भव कम करना।" यह ऐसे अधिमान का सूचक है जो एक उपनिवेश या अधीन राज्य द्वारा साम्राज्य या मातृ-देश के प्रति विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में दिया जाता है। यह जरूरी नहीं है कि मातृ-देश भी बदले में इसे अधिमान दे। यह प्राथमिकता आयात अथवा निर्यात अथवा इन दोनों के सम्बन्ध में दी जा सकती है। साम्राज्य अधिमान योजना में उपनिवेश का यह दायित्व हो जाता है कि वह साम्राज्य के बाहर के अन्य किसी देश से कम मूल्य पर माल आयात करने की अपेक्षा मातृ-देश से अधिक मूल्य पर माल का आयात करेगा अथवा अपने निर्यातों के लिए वह मातृ-देश से आंशिक रूप से कम मूल्य लेगा।

मोटे तौर अथवा विस्तृत रूप में यह अधिमान केवल मातृ-देश के प्रति ही लागू न होकर, अन्य सदस्य देशों के प्रति भी लागू होता है। ब्रिटेन के सन्दर्भ में एक साम्राज्य अधिमान, को परिभाषित करते हुए श्री कल्बर्टसन कहते हैं कि "साम्राज्य अधिमान से आशय ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न सदस्य देशों के बीच प्रशुल्क बाधाओं को हटाकर या कम करके साम्राज्य के व्यापार को बढ़ाने से है।"

जोसेफ चेम्बरलिन (Joseph Chamberlin) ने सर्वप्रथम इस नीति को प्रस्तावित किया। उनके अनुसार, "साम्राज्य देशों के मध्य व्यापारिक संघ की स्थापना न केवल प्रथम कदम है वरन् एक मुख्य एवं निर्णायक कदम है जो ऐसे विचार को पूर्ण करने में सहायक होगा जो आज तक किसी भी ब्रिटिश राजनीतिज्ञ के मस्तिष्क में नहीं आया।"

थामस (Thomas) के अनुसार, "साम्राज्य अधिमान के सिद्धान्त के अन्तर्गत विदेशी राष्ट्रों के विरुद्ध अधिमान प्राप्त देश की वस्तुओं पर रियायती आयात कर प्रदान करने की मान्यता निहित है तथा इस नीति का समर्थन साम्राज्य एकता स्थापित करने एवं साम्राज्य को आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से संगठित करने हेतु किया जाता है।"

साम्राज्य अधिमान के विभिन्न रूप

प्रो. चेम्बरलिन ने साम्राज्य अधिमान के दो रूपों की व्याख्या की है :

(A) विश्व के अन्य देशों के लिए प्रशुल्क की जो दर निर्धारित की जाय साम्राज्य के देशों के लिए उससे नीची दर निर्धारित की जाय, एवं

(B) साम्राज्य के देशों के लिए प्रशुल्क की जो दर निर्धारित की जाय, अन्य देशों के लिए उससे अधिक दरों पर प्रशुल्क लिया जाय।

साम्राज्य अधिमान का एक रूप यह भी हो सकता है कि मातृ देश की कुछ वस्तुओं के लिए गृह बाजार को सुरक्षित रखा जाय।

कभी-कभी सदस्य देश मातृदेश को ड्रा बैक (Draw back) की सुविधा भी देता है जिसके अन्तर्गत उसके माल के आयात पर लिया गया प्रशुल्क वापस कर दिया जाता है।

साम्राज्य अधिमान की तीन अनिवार्य शर्तें

साम्राज्य अधिमान प्रणाली उसी समय सफल हो सकती है जब निम्न तीन शर्तें पूरी हों :

(1) साम्राज्य देश (Imperial Country) और उसके अधीन देशों (Subjects) के बीच व्यापार की सम्भावना विद्यमान होना चाहिए।

(2) अधीन देश अर्थात् उपनिवेश, साम्राज्य देश के अधिमान सम्बन्धी दावों को स्वीकार करने के लिए तत्पर हो, एवं

(3) अधीन देश, व्यापार सम्बन्धी अधिमानों को अन्य देशों को प्रदान नहीं कर सकते और यदि प्रदान करना ही चाहें तो ऐसा केवल साम्राज्य देश की अनुमति से ही किया जा सकता है।

साम्राज्य अधिमान नीति का विकास

साम्राज्य अधिमान नीति का विकास सत्रहवीं सदी के अन्त में हुआ जब ब्रिटेन की संसद ने साम्राज्य के अन्तर्गत आने वाले देशों के लिए व्यापार सम्बन्धी कानून बनाये। पहले तो इन कानूनों को अनिवार्य रूप से लागू किया गया। किन्तु बाद में इसे ऐच्छिक बना दिया गया। साम्राज्य अधिमान अपनाने की नीति सर्वप्रथम ब्रिटेन साम्राज्य के देशों ने व्यक्त की एवं सन् 1897 में कनाडा ने ब्रिटेन के माल पर 12 प्रतिशत आयात कर की कटौती की। 1902 में औपनिवेशिक सम्मेलन में यह निश्चय किया गया कि अधिमान नीति का अनुसरण सब उपनिवेश देशों द्वारा किया जाय। न्यूजीलैण्ड ने 1903 में एवं दक्षिण अफ्रीका ने 1907 में इस नीति का पालन किया। ब्रिटेन ने उस समय इसे स्वीकार नहीं किया क्योंकि उसके लिए स्वतन्त्र व्यापार की नीति उपयुक्त थी।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद विश्व की परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ एवं ब्रिटेन ने भी अपनी नीति में परिवर्तन किया तथा अपने अधीन देशों को व्यापारिक रियायतें देने के सम्बन्ध में कदम उठाया जिससे एक नयी व्यापारिक नीति का प्रारम्भ हुआ।

साम्राज्य अधिमान योजना के दोष

साम्राज्य अधिमान योजना के निम्न दोष हैं

(1) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त के विरुद्ध**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में पूर्ण विश्व एक देश के लिए बाजार होता है। एक देश वहीं से माल खरीदता है जहाँ वह सबसे सस्ता मिलता है तथा वहीं बेचता है जहाँ उसे अधिक लाभ मिलता है किन्तु साम्राज्य अधिमान में इस सिद्धान्त का उल्लंघन होता है क्योंकि इस नीति में एक देश को चाहे जहाँ से खरीदने एवं चाहे जहाँ बेचने की स्वतन्त्रता नहीं होती।

(2) **प्रतिशोध को प्रोत्साहन**—साम्राज्य अधिमान के फलस्वरूप राजनीतिक कारणों से कुछ

देश एक गुट में शामिल हो जाते हैं तथा उनका व्यापार भी उसी गुट तक सीमित रहता है। किन्तु इससे प्रतिशोध की कार्यवाहियों को प्रोत्साहन मिलता है तथा व्यापार में दलबन्दी की भावना पनपती है।

(3) विश्व व्यापार की मात्रा में कमी—साम्राज्य अधिमान योजना में अधीन देश, कुशलता और सन्तुलित आधार पर अपनी अर्थव्यवस्था का विकास नहीं कर पाते। इसका मूल कारण यह है कि इन देशों के आर्थिक हितों का साम्राज्य देशों के हितों के लिए बलिदान कर दिया जाता है। न तो इन देशों में सही रूप से औद्योगीकरण हो पाता है और न ही बाजारों का विकास हो पाता है अतः विश्व व्यापार में संकुचन होता है।

(4) आय की असमानता—साम्राज्य देश और उसके अधीन देशों में भयंकर आय की असमानता पायी जाती है। जहाँ साम्राज्य देश प्रचुरता और सम्पन्नता के बीच जीवन बिताते हैं, अधीन देश गरीबी और अभाव की जिन्दगी जीते हैं।

साम्राज्य अधिमान एवं साम्राज्य के देशों के बीच व्यापार

साम्राज्य अधिमान की विशेषता होती है कि इसके अन्तर्गत सामान्य व्यापार से हटकर, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को एक नयी दिशा मिलती है तथा दोनों में भेद होता है अर्थात् सामान्य रूप में बिना अधिमान के जो व्यापार होता उससे अधिमान व्यापार बिल्कुल भिन्न होता है।

साम्राज्य अधिमान के अन्तर्गत साम्राज्य देश के लिए यह आवश्यक नहीं है कि अधीन देशों को भी वैसी ही रियायत दे जैसी कि उनसे प्राप्त कर रहा है। किन्तु साम्राज्य देश कुछ विशेष दायित्वों को अपने ऊपर ले लेता है जैसे संकट या युद्ध की स्थिति में अधीन देशों की रक्षा करना। इसके बीच होने वाले व्यापार के फलस्वरूप अधीन देशों की अर्थव्यवस्थाएँ साम्राज्य देश से सम्बन्धित होकर एक प्रकार से उसका अंग ही बन जाती हैं तथा साम्राज्य देश की व्यापारिक आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु अधीन देशों का शोषण किया जाता है। भारत और ब्रिटेन के उदाहरण से यह स्पष्ट है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि साम्राज्य अधिमान के फलस्वरूप, साम्राज्य देश अधीन देशों को कच्चे माल की पूर्ति का एक साधन मात्र बनाये रहे जिससे इन देशों की अर्थव्यवस्था तो कृषि-प्रधान ही रही जबकि साम्राज्य देश विकसित और औद्योगिक देश बन गये। अधीन देशों ने, साम्राज्य देश के लिए बाजार का काम किया जिससे आर्थिक रूप से इनका भयंकर शोषण हुआ।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. साम्राज्य अधिमान को समझाइए ? एक साम्राज्य के अन्तर्गत होने वाला व्यापार मुक्त विश्व-व्यापार की तुलना में किस प्रकार भिन्न है, उसकी प्रकृति को समझाइए ?
2. साम्राज्य अधिमान नीति के कौन से विभिन्न रूप हो सकते हैं, स्पष्ट कीजिए तथा इस नीति के दोषों को समझाइए।
3. "साम्राज्य अधिमान से न केवल कुल विश्व व्यापार सीमित हो जाता है बल्कि व्यापार से होने वाले लाभ भी कम हो जाते हैं।" इस कथन को समझाइए ?

अध्याय **34**

राजकीय व्यापार
[STATE TRADING]

परिचय

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का विश्वास था कि सरकार को व्यापार के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए क्योंकि प्रकृति के अनुसार राज्य, व्यापार का प्रबन्ध कुशलता से नहीं कर सकता। यही कारण है कि उन्होंने अहस्तक्षेप की नीति का समर्थन किया। परन्तु अब यह मान्यता गलत सिद्ध हो चुकी है और प्रो. केन्स ने यह सिद्ध कर दिया है कि देश के कल्याण को बढ़ाने के लिए राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक है। इसके फलस्वरूप वर्तमान में राज्य का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में सक्रिय हस्तक्षेप है।

परिभाषा (Definition)

राजकीय व्यापार की परिभाषा संकुचित और विस्तृत अर्थ में की जाती है। संकुचित अर्थ में "राजकीय व्यापार का अर्थ होता है राज्य या उसकी एजेन्सी द्वारा आयात और निर्यात का लेन-देन जिसके अन्तर्गत व्यापारिक पुन. विक्रय के लिए वस्तुओं का क्रय किया जाता है अथवा वस्तुओं के उत्पादन में उनका प्रयोग होता है जिनका व्यापारिक विक्रय होता है।"[1] विस्तृत अर्थ में राजकीय व्यापार में सरकारी प्रयोग के लिए विदेशों से खरीदी का भी समावेश होता है और इनमें से जो अतिरेक बच रहता है, उसका विक्रय कर दिया जाता है। यहाँ हमारा विवेचन संकुचित अर्थ से सम्बन्धित है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सरकार का हस्तक्षेप विनिमय दर की नीति को स्थायी बनाये रखने में सम्बन्धित हो सकता है अथवा इसका सम्बन्ध अन्य देशों से किये जाने वाले लेन-देन पर प्रशुल्क लगाने से हो सकता है। जब सरकार विदेशी व्यापार के समस्त लेन-देनों पर प्रशुल्क की व्यवस्था के उद्देश्य में हस्तक्षेप करती है तो वह क्रय-विक्रय करने की कीमतों का निर्धारण करने एवं भुगतान की व्यवस्था करने इत्यादि सारे कार्यों को करने स्वयं ले लेती है। इस स्थिति में निजी व्यापार के सारे अधिकार सरकार के पास आ जाते हैं, इसे ही राजकीय व्यापार कहते हैं।

राजकीय व्यापार का विकास

राजकीय व्यापार केवल बीसवीं सदी की ही उपज नहीं है। इसके पूर्व भी इतिहास में राजकीय व्यापार का उल्लेख मिलता है। प्रारम्भ में इसके दो उद्देश्य होते थे—प्रथम अपने अल्प वित्तीय साधनों में वृद्धि करने के लिए सरकार विदेशी व्यापार में राजस्व प्राप्त करना चाहती थी एवं द्वितीय विदेशी व्यापार को संचालित करने के लिए निजी साधन अपर्याप्त थे। किन्तु आधुनिक समय में जो राजकीय व्यापार किया जाता है, उसके उद्देश्य सर्वथा भिन्न हैं।

---

1 Govt. of India, Report of the Committee on State Trade 1960, p. 5.

प्रथम विश्व युद्ध के बाद राजकीय व्यापार में काफी विकास हुआ क्योंकि सैनिक और सुरक्षा के उद्देश्यों से व्यापार में सरकारी हस्तक्षेप बढ़ गया। प्रथम विश्व युद्ध के बाद मुख्य रूप से दो कारणों से स्वतन्त्र व्यापार को काफी आघात लगा—प्रथम कारण था सन् 1929 का रूस का वह कानून जिसके अन्तर्गत विदेशी व्यापार को सरकार का एकाधिकार बना दिया गया और दूसरा कारण था 1930 की विश्वव्यापी मन्दी जिसमें बेरोजगारी, कीमतों में कमी और विश्व के भुगतान शेष में भारी असन्तुलन हो गया। अतः व्यापार निजी हाथों से निकलकर सरकार के हाथों में आने लगा।

राजकीय व्यापार के उदय के मुख्य कारण इस प्रकार हैं—

(1) **आर्थिक समाजवाद का अभ्युदय**—समाजवाद की स्थापना से सरकार की भूमिका में काफी वृद्धि हुई तथा राजकीय व्यापार को समाजवाद का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य माना गया। चूंकि समाजवाद में, उत्पादन और वितरण के अधिकार सरकार के हाथ में आ जाते हैं अतः स्वाभाविक है कि व्यापार भी राज्य के हाथों में हो। पूंजीवादी देशों—अमेरिका और ब्रिटेन ने भी पूंजीवाद को नियन्त्रित रखने के लिए राजकीय व्यापार को अपनाया। आजकल अर्द्धविकसित देश भी अपने समाजवादी लक्ष्यों के अनुरूप राजकीय व्यापार का अनुसरण कर रहे हैं।

(2) **आर्थिक नियोजन**—विश्व के प्रायः सब देशों ने अपने आर्थिक विकास के लिए आर्थिक नियोजन का सहारा लिया है जिसके अन्तर्गत पूर्व निर्धारित उद्देश्यों के अनुरूप आयात और निर्यातों का नियमन जरूरी हो जाता है। इसे राजकीय व्यापार द्वारा ही पूर्ण किया जा सकता है।

(3) **विदेशी विनिमय की समस्या**—अर्द्धविकसित देशों के सामने विदेशी विनिमय की समस्या बनी रहती है क्योंकि इनके भुगतान शेष में प्रायः असन्तुलन रहता है अतः यह आवश्यक होता है कि राज्य इसमें हस्तक्षेप करके भुगतान शेष को अनुकूल बनाने का प्रयत्न करे।

(4) **राजनीतिक उद्देश्य**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में हस्तक्षेप करके कुछ अंशों में राजनीतिक उद्देश्य की प्राप्ति की जा सकती है अतः व्यापार की मात्रा, संरचना एवं दिशा को निर्धारित करने के लिए राजकीय व्यापार को प्रोत्साहन मिला।

आज सारे विश्व में राजकीय व्यापार का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। अमरीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और पश्चिमी यूरोप के देशों में कृषि उत्पादन का व्यापार, राजकीय व्यापार के अन्तर्गत है। हाल ही के अध्ययनों में यह परिणाम निकला है कि राजकीय व्यापार में वृद्धि हो रही है। कभी-कभी तो व्यापार के समस्त क्षेत्रों पर सरकार का नियन्त्रण होता है तथा कभी-कभी यह नियन्त्रण कुछ वस्तुओं तक ही सीमित रहता है।

राजकीय व्यापार के उद्देश्य (Objectives of State Trading)

राजकीय व्यापार के निम्न उद्देश्य होते हैं :

(1) **व्यापार की शर्तों में सुधार**—सरकार के हाथ में व्यापार केन्द्रित होने का एक प्रमुख उद्देश्य होता है व्यापार की शर्तों में सुधार करना। यह उद्देश्य विशेष रूप से उन अर्द्ध-विकसित देशों का होता है जिनका निर्यात मुख्य रूप से कृषि पदार्थों का होता है। इनका उत्पादन और विक्रय छोटे-छोटे अनेक स्वतन्त्र उत्पादकों द्वारा किया जाता है जो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वस्तुओं का विक्रय करने के लिए विवश हो जाते हैं। यदि इन वस्तुओं का आयात करने वाले बड़े आयात-कर्ता होते है जो न्यूनतम कीमत पर खरीद करते हैं तो व्यापार की शर्तें अर्द्ध-विकसित देशों के विरुद्ध हो जाती हैं और यदि इन देशों को विकसित देशों से सापेक्षिक रूप से कम संख्या वाली फर्मों से मशीनों का उपभोग वस्तुओं का आयात करना होता है तो स्थिति और भी विषम हो जाती है। ये फर्में एकाधिकारी फर्में हो सकती हैं जो ऊंची कीमतें वसूल करती हैं। ऐसी स्थिति में अर्द्धविकसित देश, राजकीय व्यापार के माध्यम से अपनी सौदेबाजी का प्रयोग

विश्व व्यापार को प्रभावित करने में कर सकते हैं जिससे उनकी व्यापार की शर्तों में सुधार हो सकता है।

अर्द्धविकसित देश राजकीय व्यापार के माध्यम से किस सीमा तक अपनी व्यापार की शर्तों में सुधार कर सकते हैं, यह बाजार की प्रकृति और बाजार में अन्य देशों की भूमिका पर निर्भर रहता है।

(2) **आर्थिक नियोजन के लिए**—जो देश आर्थिक विकास के लिए नियोजन को अपनाते हैं वहाँ आर्थिक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु आयात और निर्यात को नियन्त्रित करना आवश्यक हो जाता है तथा राजकीय व्यापार द्वारा यह सरलता से किया जा सकता है।

(3) **सैन्य शक्ति हेतु**—सैन्य शक्ति एवं सुरक्षा से सम्बन्धित व्यापार में निजी क्षेत्र पर भरोसा नहीं किया जा सकता तथा इसका दायित्व राजकीय व्यापार के हाथ में ही रहता है।

(4) **घरेलू उपभोक्ताओं की सुरक्षा हेतु**—विदेशी क्रेताओं के विरुद्ध घरेलू उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा के लिए भी राजकीय व्यापार अपनाया जाता है। आयातों की कीमतें घटाकर अथवा सस्ते आयातों से और निर्यात की कीमतें बढ़ाकर इसकी पूर्ति की जा सकती है।

(5) **भुगतान शेष को अनुकूल बनाने के लिए**—यदि देश में विदेशी विनिमय संकट है तो सरकार व्यापार अपने हाथ में लेकर विदेशी विनिमय का विवेकपूर्ण ढंग से आवंटन कर सकती है और इस तरह भुगतान-शेष में सुधार किया जा सकता है।

(6) **राजस्व प्राप्त करने के लिए**—राजकीय व्यापार का यह भी महत्वपूर्ण उद्देश्य होता है कि बढ़ते हुए सार्वजनिक व्यय की पूर्ति हेतु राजस्व प्राप्त किया जाय। बहुत से देशों ने इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर व्यापार के क्षेत्र में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया है।

(7) **अतिरेक कृषि उत्पादन के विक्रय हेतु**—अर्द्धविकसित देशों में कृषि उत्पादन के मूल्यों को समर्थित करने के उद्देश्य से सरकार अतिरेक कृषि उत्पादन को खरीद लेती है एवं उसका विक्रय करती है। जैसे भारत में "भारतीय खाद्य निगम" की यह महत्वपूर्ण भूमिका है।

(8) **कीमतों में स्थायित्व के लिए**—राजकीय व्यापार इस उद्देश्य से भी किया जाता है कि घरेलू कीमतों में स्थायित्व लाया जा सके। इसके लिए सरकार देश में जिन वस्तुओं का अभाव होता है उनका आयात करती है एवं अतिरेक वस्तुओं का निर्यात करती है।

(9) **निर्यात प्रोत्साहन हेतु**—यदि पूर्ण रूप से व्यापार निजी हाथों में रहता है तो केवल उन वस्तुओं का ही निर्यात किया जाता है जिससे अधिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु राजकीय व्यापार के अन्तर्गत नये बाजारों की खोज की जाती है एवं समग्र रूप से निर्यातों में वृद्धि की जाती है।

(10) **संरक्षण हेतु**—राजकीय व्यापार का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य घरेलू उद्योगों को संरक्षण देना भी है। राजकीय व्यापार के अन्तर्गत राज्य एकाधिकारी के रूप में कार्य करता है तथा विदेशी प्रतियोगिता से घरेलू उद्योगों का संरक्षण करने हेतु आयातों को नियन्त्रित करता है।

(11) **आयातों एवं निर्यातों का राशनिंग**—देश में दुर्लभ आयातों एवं निर्यातों का राशनिंग करने के लिए भी राजकीय व्यापार प्रारम्भ किया जाता है।

राजकीय व्यापार के लाभ

किसी भी दृष्टि से क्यों न देखा जाय व्यक्तिगत व्यापार की तुलना में राजकीय व्यापार की कुछ अपनी श्रेष्ठताएँ हैं क्योंकि जब व्यापार केन्द्रीय हो जाता है तो निश्चित ही व्यापार करने वाले देश की सौदेबाजी की शक्ति में वृद्धि हो जाती है। राजकीय व्यापार के निम्न लाभ हैं :

(1) **आयात मूल्यों में कमी**—जब राज्य द्वारा बड़ी मात्रा में खरीद की जाती है तो उसमें कई प्रकार की बचतें होती हैं तथा आयात की लागत कम हो जाती है। यह सामान्य अनुभव की

यात है कि जब आयात कम मात्रा में किये जाते है तो वस्तुओं के मूल्य अधिक होते हैं तथा जब आयात की मात्रा अधिक होती है तो मूल्य घट जाते है। राज्य सरकार आयातो में मध्यस्थों को अलग कर उनका कमीशन अलग कर भी मूल्य घटा सकती है।

(2) **मोल-भाव की शक्ति में वृद्धि**—जहाँ तक बाजार के सन्दर्भ मे मोल भाव करने की शक्ति का प्रश्न है राजकीय व्यापार करने वाली अर्थव्यवस्था निश्चित ही उस अर्थव्यवस्था से श्रेष्ठ होती है जिसमे व्यापार निजी हाथों मे रहता है। यदि राज्य बड़ी मात्रा मे क्रेता विक्रय है तो निश्चित ही उसे एकाधिकारी लाभ प्राप्त होते हैं।

(3) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की तकनीक मे परिवर्तन**—यदि राजकीय व्यापार से व्यापार की शर्तें अप्रभावित भी रहे तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दिशा मे तकनीकी परिवर्तन होता है अर्थात् व्यापार अधिक विवेकपूर्ण एव वैज्ञानिक हो जाता है।

(4) **व्यापार मे विनियोग एव नये बाजारों की खोज**—निजी उद्यमी पारम्परिक वस्तुओ के निर्यात पर ही अधिक ध्यान देते हैं। चूँकि नयी वस्तुओ के उत्पादन करने एव उनके लिए बाजार की खोज करने मे बड़ी मात्रा में विनियोग की आवश्यकता होती है तथा उसमे जोखिम भी रहता है अतः निजी उद्यमी इस दिशा मे प्रोत्साहित नही होते भले ही इससे उन्हें अधिक लाभ मिले किन्तु राज्य या उसकी सस्था को इस प्रकार का कोई भय नही तथा वह उपर्युक्त क्षेत्रो मे विनियोग कर अपने निर्यातो को बढ़ा सकता है।

(5) **कीमतों में मूल्य-विभेद सम्भव**—चूँकि राज्य की एजेन्सी आयात करने वाली एकमात्र संस्था होती है वह आयातो के लिए कुछ भी मूल्य का भुगतान कर सकती है एवं अपने देश के उपभोक्ताओ को उससे कम कीमतो मे बेच सकती है। यह आवश्यक नही है कि आयात की कीमतो एवं देश की विक्रय कीमतो मे ताल मेल हो। राज्य-एजेन्सी व्यापार के एक क्षेत्र में हानि उठा सकती है तथा दूसरे क्षेत्र में लाभ कमा सकती है। यह जरूरी भी नही है कि क्षति की पूर्ति व्यापार मे ही की जाय क्योकि सरकारी बजट मे इस प्रकार की क्षति का प्रावधान रह सकता है।

(6) **सौदेबाजी में स्वतन्त्रता**—राजकीय व्यापार करने वाली संस्था अपने देश की मुद्रा की विनिमय दर तथा अपने निर्यातो के लिए वसूल की जाने वाली कीमतें इन दोनो को नियन्त्रित कर सकती है। इस प्रकार उक्त संस्था काफी स्वतन्त्रता के साथ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे सौदेबाजी कर सकती है।

(7) **व्यापार के अतिरिक्त अन्य आर्थिक नीतियों का कार्यान्वयन**—राजकीय व्यापार को, व्यापार के अतिरिक्त अन्य आर्थिक नीतियो के सचालन के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है जैसे बैंकिंग, परिवहन एव बीमा आदि ताकि देश मे इन सेवाओं का विस्तार किया जा सके।

(8) **निर्यात प्रोत्साहन**—देश मे निर्यात-सवर्धन के लिए राजकीय व्यापार का एक माध्यम के रूप मे प्रयोग किया जा सकता है। चूँकि अर्द्धविकसित देशो मे निजी उद्यमी न तो निर्यात के क्षेत्र मे अपने देश की साख की परवाह करते है और न ही नयी वस्तुओ का निर्यात करते है, निर्यात-बाजारो का विकास नही हो पाता। इन दोषो को राजकीय व्यापार के द्वारा दूर किया जा सकता है। राज्य व्यापार सस्था अपने निर्यातो को बढ़ाने एवं विदेशी बाजार मे स्थान बनाने के लिए कम मूल्यों पर भी निर्यात कर सकती है तथा बाद में ऊँचे मूल्य ले सकती है अथवा उसी समय अन्य बाजारो से ऊँची कीमतें वसूल की जा सकती है।

(9) **घरेलू कीमतों में स्थायित्व**—राजकीय व्यापार से देश मे घरेलू कीमत-स्तर मे स्थायित्व लाया जा सकता है। कीमतो मे उच्चावचन होने का प्रमुख कारण विदेशी व्यापार मे सट्टे सम्बन्धी क्रियाएँ है जिन्हें राजकीय व्यापार के माध्यम से समाप्त किया जा सकता है।

(10) अन्य नियन्त्रणों से श्रेष्ठ—आयातों को नियन्त्रित करने के लिए, राजकीय व्यापार अभ्यंश प्रणाली से श्रेष्ठ है। हम यह देख चुके हैं कि कोटा-प्रणाली और लाइसेन्स प्रणाली के अपने दोष हैं। राजकीय व्यापार की संस्था कीमतों, वस्तु की गुणवत्ता, व्यापार की शर्तें आदि के आधार राष्ट्रीय हितों को दृष्टि में रखकर खरीद कर सकती है। यदि आयातों की तुलना में देश में इन वस्तुओं की कीमतें अधिक हैं तो अतिरिक्त आय प्राप्त होती है, वह निजी व्यक्तियों के हाथों में न जाकर सरकारी खजाने में जाती है। इस प्रकार राजकीय व्यापार आय का भी स्रोत है।

(11) भुगतान सन्तुलन की प्रतिकूलता में सुधार—यदि देश के भुगतान शेष में असन्तुलन कुछ विशेष देशों के सन्दर्भ में है तथा पूर्ण रूप में नहीं है तो राजकीय व्यापार संस्था ऐसे देशों के आयात को रोक सकती है जिनके सन्दर्भ में भुगतान शेष प्रतिकूल (दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र) है एवं उन देशों से आयात बढ़ा सकती है जिनके सन्दर्भ में भुगतान शेष अनुकूल (सुलभ मुद्रा क्षेत्र) है। इसी प्रकार सुलभ मुद्रा क्षेत्र से दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र के प्रति निर्यात केन्द्रित किये जा सकते हैं। निजी उद्योगपति, देश की भुगतान शेष की स्थिति की परवाह किये बिना, उन्हीं क्षेत्रों से आयात-निर्यात करते हैं जहाँ उन्हें लाभ होता है।

(12) व्यापार से सम्बन्धित अन्य दोषों का निराकरण —अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित अन्य दोषों का निराकरण भी राजकीय व्यापार में किया जा सकता है जैसे आयातकर्ताओं और निर्यातकर्ताओं द्वारा करों का अपवंचन, विदेशी विनिमय में अनधिकृत व्यापारी, सट्टे की क्रियाएँ, विदेशी विनिमय में कालाबाजारी आदि।

उपर्युक्त लाभों के अतिरिक्त, घरेलू क्रियाओं में भी राजकीय व्यापार का महत्व है। इसके द्वारा कुछ आवश्यक वस्तुओं के उपभोग को आर्थिक सहायता दी जा सकती है तथा अन्य अनावश्यक वस्तुओं के उपभोग को दण्डित किया जा सकता है।

राजकीय व्यापार के दोष

राजकीय व्यापार के उपर्युक्त स्पष्ट लाभों के बावजूद भी इसके विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ उठायी गयी हैं। ये इस प्रकार हैं—

(1) एकाधिकार सम्बन्धी दोष—राजकीय व्यापार से व्यापार में प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है अतः इस बात की सम्भावना रहती है कि इससे एकाधिकार सम्बन्धी दोष पनप जायें। इससे व्यापार के निजी-प्रोत्साहन को भी आघात लगता है। यदि व्यापार में स्वस्थ प्रतियोगिता रहे तथा उसे कुशलता से संचालित किया जाय तो विदेशी व्यापार निजी हाथों द्वारा अच्छी तरह से संचालित किया जा सकता है।

(2) द्विपक्षीय व्यापार को समर्थन—राजकीय व्यापार से, बहुपक्षीय व्यापार के स्थान पर, द्विपक्षीय व्यापार को समर्थन मिलता है। एक देश सामान्य रूप से आयात करने के लिए उन्हीं देशों को प्राथमिकता देता है जो उससे आयात करने के लिए तैयार रहते हैं। यदि स्वतन्त्र प्रतियोगिता रहती है तो बहुपक्षीय व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है।

(3) राजनीतिक उद्देश्यों से प्रभावित—इस आधार पर राजकीय व्यापार की आलोचना की जाती है कि जिन शर्तों पर व्यापार किया जाता है वे विशुद्ध आर्थिक न होकर राजनीतिक होती हैं। एक देश उस बाजार से वस्तुएँ नहीं खरीदता जहाँ वे सबसे सस्ती मिलती हैं और न ही उन बाजारों में बेचता है जहाँ मूल्य अधिकतम मिलता है। इनका निर्धारण प्रायः राजनीतिक कारणों द्वारा किया जाता है।

(4) व्यापार में अकुशलता—एडम स्मिथ ने एक बार कहा था कि अपनी प्रकृति से ही सरकार व्यापार करने में अयोग्य होती है, इसी के अनुरूप यदि व्यापार का संचालन सरकारी

कार्यालयो एवं कर्मचारियों के अधीन है तो उसमें नौकरशाही के दोष पैदा होते हैं तथा व्यापार का सचालन अकुशलता से किया जाता है। सामान्य रूप से अर्द्धविकसित देशो मे सरकारी सस्थाओ मे अकुशलता और भ्रष्टाचार पाया जाता है।

(5) व्यापार मे कठिनाई—जिस देश मे घरेलू उत्पादन और वितरण निजी हाथो मे है, वहाँ निर्यात के लिए पर्याप्त मात्रा मे घरेलू पूर्ति जुटा पाना, राजकीय व्यापार सस्था के लिए काफी कठिन होता है। केवल घरेलु उत्पादन और वितरण पर सख्त नियन्त्रण मे ही उक्त कठिनाई को दूर किया जा सकता है।

(6) व्यापार के विशिष्ट ज्ञान का अभाव—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक विशिष्ट ज्ञान है जिसे बिना अनुभव के नहीं किया जा सकता। इसके लिए व्यापार की वस्तुओ की जानकारी एव विदेशी व्यापारियो से सघन सम्पर्क की आवश्यकता है। प्रारम्भिक वर्षों मे राजकीय व्यापार की सस्था विदेशी व्यापार को पूर्ण कुशलता के साथ सचालित नही कर सकती।

(7) अविश्वास की भावना—राजकीय व्यापार के विपक्ष मे यह तर्क भी दिया जाता है कि राजकीय व्यापार से विदेशी व्यापारियो के मन मे सन्देह और अविश्वास की भावना पैदा हो सकती है क्योकि सरकार कभी भी कानून बनाकर विदेशी व्यापारियो के हितो के प्रतिकूल कार्य कर सकती है। इस स्थिति मे निजी विदेशी व्यापारी, किसी देश की सरकार से आर्थिक सम्बन्ध स्थापित करने मे आनाकानी कर सकते हैं जिसके फलस्वरूप विदेशी व्यापार मे अवरोध पैदा हो सकता है।

(8) निजी अथवा व्यक्तिगत अभिरुचि का अभाव—किसी भी कार्य की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसमे व्यक्तिगत अभिरुचि से कार्य किया जाय। किन्तु राजकीय व्यापार संस्थाओ के कर्मचारी व्यापार की उन्नति के लिए मन लगाकर कार्य नही करते और न ही उसमे होने वाली हानि की परवाह करते हैं। फलस्वरूप इन सस्थाओ का कार्य कुशलता से नही हो पाता।

(9) सामाजिक हितों के प्रतिकूल—राजकीय व्यापार का प्रारम्भ सामाजिक हितो की रक्षा के लिए किया गया था किन्तु अनुभव यह बताता है कि यह सस्था अपने उद्देश्य मे सफल नहीं हुई है।

(10) अर्थव्यवस्था के अति-केन्द्रित हो जाने की सम्भावना—यदि विदेशी व्यापार राजकीय व्यापार के हाथ मे है एवं घरेलू बाजार निजी क्षेत्र के अन्तर्गत है तो इन दोनों मे न तो अच्छे सम्बन्ध हो सकते हैं और न ही समन्वय हो सकता है अत आन्तरिक व्यापार मे भी राजकीय व्यापार प्रारम्भ करना पड़ता है इस तरह अर्थव्यवस्था अति-केन्द्रित हो जाती है।

यद्यपि, उपर्युक्त दोषों के बहुत से उचित है फिर भी राजकीय व्यापार मे वृद्धि हो रही है तथा कई देश इसे अपना रहे हैं। विशेष रूप से सोवियत रूस सरीखी अर्थव्यवस्थाओं के लिए राजकीय व्यापार आवश्यक है जहाँ समस्त आर्थिक निर्णय सरकार द्वारा किये जाते हैं।

भारत में राजकीय व्यापार—राज्य व्यापार निगम
(STATE TRADING IN INDIA—STATE TRADING CORPORATION)

भारत में राजकीय व्यापार का प्रारम्भ सन् 1956 मे राज्य व्यापार निगम की स्थापना से हुआ जिसका प्रमुख लक्ष्य निर्यातो को प्रोत्साहन देकर एवं आवश्यक वस्तुओ के आयात को सम्भव बनाकर, भारत के विदेशी व्यापार मे वृद्धि करना था।

निगम के उद्देश्य—भारत के राज्य व्यापार निगम के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार थे :

(i) भारतीय निर्यातों मे वृद्धि करना,
(ii) विशिष्ट एव आवश्यक वस्तुओं के आयात को सम्भव बनाना,
(iii) अधिक आर्थिक समानता स्थापित करना,

(iv) राज्य की आय में वृद्धि करना,

(v) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का उचित नियन्त्रण,

(vi) समाजवादी एवं साम्यवादी देशों के व्यापार की कठिनाइयों को दूर करना।

व्यापार निगम के कार्य

अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, निगम निम्न ढंग से कार्य करता है :

(1) व्यापार की वृद्धि करने के लिए देश के संसाधनों का दोहन करना।

(2) देश के समग्र व्यापार—घरेलू एवं विदेशी व्यापार—में उन्नति करना।

(3) पारंपरिक वस्तुओं के लिए नये विश्व बाजार की खोज तथा नयी वस्तुओं के निर्यात की वृद्धि।

(4) उस घरेलू व्यापार को अपने हाथ में लेना जिससे विदेशी व्यापार को बढ़ाया जा सके।

(5) विदेशी ग्राहकों के लिए विभिन्न गुणों की वस्तुओं एवं उनकी आवश्यक मात्रा उपलब्ध कराना।

(6) देश में कीमतों का स्थायित्व बनाये रखना एवं सरकारी निर्देश पर, आयातित वस्तु की पूर्ति सीमित होने पर उसकी राशनिंग की व्यवस्था करना।

(7) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में जहाँ भारत का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, आयातकों एवं निर्यातकों के बीच होने वाले झगड़ों का निपटारा करना।

(8) भारत सरकार द्वारा, विदेशी सरकारों के साथ जो व्यापारिक समझौते किये जाते हैं, उनको कार्यान्वित करना।

निगम के कार्यों की प्रगति

राज्य-व्यापार निगम के वर्तमान में चार सहायक संगठन हैं, भारतीय हस्तकला व हाथ-करघा निर्यात निगम, भारतीय चलचित्र निर्यात निगम, भारतीय काजू निगम एवं भारतीय परि-योजना व उपकरण निगम। इनका उद्देश्य है सम्बन्धित वस्तुओं के निर्यात में वृद्धि करना। स्थापित होने के बाद इन संस्थाओं ने अपने निर्यात में पर्याप्त वृद्धि की है।

राज्य व्यापार निगम के माध्यम से जिन वस्तुओं का आयात-निर्यात पहले किया जाता था, उन्हीं का क्रम भी किया जाता है, निर्यात की वस्तुओं में प्रमुख हैं, रेलों के उपकरण, इन्जीनियरिंग सामान, रसायन व औषधियाँ (इनका व्यापार स्टेट फार्मास्युटिकल कार्पोरेशन ऑफ इण्डिया के माध्यम से होता है), उपभोक्ता वस्तुएँ जैसे चमड़े की वस्तुएँ, हाथकरघे का सामान, सिले हुए कपड़े आदि एवं मछलियाँ, ताजे फल, कुछ खाद्यान्न एवं सूखे मेवे।

भारत में निगम के माध्यम से जिन वस्तुओं का आयात होता है, उनमें प्रमुख हैं, पूंजीगत वस्तुएँ, औद्योगिक कच्चामाल, उर्वरक, कच्चा-रेशम, फिल्में, ट्रेक्टर, सोयाबीन का तेल, मुद्रण सामग्री आदि।

निगम, विदेशों से विशेष रूप से व्यापार करने वाली फर्मों के साथ निरन्तर सम्पर्क बनाये रखना है जिससे निर्यातों में वृद्धि की जा सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निगम ने विदेशों में कार्यालय भी स्थापित किये हैं जिनमें प्रमुख हैं—काहिरा, नैरोबी, तेहरान, मास्को, प्राग, माण्ट्रियल, बुडापेस्ट, राटरडम, बेरुत, मास्को, बैंकाक और श्रीलंका आदि।

व्यापार निगम ने लघु और मध्यम उद्योगों की वस्तुओं के व्यापार पर विशेष बल दिया है तथा इनका निर्यात बढ़ाने के लिए इन उद्योगों को एक पृथक राज्य विपणन प्रभाग के माध्यम से सहायता देने की व्यवस्था की है। निगम ने इन उद्योगों से सम्बन्धित समस्याओं का हल भी अपने हाथ में ले लिया है।

मूल्यों में स्थायित्व लाने की दृष्टि से विभिन्न महत्वपूर्ण वस्तुओं एवं खाद्यान्नों का बफर स्टाक रखने का कार्य भी निगम ने अपने हाथ में ले लिया है।

राज्य व्यापार निगम के व्यापार में गत वर्षों में काफी वृद्धि हुई है। जब 1956 में इसकी स्थापना हुई थी तो प्रथम वर्ष में इसका व्यापार केवल 9 करोड़ रुपयों का था जो 1975-76 में बढ़कर 923 करोड़ रु०, 1976-77 में 975 करोड़ रु० तथा 1977-78 में 1,059 करोड़ रु० का हो गया।

इस प्रकार निगम ने भारतीय व्यापार को विकेन्द्रित करने में एवं उसमें वृद्धि करने में सफलता प्राप्त की है तथा आयातों की व्यवस्था करने एवं देश में आवश्यक कच्चे माल का वितरण करने में मितव्ययता की है तथा जहाँ भी सम्भव हो सका है भारतीय व्यापार के लिए अनुकूल व्यापार की शर्तों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया है।

राज्य व्यापार निगम के कुछ दोष

यद्यपि व्यापार निगम ने भारत के विदेशी व्यापार को एक नयी दिशा प्रदान की है फिर भी उसकी कार्य प्रणाली में निम्न दोष हैं

(1) निर्यात की वस्तुओं के जो लक्ष्य निर्धारित किये जाते हैं निगम उनकी पूर्ति में सफल नहीं हो पाता।

(2) व्यापार की वृद्धि के लिए यह आवश्यक होता है कि सम्बन्धित निर्णय शीघ्र लिये जायें किन्तु निगम यह नहीं कर सका है जिससे व्यापार प्रतिकूल ढंग से प्रभावित होता है।

(3) निगम की कार्य प्रणाली विशुद्ध रूप से व्यापार को प्रोत्साहित करने वाली नहीं है वरन् उसमें नौकरशाही एवं लापरवाही की प्रवृत्ति है।

(4) भारतीय व्यापार के सम्बन्ध में जो तकनीकी समस्याएँ विदेशी व्यापारियों के साथ पैदा हुई हैं निगम उन्हें हल नहीं कर सका है।

(5) यह विश्वास किया गया था कि बड़ी मात्रा में वस्तुओं का आयात कर निगम इन्हें सस्ती एवं प्रतियोगी कीमतों पर प्राप्त करेगा किन्तु निगम न तो उन्हें सस्ती कीमतों पर प्राप्त कर सका है और न आयातित कच्चे माल को समय पर देश में उत्पादकों को वितरित कर सका है।

(6) व्यापार निगम की एक आलोचना यह भी की जाती है कि इसके कर्मचारियों में समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों से इसकी कार्यक्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

(7) निगम के कार्यों पर पक्षपात पूर्ण होने का आरोप भी लगाया जाता है।

अन्त में कहा जा सकता है कि भारत की नियोजित अर्थव्यवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का काफी महत्व है तथा इस व्यापार को प्रभावित करने में राज्य व्यापार निगम की महत्वपूर्ण भूमिका है अतः इसे दृष्टि में रखकर निगम की कार्यप्रणाली में परिवर्तन किया जाना चाहिए ताकि हमारे निर्यात गतिशील हो सकें और व्यापार को एक नयी दिशा प्रदान की जा सके। आवश्यकता इस बात की है कि परम्परागत वस्तुओं के साथ ही नयी वस्तुओं का निर्यात किया जाना चाहिए। यह उल्लेखनीय है कि भारत में इस दिशा में प्रगति हो रही है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. राजकीय व्यापार से आप क्या समझते हैं? इसके गुण-दोषों की विवेचना कीजिए?
2. राजकीय व्यापार के दोषों के बावजूद भी यह पूँजीवादी देशों में भी लोकप्रिय क्यों हो रहा है? तर्कपूर्ण विवेचना कीजिए?
3. भारत में राज्य व्यापार निगम अपने उद्देश्यों में कहाँ तक सफल हुआ है पूर्ण रूप से समझाइए?
4. भारत के राज्य व्यापार निगम के कार्यों का ब्यौरा देते हुए, उसकी सफलता के लिए आप क्या सुझाव देंगे?

अध्याय **35**

द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय व्यापार

[BILATERAL AND MULTILATERAL TRADING]

परिचय

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार या तो दो देशो मे पारस्परिक विनिमय के आधार पर हो सकता है अथवा एक राष्ट्र कई देशो के साथ व्यापार कर सकता है। प्रारम्भ मे व्यापार बहुपक्षीय प्रणाली के आधार पर ही होता था किन्तु बाद मे द्विपक्षीय व्यापार प्रणाली भी प्रचलन मे आ गयी।

जब कोई देश विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत अपनी विनिमय दर का अधिमूल्यन कर देता है तो इससे निर्यात कम हो जाते है तथा आयातो को दृढ़ता के साथ प्रतिबन्धित करना होता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए जर्मनी ने 1930 मे व्यापार की द्विपक्षीय प्रणाली विकसित की जिसके अन्तर्गत जर्मनी के कोयला उत्पादक, कोयला का निर्यात ब्राजील को करते थे तथा उसके बदले ब्राजील से समान मूल्य की काफी का आयात करते थे। यह प्रणाली बाद मे काफी लोकप्रिय हो गयी।

परिभाषा—जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है द्विपक्षीय व्यापार के अन्तर्गत व्यापार करने वाले दो देशो मे आयात-निर्यात पारस्परिक समझौते के आधार पर किया जाता है तथा बहुपक्षीय व्यापार के अन्तर्गत एक राष्ट्र, विश्व के विभिन्न राष्ट्रो के साथ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार करता है। बहुपक्षीय व्यापार मे, एक देश किसी विशिष्ट देश के साथ व्यापार करने के लिए बाध्य नही होता वरन् स्वतन्त्रता के साथ किसी भी देश के साथ व्यापार कर सकता है। व्यापार की यह प्रणाली वर्तमान मे काफी लोकप्रिय है।

द्विपक्षीय व्यापार

प्रारम्भ मे द्विपक्षीय व्यापार के अन्तर्गत दो देशो मे समान मूल्य की वस्तुओ का आयात-निर्यात होता था अर्थात् यह अदल-बदल की प्रणाली थी किन्तु बाद मे यह प्रणाली जटिल हो गयी तथा यह आवश्यक हो गया कि प्रत्येक देश मे एक आयात एवं निर्यात करने वाली फर्म हो जिससे निर्यातक फर्म को आयात का कार्य नही करना पडता था। नयी व्यवस्था के अन्तर्गत दो देशो मे इस बात का पहले समझौता होता था कि किन वस्तुओ का, कितनी मात्रा मे एवं किस मूल्य पर निर्यात किया जायगा। वस्तुओ का आयात करने के बाद, आयात करने वाला अपने ही देश की मुद्रा मे निर्यात को भुगतान करता था एवं लेन-देन पूर्ण समझा जाता था। इसमे विदेशी मुद्रा की समस्या पैदा नही होती थी किन्तु इसके लिए विनिमय नियन्त्रण अधिकारियो की स्वीकृति लेना आवश्यक था।

द्विपक्षीय व्यापार प्रणाली के विभिन्न रूप

द्विपक्षीय व्यापार के प्रचलित तीन रूप प्रमुख है :

(1) **निजी क्षतिपूर्ति (Private Compensation)**—इसके अन्तर्गत व्यक्तिगत निर्यातो एवं आयातो को एक दूसरे से निष्प्रभावित (Offset) कर दिया जाता है। निर्यातक को पहले से

यह जानना जरूरी होता है कि आयात करने वाले देश के विनिमय नियन्त्रण अधिकारियों एवं वहाँ के ग्राहकों के लिए किन वस्तुओं का आयात स्वीकृत है। किसी भी रूप में दोनों—आयातकों एवं निर्यातकों में समझौता पूर्व में होना जरूरी है।

यह तर्क दिया जाता है कि आयात प्रतिबन्धों एवं मुद्रा के अधिमूल्यन (Over-valuation) की तुलना में उपर्युक्त प्रणाली अधिक सुविधाजनक है क्योंकि इसमें वस्तुओं का सीधा विनिमय होता है एवं विदेशी विनिमय की समस्या पैदा नहीं होती। किन्तु इस प्रणाली में व्यापार बहुत सीमित हो जाता है एवं वास्तव में विभिन्न फर्मों के विभिन्न लेन-देनों में मुद्रा का अवमूल्यन किया जाता है।

(2) समाशोधन समझौते (Clearing Agreements)—इस प्रणाली के अन्तर्गत दो देशों में व्यापारिक सम्बन्ध बने रहते हैं किन्तु उसके लिए विनिमय बाजार की आवश्यकता नहीं पड़ती। समझौता करने वाले दोनों देश स्वयं भुगतान की व्यवस्था करते हैं। प्रत्येक आयात करने वाला देश आयातों का भुगतान अपने देश के केन्द्रीय बैंक में करता है और इसी राशि में से निर्यात करने वाले देश को भुगतान की व्यवस्था, केन्द्रीय बैंक द्वारा की जाती है। अर्थात् प्रत्येक देश केन्द्रीय बैंक में एक खाता खोलने का समझौता करता है जिसके माध्यम से आयात-निर्यात दोनों के भुगतान की व्यवस्था की जाती है।

इस प्रणाली का गुण यह है कि इसमें न तो आयात लाइसेंस की आवश्यकता होती है और न ही अवमूल्यन और अधिमूल्यन को रोकने के लिए आयात-निर्यात की कीमतों पर नियन्त्रण की आवश्यकता होती है। इस प्रकार बहुत-सी कठिनाइयाँ स्वतः दूर हो जाती हैं। जब तक आयात और निर्यात के मूल्य बराबर हैं, लेखा सन्तुलन में रहता है।

जहाँ तक ऋणदाता देश (Creditor Country) के दृष्टिकोण से समाशोधन समझौते के सफलतापूर्वक कार्यान्वित होने का प्रश्न है, यह आवश्यक है कि इस देश का व्यापार-शेष दूसरे देश के साथ प्रतिकूल हो। यदि ऋणदाता देश के निर्यात ऋणी देश (Debtor Country) के आयात के बराबर हैं तो चालू व्यापारिक दावे तो निरस्त हो जाते हैं किन्तु पुराने दावे बने रहते हैं। दूसरी ओर यदि आयातों की तुलना में ऋणदाता देश के निर्यात अधिक हैं तो ऋणी देश पर ऋण और अधिक बढ़ जाता है।

(3) भुगतान समझौते (Payment Agreements)—समाशोधन समझौतों की तुलना में भुगतान समझौतों की प्रणाली अधिक व्यापक है और इसमें बड़ी संख्या में भुगतानों को समायोजित करने की व्यवस्था रहती है। जो देश विनिमय नियन्त्रण अपना कर भुगतान शेष को, अतिरेक बना लेते हैं, उनके पास बड़ी मात्रा में अवरुद्ध परिसम्पत्ति (Frozen Assets) जमा हो जाती है। भुगतान समझौते में इस अवरुद्ध परिसम्पत्ति में प्रवाह आ जाता है क्योंकि इसमें ऐसी व्यवस्था रहती है कि यह देश आयातों का भुगतान करते समय एक निश्चित प्रतिशत संचित ऋण की अदायगी के लिए प्रयुक्त करेगा।

द्विपक्षीय व्यापार का कोई भी रूप क्यों न हो, इसमें व्यापार-विभेद को प्रोत्साहन मिलता है तथा व्यापार के लाभ सीमित हो जाते हैं। यदि एक देश दूसरे पर निर्भर है तो द्विपक्षीय व्यापार में निर्भर रहने वाले देश का शोषण होता है।

द्विपक्षीय व्यापार का औचित्य

द्विपक्षीय व्यापार का समर्थन निम्न तर्कों के आधार पर किया जाता है :

(1) यह तर्क दिया जाता है कि यदि किसी देश की विनिमय दर में अस्थिरता हो और भुगतान शेष प्रतिकूल हो तो द्विपक्षीय व्यापार के माध्यम से विनिमय दर में स्थिरता लायी जा

सकती है तथा भुगतान शेष की प्रतिकूलता को ठीक किया जा सकता है। किन्तु यह तर्क पूर्ण रूप से सही नहीं है।

(2) द्विपक्षीय व्यापार के माध्यम से पूँजी के आवागमन को रोकने में सहायता मिलती है।

(3) द्विपक्षीय व्यापार से एक देश विभेदात्मक एकाधिकार की नीति अपना सकता है और इसका प्रयोग अपने लाभ के लिए कर सकता है।

बहुपक्षीय व्यापार समझौते[1]

बहुपक्षीय व्यापारिक समझौते वे हैं जो कई देशों के साथ किये जाते हैं तथा जिन्हें एक साथ लागू किया जा सकता है। स्वतन्त्र व्यापार के अभाव में बहुपक्षीय व्यापार समझौते व्यापार को बढ़ाने में सहायक होते हैं। निम्न दो कारणों ने बहुपक्षीय व्यापार को विकसित किया है :

(i) विभिन्न देशों का असमान औद्योगिक एवं आर्थिक विकास।

(ii) पिछड़े देशों में, विकसित देशों द्वारा पूँजी का विनियोग।

बहुपक्षीय व्यापार से लाभ (द्विपक्षीय व्यापार के सन्दर्भ में तुलनात्मक विवेचन)

द्विपक्षीय व्यापार की तुलना में बहुपक्षीय व्यापार श्रेष्ठ समझा जाता है क्योंकि इसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विकास स्वतन्त्र रूप से हो सकता है जिसके फलस्वरूप आर्थिक विकास होता है। जबकि द्विपक्षीय व्यापार से, व्यापार का पूर्ण विकास नहीं हो पाता। वास्तव में द्विपक्षीय व्यापार उसी समय किया जाता है जब किन्हीं कारणों से बहुपक्षीय व्यापार के मार्ग में कठिनाइयाँ होती हैं।

बहुपक्षीय व्यापार से सम्बन्धित जो समझौते किये जाते हैं उनकी अवधि दीर्घ होती है एवं व्यापार सम्बन्धी एक स्थायी नीति का निर्माण किया जा सकता है। चूँकि बहुपक्षीय व्यापार में अनेक देश शामिल होते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी समस्याओं को सरलता से हल किया जा सकता है एवं सम्बन्धित कानून भी बनाये जा सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से पूर्ण लाभ उसी समय उठाया जा सकता है जब श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण का पूर्ण प्रयोग किया जाय। यह प्रयोग उसी समय सम्भव है जब व्यापक पैमाने पर सापेक्षिक रूप से अधिक देशों के साथ व्यापार किया जाय। यह बहुपक्षीय व्यापार द्वारा ही सम्भव होता है। अत: बहुपक्षीय व्यापार से विश्व के कुल व्यापार में वृद्धि होती है।

बहुपक्षीय व्यापार का यह परिणाम भी होता है कि बड़ी संख्या में देशों के बीच आर्थिक सहयोग में वृद्धि होती है।

बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली विश्व के समस्त देशों के उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा करती है। इसका कारण यह है कि इसमें एक विश्व बाजार विद्यमान रहता है जिसमें स्वतन्त्र प्रतियोगिता होती है एवं मूल्य कम रहते हैं। जिससे उपभोक्ताओं का शोषण नहीं हो पाता। साथ ही एक ही देश के उपभोक्ता कई देशों की वस्तुओं का उपभोग कर सकते हैं। जबकि द्विपक्षीय व्यापार में एकाधिकार संघ पनपते हैं जो उपभोक्ताओं का शोषण करते हैं।

बहुपक्षीय व्यापार में आर्थिक रूप से शक्तिशाली देश, कमजोर देशों का शोषण नहीं कर सकते जबकि द्विपक्षीय व्यापार में इस प्रकार के शोषण की सम्भावना बनी रहती है।

बहुपक्षीय व्यापार में विश्व की सभी वस्तुओं का समान मूल्यांकन होता है एवं सब देशों की मुद्राओं का एक ही आधार पर मूल्यांकन किया जाता है जबकि द्विपक्षीय व्यापार में विनिमय दरें, स्वतन्त्र बाजार में प्रचलित दरों से भिन्न रहती हैं।

---

[1] अध्याय 36 में "प्राथमिक उत्पादन-कीमतों में स्थिरता के उपाय" उपखण्ड भी देखें।

इस प्रकार द्विपक्षीय व्यापार की तुलना में बहुपक्षीय व्यापार श्रेष्ठ होता है।

बहुपक्षीय व्यापार के दोष

यद्यपि बहुपक्षीय व्यापार समझौतों से कई लाभ हैं फिर भी इनके मार्ग में कुछ कठिनाइयां हैं जो इस प्रकार हैं :

(1) वर्तमान में विश्व राजनीतिक रूप से कई गुटों में विभाजित है जिससे बहुपक्षीय व्यापार समझौते करने में कठिनाई होती है क्योंकि देशों के स्वार्थ आपस में टकराते हैं।

(2) देशों के आर्थिक ढांचे, कानून एवं व्यवस्थाओं में अन्तर पाया जाता है जिससे समान लक्षणों वाले देशों में द्विपक्षीय व्यापार तो किया जा सकता है किन्तु यह समानता व्यापक स्तर पर नहीं पायी जाती। अतः बहुपक्षीय व्यापार समझौते करना काफी कठिन होता है।

(3) यदि बहुपक्षीय व्यापार समझौते किये भी जाते हैं तो उनका पूर्ण रूप में पालन नहीं किया जाता जिससे ये समझौते विफल हो जाते हैं।

(4) बहुपक्षीय व्यापार से सम्बन्धित समझौते करने में काफी समय लगता है क्योंकि ये उसी समय सम्भव होते हैं जब अनेक देशों के प्रतिनिधि सम्मेलन में इसके लिए एक स्वर से सहमति व्यक्त करें जो कि प्रायः कठिन होता है।

अर्द्धविकसित देशों के सन्दर्भ में व्यापारिक समझौते

अब महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि अर्द्धविकसित देशों को अपने आर्थिक विकास को दृष्टि में रखते हुए किस प्रकार के व्यापारिक समझौते करना चाहिए ? साधारण तौर पर कहा जा सकता है कि व्यापारिक विकास के दृष्टिकोण में बहुपक्षीय समझौते उचित होते हैं।

वर्तमान व्यवहार को देखते हुए बहुत से अर्द्धविकसित देश अपने व्यापार को बढ़ाने के लिए द्विपक्षीय समझौते कर रहे हैं। विशेष रूप में जिन अल्पविकसित देशों में व्यापार सरकार के हाथों में है ऐसे राजकीय व्यापार वाले देशों में प्रायः द्विपक्षीय व्यापार समझौते होते हैं। इन देशों को इस प्रकार के समझौते करने का एक लाभ यह होता है कि इन देशों को विदेशी विनिमय की समस्या का सामना नहीं करना पड़ता क्योंकि आयातों का भुगतान समान मूल्य वाले निर्यातों से किया जाता है।

फिर भी दीर्घकालीन लाभों को दृष्टि में रखते हुए, अर्द्धविकसित देशों को निम्न कारणों से बहुपक्षीय व्यापारिक समझौते करना चाहिए :

(1) द्विपक्षीय व्यापार में विकसित देशों द्वारा, अर्द्धविकसित देशों के शोषण की सम्भावना सदैव बनी रहती है। अतः यदि ये अर्द्धविकसित देश, विकसित देशों के साथ द्विपक्षीय व्यापार समझौते करते हैं तो इनका शोषण हो सकता है अतः इन्हें बहुपक्षीय व्यापारिक समझौते करना चाहिए।

(2) द्विपक्षीय व्यापार में प्रायः एक देश की दूसरे देश पर निर्भरता हो जाती है जो कि स्वतन्त्र आर्थिक विकास में बाधक होती है अतः अर्द्धविकसित देशों के लिए यह उचित रीति है कि वे बहुपक्षीय व्यापार समझौते कर अपनी आर्थिक नीति की स्वतन्त्रता को कायम रखें।

(3) द्विपक्षीय व्यापार प्रणाली को अपनाकर एक देश के लिए इसे तोड़ना कठिन हो जाता है क्योंकि उसे सदैव इस बात का भय बना रहता है कि वह अपने आवश्यक आयातों के लिए बहुपक्षीय प्रणाली के अन्तर्गत पर्याप्त विदेशी विनिमय प्राप्त नहीं कर सकता पर यह भय निराधार है।

अर्द्धविकसित देशों की समस्याओं को विशेष रूप से दृष्टि में रखकर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने इन देशों को बहुपक्षीय व्यापार करने के लिए आवश्यक विदेशी मुद्रा प्रदान कर सहायता दी है एवं द्विपक्षीय व्यापार प्रणाली को समाप्त करने पर जोर दिया है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय व्यापारिक समझौतों में से आप किसे पसन्द करते हैं ? कारण सहित उत्तर दीजिए ?
2. एक अर्द्धविकसित देश के लिए आप द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली में से किसका सुझाव देंगे, तर्कपूर्ण विवेचना कीजिए ?
3. द्विपक्षीय व्यापार समझौते के विभिन्न रूपों की व्याख्या कीजिए तथा इसके गुण-दोषों को समझाइए ?

Selected Readings

1. P. T. Ellsworth : *The International Economy.*
2. Ray and Kendu . *International Economics*
3. H. S. Ellis : *Bilateralism and the Future of International Trade*

इस प्रकार राशिपातन के दो महत्वपूर्ण तत्व हैं—(a) घरेलू कीमत, एवं (b) विदेशी कीमत तथा दोनों की तुलना।

घरेलू कीमत और विदेशी कीमत मे तुलना करते समय तीन बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिए :

(i) कि समय के बिन्दु पर कीमतो की तुलना की जाती है। इसका सम्बन्ध उस समय बिन्दु से होता है जब विक्रय अनुबन्ध किया जाता है।

(ii) परिवहन व्यय का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। राशिपातन उस समय भी हो सकता है जब निर्यात के लिए घोषित कीमत, पूर्ण परिवहन लागत और घरेलू कीमत के योग से कम होती है।

(iii) कीमतों की सही तुलना करने के लिए अन्य बातों का भी ध्यान रखा जाना चाहिए जैसे कि विशेष पैकिंग व्यय, भुगतान की शर्तें, बिक्री की मात्रा के लिए रियायत इत्यादि।

प्रो. हैबरलर के शब्दो में, 'व्यापक रूप से राशिपातन शब्द का अर्थ होता है वस्तुओं का विदेशों में ऐसी कीमत पर विक्रय, जिनकी कीमत उसी समय में और वैसी ही परिस्थितियों मे घरेलू कीमत से कम है और जिसमे परिवहन लागत के अन्तर का समावेश कर लिया जाता है।'[1]

राशिपातन की लागत सम्बन्धी परिभाषा—एक भ्रमपूर्ण विचार

राशिपातन के अर्थ के सम्बन्ध मे कुछ भ्रमपूर्ण धारणाएं भी प्रचलित हैं तथा इसके नाम पर किसी भी प्रतियोगिता को आलोचना का विषय बना लिया जाता है।

कभी-कभी राशिपातन की परिभाषा "उत्पादन लागत से कम पर विदेशों मे विक्रय" कहकर भी दी जाती है और यह तर्क दिया जाता है कि निर्यात करने से जो हानि होती है उसकी क्षति-पूर्ति देश में काफी ऊंची घरेलू कीमतों के द्वारा कर ली जाती है। इस प्रकार राशिपातन के सम्बन्ध मे दो विचार हमारे सामने आते हैं :

(i) घरेलू कीमत से कम पर विदेशो मे विक्रय, एवं

(ii) उत्पादन लागत से कम पर विदेशो मे विक्रय।

जहाँ तक उत्पादन लागत से कम पर विक्रय का प्रश्न है, यह परिभाषा उचित नही है तथा इसकी कई आलोचनाएं की गयी हैं।

सबसे पहली बात तो यह है कि घरेलू कीमत की तुलना मे उत्पादन लागत का निर्धारण काफी कठिनाई से ही किया जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि "उत्पादन लागत" की धारणा स्वयं स्पष्ट नहीं है यदि इसका अर्थ प्रति इकाई औसत लागत से है जिसमे प्रबन्ध एवं ब्याज की लागत तथा स्थायी पूंजी पर ब्याज को शामिल कर लिया गया है, तो निर्यात, उत्पादन लागत से कम कीमत पर किया जाता है। किन्तु इस अर्थ में औसत लागत से कम मे विक्रय का आशय यह नहीं है कि विक्रय से हानि हो। हानि उस समय होती है यदि कुल उत्पादन को उसकी औसत लागत से कम मे बेचा जाय। निर्यात मूल्य की निचली सीमा सीमान्त लागत द्वारा निर्धारित होती है और जहाँ विद्यमान उत्पादन इकाइयों से उत्पादन बढ़ाया जा सकता है, सीमान्त लागत, औसत लागत के नीचे होती है। यदि निर्यात मूल्य सीमान्त लागत से कम होता है तो विक्रय से हानि होती है।

तीसरे, यह शब्दावली कि "हानि पर बेचना" भी स्पष्ट नहीं है। मानलो कीमत ऐसी

---

1 "The term 'dumping' is now almost universally taken to mean the sale of good abroad at a price which is lower than the selling price of the same goods at the same time and in the same circumstances at home, taking account of differences arising on account of cost of transportation."—Haberler, *op. cit.*, p. 296.

है कि उसमे चालू लागत का तो समावेश होता है पर स्थायी पूँजी पर ब्याज नही मिलता और यदि इस कीमत पर बेचना हानि पर बेचना है तो इस अर्थ मे मन्दी के समय हमेशा हानि पर ही विक्रय किया जाता है। यह "हानि पर बेचना", का यह अर्थ है कि चालू प्राप्तियो की तुलना मे कारखाने का चालू व्यय अधिक होना है तो यह एक अल्पकालीन तत्व है क्योकि उद्यमी यह आशा करते है कि मूल्य की दशाओ पर जल्दी सुधार हो जायेगा।

चौथे, "घरेलू और निर्यात कीमत मे भेद" के आधार पर राशिपातन उस समय भी हो सकता है जब विदेशों मे विक्रय उस कीमत पर किया जाय जिसमें उत्पादन की पूर्ण औसत लागत शामिल हो। यदि देश मे एकाधिकारी प्रवृत्तियो के कारण घरेलू कीमत, औसत लागत से अधिक है तो विदेशो मे विक्रय ऐसी कीमत पर हो सकता है जो घरेलू कीमत से कम है तथा उत्पादन की उत्पादन लागत से अधिक है।

इस प्रकार 'उत्पादन लागत से कम पर बेचना' राशिपातन का कोई उचित आधार नही है। हाँ, यह बात दूसरी है कि इसे एक पूरक लक्षण के रूप मे माना जाय। अतः कहा जा सकता है कि राशिपातन की यह परिभाषा कि "विदेशों मे घरेलू कीमत से कम मे बेचना" दूसरी परिभाषा "विदेशो मे उत्पादन लागत से कम मे बेचना" की तुलना मे श्रेष्ठ है।

राशिपातन के निहित उद्देश्य

राशिपातन कई उद्देश्यो को लेकर किया जाता है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे किसी देश का कोई प्रबल प्रतियोगी है तो उसे बाजार से बाहर करने के लिए, राशिपातन किया जाता है जिसके अन्तर्गत कम मूल्य मे विदेशी बाजारो मे वस्तुओ को बेचकर प्रतियोगी को असहाय बना दिया जाता है और उसके पास बाजार छोड़ने के सिवाय कोई दूसरा विकल्प नही रहता। कभी-कभी राशिपातन के पीछे यह उद्देश्य भी होता है कि प्रतियोगी किसी अन्तर्राष्ट्रीय संघ (Cartel) मे शामिल हो जाय और फिर बड़े-बड़े विश्व के उत्पादक मिलकर विश्व के बाजारो मे शोषण कर सकें। राशिपातन के उपर्युक्त उद्देश्य यद्यपि अनैतिक एवं असामाजिक हैं फिर भी इनसे राशिपातन विरोधी कानून बनाने मे सहायता मिलती है। किन्तु एक कठिनाई यह उपस्थित होती है कि उपर्युक्त राशिपातन स्थायी तौर पर नही होता और न ही उसकी ऐसी प्रवृत्ति होती है कि राशिपातन मे भेद किया जा सके अतः एक देश द्वारा राशिपातन का विरोध करने के लिए मजबूत एवं प्रभावशाली नीति बनाना सम्भव नही हो पाता।

उक्त राशिपातन के समान विनिमय राशिपातन (Exchange dumping) और सामाजिक राशिपातन (Social dumping) भी हानिकारक होता है।

विनिमय राशिपातन मुद्रा प्रसार के समय किया जाता है जब घरेलू मुद्रा के विनिमय मूल्य मे होने वाली कमी की तुलना मे घरेलू लागत और कीमतो मे कम वृद्धि होती है।

सामाजिक राशिपातन उस समय होता है जब एक देश मे उत्पादक, विदेशी प्रतियोगियो की तुलना में अपने श्रमिकों को नीची मजदूरी देते हैं अथवा उनकी कार्य की दशाएँ बहुत ही बुरी होती हैं।

राशिपातन के लिए आवश्यक दशाएँ (Necessary Conditions for Dumping)

प्रो. हैबरलर ने राशिपातन के लिए दो आवश्यक दशाओ का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है :

(1) **संरक्षण**—राशिपातन की सफलता के पहली शर्त यह है कि जिन वस्तुओ का राशिपातन किया गया है, उन्हें फिर से देश मे आने से रोका जाय। यदि उन्हें नही रोका गया तो उपभोक्ता उन वस्तुओं को, घरेलू बाजार से खरीदने की अपेक्षा, विदेशी बाजार से खरीदना पसन्द

करेंगे जहाँ वे सस्ती मिलेंगी। इन वस्तुओं पर प्रशुल्क लगाकर उन्हें देश में आने से रोका जा सकता है अथवा इस आशय का समझौता भी विदेशों में बेचते समय किया जा सकता है कि उन्हें देश में पुनः विक्रय नहीं किया जायगा। यदि राशिपातन आकस्मिक रूप (Sporadic) से किया जाता है तो वस्तु वापस आने का प्रश्न इसलिए नहीं उठता कि घरेलू बाजार में सस्ता हो उपलब्ध नहीं होते। किन्तु यदि राशिपातन दीर्घकालीन है तो प्रशुल्क लगाकर और घरेलू बाजार का संरक्षण करके ही, वस्तुओं को देश में वापस आने से रोका जा सकता है।

(2) घरेलू बाजार में एकाधिकार—राशिपातन के लिए दूसरी आवश्यक शर्त यह है कि घरेलू बाजार में एकाधिकार हो क्योंकि यदि घरेलू बाजार में स्वतन्त्र प्रतियोगिता है तो घरेलू कीमत कम हो जाती है। एकाधिकार के कई रूप हो सकते हैं। एक फर्म की एकाधिकारी स्थिति इसलिए हो सकती है क्योंकि अन्य फर्मों की तुलना में वह इतनी बड़ी है कि अन्य फर्में उस उत्पादन में लाभदायक स्थिति में प्रवेश नहीं कर सकती अथवा उसे कानूनी एकाधिकार हो सकता है अथवा उसके पास उत्पादन का कुछ ऐसा गुप्त राज हो सकता है जिसका ज्ञान अन्य फर्मों को नहीं है। कई उत्पादक समझौता करके अथवा संघ बनाकर एकाधिकार की स्थिति प्राप्त कर सकते हैं।

राशिपातन का वर्गीकरण (Classification of Dumping)

राशिपातन के मुख्य रूप से तीन भेद किये जाते हैं :

(i) आकस्मिक राशिपातन (Sporadic Dumping)—जब देश में किसी वस्तु के विक्रय का समय समाप्त हो जाता है तो उत्पादकों के पास अन्त में जो शेष स्टाक रह जाता है उसे बेचने के लिए आकस्मिक राशिपातन का सहारा लिया जाता है जिससे सामान्य बाजार को कोई क्षति नहीं होती। आकस्मिक राशिपातन के अन्तर्गत वही माल विदेशों को बेचा जाता है जो घरेलू बाजार में बिकने के योग्य नहीं होता। उदाहरण के लिए, ऊन का मौसम समाप्त होने पर आस्ट्रेलिया बचा-खुचा ऊन विदेशों में, घरेलू कीमत से कम में बेच देता है। विदेशी प्रतियोगियों के लिए इस प्रकार का राशिपातन काफी आपत्तिजनक होता है क्योंकि उनके विदेशी बाजार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(ii) अल्पकालीन राशिपातन (Short Period or Intermittent Dumping)—अल्पकालीन राशिपातन वह है जिसके अन्तर्गत समय-समय पर घरेलू कीमत से कम में विदेशों में विक्रय किया जाता है और कभी-कभी यह विक्रय हानि सहकर भी किया जाता है। इस प्रकार के राशिपातन के निम्न चार उद्देश्य हो सकते हैं :

(A) विदेशी बाजार में अपने पैर जमाने के लिए।

(B) प्रतियोगियों को नष्ट करने के लिए अथवा उन्हें अपनी इच्छानुसार उत्पादन और विक्रय करने के लिए विवश करने के लिए। यही कारण है कि इसे स्वार्थपालित अथवा लुटेरा राशिपातन (Predatory dumping) कहते हैं।

(C) प्रतियोगी फर्मों को स्थापित होने से रोकने के लिए, एवं

(D) अन्य देशों द्वारा किये जाने वाले राशिपातन के विरुद्ध प्रतिशोध की भावना के लिए। इसे रक्षात्मक राशिपातन (Defensive Dumping) कहते हैं।

अल्पकालीन राशिपातन में विदेशी बाजार हथियाने के बाद वहाँ कीमतों में वृद्धि कर दी जाती है।

(iii) दीर्घकालीन अथवा सतत राशिपातन (Long-run or Persistent Dumping)—दीर्घकालीन राशिपातन हानि सहकर नहीं किया जा सकता अर्थात् इसकी कीमत सीमान्त लागत से कम नहीं होती। इस प्रकार का राशिपातन उसी समय सतत रूप से जारी रह सकता है जब

निर्यातक विभेदात्मक एकाधिकार कर सकने की स्थिति में हो एवं एकाधिकारी घरेलू बाजार की तुलना में विदेशी बाजार में माँग की लोच अधिक हो।

दीर्घकालीन राशिपातन लाभदायक स्थिति में उसी समय सम्भव है जब

(A) उत्पादन घटती हुई लागत पर हो रहा हो तथा निर्यात की मात्रा इतनी अधिक हो कि विद्यमान स्थिर पूँजी का पूर्ण रूप से प्रयोग कर लिया जाय एवं घरेलू कीमत सीमान्त लागत के ऊपर हो। जो निर्यात कीमत निर्धारित की जाय वह सीमान्त लागत से कम न हो अन्यथा वस्तुओं का निर्यात, हानि सहकर किया जायगा। बड़े ट्रस्टों एवं संघों द्वारा किया जाने वाला राशिपातन इसी श्रेणी में आता है जैसे कि जर्मनी और अमरीका के स्टील उत्पादनों का राशिपातन।

(B) दीर्घकालीन राशिपातन उस समय भी सम्भव है एवं विक्रय हानि पर भी किया जा सकता है यदि सरकार अथवा अन्य संस्थाओं द्वारा निर्यात-अनुदान दिया जाता है।

राशिपातन के प्रभाव (Effects of Dumping)

राशिपातन का प्रभाव, निर्यात और आयात करने वाले दोनों क्षेत्रों पर पड़ता है। प्रभाव का मुख्य बिन्दु यह है कि राशिपातन का कीमतों पर क्या प्रभाव पड़ता है एवं उससे उपभोक्ता किस प्रकार प्रभावित होते हैं।

राशिपातन करने वाले देश की कीमतों पर प्रभाव

बहुत से अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि दीर्घकालीन राशिपातन, राशिपातन करने वाले देश के लिए हानिकारक होता है। ऐसे देश के उपभोक्ताओं की यह शिकायत रहती है कि विदेशों में सस्ती वस्तुओं को बेचने का प्रतिकूल प्रभाव उन पर पड़ता है क्योंकि उनसे ऊँची कीमतें वसूल की जाती हैं। कुछ परिस्थितियों में यह ठीक हो सकता है किन्तु सदैव ऐसा नहीं होता। यदि किसी कारण देश में घरेलू माँग कम हो जाती है अथवा देश में अतिरेक उत्पादन का स्टॉक जमा हो जाता है तथा उसकी निकासी के लिए यदि राशिपातन किया जाता है तो राशिपातन करने वाले देश में कीमतें नहीं गिर पातीं और उससे उपभोक्ताओं को जो लाभ मिलता, वे उससे वंचित हो जाते हैं।

यदि विदेशी बाजार में पैर जमाने के लिए अल्पकालीन राशिपातन किया जाता है तो ऐसी स्थिति में उत्पादक घरेलू बाजार में कीमतों को बढ़ाने का जोखिम नहीं उठाता। उसे कीमतों पर सरकारी नियन्त्रण का भय भी बना रहता है। यदि विदेशी कीमत, उत्पादन की सीमान्त लागत से कम नहीं है तो विदेशी विक्रय की क्षतिपूर्ति के लिए घरेलू कीमत को बढ़ाने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि विदेशी कीमत सीमान्त लागत से कम है तो यह सम्भव है कि उत्पादक स्वयं क्षति को सहन करे क्योंकि वह अपने विदेशी बाजार स्थापित करना चाहता है। ऐसी स्थिति में भी वह घरेलू कीमत नहीं बढ़ायेगा।

अब प्रश्न है कि यदि दीर्घकालीन एवं स्थायी रूप से राशिपातन किया जाता है तो राशिपातन करने वाले देश की कीमतों पर क्या प्रभाव पड़ेगा—क्या उनमें वृद्धि होगी या कमी होगी अथवा वे स्थिर रहेंगी। इसका उत्तर यह है कि यह इस बात पर निर्भर करेगा कि उत्पादन किस नियम के अन्तर्गत हो रहा है। यदि उत्पादन बढ़ती हुई लागत के अन्तर्गत हो रहा है और घरेलू माँग अपरिवर्तित रहती है तथा राशिपातन करने की दृष्टि से उत्पादन में वृद्धि की जाती है तो इससे उत्पादन लागत बढ़ेगी एवं घरेलू कीमत में भी वृद्धि होगी। यदि उत्पादन घटती हुई लागत के अन्तर्गत हो रहा है तथा घरेलू माँग अपरिवर्तित रहती है तो राशिपातन के लिए उत्पादन की वृद्धि से उत्पादन लागत कम होगी एवं घरेलू कीमत कम होगी। यदि उत्पादन स्थिर नियम के अन्तर्गत हो रहा है तो घरेलू कीमत अपरिवर्तित रहेगी।

यह कहना सही नहीं है कि राशिपातन का सदैव निर्यात करने वाले देश पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी एकाधिकारी लाभ को अधिकतम करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि घरेलू कीमत की तुलना में विदेशी कीमत ऊँची रहे। यह उसी दशा में सम्भव है जब घरेलू माँग की लोच की तुलना में विदेशी माँग की लोच कम हो। यदि दोनों देशों में माँग की लोच एक समान है तो फिर स्थायी राशिपातन सम्भव नहीं है। किन्तु ये दोनों दशाएँ व्यावहारिक नहीं हैं। वास्तविकता तो यह है कि विदेशी कीमत तुलनात्मक रूप से नीची रहती है। राशिपातन तभी सम्भव है जब घरेलू बाजार में एकाधिकार की स्थिति हो। दूसरी ओर इस बात की भी सम्भावना बनी रहती है कि विदेशी बाजार में प्रतियोगिता हो। यदि एकाधिकारी को विदेशी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है तो घरेलू माँग की लोच की तुलना में, उसके उत्पादन की विदेशी माँग की लोच अधिक हो जाती है। ऐसी स्थिति में घरेलू कीमत विदेशी कीमत की तुलना में अधिक होगी।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि यदि उत्पादन घटती हुई लागत के अन्तर्गत हो रहा है तो राशिपातन से घरेलू उपभोक्ताओं को लाभ होगा तथा दूसरों के हितों की कोई हानि नहीं होगी और राशिपातन करने वाले देश को लाभ होगा। किन्तु यदि उत्पादन बढ़ती हुई लागत के अन्तर्गत हो रहा है तो उपभोक्ताओं के हितों को क्षति पहुँचेगी।

आयात करने वाले देश पर राशिपातन का प्रभाव

कुछ लोगों का यह विचार है कि आयात करने वाले देश के लिए राशिपातन लाभदायक होता है। वास्तव में जिस देश में राशिपातन किया जाता है, उस देश की दृष्टि से दीर्घकालीन राशिपातन का वही प्रभाव होता है जो नीची लागत वाले विदेशी उत्पादन का पड़ता है। स्थायी रूप से उपभोक्ताओं को सस्ती वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं। स्थायी राशिपातन से घरेलू उत्पादकों को भी नुकसान नहीं होता क्योंकि वे अपना उत्पादन उसी प्रकार समायोजित कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में राशिपातन किये जाने वाले देश में संरक्षण की कोई आवश्यकता नहीं होती।

जहाँ तक अल्पकालीन राशिपातन का प्रश्न है, इसका राशिपातन होने वाले देश पर काफी प्रतिकूल एवं विघ्नकारी प्रभाव होता है तथा उत्पादन फर्में भी अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। इससे उपभोक्ताओं को तो मात्र अल्पकालीन लाभ होते हैं जबकि व्यापार पर इसके दीर्घकालीन प्रतिकूल प्रभाव होते हैं। लुटेरा-राशिपातन तो इससे भी खराब है क्योंकि इसमें विदेशी विक्रेता, राशिपातन वाले देश के स्थानीय प्रतियोगियों को पहले तो बाजार से निकाल बाहर करता है और फिर काफी ऊँची कीमतें बढ़ाकर उपभोक्ताओं का शोषण करता है।

जहाँ तक राशिपातन का औचित्य और न्याय का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में प्रो. किण्डलबर्जर का कथन उल्लेखनीय है—"बहुत से अर्थशास्त्री राशिपातन को दूषण नीति मानते हैं तथा उसकी प्रशुल्क की तुलना में अधिक निन्दा करते हैं। अचेतन रूप से ये विचारक यह मत व्यक्त करते हैं कि जहाँ एक देश की सरकार के लिए अपने नागरिकों एवं विदेशियों में भेद करना उचित है, एक फर्म के लिए ऐसा करना अनुमत नहीं है। सरकार का हस्तक्षेप सामान्य भलाई के अनुरूप माना जाता है भले ही उससे कुछ निजी हितों का पोषण हो। यदि एक उत्पादक जो भेदभाव करता है और अपने हितों के लिए प्रयत्नशील रहता है, उसे पूर्ण या आंशिक रूप में एकाधिकारी माना जाता है।

राशिपातन विरोधी उपाय (Anti-dumping Measures)

जिस देश में राशिपातन किया जाता है और यदि इसकी प्रकृति अल्पकालीन अथवा अस्थायी है तो उस देश के लिए राशिपातन का विरोध करना आवश्यक हो जाता है जो तर्कपूर्ण भी है। सामान्य रूप से इसका विरोध करने के लिए अग्रांकित उपायों का सहारा लिया जाता है:

(1) आयात कर लगाना—एक विधि यह है कि घरेलू कीमत और निर्यात कीमतों मे जो अन्तर है, उसके बराबर आयात कर (प्रशुल्क) लगा दिया जाय। किन्तु इन दोनो की कीमतों की तुलना करना एक कठिन कार्य है विशेष रूप से उस समय जबकि घरेलू कीमतो मे विभिन्नता होती है। एकाधिकारी विभिन्न प्रकार की कीमतें देश मे वसूल कर सकता है। दोनो कीमतो मे भेद उसी समय किया जा सकता है जब देश मे माल आकर गृह बाजार मे बिकने लगता है जबकि आयात कर इसके पहले ही लगाना होते है अतः इसका निर्धारण कठिन होता है। यदि प्रशुल्क की दर कम होती है तो यह राशिपातन को रोकने मे सफल नही हो पाती।

(2) परिमाणात्मक प्रतिबन्ध—राशिपातन का विरोध करने का दूसरा उपाय यह है कि अभ्यंश प्रणाली या विनिमय नियन्त्रण के माध्यम से आयातो की मात्रा को नियन्त्रित कर दिया जाय। राशिपातन को रोकने मे, प्रशुल्क की तुलना मे मात्रात्मक प्रतिबन्ध अधिक प्रभावशाली सिद्ध होते है। पर इनकी भी कुछ सीमाएँ होती हैं जिनका सम्बन्धित अध्यायो मे उल्लेख किया जा चुका है।

(3) राशिपातन वाले देशों से समझौता—एक विधि यह भी है कि राशिपातन करने वाले देशो से यह समझौता किया जाय कि बिना किसी प्रशुल्क को वसूल किये, वे माल को पुनः अपने देश मे आने दें। यह विधि उसी समय सफल हो सकती है जब घरेलू और विदेशी कीमत मे, माल के दोनो ओर के कुल परिवहन व्यय से कम अन्तर है अर्थात् घरेलू कीमत तुलनात्मक रूप से कम है।

बहुत से देशो का यह अनुभव है कि राशिपातन विरोधी उपायो से, हित कम हुआ है तथा अहित अधिक। घरेलू कीमत, विदेशी कीमत से कम होने पर भी देशो ने केवल इसलिए राशिपातन का विरोध किया है क्योकि वे विदेशी प्रतियोगियो को उभरने नही देना चाहते थे। कभी-कभी राशिपातन नही भी होता और विदेशी वस्तुएँ इसलिए सस्ती होती है क्योकि वहाँ उत्पादन लागत कम होती है फिर भी घरेलू उत्पादक अपने हितो की रक्षा के लिए राशिपातन के नाम पर सस्ते आयातो का विरोध करते है। यही नही, घरेलू उत्पादक यही चाहते है कि सदैव राशिपातन विरोधी कानून लागू रहें।

राशिपातन का आर्थिक मूल्यांकन[1]

राशिपातन का मूल्यांकन करने के लिए दो विभिन्न समस्याओ पर विचार करना आवश्यक है—एक है संकुचित समस्या और दूसरी है विस्तृत समस्या।

संकुचित समस्या—संकुचित समस्या यह है कि हम यह मानकर चलते है कि राशिपातन की आवश्यक दो दशाएँ—एकाधिकारी और संरक्षण दी हुई है तथा उनमे परिवर्तन नही होता है। ऐसी स्थिति मे हम निर्यात करने वाले एव आयात करने वाले दोनो देशो पर राशिपातन का प्रभाव ज्ञात कर सकते हैं।

विस्तृत समस्या—विस्तृत समस्या यह है कि हम एकाधिकार एवं संरक्षण—दोनो दशाओ को परिवर्तनशील मान ले तो हम इस पर विचार कर सकते है कि स्वतन्त्र प्रतियोगिता की तुलना मे *उपर्युक्त स्थिति अधिक या कम वांछनीय है। यदि हम स्वतन्त्र प्रतियोगिता को प्राथमिकता* दें तो हम इसका परीक्षण कर सकते हैं कि राशिपातन को सम्भव बनाने वाली दशाओ को कैसे समाप्त किया जा सकता है।

जहाँ तक संकुचित समस्या का प्रश्न है, इसी अध्याय[2] के पिछले पृष्ठो मे हम स्पष्ट कर चुके हैं कि यदि आयातो का मूल्य, निर्यात करने वाले देश की घरेलू कीमत से कम है अथवा उत्पादन लागत से कम है और ये आयात सतत रूप से जारी रहते हैं तो आयातक देश के हितो

---

1 Based on Exposition given by Haberler, *op. cit.*, pp. 313-317.

2 इसी अध्याय मे "राशिपातन के प्रभाव" का भी अध्ययन करें।

को कोई क्षति नहीं होती। आयातक देश को इस बात की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है कि उसे विदेशों से सस्ती वस्तुएँ क्यों प्राप्त हो रही है बशर्ते उसे ये वस्तुएँ सतत रूप में मिलती रहें। निर्यातक देश उस स्थिति में इन्हें सतत निर्यात कर सकता है यदि उसे इनके उत्पादन से प्राकृतिक लाभ है।

आयातक देश के लिए राशिपातन हानिकारक हो सकता है जब राशिपातन रुक-रुक कर कुछ समय के अन्तराल के बाद किया जाय और राशिपातन की अवधि इतनी हो कि उसके अन्तर्गत आयातक देश का घरेलू उत्पादक अपने उत्पादन के ढाँचे में आयात के अनुसार परिवर्तन कर लेता है किन्तु जब ये आयात रुक जाते हैं तो उत्पादक को फिर से अपने उत्पादन के ढाँचे में परिवर्तन करना होता है और यदि हम यह भी मान लें कि देश में कोई प्रतियोगी उद्योग नहीं है तो भी अल्पकालीन राशिपातन हानिकारक हो सकता है क्योंकि यदि उत्पादक वस्तुओं का आयात होता है तो सम्भव है कि देश में ऐसे उद्योगों की स्थापना हो जाय जो सस्ते आयातों का प्रयोग करते हों। जब राशिपातन बन्द हो जाता है तो ऐसे उद्योग भी बन्द हो जाते हैं अतः उत्पादकों को हानि होती है। यदि उपभोक्ता वस्तुओं का इस प्रकार राशिपातन किया जाता है तो इनके भी रुक जाने से, उपभोक्ताओं की माँग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

गला काट राशिपातन (Cut Throat Dumping) भी जो प्रतियोगी को बाहर निकालने के लिए किया जाता है, हानिकारक है। किन्तु व्यवहार में इस प्रकार का राशिपातन प्रायः नहीं होता है क्योंकि यह बहुत खर्चीला है और जिसमें सरकारी हस्तक्षेप का भय भी बना रहता है।

जो देश राशिपातन करता है यदि उसके दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो वाणिज्य-वादियों की यह नीति व्यावहारिक नहीं है कि राशिपातन करना एक देश को सदैव लाभदायक होता है। राशिपातन उस समय लाभदायक है यदि उससे घरेलू कीमतों में कमी हो जाती है किन्तु यदि इससे कीमतों में वृद्धि होती है तो यह आपत्तिजनक है। किन्तु यदि हम वस्तुपरक (Objective) निर्णय करना चाहें तो हमें उपभोक्ताओं को होने वाली क्षति की तुलना, उत्पादकों को होने वाले लाभों से करना चाहिए। प्रो वाइनर का विचार है कि उपभोक्ताओं को होने वाली क्षति (कीमतों में वृद्धि के कारण) उत्पादकों के लाभ की तुलना में अधिक होती है। अतः राशिपातन को हानिकारक समझा जाना चाहिए।

उत्पादक वस्तुओं का राशिपातन

यह महत्वपूर्ण एवं चर्चा का प्रश्न है कि निर्यात करने वाले देश पर उत्पादक वस्तुओं के राशिपातन का क्या प्रभाव पड़ता है? इस देश में जो उत्पादक इन उत्पादक वस्तुओं का प्रयोग करते हैं, उन पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है क्योंकि उनके प्रतियोगियों को सस्ते में निर्यात किया जाता है। घरेलू उत्पादकों पर उत्पादक वस्तुओं के राशिपातन के प्रतिकूल प्रभावों को रोकने के लिए दो विधियों का प्रयोग किया गया है.

(i) उत्पादक वस्तुओं की घरेलू एकाधिकार-कीमत में उतनी ही कटौती की जाय जितनी कि राशिपातन के लिए की जाती है, एवं

(ii) राशिपातन किये गये 'उत्पादक माल' से पक्का माल निर्मित किया जाता है, उसके आयात पर समान मात्रा में आयात कर लगाकर, घरेलू उद्योगों को सरक्षण प्रदान कर दिया जाय।

जहाँ तक विस्तृत समस्या का प्रश्न है तो इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि राशिपातन के हानिकारक प्रभाव होते हैं तथा राशिपातन होने वाले देश में उत्पादन के ढाँचे में इस प्रकार परिवर्तन होता है कि वह अनुकूलतम स्थिति को प्राप्त नहीं कर पाता। वर्तमान में देशों का जो सरक्षणात्मक दृष्टिकोण है उसका यही अर्थ निकलता है कि राशिपातन के फलस्वरूप

अध्याय **32**

कच्चे माल के अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकारी संघ एवं अन्तर्राष्ट्रीय संघ

[INTERNATIONAL MONOPOLIES OF RAW MATERIALS & INTERNATIONAL CARTELS]

परिचय

संगठन के लिए संरक्षण बहुत जरूरी है। जो एकाधिकारी संघ संगठन करते हैं, वे इसलिए अस्तित्व में रहते हैं क्योंकि आयात करों से उन्हें प्रश्रय मिलता है। अमरीका के चीनी उद्योगपति हेवनमेयर (Havenmeyer) ने सन् 1900 में औद्योगिक कमीशन के सामने कहा था कि प्रशुल्क ही संघों के जनक हैं (The Teriff is the mother of Trusts)। आयात-करों से प्राप्त संरक्षण के फलस्वरूप एवं छोटे देश में सरलता से एकाधिकारी संघ पनप जाते हैं। यदि सारे प्रशुल्क हटा लिये जायें तो उत्पादकों की एकाधिकारी शक्तियाँ समाप्त हो जायेंगी क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता शुरू हो जायगी।

अन्तर्राष्ट्रीय अनुभव से उक्त निष्कर्ष स्पष्ट निकलता है। यूरोपीय देशों की अपेक्षा इंगलैण्ड में संघों का विकास कम हुआ। इसका एक कारण तो यह था कि अंग्रेज उनकी व्यक्तिगत मनोवृत्ति के थे अर्थात् संघ में नहीं रहना चाहते थे किन्तु इसका दूसरा एवं प्रमुख कारण यह था कि इंगलैण्ड में संरक्षणात्मक आयात करों का अभाव था। जर्मनी में संघों का विकास उस समय हुआ जब वहाँ 1879 में संरक्षण अपनाया गया।

यद्यपि एकाधिकारी संघों का जन्म, प्रशुल्कों के कारण होता है पर इसके दो अपवाद हैं—प्रथम तो स्थानीय एकाधिकार होते हैं जिन्हें परिवहन-व्यय के कारण संरक्षण मिलता है और द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकारी संघ। इनमें से कुछ संघों का विश्व की कुल पूर्ति पर नियन्त्रण होता है और कुछ का पूर्ति पर आंशिक रूप से कम नियन्त्रण होता है पर इतना नियन्त्रण तो होता ही है कि कीमत को प्रभावित किया जा सके। यहाँ हम इन दो प्रकार के संघों—कच्चे माल के एकाधिकारी संघ और अन्तर्राष्ट्रीय संघों का अध्ययन करेंगे।

कच्चे माल के एकाधिकारी संघ

कच्चे माल के एकाधिकारी संघ, कच्चे माल के नियन्त्रण पर आधारित होते हैं। यह सम्भव है कि एक देश के पास किसी महत्वपूर्ण कच्चे माल की पूर्ति पर पूर्ण या अधिकांश नियन्त्रण हो। किन्तु केवल यह तथ्य कि एक देश का कच्चे माल पर एकाधिकार है, उसे इस योग्य नहीं बना देता कि वह देश विश्व का शोषण कर सके अर्थात् अन्य देशों के उपभोक्ताओं का शोषण कर सके। इस प्रकार के शोषण के लिए यह अनिवार्य शर्त है कि उत्पादन और पूर्ति को सीमित रखने

के लिए, उत्पादकों में संगठन हो। पहली शर्त की पूर्ति कृषि उत्पादन एवं खनिजों के सम्बन्ध में देखी जाती है। किन्तु इनका उत्पादन कुछ गिनी-चुनी बड़ी फर्मों द्वारा न होकर छोटी-छोटी कई फर्मों द्वारा किया जाता है। अतः सुसगठित एकाधिकार का निर्माण करने एवं पूर्ति को नियन्त्रित करने के लिए सरकार का हस्तक्षेप आवश्यक होता है।

सरकारी हस्तक्षेप के उद्देश्य (Purposes of State Intervention)

कच्चे माल के एकाधिकार संघों में सरकारी हस्तक्षेप निम्न उद्देश्यों से हो सकता है :

(i) स्वयं आय प्राप्त करने के लिए जो या तो अपने ही देश के उत्पादकों के बल पर हो अथवा, जहाँ सम्भव हो, विदेशी उपभोक्ताओं के बल पर हो।

(ii) कीमतों में स्थायित्व के लिए और यदि सम्भव हो, उत्पादकों को ऊँची कीमतें प्रदान करने के लिए।

(iii) देश में जो उद्योग कच्चे माल का प्रयोग कर रहे हैं, उन्हें सरंक्षण देने के लिए ताकि वे स्थापित हो सकें।

(iv) विदेशी उपभोक्ताओं के विरुद्ध घरेलू उपभोक्ताओं के हितों की सुरक्षा के लिए।

(v) बहुत द्रुत गति से होने वाले उत्पादन को नियन्त्रित कर, साधनों की सुरक्षा करना।

एकाधिकृत वस्तुओं का निर्यात मूल्य कैसे बढ़ाया जाय ?

आय प्राप्त करने के लिए सरकार, एकाधिकार वस्तुओं के निर्यात मूल्य में वृद्धि करती है और इसके लिए निम्न किसी भी विधि का प्रयोग कर सकती है :

(i) राज्य एकाधिकार, उत्पादन एकाधिकार अथवा व्यापार एकाधिकार जिसका नियन्त्रण सरकार द्वारा होता है, की स्थापना करके जैसे जापान का कपूर (Campher) पर एकाधिकार।

(ii) निजी एकाधिकारी संघ का निर्माण करके जिसमें सरकारी दबाव पर उत्पादकों को शामिल होना पड़ता है जैसे सिसली का सल्फर सिण्डीकेट।

(iii) निर्यात के सम्बन्ध में कर अथवा अभ्यंश निर्धारित करके।

(iv) उत्पादन को नियन्त्रित करके जैसे ब्राजील में रबर उत्पादन नियन्त्रण।

(v) न्यूनतम कीमत निर्धारित करके (उत्पादन नियन्त्रण के माध्यम से) एवं

(vi) बाजार मूल्य में वृद्धि करने हेतु सरकार द्वारा क्रय जैसे काफी का मूल्य बढ़ाने के लिए ब्राजील द्वारा काफी की खरीद।

निष्कर्ष—कच्चे माल पर नियन्त्रण करने के प्रयत्नों को सफलता नहीं मिली है। यद्यपि इनसे कभी-कभी उत्पादकों को लाभ हुआ है पर अधिकतर उन्हें हानि ही हुई है। जहाँ तक पूर्व विश्व का सम्बन्ध है, उक्त प्रयत्नों का अधिक महत्व नहीं है क्योंकि दीर्घकाल तक ये चालू नहीं रहते। चूँकि विश्व के कई देशों में वैकल्पिक वस्तुओं का उत्पादन हो रहा है, कच्चे माल से एकाधिकार अब कोई अर्थ नहीं रह गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय संघ
(INTERNATIONAL CARTELS)

परिचय—एकाधिकार की स्थिति केवल उसी समय ही नहीं होती जब बाजार में केवल एक ही उत्पादक होता है बरन् कई एकाधिकारी भी मिलकर एक एकाधिकारी संघ बना सकते हैं तथा उत्पादन और पूर्ति को नियन्त्रित करने का समझौता कर सकते हैं ताकि कीमतों को बढ़ाकर अधिकतम लाभ उठाया जा सके। ये संघ केवल एक देश के उत्पादकों को ही मिलाकर नहीं बनते वरन् विभिन्न देशों के उत्पादक भी मिलाकर एकाधिकारी संघ बना सकते हैं तथा ऐसे संघ को अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल या संघ कहते हैं।

(ii) यदि किसी उद्योग में चालू उपभोग क्षमता की तुलना में उत्पादक क्षमता अधिक होती है तो बहुधा संघों के माध्यम से ऐसे उद्योग की पूर्ति को सीमित करने का प्रयत्न किया जाता है। उदाहरण के लिए, युद्ध के दिनों में बढ़ी हुई उत्पादन क्षमता का प्रयोग किया जाता है किन्तु युद्ध की समाप्ति पर जब स्थितियाँ सामान्य हो जाती हैं तो उपर्युक्त उत्पादन "अतिरेक" हो जाता है। इसके फलस्वरूप बाजारों को सीमित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संघों के निर्माण को प्रोत्साहन मिलता है।

द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारम्भ होने के बाद बहुत से देशों में व्यापार को भारी धक्का लगा जिससे 1930 के पूर्व जिन अन्तर्राष्ट्रीय संघों का निर्माण हुआ था, उनमें से अधिकांश समाप्त हो गये। किन्तु युद्ध के बाद की परिस्थितियों में इन संघों को पुनर्जीवित किया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय संघों के उद्देश्य (Objectives of Cartels)

अन्तर्राष्ट्रीय संघों का प्रमुख उद्देश्य अपने सदस्यों के लाभ को अधिकतम करना है जिसकी पूर्ति निम्न उद्देश्यों के माध्यम से की जाती है :

(1) कीमतों का नियन्त्रण (Control over Prices) – स्वतन्त्र प्रतियोगिता से भिन्न स्तर पर कीमतों को बनाये रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संघ कीमतों को निश्चित करने का समझौता करते हैं। किसी उद्योग में सम्बन्धित संघ का निर्माण होने के पूर्व उत्पादकों में प्रायः कीमतों का संघर्ष (Price-war) होता है जो एक प्रकार से संघ के निर्माण का पथ प्रशस्त करता है। किन्तु एक बार कार्टेल या संघ का निर्माण हो जाने के बाद, कीमतें ऊँचे स्तर पर स्थायी हो जाती हैं। संघ किसी वस्तु की कीमत दीर्घकाल तक उसी समय ऊँची रख सकते हैं यदि वे उत्पादन को नियन्त्रित करने में सफल हो जाते हैं। उत्पादन में नियन्त्रण तभी सम्भव है जब उत्पादन का क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत न हो। यही कारण है कि कृषि के क्षेत्र में संघों का निर्माण नहीं हो पाता। वे संघ भी कीमत को प्रभावित करने में सफल हो जाते हैं जो क्षेत्र के आधार पर अपने बाजारों को विभाजित कर लेते हैं।

(2) वस्तु के गुणों में ह्रास (Impairment of Quality)—चूँकि अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थिति एक एकाधिकारी के समान होती है, वे वस्तु के गुणात्मक स्तर को सुधारने के लिए प्रोत्साहित नहीं होते तथा उपभोक्ताओं को वस्तु के निम्न स्तर से बचने का इसके सिवाय कोई विकल्प नहीं रहता कि वे वस्तु न खरीदें। इसका एक उदाहरण अमरीकन बिजली उद्योग के बल्ब निर्माण का है जो 1930 के आस-पास का है। अमरीका के बल्ब निर्माताओं ने, बल्बों का जीवन-काल घटाकर अपने उद्योग को बढ़ाने का यह बहाना ढूँढा कि बल्ब की क्षमता उसके जीवन-काल के विपरीत होती है। वास्तव में अमरीका के बिजली उत्पादकों ने संघ बनाकर बल्बों की घटिया किस्म का उत्पादन किया था।

(3) व्यापारिक क्षेत्रों का आवंटन करना (Allocation of Trade Territories)—इसके अन्तर्गत सदस्यों में बाजारों का आवंटन उनकी सुविधा के अनुसार किया जाता है तथा सदस्य अपने क्षेत्र में ही कार्य करते हैं एवं दूसरों के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करते। ये सदस्य अन्य देशों से कुछ सुविधाएँ पाने के लिए कुछ अपनी सुविधाओं का भी त्याग करते हैं।

(4) पूर्ति का नियन्त्रण (Restriction of Supply)—अन्तर्राष्ट्रीय संघ के सदस्य वस्तु की कितनी मात्रा का उत्पादन, विक्रय अथवा निर्यात करें इसकी निरपेक्ष मात्राओं का निर्धारण कर दिया जाता है। इस प्रकार संघ वस्तु की पूर्ति को सीमित करके प्रतियोगिता को सीमित कर देते हैं एवं कीमतों को नियन्त्रण में रखते हैं। सामान्य तौर पर संघ के सदस्यों में उत्पादन का कोटा आवंटित कर दिया जाता है और जो सदस्य इस कोटे का अतिक्रमण करते हैं उनका जुर्माना किया जाता है। सदस्यों में पूर्व निर्धारित नियमों के आधार पर लाभ का आवंटन कर लिया

जाता है। उदाहरण के लिए, 1920 मे यूरोप के देशों के अन्तर्राष्ट्रीय स्टील संघ ने सदस्यो मे कोटे का आवंटन कर स्टील की पूर्ति को नियन्त्रित किया था।

(5) तकनीकी प्रगति में बाधक (Retardation of Technical Progress)—कार्टेल के क्रियाकलापों से यह ज्ञात हुआ है कि वे कभी-कभी जान-बूझकर तकनीकी प्रगति मे बाधक बनते हैं। यह वे दो प्रकार से करते है—प्रथम तो वे ऐसे विकल्पो को बाजार मे लाने मे काफी विलम्ब करते है जिससे उनके स्थापित उत्पादन का बाजार सीमित हो जाय एवं द्वितीय वे नयी तथा अधिक आधुनिक मशीनो मे उस समय तक विनियोग नही करते जब तक कि उनकी उत्पादन की विद्यमान क्षमता समाप्त नही हो जाती।

संघ, अपने स्थापित उत्पादन के नये प्रयोगो की खोज मे लगे रहते है तथा नये उत्पादन की खोज नही करते। यद्यपि वे अपने ही उत्पादन को बढाने के लिए शोध करते रहते है किन्तु तकनीकी प्रगति के माध्यम से ऐसा उत्पादन नही करते जिससे उनका लाभ कम हो जाय।

अन्तर्राष्ट्रीय संघों के निर्माण के लिए अनुकूल उद्योग
(INDUSTRIES MOST SUITABLE FOR CARTELLISATION)

निम्न उद्योग अन्तर्राष्ट्रीय संघ निर्माण के लिए अनुकूल होते है :

(1) कच्चे माल पर आधारित उद्योग—जो उद्योग कच्चे माल पर आधारित होते है और कच्चे माल की पूर्ति को नियन्त्रित कर बाहरी उत्पादको के प्रवेश को रोक देते है, वे सरलता से संघ का निर्माण कर लेते है। इसके अतिरिक्त अन्य खनिज पदार्थों के आधार पर भी संघों का निर्माण सरल होता है जैसे सीसा, तांबा, एल्युमीनियम, जिंक एवं मेगनेशियम इत्यादि के उद्योग। कच्चे माल के उत्पादको का अन्तर्राष्ट्रीय संघ बनाने के लिए कुछ शर्तें आवश्यक होती है जैसे मूलभूत कच्चे माल की सापेक्षिक दुर्लभता, सापेक्षिक रूप से कम देशो में उक्त कच्चे माल की पूर्ति एवं कम उत्पादको द्वारा उत्पादन का नियन्त्रण। यदि उत्पादकों की संख्या सापेक्षिक रूप से अधिक होती है तो कार्टेल का निर्माण करने के लिए सरकारी सहयोग अथवा कुशल नेतृत्व की आवश्यकता होती है।

कच्चे माल पर आधारित उद्योग सदैव सफल नही हो पाते क्योंकि उत्पादन मे कमी एवं कीमतो मे वृद्धि से प्रतियोगी उत्पादक जो संघ मे शामिल नही हो पाते, उत्पादन मे वृद्धि कर देते हैं अथवा वैकल्पिक वस्तुओ का उत्पादन होने लगता है।

(2) पेटेण्ट अधिकार संघ (Patent Cartels)—जिन्हें सरकार द्वारा "पेटेण्ट राइट" (एकाधिकार) प्राप्त हो जाता है ऐसे उत्पादक सरलता से संघ का निर्माण कर लेते है। विद्युत एवं रासायनिक उद्योगो मे ये संघ काफी पाये जाते हैं जैसे उष्ण-चमक वाले लेम्प (Incandescent lamp) संघ एवं बाल-बियरिंग (Ball-bearing) संघ।

(3) अधिक पूंजी वाले वृहत उद्योग (Large Industries with big Capital)—सब प्रकार के संघो मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण वे संघ है जो बडे उद्योगो को मिलाकर बनते हैं जिनमे बड़ी मात्रा मे पूंजी की आवश्यकता होती है। इन उद्योगों मे अन्य प्रतियोगी इसलिए नही आ पाते क्योंकि उन्हें पूंजी सबसे बडी बाधा होती है। लोहा और इस्पात उद्योग के संघ कृत्रिम, रेशम एवं कुछ रासायनिक उद्योग के संघ इसी श्रेणी मे आते है। इस क्षेत्र मे काण्टीनेण्टल क्रूड स्टील संघ (Continental Crude Steel Cartel) सुविख्यात है।

अन्तर्राष्ट्रीय संघों के गुण (Merits of International Cartels)

अन्तर्राष्ट्रीय संघो के निम्न गुण होते है अथवा उनके पक्ष मे निम्न तर्क है :

(1) उत्पादन लागत में कमी—यह कहा जाता है कि चूंकि संघ वृहत पैमाने पर कार्य करते हैं, उनमे कई उत्पादको के तकनीकी ज्ञान का मिश्रण होता है, उन्हें पेटेण्ट की भी सुविधा

रहती है अतः वे उत्पादन में कई प्रकार की बर्बादी एवं प्रतियोगिता से बच सकते हैं और उत्पादन कम लागत पर कर सकते हैं। इस प्रकार कम कीमतों से उपभोक्ता लाभान्वित हो सकते हैं।

उक्त तर्क बड़ा ही कमजोर है। हम यह मान लेते हैं कि ये संघ घटी हुई लागत पर उत्पादन कर सकते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर श्रम-विभाजन का लाभ उठाकर ये मितव्ययता कर सकते हैं किन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि इनका उद्देश्य ही कीमतों को बढ़ाकर लाभ अधिकतम करना है अतः इनसे उपभोक्ताओं को राहत मिलने की आशा नहीं की जा सकती।

(2) अतिरेक क्षमता का प्रयोग (Use of Excess Capacity)—यह कहा जाता है कि अतिरेक क्षमता की समस्या को हल करने के लिए उत्पादकों का संघ बनाना आवश्यक है। जो संघ व्यापारिक मन्दी के समय उदित होते हैं उनकी प्रकृति प्रतियोगियों को नष्ट करने की न होकर प्रायः रक्षात्मक होती है।

उक्त तर्क में मन्दी के समय संघों के अस्तित्व को न्यायोचित ठहराया गया है किन्तु कठिनाई यह है कि मन्दी के बाद समृद्धि के काल में भी ये संघ अपनी क्रियाएँ जारी रखते हैं और शिशु उद्योग के समान अपने को सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।

(3) प्रशुल्क में कमी (Reduction in Tariff)—यह तर्क भी दिया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय संघों द्वारा प्रशुल्क की मात्रा में कमी की जा सकती है। किन्तु यह उसी समय सम्भव है जब ये प्रशुल्क के स्थानापन्न का कार्य करें जिससे टैरिफ से मिलने वाला संरक्षण संघों के अन्तर्गत मिलता रहे। अन्तर्राष्ट्रीय संघ अपने दुर्बल सदस्यों को इस बात की गारण्टी देकर कि टैरिफ हटने पर भी वे उसी सापेक्षिक स्थिति के अधिकारी होंगे जैसे कि टैरिफ के अन्तर्गत थे टैरिफ अथवा प्रशुल्क की समाप्ति को सुविधाजनक बना सकते हैं।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग (International Co-operation)—अन्तर्राष्ट्रीय संघों का एक गुण यह होता है कि वे विश्व के अनेक देशों के उत्पादकों को एक-दूसरे के समीप लाते हैं जिसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि होती है। विभिन्न उत्पादक आपस में मिलकर एक-दूसरे के तकनीकी ज्ञान, शोध इत्यादि का भी लाभ उठाते हैं।

(5) उत्पादन में वृद्धि (Increase in Production)—यह तर्क भी कार्टेल के पक्ष में दिया जाता है कि उनसे कुल विश्व उत्पादन में वृद्धि होती है क्योंकि वे पूर्ण नियन्त्रण एवं मितव्ययता के साथ उत्पादन करने में सक्षम होते हैं। किन्तु यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि ये संघ उत्पादन को बढ़ने नहीं देते क्योंकि उसमें पूर्ति पर से इनका नियन्त्रण समाप्त हो जाता है और फिर ये कीमतों को भी नियन्त्रित नहीं कर पाते।

इस प्रकार कार्टेल के लाभ, वास्तविक लाभ नहीं हैं क्योंकि उनके पीछे, इनकी संकीर्ण लाभ कमाने की मनोवृत्ति ही प्रमुख रहती है।

अन्तर्राष्ट्रीय संघों के दोष (Demerits of International Cartels)

अन्तर्राष्ट्रीय संघों के निम्न दोष होते हैं :

(1) अनियन्त्रित एकाधिकार के दोष—अन्तर्राष्ट्रीय संघों के विरोध में मूल आर्थिक तर्क यह है कि इनमें अनियन्त्रित एकाधिकार के समस्त दोष होते हैं अतः जो आलोचना एकाधिकार की होती है, वही इन संघों की भी की जा सकती है। मुख्य आलोचना यह है कि इन संघों द्वारा प्रतियोगिता की तुलना में कम उत्पादन किया जाता है तथा इनकी कीमतें प्रतियोगिता से अधिक होती हैं। अन्तिम रूप से उपभोक्ताओं को हानि होती है तथा एकाधिकारी लाभ कुछ उत्पादकों को ही होता है।

(2) विश्व व्यापार में संकुचित क्षेत्र—ये संघ, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बहुत ही सीमित

क्षेत्र को हाथ में लेते है क्योकि उद्योग के समस्त क्षेत्रो में इन सघों का निर्माण सम्भव नही होता। अतः व्यापार के क्षेत्र में इनका महत्वपूर्ण योगदान नही होता।

(3) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का ह्रास**—जब अन्तर्राष्ट्रीय सघों का व्यापक रूप मे प्रसार हो जाता है तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा घट जाती है। इसके दो कारण है—प्रथम तो यह कि उत्पादन की कम मात्रा और ऊँची कीमतो के फलस्वरूप कुल विक्रय घट जाता है और द्वितीय यह कि अन्तर्राष्ट्रीय सघो का यह कार्य होता है कि वे व्यक्तिगत फर्मों को घरेलू बाजार में विक्रय के लिए क्षेत्रो का विभाजन कर देते है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा कम हो जाती है। इन दोनो कारणो का प्रभाव यह होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा कम हो जाती है।

(4) **विश्व-साधनों का न्यून आर्थिक प्रयोग**—जब अन्तर्राष्ट्रीय सघो का क्षेत्र व्यापक हो जाता है तो विश्व के मानवीय एव भौतिक साधनो का आर्थिक प्रयोग सीमित हो जाता है। इसके भी दो कारण हैं—प्रथम, प्रभावपूर्ण प्रतियोगिता के अभाव मे न तो कार्यकुशलता को बढावा मिलता है और न ही कम लागत पर उत्पादन करने वाले उत्पादकों को कोई इनाम दिया जाता है और द्वितीय, विभिन्न उत्पादको के बीच जो उत्पादन क्षमता और अभ्यंशो का आवंटन किया जाता है, उससे उत्पादन क्षमता को अधिकतम करने का उद्देश्य पूर्ण नही होता।

(5) **देश भक्ति की भावना का अभाव**—अन्तर्राष्ट्रीय सघ के सदस्य अपने ही हितो को सर्वोपरि समझते है तथा अपने ही हितो की पूर्ति के लिए राष्ट्रीय हितो की तिलाजलि देने को तैयार रहते है। प्रो. किंडलबर्जर का भी यही मत है।

इस प्रकार अधिक लाभ प्राप्त करने के लिए उत्पादको को सघ बनाने का प्रोत्साहन मिलता है तथा वे उपभोक्ताओ का शोषण करते है। अन्तर्राष्ट्रीय सघ मात्र, विद्यमान स्थिति को स्थायी बनाने का साधन है ताकि उसके सदस्यों को हानि न हो। इसका यह आशय नही है कि इससे राष्ट्रीय एकाधिकारो के हितो का सघर्ष समाप्त हो जाता है।

वास्तव मे अन्तर्राष्ट्रीय सघो का निर्माण, परिपक्व पूंजीवाद का अपरिहार्य परिणाम है।

अन्तर्राष्ट्रीय सघों के प्रति राजकीय नीति
(PUBLIC POLICY TOWARDS INTERNATIONAL CARTELS)

अन्तर्राष्ट्रीय सघो के उपर्युक्त दोषो को देखते हुए, यदि वे अवांछनीय हैं तो फिर उनके सम्बन्ध मे क्या नीति होना चाहिए। इस सम्बन्ध मे तीन मुख्य विचारधाराएँ है :

(1) **प्रतियोगिता का समर्थन**—प्रथम विचारधारा यह है कि एकपक्षीय दृष्टिकोण से एक देश को अपनी अर्थव्यवस्था मे प्रतियोगिता को समर्थन देकर अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकार का विरोध करना चाहिए। सन् 1890 के बाद अमरीका (U S A.) की नीति इसी विचार पर आधारित रही है।

किन्तु इस नीति की कमजोरी यह है कि प्रत्येक कीमत को यह प्रतियोगी कीमत नही बना सकती, भले ही एकाधिकारी विरोधी कानूनो को कितनी ही अच्छी तरह से लागू क्यो न किया जाय।

(2) **अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से संघों का नियमन**—दूसरी विचारधारा यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से अन्तर्राष्ट्रीय संघो का नियमन किया जाना चाहिए। इसे प्रभावशाली बनाने के लिए एव भावी कार्यक्रमो के निर्धारण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पूर्व समझौता होना चाहिए किन्तु व्यावहारिक रूप से राजनीतिक बाधाएँ इस विचारधारा को सफल नही होने देती।

(3) **सघों के निर्माण को सम्भव बनाने वाली दशाओं की समाप्ति**—इस अध्याय मे हमने देखा है कि कुछ विशेष दशाएँ अन्तर्राष्ट्रीय संघो के निर्माण मे सहायता देती हैं अतः इन दशाओं को निष्फल बनाया जाना चाहिए। यदि भीषण चक्रीय उच्चावचनो को रोका जा सके तो अतिरेक

क्षमता को भी पैदा होने से रोका जा सकता है एवं संघो के निर्माण के एक महत्वपूर्ण कारण को समाप्त किया जा सकता है।

आज भी अन्तर्राष्ट्रीय संघो का अस्तित्व है। इस बात का प्रमाण है कि द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात इन संघो की गतिविधियो मे पर्याप्त तेजी आयी है। कुछ देश खुले रूप से इन संघो का समर्थन भी करते हैं। इन संघो के सम्बन्ध विच्छेद उसी समय होते हैं जब कोई अन्तर्राष्ट्रीय संकट मौजूद हो जैसे विश्व युद्ध। यदि भविष्य मे आर्थिक और राजनीतिक दशाएँ अनुकूल सिद्ध हुई तो ये संघ पनप सकते हैं।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. कार्टेलो (एकाधिकारी संघों) के उद्देश्यो एवं उनकी कार्यप्रणाली को स्पष्ट कीजिए। उनके अवगुणों की चर्चा कीजिए ?
2. कार्टेल को परिभाषित करते हुए यह स्पष्ट कीजिए कि वे किस सीमा तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्वतन्त्र प्रवाह मे रुकावट डालते है ?
3. संघो के अवगुणो को दृष्टि मे रखते हुए, उनके प्रति सरकारी-नीति क्या होना चाहिए विवेचन कीजिए ?
4. संघो से होने वाले लाभ कहाँ तक वास्तविक हैं—उनकी आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए ?
5. कच्चे माल के एकाधिकार संघो की व्यावहारिकता पर एक टिप्पणी लिखिए ?

Selected Readings

1 Haberler . *Theory of International Trade.*
2. Ellsworth · *The International Economy*
3. K R Gupta · *International Economics.*

कल्याण को बढ़ाना चाहता है, ऐसा कर सकता है यदि उसकी स्थिति एकाधिकारी के समान है। किन्तु यह लाभ अन्य देशों के बल पर होगा। पर इस तर्क में यह मान लिया गया है कि व्यापार करने वाले देश निष्क्रिय बने रहते हैं अर्थात् बदले की भावना से कार्य नहीं करते। परन्तु यदि अन्य देश भी बदले की भावना से प्रशुल्क इत्यादि बढ़ाते हैं तो फिर एक देश अनुकूलतम प्रशुल्क से भी लाभान्वित नहीं हो सकता। किन्तु प्रो. साइटोवस्की[1] (Scitovosky) का मत है कि यदि कोई देश प्रशुल्क का प्रतिकार (Retaliation) करता है तो इस स्थिति में अनुकूलतम प्रशुल्क लगाना श्रेष्ठ होता है।

प्रो. एच. जी. जान्सन[2] ने साइटोवस्की के निष्कर्ष का पुनः परीक्षण किया है एवं मत व्यक्त किया है कि कुछ मामलों में प्रतिकारी अनुकूलतम प्रशुल्क एक अनुदान के रूप में हो सकती है किन्तु प्रो. साइटोवस्की ने इस सम्भावना का पता नहीं लगाया। प्रो. जान्सन ने सामान्य रूप से स्वीकृत मत के विरोध में यह विचार व्यक्त किया है कि एक देश अनुकूलतम प्रशुल्क लगाकर लाभ प्राप्त कर सकता है, भले ही वैसे ही नीति अपनाकर अन्य देश उसका प्रतिकार करें। किन्तु डॉ. जगदीश भगवती[3] के अनुसार उक्त तर्क में यह मान्यता निहित है कि प्रतिकार का ढंग क्या होगा, यह ज्ञात रहता है। किन्तु यदि प्रतिकार का ढंग परिवर्तित हो जाय तो परिणाम भी भिन्न होंगे।

अनुकूलतम प्रशुल्क का मूल्यांकन (Evaluation of Optimum Tariff)

आज बहुत से अर्थशास्त्री यह स्वीकार करते हैं कि यदि एक देश को व्यापार में एकाधिकार प्राप्त है तो स्वतन्त्र व्यापार की तुलना में अनुकूलतम प्रशुल्क श्रेष्ठ है। स्वतन्त्र व्यापार से, अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य का विस्तार उस बिन्दु तक होता है जहाँ निर्यात का औसत मूल्य, आयात के औसत मूल्य के बराबर हो जाता है। परेटो (Pareto) की अनुकूलतम दशाओं की पूर्ति के लिए निर्यात की अन्तिम इकाई का सीमान्त मूल्य आयात की अन्तिम इकाई के सीमान्त मूल्य के बराबर होना चाहिए किन्तु स्वतन्त्र व्यापार में, सीमान्त व्यापार शर्तों और औसत व्यापार शर्तों में अन्तर हो जाता है किन्तु अनुकूलतम प्रशुल्क लगाकर उक्त अन्तर को समाप्त किया जा सकता है और परेटो के अनुकूलतम को प्राप्त किया जा सकता है। अतः प्रो. लिटिल (Prof. Little) एवं अन्य अर्थशास्त्रियों ने मत व्यक्त किया है कि स्वतन्त्र व्यापार से अनुकूलतम प्रशुल्क का अनुसरण उस स्थिति की ओर ले जाता है जहाँ परेटियन अनुकूलतम का उल्लंघन, उसकी सन्तुष्टि में परिवर्तित हो जाता है।

परन्तु जैसा कि डॉ. मिशन (Dr Mishan) का मत है अनुकूलतम प्रशुल्क में गणना की विधि को बहुत सरल मान लिया गया है। वास्तव में अनुकूलतम प्रशुल्क की ऊँचाई ज्ञात करना बहुत कठिन है जो आयातों की पूर्ति की विदेशी लोच और निर्यातों की माँग की विदेशी लोच पर निर्भर रहती है। ये लोच और प्रशुल्क एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। चूँकि प्रशुल्क में परिवर्तन के साथ लोच पर भी प्रभाव पड़ता है, प्रशुल्क की सम्भावित ऊँचाई ज्ञात करना सम्भव नहीं है। प्रो. फ्राक का मत है कि अनुकूलतम प्रशुल्क की मात्रा आय के घरेलू वितरण पर निर्भर रहती है और वितरण जिस प्रकार का होगा, अनुकूलतम प्रशुल्क भी वैसा ही होगा और प्रत्येक का सम्बन्ध परेटो के अनुकूलतम से होगा। अब किस वितरण और परेटो-अनुकूलतम को स्वीकार किया जाय इसका चुनाव करना होगा। जब तक हमारे पास कोई नैतिक निर्णय नहीं है, हम यह नहीं कह सकते कि किस अनुकूलतम-प्रशुल्क को स्वीकार किया जाय? प्रो. साइटोवस्की[4]

---

1 T. Scitovosky, *Papers on Welfare and Growth*, Chap. 8.
2 H. G. Johnson, *International Trade and Growth*, Chap. 2.
3 J Bhagwati, *Article in the Economic Journal*, March 1964.
4 Scitovosky, *Article in Readings in the Theory of International Trade*, pp. 370-71.

के अनुसार, "जब तक आय वितरण के बारे में कुछ आदर्शीय निर्णय न हों, यह कहना कठिन है कि स्वतन्त्र व्यापार की तुलना मे, अनुकूलतम प्रशुल्क ज्यादा अच्छा है।"

इस प्रकार व्यावहारिक कठिनाइयो के अतिरिक्त, अनुकूलतम प्रशुल्क का कल्याणकारी महत्व सीमित ही है।

प्रशुल्क के पक्ष में आर्थिक एवं गैर-आर्थिक तर्क

प्रशुल्क के पक्ष मे आर्थिक एवं गैर-आर्थिक तर्क वही हैं जो संरक्षण के पक्ष एव विपक्ष मे हैं। इसका विस्तार से विवेचन अध्याय 27 मे किया जा चुका है अत. वहां देखें।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. संरक्षणात्मक तटकर क्या है? अर्द्ध-विकसित देशो मे इस तटकर का महत्व प्रतिपादित कीजिए?
2. प्रशुल्क की परिभाषा देते हुए उसके वर्गीकरण पर प्रकाश डालिए?
3. प्रशुल्क का घरेलू आय के वितरण एवं साधनों की गतिशीलता पर क्या प्रभाव पड़ता है, पूर्ण व्याख्या कीजिए?
4. प्रो. हैबरलर द्वारा प्रतिपादित प्रशुल्क के, कीमत एवं विक्रय पर पड़ने वाले प्रभावों की समीक्षा कीजिए? इस सम्बन्ध मे लागतो का महत्व बताइए?
5. उत्पादन एव वितरण पर टैरिफ (आयात-कर) के प्रभावो का परीक्षण कीजिए?
6. अनुकूलतम प्रशुल्क को परिभाषित कीजिए? क्या इसे स्वतन्त्र व्यापार से श्रेष्ठ समझा जा सकता है? समझाइए?
7. अनुकूलतम प्रशुल्क एव प्रतिशोधात्मक भावना—इन दोनों मे सम्बन्ध बताते हुए अनुकूलतम प्रशुल्क का मूल्यांकन कीजिए?

Selected Readings

1. Haberler : *The Theory of International Trade.*
2. Ellsworth : *The International Economy*
3. Ray and Kendu *International Economics*
4. D. M Mithani : *Introduction to International Economics.*
5 Kemp : *The Pure Theory of International Trade.*
6. R. E Caves . *Trade and Economic Structure.*
7. H. G. Johnson *International Trade and Growth.*
8 T. Scitovosky *Papers on Welfare and Growth.*
9 Harrod . *International Economics.*

अध्याय 30

आयात अभ्यंश

[IMPORT QUOTAS]

परिचय

अभी हमने पिछले अध्याय में संरक्षण की विधि के रूप में प्रशुल्क का अध्ययन किया है। इसी क्रम में, आयात अभ्यंश भी संरक्षण की एक विधि है। इसके अन्तर्गत केवल एक निश्चित मात्रा में ही वस्तुओं का आयात किया जा सकता है। पिछली कुछ दशाब्दियों में संरक्षण के रूप में, बहुत देशों द्वारा आयात अभ्यंश का प्रयोग बहुलता के साथ किया जा रहा है। हम इस अध्याय में आयात अभ्यंश के वर्गीकरण, प्रभावों एवं गुण-दोषों का विवेचन करेंगे।

परिभाषा—आयात अभ्यंश का आशय, वस्तु की उस निश्चित मात्रा अथवा मूल्य से है जिसका, समय की एक निश्चित अवधि में देश में आयात किया जा सकता है। उस मात्रा को पहले से ही निर्धारित कर दिया जाता है जिसका आयात किया जा सकता है। आयात अभ्यंश का समय की जिस अवधि से सम्बन्ध होता है, वह विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रहती है—अधिकतम अवधि एक वर्ष की होती है तथा न्यूनतम अवधि एक माह की रहती है। जिस मात्रा के आयात की अनुमति दी जाती है, वह पिछले आधार वर्ष का कुछ प्रतिशत होती है तथा 100 प्रतिशत से कम होती है।

प्रो. हैबरलर के अनुसार, "आयात अभ्यंश के अन्तर्गत, जिस निश्चित मात्रा का आयात किया जा सकता है उसमें वृद्धि नहीं की जा सकती।"

व्यवहार में आयात अभ्यंश को या तो भौतिक मात्रा निश्चित कर दी जाती है अथवा आयातों का भौतिक मूल्य निश्चित कर दिया जाता है अथवा कभी-कभी इन दोनों को मिला दिया जाता है। जब अभ्यंश की भौतिक मात्रा निश्चित कर दी जाती है तो उसे प्रत्यक्ष अभ्यंश (Direct Quotas) कहते हैं और जब उसकी मूल्य में मात्रा निश्चित कर दी जाती है तो उसे अप्रत्यक्ष अभ्यंश (Indirect Quotas) कहते हैं।

आयात अभ्यंश के उद्देश्य (Objectives of Import Quotas)

आयात अभ्यंश के प्रायः निम्न उद्देश्य होते हैं:

(i) विदेशी प्रतियोगी वस्तुओं के आयात को नियन्त्रित करके घरेलू उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना।

(ii) आयातों को प्रभावशाली ढंग से त्वरित नियन्त्रित करने के लिए।

(iii) भुगतान शेष के असन्तुलन को दूर करने के लिए आयातों को नियन्त्रित करना।

(iv) आयातों के अन्तर्प्रवाह को सीमित करके, घरेलू कीमतों में स्थायित्व के लिए।

(v) जो देश व्यापार में प्रतिबन्धात्मक तरीके अपना रहे हैं उनसे प्रतिशोध लेने के लिए, एवं

(vi) आयात अभ्यंशों के माध्यम से उन आयातों को सीमित करना जिनसे सट्टे की भावना को प्रोत्साहन मिलता है।

इस प्रकार संकटकालीन उपायों के रूप मे अभ्यंशों को प्रयुक्त किया जाता है तथा त्वरित कार्यान्वयन आवश्यक होता है—यही कारण है कि संसदीय कानून के बदले कार्यकारिणी द्वारा इसे लागू किया जाता है।

आयात अभ्यंशों के विभिन्न प्रकार
(TYPES OF IMPORT QUOTAS)

आयात अभ्यंशों का वर्गीकरण निम्न पाँच रूपों में किया जाता है .

(1) प्रशुल्क अभ्यंश (Tariff Quota),

(2) एकपक्षीय अभ्यंश (Unilateral Quota),

(3) द्विपक्षीय अभ्यंश (Bi-lateral Quota),

(4) मिश्रित अभ्यंश (Mixing Quota),

(5) आयात लाइसेंस प्रणाली (Import Licensing System)।

अब हम क्रमश इनका विस्तार से विवेचन करेंगे.

(1) **प्रशुल्क अभ्यंश**—इसके अन्तर्गत आयात की एक निश्चित मात्रा को या तो बिना कर के अथवा कम करो पर देश मे आने की अनुमति दी जाती है। परन्तु यदि इस मात्रा से अधिक आयात किया जाता है तो उसका आयात केवल सापेक्षिक रूप मे करों की ऊँची दर पर ही किया जा सकता है। इस प्रकार प्रशुल्क अभ्यंश मे, प्रशुल्क और आयात अभ्यंश दोनो के लक्षणों का समावेश है। यह संरक्षण की एक पुरानी विधि है जिसका विस्तृत प्रयोग 1850 के बाद के वर्षों मे किया गया था।

प्रशुल्क अभ्यंश का मुख्य लाभ यह है कि यह लोचदार होता है। परन्तु इसके मुख्य दो दोष भी हैं जो इस प्रकार हैं :

(i) जब कम दरो पर आयात की मात्रा समाप्त हो जाती है, तो कम दरो से सम्पूर्ण लाभ उन विदेशी फर्मों को होते हैं जो आयात अभ्यंश वाले देश को निर्यात करती हैं।

(ii) कोटा की न्यूनतम प्रारम्भिक दरों पर बहुत जल्दी आयात किये जाते हैं जिससे कीमतो मे भारी उच्चावचन होते हैं।

उक्त दोषों के कारण प्रशुल्क-अभ्यंशों का प्रयोग नहीं किया जाता।

(2) **एकपक्षीय अभ्यंश**—एकपक्षीय आयात अभ्यंश के अन्तर्गत एक विशेष देश, एक निश्चित समय मे आयात की जाने वाली वस्तुओं की निरपेक्ष रूप से मात्रा निश्चित कर देता है। इस सम्बन्ध मे विदेशी सरकारों के साथ कोई पूर्व समझौता नहीं किया जाता। यह निश्चित अभ्यंश या तो सर्वव्यापी (global) हो सकता है अथवा आवंटित (Allocated), जिनकी व्याख्या इस प्रकार है :

सर्वव्यापी अथवा विश्वव्यापी आयात अभ्यंश वह है जिसके अन्तर्गत निर्धारित मात्रा विश्व के किसी भी देश से आयात की जा सकती है।

आवंटित अभ्यंश वह है जिसके अन्तर्गत कुल आयातो की मात्रा का आवंटन कुछ विशेष देशो मे कर दिया जाता है।

आयात अभ्यंश के रूप मे विश्वव्यापी अभ्यंश सफल नहीं हुआ है इसके प्रमुख निम्नलिखित चार कारण हैं :

(i) इस प्रणाली मे आयात करने वाली बड़ी फर्मों को प्राथमिकता दी जाती है जो अल्प सूचना पर बड़ी मात्रा मे आयातों के आर्डर दे सकते हैं। इस प्रकार छोटे आयातकर्ताओं की अवहेलना की जाती है।

(ii) जैसे ही आयातो की अनुमति की घोषणा की जाती है, आस-पास के देशो से फौरन आयात कर लिया जाता है तथा दूर के देशो पर विचार नहीं किया जाता।

(iii) सर्वव्यापी अभ्यंश का एक दोष यह भी है कि इसमें आयातकर्ताओं में आयात की होड़ लग जाती है जिससे घरेलू बाजार में भारी मात्रा में पूर्ति हो जाती है और कीमतों में उच्चावचन होता है।

(iv) आयातों की होड़ में कभी-कभी यह भी होता है कि निश्चित मात्रा से अधिक मात्रा का आयात कर लिया जाता है। इसमें कई समस्याओं का जन्म होता है जैसे मौद्रिक दण्ड की व्यवस्था, वस्तु संग्रह की लागत एवं कभी-कभी आयातित वस्तुओं की निर्यातक देशों को वापसी।

उपर्युक्त दोषों के कारण सामान्य रूप से, आवंटित अभ्यंश का प्रयोग किया जाता है। परन्तु इस प्रणाली के भी निम्न तीन दोष हैं :

(i) इस प्रणाली में कठोरता के साथ यह निर्धारित कर दिया जाता है कि आयात किन देशों से किया जायगा तथा लागत एवं पूर्ति की अन्य दशाओं पर विचार नहीं किया जाता।

(ii) जिन देशों को निर्यात करने की अनुमति मिलती है, कभी-कभी वे एकाधिकारी के समान व्यवहार करने लगते हैं।

(iii) आयात अभ्यंश निर्धारित करते समय किसी आधार वर्ष को ध्यान में रखा जाता है किन्तु आधार वर्ष के चयन में गलती हो सकती है।

(3) द्विपक्षीय अभ्यंश—अभी हमने देखा है कि एकपक्षीय कोटा प्रणाली में निर्यातक देशों के उत्पादकों की स्थिति एकाधिकारी के समान हो जाती है। इस एकाधिकारी शोषण की प्रवृत्ति को समाप्त करने की एक पद्धति यह है कि निर्यात करने वाले देशों के साथ ऐसा समझौता किया जाय कि वे निर्यात (आयात अभ्यंश वाले देशों को) की कार्यप्रणाली को लाइसेंस प्रणाली द्वारा नियन्त्रित करें। चूंकि ये आयात अभ्यंश, आयात एवं निर्यात करने वाले देशों के समझौते के फलस्वरूप निर्धारित होते हैं अतः इन्हें द्विपक्षीय आयात अभ्यंश कहते हैं।

लाभ—द्विपक्षीय आयात अभ्यंश के निम्नलिखित लाभ हैं :

(i) इस प्रणाली के अन्तर्गत, अभ्यंश की निर्धारित अवधि में, अभ्यंशों का समान वितरण किया जा सकता है जिससे आयात करने वाले देश में कीमतों में उच्चावचन नहीं होता।

(ii) इसमें निर्यातक देशों की शोषण की प्रवृत्ति समाप्त की जा सकती है।

(iii) चूंकि विदेशों में उत्पादकों के बीच निर्यात की मात्रा को लाइसेंस प्रणाली द्वारा निर्धारित कर दिया जाता है, उत्पादक इसका विरोध नहीं करते।

(iv) चूंकि इस प्रणाली में लाइसेंस की कार्य प्रणाली निर्यातक देश द्वारा की जाती है, आयात अभ्यंश निर्धारित करने वाले देश में आयातकों का दबाव एवं हस्तक्षेप समाप्त हो जाता है।

हानियां—उपर्युक्त लाभों के बावजूद द्विपक्षीय अभ्यंश प्रणाली में निम्न दोष हैं :

(i) इस प्रणाली में अभ्यंश का प्रशासन सुसंगठित संघों (Cartels) को सौंप दिया जाता है जिससे भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलता है।

(ii) इस प्रणाली का एक दोष यह भी है कि निर्यातक देश में कीमतों में वृद्धि हो जाती है जिससे आयातक देश को हानि होती है।

(iii) नियन्त्रण के बावजूद भी निर्यातक देशों में एकाधिकारी भावना को प्रोत्साहन मिलता है।

(4) मिश्रित अभ्यंश—कई देश अपने उत्पादन में इस प्रकार का प्रावधान रखते हैं कि घरेलू उत्पादकों को पक्का माल तैयार करने में, एक निश्चित मात्रा में घरेलू कच्चे माल का प्रयोग करना आवश्यक होता है। इन प्रावधानों का अभ्यंश के समान प्रभाव होता है क्योंकि इसके अन्तर्गत विदेशी कच्चे माल का आयात नियन्त्रित हो जाता है। उदाहरण के लिए, रुई के साथ सिन्थेटिक धागे, गैसोलिन के साथ अल्कोहल, आयातित गन्ने की शक्कर के साथ चुकन्दर की शक्कर, विदेशी तम्बाकू के साथ घरेलू तम्बाकू इत्यादि।

मिश्रित अभ्यंश का निम्न में से या तो एक अथवा दोनो उद्देश्य होते हैं :

(i) घरेलू उत्पादकों को सहायता देना ।

(ii) आयातों को सीमित कर, दुर्लभ विदेशी मुद्रा की सुरक्षा करना।

मिश्रित अभ्यंश का मुख्य दोष यह है कि इसमे विश्व के साधनों एवं मानव शक्ति का कुशलतम प्रयोग नहीं हो पाता एवं घरेलू निम्न स्तर की वस्तुओं के लिए ऊँची कीमतें देनी पड़ती है ।

(5) आयात लाइसेंस प्रणाली—इस प्रणाली के अन्तर्गत सम्भावित आयातकर्ताओं को उचित सरकारी अधिकारियों से आयात लाइसेंस प्राप्त करना पड़ते हैं । यह लाइसेंस या तो आयातकर्ताओं को, आयात का भुगतान करने के लिए विदेशी मुद्रा के प्रयोग की अनुमति प्रदान करता है अथवा उक्त भुगतान करने के लिए उन्हें विदेशी मुद्रा का क्रय करने के लिए अधिकृत करता है। यह आयातों को अप्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रित करता है क्योंकि यह आयातों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित न करके, आयातों के भुगतान के लिए विदेशी मुद्रा के प्रयोग को नियन्त्रित करता है ।

गुण—सर्वव्यापी एवं आबंटित अभ्यंश की तुलना मे, आयात लाइसेंस प्रणाली निश्चित ही एक सुधार है क्योंकि इससे आयात नियन्त्रण अधिक प्रभावशाली ढंग से होता है तथा अन्य विधियों के दोषो का निराकरण भी इससे हो जाता है। आयात लाइसेन्स प्रणाली के निम्न लाभ हैं :

(1) आयातो के नियन्त्रण के लिए लाइसेंस प्रणाली पर्याप्त लोचदार है। बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार लाइसेंस प्रणाली को परिवर्तित किया जा सकता है।

(2) यह एक ऐसी प्रणाली है जिसके माध्यम से एक देश अपने निवासियों की दुर्लभ विदेशी मुद्रा की माँग को नियन्त्रित कर सकता है। उदाहरण के लिए, जब द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद बहुत से देशों को डालर विनिमय की कमी हुई तो डालर क्षेत्र से आयातो को नियन्त्रित करने के लिए लाइसेंस प्रणाली का सफलता के साथ प्रयोग किया गया।

(3) इस प्रणाली मे आयात करने की होड़ समाप्त हो जाती है जिससे कीमतो मे उच्चावचन कम हो जाते हैं।

कार्य प्रणाली—जब लाइसेंस प्रणाली का उद्देश्य दुर्लभ विदेशी मुद्रा के आबटन को नियन्त्रित करना होता है तो निम्न मे से किसी एक विधि का अनुसरण किया जाता है :

(1) पहले आयात की जाने वाली वस्तुओं की घटती हुई प्राथमिकता के क्रम मे एक सूची तैयार करली जाती है और फिर उपलब्ध विदेशी मुद्रा को शुरू से लगाकर प्राथमिकता के प्रयोगो मे आबंटित किया जाता है जितने भी आयातो के लिए वह सम्भव होता है।

(2) दूसरी प्रणाली यह है कि उन वस्तुओं की सूची तैयार कर ली जाती है जिनके लिए आयात लाइसेंस की आवश्यकता होती है किन्तु प्राथमिकता के क्रम का निर्धारण नहीं किया जाता। फिर उपलब्ध विदेशी मुद्रा के आधार पर आयात की जाने वाली कुल मात्रा का निर्धारण किया जाता है। कुछ देशो मे लाइसेंस प्रदान कर दिये जाते है जो आयात करने के लिए उत्पादकों को अधिकृत कर देते हैं।

दोष—आयात प्रणाली के निम्न दोष हैं :

(i) चूँकि लाइसेंस आसानी से प्राप्त नहीं किये जा सकते, लोग इस बात का प्रयत्न करते हैं कि किसी तरह उन्हें लाइसेंस मिल जायें तथा दूसरो को न मिलें, इसके लिए वे रिश्वत एवं भ्रष्टाचार का सहारा लेते हैं अतः यह प्रणाली भेद-भाव करती है तथा कुशल आयातकर्ताओं के स्थान पर अकुशल लोगो को लाइसेंस दे दिये जाते हैं।

(ii) यदि उक्त दोष का निराकरण भी कर दिया जाय तो यह समस्या रहती है कि

जिन्हें लाइसेंस दिये जायें। कुछ देशों में उत्पादकों को लाइसेंस, उनके पिछले रिकार्ड के आधार पर दिये जाते हैं परन्तु यह विधि स्थैतिक है और नये कुशल उत्पादकों की अवहेलना करती है।

(iii) आयातों पर नियन्त्रण होने से, जिन्हें लाइसेंस प्राप्त हो जाते हैं, वे एकाधिकारी लाभ प्राप्त करने लगते हैं।

इन दोषों को दूर करने के लिए प्रो. हैबरलर ने यह सुझाव दिया है कि सरकार को नीलामी के माध्यम से लाइसेंस उन्हें देना चाहिए जो अधिकतम बोली लगाते हैं। किन्तु इसका परिणाम यह होगा कि आयात अभ्यंश का मुख्य उद्देश्य आय कमाना हो जायेगा। यद्यपि हैबरलर के अनुसार यह आयात करने वाले देश की दृष्टि से चुनाव का विवेकपूर्ण तरीका है फिर भी स्वार्थी हितों के विरोध के कारण किसी भी सरकार द्वारा इसे अपनाया नहीं गया है।

आयात अभ्यंश के प्रभाव (Effects of Quotas)

आयात अभ्यंश के निम्न प्रभाव होते हैं -

(1) कीमत प्रभाव (Price Effect)—आयात-अभ्यंश से चूँकि देश में आयात की मात्रा सीमित हो जाती है, सामान्य रूप से वस्तुओं की कीमतों की प्रवृत्ति बढ़ने की होती है यद्यपि प्रशुल्क (Tariff) से भी कीमतें बढ़ती हैं किन्तु इसमें एक मुख्य अन्तर होता है। प्रशुल्क में कीमतों में होने वाली वृद्धि उस मात्रा तक सीमित रहती है जितनी कि प्रशुल्क की मात्रा से से, विदेशों में कीमतों में होने वाली कमी को घटा दिया जाय। परन्तु आयात अभ्यंश में आयात का नियन्त्रण निरपेक्ष रूप से होता है जिसमें विदेशी कीमतों के घटने का कोई प्रभाव नहीं होता, अतः कीमतें किसी भी सीमा तक बढ़ सकती हैं। आयात अभ्यंश के फलस्वरूप कीमतों में किस सीमा तक वृद्धि होगी, यह तीन बातों पर निर्भर रहता है :

(i) किस सीमा तक विदेशी पूर्ति को नियन्त्रित किया जाता है ?

(ii) आयात करने वाले देश में माँग की लोच कितनी है, एवं

(iii) घरेलू और विदेशी पूर्ति की लोच कितनी है ?

आयात अभ्यंश के फलस्वरूप कीमत प्रभाव को प्रो. एल्सवर्थ और प्रो हैट[1] (Haight) ने रेखाचित्र द्वारा प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है :

संलग्न रेखाचित्र में DD घरेलू माँग वक्र है तथा S_2S पूर्ति वक्र है जिसमें विदेशी आयात भी शामिल है। स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत सन्तुलन कीमत OP अथवा PM है जहाँ माँग-पूर्ति बराबर है तथा व्यापार की जाने वाली मात्रा OM है। अब यदि आयात करने वाला देश OM_1 के बराबर आयात अभ्यंश निर्धारित कर देता है तो अब पूर्ति वक्र बदलकर S_2QS_1 हो जाता है। अब आयात पूर्ति वक्र का

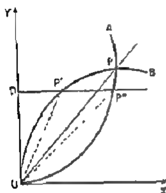
चित्र 30·1

1 F. A. Haight, *French Import Quotas*.

QS_1 अंश यह बताता है कि आयात अभ्यंश सीमा OM_1 के बाद पूर्ति वक्र पूर्ण रूप से बेलोचदार हो जाता है। अब नयी सन्तुलन कीमत P_1M_1 अथवा OP_1 पर निर्धारित होती है अर्थात् कीमत में PP_1 वृद्धि हो जाती है।

माँग और पूर्ति की दशाओं में होने वाले परिवर्तन के अनुसार कीमतों में वृद्धि की सीमा भिन्न-भिन्न होगी।

(2) व्यापार की शर्तों पर प्रभाव—आयात अभ्यंश का देश की व्यापार शर्तों पर भी प्रभाव पड़ता है और व्यापार शर्तें एक देश के लिए या तो कम अनुकूल अथवा अधिक अनुकूल हो जाती हैं। इसे संलग्न रेखाचित्र द्वारा समझाया जा सकता है।



चित्र 30·2

प्रस्तुत रेखाचित्र में OA देश A का प्रस्ताव वक्र है जो X वस्तु का निर्यात कर रहा है तथा OB देश B का प्रस्ताव वक्र है जो Y वस्तु का निर्यात कर रहा है। स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत OP व्यापार की शर्तें हैं। अब मानलो कि देश A अपने Y के आयातों को सीमित कर OD कर देता है। अब X और Y के बीच व्यापार की शर्तों में परिवर्तन हो जाता है तथा अब व्यापार की शर्तें OP' अथवा OP'' अथवा इन दोनों के बीच कोई भी कीमत हो सकती है। नयी व्यापार की शर्तें आयात अभ्यंश लगाने वाले देश के अधिक अथवा कम अनुकूल हो सकती हैं। यदि आयातकर्ता अतिरिक्त लाभ प्राप्त करते हैं तो अभ्यंश से व्यापार की शर्तों में उस सीमा तक सुधार होता है जिस सीमा तक विदेशी प्रस्ताव वक्र लोचदार होता है। किन्तु यदि वस्तु को निर्यात करने वाले विदेशी उत्पादक सुसंगठित हैं तो व्यापार की शर्तें A देश के विपक्ष में भी हो सकती हैं।

(3) आय प्रभाव (Income Effect)—आयात अभ्यंश का जो अन्य प्रभाव होता है वह समान मात्रा के प्रशुल्क से अधिक होता है। इसका कारण स्पष्ट है। आयात अभ्यंश की सीमा के आयात की सीमान्त प्रवृत्ति शून्य हो जाती है। इससे आय का रिसाव (Leakages) कम हो जाता है एवं गुणक का मूल्य बढ़ जाता है एवं आय में वृद्धि होती है। प्रशुल्क की तुलना में, आयात अभ्यंश का यह विस्तारवादी प्रभाव विशेष रूप से अर्द्ध-विकसित देशों के लिए अधिक महत्वपूर्ण है जिन्हें भुगतान शेष की कठिनाइयों (मुद्रा प्रसार के कारण) का सामना करना पड़ता है।

(4) भुगतान शेष प्रभाव (Effect on the Balance of Payment)—आयात अभ्यंश का प्रयोग व्यापार शेष को अनुकूल बनाये रखने अथवा निर्यात की तुलना में आयातों की अधिकता को कम करने के लिए कई देशों द्वारा किया गया है। यह तर्क दिया जाता है कि आयातों को सीमित करके, आयात अभ्यंश से व्यापार में घाटे की स्थिति समाप्त हो जाती है तथा भुगतान-शेष की स्थिति में सुधार होता है। यह भी कहा जाता है कि मुद्रा संकुचन और अवमूल्यन की तुलना में, आयात अभ्यंश की विधि, आयातों को सीमित करने के लिए कम हानिकारक है।

किन्तु जो भुगतानशेष में सुधार के लिए, अभ्यंशों का समर्थन करते हैं, वे अभ्यंश के निर्यात प्रभाव को भूल जाते हैं। वास्तव में अभ्यंशों का निर्यात पर निम्न तीन प्रकार से प्रतिकूल प्रभाव होता है :

(i) विदेशी निर्यातक, आयात अभ्यंश वाले देश में कम बेच पाते हैं अतः वे अभ्यंश वाले देश से अधिक आयात भी नहीं कर पाते।

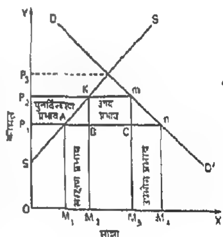
(ii) चूंकि अभ्यंश के कारण, आयात अभ्यंश वाले देश में कीमतें बढ़ जाती हैं, अतः उसके निर्यात की कीमतों में भी वृद्धि हो जाती है जिससे निर्यात हतोत्साहित होते हैं।

(iii) आयात अभ्यंश के फलस्वरूप विदेशों में प्रतिशोध की भावना जाग्रत होती है और यह प्रतिशोध प्रशुल्क की तुलना में अधिक होता है।

उपर्युक्त दोषों के कारण इस बात में सन्देह प्रकट किया जाता है कि आयात अभ्यंश से भुगतान शेष में सुधार किया जा सकता है।

(5) अन्य प्रभाव (संरक्षण, उपभोग, पुनर्वितरण एवं आय प्रभाव)--बहुत मामलों में, प्रशुल्क एवं आयात अभ्यंश के प्रभाव प्रायः समान होते हैं। यदि किसी वस्तु की माँग और पूर्ति के वक्र बेलोचदार हैं, तो चाहे देश प्रशुल्क का प्रयोग करे अथवा आयात अभ्यंश का, प्रभाव में कोई अन्तर नहीं होता तथा इनका संरक्षण उपभोग और पुनर्वितरण पर एक सा प्रभाव होता है। इन सारे प्रभावों को निम्न रेखाचित्र में समझाया गया है :

संलग्न रेखाचित्र 30·3 में वस्तु का घरेलू पूर्ति वक्र SS' तथा माँग वक्र DD' है। व्यापार के अभाव में कीमत P_3 बिन्दु पर अर्थात् OP_3 निर्धारित होगी जहाँ घरेलू पूर्ति वक्र, माँग वक्र के बराबर है। यदि स्वतन्त्र व्यापार होता है तो कीमत OP_1 बिन्दु पर निर्धारित होगी जहाँ घरेलू उत्पादन OM_1 के बराबर है तथा आयात $M_1 M_4$ के बराबर है। हम यह मान लें कि आयात की विदेशी पूर्ति पूर्णरूप से लोचदार है जिससे विदेशी पूर्ति, प्रशुल्क या अभ्यंश के फलस्वरूप अप्रभावित रहती है। यदि प्रति इकाई (आयात) पर P_1P_2 से बढ़कर OP_2 हो जायगी जिससे घरेलू उत्पादन OM_1 से बढ़कर OM_2 हो जायगा। यह संरक्षण प्रभाव है तथा घरेलू उपभोग OM_4 से घटकर OM_3 हो जायगा—यह उपभोग प्रभाव है। घरेलू उत्पादकों की आय में वृद्धि होती है क्योंकि आयात अभ्यंश के कारण कीमतों में वृद्धि होती है किन्तु उपभोक्ताओं की वास्तविक आय कम हो जाती है क्योंकि उनकी उपभोक्ता की बचत समाप्त हो जाती है। यह पुनर्वितरण प्रभाव है जो रेखाचित्र में $P_1 AKP_2$ द्वारा दिखाया गया है। सरकार को आयात-कर से जो आय प्राप्त होगी, वह आय प्रभाव होगा जो BCmK द्वारा दिखाया गया है।



चित्र 30·3

यदि प्रशुल्क के स्थान पर आयात अभ्यंश लगाया जाता जिसमें $M_2 M_3$ आयात सीमित हो जाता तो विभिन्न प्रभाव वही होते जो प्रशुल्क के होते। किन्तु प्रशुल्क एवं आयात अभ्यंश के प्रभाव में एक अन्तर है—प्रशुल्क में, आयातक देश में सरकार को BCmK आय प्राप्त होती है

किन्तु यदि M_1M_2 आयात अभ्यंश निर्धारित कर दिया जाता है, तो आयातों की कीमत बढ़कर OP_2 हो जाती है। अब प्रश्न है कि यह जो कीमतो मे वृद्धि होती है, वह किसे प्राप्त होती है।

साधान्य रूप से यह कीमतो मे वृद्धि आयातको को प्राप्त होती है और जो पहले आयात करने वाला लाइसेंस प्राप्त करने मे सफल हो जाता है उसे ही बढ़ी हुई आय प्राप्त होती है। किन्तु यदि सरकार, आयात-लाइसेंस की नीलामी करती है तो फिर वह आय प्राप्त कर लेती है तथा फिर यह प्रभाव प्रशुल्क के समान ही होता है।

आयात अभ्यंशों की लोकप्रियता के कारण

सन् 1930 के बाद विश्व के कई देशो ने आयात अभ्यंशो का प्रयोग, प्रशुल्क के स्थान पर किया। 1931 मे फ्रास ने अभ्यंश शुरू किया तथा 1934 तक विश्व के 27 देश इस प्रणाली को अपना चुके थे। इसकी लोकप्रियता के निम्न तीन कारण हैं :

(1) **विदेशी पूर्ति की लोचहीनता (Inelasticity of Foreign Supply)**—यदि आयात की जाने वाली विदेशी वस्तुओं की पूर्ति प्राय: बेलोचदार है तो प्रशुल्क से न तो आयात किये जाने वाले देशो मे उनकी कीमत बढ़ायी जा सकती है और न ही आयातो की मात्रा को कम किया जा सकता है। इससे केवल व्यापार की शर्तों मे सुधार किया जा सकता है तथा विदेशियों पर कर लगाकर, सरकार अपनी आय बढ़ा सकती है। किन्तु यदि सरकार आयातित वस्तुओ की कीमतें बढ़ाकर आय का पुनर्वितरण करना चाहती है तो यह अभ्यश प्रणाली से ही सम्भव है क्योकि बेलोचदार विदेशी पूर्ति (आयातो की) होने से, आयातो पर अभ्यश द्वारा प्रतिबन्ध लगाकर ही घरेलू कीमतो मे वृद्धि की जा सकती है।

(2) **आयातों के प्रतिबन्ध की निश्चितता (Certainty of Control Over Imports)**—अभ्यंश प्रणाली मे आयातो को प्रत्यक्ष एव निश्चित रूप से नियन्त्रित किया जा सकता है। प्रशुल्क लगाकर यह पहले से नही जाना जा सकता कि निश्चित अवधि मे कितनी मात्रा का आयात किया जायगा अत. इस तर्क पर निश्चित ही आयात अभ्यश श्रेष्ठ है।

(3) **प्रशासन सम्बन्धी लोच (Administrative Flexibility)**—अभ्यंश की लोकप्रियता का तीसरा कारण यह है कि इनका प्रशासन अधिक लोचपूर्ण एव प्रभावशील है। इन्हे आसानी से लागू एव परिवर्तित किया जा सकता है जबकि प्रशुल्क की दरो मे परिवर्तन करने के लिए कानूनी अड़चनें होती हैं।

इस प्रकार अभ्यश प्रणाली की लोकप्रियता के तीन कारण हैं—विदेशी पूर्ति की लोचहीनता, प्रतिबन्ध की निश्चितता एवं प्रशासनात्मक सुविधा। कुछ अर्थशास्त्री निश्चितता को सबसे महत्वपूर्ण कारण मानते हैं।

आयात अभ्यंश एवं प्रशुल्क—एक तुलनात्मक विवेचन
(QUOTAS COMPARED WITH TARIFF)

यद्यपि कुछ अंशो मे प्रशुल्क एव आयात अभ्यशो के प्रभावो मे समानता होती है, फिर भी इन दोनो मे राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रभावों को देखते हुए कुछ महत्वपूर्ण अन्तर हैं जो इस प्रकार हैं :

(1) किसी भी रूप मे कोटा प्रणाली से जिन समस्याओ का जन्म होता है, वे प्रशुल्क से पैदा नही होती। प्रशुल्क लगाकर विदेशी वस्तुओ की कीमतें बढ़ाकर व्यापार को सीमित किया जाता है परन्तु प्रशुल्क का भुगतान कर असीमित मात्रा मे आयात किया जा सकता है। परन्तु आयात अभ्यश लगाकर एक निश्चित मात्रा के बाद, आयातो को रोक दिया जाता है। प्रो. एल्सवर्थ[1]

1 Ellsworth, *International Economics*, p. 383.

के अनुसार, "वे (अभ्यंश) प्रत्यक्ष और परिमाणात्मक प्रतिबन्ध के उपाय है—व्यापार का पूर्ण निषेध करने हेतु आधी मंजिल।"

(2) प्रशुल्क के अन्तर्गत माँग और पूर्ति की बाजार शक्ति के द्वारा यह निर्धारित होता है कि कौन आयात करेगा तथा कितनी मात्रा मे। उत्पादक, प्रशुल्क का भुगतान करने पर चाहे जितनी मात्रा मे आयात कर सकता है किन्तु अभ्यंश प्रणाली मे केवल एक निश्चित मात्रा तक ही आयात किया जा सकता है और इसका निर्धारण बाजार की शक्तियो द्वारा नही होता। प्रो. हैबरलर के अनुसार, "अधिकतम कीमत निश्चित करने के समान आयात अभ्यंशो को निश्चित करना भी कीमत संयन्त्र का हस्तक्षेप है जो कीमत प्रणाली के लिए अपरिचित है।"[1]

(3) जहाँ तक संरक्षण और पुनर्वितरण के प्रभाव का प्रश्न है, अभ्यंश और प्रशुल्क मे ज्यादा भिन्नता नही होती। हाँ, यह कहा जा सकता है कि आयात अभ्यंश अधिक संरक्षणात्मक होते हैं। किन्तु जहाँ तक आय प्रभाव का प्रश्न है इन दोनो मे यह अन्तर है कि जहाँ प्रशुल्क से सरकार को आय प्राप्त होती है आयात अभ्यंशो से कोई आय प्राप्त नहीं होती। यह अन्तर समाप्त किया जा सकता है यदि आयात लाइसेंसो को सरकार द्वारा नीलामी की जाय।

(4) प्रशुल्क के अन्तर्गत, इस बात का कोई अनुमान नही लगाया जा सकता है कि कितनी मात्रा मे आयात किया जायगा किन्तु आयात अभ्यंश प्रणाली के अन्तर्गत यह पहले से ही जाना जा सकता है कि कितनी मात्रा में आयात किया जायगा।

(5) प्रशुल्क का यह प्रभाव होता है कि विदेशी अकुशल उत्पादकों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है क्योंकि वे प्रशुल्क का भार नही सह पाते जबकि अभ्यंश प्रणाली मे विदेशी कुशल और अकुशल उत्पादकों पर समान प्रभाव होता है एवं उन विदेशी फर्मों को प्रश्रय एवं प्राथमिकता मिलती है जिनके आयात करने वाले देश के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होते हैं।

(6) अभ्यंश प्रणाली मे घरेलू कीमतो मे जो वृद्धि होती है, वह प्रशुल्क से होने वाली वृद्धि से अधिक होती है क्योकि अभ्यंश के अन्तर्गत आयात की जाने वाली मात्रा निश्चित रहती है अत. यदि देश या विदेश मे माँग और पूर्ति में परिवर्तन होता है तो उससे आयातो मे परिवर्तन नही होता वरन् कीमतो मे परिवर्तन होता है। इस दृष्टि से उपभोक्ताओं के लिए अभ्यंश प्रणाली अधिक खर्चीली है।

जहाँ तक प्रशुल्क का कीमतों के प्रभाव से सम्बन्ध है, उसका कीमतो पर पड़ने वाला प्रभाव बहुत कुछ स्पष्ट होता है।

(7) प्रशुल्क की तुलना मे, अभ्यंश प्रणाली, प्रत्यक्ष नियन्त्रण की एक आपत्तिजनक प्रणाली है। अभ्यंश प्रणाली मे यदि एक घरेलू उत्पादक, भले ही वह अधिक कुशल है एवं सस्ते मे उत्पादन कर सकता है, अभ्यंश पाने मे असफल हो जाता है तो वह अपना उत्पादन नही बढ़ा पाता और यदि अकुशल उत्पादक लाइसेंस पा जाता है तो कुशलता के स्थान पर अकुशलता को प्रश्रय मिलता है। प्रशुल्क प्रणाली विदेशी प्रतियोगिता से घरेलू बाजार को संरक्षण देती है किन्तु अभ्यंश प्रणाली इससे भी आगे जाकर अकुशल घरेलू उत्पादक को, न केवल विदेशी उत्पादकों से संरक्षण देती है वरन् अपने ही देश के कुशल उत्पादकों से भी संरक्षण देती है।

(8) अभ्यंश और प्रशुल्क मे एक महत्वपूर्ण अन्तर और भी है। यदि देश मे सम्भावित एकाधिकार को प्रशुल्क द्वारा संरक्षण मिलता है तो एकाधिकारी अन्तर्राष्ट्रीय कीमत मे प्रशुल्क की मात्रा मिलाकर इतनी ही ऊँची कीमत वसूल कर सकता है। इससे अधिक कीमत देने को कोई उपभोक्ता तैयार नहीं होगा क्योंकि उतनी ही कीमत मे वह विदेशो से उस वस्तु को प्राप्त कर सकता है। किन्तु यदि प्रशुल्क को कोटा (अभ्यंश) मे परिवर्तित कर दिया जाय तो सम्भावित

1 "The fixing of import quotas, like the fixing of maximum prices, is an interference with the price mechanism which is alien to the price system." Haberler, *op. cit.*, p. 348.

घरेलू एकाधिकार, वास्तविक एकाधिकार में परिवर्तित हो जायगा क्योंकि अब सम्भावित एकाधिकारी वस्तुओं का मूल्य बढ़ा सकता है क्योंकि उसे विदेशी आयातों से प्रतियोगिता का कोई खतरा नहीं रहता। इसीलिए कहा जाता है कि आयात अभ्यंश, आयात करने वाले के एकाधिकार की स्थापना करते हैं जो उपभोक्ताओं के लिए हानिकारक है। अभ्यंश प्रणाली को समाप्त कर, उसे प्रशुल्क में परिवर्तित करने का यह एक मजबूत तर्क है।

(9) जहाँ तक भुगतान शेष को प्रभावित करने का प्रश्न है, इस बिन्दु पर भी प्रशुल्क और आयात अभ्यंश इन दोनों में अन्तर है। प्रशुल्क लगाने के फलस्वरूप, सीमित अथवा अधिक मात्रा में, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता रहता है जिसका भुगतान शेष पर प्रभाव होता है। किन्तु आयात अभ्यंश में यह सम्भव नहीं है क्योंकि इसमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार निरपेक्ष रूप में सीमित हो जाता है एवं भुगतान शेष को सन्तुलन में लाने का देश का प्रयत्न भी बिल्कुल प्रतिबन्धित हो जाता है।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कुछ सीमा तक स्थिरता एवं वृद्धि बनाये रखने की दृष्टि से प्रशुल्क की नीति को आयात अभ्यंश के स्थान पर प्राथमिकता दी जाती है।

अभ्यंश प्रणाली के लाभ अथवा पक्ष में तर्क

यद्यपि कई अर्थशास्त्रियों ने अभ्यंश प्रणाली के विपक्ष में तर्क देकर उसको समाप्त करने का समर्थन किया है किन्तु अभ्यंश प्रणाली आज भी जीवित है बल्कि और भी कई देश उसे अपना रहे हैं। इसका कारण यह है कि अभ्यंश प्रणाली के कुछ अपने लाभ अथवा गुण होते हैं जो इस प्रकार हैं :

(1) **आयातों को सीमित करने में अधिक प्रभावशाली**—जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो चुका है, कि जब देश में विदेशी मुद्रा का संकट होता है तो इस स्थिति में आयातों की भौतिक मात्रा को सीमित करने में अभ्यंश अधिक निश्चित होते हैं। यही कारण है कि निश्चितता के आधार पर कई देशों ने इसका प्रयोग किया है।

(2) **संकटकालीन संरक्षण की विधि**—यदि देश में विदेशी प्रतियोगिता की गम्भीर समस्या हो तो घरेलू उद्योगों को संरक्षण देने के लिए, आयात अभ्यंश, प्रशुल्क की तुलना में अधिक प्रभावशील हैं। प्रतियोगिता के कारण घरेलू उद्योगों की आय में एकाएक भारी कमी होने लगती है, इसे रोकने के लिए आयात अभ्यंश ही उन्हें संरक्षण देकर उनकी आय में वृद्धि कर सकते हैं।

(3) **बाह्य मुद्रा संकुचन के प्रभाव को निष्क्रिय करने में सक्षम**—अभ्यंश प्रणाली का एक गुण यह भी है कि इसमें विदेशों में होने वाले मुद्रा संकुचन के प्रतिकूल प्रभावों से बचा जा सकता है। प्रथम और द्वितीय महायुद्ध के बीच की अवधि में बहुत से देशों ने जो विदेशी मुद्रा संकुचन के दबाव में थे, आयात अभ्यंशों को अपना कर प्रभावशाली संरक्षण प्राप्त किया।

(4) **अर्द्धविकसित देशों के लिए उपयुक्त**—अर्द्धविकसित देशों की समस्याओं को हल करने में अभ्यंश अधिक प्रभावशाली हैं। इन देशों में शिशु उद्योगों को संरक्षण देना बहुत आवश्यक होता है और प्रभावशाली संरक्षण, आयात अभ्यंश के द्वारा ही दिया जा सकता है। यही कारण है कि उक्त देशों ने प्रशुल्क के स्थान पर अभ्यंश प्रणाली को अपनाया जाता है।

(5) **भुगतान शेष की प्रतिकूलता ठीक करने के लिए**—अर्द्धविकसित देशों की आयात करने की सीमान्त प्रवृत्ति तो ऊँची रहती है किन्तु इनके पास भुगतान करने के लिए पर्याप्त मात्रा में विदेशी मुद्रा का अभाव रहता है। अतः यह आवश्यक होता है कि भुगतान शेष की स्थिति में सुधार करने के लिए आयातों पर नियन्त्रण लगाया जाय। इस दिशा में आयात अभ्यंशों का प्रयोग प्रभावपूर्ण कदम है।

(6) **देश की मोलभाव की शक्ति में वृद्धि**—चूंकि अभ्यंश से, आयातों को

सीमित कर दिया जाता है, अतः प्रशुल्क की तुलना में यह अधिक प्रभावशील रीति है। इससे एक देश के उत्पादकों को पूर्ण संरक्षण मिल जाता है और उनकी मोल-भाव करने की शक्ति भी बढ़ जाती है।

(7) सरल कार्यान्वयन—अभ्यंश प्रणाली को अधिक सरलता से कार्यान्वित किया जा सकता है तथा बहुत सी वैधानिक कठिनाइयों से बचा जा सकता है। इसे विस्तार से कोटा प्रणाली की लोकप्रियता के अन्तर्गत इसी अध्याय में समझा दिया गया है।

(8) कीमतों में स्थायित्व अथवा वृद्धि सम्भव—प्रशुल्क का प्रभाव यह होता है कि उसके फलस्वरूप कीमतों में वृद्धि हो जाती है किन्तु अभ्यंश प्रणाली में यदि देश चाहे तो कीमतों में स्थायित्व रखा जा सकता है अथवा उसमें वृद्धि की जा सकती है। आयातों की विदेशी पूर्ति बेलोचदार होने पर (जो कि अभ्यंश में सम्भव है) आयातों की पूर्ति को घटाकर अथवा निश्चित रखकर कीमतों में वृद्धि अथवा स्थिरता रखी जा सकती है। फ्रांस ने 1931 में आयात अभ्यंश की प्रणाली इसलिए शुरू की थी ताकि फ्रांस के कृषकों को संरक्षण देकर कीमतों को गिरने से रोका जा सके क्योंकि 1930-31 में फ्रांस में कृषि उत्पादनों का आयात काफी बढ़ गया था।

उपर्युक्त गुणों के कारण आयात अभ्यंशों का अधिकांश देशों द्वारा व्यापक पैमाने पर प्रयोग किया जाता है।

आयात अभ्यंशों के दोष

आयात अभ्यंशों के जहाँ एक ओर कुछ सामान्य दोष हैं, वहीं दूसरी ओर कुछ प्रशासन सम्बन्धी कठिनाइयाँ हैं तथा ये सब मिलकर आयात अभ्यंशों को असफल बनाने के लिए पर्याप्त हैं। कुल मिलाकर अभ्यंश प्रणाली के निम्न दोष गिनाये जा सकते हैं.

(1) अधिक प्रतिबन्धात्मक—आयात अभ्यंशों की प्रकृति बहुत अधिक प्रतिबन्धात्मक होती है अर्थात् ये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बहुत सीमित कर देते हैं तथा इन प्रतिबन्धों में इसलिए और भी वृद्धि हो जाती है क्योंकि अभ्यंशों में आसानी से परिवर्तन किया जा सकता है।

(2) प्रतिशोध को प्रोत्साहन—चूँकि आयात अभ्यंश, अन्य देशों के निर्यात को सीमित कर देते हैं, अन्य देश भी प्रतिशोध के उद्देश्य से अपने आयातों को नियन्त्रित करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संकुचित हो जाता है।

(3) सरकार को आय नहीं—जहाँ प्रशुल्क से सरकार को आय प्राप्त होती है, आयात अभ्यंश से सरकार को कोई आय प्राप्त नहीं होती। यद्यपि यह सुझाव दिया जाता है कि लाइसेंस की नीलामी से सरकार आय प्राप्त कर सकती है किन्तु यह कोई व्यावहारिक उपाय नहीं है।

(4) एकाधिकार की प्रवृत्ति—अभ्यंशों के कारण, आयात प्रतिबन्ध लगाने वाले देश में, सम्भावित एकाधिकार, वास्तविक एकाधिकार में परिवर्तित हो जाता है जिससे उपभोक्ताओं का शोषण होता है।

(5) पक्षपात एवं भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन—प्रशासनात्मक दृष्टि से, आयात अभ्यंश का नियन्त्रण, प्रशुल्क की तुलना में कठिन है क्योंकि अभ्यंश कुछ ऐसी व्यापारिक चालों को जन्म देते हैं जो वाञ्छनीय नहीं हैं। अभ्यंश प्रणाली में कोटे का आवंटन विभिन्न देशों में किया जाता है और देशों में भेद-भाव किया जाता है जिसके फलस्वरूप राजनीतिक भ्रष्टाचार एवं द्वेष फैलता है।

जब देश के उत्पादकों के बीच अभ्यंशों का आवंटन किया जाता है तब भी गम्भीर समस्याएं उठ खड़ी होती हैं। जो उत्पादक अभ्यंशों को प्राप्त करने में सफल हो जाता है, उसे असामान्य रूप से ऊँचा लाभ प्राप्त होता है अतः आयात अभ्यंश प्राप्त करने के लिए रिश्वत एवं अनुचित साधनों का सहारा लिया जाता है। सरकारी अधिकारी जिनके अधिक नजदीक होते हैं या जो

उन्हें खुश कर सकता है, वह अभ्यंश पाने में सफल हो जाता है। जो सतत रूप से कोशिश करके, उक्त उद्देश्यों में सफल नहीं हो पाते वे देखते रह जाते हैं।

(6) **मुद्रा प्रसार की स्थिति में घातक**—यदि घरेलू अर्थव्यवस्था में मुद्रा प्रसार की स्थिति है तो आयात अभ्यंश संकट को और अधिक बढ़ा देते हैं। प्रो. किण्डलबर्जर के अनुसार, "आयात अभ्यंश, मुद्रा-प्रसार की अग्नि पर ईंधन डालते हैं जबकि प्रशुल्क से आय प्राप्त होती है जो अग्नि से ज्वलनशील पदार्थ को दूर करती है। जब यह कहा जाता है कि आयात अभ्यंश, अन्य वैकल्पिक साधनों की तुलना में कम वांछनीय हैं तो यह कथन उस स्थिति का सूचक है जब देश में अनियन्त्रित मुद्रा प्रसार का भुगतान शेष प्रभाव कम करने के लिए आयात अभ्यंशों को प्रयुक्त किया जाय।"[1] अर्थात् अभ्यंशों से उस समय भुगतान शेष ठीक नहीं किया जा सकता जब देश में मुद्रा-प्रसार की स्थिति हो।

(7) **अकुशलता और अन्याय को प्रोत्साहन**—प्रो. किण्डलबर्जर का मत है कि अभ्यंशों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में पूर्ण रूप से एक स्वैच्छिक दिशा का निर्माण होता है। अभ्यंश प्रणाली में निर्यातों और आयातों का निर्धारण बाजार की शक्तियों द्वारा नहीं होता वरन् व्यक्तिगत हितों के द्वारा होता है जो कुशलता और अधिकतम के उद्देश्य से प्रभावित न होकर अन्य स्वार्थी हितों द्वारा होता है। किन देशों से, कौन सी वस्तु कितनी मात्रा में खरीदी जाय, इसमें औचित्य, समानता और न्याय होना चाहिए परन्तु इनका निर्धारण भी अस्पष्टता से मुक्त नहीं है तथा इस पर भी कोई सामान्य स्वीकृति प्राप्त नहीं है कि औचित्य क्या है। "आयात अभ्यंश का प्रयोग मध्ययुगीन अर्थशास्त्र और उचित कीमत की ओर एक पिछला कदम है।"[2]

निष्कर्ष—प्रायः सब यह मत स्वीकार करते हैं कि आयात अभ्यंशों का प्रयोग पूँजीवाद से नियोजित अर्थव्यवस्था की ओर ले जाता है। यह निर्णय आर्थिक नियोजकों को करना है कि आयात अभ्यंश का प्रयोग, उनके भविष्य के नियोजन के अनुरूप है अथवा नहीं। इस बात पर विचार करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आयात अभ्यंशों के प्रयोग से अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन एवं उत्पादकता को आघात लगता है। इसके वर्तमान दोषों को देखते हुए इस बात की सम्भावना कम नजर आती है कि यह प्रणाली अधिक विकसित होगी।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. संरक्षण की रीतियों के रूप में अभ्यंशों (कोटा) तथा आयात करों (प्रशुल्क) के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए ?
2. इस दृष्टिकोण की समीक्षा कीजिए कि कोटा एवं तटकरों (प्रशुल्क) के संरक्षणात्मक एवं पुनर्वितरण प्रभाव समान होते हैं ?
3. आयात अभ्यंश से आप क्या समझते हैं ? इसके पक्ष एवं विपक्ष में तर्क प्रस्तुत कीजिए ?
4. आयात अभ्यंशों का वर्गीकरण कीजिए। प्रत्येक प्रकार के गुण-दोषों का विवेचन कीजिए ?
5. आयात अभ्यंश का कीमत और व्यापार की शर्तों पर क्या प्रभाव पड़ता है रेखाचित्र की सहायता से समझाइए ?
6. "आयात अभ्यंश अकुशल घरेलू उत्पादकों को न केवल विदेशी उत्पादकों से संरक्षण देते हैं वरन् अपने ही देश के कुशल उत्पादकों से भी संरक्षण देते हैं।" इस तर्क की विवेचना कीजिए ?

---

1 Kindleberger, *International Economics*, pp. 250-53.

2 *Ibid.*, p. 251.

7. स्पष्ट कीजिए कि कुछ देश संरक्षण के लिए प्रशुल्क की अपेक्षा आयात अभ्यंशो को अधिक प्राथमिकता क्यों देते है ? क्या आयात अभ्यंश सदैव लाभप्रद होते हैं ?
8. वर्तमान मे आयात अभ्यशो की स्थिति पर दृष्टि रखते हुए, संरक्षण के रूप मे एक नियोजित अर्थव्यवस्था मे आयात अभ्यंशो की भविष्य की स्थिति का निरूपण कीजिए।

Selected Readings

1. P. T. Ellsworth · *The International Economy.*
2. G. V. Haberler · *The Theory of International Trade.*
3. Kindleberger . *International Economics*
4. Ray & Kendu . *International Economics.*
5. D. M Mithani . *Introduction to International Economics.*

अध्याय 31

राशिपातन
[DUMPING]

परिचय

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में एक प्रवृत्ति देखने को मिलती है कि कई देश विभिन्न कारणों से अपने देश की वस्तुओं को विदेशों में बेचने के लिए प्रोत्साहित होते हैं और जिस मूल्य पर विदेशों में ये वस्तुएं बेची जाती हैं उनकी कीमत घरेलू कीमत से कम होती है। इसका परिणाम यह होता है कि कई देश इन सस्ती वस्तुओं को खरीदने के लिए प्रवृत्त होते हैं। अपने देश से, सस्ती कीमत में बेचने की प्रवृत्ति को राशिपातन कहते हैं। आधुनिक हिन्दी शब्दावली में इसे बाजार पाटना भी कहते हैं क्योंकि सस्ती वस्तुओं से विदेशी बाजारों को पाट दिया जाता है। वास्तव में राशिपातन स्वतन्त्र प्रतियोगिता में हस्तक्षेप है जिसका जन्म एकाधिकार एवं संरक्षण से होता है।

परिभाषा (Definition of Dumping)

सामान्य रूप से राशिपातन का अर्थ होता है कि जिन वस्तुओं को ऊँची कीमतों पर घरेलू बाजार में नहीं बेचा जा सकता उन्हें कम कीमत पर बेचने के लिए विदेशी बाजारों को भेज देना। सामान्य रूप से लोग यह समझते हैं कि राशिपातन का अर्थ घरेलू लागत से कम कीमत पर विदेशों में बेचना है पर यह सही अर्थ नहीं है। सही अर्थ यह है कि "विदेशी बाजार में उस कीमत पर बेचना जो घरेलू बाजार में प्राप्त की जाने वाली कीमत से कम है।"[1]

प्रो. वाइनर के अनुसार, "राशिपातन दो बाजारों में मूल्य विभेद है।"[2] निम्न तीन कारणों से वाइनर की परिभाषा पसन्द की जाती है :

(i) राशिपातन के अन्तर्गत कीमतों के नियम समान होते हैं चाहे वह एक देश के दो क्षेत्रों के बीच हो अथवा दो देशों में हो।

(ii) उक्त परिभाषा में विरोधी राशिपातन (Reverse Dumping) भी शामिल हो जाता है जिसमें विदेशी कीमत, घरेलू कीमत से ऊँची रहती है।

(iii) कीमत विभेद केवल घरेलू अर्थव्यवस्था और विदेश में ही नहीं होता वरन् दो विदेशी बाजारों में भी हो सकता है।

---

1 "Dumping means sales in a foreign market at a price below that received in the home market."

2 "Dumping is price discrimination between two markets" —Viner

अध्याय 29

प्रशुल्क अथवा तटकर
[TARIFFS]

परिचय

पिछले अध्यायों में अनेक बार प्रशुल्क का उल्लेख किया गया है एवं इसका अर्थ भी स्पष्ट कर दिया गया है कि संरक्षण के अन्तर्गत आयातों को सीमित किया जाता है ताकि देश के उत्पादकों को विदेशी प्रतिस्पर्धा से बचाया जा सके। संरक्षण की सबसे अधिक लोकप्रिय विधि प्रशुल्क है जो आयातित वस्तुओं पर लगाया जाता है। प्रशुल्क अथवा तटकर का प्रयोग केवल अर्द्धविकसित देशों में ही नहीं वरन् विकसित देशों में भी किया जाता है। इस अध्याय में हम प्रशुल्क के प्रकारों एवं उनके प्रभावों की विवेचना करेंगे।

प्रशुल्क की परिभाषा—प्रशुल्क की परिभाषा विस्तृत एवं सीमित दो अर्थों में की गयी है। सीमित अर्थ में प्रशुल्क उन करों की सूची है जो किसी देश में विदेश से आयातित वस्तुओं पर लगाये जाते हैं।[1] इस प्रकार प्रशुल्क अथवा तटकर का आशय वस्तुओं पर लगाये गये आयात करों से है।

विस्तृत अर्थ में प्रशुल्क का आशय समस्त तटकरों से है जिनमें आयात कर, निर्यात कर एवं परिवहन कर (Transit Duty) शामिल होते हैं। परिवहन कर उस माल पर लगाया जाता है जब किसी देश के माल अपने गन्तव्य स्थान को जाते हुए किसी दूसरे देश से गुजरता है। यह कर अब लोकप्रिय नहीं है। निर्यात कर, प्राथमिक उत्पादन करने वाले देशों द्वारा [redacted] तो आय प्राप्त करने के लिए अथवा संरक्षण के लिए लगाये जाते हैं। पर इनमें आयात कर ही लोकप्रिय एवं प्रचलित हैं जो वस्तुओं के आयात पर लगाये जाते हैं।

प्रशुल्क का वर्गीकरण (Classification of Tariffs)

प्रशुल्क को विभिन्न कसौटी के आधार पर तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है :

(1) वसूली के आधार पर (Levy Criterion)।

(2) उद्गम वाले देश के आधार पर (Country of Origin Criterion)।

(3) उद्देश्य के आधार पर (Objective Criterion)।

अब हम विस्तार से इनका विवेचन करेंगे :

(1) वसूली के आधार पर प्रशुल्क को निम्न चार वर्गों में बाँटा जा सकता है :

(i) विशिष्ट प्रशुल्क (Specific Tariff)—विशिष्ट प्रशुल्क अथवा तटकर आयात की जाने वाली वस्तु की प्रत्येक इकाई पर लगाया जाता है। जैसे कपड़े पर 10 पैसे प्रति मीटर, स्टील

---

1 "Tariff can be defined [redacted] a schedule of duties levied upon the importation of goods into a given country from abroad."

पर 15 रुपये प्रति क्विण्टल, पैट्रोल पर 20 पैसे प्रति लीटर आदि। इन तटकरों का भार आयात की जाने वाली वस्तुओं की कीमतों के उच्चावचन पर निर्भर रहता है। मन्दी के समय विशिष्ट शुल्क संरक्षण को प्रोत्साहन देते है जबकि तेजी के समय इनका विपरीत प्रभाव होता है।

(ii) मूल्य पर आधारित प्रशुल्क (Advalorem Tariff)—ये प्रशुल्क आयात की जाने वाली वस्तु के मूल्य पर एक निश्चित प्रतिशत के रूप में लगाये जाते हैं जैसे मोटरकार अथवा रेडियो के मूल्य पर 10 प्रतिशत तटकर। इस प्रशुल्क का सापेक्षिक भार आयात किये जाने वाले माल के मूल्य में उच्चावचन होने के साथ परिवर्तित नहीं होता।

(iii) मिश्रित प्रशुल्क-विशिष्ट एवं मूल्य पर आधारित प्रशुल्क (Combined-Specific and Advalorem Tariff)—मिश्रित प्रशुल्क के अन्तर्गत आयातित वस्तुओं पर कर या तो विशिष्ट प्रशुल्क अथवा मूल्य पर आधारित प्रशुल्क की दर से—जो भी कम हो, लगाया जाता है। जैसे रुई पर प्रशुल्क या तो 50 रुपये प्रति गाँठ की दर से अथवा मूल्य के आधार पर 10 प्रतिशत की दर से लगाया जाय जो भी कम हो।

(iv) शृंखलाबद्ध दरों वाला प्रशुल्क (Sliding Scale Duties)—जब कीमतों में परिवर्तन के साथ तटकरों में परिवर्तन होता है तो उसे शृंखलाबद्ध दरों वाला प्रशुल्क कहते हैं जो विशिष्ट अथवा मूल्य पर आधारित हो सकता है। बहुधा इसे विशिष्ट रूप में ही वसूल किया जाता है।

(2) उद्गम वाले देश के आधार पर—इस आधार पर प्रशुल्क को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(i) एकाकी अनुसूची अथवा एकाकी स्तम्भ प्रशुल्क (Single Schedule or Single Column Tariff)—एकाकी अनुसूची प्रशुल्क वह है जिसमें कानून के अनुसार प्रत्येक वस्तु पर समान दर से प्रशुल्क लिया जाता है भले ही किसी भी देश से वस्तु का आयात किया गया हो।

(ii) दोहरा या बहुस्तम्भी प्रशुल्क (Double or Multiple Column Tariff)—दोहरा या बहुस्तम्भी प्रशुल्क वह है जिसमें प्रत्येक वस्तु के लिए दो या अधिक दरों से तटकर वसूल किया जाता है जो इस पर निर्भर रहता है कि उन्हें किन देशों से आयात किया गया है। अर्थात् एक ही वस्तु को दो या दो से अधिक देशों से आयात करने पर प्रशुल्क की दरें अलग-अलग रखी जाती हैं।

(iii) पारंपरिक प्रशुल्क (Conventional Tariff)—पारम्परिक प्रशुल्क वह है जब कानूनी रूप से प्रत्येक वर्ग की वस्तुओं के लिए प्रशुल्क इस प्रावधान के अनुसार निर्धारित किया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के फलस्वरूप ऐसे प्रशुल्क को कम किया जा सकता है। जब सामान्य रूप से प्रशुल्क कम हो जाता है तो वह एकाकी अनुसूची प्रशुल्क में परिवर्तित हो जाता है।

(3) उद्देश्य के आधार पर—इस आधार पर प्रशुल्क के दो रूप होते हैं :

(i) आय के लिए प्रशुल्क (Tariff for Revenue)—आय अथवा राजस्व प्रशुल्क वह है जिसका मुख्य उद्देश्य सरकार को आय प्रदान करना है। अन्य शब्दों में यह विशेष प्रकार का कर है। जब प्रशुल्क आय प्राप्त करने के उद्देश्य से लगाये जाते हैं तो यह जरूरी होता है कि वस्तुओं का आयात होता रहे अतः इस प्रशुल्क की दर कम होती है।

(ii) संरक्षण के लिए प्रशुल्क (Tariff for Protection)—इन तटकरों का उद्देश्य घरेलू उद्योगों को संरक्षण देना होता है तथा सरकार इन करों से आय प्राप्त नहीं करना चाहती। सरकार का यह उद्देश्य होता है कि देश में आयात प्रतिस्थापित उद्योगों की स्थापना की जा सके। इस दृष्टि से करों की दर ऊँची होती है।

आगे चलकर हम इन दोनों का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

प्रशुल्क की ऊँचाई का माप (Measuring the Height of a Tariff)—प्रशुल्क की ऊँचाई का यह आशय है कि कितनी मात्रा में प्रशुल्क लगाया जाए या प्रशुल्क दर क्या हो? यह इसलिए आवश्यक है ताकि विभिन्न देशों की अथवा एक ही देश में विभिन्न अवधि में प्रशुल्क की दरों की तुलना की जा सके। किन्तु इसका माप एक तो बहुत कठिन है और दूसरे, प्रशुल्क के माप का विचार भी एक अस्पष्ट धारणा है। प्रशुल्क के माप की निम्न विधियाँ हैं :

(i) माप की एक सरलतम विधि प्रतिशत की विधि है जिसके अनुसार प्रशुल्क को वस्तु के मूल्य के प्रतिशत के रूप में व्यक्त किया जाता है। इस विधि की कमजोरी यह है कि जैसे ही प्रशुल्क निषेधात्मक होंगे उनके आयातों की मात्रा कम होती जायेगी। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायेगा। मानलो एक देश प्रशुल्क लगाने के पूर्व 100 वस्तुओं का आयात कर रहा था। अब वह 99 वस्तुओं पर इतना ऊँचा प्रशुल्क लगा देता है कि इनका आयात बन्द हो जाता है तथा शेष एक वस्तु के आयात पर कोई प्रशुल्क नहीं लगता। ऐसा लगता है कि प्रशुल्क की ऊँचाई शून्य है किन्तु वास्तव में प्रशुल्क इतना अधिक है कि आयात प्रायः बन्द हो जाते हैं।

(ii) प्रशुल्क के माप की दूसरी विधि आयात करों का औसत भार ज्ञात करना है। औसत भार कुल आयात की सभी वस्तुओं (जिन पर प्रशुल्क लगा है) के मूल्य पर लगाये गये प्रशुल्क को प्रतिशत में व्यक्त किया गया कर है। यह विधि भी दोषपूर्ण है क्योंकि प्रशुल्क के ऊँचाई के मुकाबले में निषेधात्मक तटकरों को शामिल नहीं किया जाता है।

(iii) तीसरी विधि कुल आयातों के मूल्य का वह अनुपात ज्ञात करना है जिस पर कोई प्रशुल्क नहीं लगता। यह विधि भी दोषपूर्ण है क्योंकि इसके अनुसार एक देश जो अनेक आयातों पर बहुत कम प्रशुल्क लगाता है, उसके बारे में यह माना जायेगा कि उसकी प्रशुल्क की ऊँचाई बहुत अधिक है जबकि एक देश जो अनेक वस्तुओं पर निषेधात्मक प्रशुल्क लगाता है तथा कम वस्तुओं को बिना प्रशुल्क के आयात करता है, उसके बारे में यह माना जायेगा कि उसकी प्रशुल्क ऊँचाई कम है जबकि यह वास्तविक स्थिति नहीं है।

(iv) चौथी विधि प्रो. हैबरलर ने स्पष्ट की है जो आयातों के मूल्य का वह औसत प्रतिशत है जो कस्टम अधिकारियों द्वारा प्रशुल्क के रूप में वसूल किया जाता है। इसमें पहले, जिन वस्तुओं पर प्रशुल्क लगता है, उनके आयातों के मूल्य का प्रतिशत ज्ञात किया जाता है जो मूल्य के आधार पर (Advalorem) ज्ञात किया जाता है। इस गणना के बाद औसत ज्ञात किया जाता है जो आयातों के मूल्य का औसत प्रतिशत बताता है। इसमें विभिन्न प्रशुल्कों को अलग-अलग भार दिया जाता है।

किन्तु उक्त विधि भी कठिनाइयों से पूर्ण है क्योंकि पहले तो विशिष्ट प्रशुल्क को मूल्य के अनुसार परिवर्तित किया जाता है जिसमें कठिनाई होती है। फिर प्रशुल्क को भार देना भी सरल नहीं है। आयात की जाने वाली वस्तुओं की संख्या इतनी अधिक होती है कि उन सबको शामिल नहीं किया जा सकता।

निर्यात कर
(EXPORT DUTIES)

प्राथमिक उत्पादन एवं कच्चा माल पैदा करने वाले देश निर्यात करों का उपयोग करते हैं तथा औद्योगिक देश इनका बहुत ही सीमित प्रयोग करते हैं। निर्यात कर इस विश्वास पर लगाये जाते हैं कि उनका भार विदेशी आयातकों पर पड़ता है। किन्तु ऐसी बात नहीं है। यदि देश का निर्यात विश्व के कुल निर्यात का बहुत कम अंश है तो निर्यात कर का भार घरेलू उत्पादकों पर पड़ सकता है।

निर्यात कर क्यों लगाये जाते हैं ?

निर्यात कर लगाये जाने के दो मुख्य कारण हैं :

(i) आय के लिए—जिन देशों के पास आय के वैकल्पिक स्रोत नहीं हैं तथा विश्व में जिनका निर्यात अधिक मात्रा में होता है, वे निर्यात करों से आय प्राप्त कर सकते हैं। इन करों की वसूली भी सरल है क्योंकि निर्यात-बिन्दु पर इन्हें वसूल कर लिया जाता है। चिली में सरकारी आय का 75% निर्यात करों से वसूल किया जाता है। किन्तु इन करों का मुख्य दोष यह है कि इनसे प्राप्त होने वाली आय अनिश्चित रहती है। इन करों को अन्यायपूर्ण भी माना जाता है क्योंकि वे उच्च लाभ एवं सीमान्त उत्पादक के बीच भेद नहीं करते।

(ii) संरक्षण के लिए—निर्यात करों को घरेलू उत्पादकों को संरक्षण देने के लिए भी लगाया जाता है। यह उद्देश्य उसी समय पूर्ण होता है। जब ऐसे कच्चे माल पर कर लगाया जाय जिसकी विदेशी उद्योगों में अधिक माँग हो तथा विश्व उत्पादन में ऐसे देश का कच्चे माल का प्रतिशत अधिक हो। नॉर्वे एवं स्वीडन ने लकड़ी और इमारती लकड़ी के निर्यात पर उसे संरक्षण देने के उद्देश्य से ही निर्यात कर लगाया था।

प्रो. एजवर्थ का विचार है कि केवल आयात पर कर लगाये जायें न कि निर्यात पर। किन्तु प्रो. बेस्टेबल का विचार भिन्न है जो यह कहते हैं कि जो प्रभाव आयात करों का उपभोक्ताओं पर पड़ता है, वही निर्यात करों का उत्पादकों पर पड़ता है। आर्थिक आधार पर निम्न दो कारणों से निर्यात कर उचित हैं :

(i) *यदि, जिस वस्तु पर निर्यात कर लगाया जाता है, उस पर देश का एकाधिकार है।*

(ii) यदि निर्यात कर वाली वस्तु की विदेशों में तीव्र माँग है।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों में प्रो. लर्नर[1] ने यह प्रमाणित कर दिया है कि आयात और निर्यात कर के आर्थिक प्रभाव एक समान होते हैं।

सीमा शुल्क क्षेत्र
(CUSTOM AREA)

सीमा-शुल्क क्षेत्र वह भौगोलिक क्षेत्र है जिसके अन्तर्गत वस्तुओं का आवागमन बिना किसी तटकर के होता है। इसमें न केवल एक देश का ही क्षेत्र शामिल होता है वरन् उस पर निर्भर दूरगामी क्षेत्र भी शामिल होते हैं। सीमा शुल्क क्षेत्र में दो या अधिक देश भी शामिल हो सकते हैं जिसे सीमा शुल्क संघ (Custom Union) कहते हैं।

प्रशुल्क के प्रभाव
(EFFECTS OF TARIFF)

प्रशुल्क के मुख्य दो ही प्रभाव होते हैं—आय प्रभाव एवं संरक्षण प्रभाव जिनका संक्षिप्त उल्लेख किया जा चुका है। किन्तु इन दो प्रभावों के अतिरिक्त प्रशुल्क के अन्य महत्वपूर्ण प्रभाव भी होते हैं जैसे उपभोग प्रभाव, कीमत प्रभाव, पुनर्वितरण प्रभाव, भुगतान सन्तुलन प्रभाव आदि। प्रो. किण्डलबर्जर ने आंशिक सन्तुलन के ढांचे में प्रशुल्क के विभिन्न प्रभावों को स्पष्ट किया है। यहाँ आंशिक सन्तुलन का अर्थ है कि जब प्रशुल्क के प्रभावों का विवेचन किसी वस्तु विशेष के बाजार के सन्दर्भ में किया जाय।

प्रो. हैबरलर ने प्रशुल्क के प्रभावों की विवेचना प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभावों के रूप में की है। प्रत्यक्ष प्रभाव में उन्होंने वस्तु की कीमत और उसके विक्रय पर प्रशुल्क के प्रभाव का विश्लेषण किया है। शेष की व्याख्या अप्रत्यक्ष प्रभावों के अन्तर्गत की है।

1 Lerner, *Essays in Economic Analysis*, pp 123-33.

सामान्य रूप से प्रशुल्क के निम्न प्रभाव होते हैं :

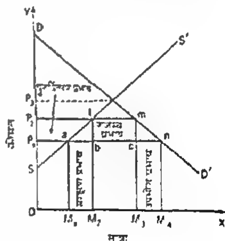
(1) राजस्व प्रभाव (Revenue Effect),
(2) संरक्षण प्रभाव (Protection Effect),
(3) उपभोग प्रभाव (Consumption Effect),
(4) पुनर्वितरण प्रभाव (Redistribution or Transfer Effect),
(5) कीमत एवं विक्रय प्रभाव (Price & Sale Effect),
(6) व्यापार की शर्तों पर प्रभाव (Terms of Trade Effect),
(7) आय प्रभाव (Income Effect),
(8) भुगतान-सन्तुलन प्रभाव (Balance of Payment Effect),
(9) उत्पादन के साधनों पर प्रभाव (Effect on the Means of Production),
(10) आयातों के घरेलू मूल्य पर प्रभाव (Effect on Domestic Price of Imports),
(11) साधन गतिशीलता पर प्रभाव (Effect on Factor Movement),
(12) घरेलू आय के वितरण पर प्रभाव (Effect on Domestic Income Distribution)।

अब हम विस्तार से उक्त प्रभावों का विवेचन करेंगे।

1 राजस्व प्रभाव—यदि प्रशुल्क पूर्ण रूप से निषेधात्मक होते हैं तो उनसे आय नहीं होती किन्तु यदि वे पूर्ण रूप से निषेधात्मक नहीं होते तो उनसे सरकार को कुछ आय प्राप्त होती है। निषेधात्मक प्रशुल्क का अर्थ है कि प्रशुल्क की दर इतनी ऊँची रहती है कि आयात पूर्ण रूप से प्रतिबन्धित हो जाते हैं। यदि प्रशुल्क ऐसी वस्तुओं के आयात पर लगाया जाता है जिनका देश में बिल्कुल उत्पादन नहीं होता तो ऐसे प्रशुल्क का पूर्ण संरक्षण प्रभाव नहीं पड़ता और सरकार को राजस्व प्राप्त होता है। किन्तु इस स्थिति में कुछ न कुछ संरक्षणात्मक प्रभाव पड़ता है क्योंकि अन्य उत्पादनों की माँग होने लगती है। प्रशुल्क का वास्तविक संरक्षण प्रभाव न हो, इसके लिए आवश्यक है कि जिस वस्तु पर प्रशुल्क लगाया जाय, उसके घरेलू उत्पादन पर भी आयात कर की मात्रा के अनुसार उत्पादन कर लगाया जाय। जो प्रशुल्क निषेधात्मक से कम होते हैं तथा उसी अनुपात में घरेलू उत्पादन पर उत्पादन शुल्क नहीं लगता तो ऐसे प्रशुल्क का आय एवं संरक्षण दोनों प्रकार का प्रभाव होता है।

संलग्न रेखाचित्र में राजस्व और संरक्षण प्रभाव को समझाया गया है।

प्रस्तुत रेखाचित्र में SS′ वस्तु की घरेलू पूर्ति का वक्र है जिसे दीर्घकालीन औसत लागत वक्र भी कहते हैं। DD′ घरेलू माँग वक्र है। व्यापार न होने की स्थिति में वस्तु की कीमत OP_3 पर निश्चित होती है जहाँ घरेलू माँग और पूर्ति में सन्तुलन है। स्वतन्त्र व्यापार होने की स्थिति में कीमत गिरकर OP_1 हो जाती है जहाँ घरेलू उत्पादन OM_1 है तथा आयात की मात्रा $M_1—M_4$ है।



चित्र 29·1

अब यदि वस्तु के आयात पर P_1P_2 के बराबर प्रशुल्क लगा दिया जाता है हम यह भी मान लेते हैं कि OP_1 कीमत पर आयात की पूर्ति पूर्ण लोचदार है जिससे प्रशुल्क का विदेशी

घरेलू और विदेशी दोनों कीमतें समान नहीं हो जाती। यदि विदेशी निर्यातक प्रशुल्क का पूर्ण भुगतान करते है तो संरक्षित वस्तु के मूल्य मे कोई वृद्धि नही होगी।

सामान्य रूप से प्रत्येक प्रशुल्क एक लागत के समान है जो उस ऊँची कीमत मे व्यक्त होती है जिसका भुगतान उपभोक्ता संरक्षित वस्तु के लिए करते है। इस सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होते है—आयात करने वाले देश मे कीमतो मे कितनी वृद्धि होगी? निर्यातक देश मे कीमत मे कितनी कमी होगी? क्या दोनो देशो (आयातक एव निर्यातक) मे कीमतों में अन्तर प्रशुल्क के बराबर होगा। इन प्रश्नो का उत्तर इस बात पर निर्भर रहता है कि कीमतों में परिवर्तन होने के फलस्वरूप प्रत्येक देश मे पूर्ति एव मॉग मे किस प्रकार परिवर्तन होता है? इस सन्दर्भ में हमे इन दो बातों पर विचार करना चाहिए (1) पूर्ति और मांग की लोच, एवं (2) प्रत्येक देश में पूर्ति और मांग की निरपेक्ष मात्रा। इस सम्बन्ध मे प्रो हैबरलर[1] ने निम्न विश्लेषण प्रस्तुत किया है:

(1) जब प्रशुल्क का प्रभाव पूर्ण रूप से निषेधात्मक हो जाता है तो ऐसी वस्तु पर आयात कर, जिसे पहले आयात किया जाता था, लगाने से घरेलू मूल्य पर विदेशी मूल्य मे उतना ही अन्तर होता है जितनी कि प्रशुल्क की मात्रा होती है यदि कीमतो मे अन्तर इससे अधिक होता है तो अधिक आयात को प्रोत्साहन मिलता है और कम अन्तर होने पर आयात हतोत्साहित होते है। कीमतो मे यह अन्तर घरेलू कीमत मे वृद्धि और विदेशी कीमतो मे कमी के रूप मे व्यक्त होता है। जर्मनी का उदाहरण देते हुए प्रो. हैबरलर ने कहा है कि खाद्यान्न पर जर्मनी का प्रशुल्क इतना ऊँचा होता है कि जब जर्मनी में अच्छी फसल आती है तो प्रशुल्क का प्रभाव निषेधात्मक होता है और जर्मनी को खाद्यान्न की कीमतें विश्व कीमतो की तुलना मे उतनी ही चढ़ती है जिसमे से प्रशुल्क की मात्रा घटा दी जाय।

(2) यदि अन्य बातें स्थिर रहे तो प्रशुल्क लगाने वाले देश मे कीमत में वृद्धि कम होगी तथा विदेशो मे कीमत अधिक गिरेगी यदि वस्तु की घरेलू पूर्ति अधिक लोचदार है। अतः जिस वस्तु का उत्पादन देश मे नही किया जा सकता यदि उस पर प्रशुल्क लगा दिया जाय तो कीमतो मे अधिक वृद्धि होगी तथा समान दशाओं मे यदि ऐसी वस्तु पर प्रशुल्क लगाया जाय जिसका उत्पादन देश मे बढ़ाया जा सकता है तो उसकी कीमतो मे कम वृद्धि होगी। वस्तु की घरेलू पूर्ति जितनी अधिक लोचदार होगी, विदेशी कीमतो मे उतनी ही अधिक कमी होगी क्योंकि विदेशी का निर्यात कम हो जायगा अत वे अपने ही देश के बाजारो मे कम कीमत मे वस्तु बेचेंगे।

(3) यदि वस्तु की विदेशी पूर्ति कम लोचदार है तो भी प्रशुल्क लगाने वाले देश में कीमत मे वृद्धि कम होगी तथा विदेशो मे कीमत अधिक गिरेगी यदि अन्य बातें स्थिर रहे।

(4) यदि आयात करने वाले देश की मांग अधिक और लोचपूर्ण है तो अन्य बातों के स्थिर रहने पर, आयातक देश मे कीमतो मे कम वृद्धि होगी तथा निर्यात करने वाले देश मे कीमतें अधिक गिरेंगी। यदि कीमतों मे वृद्धि होने से आयातक देश की मांग बहुत गिर जाती है तो घरेलू उत्पादन में अधिक वृद्धि नही होगी तथा उसकी लागत भी नही बढ़ेगी। दूसरी ओर विदेशी उत्पादन कम हो जायगा तथा उसकी पूर्ति कीमत भी कम हो जायगी।

(5) यदि विदेश की मांग अधिक लोचपूर्ण है तो अन्य बातें स्थिर रहने पर, आयात करने वाले देश मे कीमत मे अधिक वृद्धि होगी एवं विदेश मे कीमत मे गिरावट कम होगी। इसका कारण यह है कि प्रशुल्क लगाने से जिस विदेशी पूर्ति का आयात नही किया जाता, उसका विक्रय विदेश मे ही हो जायगा।

---

1 Haberler, *The Theory of International Trade*, Chap. XV, pp. 227-32.

(6) प्रशुल्क के सम्बन्ध मे जो निष्कर्ष निकाले गये है, वे शुलर (Schuller) के इस नियम पर आधारित हैं कि यदि निर्यात करने वाले देश के कुल उत्पादन की तुलना मे आयात का अनुपात कम है तो प्रशुल्क के फलस्वरूप कीमतो मे अधिक वृद्धि होगी और यदि आयात करने वाले देश के उत्पादन की तुलना मे आयात की मात्रा अधिक है तो भी कीमतो मे अधिक वृद्धि होगी।

कीमत पर लागतों का प्रभाव

कीमतो पर प्रशुल्क के प्रभाव का अध्ययन करते समय यह जानना भी जरूरी है कि वस्तु का उत्पादन उत्पत्ति के किस नियम के अन्तर्गत हो रहा है। निम्न विश्लेषण मे हम यह मानकर चलेंगे कि परिवहन लागत नही लगती तथा दोनो देशो मे लागत की दशाएँ समान हैं।

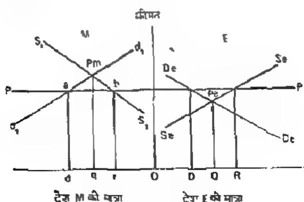
स्थिर लागत के अन्तर्गत (Constant Costs)

एक देश अपनी उपभोग की कुल मात्रा का आयात उस समय करता है जब विदेशों मे उसका उत्पादन स्थिर लागत के अन्तर्गत होता है तथा विदेशी लागत, घरेलू लागत से कम होती है। अब यदि देश आयात पर प्रशुल्क लगाता है तथा इसकी मात्रा लागत की भिन्नता से कम है तो आयात मे कटौती होगी तथा विदेशो मे उत्पादन घट जायगा तथा देश में वस्तु की कीमत उतनी बढ़ जायगी जितनी कि प्रशुल्क की मात्रा है। यदि प्रशुल्क की मात्रा, लागत की भिन्नता के बराबर अथवा उससे अधिक है तो आयात बन्द हो जायेंगे तथा घरेलू उत्पादन लागत और विदेशी उत्पादन लागत मे जो अन्तर है, उतनी ही घरेलू कीमतो मे वृद्धि हो जायगी।

बढ़ती लागत के अन्तर्गत (Increasing Costs)

यदि विदेश मे उत्पादन (आयातित वस्तु का) बढ़ती लागत के अन्तर्गत होता है और यदि आयातक देश उस पर प्रशुल्क लगाता है तो इसका क्या प्रभाव होगा ? इससे विदेशी उत्पादन मे कमी होगी तथा साथ ही लागत घटेगी। अब आयातो की कीमत घटेगी तथा बढ़ी हुई घरेलू कीमतो के अनुरूप बनाने के लिए प्रशुल्क मे वृद्धि की जायगी। बढ़ती लागत के अन्तर्गत, आयातक देश मे जैसे ही उत्पादन बढ़ाया जाता है तो कीमतो मे एवं लागत मे वृद्धि होगी तथा निर्यातक देश मे जितनी कीमत गिरती है, आयातक देश मे प्रशुल्क के फलस्वरूप कीमतो मे उतनी कम वृद्धि होगी। वास्तव में प्रशुल्क लगाने के बाद घरेलू एवं विदेशी कीमत में अन्तर, प्रशुल्क के बराबर होता है। यदि अन्तर ज्यादा है तो अधिक आयात करना लाभदायक होगा और यदि अन्तर कम है तो आयात हतोत्साहित होंगे।

इसे निम्न रेखाचित्र मे स्पष्ट किया गया है.



चित्र 29 2

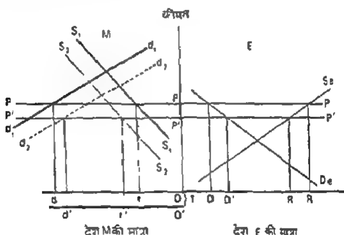
उपर्युक्त रेखाचित्र 29·2 मे स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत दो देशो मे एक वस्तु की माँग

और पूर्ति की दशाओं को दिखाया गया है। दायीं ओर निर्यातक देश E की स्थिति बतायी गयी है तथा बायीं ओर आयातक देश M का चित्रण है। दोनों देशों में पूर्तिवक्र (SS) बढ़ती हुई लागत का सूचक है। देश M में व्यापार पूर्व की सन्तुलन कीमत p_m है जो P_e से ऊँची है। व्यापार के पूर्व M में मांगी जाने एवं पूर्ति की जाने वाली मात्रा O_q है तथा E में OQ है।

अब दोनों देशों में व्यापार होता है। E देश वस्तु का निर्यात करेगा क्योंकि उसकी लागत M से कम है अतः E में उत्पादन बढ़ने से लागत भी बढ़ती है जबकि M में उत्पादन कम होने से लागत घटती है। E देश में कीमत बढ़ने से वस्तु का उपभोग घटेगा तथा M में कीमत गिरने से बढ़ेगा। इन दोनों में सन्तुलन P बिन्दु पर होता है जो दोनों में समान है।

M में कुल मांग Od है जिसमें घरेलू उत्पादन Or है तथा आयात की मात्रा rd है। देश E में कुल उत्पादन OR है जिसमें से OD का देश में उपभोग होता है तथा DR का निर्यात होता है। E का निर्यात DR, देश M के आयात rd के बराबर है।

अब यदि M आयातों पर प्रशुल्क लगाता है तो क्या प्रभाव होगा ? यदि प्रशुल्क निषेधात्मक है तो व्यापार के पूर्व की स्थिति आ जायगी। यदि प्रशुल्क इससे कम है तो E देश के निर्यातों की मांग कम हो जायगी अर्थात् अब E को M से उतनी कीमत कम मिलेगी जितनी कि प्रशुल्क की मात्रा है। इसे निम्न रेखाचित्र में स्पष्ट किया गया है



चित्र 29·3

उपर्युक्त रेखाचित्र में M देश में प्रशुल्क के फलस्वरूप वक्रों को नीचा कर दिखाया गया है अर्थात् अब पहले के मांग-पूर्ति S_1-S_1 और मांग वक्र d_1-d_1 के स्थान पर नये पूर्ति-मांग वक्र S_2-S_2, d_2-d_2 हैं जो प्रशुल्क की मात्रा T के बराबर घट गये हैं। अब नया सन्तुलन कीमत रेखा P'-P' पर है जो पुरानी कीमत रेखा P—P के नीचे है। P'—P' रेखा इस प्रकार खींची गयी है कि देश E के वक्र D' R' की जो दूरी है, वही M देश के वक्र d' r' के बीच की दूरी है। E देश में कीमत P से गिरकर P' हो जाती है तथा M देश में यह उतनी ही बढ़ जाती है जितना कि प्रशुल्क T में से लागत PP' घटा दी जाय (अब M देश में कीमत का माप O' से शुरू होता है) अतः रेखाचित्र से स्पष्ट है कि M देश में कीमत पूर्ण प्रशुल्क की मात्रा के बराबर नहीं बढ़ती यद्यपि प्रशुल्क लगने के बाद दोनों देशों में कीमतों में अन्तर प्रशुल्क के बराबर होना चाहिए।

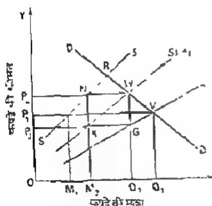
E देश मे उत्पादन OR से घटकर OR' हो जाता है तथा निर्यात DR से घटकर D'R' हो जाता है तथा इस देश मे घरेलू उपभोग O D से बढकर OD' हो जाता है। M देश मे नयी ऊँची कीमत O'P' से उत्पादन Or से बढकर O'r' हो जाता है तथा कुल उपभोग (घरेलू उत्पादन एवं आयात) Od से घटकर O'd' हो जाता है।

घटती लागत के अन्तर्गत (Decreasing Costs)

यदि निर्यातक देश E एवं आयातक देश M दोनो मे एक वस्तु X का उत्पादन घटती लागत के अन्तर्गत होता है और M आयात पर प्रशुल्क लगा देता है तो क्या होगा ? ऐसी स्थिति मे E देश के निर्यातो की माँग घट जाती है और उत्पादन घटने से उसकी लागत बढ जाती है और इस बढी हुई कीमत पर M की X वस्तु की प्रभावपूर्ण माँग E के निर्यात के बराबर हो जाती है। हम यह मान लें कि E देश मे कीमत y मात्रा के बराबर बढ जाती है अत' M देश मे कीमत मे y एव प्रशुल्क, दोनो के योग के बराबर वृद्धि होती है।

उपर्युक्त तर्क उसी समय लागू होता है जब घटती हुई लागतें अस्थायी हो क्योकि आन्तरिक बचतो से घटती हुई कीमतो का प्रतियोगिता मे सामजस्य नही होता। यदि प्रशुल्क लगाने वाले देश मे उद्योग एकाधिकार की स्थिति मे है तो प्रशुल्क मे एकाधिकार मे वृद्धि होगी। प्रो एल्सवर्थ के अनुसार, "कीमतो मे प्रशुल्क की मात्रा के बराबर वृद्धि होगी या नही यह एकाधिकारी शक्तियो पर निर्भर रहेगा।"

6. व्यापार की शर्तों पर प्रभाव—सामान्य दशाओं मे, प्रशुल्क लगाने वाले देश मे प्रशुल्क का प्रभाव यह होगा कि उसे आयात सस्ते प्राप्त होंगे अर्थात् उसे व्यापार मे लाभ होगा। प्रशुल्क लगाकर देश वस्तु का आयात सीमित करके, आयातित वस्तुओ की कीमत को कम कर सकता है जिस पर कि अन्य देश उसे बेचते है। इसमे यह मान्यता है कि विदेश प्रशुल्क का पूर्ण अथवा आंशिक भुगतान करता है। व्यापार की शर्तों पर प्रशुल्क के प्रभाव को निम्न रेखाचित्र से समझाया जा सकता है :



चित्र 29 4

मानलो दो देश A और B है। देश A को कपडे के उत्पादन में तुलनात्मक हानि है अत. A, देश B से कपडे का आयात करता है जिसे कपडे के उत्पादन मे तुलनात्मक लाभ है। पहले हम व्यापार के पूर्व की दशा पर विचार करेंगे।

संलग्न रेखाचित्र 29 4 मे देश A का कपडे का माँग वक्र DD वक्र है तथा SS उसका पूर्ति वक्र है। बिन्दु R व्यापार-पूर्व का सन्तुलन बिन्दु है। अब A और B दोनो मे व्यापार होता है और A देश, B से कपडे का आयात करता है। रेखा Sf, देश A के लिए घरेलू उत्पादन और आयात से उपलब्ध कपडे की मात्रा है तथा बिन्दु V स्वतन्त्र व्यापार का सन्तुलन बिन्दु है। यहाँ कपडे की कीमत OP_1 होगी तथा A मे इसका कुल उपभोग OQ_1 होगा। A देश कपडे की OM_1 मात्रा का देश मे उत्पादन करेगा तथा M_1Q_1 मात्रा का B से आयात करेगा।

अब यदि A कपड़े के आयात पर प्रशुल्क लगाता है तो A का पूर्तिवक्र Sf+t हो जाता है तथा अब नया सन्तुलित बिन्दु W है तथा A में कपडे का मूल्य बढ़कर OP_2 हो जाता है। देश A में घरेलू उत्पादन की वृद्धि एवं कपड़े के उपभोग में कमी होने से, कपड़े का आयात $M_1 Q_1$ से बढ़कर $M_2 Q_2$ हो जाता है एवं साथ ही, विदेशी कपडे की पूर्ति कीमत घटकर OP_3 हो जाती है। इस प्रकार प्रशुल्क लगाने के फलस्वरूप व्यापार की शर्तें देश A के पक्ष में हो जाती हैं।

A देश की सरकार आयातित कपड़े की प्रति इकाई पर P_2P_3 आयात कर वसूल करती है अथवा कुल कर WNKG के बराबर होता है। सरकार इस अतिरिक्त आय को या तो अन्य कार्यों में व्यय कर सकती है अथवा अन्य करों में कमी करके इसका लाभ लोगों को मिल सकता है। यद्यपि A देश के उपभोक्ता, प्रशुल्क के बाद कपड़े की अधिक कीमत देते हैं, किन्तु विदेशी उत्पादकों को कम भुगतान किया जा सकता है।

7. आय प्रभाव (*Income Effect*)—प्रशुल्क का प्रभाव यह होता है कि विदेशों में व्यय की जाने वाली राशि में कमी हो जाती है। जो आय विदेशों में व्यय नहीं की जाती उसकी पूरी की पूरी बचत नहीं होती वरन् उसमें से अधिकांश देश में ही व्यय कर दी जाती है। यदि पूर्ण रोजगार से कम की स्थिति विद्यमान है तो इसमें मुद्रा, वास्तविक आय और रोजगार में वृद्धि होगी। इस आधार पर प्रशुल्क का समर्थन किया जाता है। किन्तु यदि देश में पहले ही पूर्ण रोजगार की स्थिति विद्यमान है तो प्रशुल्क लगाने से देश में मुद्रा प्रसार होगा तथा इसका वास्तविक आय पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। अतः कहा जा सकता है कि जब देश में अप्रयुक्त संसाधन हों तो प्रशुल्क लगाने से घरेलू व्यय और राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है।

किन्तु जिस देश के निर्यातों पर प्रशुल्क लगाया जाता है, उसके आय और रोजगार दोनों में कमी होती है अतः यह कहा जाता है कि प्रशुल्क वाले देश में आय में वृद्धि, निर्यातक देश के बल पर होती है इसलिए इस नीति को पर-धन-हरण नीति (Baggar my neighour Policy) कहा जाता है। यही कारण है कि आय प्रभाव को प्रशुल्क का अच्छा प्रभाव नहीं माना जाता।

8. भुगतान सन्तुलन प्रभाव—आय प्रभाव की तुलना में प्रशुल्क का भुगतान सन्तुलन प्रभाव कम निश्चित होता है। प्रशुल्क का प्रत्यक्ष प्रभाव यह होता है कि आयात की मात्रा कम हो जाती है किन्तु इसका आशय यह नहीं है कि आयातों का मूल्य कम हो जाता है। सम्भव है कि अब आयात करने वाला, पहले की तुलना में आयात पर अधिक व्यय करे जो उसकी माँग पर निर्भर रहता है। यदि आयात की माँग बहुत लोचदार है तो प्रशुल्क से होने वाली कीमतों में वृद्धि आयात की भौतिक मात्रा कम कर देगी तथा कुल क्रय कम हो जायगा। पर यदि माँग अधिक बेलोचदार है तो आयातों पर व्यय पहले की तुलना में बढ़ जायगा।

यदि आयातक देश में आयातों पर व्यय बढ़ता है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि विदेशों में उसकी मुद्रा के व्यय में वृद्धि होगी। अतिरिक्त व्यय की राशि देश की सरकार को प्राप्त होगी। यदि निर्यातक देश की दृष्टि से देखा जाय तो जब तक माँग पूर्ण रूप से बेलोचदार नहीं हैं निर्यात से उसकी प्राप्तियाँ कम हो जायेंगी। अतः ऐसी स्थिति में प्रशुल्क लगाने वाले देश के भुगतान सन्तुलन की स्थिति पर अनुकूल प्रभाव होगा।

परन्तु प्रो. किंडलबर्जर का मत है कि आयातों में प्रारम्भिक कटौती को अन्तिम रूप से भुगतान-शेष प्रभाव नहीं माना जाना चाहिए परन्तु इसे मात्र दबाव-प्रभाव (Impact Effect) माना जाना चाहिए। अन्तिम भुगतान-शेष प्रभाव अन्य परिस्थितियों पर निर्भर रहता है।

9. उत्पादन के साधनों पर प्रभाव—प्रो. हैबरलर ने उत्पत्ति के साधनों में मौलिक और उत्पादित दोनों प्रकार के साधनों को शामिल किया है। मौलिक साधनों में कच्चेमाल आदि का और उत्पादित साधनों में मशीनों का समावेश होता है। किसी भी उत्पत्ति के साधन का विशिष्ट

लक्षण होता है उसकी पूरकता (Complementarity) अर्थात् किसी साधन का प्रयोग अन्य साधन के साथ होता है। अब प्रशुल्क के द्वारा एक साधन के मूल्य में वृद्धि होती है तो देश में उसके पूरक साधन की माँग घट जाती है क्योंकि उनका संयोग टूट जाता है। उत्पत्ति के साधन की दूसरी विशेषता होती है कि बहुधा उसकी माँग पूर्ण लोचदार होती है। विशेष रूप से वहाँ जहाँ इसे प्रयुक्त किये जाने वाले उद्योगों में अधिक विदेशी प्रतियोगिता होती है।

उत्पत्ति के साधन पर प्रशुल्क का यह प्रभाव होता है कि प्रशुल्क के कारण इसकी कीमत बढ़ने से, जहाँ इसका प्रयोग होता है, वहाँ उत्पादन लागत बढ़ जाती है जैसे लोहा और इस्पात पर प्रशुल्क से उन उद्योगों की लागत बढ़ जाती है जहाँ इसका प्रयोग किया जाता है। मूल्य बढ़ने से इसके निर्यात कम हो जाते हैं और सम्भव है निर्यात उतने ही कम हो जायें जितने कि आयात कम हुए हैं। ऐसी स्थिति में भुगतान शेष पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

यह भी सम्भव है कि भुगतान-शेष में साम्य, अन्य आयातों की वृद्धि के कारण बना रहे, न कि निर्यातों में कमी से। जैसे सूती धागे पर प्रशुल्क लगाने से उसके मूल्य में वृद्धि हो जायगी और सम्भव है यह वृद्धि इतनी अधिक हो जाय कि घरेलू मूल्य, वस्त्र उत्पादक विदेशी प्रतियोगिता में टिक सकें। अतः धागे का आयात बन्द हो जायगा पर कपड़े का आयात होने लगेगा और प्रशुल्क का यह उद्देश्य पूरा नहीं होगा कि संरक्षित उद्योग में ही सूती धागे का उत्पादन होने लगे।

10. आयातों के घरेलू मूल्य पर प्रभाव—व्यापार की शर्तों पर प्रशुल्क के प्रभाव में यह स्पष्ट हो गया है कि यदि विदेशी पूर्ति पूर्ण रूप से लोचदार नहीं है और विदेशी सरकार बदले की भावना से कोई कदम नहीं उठाती तो स्वतन्त्र व्यापार की तुलना में, एक देश को प्रशुल्क लगाने से लाभ होता है। ऐसी स्थिति में देश की व्यापार की शर्तों में सुधार होता है तथा वह पहले की तुलना में आयातों को सस्ते में प्राप्त कर सकता है। किन्तु एक बात स्पष्ट है कि प्रशुल्क लगाने वाले देश के उपभोक्ताओं को स्वतन्त्र व्यापार की तुलना में ऊँची कीमतें देनी पड़ती हैं।

प्रो. मेट्जलर[1] (Metzler) के अनुसार प्रशुल्क के दो प्रभाव होते हैं एक तो इससे प्रशुल्क लगाने वाले देश के आयातों के घरेलू मूल्य में वृद्धि हो जाती है जो उसके निर्यातों के घरेलू मूल्य से अधिक होती है और दूसरे प्रशुल्क लगाने वाले देश के निर्यातों के मूल्य की तुलना में उसके आयातों की विश्व कीमत कम हो जाती है। ये दोनों प्रभाव विरोधी दिशा में कार्य करते हैं अतः वास्तविक प्रभाव यह होता है कि आयातों के मूल्य में या तो वृद्धि अथवा कमी हो जाती है। अन्य शब्दों में प्रशुल्क वाले देश में सापेक्षिक कीमतों पर क्या प्रभाव होगा यह उक्त दोनों प्रभावों की शक्ति पर निर्भर रहता है।

सारांश में कहा जा सकता है कि प्रशुल्क से आयातित वस्तु के घरेलू मूल्य में वृद्धि हो जाती है और यदि प्रशुल्क से प्राप्त आय को आयात पर व्यय किया जाता है तो देश में आयात-प्रतियोगी उद्योगों का विस्तार होता है। यदि प्रशुल्क की आय को निर्यातों पर व्यय किया जाता है तो प्रशुल्क से आयातों के घरेलू मूल्य में उसी समय वृद्धि होगी जब देश के निर्यातों के लिए विदेशी माँग लोचपूर्ण है और यदि यह बेलोचदार है तो निर्यातों के घरेलू मूल्य की तुलना में आयातों के घरेलू मूल्य अधिक कम होंगे।

11. साधन गतिशीलता पर प्रभाव—प्रो. मुण्डेल[2] ने दो पारस्परिक सम्बन्धित तथ्य प्रकट किये हैं जो साधनों की गतिशीलता पर प्रशुल्क के प्रभाव को स्पष्ट करते हैं। प्रथम व्यापार

---

1 L. A. Metzler, *Article in the Journal of Political Economy*, Feb. 1949

2 R. A. Mundell, *American Economic Review*, June 1957.

की रुकावटों के कारण साधनों की गतिशीलता प्रोत्साहित होती है और द्वितीय साधनों की गतिशीलता में बढ़ी हुई रुकावटें व्यापार को प्रोत्साहित करती हैं।

अपने विश्लेषण के लिए मुण्डेल ने दो देश, दो वस्तुएँ एवं दो साधनों का एक माडल प्रस्तुत किया है जिसकी निम्न तीन विशेषताएँ हैं :

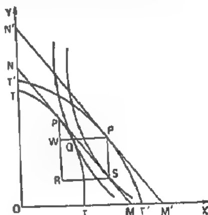
(i) दोनों देशों में उत्पाद-फलन समान है,

(ii) साधन गहनता का सेमुअलसन का विचार विद्यमान है, एवं

(iii) अपूर्ण विशिष्टीकरण।

मुण्डेल का मत है कि स्वतन्त्र व्यापार में वस्तु कीमत समानीकरण के फलस्वरूप साधन कीमत समानीकरण भी हो जायगा भले ही, साधनों में गतिशीलता न हो। उपर्युक्त ढाँचे में मुण्डेल यह स्पष्ट करते हैं कि आयातों पर प्रशुल्क से साधन गतिशीलता प्रोत्साहित होगी।

हम दो देश A और B दो वस्तुएँ X और Y तथा दो साधन श्रम और पूँजी लेते हैं। देश A श्रम प्रचुर और पूँजी स्वल्प है अपेक्षाकृत B देश के। X वस्तु पूँजी प्रधान तथा Y श्रम प्रधान है। सेमुअलसन[1] की साधन कीमत समानीकरण की सारी मान्यताएँ विद्यमान हैं। मुण्डेल की व्याख्या संलग्न रेखाचित्र में स्पष्ट है :



चित्र 29·5

प्रस्तुत रेखाचित्र में TT देश A का उत्पादन सम्भावना वक्र है। स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत देश A का सन्तुलन बिन्दु P उत्पादन बिन्दु पर है तथा उपभोग बिन्दु S है। NPM अन्तर्राष्ट्रीय कीमत रेखा है। देश A श्रम प्रधान वस्तु Y का निर्यात करता है (PR) तथा B देश से पूँजी प्रधान वस्तु X का आयात (RS) करता है। Y वस्तु के सन्दर्भ में देश A की आय ON है तथा X के सन्दर्भ में OM है। व्यापार प्रतिबन्ध का अभाव और साधनों की गतिशीलता न होने पर, दोनों देशों में वस्तु कीमत और साधन कीमत समानीकरण हो गया है।

मानलो पूँजी एक देश से दूसरे देश को बिना लागत के जा सकती है? चूँकि स्वतन्त्र व्यापार में पूँजी की सीमान्त उत्पादकता दोनों देशों में समान हो गयी है। अतः पूँजी की गतिशीलता प्रोत्साहित नहीं होती। अब यदि देश A अपने पूँजी प्रधान X के आयात पर प्रशुल्क लगा देता है। हम यह भी मान लेते हैं कि देश A इतना छोटा है कि अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों को प्रभावित नहीं कर पाता।

यदि प्रशुल्क निषेधात्मक है तो व्यापार के बाद देश A के उत्पादन और उपभोग का सन्तुलन Q बिन्दु पर होगा जहाँ पूँजी की सीमान्त उत्पादकता बढ़ जाती है और श्रम की घट जाती है। प्रो. स्टाल्पर-सेमुअलसन के प्रमेय में भी यह सिद्ध किया गया है। इसका प्रभाव यह होगा कि B देश से A देश को पूँजी का प्रवाह प्रोत्साहित होगा, अतः देश A अब पूँजी प्रचुर हो जायगा तथा उसका उत्पादन सम्भावना वक्र TT दायीं ओर बढ़कर $T^1 T^1$ हो जायगा और किसी

1 अध्याय 14 का B परिशिष्ट देखें।

भी कीमत अनुपात पर यह पूंजी प्रधान वस्तु X के पक्ष में होगा जिससे $T^1 T^1$ उसी अन्तर्राष्ट्रीय कीमत रेखा पर ($N^1P^1M^1$ और NPM दोनो समानान्तर हैं) P^1 बिन्दु को स्पर्श करेगी।

B देश से पूंजी का प्रवाह A देश मे उस समय तक होता रहेगा जब तक कि दोनो देशो में पूंजी और श्रम की सीमान्त उत्पादकता बराबर नही हो जाती। चूंकि A का प्रशुल्क अन्तर्राष्ट्रीय कीमत को प्रभावित नही कर पाता, B देश मे सीमान्त उत्पादकता स्थिर रहती है।

प्रो मुण्डेल का निष्कर्ष इस प्रकार है—प्रशुल्क के फलस्वरूप उस साधन का प्रतिफल बढ जाता है जिसका बहुलता से प्रयोग किया जाता है अतः उस साधन का प्रवाह दूसरे देश से प्रशुल्क लगाने वाले देश मे होता है। अन्त मे साधनो की कीमतें समान हो जाती हैं, साधनो का प्रवाह रुक जाता है तथा वस्तुओ की कीमतें समान हो जाती हैं। अब प्रशुल्क प्रभावहीन हो जाता है तथा नये सन्तुलन को प्रभावित किये बिना, प्रशुल्क को हटाया जा सकता है। नये सन्तुलन मे व्यापार की शर्तें एव साधनो की कीमतें, प्रशुल्क की पहले की स्थिति के समान होगी।

12. घरेलू आय के वितरण पर प्रभाव—प्रशुल्क का घरेलू आय के वितरण पर क्या प्रभाव पडता है, इसका अध्ययन प्रो सेमुअलसन, प्रो. स्टाल्पर, प्रो मेट्जलर और प्रो. लंकैस्टर (Lancaster) ने किया है।

प्रतिष्ठित और नवप्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो ने यह तो बताया कि विशिष्टीकरण और व्यापार से जिस प्रकार एक देश लाभान्वित होता है परन्तु वे यह नही स्पष्ट कर पाये कि वास्तविक आय का लाभ उत्पत्ति के विभिन्न साधनो मे देश मे किस प्रकार वितरित होता है।

अब हम सक्षेप मे प्रशुल्क का घरेलू आय के वितरण पर प्रभाव के सम्बन्ध मे विभिन्न आधुनिक मतो का प्रतिपादन करेंगे

हैक्सचर-ओहलिन के विचार—हैक्सचर-ओहलिन के अनुसार यदि व्यापार के फलस्वरूप साधनो का सापेक्षिक प्रतिफल समान हो जाता है तो जिस देश मे जो साधन स्वल्प है, वहाँ व्यापार को सीमित करके साधन की स्वल्पता को बनाये रखा जायगा। अत जिस देश मे श्रम स्वल्प और भूमि प्रचुर है, वह प्रशुल्क लगाकर, व्यापार की मात्रा को सीमित करेगा जिससे स्वल्प साधन-श्रम-लाभान्वित होगा। इस प्रकार सेमुअलसन ने प्रशुल्क के सस्ते श्रम के तर्क (Pauper Labour Argument) का समर्थन किया है। अब प्रश्न है कि क्या प्रशुल्क से स्वल्प साधन के निरपेक्ष अश मे भी वृद्धि होगी ? चूंकि प्रशुल्क से प्राय वास्तविक राष्ट्रीय आय कम हो जाती है, इस बात की सम्भावना रहती है कि स्वल्प साधन का निरपेक्ष अथवा वास्तविक अंश कम हो जाय। भले ही प्रशुल्क से, उसके सापेक्षिक अश मे वृद्धि हो जाय। उदाहरण के लिए 75 की राष्ट्रीय आय का 50%, 100 की राष्ट्रीय आय के 40% से कम है।

स्टाल्पर-सेमुअलसन प्रमेय (Stolper-Samuelson Theorem)

प्रो स्टाल्पर-सेमुअलसन ने हेक्सचर-ओहलिन के उक्त मत को स्वीकार नही किया और 1941 मे अपने निबन्ध मे यह मत प्रतिपादित किया कि प्रशुल्क के फलस्वरूप स्वल्प साधन के सापेक्षिक और निरपेक्ष—दोनों अशो मे वृद्धि होती है। उन्होंने बताया कि दो साधनों वाली अर्थ-व्यवस्था मे प्रशुल्क से स्वल्प की निरपेक्ष मजदूरी मे वृद्धि हो जायगी। व्यापार की शर्तें एव समग्र रूप से वास्तविक आय पर होने वाले प्रभाव का विचार किये बिना ही, यदि प्रशुल्क के फलस्वरूप दूसरे देश द्वारा बदले की भावना का कदम न उठाया जाय तो प्रशुल्क से उस साधन के सापेक्षिक अश और वास्तविक आय मे वृद्धि होगी जो सरक्षित उद्योग मे सापेक्षिक रूप से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इस प्रकार एक श्रम स्वल्प देश सरक्षण अपनाकर श्रम की वास्तविक मजदूरी मे वृद्धि कर सकता है, भले ही उससे, समग्र रूप से राष्ट्रीय आय कम हो जाय। प्रशुल्क का हानिकारक प्रभाव

देश के प्रचुर साधन पर पड़ेगा अर्थात् सापेक्षिक रूप में प्रचुर साधन के सापेक्षिक और निरपेक्ष दोनों अंश कम हो जायेंगे।

प्रो. मेट्ज़लर के विचार

स्टाल्पर-सेमुअलसन के उपर्युक्त विवेचन में यह मान्यता निहित है कि संरक्षण का देश की बाह्य व्यापार शर्तों (आयात-निर्यात की बाह्य कीमतें) में कोई परिवर्तन नहीं होता। किन्तु प्रो. मेट्ज़लर ने 1949 में अपने एक लेख में बताया कि स्टाल्पर-सेमुअलसन के निष्कर्ष में संशोधन की आवश्यकता है। प्रशुल्क से स्वल्प साधन की आय कैसे प्रभावित होती है, यह प्रशुल्क के फल-स्वरूप व्यापार की शर्तों में होने वाले परिवर्तन पर निर्भर रहता है। यदि इन परिवर्तनों को दृष्टि में रखा जाय तो यह स्पष्ट किया जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय माँग की कुछ दशाओं में, प्रशुल्क से लाभान्वित होने की अपेक्षा, स्वल्प साधन को हानि होती है।

स्टाल्पर-सेमुअलसन प्रमेय के सम्बन्ध में लेंकेस्टर के विचार

प्रो. लेंकेस्टर ने भी स्टाल्पर-सेमुअलसन के प्रमेय में संशोधन किया है। सेमुअलसन ने बताया कि प्रशुल्क से किसी भी वस्तु के सन्दर्भ में स्वल्प साधन की वास्तविक आय बढ़ जाती है। किन्तु लेंकेस्टर कहते हैं कि दो वस्तु—दो साधन मॉडल में भी यह सही नहीं है। स्टाल्पर-सेमुअलसन की मान्यताओं में लेंकेस्टर ने यह मान्यता भी जोड़ दी है कि श्रम की आय एक वस्तु पर तथा पूँजीपति की आय पूर्ण रूप से दूसरी वस्तु पर व्यय की जाती है इससे उस वस्तु की कुल माँग में परिवर्तन हो जायगा जिस पर समस्त मजदूरी व्यय की जाती है। सम्भव है पूँजी प्रचुर देश पूँजी प्रधान वस्तु को श्रम-वस्तु के रूप में प्रयुक्त करे। समग्र रूप से देश की माँग ऐसी हो कि पूँजी प्रधान वस्तुओं का आयात करना पड़े। यदि देश आयातों पर प्रशुल्क लगाता है तो इससे श्रम को लाभ नहीं होगा वरन् पूँजी को लाभ होगा जिसका आयात प्रतिस्थापित उद्योग में गहनता से प्रयोग होता है। स्टाल्पर-सेमुअलसन प्रमेय उसी समय लागू होता है जब देश श्रम-प्रधान वस्तुओं का आयात करे।

निष्कर्ष—जहाँ तक स्टाल्पर सेमुअलसन की मान्यता का प्रश्न है, वास्तविक जगत में, प्रशुल्क का व्यापार की शर्तों पर काफी प्रभाव पड़ता है तथा देश के उपभोग-स्तर का भी उत्पादन पर प्रभाव होता है। यदि इन सब बातों पर विचार किया जाय तो स्टाल्पर-सेमुअलसन प्रमेय के बारे में सामान्य कथन सम्भव नहीं है।

अनुकूलतम प्रशुल्क
(OPTIMUM TARIFF)

आयातों पर प्रशुल्क के फलस्वरूप एक देश व्यापार की शर्तों को अपने अनुकूल बना सकता है एवं स्वतन्त्र व्यापार की तुलना में, अपने कल्याण में वृद्धि कर सकता है। परन्तु एक देश अपने कल्याण में कितनी वृद्धि कर सकता है, यह प्रशुल्क की मात्रा पर निर्भर रहता है। यदि देश भारी मात्रा में प्रशुल्क लगाता है तो आयातित वस्तुओं के उपभोग को सीमित करने से देश को जो हानि होती है, वह उस लाभ से ज्यादा होती है जो विदेशी कीमतों को घटाने से होता है। यह स्थिति ठीक उस एकाधिकारी के समान है जो यदि उत्पादन में बहुत अधिक कटौती है तो कीमतों से जो लाभ उसे होता है, उसकी तुलना में विक्रय-मात्रा घट जाने से उसे अधिक हानि होती है।

अतः प्रश्न है कि प्रशुल्क की वह कौनसी मात्रा है जिससे देश का लाभ अधिकतम होता है तथा व्यापार की शर्तों में अधिकतम सुधार होता है? यदि ऐसी प्रशुल्क की ऐसी मात्रा ज्ञात कर ली जाय तो उसे अनुकूलतम प्रशुल्क कहते हैं। यदि प्रशुल्क की मात्रा इस अनुकूलतम बिन्दु से

अधिक बढ़ायी जाती है तो व्यापार की शर्तों के सुधार से जो लाभ होगा, उसकी तुलना में व्यापार की मात्रा घट जाने से हानि अधिक होगी।

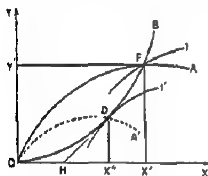
व्यापार तटस्थता वक्र के सन्दर्भ में अनुकूलतम प्रशुल्क की परिभाषा

यदि व्यापार तटस्थता वक्र के सन्दर्भ में अनुकूलतम प्रशुल्क की परिभाषा की जाय तो यह वह प्रशुल्क है जो विरोधी प्रस्ताव वक्र को उस बिन्दु पर काटता है जो प्रशुल्क लगाने वाले देश के उच्चतम व्यापार तटस्थता वक्र को स्पर्श करता है। इस अनुकूलतम के बाद व्यापार की शर्तों में आगे भी सुधार किया जा सकता है परन्तु इससे व्यापार की मात्रा घटने से जो हानि होती है, वह लाभ की तुलना में अधिक होती है।

समुदाय तटस्थता वक्र के सन्दर्भ में अनुकूलतम प्रशुल्क की परिभाषा
(OPTIMUM TARIFF DEFINED IN TERMS OF COMMUNITY INDIFFERENCE CURVES)

अनुकूलतम प्रशुल्क की परिभाषा मार्शल के प्रस्ताव वक्र और प्रशुल्क लगाने वाले देश के समुदाय तटस्थता वक्र के सन्दर्भ में भी की जा सकती है। इसे निम्न चित्र द्वारा स्पष्ट किया गया है :

निम्न रेखाचित्र 29·6 में OA देश A का प्रस्ताव वक्र तथा OB देश B का प्रस्ताव वक्र है। स्वतन्त्र व्यापार का सन्तुलन बिन्दु F है जहाँ दोनों प्रस्ताव वक्र एक दूसरे को काटते हैं। इस बिन्दु पर A देश B से X की OX' मात्रा का आयात करता है तथा इसके बदले Y की OY' मात्रा का निर्यात करता है अर्थात् B देश OX' का निर्यात एवं OY' का आयात करता है। अब A देश अपने आयात पर प्रशुल्क लगाता है जिससे उसके आयात कम हो जाते हैं तथा प्रभाव पूर्ण प्रस्ताव वक्र भी कम हो जाता है (OA')। अनुकूलतम प्रशुल्क वह होगा जब A देश का प्रस्ताव वक्र (OA') B के अपरिवर्तित प्रस्ताव वक्र OB को D बिन्दु पर काटे जहाँ B का अपरिवर्तित प्रस्ताव वक्र A के समुदाय वक्र I' को स्पर्श करता है। प्रशुल्क के फलस्वरूप A को लाभ इस दृष्टि से होता है कि स्वतन्त्र-व्यापार की उसकी तटस्थता वक्र (I) परिवर्तित होकर I' हो जाती है। तटस्थता वक्र I' उच्चतम तटस्थता वक्र है जो B के अपरिवर्तित प्रस्ताव वक्र के साथ प्राप्त किया जा सकता है। प्रशुल्क इसलिए अनुकूलतम है क्योंकि D बिन्दु से विचलन से देश A में प्रत्येक व्यक्ति अच्छी स्थिति में नहीं पहुँचता।



चित्र 29·6

रेखाचित्र में HD का ढाल A देश में घरेलू कीमत अनुपात और OD का ढाल विश्व कीमत अनुपात को व्यक्त करते हैं, इन दोनों अनुपातों में अन्तर अर्थात् HD और OD रेखाओं के ढाल का अन्तर प्रशुल्क की अनुकूलतम दर है।

डॉ. ग्राफ (Dr. Graaf) ने एक देश के दृष्टिकोण से स्वतन्त्र व्यापार की तुलना में अनुकूलतम प्रशुल्क की श्रेष्ठता को प्रमाणित किया है।

अनुकूलतम प्रशुल्क एवं बदले की या प्रतिशोधात्मक भावना
(OPTIMUM TARIFF & RETALIATION)

अनुकूलतम प्रशुल्क में यह विचार निहित है कि यद्यपि पूर्ण प्रतियोगी अर्थव्यवस्थाओं वाले विश्व में स्वतन्त्र व्यापार से सम्पूर्ण विश्व को लाभ होता है किन्तु एक राष्ट्र जो अपने राष्ट्रीय

उच्च मजदूरी निम्न लागत उत्पादन में बाधक नहीं है।" इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि अमरीका के उच्च मजदूरी वाले उत्पादन, सस्ते श्रम की प्रतियोगिता में काफी बिक रहे हैं। इस तर्क की भूल यह है कि यह मजदूरी की दर और उत्पादन की प्रति इकाई लागत में भेद नहीं करता। वास्तव में मौद्रिक मजदूरी की तुलना में, प्रति इकाई अन्तिम उत्पादन लागत अधिक महत्वपूर्ण है। यह सम्भव है कि ऊँची मजदूरी वाला श्रम वास्तव में सस्ता हो क्योंकि वह अधिक कुशलता के साथ कार्य करता है तथा उसकी उत्पादकता अधिक रहती है जिससे उत्पादन लागत घट जाती है।

जिस देश में श्रम की मजदूरी अधिक होती है, वहाँ पूँजी एवं अन्य साधन प्रचुर मात्रा में रहते हैं जो सापेक्षिक रूप से सस्ते होते हैं अतः इस देश को पूँजी प्रधान अथवा भूमि प्रधान वस्तुओं के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ होता है। जिस देश में मजदूरी सस्ती होती है, उसे ऊँची मजदूरी वाले देश की तुलना में केवल श्रम-प्रधान वस्तुओं के उत्पादन में लाभ होता है। अतः यह कहना बेकार है कि समस्त उत्पादनों में ऊँची मजदूरी वाले देश को हानि होती है तथा सस्ती मजदूरी वाले देश को लाभ होता है।

एक बात और विचारणीय है। उच्च मजदूरी, श्रम की उच्च उत्पादकता का परिणाम है। यदि श्रम कुशल है तो उसकी लागत ऊँची नहीं हो सकती तथा ऐसा देश सफलतापूर्वक सस्ते श्रम वाले देशों से प्रतियोगिता कर सकता है। सस्ते श्रम का तर्क प्रस्तुत करने वाले यह भूल जाते हैं कि विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन के लिए विभिन्न साधन अनुपातों की आवश्यकता होती है तथा श्रम की कार्यक्षमता को प्रभावित करने वाले कारण देशों में अलग-अलग होते हैं। ये बातें स्पष्ट करती हैं कि ऊँची मजदूरी वाले देश, सस्ती मजदूरी वाले देशों से प्रतियोगिता कर सकते हैं।

निम्न मौद्रिक मजदूरी और उच्च उत्पादकता में प्रतियोगिता—यदि एक उच्च मजदूरी वाले देश को ऐसे देश से प्रतियोगिता करनी पड़े जहाँ निम्न मजदूरी के साथ ही श्रमिकों की उत्पादकता ऊँची हो ? क्या ऐसी स्थिति में ऊँची मजदूरी वाला देश प्रशुल्क लगाकर अपने देश के लोगों के जीवन-स्तर को बनाये रख सकता है। आलोचकों का मत है कि ऐसी स्थिति में भी तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त लागू होता है। एक देश के लिए, जो दूसरे देश की तुलना में प्रत्येक वस्तु सस्ती बना सकता है, यह लाभप्रद नहीं होता कि वह स्वतन्त्र व्यापार बन्द कर दे। जो देश सारी वस्तुओं को ऊँची लागत में बना पाता है, उसके लिए यह लाभप्रद होता है कि वह उन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करे जिनमें तुलनात्मक हानि न्यूनतम है।

सस्ते श्रम के तर्क में सच्चाई—स्टॉलपर-सेमुअलसन प्रमेय—एक बिन्दु ऐसा है जहाँ सस्ते श्रम के तर्क में कुछ सच्चाई का आभास होता है। यह इस बात में है कि प्रशुल्क के माध्यम से देश में मजदूरी के स्तर को बनाये रखा जा सकता है। किन्तु यह केवल श्रम-स्वल्पता (Labour Scarcity) वाले देश में ही सम्भव है जिसके स्पष्टीकरण को स्टॉलपर-सेमुअलसन प्रमेय का नाम दिया गया है। इसके अनुसार दो साधनों वाले देश में प्रशुल्क के फलस्वरूप स्वल्प साधन की वास्तविक मजदूरी में वृद्धि हो जाती है। उदाहरण के लिए एक देश जहाँ श्रम की स्वल्प पूर्ति है, संरक्षण के द्वारा श्रम की वास्तविक मजदूरी बढ़ा सकता है भले ही उसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आय कम हो जावे। प्रशुल्क का हानिकारक प्रभाव पूर्ण रूप से देश के प्रचुर साधनों पर पड़ेगा।

हैक्सचर-ओहलिन की मान्यता—मजदूरी पर प्रशुल्क के प्रभाव का विवेचन प्रो. हैक्सचर-ओहलिन ने भी किया है। उनके अनुसार यदि व्यापार से विभिन्न देशों में सापेक्षिक साधनों के प्रतिफल में समानता स्थापित हो जाती है तो जिस देश में जिस साधन की स्वल्पता है, वहाँ संरक्षण के द्वारा सापेक्षिक स्वल्पता को बनाये रखा जायगा। एक देश जहाँ भूमि की प्रचुरता और श्रम की स्वल्पता है, वह प्रशुल्क लगा सकता है जो व्यापार को सीमित करके, स्वल्प साधन श्रम को लाभान्वित करेगा इस प्रकार उक्त विवेचन सस्ते श्रम के तर्क का समर्थन करता है।

स्टाल्पर-सेमुअलसन प्रमेय में प्रो. लंकेस्टर का सुधार—प्रो. लंकेस्टर (Lancaster) ने सेमुअलसन के प्रमेय में यह मान्यता भी जोड़ दी है कि श्रमिकों की आय पूर्ण रूप से एक वस्तु पर एवं पूंजीपतियों की आय दूसरी वस्तु पर व्यय की जाती है। जिस देश में पूंजी प्रचुर मात्रा में होती है, वहाँ पूंजी प्रधान वस्तुएँ, श्रम वस्तुओं के रूप में प्रयुक्त हो सकती हैं तथा देश की माँग का ढाँचा ऐसा हो सकता है कि पूंजी प्रधान वस्तुओं का आयात करना पड़े अब यदि देश अपने आयातों पर प्रशुल्क लगा देता है तो इसमें सापेक्षिक स्वल्प साधन-श्रम नहीं वरन् आयात प्रतियोगी उद्योग में गहनता से प्रयुक्त-पूंजी लाभान्वित होगा। अतः लंकेस्टर के अनुसार स्टाल्पर-सेमुअलसन प्रमेय की मान्यता के लिए यह आवश्यक है कि देश श्रम प्रधान वस्तुओं का आयात करे।

आलोचकों के अनुसार संरक्षण के आधार के लिए स्टाल्पर-सेमुअलसन प्रमेय का कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं है क्योंकि यह एक स्थैतिक तर्क है।

निष्कर्ष—अन्त में कहा जा सकता कि सस्ते श्रम का तर्क गलत मान्यताओं पर आधारित है। वास्तव में एक देश के समग्र मजदूरी-स्तर एवं जीवन-स्तर के लिए प्रशुल्क (संरक्षण) हानिकारक है। इसका कारण यह है कि तुलनात्मक लाभ के आधार पर साधनों के प्रयोग में प्रशुल्क बाधक है। प्रशुल्क साधनों को अधिक कुशल उद्योगों में हटाकर, कम कुशल उद्योगों में लगा देता है और इस प्रकार उत्पादकता को कम कर देता है जिसके फलस्वरूप मजदूरी का स्तर एवं जीवन-स्तर गिर जाता है।

(2) मुद्रा को देश में रखने का तर्क (Keeping Money at Home Argument)—इस तर्क का आधार यह है कि यदि आयातों को रोक दिया जाय तो मुद्रा देश के बाहर जाने से रुक जायगी और जब देश का पैसा देश में ही रहेगा तो देश धनी और समृद्ध बन जायगा। यदि आयात किये गये तो पैसा देश के बाहर जायगा और देश निर्धन हो जायगा। इसे एक कथन में उद्धृत किया गया है जिसे झूठ-मूठ अब्राहम लिंकन के नाम के साथ जोड़ दिया गया है जो इस प्रकार है—"मैं प्रशुल्क के बारे में अधिक नहीं जानता पर मैं इतना जानता हूँ कि जब हम विदेशों से माल खरीदते हैं तो हमें वस्तुएँ मिलती हैं और विदेशियों को मुद्रा किन्तु जब हम अपने ही देश में वस्तुएँ खरीदते हैं तो हमें वस्तुएँ एवं मुद्रा दोनों मिलते हैं।" इस कथन की सुन्दर व्याख्या सर विलियम बेवरिज ने की है जिनके अनुसार उक्त कथन में सारपूर्ण शब्द केवल आठ हैं अर्थात् "मैं प्रशुल्क के बारे में अधिक नहीं जानता।"

उक्त तर्क वाणिज्यवादियों की भ्रमपूर्ण मान्यता पर आधारित है तथा इसकी मूल गलती यह है कि आयात से मुद्रा की हानि होती है। वास्तव में हम जो भुगतान करते हैं, वह हमारे निर्यातों के भुगतान के रूप में देश में ही लौट आता है और फिर मुद्रा धन का प्रतीक नहीं है। मुद्रा मात्र विनिमय का माध्यम है निर्यात ही आयात का भुगतान करते हैं।

(3) लागतों की समानता का तर्क (Equalizing Cost of Production Argument)—इस तर्क के आधार पर प्रशुल्क इसलिए लगाया जाना चाहिए ताकि देश और विदेश में उत्पादन लागत समान हो सके। प्रशुल्क की दर इतनी ऊँची होना चाहिए कि देश की लागत और सापेक्षिक रूप से विदेशी उत्पादकों की न्यून लागत दोनों में समानता हो जाय। इस दृष्टि से यह तर्क उचित एवं वैज्ञानिक जान पड़ता है। यह तर्क समान प्रतियोगिता पर बल देता है न कि आयातों के रोकने पर।

ध्यान से देखने पर उक्त तर्क गलत प्रतीत होता है। पहला प्रश्न तो यह है कि किन लागतों में समानता स्थापित की जाय? किसी भी देश में सब उत्पादकों की लागत समान नहीं होती। लागतों में समानता का आशय है कि प्रशुल्क की दर इतनी अधिक हो कि कुशल घरेलू उत्पादक और अधिक कुशल विदेशी उत्पादक दोनों एक स्तर पर आ जायें अतः अन्तिम रूप में

यह समान प्रतियोगिता न होकर, आयातों का नियन्त्रण ही है। इस तर्क का दुर्भाग्यपूर्ण पक्ष यह है कि इसमें अकुशलता का पोषण किया जाता है तथा उपभोक्ताओं को घरेलू एवं आयातित दोनों वस्तुओं के लिए समान ऊँची कीमत देना पड़ती है। इस तर्क की निरर्थकता उस समय स्पष्ट हो जाती है जब हम देखते हैं कि घरेलू उत्पादकों को आर्थिक सहायता देकर वही परिणाम प्राप्त किया जा सकता है जो कि प्रशुल्क लगाकर। इस तर्क की आलोचना करते हुए प्रो बेवरिज कहते हैं कि "उद्योगों में प्रशुल्क के वैज्ञानिक आधार के अभाव में लागतों में समानता का तर्क पूर्ण रूप से अवैज्ञानिक एवं अविवेकपूर्ण सिद्ध होता है।"

प्रो सेमुअलसन ने भी उपर्युक्त तर्क की कटु आलोचना की है। उनके अनुसार, "यह तर्क अर्थशास्त्रियों द्वारा विस्तृत रूप से मूर्खतापूर्ण माना जाता है जो, यदि गम्भीरतापूर्वक लिया जाय तो समस्त व्यापार और उसके लाभों को समाप्त कर देगा—सम्भवत इसे मस्तिष्क शून्यता की स्थिति में विकसित किया गया होगा।"[1]

(4) **घरेलू बाजार का तर्क** (Protection of Home Market Argument)—इस तर्क का आधार यह है कि यदि एक देश के निर्माण-उद्योगों को संरक्षण दिया जाता है तो इससे औद्योगिक श्रमिकों की क्रय शक्ति बढ़ेगी और कृषि-पदार्थों का बाजार विस्तृत होगा। यह कहा जाता है कि घरेलू उत्पादकों का गृह बाजार पर पूर्ण अधिकार है अर्थात् देश में आयात नहीं होना चाहिए।

किन्तु यह तर्क गलत है क्योंकि यह व्यापार की पारस्परिक निर्भरता की अवहेलना करता है। यदि प्रशुल्क लगाकर एक देश अपने आयातों को कम करता है तो उसी समय उसके निर्यात भी कम हो जाते हैं। प्रशुल्क किसी नये बाजार का सृजन नहीं करता किन्तु विदेशी बाजार को घरेलू बाजार में प्रतिस्थापित कर देता है। संरक्षण से कुछ उत्पादकों को घरेलू बाजार मिल जाता है किन्तु कुछ उत्पादकों का विदेशी बाजार समाप्त हो जाता है अर्थात् इससे कुछ उत्पादकों को सहायता मिलती है जो उन उत्पादकों की तुलना में कम कुशल होते है जो विदेशी एवं गृह बाजार दोनों में प्रतियोगिता कर सकते हैं।

इस प्रकार यह एक गलत तर्क है जिससे न तो कृषकों को लाभ होता है और न ही बाजार विस्तृत होता है।

(5) **खतरे के बिन्दु का तर्क** (Peril Point Argument)—इस तर्क का आधार यह है कि बड़ी मात्रा में आयात कर लगाये जाना चाहिए ताकि देश के उद्योग बहुत छोटे न बन जायें। यदि अल्प मात्रा में आयात कर लगाये गये तो आयात की मात्रा बढ़ेगी और देश के विशिष्ट उद्योग का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायगा और यदि ऐसा होता है तो यह देश के लिए खतरे का बिन्दु होगा। यह बिन्दु आने पर देश को आयात-कर बढ़ाने पड़ते है अथवा अभ्यंश निर्धारित करने होते हैं ताकि देश के उद्योग के अस्तित्व को बचाया जा सके।

आलोचकों के अनुसार यह तर्क तुलनात्मक लाभ के बिल्कुल विपरीत है जिन उद्योगों को तुलनात्मक हानि है उन्हें बिल्कुल अस्तित्व में नहीं आना चाहिए। उद्योगों का संरक्षण गैर-आर्थिक तर्कों के आधार पर तो किया जा सकता है किन्तु खतरे के बिन्दु के आधार पर नहीं किया जा सकता।

(6) **सौदेबाजी का तर्क** (Bargaining Argument)—यदि देश के पास आयात-कर का आधार है तो इसका प्रयोग अन्य देशों से सौदेबाजी करने अर्थात् प्रशुल्क रियायत देने के लिए

---

1 "It is widely regarded by economists as a tissue of non sense, which if taken seriously would wipe out all trade and all the benefits of trade....It was probably developed in a fit of absentmindedness." Samuelson—*Article in Paths of American Thought.*

किया जा सकता है। और यदि देश के पास प्रशुल्क नहीं है तो वह प्रशुल्क-रियायत के पहले कुछ प्रदान नहीं कर पाता।

परन्तु यह तर्क उचित नहीं है। इसके समर्थक प्रशुल्क को केवल अस्थायी ही मानते हैं जिसे विदेशियों से रियायत मिलने पर समाप्त किया जा सकता है। किन्तु इसकी कमजोरी यह है कि एक बार आयात करों को बढ़ाये जाने के बाद निहित स्वार्थ उन्हें अलग नहीं होने देते एवं अस्थायी संरक्षण, स्थायी संरक्षण में बदल जाता है।

संरक्षण के विपक्ष में तर्क (Arguments Against Protection)

संरक्षण के पक्ष में दिये गये उपर्युक्त तर्कों का यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि उसमें कोई दोष नहीं हैं। वास्तव में उससे कुछ हानियाँ भी हैं, जो इस प्रकार हैं .

(1) अकुशलता को प्रोत्साहन—संरक्षण के पक्ष में दिये गये बहुत से तर्कों में यह स्पष्ट हो गया है कि संरक्षण के फलस्वरूप अकुशल एवं अयोग्य उत्पादकों एवं उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता है जो विदेशों से प्रतियोगिता नहीं कर पाते इससे उपभोक्ताओं को अधिक मूल्य देकर हीन गुणात्मक स्तर की वस्तुओं का उपभोग करना पड़ता है तथा अकुशल उद्योग देश पर भार बन जाते हैं।

(2) विशिष्टीकरण के विरुद्ध—स्वतन्त्र व्यापार में तुलनात्मक लाभ के आधार पर विशिष्टीकरण सम्भव होता है जिससे उत्पादकता बढ़ती है एवं लागत घटती है। किन्तु संरक्षण की नीति विशिष्टीकरण की विरोधी है जिससे न केवल कुल उत्पादन कम होता है वरन् कीमतें भी ऊँची हो जाती हैं।

(3) एकाधिकार की स्थापना—जिन उद्योगों को संरक्षण दिया जाता है, वे प्रतियोगिता के भय से मुक्त हो जाते हैं तथा प्रतियोगिता के अभाव में ऐसे संरक्षित उद्योगों में एकाधिकार की प्रवृत्ति पनपने लगती है जो देश के लिए घातक होती है।

(4) राजनीतिक भ्रष्टाचार—देश में ऐसे निहित स्वार्थ पनपने लगते हैं जो संरक्षण को अलग नहीं होने देना चाहते तथा इसे जारी रखने के लिए वे कई अनुचित उपायों—रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार आदि का सहारा लेते हैं जिससे देश में भ्रष्टाचार फैलता है।

(5) विदेशी व्यापार का संकुचन—संरक्षण के अन्तर्गत विभिन्न उपायों द्वारा आयातों को नियन्त्रित कर दिया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि आयातों को सीमित करने वाले देशों के निर्यात भी कम हो जाते हैं अर्थात् कुल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा कम हो जाती है एवं अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय से होने वाले लाभ भी कम हो जाते हैं।

(6) देशों में शत्रुता की भावना—जब एक देश आयातों को कम करने के लिए प्रशुल्क का सहारा लेता है तो अन्य देश भी चुप नहीं बैठते वरन् वे भी बदले की भावना से प्रशुल्क की दीवारें खड़ी कर लेते हैं इससे देशों में मनमुटाव और शत्रुता की भावना फैलती है।

(7) उपभोक्ताओं को हानि—जब देश में संरक्षण के नाम पर अकुशल उद्योगों को बढ़ावा दिया जाता है तो उसका सीधा प्रभाव उपभोक्ताओं पर पड़ता है क्योंकि उनकी न केवल उपभोक्ता की सम्प्रभुता समाप्त हो जाती है वरन् उन्हें ऊँची कीमतें देकर घटिया वस्तुएँ खरीदनी पड़ती हैं।

(8) धन का असमान वितरण—संरक्षण के लिए घरेलू उद्योगों को आर्थिक सहायता दी जाती है जिसकी वित्तीय व्यवस्था करारोपण से होती है। इससे जहाँ उद्योगपतियों को लाभ होता है, सामान्य करदाताओं पर कर का भार पड़ता है जिससे धन का असमान वितरण होता है।

(9) संरक्षित उद्योगों में शिथिलता—जब उद्योगों को संरक्षण का कवच प्राप्त हो जाता है तो वे अपनी इकाइयों को कुशलतम बनाने का प्रयत्न ही नहीं करते। न तो उनका कुशल प्रबन्ध होता है और न वे विवेकीकरण की ओर ध्यान देते हैं। अतः उद्योगों में शिथिलता आने लगती है।

संरक्षण के विभिन्न रूप (Forms of Protection)

निम्न उपायों द्वारा संरक्षण किया जा सकता है। यहाँ इनका संक्षिप्त विवेचन किया जायगा क्योंकि आगे चलकर इन्हें विस्तार से समझाया जायगा।

(1) **प्रशुल्क (Tariffs)**—प्रशुल्क अथवा आयात कर संरक्षण का सर्वाधिक लोकप्रिय रूप है। प्रशुल्क का आशय निश्चित वस्तुओं पर लगाये गये आयात करों से है जिन्हें आयात करने पर वे घरेलू वस्तुओं से प्रतियोगिता करेंगी। प्रशुल्क का भार आयात की जाने वाली वस्तु की पूर्ति की लोच एवं उसकी माँग की लोच के अनुसार आयात करने वाले अथवा निर्यात करने वाले पर पड़ता है। प्रशुल्क का प्रभाव यह होता है कि आयात की जाने वाली वस्तु की मात्रा घट जाती है।

(2) **अभ्यंश (आयात कोटा) (Import Quotas)**—अभ्यंश एक परिमाणात्मक नियन्त्रण है जिसके अन्तर्गत एक निश्चित अवधि में वस्तु की एक निश्चित मात्रा का ही आयात किया जा सकता है।

(3) **आयात लाइसेंस (Import Licenses)**—यह संरक्षण की वह विधि है जिसके अन्तर्गत वस्तुओं का निश्चित मात्रा में आयात अथवा निर्यात वे ही व्यक्ति या संस्थाएं कर सकती हैं जिन्हें इसके लिए लाइसेंस द्वारा अधिकृत किया गया है।

(4) **आयात प्रतिबन्ध (Import Embargoes)**—एक देश अपने नागरिकों के स्वास्थ्य अथवा नैतिक आधार पर कुछ वस्तुओं के आयात को पूर्ण रूप से प्रतिबन्धित कर सकता है। जैसे अमरीका के 1930 के टैरिफ एक्ट ने उन देशों से पशुओं एवं माँस के आयात को निषिद्ध कर दिया था जहाँ पशुओं को पैर व मुँह की बीमारी थी।

(5) **विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control)**—विनिमय नियन्त्रण का आशय उन उपायों से है जिनके द्वारा विदेशी विनिमय की माँग और पूर्ति को प्रभावित कर विनिमय दरों में परिवर्तन किया जाता है। इसका विस्तृत विवेचन पिछले अध्याय में किया जा चुका है।

(6) **घरेलू उत्पादकों को सहायता (Subsidies to Home Producers)**—कई देश की सरकारें घरेलू उत्पादकों को आर्थिक सहायता देती हैं ताकि या तो वे विदेशी आयातों पर अपनी निर्भरता कम कर सकें अथवा अपने निर्यात बढ़ाकर अधिक विदेशी विनिमय कमा सकें। घरेलू उद्योगों को संरक्षण देने के लिए राजकीय सहायता या तो करों में छूट देकर अथवा करों का भुगतान करके दी जाती है।

(7) **सरकारी-क्रय प्राथमिकता (Government Purchasing Preferences)**—यदि सरकार घरेलू उद्योगों को सहायता देना चाहती है तो वह अपनी आवश्यकता की मशीनें, सैन्य सामान इत्यादि सस्ता आयात न कर, देश के उत्पादकों से मँहगे में खरीदती है। जिससे देश के उत्पादकों को संरक्षण मिलता है।

(8) **कीमत विभेद (Price Discrimination)**—वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्थिति में, पूर्ण प्रतियोगिता का अभाव रहता है अत: कई देशों की उत्पादन फर्में कीमतों को प्रभावित कर सकती हैं। यदि विभिन्न बाजारों में माँग की लोच अलग-अलग रहती है तो लाभ उस समय अधिकतम होता है जब वहाँ कम बेचा जाय जहाँ माँग की लोच कम है एवं सीमान्त आय कम है एवं वहाँ अधिक बेचा जाय जहाँ माँग की लोच अधिक है तथा सीमान्त आय अधिक है। इस प्रकार कीमतों को प्रभावित कर उनमें भेद किया जाता है एवं आयात-निर्यातों को प्रभावित किया जाता है।

(9) **राजकीय व्यापार (State Trading)**—राजकीय व्यापार के अन्तर्गत देश की सरकार पूर्ण अथवा आंशिक रूप में देश के व्यापार को अपने हाथ में ले लेती है तथा आयात-निर्यात के निर्णय निजी व्यक्तियों द्वारा न किये जाकर सरकार द्वारा किये जाते हैं। राजकीय व्यापार का उद्देश्य देश की व्यापार की शर्तों में सुधार करना होता है।

निष्कर्ष—यद्यपि संरक्षण के विपक्ष में कई तर्क प्रस्तुत किये गये हैं तथा स्वतन्त्र व्यापार का पुरजोर समर्थन किया गया है फिर भी संरक्षण के पक्ष में दिये गये तर्कों में कोई कमी नहीं आयी है। किन्तु यह बात अवश्य है कि संरक्षण की पुरानी दलीलों को ही दुहराया जा रहा है तथा विगत शताब्दी में कोई नयी बात सामने नहीं आयी है। आज भी संरक्षण के तर्कों में सार है क्योंकि उनमें सत्यता का अंश है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. "सैद्धान्तिक रूप से एक देश के लिए स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपनाना अति उत्तम है परन्तु व्यावहारिक रूप में कोई देश इस नीति को नहीं अपना सकता है ?" समझाइए ?
2. संरक्षण के पक्ष में जो तर्क दिये जाते है, उनकी आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए ?
3. स्वतन्त्र व्यापार से आप क्या समझते हैं ? इसके पक्ष एवं विपक्ष में दिये जाने वाले तर्कों का परीक्षण कीजिए ?
4. वर्तमान में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के मुक्त व्यापार सिद्धान्त का क्या व्यावहारिक महत्व है ? क्या अर्द्धविकसित देश अपने आर्थिक विकास के लिए इसे अपना सकते हैं ?
5. "स्वतन्त्र व्यापार सदैव उपभोक्ताओं के हितों पर ध्यान देता है किन्तु उत्पादकों के हितों एवं रोजगार के प्रश्न की अवहेलना करता है।" आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं। पूर्ण रूप से समझाइए ?
6. यदि स्वतन्त्र व्यापार तुलनात्मक लाभ एवं विशिष्टीकरण के आधार पर अधिकतम लाभ प्रदान करता है तो फिर संरक्षण की नीति क्यों अपनायी जाती है ? पूर्ण विवेचना कीजिए ?
7. संरक्षण के पक्ष में शिशु उद्योग तर्क एवं रोजगार वृद्धि के तर्क का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए ?
8. "यदि सारे देश स्वतन्त्र व्यापार को अपनायें तो वह सबके लिए लाभदायक हो सकता है किन्तु मात्र एक देश के लिए वह सर्वोत्तम नीति नहीं है" इसकी विवेचना कीजिए ?

Selected Readings

1. P. T. Ellsworth . *The International Economy.*
2. G. V. Haverler *Theory of International Trade*
3. Ray and Kendu , *Intrnational Economics.*
4. D. M Mithani : *Interoduction to International Economics.*
5. Bertil Ohlin *Inter region and International Trade*
6. Samuelson *Economics*

अध्याय **28**

अर्द्धविकसित देशों में संरक्षण की नीति

[POLICY OF PROTECTION IN UNDERDEVELOPED COUNTRIES]

परिचय

आज बहुत से अर्थशास्त्री इस प्रश्न पर सहमत हैं कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त अर्द्धविकसित देशों के लिए महत्वहीन है जहाँ की समस्याएँ संरचनात्मक (Structural) एवं प्रावैगिक (Dynamic) हैं। इन देशों का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की पारस्परिक निर्भरता एवं लाभों से अधिक सम्बन्ध है। यह सुझाव दिया जाता है कि इन देशों को अपने आर्थिक विकास को दृष्टि में रखते हुए संरक्षण की नीति अपनाना चाहिए। ऐसा कहा जाता है कि संरक्षण के माध्यम से एक अर्द्धविकसित देश व्यापार से अपने लाभों को बढ़ा सकता है, पूंजी निर्माण की गति तीव्र कर सकता है एवं औद्योगीकरण को बढ़ा सकता है। हम इस अध्याय में इस बात का अध्ययन करेंगे कि क्यों अर्द्धविकसित देशों को संरक्षण की नीति अपनाना चाहिए।

अर्द्धविकसित देशों में संरक्षण के लिए विशेष तर्क

इस बात का समर्थन कई अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के अर्थशास्त्रियों ने किया है कि स्वतन्त्र व्यापार से लाभान्वित होने की अपेक्षा, अर्द्धविकसित देशों को इससे हानि उठानी पड़ी है। इन अर्थशास्त्रियों में प्रो. प्रेबिश, प्रो. सिंगर और प्रो. गुन्नर मिर्डल के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन देशों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने आर्थिक विकास प्रोत्साहित करने की अपेक्षा वास्तव में उसे, दोहरी अर्थव्यवस्था निर्मित कर, अवरुद्ध कर दिया है – दोहरी अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत इन देशों में एक तो निर्यात के लिए उच्च उत्पादकता वाला उत्पादन क्षेत्र है और दूसरा निम्न उत्पादकता वाला घरेलू उत्पादन है जो घरेलू बाजार के लिए उत्पादन करता है। इन अर्थशास्त्रियों का विचार है कि केवल संरक्षण की नीति अपनाकर ही ये देश अपनी वास्तविक आय बढ़ाकर अपनी निर्धनता को दूर कर सकते हैं।

पिछले अध्याय में हम संरक्षण के लिए कुछ तर्कों का अध्ययन कर चुके हैं किन्तु हम यहाँ कुछ विशेष तर्कों का अध्ययन करेंगे जो अर्द्धविकसित देशों को दृष्टि में रखते हुए विकसित किये गये हैं जो इस प्रकार हैं :

(1) व्यापार की शर्तों का तर्क—प्रेबिश-सिंगर-मिर्डल की विचारधारा (Terms of Trade Argument—the Prebisch-Singer-Myrdal Thesis)—प्रो. प्रेबिश[1] ने यह विचार प्रस्तुत किया है कि अर्द्धविकसित देशों में व्यापार की शर्तों की दीर्घकालीन प्रवृत्ति प्रतिकूल होने की होती है फलस्वरूप इन देशों से पूंजी विकसित देशों को प्रवाहित होती है जिनकी व्यापार शर्तों

---

1 Paul Prebisch, *Towards a Dynamic Development Policy for Latin America*—Chap. I.

मे निरन्तर सुधार होता है। अन्य शब्दो मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों का विकसित एवं अर्द्धविकसित देशों मे समान वितरण नही होता।

प्रो. सिंगर[1] ने भी उपर्युक्त विचार से मिलता हुआ विचार प्रकट करते हुए कहा है कि अर्द्धविकसित देशो मे स्वतन्त्र व्यापार एव विदेशी विनियोग ने इन देशो के विकास को क्षति पहुंचाई है। विदेशी व्यापार ने इन देशो मे प्राथमिक उत्पादनो का विशिष्टीकरण कर, घरेलू उद्योगो को विकसित होने से वचित कर दिया है जहाँ तकनीकी विकास, आन्तरिक एव बाह्य मितव्ययताओ एव आधुनिकीकरण की अधिक गुंजाइश रहती है। दूसरी ओर विकसित एवं पूंजी निर्यात करने वाले देशों ने विदेशी व्यापार एव विनियोग का अधिक लाभ उठाया है।

प्रो. मिर्डल[2] ने उपर्युक्त विवेचन को आगे बढाते हुए कहा है कि अर्द्धविकसित देश केवल कुछ पारपरिक वस्तुओ का ही निर्यात करते है जिनकी कीमतें नीची ही रहती है उनका विचार है कि कृषि एव निर्माण वस्तुओ के देशो के बीच व्यापार की शर्तें निर्माण वस्तुओ वाले देशो के पक्ष मे रही हैं क्योकि औद्योगिक देशो मे उत्पादन मे एकाधिकार की स्थिति के कारण इन्हे तकनीकी प्रगति का लाभ मिला है जबकि पिछडे देशो मे प्राथमिक उत्पादनों की घटती हुई कीमतो ने उत्पादकता को क्षति पहुंचाई है। मिर्डल का विचार है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण धनी एव निर्धन देशो की आय की असमानता बढी है एव अर्द्धविकसित देशो मे असन्तुलन के फलस्वरूप व्यापार की शर्तों मे ह्रास हुआ है। सरक्षण की नीति अपनाकर ही लाभो के वितरण की स्थिति मे सुधार किया जा सकता है तथा व्यापार की शर्तें पिछडे देशो के पक्ष मे हो सकती हैं।

आलोचना—(i) आलोचको का मत है कि आनुभविक आधार पर यह प्रमाणित नही हुआ है कि अर्द्धविकसित देशो की व्यापार की शर्तों की दीर्घकालीन प्रवृत्ति प्रतिकूल होने की रही है। हैबरलर का मत है कि महत्वपूर्ण होते हुए भी व्यापार की शर्तें, अर्द्धविकसित देशो के व्यापार के लाभो एव विकास को प्रभावित करने वाला अनेक कारणों मे से मात्र एक कारण है। प्रो मिश्रर ने भी प्रेबिश-सिंगर-मिर्डल के विचार की आलोचना की है और उन लाभो का प्रतिपादन किया है जो अर्द्धविकसित देशो ने विदेशी व्यापार और विनियोग से प्राप्त किये हैं। मिश्रर का विचार है कि अर्द्धविकसित देशो की निर्धनता का कारण असन्तुलित अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियाँ नही हैं वरन् उन देशो की आर्थिक एव सामाजिक दशाएं ही इसके लिए उत्तरदायी है। यदि ये देश व्यापार से कम लाभान्वित होते है तो इसका यह आशय नहीं है कि इन देशो की निरपेक्ष व्यापार शर्तें भी प्रतिकूल हैं।

(ii) उक्त आलोचना का यह कहकर प्रत्युत्तर दिया जाता है यदि आयात करो से पिछड़े देशो की निर्यात कीमतो मे वृद्धि होती है एव आयात कीमतो मे कमी होती है तो गरीब देशो की व्यापार की शर्तों मे सुधार हो सकता है। परन्तु अर्द्धविकसित देशो मे उक्त तर्क का इसलिए व्यावहारिक महत्व नही है क्योकि इन देशो की स्थिति न तो एकाधिकार की है और न एकक्रेताधिकार (Monopsony) की। यदि विदेशी माँग बेलोचदार है तो प्रशुल्क के द्वारा न तो व्यापार की शर्तों मे सुधार होगा और न आयात-प्रतिस्थापित उद्योगो को सरक्षण मिलेगा और न इनमे गहनता से प्रयुक्त साधनो की वास्तविक आय मे वृद्धि होगी। इसका कारण यह है कि फिर व्यापार की शर्तों मे इतना परिवर्तन होता है और प्रशुल्क लगाने वाले देश मे आयातो की कीमतें इतनी गिर जाती है कि आयात प्रतिस्थापित उद्योगो मे सकुचन होने लगता है तथा इनमे गहनता से प्रयुक्त साधनो की वास्तविक आय गिरने लगती है। इस विचार का प्रतिपादन प्रो मेट्जलर (Metzler) और जान्सन (Johnson) ने किया है।

1 Hans Singer, *International Development : Growth and Change*, Chap 13
2 Gunner Myrdal, *An International Economy.*

(iii) प्रो. मिअर का विचार है कि व्यापार की शर्तों का तर्क एक निश्चित समय मे माँग और पूर्ति की लोच पर आधारित होने से सीमित हो जाता है। प्रावैगिक दशाओं में लोच में परिवर्तन होता है जो लाभो को प्रभावित करता है।

(2) संरक्षण पूँजी-निर्माण बढ़ाने के साधन के रूप में (Protection as a Means of Promoting Capital Formation)—यदि अर्द्धविकसित देशो मे उपभोग वस्तुओ के आयात पर नियन्त्रण लगा दिये जायें तो घरेलू विनियोग मे वृद्धि की जा सकती है जिससे पूँजी निर्माण सम्भव होता है। इसके लिए घरेलू बचत मे वृद्धि होना जरूरी है। यदि उपभोग वस्तुओ के स्थान पर पूँजीगत वस्तुओ का आयात किया जाय तो बचत मे वृद्धि होना पूंजी निर्माण की पूर्व शर्त है। यदि उपभोग-व्यय मे कोई कमी नही होती किन्तु वह आयात वस्तुओं की तुलना मे घरेलू वस्तुओ पर होने लगता है तो इसका प्रभाव यह होगा कि साधन पूँजीगत उद्योगों से उपभोग वस्तुओं की ओर प्रवाहित होगे। उपभोग मे वृद्धि होने से घरेलू विनियोग कम होगा अतः पूँजी निर्माण मे कोई वास्तविक वृद्धि नही होगी अत: बिना बचत की वृद्धि के संरक्षण से पूंजी निर्माण सम्भव नही है।

यह तर्क दिया जाता है कि आयात-नियन्त्रण से कुल आयात कम नही होगे किन्तु उपभोग वस्तुओ के स्थान पर पूँजीगत वस्तुओं का आयात होगा अर्थात् निर्यातों पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नही पड़ेगा। परन्तु प्रो मिअर[1] का विचार है कि इससे निर्यातो पर तीन प्रकार के प्रतिकूल प्रभाव होंगे—प्रथम संरक्षित आयात-प्रतिस्थापित उद्योगो का विस्तार, निर्यात उद्योगो सहित अन्य उद्योगों के दम पर होता है। द्वितीय यदि कृषको को निर्यात की जाने वाली फसलो के उत्पादन की प्रेरणा इस कारण मिलती है कि वे आयातित वस्तुओ का उपभोग कर सकें तो आयातो के नियन्त्रण से कृषक वर्ग हतोत्साहित होगा एवं तृतीय यदि संरक्षण और आयात प्रतिस्थापित उद्योगों के विकास से आन्तरिक लागत बढ़ती है तो निर्यातो को बनाये रखना कठिन होगा।

(3) औद्योगीकरण एवं सन्तुलित विकास (Industrialization and Balanced Development)—हाल ही के वर्षों मे प्राथमिक उत्पादन वाले अर्द्धविकसित देशो मे इस आधार पर संरक्षण का समर्थन किया गया है ताकि वहाँ औद्योगीकरण को गतिशील बनाया जा सके एवं विकास के असन्तुलन को दूर किया जा सके। जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है सबसे पहले अमरीका मे 1791 मे हेमिल्टन ने वहां निर्माण उद्योगों के विकास के लिए संरक्षण का समर्थन किया। उनका मत था कि जिन देशो के पास विकसित कृषि और विकसित निर्माण उद्योग दोनो है, वे उन देशों की तुलना मे अधिक समृद्ध होंगे जो केवल कृषि पर आधारित है।

इसके बाद लिस्ट ने जर्मनी मे संरक्षण की सहायता से निर्माण-उद्योगो को विकसित करने पर बल दिया। उन्होंने अर्थव्यवस्था के सन्तुलित विकास का समर्थन किया। साथ ही लिस्ट ने कृषि, निर्माण उद्योग, व्यापार और निर्मित उद्योगो की विभिन्न शाखाओ मे सन्तुलन स्थापित करने पर जोर दिया।

उपर्युक्त क्रम मे ही आज कृषि देशो मे औद्योगीकरण पर काफी जोर दिया जाता है। आज यह नारा है—"औद्योगीकरण करो अथवा समाप्त हो जाओ" औद्योगीकरण के पक्ष मे सबसे सशक्त तर्क यह है कि कृषि देशों की तुलना मे औद्योगिक देशो मे प्रति व्यक्ति आय ऊँची होती है। अर्थात् कृषि की तुलना मे उद्योग अधिक लाभदायक होता है अतः उद्योगों को संरक्षण दिया जाना चाहिए।

प्रो. मिर्डल के अनुसार अर्द्धविकसित देशो की अर्थव्यवस्थाएँ असन्तुलित है अतः वहाँ औद्योगीकरण की नीति के लिए पर्याप्त आधार है किन्तु जब तक इन देशों मे संरक्षण की नीति

---

1 Meier, *International Trade and Development*—Chapter 6.

नहीं अपनायी जाती, औद्योगीकरण सम्भव नहीं है। मिर्डल[1] ने इन देशों के औद्योगिक संरक्षण के लिए चार विशेष तर्क दिये हैं : (i) नयी पूर्ति के लिए माँग की कठिनाई, (ii) अतिरेक श्रम की विद्यमानता, (iii) बाह्य मितव्ययताओं के सृजन के लिए किसी विनियोग में ऊँचा पारितोषिक, एवं (iv) आन्तरिक कीमतों का असन्तुलित ढाँचा जो उद्योगों के अनुकूल नहीं होता। ये चारों कारण एक दूसरे से सम्बन्धित हैं तथा नवोदित अर्थव्यवस्था के लिए संरक्षण का पर्याप्त आधार प्रस्तुत करते हैं।

उपर्युक्त तर्कों का संरक्षण के सन्दर्भ में पूर्ण परीक्षण करने के लिए प्रो. मिण्ट[2] (Prof. Myint) ने अर्द्धविकसित देशों के संरक्षण सम्बन्धी तर्कों को दो भागों में विभाजित किया है—लागत पक्ष से सम्बन्धित तर्क एवं माँग पक्ष से सम्बन्धित तर्क। अब हम इन दोनों का अध्ययन करेंगे :

लागत पक्ष से सम्बन्धित तर्क (Arguments Relating to Cost)

इस सम्बन्ध में संरक्षण के लिए मैनोइलस्कू का तर्क (Manoilescu Argument) दिया जाता है जिसके अनुसार अर्द्धविकसित देशों में बाजार की अपूर्णता एवं संरचनात्मक कठोरता के कारण सामाजिक और निजी लागत में काफी अन्तर होता है जिससे शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में श्रम के आबंटन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। यह कहा जाता है कि संरक्षण से इन अपूर्णताओं को दूर कर साधनों का उचित वितरण किया जा सकता है।

सरल शब्दों में इस तर्क को इस प्रकार समझाया जा सकता है। अर्द्धविकसित देशों के ग्रामीण क्षेत्र में ऐसे श्रम की बहुत पूर्ति होती है जो अदृश्य रूप से बेरोजगार होते हैं तथा जिनकी सीमान्त उत्पादकता कृषि में शून्य होती है। इन्हें कृषि में मात्र निर्वाह मजदूरी मिलती है जो इनकी उत्पादकता से अधिक होती है किन्तु मात्र निर्वाह मजदूरी इन्हें उद्योगों में आकर्षित नहीं कर सकती अतः शहरी क्षेत्रों में गतिशील होने के लिए इन्हें निर्वाह मजदूरी से अधिक मजदूरी दी जानी चाहिए। पर चूँकि इनकी उत्पादकता कृषि में शून्य होती है, औद्योगिक रोजगार में अधिक मजदूरी देने के लिए निर्माण उद्योगों को संरक्षण दिया जाना जरूरी है।

प्रो. लुईस ने भी अतिरेक श्रम की शून्य सीमान्त उत्पादकता पर जोर दिया है तथा मिर्डल ने अपने तर्क को ग्रामीण अतिरेक जनसंख्या पर आधारित किया है। हाल ही में प्रो. हैगेन (Prof. Hagen) ने कृषि एवं औद्योगिक मजदूरी के अन्तर पर अपने तर्क को अधिक सामान्य रूप से प्रतिपादित किया है। किन्तु इन सब तर्कों का निष्कर्ष यह है कि 'मजदूरी में भिन्नता के फलस्वरूप स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत घरेलू उद्योग आयातों से प्रतियोगिता नहीं कर सकता भले ही उसे तुलनात्मक लाभ हो। इस असफलता को समाप्त करने एवं वास्तविक आय में वृद्धि करने के लिए औद्योगिक संरक्षण की नीति अपनायी जानी चाहिए।"

उपर्युक्त तर्क की कई अर्थशास्त्रियों ने आलोचना की है। प्रो. मिण्ट का विचार है कि अतिरेक ग्रामीण जनसंख्या की धारणा सब अर्द्धविकसित देशों पर लागू नहीं होती जो बहुत विरले बसे हैं।

प्रो. शुल्ट्ज (Schultz) का मत है कि "छिपी हुई बेरोजगारी पर आधारित कार्यक्रम पर्याप्त रूप से कार्यान्वित नहीं किये गये हैं। श्रम पर मुद्रा की पूर्ति बढ़ाने तथा नये उद्योग खोलने के ऐसे प्रभाव नहीं हुए हैं जैसे कि बहुत अधिक बेरोजगार की स्थिति में होना चाहिए बल्कि इसके बजाय मजदूरी के व्यवहार से ऐसा लगता है जैसे मानो कृषि तथा दूसरे उद्योगों में श्रम की

1 Myrdal, *An International Economy*, p. 279,

2 Myint, *Article on International Trade Theory in a Developing World.*

सीमान्त उत्पादकता बराबर हो।"[1] यदि ग्रामीण बेरोजगारी की समस्या को उचित मान लिया जाय तो संरक्षण के माध्यम से औद्योगीकरण ही इसका सर्वोत्तम हल नहीं है। इसका उत्तर प्रो. नर्कसे ने दिया है, "अति-जनसंख्या का प्रभाव होता है न्यून उत्पादकता जिसका आर्थिक हल है पूंजी निर्माण न कि औद्योगीकरण।"

मांग पक्ष से सम्बन्धित तर्क (Argument Relating to Demand)

प्रो. मिर्डल के अनुसार अर्द्धविकसित देशों में औद्योगीकरण के मार्ग में एक बाधा यह है कि पूर्ति के साथ ही आन्तरिक मांग में वृद्धि की जाना चाहिए। मिर्डल के अनुसार विदेश घरेलू उद्योग की मांग को निर्मित करने के लिए आयातों को सीमित करना सर्वोत्तम साधन है।

आयातों को नियन्त्रित कर घरेलू बाजार को विस्तृत किया जा सकता है इसका समर्थन प्रो. हर्शमेन[2] (Prof. Hirschman) ने भी किया है। वे यह मानकर चलते हैं कि अर्द्धविकसित देशों में आय और निर्यातों की कुछ अपने आप वृद्धि होती है अर्थात् वे इन देशों में मिर्डल के समान जड़ता को स्वीकार नहीं करते। आयातों का नियन्त्रण देश की मांग के स्वरूप को निर्धारित कर सकता है एवं अनिश्चितताओं को दूर कर विक्रय लागतों को कम कर सकता है और ऐसी अनुकूल दशाएँ उत्पन्न कर सकता है जिसमें घरेलू उत्पादन को लाभपूर्ण ढंग से प्रारम्भ किया जा सकता है। हर्शमेन उसी समय संरक्षण का समर्थन करते हैं यदि उससे घरेलू बाजार विस्तृत होता है तथा आयात प्रतिस्थापित उद्योगों में विनियोग में वृद्धि होती है।

आलोचना—(i) मांग का तर्क आयात प्रतिस्थापित उद्योगों में मांग वृद्धि से सम्बन्धित है। आलोचक कहते हैं कि आयात प्रतिस्थापन को विकास का आधार मानने का मुख्य कारण यह है कि इसमें प्रत्यक्ष रूप से विदेशी विनियोग आकर्षित होगा एवं देश में तकनीकी ज्ञान और आधुनिकीकरण में वृद्धि होगी। पर सम्भव है कि वांछित परिणाम न हो। प्रो. जॉनसन के अनुसार इसके विपरीत यह सम्भव है कि आयात प्रतिस्थापित उद्योगों में तकनीकी प्रगति की स्थिति खराब हो क्योंकि देश में औद्योगीकरण के लिए मँहगी पूंजीगत वस्तुओं का आयात करना पड़े।

(ii) इस बात की भी निश्चितता नहीं है कि आयात प्रतिस्थापन से अर्थव्यवस्था उस बिन्दु से अधिक विकास कर सकेगी जितना कि आयातों के होने पर हो रहा था। प्रो. हर्शमेन ने संरक्षण के लिए उत्पादन की जिस न्यूनतम आर्थिक सीमा का निर्धारण किया है उसे ज्ञात करना भी कठिन है।

हाँ, एक बात में प्रो. हर्शमेन की विचारधारा श्रेष्ठ है। जहाँ अन्य विचारधाराएं विकास की प्रासंगिक दशाओं पर आधारित नहीं है वहाँ हर्शमेन की विचारधारा में यह गुण है। हर्शमेन ने औद्योगिक संरक्षण का समर्थन इसलिए नहीं किया है कृषि की तुलना में उद्योग अधिक उत्पादक होते हैं अथवा सन्तुलित विकास के सन्दर्भ में इन दोनों में अन्तर होता है वरन् इसलिए किया क्योंकि "उर्ध्वस्तर श्रृंखला प्रभावों (Vertical Linkage Effects) के माध्यम से यह (औद्योगिक संरक्षण) प्रोत्साहित विनियोग का अधिक सघनता उत्पादक होता है।" संरक्षण के लिए प्रो. नर्कसे द्वारा सन्तुलित विकास का आधार प्रस्तुत किया गया है जिसका समर्थन लुईस ने किया है जिसके अनुसार कृषि सहित विभिन्न उद्योगों में विनियोग का ढांचा सन्तुलित होना चाहिए ताकि इन सबका सन्तुलित अनुपात में विस्तार हो सके। किन्तु सन्तुलित विकास धारणा की यह आलोचना की गयी है कि यह संरक्षण के माध्यम से उद्योगों के एकपक्षीय विकास पर बल देता है। क्या यह आवश्यक नहीं है कि घरेलू उद्योगों की मांग पैदा करने के लिए कृषि एवं अन्य प्राथमिक उत्पादनों का विस्तार किया जाय।

---

1 Schultz, *The Economic Test in Latin America*, pp. 14-15.
2 Hirschman, *The Strategy of Economic Development*, pp. 120-121.

औद्योगिक संरक्षण की अन्य आलोचनाएँ—औद्योगिक और कृषि देशों में आय के स्तर की भिन्नता के आधार पर जो औद्योगिक संरक्षण का समर्थन किया गया है, उसकी प्रो. वाइनर एवं प्रो. लोइब (Loeb) ने आलोचना की है।

जेकब वाइनर[1] के अनुसार, "कृषि का सम्बन्ध आवश्यक रूप से निर्धनता से नहीं है—यह आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और डेनमार्क की स्थिति से स्पष्ट हो जाता है एवं औद्योगीकरण आवश्यक रूप से समृद्धि से सम्बन्धित नहीं है—यह इटली और स्पेन से स्पष्ट हो जाता है।"

डॉ. लोइब[2] के अनुसार, "जिन देशों में कृषि क्षेत्र में आर्थिक रूप से सक्रिय जनसंख्या का प्रतिशत कम और उद्योगों में आर्थिक रूप से सक्रिय जनसंख्या का प्रतिशत अधिक होता है, उन देशों में प्रति व्यक्ति आय अधिक होती है परन्तु यह सम्बन्ध पूर्ण रूप से निरपेक्ष नहीं है। उदाहरण के लिए कनाडा, न्यूजीलैण्ड और स्वीडन में कृषि जनसंख्या का अनुपात इंगलैण्ड की तुलना में चार गुना है फिर भी उक्त देशों की प्रति व्यक्ति वास्तविक आय अधिक है।"

यह भी कहा जाता है कि औद्योगीकरण, प्रति व्यक्ति ऊँची आय का कारण नहीं तथा दोनों—औद्योगीकरण और ऊँची आय अन्य तत्वों का परिणाम हैं जैसे प्रचुर प्राकृतिक सम्पदा, उद्यमी प्रतिभा, कुशल और गुणी जनसंख्या, अनुकूल जलवायु इत्यादि।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद यह कहा जा सकता है कि अर्द्धविकसित देशों के समग्र विकास के लिए औद्योगीकरण आवश्यक है तथा इसके लिए संरक्षण की महत्वपूर्ण भूमिका है।

(4) **पूँजी आयात के लिए संरक्षण—मुण्डेल का सिद्धान्त (Protection for Capital Import—Mundell's Theory)**—यह तर्क दिया जाता है कि संरक्षण के माध्यम से विदेशी विनियोग को आकर्षित करके देश में पूँजी निर्माण को प्रोत्साहित किया जा सकता है। कुछ दशाओं के अन्तर्गत वस्तु आयात पर प्रशुल्क साधनों की गतिशीलता को प्रोत्साहित कर सकता है। चूँकि प्रशुल्क के फलस्वरूप प्रशुल्क लगाने वाले देश में स्वल्प साधनों की सापेक्षिक स्वल्पता बढ़ जाती है, साधन का वास्तविक प्रतिफल भी बढ़ जाता है और साधन का अन्तर्राष्ट्रीय वितरण लाभदायक हो जाता है। इस विचारधारा का सैद्धान्तिक आधार प्रो. मुण्डेल[3] ने प्रस्तुत किया।

प्रो. मुण्डेल के अनुसार एक अर्द्धविकसित पूँजी निर्धन देश पूँजी प्रधान वस्तुओं के आयात पर प्रशुल्क लगाकर, विदेशी पूँजी के आगमन को प्रोत्साहित कर सकता है। यह इसलिए सम्भव होता है क्योंकि प्रशुल्क से श्रम प्रधान वस्तुओं की तुलना में पूँजी प्रधान वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाती हैं। फलस्वरूप स्थिर साधन कीमतों के आधार पर, साधन, श्रमप्रधान उद्योगों से पूँजी प्रधान उद्योगों की ओर प्रवाहित होने हैं। इससे पूँजी की सीमान्त उत्पादकता बढ़ जाती है एवं श्रम की घट जाती है। अब चूँकि पूँजी गहन देशों की तुलना में, पूँजी-निर्धन देशों में पूँजी का प्रतिफल ऊँचा हो जाता है, पूँजी निर्धन देशों की ओर आकर्षित होती है।

आलोचना—स्वयं मुण्डेल के अनुसार उनका सिद्धान्त कुछ मान्यताओं पर आधारित है। प्रथम तो यह कि सब देशों में उत्पाद-फलन समान रहते हैं और द्वितीय पूँजी पूर्ण रूप से गतिशील होती है और सीमान्त उत्पादकता के अनुरूप उसमें परिवर्तन होता है। पर ये दोनों मान्यताएँ सही नहीं हैं। मुण्डेल का तर्क यह भी मानकर चलता है कि प्रशुल्क के फलस्वरूप व्यापार की शर्तें अप्रभावित रहती हैं किन्तु यह सम्भव है कि व्यापार की शर्तों में सुधार हो जाये और पूँजी प्रधान आयात की वस्तुओं की तुलना में श्रमप्रधान वस्तुओं की कीमतें बढ़ जायें तो

---

1 Jacob Viner, *International Trade & Economic Development*, p. 45.

2 G. F. Loeb, *Industrialization and Balanced Growth*, p. 15

3 R. A. Mundell, *Article in American Economic Review*, June 1957.

फिर मुण्डेल की विचारधारा गलत हो जायेगी। सिद्धान्त लागू होने के लिए यह भी आवश्यक है कि प्रशुल्क लगाने वाले देश मे पूँजी प्रधान उद्योगो को वाह्य बचतें प्राप्त हो तभी विदेशी पूँजी आकर्षित होगी।

(5) शिशु उद्योग तर्क[1] (Infant Industry Argument)—अर्द्धविकसित देशों मे शिशु उद्योग तर्क का अधिक व्यापक महत्व है। कुछ ऐसे उद्योग है जिन्हे दीर्घकालीन तुलनात्मक लागत की दृष्टि से अर्द्धविकसित देशो मे स्थापित होना चाहिए था पर जो ऐतिहासिक सयोग से अन्य देशो मे स्थित है। पिछडे देशो मे यद्यपि वर्तमान मे तकीकी कुशलता एवं अन्य सुविधाओ के अभाव मे इन उद्योगो की उत्पादन लागत अधिक है किन्तु यदि इन्हे संरक्षण दिया जाय तो इनकी लागत अन्तर्राष्ट्रीय स्तर से भी कम हो सकती है। अर्द्धविकसित देशों मे शिशु उद्योगो को विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे संरक्षण देना आवश्यक है। आज के विकसित देशों ने भी अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे संरक्षण का सहारा लिया था।

प्रो. एनके और सेलरा (Enke & Salera) ने शिशु उद्योग के लिए निम्न तीन आधार प्रस्तुत किये है :

(i) उद्योग योग्य है एवं दीर्घकाल मे स्वय अपनी वित्तीय व्यवस्था कर लेंगे,

(ii) प्रारम्भिक वर्षों मे इन उद्योगो ने हानि उठाई है, एव

(iii) यदि इन्हे संरक्षण न दिया जाय तो ये स्थापित नही हो सकते।

यह भी आवश्यक है पिछड़े देशो मे कई उद्योगो को एक साथ सरक्षण देकर उन्हे विकसित किया जाय। साथ ही आर्थिक एव सामाजिक वातावरण मे परिवर्तन किया जाय जो इसके लिए आवश्यक है कि सारे उद्योग अपने पैरो पर खड़े हो सकें।

वर्तमान मे योजना आयोग के उपाध्यक्ष डॉ डी टी लाकड़ावाला[2] (Dr. D T. Lakdawala) का मत है कि बहुत से अर्द्धविकसित देश आकार में छोटे है तथा उनकी प्रति व्यक्ति आय कम है तथा घरेलू बाजार बहुत सीमित है अत इन परिस्थितियो में पर्याप्त संख्या मे उद्योगो को जारी रखना सम्भव नही होता। जहाँ साधन स्थैतिक है एव उन्हें विकसित करने के उपाय नही किये गये है तो संरक्षण से इन साधनों का लाभदायक परिवर्तन होगा किन्तु यह पर्याप्त नही होगा अतः सरकार को स्वल्प साधनो मे परिमाणात्मक एवं गुणात्मक वृद्धि करना चाहिए, आधारभूत सरचना का निर्माण करना चाहिए एव आर्थिक तथा सामाजिक उपरि सुविधाएँ (Overhead facilities) का विस्तार करना चाहिए। साथ ही वाह्य बचतों का होना जरूरी है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह सब शिशु उद्योगो को संरक्षण देकर ही किया जा सकता है।

(6) संरक्षण के लिए प्रशुल्क कारखाने (Tariff Factories for Protection)—विदेशी विनियोग को आकर्षित करने के लिए सरक्षण का यह तर्क भी दिया जाता है कि प्रशुल्क कारखानों की स्थापना की जाय। एक अर्द्धविकसित देश विदेशी वस्तुओं पर निषेधात्मक प्रशुल्क लगाकर देश मे प्रत्यक्ष रुप से विदेशी विनियोग के अन्तर्प्रवाह को आकर्षित कर सकता है क्योकि विदेशी उद्यमी आयात प्रतिबन्धो से बचने का प्रयत्न करता है और प्रशुल्क की आड़ में एक उपशाखा स्थापित कर देता है। यदि देश मे निर्मित वस्तुओं पर आयात कर लगा हो एवं कच्चे माल तथा मशीनों के हिस्सो के आयात पर कोई कर न हो तो विदेशी उत्पादकों को प्रशुल्क लगाने वाले देश मे निर्माण की अन्तिम अवस्थाओ एवं मशीनो के हिस्सो को एकत्रित करने (Final Assembling or Processing) के लिए प्रशुल्क कारखानों को स्थापित करने का प्रोत्साहन मिल सकता है।

---

[1] इनके विस्तृत विवेचन के लिए "मुक्त व्यापार एवं संरक्षण" अध्याय देखें।

[2] *Commercial Policy and Economic Growth*—An Article in Trade Theory and Commercial Policy, Edited by A. K. Das Gupta, pp. 29-30.

यह ध्यान रखना चाहिए कि ये प्रशुल्क कारखाने बाजार-प्रोत्साहित उद्योगों को तो निर्मित कर सकते हैं पर पूर्तिजनित उद्योगों को नहीं।

किन्तु प्रशुल्क कारखानों से कुछ समस्याएँ पैदा होती हैं जो इस प्रकार हैं :

(i) जब अन्तिम उत्पादन पर प्रशुल्क लगाया जाता है और कच्चे माल पर कोई आयात कर नहीं लगता तो "संरक्षण की प्रभावपूर्ण दर" (Effective Rate or Protection) का प्रश्न उपस्थित होता है। नाम-मात्र के प्रशुल्क से न तो वास्तविक संरक्षण होता है और न उपभोग के नियन्त्रण पर इसका प्रभाव होता है। प्रशुल्क की प्रभावपूर्ण दर के द्वारा ही इन्हें प्रभावित किया जा सकता है।

(ii) प्रशुल्क कारखानों के उत्पादों की घरेलू माँग केवल प्रशुल्क द्वारा नहीं बढ़ायी जा सकती। जब तक कुछ विशेष आयातों के लिए घरेलू बाजार सीमित रहता है तब तक विदेशी विनियोग को आकर्षित करने के लिए आवश्यक दशा पूरी नहीं होती। प्रो. मिअर ने इसे निम्न शब्दों में व्यक्त किया है :

"यदि प्रशुल्क कारखानों के उत्पादनों के लिए अधिक घरेलू माँग का अभाव है तो प्रशुल्क लगाने का कोई अर्थ नहीं होगा। सीमित आयातों के लिए विस्तृत घरेलू बाजार के अभाव में, प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग को प्रोत्साहित नहीं किया जा सकता।"

प्रो. नर्कसे का विचार है कि "प्रशुल्क संरक्षण, यदि वह कुछ सहायता कर सकता है तो वह बलवानों की सहायता करेगा—वह कमजोर की सहायता नहीं कर सकता।"

(7) बाह्य बचतों के लिए संरक्षण (Protection for External Economies)—अर्द्धविकसित देशों में संरक्षण के लिए एक प्रबल तर्क यह दिया जाता है कि किसी उद्योग को स्थापित करने अथवा उसका विकास करने में बाह्य बचतें पैदा हो जाती हैं जिससे सामाजिक तथा निजी लाभों में अन्तर आने लगता है। यह अन्तर निर्धन देशों के लिए विशेषकर विनियोग के विभिन्न वैकल्पिक अवसरों में बचत के प्रावधान के लिए महत्वपूर्ण है।

बाह्य बचतों के आधार पर इसलिए औद्योगिक संरक्षण का तर्क दिया जाता है क्योंकि एक एकाकी उद्योग का लाभ, अर्थव्यवस्था में उद्योगों की कुल संख्या और उनकी विभिन्नता का परिणाम है अर्थात् अन्तर-उद्योगों (Inter-Industry) की बाह्य बचतें संरक्षण के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती हैं जिससे पूर्ण अर्थव्यवस्था को विकसित होने में सहायता मिलती है।

प्रो मिर्डल इस आधार पर आयात-प्रतिबन्धों का समर्थन करते हैं यदि एक बार देश में आयात प्रतिस्थापित उद्योगों की स्थापना हो जाती है तो उनके बाह्य बचतें होंगी। किन्तु प्रो मिअर उक्त तर्क को विश्वस्त नहीं मानते। उनका मत है कि विनियोग के सभी सम्भव वैकल्पिक अवसरों के लिए शुद्ध बचतों अर्थात् समस्त बाह्य बचतों में बाह्य अमितव्ययताओं को घटाना आवश्यक है और यदि शुद्ध बचतें अधिक हैं तो आयात प्रतिस्थापित उद्योगों में इतना औचित्य है। यह सम्भव है कि निर्यात उद्योगों या अन्य दूसरे उद्योगों में भी बाह्य बचतें अधिक हों तो फिर ऐसी स्थिति में आयात प्रतिस्थापित उद्योगों को संरक्षण देने का मिर्डल का तर्क अधिक प्रभावशील नहीं है।

(8) भुगतान शेष के लिए संरक्षण (Protection for Balance of Payment)—जैसे ही अर्द्धविकसित देश आर्थिक विकास को गतिशील बनाने का प्रयत्न करते हैं, उन्हें भुगतान शेष सम्बन्धी काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। आयातों के लिए इन देशों की माँग की आय लोच ऊँची रहती है। इन्हें पूँजीगत वस्तुओं और अर्द्ध-निर्मित वस्तुओं का विदेशों से आयात करना पड़ता है। दूसरी ओर इनके निर्यातों में, पर्याप्त प्रयत्नों के बावजूद वृद्धि नहीं हो पाती। इन देशों में अवमूल्यन ने भी भुगतान शेष की प्रतिकूलता को ठीक करने में विशेष सहायता नहीं की है। विदेशी पूँजी एवं अनुदान भी अपर्याप्त रहे हैं। ऐसी स्थिति में इन देशों के पास जो दुर्लभ विदेशी

विनिमय होता है, उसे कोटा-प्रणाली के अनुसार विभिन्न आयातों के लिए वितरित नहीं किया जा सकता। अतः यह आवश्यक होता है कि देश में विलासिता की एवं गैर आवश्यक वस्तुओं के आयात को पूर्ण रूप से नियन्त्रित किया जाय तथा साथ ही नियोजन के लिए बहुत आवश्यक पूंजीगत माल को छोड़कर अन्य उद्योगों को संरक्षण दिया जाय। अर्द्धविकसित देशों में संरक्षण के लिए आयातों पर परिमाणात्मक प्रतिबन्ध और विनिमय नियन्त्रण के उपाय सफल हुए हैं। इनसे उपभोग वस्तुओं के आयातों को रोकने एवं आयातों के ढांचे को बदलने में काफी सहायता मिली है।

अन्य तर्क

अर्द्धविकसित देशों में संरक्षण के लिए उपर्युक्त विशेष तर्कों के अतिरिक्त अन्य तर्क भी प्रस्तुत किये जाते हैं जिनका पिछले अध्याय में विवेचन किया जा चुका है जैसे बाजार का सृजन, आर्थिक नियोजन, अर्थव्यवस्था में स्थायित्व, राष्ट्रीयता में सुरक्षा, विनियोग में वृद्धि, सरकारी आय, घरेलू उत्पादन में वृद्धि इत्यादि।

उपर्युक्त तर्कों का आलोचनात्मक अध्ययन भी पिछले अध्याय में किया जा चुका है।

निष्कर्ष—अर्द्धविकसित देशों में संरक्षण के पक्ष में जो विभिन्न तर्क दिये गये हैं, उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि इन देशों को पूर्ण स्वतन्त्र व्यापार की नीति उपयुक्त नहीं है तथा प्रारम्भिक अवस्था में आर्थिक विकास के लिए इन्हें संरक्षण की नीति अपनाना आवश्यक है। किन्तु एक बात स्पष्ट है कि संरक्षण की दौड़ में यदि ये देश विदेशी व्यापार के लिए अपने दरवाजे पूर्ण रूप से बन्द कर लेते हैं तो ये दीर्घकाल में लाभान्वित नहीं होंगे। यही कारण है कि आज अर्द्धविकसित देश दुमुँही नीति अपना रहे हैं जिसके अनुसार निर्यात के लिए तो वे मुक्त व्यापार की नीति अपनाना चाहते हैं एवं आयात को सीमित करने के लिए संरक्षण का सहारा लेते हैं।

उक्त तर्कों का आलोचनात्मक मूल्यांकन यह स्पष्ट कर देता है कि अर्द्धविकसित देशों को अपने घरेलू उद्योगों के लिए आँखें मूँद कर संरक्षण की नीति नहीं अपनाना चाहिए। प्रो. हर्शमेन के अनुसार इन देशों को यह समझना चाहिए कि मांग को निश्चित करने एवं उद्यमियों की मांग का सर्वेक्षण करने के लिए आयातों की महत्वपूर्ण भूमिका है। बहुधा संरक्षण की नीति आत्म-विरोधी सिद्ध हुई है। अर्द्धविकसित देशों ने आयातों को बहुत अधिक सीमित करके, देश में उन प्रोत्साहन एवं आकर्षक प्रभावों को समाप्त कर दिया है जो आयातों के औद्योगीकरण पर होते हैं।

कुछ सीमाओं को दृष्टि में रखकर ही संरक्षण का समर्थन किया जा सकता है। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि संरक्षण का देश के निर्यातों एवं कृषि उद्योग पर विपरीत प्रभाव न पड़े। कोई भी अर्द्धविकसित देश अपने कृषि उद्योग की अवहेलना नहीं कर सकता जो इन देशों के जीवन का आधार है। वास्तव में औद्योगिक विकास, कृषि समृद्धि के साथ जुड़ा हुआ है। अतः संरक्षण की नीति को उसी समय न्यायोचित कहा जा सकता है यदि उससे कृषि अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े।

साथ ही अर्द्धविकसित देश निर्यातों की अवहेलना भी नहीं कर सकते। यदि इन देशों में संरक्षण की नीति के फलस्वरूप मुद्रा प्रसार की स्थिति पैदा होती है तो निश्चित ही निर्यातों पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। यदि इन देशों के निर्यात कम होते हैं तो फिर इन देशों के लिए मशीनों, कच्चा माल एवं तकनीकी वस्तुओं का आयात करना कठिन होगा जो इनके आर्थिक विकास के लिए बहुत आवश्यक है। ऐसा देखा गया है कि संरक्षण, आयात-प्रतिस्थापित उद्योगों की स्थापना का मूलभूत उद्देश्य विफल हो जाता है। इसे प्रो. हर्शमेन ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—"निर्यात प्रोत्साहन और आयात प्रतिस्थापन के बीच में कोई वास्तविक विकल्प नहीं है। आयात प्रतिस्थापन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए निर्यात प्रोत्साहन ही एक व्यावहारिक उपाय है।"

संरक्षण के पक्ष में जो तर्क दिये गये हैं, उनमें से कई तर्क पूर्णरूप से मिथ्या तर्क हैं। प्रो. हैबरलर, प्रो. जेकब वाइनर, प्रो. एल्सवर्थ, प्रो मेमुजलसन और प्रो. जान्सन सरीखे अर्थशास्त्रियों ने बार-बार संरक्षणात्मक तर्कों की अव्यावहारिकता को स्पष्ट किया है फिर भी ये मिथ्या तर्क निरन्तर दोहराये जाते हैं। अन्त में हम यह सकते हैं कि विकासशील देशों के लिए न तो पूर्णरूप से स्वतन्त्र व्यापार की नीति उचित है और न ही पूर्णरूप से बन्द अर्थव्यवस्था अथवा संरक्षण की नीति उचित है वरन् उनके लिए उचित एवं व्यावहारिक नीति यह है कि वे नियन्त्रित, नियमित एवं चयनात्मक व्यापार (Selective Trade) की नीति अपनायें।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. आप किसी अल्प विकसित देश की इस दुमुंही नीति को कहाँ तक उचित मानते हैं जिसके अनुसार वह निर्यातों को बढ़ाने के लिए तो स्वतन्त्र व्यापार तथा आयातों को घटाने के लिए संरक्षण की नीति अपनाना चाहता है ? स्पष्ट कीजिए।
2. अर्द्धविकसित देशों की समस्याओं को दृष्टि में रखते हुए उनके लिए स्वतन्त्र व्यापार की नीति के पक्ष एवं विपक्ष में तर्क दीजिए ?
3. अर्द्धविकसित देशों के लिए संरक्षण के पक्ष में जो विशिष्ट तर्क दिये गये हैं, उनका आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए ?
4. "स्वतन्त्र व्यापार विकसित देशों के लिए सर्वाधिक लाभप्रद हो सकता है किन्तु यह अर्द्ध-विकसित देशों के लिए सदैव घातक होता है।" इस कथन का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए ?
5. "अल्पविकसित देशों में औद्योगीकरण एवं सन्तुलित विकास के लिए संरक्षण की नीति उचित एवं व्यवहारिक है" क्या आप इस मत से सहमत हैं—तर्कपूर्ण उत्तर दीजिए ?

Selected Readings

1. A. K. Das Gupta (Edited) *Trade Theory and Commercial Policy.*
2. G V. Haberler *Theory of International Trade.*
3. Ellsworth . *The International Economy.*
4. Gunner Myrdel *An International Economy.*
5. Hirschman *The Strategy of Economic Development*
6. Meier · *International Trade & Economic Development.*
7. Hans Singer : *International Development: Growth and Change.*
8. Ray and Kendu : *International Economics.*
9. K R Gupta . *International Economics.*

अध्याय 27

व्यापारिक नीति–स्वतन्त्र व्यापार एवं संरक्षण

[COMMERCIAL POLICY – FREE TRADE AND PROTECTION]

परिचय

किसी भी देश की व्यापारिक-नीति का उस देश के आर्थिक विकास पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। व्यापारिक नीति का आशय उन सब उपायों से है जो देश के बाह्य आर्थिक सम्बन्धों को स्थापित करते है। प्रारम्भ से ही विदेशी व्यापार एवं विनिमय को व्यापारिक नीति को नियन्त्रित करने का उद्देश्य माना गया है। विनिमय का विस्तृत विवेचन हम पिछले अध्याय मे कर चुके हैं अतः इस अध्याय मे हम विदेशी व्यापार मे सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण पहलू का अध्ययन करेंगे और वह है स्वतन्त्र व्यापार एवं संरक्षण। यह एक विवादग्रस्त विषय रहा है कि एक देश को स्वतन्त्र (मुक्त) व्यापार की नीति अपनाना चाहिए अथवा संरक्षण की नीति।

कभी-कभी व्यापारिक नीति एवं वाणिज्य नीति मे भेद किया जाता है क्योंकि व्यापारिक नीति का क्षेत्र वाणिज्य नीति मे अधिक व्यापक है। वाणिज्य नीति के अन्तर्गत जहाँ केवल आयात-निर्यात का ही अध्ययन किया जाता है, व्यापारिक नीति मे आयात-निर्यात के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धित समस्याओं का भी अध्ययन किया जाता है जैसे विदेशी विनिमय एवं भुगतान सन्तुलन की समस्या, व्यापारिक समझौते इत्यादि। हम यहाँ व्यापारिक नीति से सम्बन्धित स्वतन्त्र व्यापार एवं संरक्षण का विवेचन करेंगे।

स्वतन्त्र व्यापार
(FREE TRADE)

स्वतन्त्र व्यापार की नीति उस नीति को कहते है जिसके अन्तर्गत विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं के आयात-निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नही लगाया जाता। वैज्ञानिक रूप से स्वतन्त्र व्यापार का सूत्रपात प्रो. एडम स्मिथ के साथ हुआ जिन्होने अपनी पुस्तक "वेल्थ ऑफ नेशन्स" मे स्पष्ट किया कि "यदि हम विदेश से किसी वस्तु को अपने देश की तुलना में सस्ता प्राप्त कर सकते है तो यह अच्छा है कि हम उस वस्तु को अपनी उस वस्तु के बदले विदेश से खरीद लें जिसका उत्पादन हम लाभ के साथ कर सकते हैं।"

स्वतन्त्र व्यापार श्रम विभाजन का परिणाम है। श्रम विभाजन विशिष्टीकरण को सम्भव बनाता है और विशिष्टीकरण से हम अपनी आय को अधिकतम कर सकते हैं और यह स्वतन्त्र व्यापार का आधार है। वास्तव मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार घरेलू श्रम विभाजन का देश की सीमाओं के बाहर विस्तार है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन इसलिए होता है क्योंकि प्रत्येक देश में उत्पत्ति के साधनो मे विभिन्नता होती है और इसलिए प्रत्येक देश मे उत्पादन की सम्भावना भी अलग-अलग होती है। अतः प्रत्येक देश अपने संसाधनों को उन प्रयोगो में लगाता है जहाँ उसका तुलनात्मक लाभ अधिक होता है।

आर्थिक विचारों के इतिहास मे प्रतिष्ठित सम्प्रदाय के उदय के साथ ही स्वतन्त्र व्यापार का प्रारम्भ हुआ और यह नीति लगभग एक सदी तक विश्व के देशो पर छायी रही। विश्व में इगलैण्ड ने स्वतन्त्र व्यापार का नेतृत्व किया जिसके दो कारण थे—प्रथम तो यह कि इंगलैण्ड मे

सबसे पहले औद्योगिक क्रान्ति हुई और द्वितीय इंग्लैण्ड में 1832 के सुधार कानून (Reform Act) ने व्यापारिक और औद्योगिक वर्गों को राजनीतिक शक्ति प्रदान कर दी।

स्वतन्त्र व्यापार का अर्थ

स्वतन्त्र व्यापार वह नीति है जिसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अथवा देशों के बीच वस्तुओं के आदान-प्रदान में कोई रोक नहीं लगायी जाती। प्रो. एडम स्मिथ के अनुसार, "स्वतन्त्र व्यापार का आशय व्यापारिक नीति की उस प्रणाली से है जो घरेलू और विदेशी वस्तुओं में कोई भेदभाव नहीं करती और इसलिए न तो विदेशी वस्तुओं पर अतिरिक्त कर लगाती है और न घरेलू वस्तुओं को कोई विशेष रियायत देती है।"[1] इस प्रकार स्वतन्त्र व्यापार में विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं की गतिशीलता में कोई बाधाएँ नहीं होतीं तथा विनिमय सामान्य रूप से होता है।

स्वतन्त्र व्यापार को देश की सीमा के बाहर श्रम विभाजन का विस्तार भी माना जाता है।

प्रो. सेमुअलसन के अनुसार, "स्वतन्त्र व्यापार वह स्थिति है जब कोई बाह्य हस्तक्षेप एवं एकाधिकार न हो तथा अनिश्चितताओं व अविभाज्यताओं का अभाव हो।"

स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में तर्क
(THE CASE FOR FREE TRADE)

स्वतन्त्र व्यापार श्रम विभाजन का परिणाम है एवं श्रम विभाजन से उत्पादकता में वृद्धि होती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अन्तर्गत जो अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन का परिणाम है, वस्तुओं के उत्पादन और उसके फलस्वरूप वास्तविक आय में वृद्धि की जा सकती है तथा यही व्यापार का सबसे बड़ा लाभ है। प्रो. सेमुअलसन के अनुसार, "स्वतन्त्र व्यापार आपस में लाभप्रद क्षेत्रीय श्रम-विभाजन का विस्तार करता है, समस्त राष्ट्रों के सम्भावित वास्तविक राष्ट्रीय उत्पादन में काफी वृद्धि करता है तथा समूचे विश्व में उच्च जीवन स्तर को सम्भव बनाता है।"[2]

स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में निम्न तर्क दिये जाते हैं :

(1) **अधिकतम उत्पादन**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में देश की श्रम-शक्ति एवं अन्य साधनों का वितरण तुलनात्मक लाभ के अनुसार हो जाता है जो श्रम-विभाजन का विस्तार है। श्रम-विभाजन से विशिष्टीकरण सम्भव होता है जिससे (i) दक्षता प्राप्त होती है, (ii) श्रमिकों की योग्यता एवं क्षमता के अनुसार कार्यों का वितरण होता है, (iii) समय की बचत होती है, एवं (iv) नयी मशीनों के प्रयोग की प्रेरणा मिलती है। इन सबका परिणाम यह होता है कि उत्पादन में वृद्धि होती है कुछ विशेष प्राकृतिक सुविधाओं के कारण प्रत्येक देश कुछ विशेष वस्तुओं के उत्पादन में अधिक दक्ष होता है। जब देश स्वतन्त्र व्यापार करते हैं तो पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कीमत यन्त्र (Price Mechanism) अपने आप यह निर्धारित कर देता है कि प्रत्येक देश उन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करता है जिनके उत्पादन में वह सबसे अधिक कुशल होता है एवं उन वस्तुओं का आयात करता है जो अपने देश की तुलना में सस्ते में प्राप्त कर सकता है। विशिष्टीकरण के कारण देश की श्रम एवं पूंजी उस उद्योग की दिशा में प्रवाहित होती है जहां उनका सर्वोत्तम प्रयोग होता है एवं उत्पादन अधिकतम होता है। इस प्रकार स्वतन्त्र व्यापार होने के कारण क्षेत्रीय श्रम विभाजन के माध्यम से राष्ट्रीय उत्पादन

1 "The term free trade is used to denote that system of commercial policy which draws no distinction between domestic and foreign commodities and therefore neither imposes additional burdens on the letter, nor grants any special favour to the former." —*Smith*

2 Samuelson, *Economics*, 9th edition, p 692.

अधिकतम होता है एवं सम्बन्धित सब पक्षों को लाभ होता है। इसे दृष्टि में रखते हुए प्रो. एल्सवर्थ कहते है कि "चूंकि किसी भी समुदाय या राष्ट्र की आय उसके विशिष्टीकरण के अनुपात मे बढ़ती है व्यापार की अधिकतम स्वतन्त्रता न्यायोचित है।"

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का तो यहां तक कहना था कि यदि कुछ देश स्वतन्त्र व्यापार की नीति का अनुसरण नहीं करते तो भी एक औद्योगिक देश को एकपक्षीय रूप मे स्वतन्त्र व्यापार को अपनाना चाहिए क्योंकि उसे इससे लाभ होगा।

(2) औद्योगिक तकनीकों मे सुधार—स्वतन्त्र व्यापार मे प्रतियोगिता शक्ति मे वृद्धि होती है एवं प्रतियोगिता के फलस्वरूप प्रगति एवं तकनीकी सुधारो को प्रोत्साहन मिलता है जिससे व्यापार करने वाले देशो की औद्योगिक तकनीक मे भी सुधार होता है। प्रो हैबरलर के अनुसार, "विदेशी प्रतियोगिता के कारण, घरेलू उत्पादक अधिक कुशल बनने के लिए प्रोत्साहित होते है एवं उत्पादन की विधि में शीघ्र ही कोई भी सुधार अपनाने के लिए तत्पर रहते है चाहे वह सुधार कहीं से भी प्रारम्भ किया जाय।"[1]

(3) एकाधिकारी शक्तियो पर नियन्त्रण—प्रतियोगिता के फलस्वरूप मुक्त व्यापार का एक महत्वपूर्ण लाभ यह भी है कि इसमे देश मे एकाधिकारी शक्तियां स्थापित नहीं हो पाती। यदि स्वतन्त्र व्यापार न अपनाकर आयात कर लगा दिये जाते है तो बहुत से उद्योग मे फर्में अपने अनुकूलतम आकार को प्राप्त नहीं कर पाती जबकि उत्पादन मे वृद्धि उनके लिए लाभप्रद होती है। इसका परिणाम यह होता है कि एकाधिकार संघो का निर्माण होने लगता है जिससे सापेक्षिक रूप से कीमतें बढ़ने लगती हैं। किन्तु स्वतन्त्र व्यापार से बाजार का विस्तार बढ़ता है और प्रतियोगिता को बल मिलता है और फर्मों मे अनुकूलतम उत्पादन होता है। साथ ही लागत भी कम हो जाती है।

(4) सस्ती वस्तुओं का आयात सम्भव—उपर्युक्त लागतो में कमी से मुक्त व्यापार का यह लाभ होता है कि स्वतन्त्र आयात करने से आयातित वस्तुओ की कीमतें घट जाती है अर्थात् हम वस्तुओं को सस्ते मे प्राप्त कर सकते है। यह स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष मे बहुत ही सामान्य एवं आकर्षक तर्क है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति उपभोक्ता होता है एवं सस्ती वस्तुएं प्राप्त करना चाहता है। इस तर्क की यह कहकर आलोचना की जाती है कि इसमे केवल उपभोक्ताओं के हितों को ध्यान मे रखा गया है तथा रोजगार एवं उत्पादको के हितो की अवहेलना की गयी है किन्तु स्वतन्त्र व्यापार के समर्थक उक्त आलोचना का प्रत्युत्तर यह कहकर देते है कि स्वतन्त्र व्यापार से केवल कीमतें नहीं गिरती किन्तु संसाधनो का प्रवाह अर्थव्यवस्था मे उस दिशा की ओर होता है जहाँ उनका प्रतिफल अधिक होता है जिससे उत्पादकों को भी लाभ होता है।

(5) उत्पत्ति के साधनों को अधिक आय—स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत, उत्पत्ति के साधनों को भी अधिक आय प्राप्त होती है क्योंकि उन्हे ऐसे उत्पादन मे रोजगार मिलता है जहाँ उनकी कुशलता अधिकतम होती है। इसके फलस्वरूप मजदूरी, ब्याज एवं लगान, स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत, अन्य दशाओ की तुलना मे अधिक ऊँचे रहते है।

(6) बाजार का विस्तार—स्वतन्त्र व्यापार मे बेरोक-टोक के आयात निर्यात होने के कारण बाजार का विस्तार होता है जिसमे अधिक श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण सम्भव हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि उत्पादन अनुकूलतम होता है एवं लागत कम हो जाती है और सारे विश्व का लाभ होता है जबकि स्वतन्त्र व्यापार को नियन्त्रित करने से विशिष्टीकरण का क्षेत्र सीमित हो जाता है एवं कुल उत्पादन कम हो जाता है।

(7) राष्ट्रीय आय मे वृद्धि—स्वतन्त्र व्यापार मे अधिकतम उत्पादन होने का सीधा प्रभाव

1 Haberler . *The Theory of International Trade*, p. 223

यह होता है कि देश की कुल राष्ट्रीय आय बढ़ जाती है। अधिकतम उत्पादन इसलिए होता है क्योंकि देश उन्ही वस्तुओ का उत्पादन करता है जिसके उत्पादन मे वह सर्वाधिक उपयुक्त होता है।

(8) **पारस्परिक सहयोग एव सद्भावना**—स्वतन्त्र व्यापार के कारण विभिन्न व्यापार करने वाले देश आयातो एव निर्यातों के लिए एक दूसरे पर निर्भर हो जाते है अत. उनमे पारस्परिक सहयोग एव सद्भावना की वृद्धि होती है।

(9) **औद्योगिक विकास सम्भव**—अपने औद्योगिक विकास के लिए जिन देशों के पास आवश्यक कच्चे माल की कमी है, वे उसे आयात करके दूसरे देशों से मंगा सकते हैं। इससे देशों का औद्योगिक विकास एव उसके फलस्वरूप आर्थिक विकास हो सकता है। इसके साथ ही देश के कच्चे माल को भी कुशलता से प्रयोग किया जा सकता है।

(10) **अधिकतम कल्याण सम्भव**—स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत कीमत-प्रणाली के कुशलतम ढंग से कार्य करने के फलस्वरूप, साधनो के आवंटन एव उत्पादन के क्षेत्र में अर्थव्यवस्था सर्वोत्तम कुशलता की स्थिति को प्राप्त करती है। अर्थशास्त्र की कल्याणकारी शब्दावली मे कहा जा सकता है कि देश स्वतन्त्र व्यापार मे परेटो की अनुकूलतम (Pareto Optimum) स्थिति को प्राप्त कर सकता है और विश्व के कुछ पक्षों को छोड़कर, इसमे अधिकतम कल्याण को प्राप्त किया जा सकता है।

(11) **चक्र-विरोधी महत्व**—स्वतन्त्र व्यापार का यह भी लाभ है कि यह व्यापार चक्रो के प्रभावो को न्यून बनाकर अर्थव्यवस्था मे सन्तुलन की स्थिति बनाये रखता है। मन्दी की स्थिति मे देश मे कीमतो के गिर जाने से निर्यातो को प्रोत्साहन मिलता है एवं तेजी तथा मुद्रा प्रसार की स्थिति मे आयातो को प्रोत्साहन मिलता है।

स्वतन्त्र व्यापार के उपर्युक्त लाभो के बावजूद अनुभव यह बताता है कि स्वतन्त्र व्यापार की नीति एकाधिकार सघो को निर्मित होने से रोक नही पायी है। स्वतन्त्र व्यापार मे कुछ ऐसे दोष निहित हैं जिनके कारण या तो सब देशो ने इसे अपनाया नही और यदि इस नीति का अनुसरण भी किया तो बाद मे देशो ने इसका परित्याग कर दिया। आर्थिक इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि बहुत से देशो ने पूर्ण रूप से स्वतन्त्र व्यापार को नहीं अपनाया वरन् इसके साथ सरक्षण की नीति का अनुसरण किया।

स्वतन्त्र व्यापार के दोष अथवा सीमाएँ

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो ने सर्वोत्तम अथवा अनुकूलतम कुशलता (Optimum Efficiency) के आधार पर स्वतन्त्र व्यापार का समर्थन किया और इसे अनुकूलतम कल्याण के अर्थ मे भी ग्रहण कर लिया। परन्तु वे यह भूल गये कि कल्याण का सम्बन्ध केवल उत्पादन कुशलता से नही है वरन् वितरण की कुशलता मे भी है। यदि हम केवल उत्पादन के प्रश्न पर ही विचार करें तो यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्र व्यापार सरक्षण से श्रेष्ठ है किन्तु यह भी सत्य है कि वितरण के प्रश्न की अवहेलना नही की जा सकती। और भी कई दोष है जिनके कारण स्वतन्त्र व्यापार की नीति सर्वमान्य एवं सर्वव्यापक नही बन पायी। वे दोष निम्न प्रकार हैं

(1) **प्रतियोगिता के कारण अर्द्धविकसित देशों को हानि**—स्वतन्त्र व्यापार से सबसे अधिक हानि अर्द्धविकसित देशो को हुई जो विकसित देशो के साथ प्रतियोगिता नही कर सके तथा उनका शोषण हुआ। उदाहरण के लिए स्वतन्त्रता के पूर्व भारत मे ब्रिटिश सरकार द्वारा जो स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपनायी गयी उसके कारण देश के कुटीर उद्योगो का पतन हो गया क्योंकि वे

विदेशी मशीनों की निर्मित वस्तुओं से प्रतियोगिता नहीं कर सके। इसी कारण यूरोप के देशों ने भी स्वतन्त्र व्यापार की नीति को समाप्त कर प्रशुल्क एवं आयात करों को अपनाया।

(2) **वितरण पक्ष की अवहेलना**—स्वतन्त्र व्यापार अनुकूलतम वितरण एवं सामाजिक न्याय के पक्ष पर विचार नहीं करता। स्वतन्त्र व्यापार के फलस्वरूप विभिन्न देशों एवं एक ही देश के विभिन्न वर्गों में आय का असमान वितरण हो सकता है अतः वितरण की दृष्टि से स्वतन्त्र व्यापार की नीति सर्वोत्तम नीति नहीं है। यह आवश्यक हो सकता है कि देश के भीतर एवं विभिन्न देशों में वितरण में सुधार करने के लिए प्रशुल्क को प्रयुक्त कर स्वतन्त्र व्यापार को नियन्त्रित किया जाय परन्तु इसके लिए आवश्यक है कि हम पूर्व में ही वितरण के पक्ष को जान लें। प्रो. किंडलबर्जर के शब्दों में, "जब तक हम वितरण के बारे में नहीं जानते तो इसके लिए पर्याप्त तर्क है कि स्वतन्त्र व्यापार में विचलन कल्याण के पक्ष को हानि पहुँचायगा जैसा कि उसका अनुसरण कल्याण को बढ़ा सकता है।"[1]

(3) **पूर्ण रोजगार की गलत मान्यता**—स्वतन्त्र व्यापार का तर्क इस मान्यता पर आधारित है कि देश में सारे संसाधनों को पूर्ण रोजगार प्राप्त है किन्तु वास्तविकता तो यह है कि अनेक देशों में भयंकर बेरोजगारी की स्थिति व्याप्त है और जब साधन अप्रयुक्त है तो आयातों को नियन्त्रित उनका पूर्ण प्रयोग कर उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है। इस आधार पर स्वतन्त्र व्यापार का कर तर्क महत्वहीन हो जाता है।

(4) **कीमत-प्रणाली के दोष**—स्वतन्त्र व्यापार यह मानकर चलता है कि कीमत प्रणाली पूर्ण कुशलता के साथ कार्य करती है और इसके कारण वस्तुओं की कीमतें प्रत्येक स्थान पर इस तरह समान हो जाती है कि इसके बाद और अधिक विनिमय सम्भव नहीं होता। इसके साथ ही कीमत प्रणाली में वस्तुओं की कीमतें उनकी सीमान्त लागत (Marginal Cost) के बराबर हो जाती है जिससे उत्पादन अनुकूलतम होता है। किन्तु ऐसे अनेक कारण हैं जिससे कीमत प्रणाली कुशलता से कार्य नहीं कर पाती जैसे फर्म की बाह्य बचतें एवं अमितव्ययताएँ, फर्मों अथवा साधनों में प्रतियोगिता का अभाव इत्यादि।

(5) **पूर्ण प्रतियोगिता का अभाव**—बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता नहीं, वरन् अपूर्ण प्रतियोगिता पायी जाती है जिससे उत्पादन अधिकतम नहीं हो पाता। साथ ही एकाधिकारी शक्तियाँ भी सक्रिय होती हैं जिनके अन्तर्गत नियन्त्रित उत्पादन के कारण निजी मूल्य (Private value) सामाजिक मूल्य (Social value) से अधिक हो जाता है। यदि साधनों के बाजार में अपूर्णता रहती है तो साधनों का वितरण उचित रूप से नहीं हो पाता जिससे किन्हीं उद्योगों में निजी लागत सामाजिक लागत से अधिक हो जाती है और किन्हीं उद्योगों में कम हो जाती है।

(6) **स्वतन्त्र व्यापार से गला-काट प्रतियोगिता**—स्वतन्त्र व्यापार से, विश्व बाजार प्राप्त करने के लिए देशों में आपस में गला-काट प्रतियोगिता होती है एवं अपने निर्यातों को बढ़ाने के लिए देश बहुधा राशिपातन (Dumping) का सहारा लेते हैं जिससे छोटे एवं अर्द्धविकसित देशों को भारी नुकसान उठाना पड़ता है। यही कारण है कि इन देशों ने आयातों पर प्रतिबन्ध लगाये।

(7) **राजनीतिक हस्तक्षेप**—स्वतन्त्र व्यापार का यह परिणाम हुआ कि पारस्परिक आर्थिक निर्भरता के साथ ही साथ राजनीतिक हस्तक्षेप एवं दबाव का सूत्रपात हुआ एवं छोटे देशों की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ने लगी। अतः देशों ने यह अनुभव किया कि राजनीतिक स्थिरता एवं स्वतन्त्रता के लिए आर्थिक आत्म-निर्भरता भी आवश्यक है जिसके फलस्वरूप देशों ने संरक्षण की नीति का सहारा लिया।

---

1 Kindleberger, *International Economics*, p. 316.

(8) **हानिप्रद वस्तुओं का आयात**—स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत हानिप्रद उपभोग की वस्तुओं का भी आयात होता था जो देश के लोगों के लिए हानिप्रद था अतः इन्हें नियन्त्रित करने के लिए स्वतन्त्र व्यापार की नीति का परित्याग कर दिया गया।

(9) **शिशु उद्योगों का नाश**—स्वतन्त्र व्यापार का एक परिणाम यह हुआ कि छोटे-छोटे विकासशील देशों में उद्योगों की स्थापना नहीं हो सकी क्योंकि ये उद्योग विकसित देशों के उद्योगों से प्रतियोगिता नहीं कर पाते थे अतः पिछड़े देशों ने अपने यहाँ शिशु उद्योगों को संरक्षण देने के लिए स्वतन्त्र व्यापार की नीति को छोड़ दिया।

स्वतन्त्र व्यापार के उक्त दोषों के कारण एक समय ऐसा आया जब विश्व में संरक्षण की लहर फैल गयी और प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की स्वतन्त्र व्यापार की नीति लड़खड़ाने लगी और संरक्षण की जड़ें मजबूत होने लगीं।

संरक्षण
(PROTECTION)

संरक्षण एक ऐसी नीति है जिसके अन्तर्गत सामान्य रूप से आयात कर लगाकर अथवा घरेलू उत्पादकों को आर्थिक सहायता देकर घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाता है। अर्थशास्त्री इस शब्द का प्रयोग लोचपूर्ण ढंग से करते हैं। साधारण रूप से इसका आशय आयातों पर प्रशुल्क लगाने से होता है किन्तु इसका सम्बन्ध ऐसी किसी भी नीति से हो सकता है जिससे आयात की हुई वस्तुओं की कीमतें विश्व बाजार कीमतों की तुलना में अधिक हो जाती हैं।

संरक्षण का उद्देश्य, देश में उद्योगों की स्थापना करना है भले ही इसके लिए उपभोक्ताओं के हितों का अस्थायी रूप से परित्याग करना पड़े। संरक्षण की सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक नीतियों में कभी-कभी आर्थिक एवं राजनीतिक दोनों उद्देश्यों का समावेश होता है। संरक्षण के कई रूप हो सकते हैं जैसे प्रशुल्क, आयात अभ्यंश एवं आयात लाइसेंस, विनिमय नियन्त्रण, देश के उत्पादकों को आर्थिक अनुदान, कीमत-विभेद, राज्य व्यापार, अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादक संघ आदि किन्तु इनमें प्रशुल्क अथवा आयात कर (Tariff) संरक्षण की सबसे महत्वपूर्ण रीति है।

संरक्षण की नीति का ऐतिहासिक विवेचन

आधुनिक रूप में संरक्षण का सर्वप्रथम विवेचन अमरीका के प्रख्यात अर्थशास्त्री **अलेक्जेण्डर हेमिल्टन** (Alexander Hamilton) की *Report on Manufactures* (1791) में मिलता है। इस रिपोर्ट में हेमिल्टन ने रोजगार की वृद्धि, उद्यमी विकास एवं देश की सुरक्षा के लिए अमरीका में घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहित करने का पुरजोर समर्थन किया। हेमिल्टन ने प्रसिद्ध शिशु उद्योग तर्क को प्रस्तुत किया। 19वीं सदी के प्रारम्भ में ही अमरीका में संरक्षणवाद की नीति विकसित हुई। 1812-15 में युद्ध के कारण इंग्लैण्ड और अमरीका के व्यापारिक सम्बन्धों को आघात लगा जिससे अमेरिका में उद्योगों को स्थापित होने का प्रोत्साहन मिला। पेन्सिलवानिया में हेनरी कैरे (Henry Carey) के नेतृत्व में एक संरक्षणवादी सम्प्रदाय की स्थापना की गयी। कैरे ने अन्य तर्कों के साथ ही, प्रमुख रूप से रोजगार की विविधता के आधार पर संरक्षण का समर्थन किया।

जर्मनी में संरक्षण की नीति को विकसित करने का श्रेय फ्रेडरिक लिस्ट (Friedrich List) को है। यह नीति जर्मनी के राष्ट्रवादी दर्शन नीति की उपज थी जो काफी पहले जन्म ले चुकी थी। जर्मनी में 1800 में फिक्टे (Fichte) द्वारा आत्म-निर्भर राष्ट्र का विचार विकसित किया गया। लिस्ट ने सम्पत्ति की तुलना में, उत्पादन शक्ति के विचार को अधिक महत्व दिया एवं एडम स्मिथ की स्वतन्त्र व्यापार की नीति की इस आधार पर आलोचना की कि वह अत्यधिक भौतिकवादी एवं व्यक्तिवादी था जिसने राष्ट्र की अवहेलना की जो व्यक्ति एवं अन्तर्राष्ट्रीयता के बीच की

महत्वपूर्ण कड़ी है। लिस्ट ने स्पष्ट किया कि चूँकि विभिन्न देशों के आर्थिक विकास की अवस्थाएँ अलग-अलग होती हैं अतः जो नीति इंगलैण्ड के लिए उचित हो सकती है, वह अन्य देशों के लिए भी ठीक हो, यह आवश्यक नहीं है।

अमरीका एवं जर्मनी के बाद अन्य देशों में भी संरक्षण की नीति का प्रसार हुआ।

संरक्षण के पक्ष में तर्क
(ARGUMENTS IN FAVOUR OF PROTECTION)

संरक्षण के पक्ष में आर्थिक और गैर-आर्थिक दो प्रकार के तर्क दिये जाते हैं। इन दोनों प्रकारों के तर्कों के अतिरिक्त तृतीय प्रकार के तर्क भी दिये जाते हैं जिन्हें मिथ्या तर्क अथवा आधारहीन तर्क कहते हैं। जो तर्क संरक्षण की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं, उन्हें प्रो मीड (Prof Meade) ने द्वितीय श्रेष्ठ (Second best) तर्क की संज्ञा दी है। यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से द्वितीय श्रेष्ठ तर्क उचित है फिर भी प्रो मीड इन्हें अधिक विश्वस्त नहीं मानते। उनके ही शब्दों में, "आर्थिक प्रणाली में विभिन्न सम्बन्धित परिवर्तनशील तत्वों में इतना जटिल पारस्परिक सम्बन्ध है कि द्वितीय श्रेष्ठ के सिद्धान्त को व्यापार नीति के प्रत्येक समायोजन पर लागू नहीं किया जा सकता।"

संरक्षण के विभिन्न तर्कों को निम्न चार्ट द्वारा अच्छी तरह से समझाया जा सकता है :

संरक्षण के पक्ष में तर्क

आर्थिक तर्क	गैर-आर्थिक तर्क	मिथ्या तर्क
1. शिशु उद्योग तर्क	1. सुरक्षा का तर्क	1. सस्ते श्रम अथवा मजदूरी का तर्क
2. रोजगार वृद्धि का तर्क	2. स्वदेशी तर्क	2. मुद्रा को देश में रखने का तर्क
3. उद्योगों की विविधता का तर्क	3. आत्म-निर्भरता तर्क	3. लागतों की समानता का तर्क
4. आय का तर्क	4. विशिष्ट वर्गों अथवा व्यवसायों की सुरक्षा का तर्क	4. घरेलू बाजार का तर्क
5. राष्ट्रीय संसाधनों का संरक्षण	5. बदले की भावना का तर्क	5. खतरे के बिन्दु का तर्क
6. आधारभूत उद्योग तर्क		6. सौदेबाजी का तर्क
7. राशिपातन विरोधी तर्क		
8. भुगतान-शेष का तर्क		
9. प्रो. रिचार्ड शुबर का तर्क		
10. व्यापार की शर्तों का तर्क		

अब हम विस्तार से इन तर्कों का विवेचन करेंगे :

आर्थिक तर्क

(1) शिशु उद्योग तर्क (Infant Industry Argument)—संरक्षण के पक्ष में शिशु उद्योग तर्क को सर्वाधिक सशक्त तर्क माना जाता है किन्तु इसकी आलोचना भी उतनी ही अधिक की जाती है। इस तर्क को सबसे पहले अमरीकन अर्थशास्त्री प्रो. अलेक्जेण्डर हेमिल्टन ने 1791 में प्रस्तुत किया एवं फ्रेडरिक लिस्ट तथा प्रो. जे. एस. मिल ने इसका समर्थन किया। इस तर्क का आधार यह है कि अपने प्रारम्भिक विकास की अवस्था में शिशु अथवा नये प्रारम्भ किये हुए उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचाया जा सके। शिशु उद्योग वे उद्योग होते हैं जो नये-नये ही प्रारम्भ किये जाते हैं तथा वे इतने परिपक्व नहीं होते कि दीर्घकाल से स्थापित विदेशी उद्योगों से प्रतियोगिता कर सकें। अतः यदि ऐसे उद्योगों को संरक्षण नहीं दिया जाय तो न तो वे अपनी जड़ें मजबूत कर सकते हैं और न जीवित रह सकते हैं। प्रारम्भ में शिशु उद्योगों की लागतें ऊँची रहती हैं जो ऐसे विकासशील देश में विकसित हो रहे होते हैं जो औद्योगीकरण प्रारम्भ करना चाहते हैं।

स्वाभाविक है कि ये उद्योग विदेशी निर्यातकों से प्रतियोगिता नहीं कर सकते जो विकसित होते हैं एवं जिनकी लागतें भी कम होती हैं। अतः प्रशुल्क लगाकर आयातों की कीमतें बढ़ा दी जाती हैं ताकि देश की बढ़ी हुई कीमतों को बनाये रखा जा सके।

विभिन्न देश आर्थिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में रहते हैं एवं जो देश अभी विकास की प्रारम्भिक अवस्था में ही हैं उन्हें उद्योगों को स्थापित करने के लिए विशेष सहायता की आवश्यकता होती है। इन देशों के पास मानवीय और भौतिक संसाधन तो होते हैं किन्तु विकसित देशों की प्रतियोगिता में ये ठहर नहीं पाते अतः यह आवश्यक हो जाता है कि परिपक्व होने तक शिशु उद्योगों को संरक्षण दिया जाय।

हेमिल्टन ने कृषि प्रधान देशों में निर्माण उद्योगों की स्थापना के लिए प्रशुल्क लगाने पर बल दिया ताकि भयकर विदेशी प्रतियोगिता से बचकर ये देश घरेलू उद्योगों को सफलतापूर्वक विकसित कर सकें। लिस्ट ने बहुत ही सशक्त रूप से इस मत का प्रतिपादन किया कि निर्माण उद्योगों को संरक्षण देकर प्रत्येक राष्ट्र परिपक्वता के बाद आर्थिक विकास के उन सब लाभों को प्राप्त कर सकता है जो आज विकसित देश प्राप्त कर रहे हैं। लिस्ट ने बताया कि संरक्षण अस्थायी होना चाहिए अर्थात् जब देश में उद्योग परिपक्व हो चुके हों, देश में कुशल श्रमिक तकनीकी विशेषज्ञ और साहसी-वर्ग विकसित हो चुके हों एवं काफी संख्या में निर्माण उद्योग स्थापित हो चुके हों तो प्रशुल्क की दीवारों को तोड़ देना चाहिए अर्थात् संरक्षण समाप्त कर देना चाहिए।

लिस्ट ने बताया कि देशों को विकास की विभिन्न अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। एक विशेष समय में कुछ देश इसलिए अधिक विकसित नहीं होते क्योंकि उनके पास प्रचुर मात्रा में प्राकृतिक साधन होते हैं वरन् इसलिए वहां द्रुत विकास सम्भव हो जाता है क्योंकि विशेष ऐतिहासिक दशाएँ उनके अनुकूल होती हैं। ऐसी स्थिति में छोटे और अर्द्धविकसित देशों में विदेशी प्रतियोगिता के कारण, व्यवसायी एवं उद्योगपति पनप नहीं पाते। यदि इन्हें प्रशुल्क लगाकर प्रारम्भ में संरक्षण दे दिया जाय तो बाद में उद्योगों को क्षति पहुँचाये बिना, संरक्षण को हटाया जा सकता है। इसीलिए कहा जाता है कि "शिशु का पोषण करो, बालक को संरक्षण दो एवं वयस्क को स्वतन्त्र कर दो" (Nurse the baby, protect the child and free the adult)

लिस्ट के शिशु उद्योग तर्क का यह आशय नहीं है कि वह स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में नहीं था। वरन् उसका तात्पर्य यह था कि कई दशाओं के अन्तर्गत स्वतन्त्र व्यापार आवश्यक था किन्तु प्रत्येक देश के लिए स्वतन्त्र व्यापार की नीति उचित नहीं थी। शिशु उद्योग तर्क विशेष रूप से उन देशों में लागू होता है जिनके पास विकास की तो पर्याप्त सम्भावनाएँ हैं किन्तु जब तक उन्हें अस्थायी रूप से विदेशी प्रतियोगिता से संरक्षण न दिया जाय वे विकास नहीं कर सकते। लिस्ट के अनुसार, "संरक्षण का उपाय केवल औद्योगिक विकास के लिए ही प्रयोग में लाया जाना चाहिए और यह केवल उस समय तक न्यायोचित कहा जा सकता है जब तक कि एक देश की निर्माण शक्ति इतनी प्रबल न हो जाय कि उसे विदेशी प्रतियोगिता से कोई भय न रहे।"[1] अर्थात् लिस्ट चाहता था कि जैसे ही संरक्षण का सहारा पाकर देश ने संक्रमणकालीन अवस्था को पार कर लिया है वह पुनः स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपना सकता है। बल्कि अब देश में नयी उत्पादन शक्तियों को विकसित करने के फलस्वरूप स्वतन्त्र व्यापार का क्षेत्र अधिक विकसित हो जाता है।

प्रो. जे. एस. मिल ने शिशु उद्योग तर्क को अधिक सही ढंग से प्रस्तुत किया जो व्यापार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त एवं आधुनिक सिद्धान्त में समन्वय स्थापित करता है। वास्तव में मिल स्वतन्त्र व्यापार के समर्थक थे अतः उनके बारे में प्रो. वाइनर की यह उक्ति सही सिद्ध होती है

---

1 List, *National System of Political Economy*, p. 144

कि संरक्षण के लिए उचित तर्क स्वतन्त्र व्यापार के समर्थकों ने ही प्रस्तुत किये। चूंकि मिल ने शिशु उद्योग तर्क को अपना समर्थन दिया, यह तर्क बहुत से स्वतन्त्र व्यापार के समर्थकों द्वारा स्वीकार कर लिया गया जिनमें मार्शल, पीगू एवं टाजिग प्रमुख हैं।

शिशु उद्योग तर्क के साथ दो प्रश्न काफी महत्वपूर्ण है

(i) किन्हें शिशु उद्योग माना जाय ?

(ii) किस मात्रा तक संरक्षण दिया जाय ?

(i) जहाँ तक पहले प्रश्न का सम्बन्ध है लिस्ट का मत था कि बिना किसी भेदभाव के समस्त उद्योगों को संरक्षण नहीं दिया जाना चाहिए बरन् उन्हीं शिशु उद्योगों को संरक्षण दिया जाना चाहिए जिनमें विकसित होने की सम्भावनाएँ हैं तथा जो दीर्घकाल में स्वयं अपने पैरो पर खड़े हो सकें। जिन शिशु उद्योगों के पास विकसित होने के लिए प्राकृतिक एवं अन्य सुविधाएँ नहीं हैं उन्हें संरक्षण नहीं दिया जाना चाहिए क्योंकि इसमें आर्थिक बर्बादी होगी। यदि संरक्षण से अनार्थिक इकाइयों को प्रोत्साहन मिलता है तो वे संरक्षण हटाने के बाद विदेशी प्रतियोगिता न कर सकेंगी।

इस प्रकार लिस्ट ने विवेचनात्मक संरक्षण (Discriminating-Protection) का समर्थन किया और बताया कि संरक्षण ऐसे उद्योगों को ही दिया जाना चाहिए जो विकास के लिए आवश्यक हैं किन्तु बिना संरक्षण के पनप नहीं सकते।

(ii) जहाँ तक दूसरे पक्ष का सम्बन्ध है लिस्ट का विचार था कि जब कोई उद्योग प्रारम्भ में 40 से 60 प्रतिशत के संरक्षण से स्थापित न किया जा सके और उसके बाद 20 से 30 प्रतिशत के संरक्षण द्वारा जारी न रखा जा सके तो ऐसे उद्योगों को संरक्षण नहीं दिया जाना चाहिए। यदि संरक्षित उद्योग एक उचित समय के बाद परिपक्व होने का सबूत प्रस्तुत नहीं करता तो फिर संरक्षण उठाकर ऐसे उद्योग को अपने भाग्य पर छोड़ देना चाहिए।

आलोचना—यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से शिशु उद्योग तर्क ठीक प्रतीत होता है, फिर भी आनुभविक आधार पर इसकी निम्न आलोचनाएं की जाती हैं :

(i) किन्हें शिशु उद्योग माना जाय—प्रो. टाजिग के अनुसार अन्य तर्कों की तुलना में शिशु उद्योग तर्क आलोचनात्मक विश्लेषण का विषय है। इसमें कोई विवाद का विषय नहीं है कि लिस्ट और हेमिल्टन इस बात का समर्थन करते है कि प्रारम्भिक अवस्था में प्रशुल्क लगाकर, शिशु उद्योगों को स्वस्थ एवं परिपक्व बनाया जा सकता है किन्तु यह ज्ञात करना बहुत कठिन है कि कौन से उद्योग को शिशु माना जाय अर्थात् किसमें संरक्षण की पात्रता है ?

(ii) शिशु उद्योग सदैव ही शिशु ही बने रहते हैं—आलोचना का एक पहलू यह है कि शिशु उद्योग सदैव शिशु ही बने रहते है एवं संरक्षण से वंचित नहीं होना चाहते। अनुभव यह बताता है कि प्रारम्भ में प्रशुल्क इस आधार पर लगाया गया था कि जैसे ही उद्योग विदेशी प्रतियोगिता के योग्य हो जायगा, संरक्षण हटा लिया जायेगा किन्तु ऐसा कभी नहीं आता वरन् संरक्षण को बनाये रखने के लिए कई सच्चे-झूठे तर्क दिये जाते हैं। अर्थात् अस्थायी संरक्षण, स्थायी संरक्षण में परिवर्तित होने लगता है। प्रो. थामे के अनुसार, "यदि एक बार संरक्षण रूपी दैत्य को जीवन प्रदान कर दिया जाता है तो वह आर्थिक शरीर को कैंसर की भाँति क्षतिग्रस्त करने लगता है तथा जो कार्य उसे सौंपा गया था, उसमें आगे बढ़ जाता है और अमरता प्राप्त कर लेता है।"

(iii) एकाधिकार एवं भ्रष्टाचार को बढ़ावा—जिन उद्योगों को संरक्षण मिल जाता है वे किसी भी हालत में इसे छोड़ना नहीं चाहते। यहाँ तक कि जो उद्योग स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत प्रतियोगिता कर सकते हैं, वे भी दो कारणों से संरक्षण नहीं छोड़ना चाहते—प्रथम या तो एका-

अधिकारी लाभ प्राप्त करना चाहते हैं एवं द्वितीय या तो वे यह सोचते हैं कि यदि विदेशी प्रतियोगिता अधिक भयंकर हो गयी तो संरक्षण उन्हें कवच सिद्ध होगा। अतः संरक्षण को बनाये रखने के लिए वे रिश्वत एवं भ्रष्टाचार का सहारा लेते हैं।

(iv) संरक्षण अनावश्यक—प्रो. एल्सवर्थ के अनुसार यदि एक देश के पास प्राकृतिक साधन हैं तो वह अपने आप उद्योगों का विकसित करेगा चाहे उसे संरक्षण दिया जाय अथवा नहीं। इसके पक्ष में कहा जाता है कि कई देशों में बहुत से उद्योग बिना संरक्षण के ही स्थापित किये गये हैं। शिशु उद्योग तर्क के समर्थक संरक्षण के आधार पर कुशल श्रमिकों की पूर्ति पर बल देते हैं। परन्तु इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि संरक्षण के बाद कुशल किये गये श्रमिकों की उत्पादकता नये उद्योगों में उतनी ही है जितनी कि पहले थी तो संरक्षण से कोई लाभ नहीं मिलेगा। अब शिशु उद्योग तर्क के समर्थक, प्रशुल्क के पोषण कार्य (Nursing function) पर बल देते हैं तो उसका आशय लागतों को घटाकर उत्पादन में वृद्धि करना है।

यद्यपि उक्त तर्क मान्य है, फिर भी संरक्षणवादियों द्वारा व्यापक पैमाने पर इसका दुरुपयोग किया गया है।

(v) प्रो. रॉबिन्स की आलोचना—प्रो. रॉबिन्स का मत है कि "संरक्षित उद्योगों में विनियोजन उसी समय न्यायोचित है जब किसी उद्योग में प्रचलित दर पर चक्रवृद्धि ब्याज प्राप्त हो।" परन्तु प्रो. हैबरलर का मत है कि जाँच का यह आधार उचित नहीं है क्योंकि यह दो पीढ़ियों के भार एवं लाभ का मूल्यांकन करती है जो बाजार की ब्याज की दर पर आधारित नहीं किया जा सकता।

निष्कर्ष—उक्त आलोचनाओं के बावजूद भी, शिशु उद्योग तर्क में पर्याप्त आधार है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि संरक्षण ने शिशु उद्योगों का विकसित करने में भारी सहायता प्रदान की है और जहाँ तक अर्द्धविकसित देशों का प्रश्न है, वहाँ शिशु उद्योग तर्क का काफी महत्त्व है क्योंकि जहाँ एक ओर इन देशों में द्रुत आर्थिक विकास के लिए औद्योगीकरण आवश्यक होता है, वहीं दूसरी ओर इस दिशा में उन्हें काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि विदेशी प्रतियोगिता करने के योग्य बनाने के लिए इन देशों में शिशु उद्योगों को संरक्षण दिया जाय।

साथ ही यह भी आवश्यक है कि जिन उद्योगों को संरक्षण दिया जाता है, उनकी बड़ी सावधानी से छानबीन की जाय तथा संरक्षण देने के बाद इस बात का ध्यान रखा जाय कि उनमें एकाधिकारी प्रवृत्तियाँ न पनपने पायें।

(2) रोजगार वृद्धि का तर्क (Promotion of Employment Argument)—इस तर्क के समर्थकों का कहना है कि प्रशुल्क के फलस्वरूप देश में विदेशी वस्तुओं का आना रुक जायगा जिससे देश में ही उत्पादन में वृद्धि होगी और देश में रोजगार की वृद्धि होगी। यह तर्क 1930 की विश्वव्यापी मन्दी के समय काफी लोकप्रिय हुआ था जबकि सारे विश्व में चक्रीय बेरोजगारी फैल रही थी। वास्तव में मन्दी के समय प्रत्येक आयात को घरेलू उत्पादन का प्रतिस्थापन माना जाता है। आयातों पर प्रतिबन्ध लग जाने के कारण लोगों की आय की बचत होती है जिसे घरेलू उत्पादन पर व्यय किया जाता है अतः संरक्षित उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता है और गुणक प्रभाव के फलस्वरूप आय और रोजगार में वृद्धि होती है।

रोजगार का तर्क दो रूपों में प्रस्तुत किया जाता है—प्रथम यदि सस्ती वस्तुओं के आयात से देश में उत्पादन घटता है और बेरोजगारी फैलती है तो प्रशुल्क लगाकर इस बेरोजगारी को रोका जा सकता है और द्वितीय यदि प्रशुल्क के फलस्वरूप नये उद्योगों की स्थापना अथवा विद्यमान

उद्योगों का विस्तार होता है तो देश में अतिरिक्त रोजगार दिया जा सकता है। जहाँ तक पहले तर्क का प्रश्न है यह सर्वथा न्यायोचित है कि देश में रोजगार का स्तर बनाये रखने के लिए सस्ते आयातों की तुलना में घरेलू उत्पादन में वृद्धि की जाय। किन्तु यहाँ व्यापार की दोहरी प्रकृति को समझना आवश्यक है—आयातों में कमी करने का परिणाम यह होगा कि निर्यात भी कम हो जायेंगे अर्थात् आयातों में कटौती के कारण विदेशी बाजार का क्षेत्र सीमित हो जाता है क्योंकि अब विदेशी व्यापारी ऐसे देश से माल नहीं खरीदते। यद्यपि घरेलू उद्योगों में रोजगार बढ़ता है किन्तु यह अन्य निर्यात उद्योगों की कीमत पर बढ़ता है जो अधिक कुशल होते हैं अर्थात् निर्यात उद्योगों में रोजगार कम हो जाता है।

जहाँ तक दूसरे तर्क का प्रश्न है यह भी पहले के समान कमजोर है। पूर्ण रोजगार की दशा में प्रशुल्क का मात्र इतना प्रभाव होगा कि एक उद्योग से रोजगार दूसरे रोजगार में स्थानान्तरित हो जायगा अर्थात् दूसरे उद्योग की तुलना में एक विशिष्ट उद्योग को लाभ होगा। चूँकि प्रशुल्क से प्रतियोगी आयात नियन्त्रित हो जाते हैं, कुछ विशेष उद्यमियों को अतिरिक्त घरेलू बाजार प्राप्त हो जाता है किन्तु साथ ही उन घरेलू उत्पादकों को नुकसान होता है जिनके निर्यात रुक जाते हैं। चूँकि संरक्षित उद्योग घरेलू निर्यात उद्योगों की तुलना में कम कुशल होते हैं, देश में उत्पादन क्षमता का प्रयोग कम लाभप्रद ढंग से होता है।

जहाँ पूर्ण रोजगार से कम की स्थिति रहती है, वहाँ कम से कम अल्पकाल के लिए प्रशुल्क लगाकर अतिरिक्त रोजगार के अवसर पैदा किये जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में उन वस्तुओं का उत्पादन एवं विनिमय किया जा सकता है जिन्हें पहले विदेशों से आयात किया जाता था। साथ ही अन्य उद्योगों की उत्पादन क्षमता पर भी प्रतिकूल प्रभाव नहीं होता। किन्तु यह लाभ इसलिए अल्पकालीन होता है क्योंकि आयातों में कमी से निर्यात भी कम हो जाते हैं। इसका कारण यह होता है कि या तो विदेशी भी बदले की भावना से अपने आयात कम कर देते हैं अथवा उनके पास विदेशी मुद्रा की कमी हो जाती है क्योंकि संरक्षण वाले देश उनसे आयात करना बन्द कर देते हैं।

आलोचना—स्वतन्त्र व्यापार के समर्थकों ने रोजगार तर्क की कटु आलोचना की है। उनका कहना है कि चूँकि निर्यात ही आयात का भुगतान करते हैं, प्रशुल्क के माध्यम से आयातों में कटौती के फलस्वरूप निर्यातों में कटौती होगी तथा घरेलू उद्योगों में जितने रोजगार की वृद्धि होगी, उतनी ही कमी निर्यात उद्योगों में हो जायगी किन्तु यह तर्क पूर्ण रूप से सही नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि आयातों में कमी होने से निर्यातों में भी उतनी ही कमी हो विशेष रूप से उस स्थिति में जबकि कुछ वस्तुओं के निर्यात में देश का एकाधिकार हो। और यदि निर्यातों में कमी भी होती है तो यह आवश्यक नहीं है कि निर्यात उद्योगों में कमी हो जाय यदि आयातों को नियन्त्रित करने से बचत में वृद्धि होने के फलस्वरूप उपभोग में वृद्धि होती है।

कुछ आलोचकों के अनुसार रोजगार तर्क की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि यह किसी भी कीमत पर रोजगार बढ़ाना चाहता है। वास्तव में मात्र रोजगार हो अपने में लक्ष्य नहीं है वरन् वस्तुओं एवं सेवाओं को प्राप्त करने का एक साधन है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन को नियन्त्रित कर अधिक रोजगार बनाया जा सकता है तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि एक देश में विशिष्टीकरण के पूर्ण परित्याग से अधिकतम रोजगार सम्भव हो जायगा। इस सन्दर्भ में प्रशुल्क की आलोचना प्रो. केन्स ने इन शब्दों में की है—"क्या कोई ऐसी चीज है जिसे प्रशुल्क कर सकता है जिसे एक भूकम्प अच्छी तरह से नहीं कर सकता।"[1]

---

1 "Is there any thing that a tariff could do, which an earth-quake could not do better." —*Keynes*

व्यावहारिक रूप से प्रशुल्क की तुलना में, रोजगार की वृद्धि के लिए अन्य श्रेष्ठ साधन भी हैं जैसे मौद्रिक एवं राजस्व-नीति जिनका प्रयोग किया जाना चाहिए।

(3) उद्योगों में विविधता का तर्क (Diversification of Industries Argument)—स्वतन्त्र व्यापार में विशिष्टीकरण का सहारा लिया जाता है जिससे न केवल देश, विदेशों पर निर्भर हो जाता है बल्कि अर्थव्यवस्था भी असन्तुलित हो जाती है। अत संरक्षण के समर्थक उद्योगों में विविधता का समर्थन करते हैं। यदि एक देश विदेशों पर अति निर्भर हो जाता है तो आर्थिक एवं राजनीतिक रूप से इसके भयंकर परिणाम होते हैं। आर्थिक रूप में, निर्भर रहने वाले देश सरलता से मन्दी के शिकार हो जाते हैं तथा राजनीतिक रूप से, युद्ध के समय, विदेशों से आयात करना असम्भव हो जाता है। अत. समस्त उद्योगों का सन्तुलित विकास करने एवं देश में स्थिरता लाने के लिए यह आवश्यक है कि संरक्षण देकर विविध उद्योगों की स्थापना की जाय।

उपर्युक्त तर्क के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि यह अधिक विशिष्टीकरण वाले देशों पर ही लागू होता है जो प्राथमिक वस्तुओं का निर्यात करते हैं तथा निर्मित वस्तुओं के लिए विदेशी आयातों पर निर्भर रहते हैं। विविधता का तर्क उसी समय वाछनीय है जब बिना अधिक सामाजिक लागत के इसे कार्यान्वित किया जा सके।

आलोचना—उपर्युक्त तर्क की निम्न प्रकार से आलोचना की जाती है :

(i) उद्योग में विविधता का तर्क तुलनात्मक लागत एवं विशिष्टीकरण के लाभों की अवहेलना करता है।

(ii) बड़े देश में जैसे अमरीका और रूस भी सब प्रकार के उद्योगों की स्थापना कर आत्मनिर्भर नहीं बन सकते।

(iii) आज के पारस्परिक निर्भरता के बढ़ते हुए युग में कोई भी देश पूर्ण स्वतन्त्र होकर रहने की कल्पना नहीं कर सकता।

(iv) संरक्षण का यह अर्थ कदापि नहीं है कि पूर्ण रूप से अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों को तिलांजलि दे दी जाय। अत विविधता का तर्क अपने आप में कमजोर है।

(4) आय का तर्क (Revenue Argument)—राजस्व के आधार पर संरक्षण के लिए प्रशुल्क को आय का एक अच्छा स्रोत माना जाता है क्योंकि आयात करों का भुगतान विदेशियों द्वारा किया जाता है। किन्तु प्रशुल्क से आय प्राप्त करने की भी एक सीमा है। जिस प्रशुल्क का उद्देश्य पूर्ण रूप से आयातों को नियन्त्रित करना है उससे बिलकुल आय प्राप्त नहीं होगी। इसके अतिरिक्त जिस प्रशुल्क से दीर्घकाल में आय प्राप्त होगी, उसकी दर कम होगी। इसका कारण यह है कि प्रशुल्क के फलस्वरूप उत्पत्ति के साधन निर्यात से आयात-प्रतिस्थापित उद्योगों में स्थानान्तरित होंगे और इसमें जितना समय लगेगा, उस अवधि में प्रशुल्क से आय प्राप्त होगी और जब यह स्थानान्तरण की प्रक्रिया समाप्त हो जायगी तो कम आय होगी।

आय तर्क के समर्थक निम्न दो कारणों से प्रशुल्क को आय का श्रेष्ठ स्रोत मानते हैं :

(i) इससे एक ओर राज्य को आय प्राप्त होती है तथा दूसरी ओर संरक्षण का उद्देश्य भी पूर्ण होता है। परन्तु इन दोनों में विरोधाभास है जिस प्रशुल्क से अधिक आय प्राप्त होगी, उससे संरक्षण नहीं होगा और जिससे संरक्षण होगा, उससे आय प्राप्त नहीं होगी। अत: आय को, संरक्षण का सह-उत्पादन (By-product) ही माना जाना चाहिए।

(ii) प्रशुल्क का भार आंशिक अथवा पूर्णरूप से विदेशियों पर पड़ता है। परन्तु यह कहना उचित नहीं है क्योंकि इसका निर्धारण विदेशी निर्यातकों की पूर्ति की लोच एवं आयात करने वालों की माँग की लोच द्वारा होता है। प्रायः अर्द्धविकसित देशों में जहाँ आयात की माँग बेलोचदार रहती है, प्रशुल्क का अधिकांश भार इन देशों को ही सहना पड़ता है।

आलोचना—(i) यदि मात्र आय प्राप्त करने के लिए बिना सोचे-विचारे प्रशुल्क का प्रयोग किया जाता है तो इसके दुरुपयोग की सम्भावना रहती है क्योंकि बाद में इसे बढ़ाकर संरक्षण के लिए प्रयुक्त किया जाता है ताकि घरेलू उत्पादकों को प्रतियोगिता से बचाया जा सके। इस प्रकार उपभोक्ताओं के हितों की अवहेलना कर, उत्पादकों की रक्षा की जाती है।

(ii) यदि संरक्षण का मुख्य उद्देश्य 'आय' ही माना जाता है तो यह बेहतर है कि फिर स्वतन्त्र व्यापार को बाधा न पहुँचायी जाय जिससे साधनों का विवेकपूर्ण ढंग से वितरण होता है *तथा आय प्राप्त करने के लिए अन्य विकल्पों की खोज की जाय।*

वर्तमान में आय नहीं, वरन् संरक्षण ही प्रमुख उद्देश्य है।

(5) राष्ट्रीय संसाधनों का संरक्षण (Conservation of National Resources)—प्रो. केरे, पैटन (Patten) एवं प्रो. जेवंस ने इस मत का प्रतिपादन किया कि देश के संसाधनों को सुरक्षित रखने के लिए संरक्षण की नीति आवश्यक है। यह तर्क उन देशों पर विशेष रूप से लागू होता है जो खनिज एवं अन्य कच्चे माल का निर्यात करते हैं। केरे ने बताया कि अमरीका से कृषि पदार्थों के निर्यात ने वहाँ की भूमि को खोखला बना दिया है। जेवन्स ने यही तर्क इंगलैण्ड से कोयला-निर्यात पर लागू किया तथा यही बात अफ्रीकी देशों से स्वर्ण निर्यात एवं भारत से मैंगनीज तथा अभ्रक के निर्यात पर लागू होती है।

यह तर्क इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि यदि एक देश अपने महत्वपूर्ण संसाधनों का निर्यात कर देता है जिनका पुनरुत्पादन नहीं किया जा सकता तो यह न केवल निर्माण उद्योगों के लाभों से वंचित हो जाता है वरन् इन संसाधनों के समाप्त होने पर उसके आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(6) आधारभूत उद्योग तर्क (Key Industry Argument)—देश के आर्थिक विकास के लिए औद्योगिक ढाँचे का मजबूत होना आवश्यक है तथा औद्योगिक ढाँचा उसी समय स्थायी एवं ठोस बन सकता है जब देश में आधारभूत उद्योगों की स्थापना कर उन्हें विकसित किया जाय क्योंकि इसके अभाव में औद्योगीकरण का आधार ही समाप्त हो जायगा। यह सम्भव है कि इन उद्योगों की स्थापना से देश को कोई तुलनात्मक लाभ न हो फिर भी देश के दीर्घकालीन हित में इन उद्योगों की स्थापना करना आवश्यक है।

(7) राशिपातन विरोधी तर्क (Anti-dumping Argument)—राशिपातन का अर्थ है घरेलू बाजार में प्राप्त कीमत की तुलना में कम कीमत में विदेशी बाजार में वस्तुओं को बेचना अर्थात् घरेलू कीमत एवं विदेशी कीमत में भेद करना राशिपातन का आवश्यक लक्षण है। राशिपातन या तो दीर्घकालीन (Persistent) हो सकता है अथवा आकस्मिक (Sporadic)। दीर्घकालीन राशिपातन वह है जो निर्यातक एवं आयातक देशों की भिन्न बाजार की दशाओं के कारण लम्बे समय तक किया जा सकता है। आकस्मिक राशिपातन या तो विदेशी प्रतियोगिता समाप्त करने के लिए हो सकता है अथवा अतिरेक माल की निकासी के लिए किया जा सकता है। देश के व्यापारियों द्वारा यह तर्क दिया जाता है कि देश में उद्योगों को जीवित रखने के लिए राशिपातन रोकना जरूरी है। किन्तु संरक्षण के लिए राशिपातन का विरोध करते समय यह देखा जाना चाहिए कि राशिपातन दीर्घकालीन है अथवा आकस्मिक। दीर्घकालिक राशिपातन को रोकने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इससे (सस्ते आयातों) क्रेताओं को लाभ होता है तथा प्रतियोगी उत्पादक स्थायी आयातों के अनुसार समायोजन कर लेते हैं।

किन्तु आकस्मिक राशिपातन घरेलू उत्पादकों तथा अर्थव्यवस्था के लिए हानिप्रद हो सकता है क्योंकि यह दीर्घकाल तक नहीं होता एवं घरेलू उद्योग अस्त व्यस्त हो जाते हैं अतः इन्हें रोकने के लिए प्रशुल्क लगाना उचित है।

आलोचना—यदि आकस्मिक राशिपातन के दुष्प्रभाव रोकना है तो प्रशुल्क दर पर्याप्त ऊँची होना चाहिए ताकि विदेशी वस्तुओं की कीमतें, घरेलू कीमतों के बराबर हो जायें अर्थात् इन दोनों की कीमतों में अन्तर जानने के पहले वस्तुओं का आयात होना चाहिए। किन्तु यदि वस्तुओं का उद्देश्य ही विफल हो जाता है तो फिर संरक्षण का उद्देश्य ही विफल हो जाता है। और वही कहावत चरितार्थ होती है कि "घोड़े की चोरी हो जाने के बाद घुड़साल का ताला बन्द कर देना" *(Locking the barn-door after the horse is stolen)*।

राशिपातन रोकने के लिए बहुत ही ऊँचे आयात कर लगाने का आशय है, संरक्षण के आगे घुटने टेक देना एवं स्वतन्त्र व्यापार रोककर उसके लाभों से वंचित होना। आकस्मिक राशिपातन एक समस्या तो है किन्तु संरक्षात्मक प्रशुल्क इसका सही हल नहीं है।

(8) भुगतान शेष का तर्क (Balance of Payment Argument)—संरक्षण के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि प्रशुल्क लगाने से देश के भुगतान-शेष में सुधार होगा अर्थात् प्रतिकूल भुगतान शेष अनुकूल हो जायगा। प्रशुल्क की दर में वृद्धि होने से माँग आयात की वस्तुओं से परिवर्तित हो जाती है और घरेलू वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है। इस प्रकार आयातों में कटौती होने से भुगतान-शेष का घाटा दूर हो जाता है। यदि हम यह मानकर चलें कि बचत में कोई वृद्धि नहीं होती, क्रयशक्ति उन वस्तुओं के प्रति हस्तान्तरित होती है जिन पर सरकार अतिरिक्त आय व्यय करती है। यदि देश में पूर्ण रोजगार से कम की स्थिति है, तो प्रशुल्क के फलस्वरूप देश में कुल आय में वृद्धि होती है और इसमें भुगतान शेष में अतिरेक की स्थिति भी आ सकती है।

किन्तु भुगतान-शेष तर्क की दो सीमाओं को दृष्टि में रखना आवश्यक है—प्रथम तो यह कि भुगतान-शेष अतिरेक हो जाने से घरेलू विनियोग में वृद्धि होती है जिससे देश की आय में और अधिक वृद्धि होती है और आयात बढ़ने लगते हैं। यदि आयातों में उतनी ही वृद्धि हो जाती है जितनी कि उनमें प्रशुल्क बढ़ाने से कमी हुई थी तो आयात के लिए घरेलू माँग ज्यों की त्यों बनी रहती है। द्वितीय यदि विदेशों की बदले की भावना से प्रशुल्क बढ़ाकर आयातों को नियन्त्रित कर देते हैं तो फिर दूसरा देश निर्यातों को बढ़ा सकता। अर्थात् संरक्षण उसी समय अनुकूल एवं उचित है यदि विदेशों में बदले की भावना की प्रतिक्रिया नहीं होती।

(9) रिचार्ड शुलर का तर्क (Richard Schuller's Argument)—प्रो शुलर के अनुसार प्रशुल्क के राष्ट्रीय आय पर दो प्रकार के प्रभाव होते हैं। प्रथम कीमतों में वृद्धि करके एक ओर तो यह उपभोग को कम कर देता है और दूसरी ओर देश के बेकार पड़े साधनों को प्रयुक्त कर, इससे उत्पादन में वृद्धि होती है। शुलर का विचार है कि कीमतों में वृद्धि साधारण ही होती है जबकि उत्पादन में अधिक वृद्धि होती है।

शुलर ने प्रशुल्क के ऋणात्मक (debit) एवं धनात्मक (credit) दोनों पक्षों को प्रस्तुत किया है। ऋणात्मक पक्ष यह है कि प्रशुल्क लगाने से उपभोक्ताओं को कितनी क्षति होती है, जिसका अनुमान इस बात से लगाया जाता है कि अब उपभोक्ता को उसी वस्तु पर कितनी अधिक मात्रा व्यय करना पड़ती है एवं उपभोग की जो मात्रा घट जाती है उस वस्तु की इकाईयों का मूल्य क्या है। धनात्मक पक्ष के सम्बन्ध में शुलर का मत है कि एक देश में उत्पत्ति के साधन पूर्ण रूप से प्रयुक्त नहीं होते और प्रशुल्क से उनके प्रयोग में जो वृद्धि होती है उतनी ही मात्रा में देश में उत्पादन बढ़ जाता है। शुलर की दृष्टि में धनात्मक पक्ष, ऋणात्मक पक्ष की क्षतिपूर्ति से भी अधिक रहता है। इस प्रकार उन्होंने प्रशुल्क लगाकर संरक्षण का समर्थन किया है।

प्रो हैबरलर ने शुलर के ऋणात्मक पक्ष को तो स्वीकार किया है पर धनात्मक पक्ष को नहीं। वे इस बात को नहीं मानते कि संरक्षित उद्योग में उत्पादन की पूर्ण वृद्धि, पूर्व में बेकार पड़े साधनों को प्रयुक्त करने से होती है। सम्भव है कि उत्पादन में वृद्धि अन्य उद्योगों से उत्पादन में

कमी के कारण हो। हैबरलर के अनुसार अप्रयुक्त साधनों का अस्तित्व प्रशुल्क के तर्क का आधार नहीं है। अप्रयुक्त साधनों का अस्तित्व प्रचुर सम्पत्ति के कारण हो सकता है।

(10) व्यापार की शर्तों का तर्क (Terms of Trade Argument)—प्रशुल्क का प्रयोग व्यापार की शर्तों के अधिक अनुकूल बनाने के लिए भी किया जा सकता है। विदेशियों को पूर्ण अथवा आंशिक प्रशुल्क के भुगतान के लिए बाध्य कर व्यापार की शर्तों को सुधारा जा सकता है। प्रशुल्क लगाने से आयातक देश में कीमतें बढ़ जायेंगी तथा निर्यातक देश में घट जायेंगी और यदि वस्तु की माँग लोचदार है तो निर्यातक देश में कीमतें अधिक गिरेंगी एवं प्रशुल्क का भार निर्यातक देश पर पड़ेगा। इस प्रकार प्रशुल्क का आयात करने वाले देश की व्यापार की शर्तों पर अनुकूल प्रभाव होता है।

किन्तु उक्त व्यापार की शर्तों में सुधार उसी समय सम्भव है जब निर्यातक देश की पूर्ति बेलोचदार है एवं आयात करने वाले देश की माँग लोचदार है। एक सीमा यह भी है कि यदि अन्य देश भी बदले की भावना से प्रशुल्क बढ़ा देते हैं तथा प्रशुल्क लगाने वाले देश की कीमतें घट जाती हैं तो व्यापार की शर्तों में सुधार सम्भव नहीं है।

गैर-आर्थिक तर्क (Non-Economic Arguments)

संरक्षण की दृष्टि से यद्यपि गैर-आर्थिक तर्क महत्वपूर्ण हैं किन्तु इनकी प्रकृति आर्थिक न होकर गैर-आर्थिक है। ये तर्क इस प्रकार हैं :

(1) सुरक्षा तर्क (Defence Argument)—सुरक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण उद्योगों के संरक्षण का समर्थन किया जाता है। इसके अनुसार यदि सैन्य शक्ति उद्योग को बिना संरक्षण के जीवित नहीं रखा जा सकता तो इन्हें पूर्ण संरक्षण दिया जाना चाहिए। सुरक्षा की दृष्टि से एक देश को दूसरे देशों पर निर्भर नहीं रहना चाहिए भले ही इससे आर्थिक क्षति हो। इस सम्बन्ध में एडम स्मिथ का कथन उचित है कि "समृद्धि से सुरक्षा अधिक अच्छी है" (Defence is better than Opulence) जब तक देश की सुरक्षा शक्ति मजबूत नहीं होगी देश उन्नति नहीं कर सकता।

यदि कोई देश सुरक्षा सामग्री के लिए विदेशों पर निर्भर हो जाता है और यदि संकटकाल में उसे सहायता नहीं मिलती तो उसकी राजनीतिक स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जाती है। यही कारण है कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को सरकारी नीति का उद्देश्य माना जाता है एवं सैन्य तैयारी को प्राथमिकता दी जाती है भले ही इसकी आर्थिक लागत अधिक हो।

विशिष्टीकरण और तुलनात्मक लाभ के आधार पर सुरक्षा उद्योगों के संरक्षण का समर्थन नहीं किया जा सकता किन्तु सुरक्षा के सामने में आर्थिक तर्क को प्राथमिकता नहीं दी जानी चाहिए क्योंकि हर कीमत पर देश की स्वतन्त्रता की रक्षा की जानी चाहिए।

यहाँ महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से कौन उद्योग महत्वपूर्ण है? वास्तव में उन्हीं उद्योगों को संरक्षण दिया जाना चाहिए जिन पर देश की सैन्य-शक्ति एवं सुरक्षा पूर्ण रूप से निर्भर है।

आलोचकों का कहना है कि संरक्षण के अलावा सैन्य तैयारी के अन्य अच्छे विकल्प भी हैं जैसे सुरक्षा उद्योगों की सरकारी स्वामित्व एवं कार्यवाही और द्वितीय निजी सुरक्षा उद्योगों को सरकारी अनुदान तथा इन दोनों की वित्तीय व्यवस्था करारोपण द्वारा की जानी चाहिए। किन्तु आलोचक कुछ भी कहें, सरकार को सुरक्षा के मामले में आत्म निर्भरता से काम लेना चाहिए।

(2) स्वदेशी अथवा देशभक्ति का तर्क (Swadeshi or Patriotism Argument)—स्वदेशी भावना अथवा देशभक्ति के आधार पर भी संरक्षण का समर्थन किया जाता है। स्वदेशी का अर्थ है कि प्रत्येक देश को अपने देश में बनी वस्तुओं का ही प्रयोग करना चाहिए एवं इस

दृष्टि से संरक्षण की नीति अपनायी जानी चाहिए। स्वतन्त्रता संग्राम में गाँधी जी ने जो स्वदेशी आन्दोलन चलाया था, वह काफी महत्वपूर्ण है। देशभक्ति का आशय है अन्य देशों की तुलना में अपने ही देश के हितों को प्राथमिकता देना और इस दृष्टि के देश के समग्र विकास के लिए संरक्षण की नीति अपनाना।

(3) आत्म निर्भरता का तर्क (Self Sufficiency Argument)—इस तर्क का आशय यह है कि एक देश को आवश्यक वस्तुओं के लिए अन्य देशों पर निर्भर नहीं रहना चाहिए तथा आत्म-निर्भर रहना चाहिए। अन्य देशों पर अत्यधिक निर्भरता सकटकालीन परिस्थितियों मे काफी खतरनाक सिद्ध होती है विशेष रूप से यदि विदेशी व्यापार समाप्त हो जाता है। यह भी तर्क दिया जाता है कि आत्म-निर्भरता से अर्थव्यवस्था मे स्थिरता आती है। किन्तु यह सत्य है कि कोई भी देश पूर्ण रूप से आत्म-निर्भर नहीं बन सकता। और फिर यह तर्क सब देशों पर भी समान रूप से लागू नहीं होता।

(4) विशिष्ट वर्गों अथवा व्यवसायों की सुरक्षा का तर्क (Preservation of Certain Classes or Occupations)—कुछ देशों मे जनसंख्या के कुछ वर्गों अथवा व्यवसायों की सुरक्षा के लिए सरक्षण का समर्थन किया गया है। जैसे कृषि उद्योग अथवा कृषकों की सुरक्षा के लिए कृषि करों को लागू किया गया। यदि विदेशों से सस्ते अनाज का आयात किया जाता है तो कृषक समुदाय के हितों पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है अतः कृषि पदार्थों के मूल्य का ऊँचा स्तर बना रहे, इसके लिए कृषि को सरक्षण दिया गया। आस्ट्रेलिया और कनाडा मे सस्ते खाद्यान्नों के आयात के कारण जब यूरोपीय देशों के कृषक वर्ग को हानि हुई तो इन देशों ने कृषि आयातों को रोकने के लिए प्रशुल्क का प्रयोग किया। इगलैण्ड मे भी Corn Laws के अन्तर्गत 1819 मे गेहूँ के आयात पर प्रशुल्क लगाया गया।

(5) बदले की भावना का तर्क (Retaliation Argument)—कुछ विचारक इस तर्क को मिथ्या तर्क मानते हैं। इस तर्क के पीछे मुख्य आधार यह है कि यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से स्वतन्त्र व्यापार की नीति अच्छी हो सकती है किन्तु एक देश, जो चारों ओर ऐसे देशों से घिरा है जिन्होंने प्रशुल्क की दीवारें खड़ी कर रखी हैं, स्वतन्त्र व्यापार की उदार नीति नहीं अपना सकता। इसके दो कारण है—प्रथम तो यह कि स्वतन्त्र व्यापार वाला देश कमजोर स्थिति मे रहेगा और द्वितीय एक पक्षीय स्वतन्त्र व्यापार हानिकारक होता है।

उक्त तर्क इसलिए मिथ्या माना जाता है क्योंकि इसकी यह मान्यता है कि स्वतन्त्र व्यापार के लाभ तभी होते हैं जब सम्बन्धित दोनों देश इसे अपनायें किन्तु स्वतन्त्र व्यापार को अपनाने वाला देश मुख्य लाभ प्राप्त करता है। यह बात दूसरी है कि यदि दूसरा देश व्यापार को सीमित कर देता है तो पहले देश का लाभ कम हो जाता है। अतः इस बात मे कोई सार नहीं है कि यदि अन्य देश प्रशुल्क बढ़ाता है, तो एक देश को बदले की भावना से कार्य करना चाहिए बल्कि एक देश स्वतन्त्र व्यापार से अत्यल्प प्रशुल्क करें पर्याप्त लाभ उठा सकता है।

संरक्षण के पक्ष मे मिथ्या तर्क (Fallacious Arguments for Protection)

(1) सस्ते श्रम का तर्क (Pauper Labour Argument)—सरक्षण के पक्ष में मजदूरी का यह तर्क दिया जाता है कि सापेक्षिक रूप से ऊँचे घरेलू मजदूरी के स्तर को विदेशी सस्ते श्रम से सरक्षण दिया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि अमेरिका मे मजदूरी की दर ऊँची है तो अमेरिका मे ऐसे देशों से वस्तुओं का आयात नहीं किया जाना चाहिए जहाँ श्रम सस्ता है क्योंकि इससे अमेरिका के मजदूरी स्तर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

किन्तु यह तर्क बिल्कुल गलत है कि ऊँची मजदूरी वाला देश, कम मजदूरी वाले देश से प्रतियोगिता नहीं कर सकता। प्रो. एल्सवर्थ के अनुसार, "श्रम से कम कई महत्वपूर्ण उद्योगों मे

(ii) विनिमय दरों में होने वाले परिवर्तनों का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक एवं वित्तीय सम्बन्धों पर तत्काल प्रभाव होता है। इससे विदेशी विनिमय बाजार में सट्टे की क्रियाओं को प्रोत्साहन मिलता है। जो देश वित्तीय रूप से कमजोर होते हैं, वहाँ से पूँजी का बहिर्गमन होने लगता है।

किन्तु विनिमय स्थिरता के उद्देश्य ने मूल्यों की स्थिरता को महत्वहीन नहीं बना दिया है क्योंकि विशेष रूप से विकासशील देशों के सामने अत्यधिक मुद्रा प्रसार एवं मुद्रा संकुचन दोनों के कटु अनुभव विद्यमान हैं अतः ये देश सापेक्षिक रूप से आन्तरिक अर्थव्यवस्था में मूल्यों के स्थायित्व को महत्व देने लगे हैं।

अब विनिमय स्थिरता और मूल्य स्थिरता के बारे में संक्षिप्त परिचय पाने के बाद, इन दोनों के पक्ष एवं विपक्ष के तर्कों का अध्ययन किया जायगा।

मूल्य स्थिरता (Price Stability)

मूल्य स्थिरता अथवा मौद्रिक स्थिरता दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। जब वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होती है तो मुद्रा के मूल्य में ह्रास होता है एवं वस्तुओं के मूल्य में कमी होने से मुद्रा के मूल्य में वृद्धि होती है। मूल्य-स्थिरता का यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि मूल्यों में तनिक भी परिवर्तन नहीं होना चाहिए। मूल्यों में स्थिरता अथवा स्थायित्व का वास्तविक अर्थ यह है कि वस्तु के मूल्यों में अधिक उतार चढ़ाव नहीं होना चाहिए। इसका कारण यह है कि मुद्रा प्रसार की स्थिति सामाजिक अन्याय को जन्म देती है तथा मुद्रा संकुचन से देश में मन्दी की स्थिति आती है। जर्मनी में जो युद्धोत्तर आर्थिक विकास हुआ है, उसमें यह स्पष्ट हो गया है कि मौद्रिक स्थिरता प्राप्त की जा सकती है तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में भी इसे बनाये रखा जा सकता है। साथ ही यह भी सिद्ध हो गया है कि मूल्य स्थिरता की नीति देश के आर्थिक विकास में बाधक न होकर साधक है।

मूल्य स्थिरता कैसे स्थापित की जाय—मूल्यों में स्थिरता बनाये रखने में सरकार एवं देश के केन्द्रीय बैंक की भूमिका महत्वपूर्ण है। मूल्य स्थिरता के लिए देश की मौद्रिक प्रणाली में पर्याप्त लोच होना चाहिए। व्यापारिक बैंकों को भी साख पर पर्याप्त नियन्त्रण रखना चाहिए। सरकार को उत्पादन एवं पूर्ति पर नियन्त्रण रखना चाहिए तथा उत्पादन में कमी होने पर वस्तुओं को विदेशों से आयात करना चाहिए। यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि मूल्यों में जड़ता न हो वरन् देश के आर्थिक विकास के अनुरूप उसमें लोच हो।

मूल्य स्थिरता के पक्ष में तर्क—मूल्य स्थिरता के पक्ष में निम्न तर्क दिये जाते हैं :

(i) **बचत-भावना को प्रोत्साहन**—यदि मूल्यों में स्थिरता रहती है तो बचत को प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि मुद्रा के मूल्य ह्रास का कोई भय नहीं रहता। बचत होने से विनियोग को प्रोत्साहन मिलता है।

(ii) **पूँजी निर्माण और आर्थिक विकास**—जब देश में बचत और विनियोग होता है तो पूँजी निर्माण को प्रोत्साहन मिलता है जो देश के आर्थिक विकास के लिए बहुत आवश्यक है।

(iii) **विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन**—मूल्यों में स्थिरता के कारण विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि विदेशी व्यापारियों को इस बात की आशंका नहीं रहती कि उनके माल खरीदने के बाद मूल्य गिर जायेंगे और न इस बात का भय रहता है कि भुगतान के समय मुद्रा के मूल्यों में वृद्धि हो जायगी।

(iv) **आर्थिक शान्ति और स्थिरता का परिचायक**—यदि मूल्यों में स्थिरता रहती है तो देश की अर्थव्यवस्था में भी स्थिरता रहती है तथा देश में शान्ति बनी रहती है। न तो ऐसी हालत में श्रम-विवाद पैदा होते हैं और न बेरोजगारी फैलती है अतः व्यावसायिक प्रगति एवं नवीन अनुसन्धानों को गति मिलती है।

(v) **सामाजिक न्याय का प्रतीक**—यदि देश में मुद्रा प्रसार की स्थिति विद्यमान होती है और इस पर नियन्त्रण नहीं लगाया जाता तो यह निरन्तर बढ़ती जाती है जिसमें आय का असमान वितरण होता है। कुछ वर्ग जो धनी होते हैं वे मुद्रा प्रसार से लाभान्वित होते हैं एवं निर्धन वर्ग के लोगों को इससे हानि होती है। इस प्रकार मुद्रा प्रसार की स्थिति सामाजिक अन्याय को बढ़ावा देती है जबकि मूल्यों की स्थिरता से वितरण में समानता स्थापित होती है।

(vi) **मुद्रा संकुचन से मन्दी**—यदि मूल्यों में तेजी से गिरावट होती है तो इससे उत्पादन, विनियोग और रोजगार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है तथा देश में मन्दी की स्थिति व्याप्त हो जाती है। अतः मूल्यों में स्थिरता का समर्थन किया जाता है।

मूल्य स्थिरता के विपक्ष में तर्क—मूल्य स्थिरता के विपक्ष में निम्न तर्क दिये जाते हैं :

(i) **मूल्य स्थिरता की धारणा अस्पष्ट**—मूल्यों की स्थिरता में एक व्यावहारिक कठिनाई यह है कि किन कीमतों में स्थिरता रखी जाय ? थोक कीमतों को स्थिर रखा जाय अथवा फुटकर कीमतों को स्थिर रखा जाय। इसी से सम्बन्धित दूसरी समस्या सापेक्षिक कीमतों में स्थिरता से है जो कि मूल्यों में स्थिरता के लिए आवश्यक है। इस प्रकार मूल्य स्थायित्व की धारणा स्पष्ट नहीं है।

(ii) **मूल्य स्थायित्व से रोजगार में वृद्धि नहीं**—प्रो. केन्ज के अनुसार मूल्य स्थिरता केवल बेरोजगारी की स्थिति में रह सकती है तथा यदि मूल्यों में जरा भी परिवर्तन न होने दिये जायें तो रोजगार की मात्रा में वृद्धि नहीं हो सकती। प्रो. हाम का मत भी है कि रोजगार वृद्धि की दशा में मूल्य में वृद्धि होना अवश्यम्भावी है।

(iii) **भिन्न-भिन्न मूल्यों में परिवर्तन सम्भव**—सामान्य कीमतों की स्थिरता की तुलना में सापेक्षिक कीमतों को स्थिर रखना अधिक आवश्यक होता है किन्तु तुलनात्मक या सापेक्षिक कीमतों को स्थिर रखना सम्भव नहीं होता। यद्यपि प्रो. केन्स मूल्य स्थिरता के समर्थक थे फिर भी उन्होंने यह स्वीकार किया था कि सामान्य मूल्य स्तर अनेक मूल्यों का औसत है तथा सामान्य औसत के स्थिर रहते हुए भी भिन्न मूल्यों में परिवर्तन हो सकता है।

(iv) **कुछ सीमा तक कीमत वृद्धि अर्थव्यवस्था के लिए आवश्यक**—मूल्य स्थिरता के विचार इस अवास्तविक मान्यता पर आधारित है कि मूल्यों में होने वाले परिवर्तन आर्थिक विकास में बाधक है। किन्तु सत्य तो यह है कि कीमतों में होने वाली थोड़ी वृद्धि से साहसी को प्रोत्साहन मिलता है और वह अधिक जोखिम उठाने को तैयार हो जाता है। यही कारण है कि प्रो. हेयक (Prof. Hayek) ने मूल्य स्थिरता की नीति की आलोचना की है और कहा है कि मूल्य स्थिरता की धारणा एक गतिशील अर्थव्यवस्था के अनुकूल नहीं है।

(v) **मूल्य स्थिरता की व्यावहारिक कठिनाइयां**—यह एक कठिन समस्या है कि मूल्यों में किस प्रकार स्थिरता लायी जाय। कुछ लोग कहते हैं कि मुद्रा की मात्रा को स्थिर रखकर इस उद्देश्य की प्राप्ति की जा सकती है। किन्तु एक विकासशील अर्थव्यवस्था में यह कदापि सम्भव नहीं है क्योंकि व्यापार और रोजगार में वृद्धि के साथ मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करना आवश्यक हो जाता है। इसके अतिरिक्त मौद्रिक एवं साख नियन्त्रण की और भी कई कठिनाईयाँ है जिससे मूल्य स्थिरता सम्भव नहीं हो पाती।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि पूर्ण रूप से मूल्य की स्थिरता देश के आर्थिक विकास में बाधक है अतः मूल्यों में थोड़ी बहुत वृद्धि आर्थिक स्थिरता और विकास के लिए आवश्यक है। इस सम्बन्ध में प्रो. जी. डी. एच कोल का कथन उल्लेखनीय है, "मौद्रिक स्थायित्व स्वयं में एक अच्छी बात है तथा इसे प्राप्त करने का प्रयत्न भी करना चाहिए किन्तु हम यह गलती न करें कि इसे ही एकमात्र उद्देश्य मान लें अथवा उसे मुद्रा की पूर्ति की कठोरता

पूर्वक सीमित रखने के अर्थ में ले लें क्योंकि इससे आर्थिक क्रियाओं में सन्तोषजनक स्थायित्व के स्थान पर निरन्तर मन्दी का सकट प्रस्तुत हो जायेगा।" आगे चलकर प्रो कोल कहते हैं कि "मुद्रा की पूर्ति को स्थिर रखने से पूर्व हमें उसकी कठिनाइयों पर दृष्टिपात कर लेना चाहिए नही तो और अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड सकता है।" किन्तु साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कीमतो मे होने वाले तीव्र उच्चावचन देश की अर्थव्यवस्था के लिए हानिकारक हैं अतः मूल्यो मे होने वाले अवाछनीय परिवर्तनो को पहले से ही रोक देना चाहिए ताकि वे गम्भीर होकर देश के लिए खतरा सिद्ध न हो सकें।

विनिमय स्थिरता (Exchange Stability)

यद्यपि स्वर्णमान के प्रचलन की अवधि मे विनिमय स्थिरता को महत्व दिया जाता था किन्तु आज भी विशेष रूप मे उन देशो के लिए जिनकी अर्थव्यवस्था मे विदेशी व्यापार का काफी महत्व है, विनिमय स्थिरता काफी महत्वपूर्ण है। आजकल भुगतान शेष को अनुकूल बनाये रखना मौद्रिक नीति का महत्वपूर्ण उद्देश्य हो गया है और इस दृष्टि से विनिमय स्थिरता को बनाये रखने का प्रयत्न किया जाता है। प्रो हैबरलर के अनुसार, "वित्तीय दृष्टि से कमजोर देशो मे स्वर्ण समता से होने वाले प्रत्येक विचलन ने सकट को जन्म दिया है। 1931 एव 1932 मे जर्मनी मे यह दृष्टिगोचर हुआ है। मौद्रिक इतिहास ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि विनिमय दरो में होने वाले परिवर्तन दीर्घकालीन दुष्परिणामो को जन्म देते है। विशेष रूप से मूल्यों में होने वाले ह्रास ने लोगो मे अपनी पूंजी को सरल रूप मे रखने को प्रोत्साहित किया है एवं सरलता के कारण कई देशो मे लोगो ने बड़े पैमाने पर स्वर्ण का सचय किया है जिससे स्वर्णमान के देशों मे मुद्रा सकुचन हुआ है। यही कारण है कि मौद्रिक नीति का प्रयोग भुगतान शेष को ठीक स्तर पर बनाये रखने तथा विनिमय दर मे स्थायित्व रखने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

किन देशों को विनिमय स्थिरता अपनाना चाहिए—उन छोटे देशों मे जिनकी अर्थव्यवस्था मे विदेशी व्यापार का महत्वपूर्ण स्थान है, विनिमय स्थिरता बहुत ही आवश्यक है। विशेष रूप मे यदि ऐसे देश विदेशी पूंजी पर आश्रित हैं तो उन्हें अपने देश मे आन्तरिक कीमतो की स्थिरता को तिलाजलि देकर विनिमय स्थिरता को प्राथमिकता देना चाहिए। जो देश सशक्त एवं विकसित हैं, उनके लिए कुछ भिन्न नीति का समर्थन किया जा सकता है। उदाहरण के लिए प्रो. केन्स ने कई वर्षों तक इगलैण्ड के लिए कीमतो की स्थिरता की नीति का समर्थन किया ताकि चक्रीय उच्चावचनो से बचा जा सके। जबकि स्वर्णमान वाले देशों के साथ इगलैण्ड की विनिमय दर में अस्थिरता रही। इंगलैण्ड मे सितम्बर 1931 मे स्वर्णमान समाप्त हो जाने के बाद भी वहाँ कीमतो में स्थिरता की नीति अपनायी गयी इससे स्कैंडनेवियन देशो ने इगलैण्ड के साथ स्थिर विनिमय दर की नीति का लाभ उठाया। किन्तु स्वर्ण और स्टर्लिंग मुद्राओ के बीच विनिमय दर की अस्थिरता को काफी हानि हुई अन्त मे इस बात का तर्क दिया जाता है कि दीर्घकाल मे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बड़े पैमाने पर वस्तुओ के विनिमय के लिए विनिमय दर मे स्थिरता आवश्यक है।

विनिमय दर में स्थिरता कैसे स्थापित की जाय

निम्न विधियो से विनिमय दर मे स्थिरता प्राप्त की जा सकती है :

(i) विनिमय दर मे स्थिरता बनाये रखने के लिए सबसे सरल तरीका यह है कि कठोर अर्थों मे स्वर्णमान का पालन किया जाय। आजकल स्वर्णमान समाप्त होने के कारण यह विधि अव्यावहारिक हो गयी है।

(ii) लचीले स्वर्णमान मे भी विनिमय स्थिरता प्राप्त की जा सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो मे केवल कुछ ही अशो मे स्वर्ण का प्रयोग किया जाता है और वह भी केवल उसी समय

जब सन्तुलन भंग हो गया हो। अतः यदि मुद्रा की काफी मात्रा कागजी मान पर आधारित हो और उसके पीछे स्वर्ण का आधार न हो तो भी स्वर्णमान के लाभो को प्राप्त किया जा सकता है और विनिमय दर को स्थायी बनाया जा सकता है। इस प्रणाली को स्वर्ण वुलियन मान कहते हैं।

(iii) स्वर्ण विनिमय मान को अपनाकर भी विनिमय दर मे स्थिरता लायी जा सकती जिसके अन्तर्गत स्वर्ण की कुल मात्रा देश के केन्द्रीय बैंक के नियन्त्रण मे रहती है जिसका प्रयो केन्द्रीय बैंक द्वारा अल्पकालीन विदेशी विनिमयो को क्रय करने मे किया जाता है जिससे न केवल व्याज प्राप्त होता है वरन् उन्हे स्वर्ण मे भी परिवर्तित किया जा सकता है। स्वर्ण विनिमय मान की यह मान्यता है कि कम मे कम किसी एक देश को पारस्परिक स्वर्णमान पर रहना चाहिए।

उपर्युक्त स्वचालित तरीको के अतिरिक्त अन्य साधनो द्वारा भी विनिमय दर को स्थि रखा जा सकता है जैसे केन्द्रीय बैंक द्वारा बैंक दर की नीति। अन्य बातो के स्थिर रहने प बैंक दर मे वृद्धि होने से विनिमय दर में मजबूती आ जाती है तथा बैंक दर में गिरावट विनिमय द को कमजोर बना देती है। बैंक दर मे होने वाला परिवर्तन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विनिम दर को प्रभावित करता है। प्रत्यक्ष रूप से इस प्रकार कि इससे अल्पकालीन विनियोग या तो दे मे आने के लिए आकर्षित होते हैं अथवा उनका बहिर्गमन होता है, अप्रत्यक्ष रूप से इसलिए क्योंि बैंक दर कीमत-स्तर को प्रभावित करता है। पहला प्रभाव तत्कालीन होता है किन्तु अस्थाय होता है जबकि दूसरा (अप्रत्यक्ष) प्रभाव क्रमशः किन्तु स्थायी होता है।

विनिमय स्थिरता के पक्ष मे तर्क

विनिमय स्थिरता के पक्ष में निम्न तर्क दिये जाते है :

(i) **सन्तुलित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उसी समय सरलत के साथ किया जा सकता है जब विनिमय दरो मे स्थिरता रहे। यदि विनिमय दरो मे जब चा उच्चावचन होते रहे तो आयात-निर्यात में बाधाएँ उपस्थित होती हैं। विशेष रूप से यदि विकास शील देशो की विनिमय दर उनके प्रतिकूल हो जाय तो उनके लिए विदेशो से आवश्यक मशी एवं पूँजीगत माल मँगाना कठिन हो जाता है।

(ii) **विनिमय दर की अस्थिरता देश की कमजोर स्थिति का सूचक**—यदि किसी दे की विनिमय दर मे अस्थिरता रहती है तो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उस देश की आर्थिक स्थि चर्चा का विषय बन जाती है। यदि विनिमय दर स्थिर रहती है तो भले ही उस देश क कीमतो मे स्थिरता न रहे, अन्य देशो की नजरो मे उस देश की स्थिति अच्छी ही रहती है।

(iii) **विदेशी व्यापार पर निर्भरता वाले देशों के लिए**—जिन देशो की अर्थव्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रतिशत अधिक रहता है, उनके लिए विनिमय दरो मे स्थिरता रख बहुत जरूरी है क्योकि विनिमय दरो की अस्थिरता का इन देशो मे बहुत प्रतिकूल प्रभाव होता है

(iv) **पूँजी का बहिर्गमन एवं सट्टे की प्रवृत्ति**—यदि विनिमय दर मे अस्थिरता रहती तो उस देश से विदेशी पूँजीपतियो का विश्वास उठ जाता है और देश से पूँजी बाहर जाने लग है। साथ ही विनिमय दरो मे उच्चावचन से सट्टे की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है जिससे वे की साख हिलने लगती है।

(v) **अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग के लिए**—एक देश का उन देशो के साथ आर्थि सहयोग उसी समय स्थापित हो सकता है जब उसकी विनिमय दर मे स्थिरता रहे। अतः अन रॉष्ट्रीय वित्तीय सम्बन्धो को अनुकूल बनाये रखने के लिए विनिमय दर मे स्थिरता का समर्थ किया जाता है।

विनिमय स्थिरता के विपक्ष मे तर्क

विनिमय स्थिरता के विपक्ष मे अग्रांकित तर्क दिये जाते हैं :

(i) **आन्तरिक मूल्यों में अस्थिरता को प्रोत्साहन**—विनिमय दर को स्थिर बनाये रखने के लिए देश के आन्तरिक कीमत स्तर की अवहेलना की जाती है अर्थात् विनिमय दर की स्थिरता के लिए एक देश को मूल्य अस्थिरता के रूप में भारी कीमत चुकानी पड़ती है।

(ii) **राष्ट्रीय हितों की बलि**—विनिमय स्थिरता अपनाने से अन्तर्राष्ट्रीय हितों के लिए राष्ट्रीय हितों की तिलाञ्जलि दी जाती है। अपनी मुद्रा की दर को अन्य देशों की मुद्रा से एक निश्चित अनुपात में बनाये रखने के लिए आन्तरिक रोजगार, राष्ट्रीय आय, मूल्य स्तर एवं अन्य राष्ट्रीय हितों की अवहेलना करनी पड़ती है।

(iii) **व्यवस्था की कठिनाई**—विनिमय स्थिरता बनाये रखने के लिए अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध तथा नियन्त्रणों की आवश्यकता होती है जिनकी व्यवस्था करने में काफी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। यह व्यवस्था सदैव सफल नहीं हो पाती तथा विनिमय दरों में असाम्य की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(iv) **अनुभव विनिमय स्थिरता के विरुद्ध**—कुछ देशों की आर्थिक प्रगति से यह स्पष्ट हो गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के प्रयत्नों के बावजूद भी विनिमय स्थिरता स्थापित नहीं हो सकी है। पिछले वर्षों में अनेक मुद्राओं का अवमूल्यन हुआ है तथा विभिन्न देशों के व्यापार सन्तुलन में भारी अन्तर है, उनमें रोजगार, राष्ट्रीय आय एवं मुद्रा की स्थिति में काफी अन्तर है।

उपर्युक्त कारणों को देखते हुए कहा जा सकता है कि विनिमय स्थिरता सब परिस्थितियों में एवं सब देशों के लिए उपयुक्त नहीं है। विनिमय स्थिरता न केवल भुगतान शेष को ठीक करने में असमर्थ रही है वरन् इसने आन्तरिक स्थायित्व लाने वाली नीतियों की सफलता में बाधा उपस्थित हुई है।

निष्कर्ष—निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि विनिमय स्थिरता के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों में मतभेद रहा है। स्वर्णमान के प्रचलन की अवधि में मुद्रा की बाह्य स्थिरता को ही महत्व दिया जाता था किन्तु इसके बाद जब अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा का प्रचलन हुआ तो मूल्य स्थिरता को महत्व दिया जाने लगा। किन्तु 1929 की विश्वव्यापी मन्दी के पश्चात् अब मौद्रिक नीति का उद्देश्य न तो विनिमय स्थिरता रह गया और न मूल्य स्थिरता वरन् आर्थिक स्थिरता की स्थापना करना हो गया है। आर्थिक स्थिरता (Economic Stability) तभी सम्भव है जबकि पूर्ण रोजगार के स्तर पर देश में बचत एवं विनियोग में सन्तुलन स्थापित किया जाय। इसका समर्थन करते हुए प्रो. क्राउथर ने कहा है कि "किसी भी देश में मौद्रिक नीति का स्पष्ट उद्देश्य पूर्ण रोजगार के स्तर पर बचत एवं विनियोग में सन्तुलन स्थापित करना है।" प्रो. केन्स के अनुसार, "मौद्रिक नीति का उद्देश्य व्यापारिक चक्रों के उच्चावचनों को कम करना और पूर्ण रोजगार के बिन्दु पर बचतों और विनियोगों में सन्तुलन स्थापित करने का प्रयत्न होना चाहिए।" आर्थिक स्थिरता का अर्थ देश में आर्थिक संकटों या उच्चावचनों (तेजी एवं मन्दी) को न आने देने से है। वर्तमान में आर्थिक स्थिरता को आर्थिक विकास के साथ समन्वित कर दिया गया है एवं विनिमय स्थिरता या मूल्य स्थिरता को महत्व न देकर समग्र रूप से आर्थिक विकास को प्राथमिकता दी जाती है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. किसी भी देश के लिए विनिमय स्थिरता एवं मूल्य स्थिरता दोनों संघर्षपूर्ण उद्देश्य होते हैं। इस कथन की समीक्षा कीजिए?

2. किसी देश की मौद्रिक नीति के उद्देश्य के रूप मे मूल्य स्थिरता एवं विनिमय स्थिरता के पक्ष एव विपक्ष मे तर्क प्रस्तुत कीजिए ?
3. आजकल न तो विनिमय स्थिरता को महत्व दिया जाता है और न मूल्य स्थिरता को वरन् आर्थिक स्थिरता ही महत्वपूर्ण उद्देश्य हो गया है। समझाइए ?

Selected Readings

1. Haberler · *The Theory of International Trade*
2. Crowther · *An Outline of Money.*
3. Hansen · *Monetary Theory and Fiscal Policy.*

अध्याय **26**

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान

[INTERNATIONAL GOLD STANDARD]

परिचय

स्वर्णमान एक धातुमान का सर्वाधिक प्रचलित एवं महत्वपूर्ण रूप रहा है। इसे सबसे पहले 1816 में इंगलैण्ड ने अपनाया एवं बाद में विश्व के अनेक देशों ने इसे अपनाया। प्रथम विश्वयुद्ध ने स्वर्णमान को भारी धक्का पहुँचाया जिसमें बहुत से देशों ने इसका परित्याग कर दिया। यद्यपि 1925 में इस मान की पुनः वापसी हुई किन्तु यह ज्यादा दिन नहीं चल सका एवं 1937 तक यह विश्व से विदा हो गया।

परिभाषा—क्राउथर के अनुसार, 'जब"" 'मुद्रा कानून द्वारा एक निश्चित अनुपात में स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है तो ऐसी मुद्रा व्यवस्था को स्वर्णमान कहते है।" क्राउथर ने बताया कि स्वर्णमान के दो मुख्य कार्य होना चाहिए—मुद्रा मूल्य में आन्तरिक स्थायित्व और मुद्रा मूल्य में वाह्य स्थायित्व।

जब हम स्वर्णमान के पहले अन्तर्राष्ट्रीय विशेषण जोड़ देते है तो इसका अर्थ ऐसे मान से होता है जो एक ही साथ अनेक देशों में विद्यमान हो। ग्रेगरी के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का अर्थ ऐसी व्यवस्था से है जो एक साथ अनेक देशों में विद्यमान हो और जिसके अन्तर्गत प्रत्येक देश में एक निश्चित दर पर स्थानीय करेन्सी का स्वर्ण में और स्वर्ण का स्थानीय करेन्सी में परिवर्तन हो सकता हो तथा ऐसे देशों के बीच स्वर्ण के आयात निर्यात की स्वतन्त्रता हो।"

जरा विस्तार से एवं स्पष्ट रूप से देखे तो अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का आशय ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली से होता है जिसे अपनाने वाले देशों ने कानूनी रूप से (i) अपनी देश की मुद्रा की इकाई का स्वर्ण परिभाषित कर दिया है, (ii) ऐसी व्यवस्था स्थापित कर दी है जिसके अन्तर्गत उन देशों की मुद्रा के मूल्य को स्वयं मूल्य एवं एक दूसरे के मूल्य के बराबर रखा जाता है, (iii) स्वर्ण के माध्यम से अपने देश की मुद्रा का बाह्य मूल्य निर्धारित कर दिया है, एवं (iv) उनके मौद्रिक अधिकारी एक निश्चित कीमत पर असीमित मात्रा में स्वर्ण के क्रय विक्रय के लिए तैयार रहते है।

इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान में उक्त चार विशेषताएँ होना चाहिए। वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के समझौते के अनुसार अप्रत्यक्ष रूप से देश अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण विनिमय मान को अपनाये हुए है। यद्यपि यह मान उस अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान से भिन्न है जो 1930 के पूर्व प्रचलित था एवं देश स्वर्णमान के किसी रूप को अपनाये हुए थे।

वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का प्रारम्भ 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ जब विश्व के बड़े देशों जर्मनी (1873) फ्रास (1878), एवं अमरीका (1900) ने स्वर्ण मुद्रामान अपनाया किन्तु जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, इंगलैण्ड ने 1816 में ही इसे अपना लिया था। 20वीं सदी के प्रारम्भ में रूस, आस्ट्रिया, हालैण्ड, मेक्सिको आदि देशों ने भी स्वर्णमान अपना लिया।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के लाभ
(ADVANTAGES OF INTERNATIONAL GOLD STANDARD)

स्वर्णमान में कुछ ऐसे गुण हैं जिनके कारण यह काफी समय तक विश्व में प्रचलित रहा है। इनमें प्रमुख लाभ या गुण इस प्रकार हैं

(1) विनिमय का अन्तर्राष्ट्रीय माध्यम—स्वर्णमान पर आधारित देशों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण एक विनिमय का माध्यम और मूल्य का माप प्रस्तुत करता है। चूंकि स्वर्ण की मांग व्यापक रूप से समस्त देशों द्वारा की जाती है, इसे प्रत्येक देश द्वारा भुगतान के रूप में स्वीकार किया जाता है। जब प्रत्येक देश की मुद्रा स्वर्ण में परिभाषित कर दी जाती है तो उन मुद्राओं की विनिमय दर भी सरलता से निर्धारित की जा सकती है। इसके साथ ही भिन्न वस्तुओं के लिए स्वर्ण, मूल्य का माप भी प्रदान करता है जिसके आधार पर विभिन्न देशों में वस्तुओं के मूल्यों की तुलना की जा सकती है।

(2) विनिमय दरों में स्थिरता—स्वर्णमान के अन्तर्गत विभिन्न देशों की विनिमय दरों का निर्धारण उनकी मुद्राओं के आन्तरिक स्वर्ण मूल्य के सन्दर्भ में निश्चित किया जाता है अत. स्वर्णमान का (चाहे वह किसी भी रूप में प्रचलित हो) सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि यह उन देशों में जो इसे अपनाते हैं, विनिमय दरों में स्थिरता प्रदान करता है। स्वर्णमान में विनिमय दरों में स्वर्ण बिन्दु से अधिक परिवर्तन नहीं हो सकते। इसे पिछले अध्याय 22 में विनिमय की टकसाली दर में समझाया जा चुका है। विनिमय दरों में स्थिरता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पूँजी का आवागमन हो सकता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है।

(3) कीमत स्तरों में समानता—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के अन्तर्गत विभिन्न देशों के कीमत स्तरों में निकट सम्बन्ध होता है। यदि इन देशों में स्वर्ण का आवागमन होता है तो देशों के कीमत स्तरों में इस प्रकार उतार-चढ़ाव होता है कि स्वर्णमान वाले देशों में उनमें (कीमत स्तरों में) सन्तुलन स्थापित हो जाता है इसका यह अर्थ कदापि नहीं लिया जाना चाहिए कि विभिन्न देशों के कीमत स्तर बिल्कुल एक समान होते हैं बल्कि वे सन्तुलन में रहते हैं। अर्थात् किसी भी देश में न तो कीमत स्तर बहुत ऊँचा रहता है और न बहुत नीचा। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में न तो उसे बहुत अधिक लाभ होता है और न बहुत अधिक हानि।

(4) जनता का विश्वास—चूंकि स्वर्णमान में मुद्रा, स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है एवं लोगों के मन में स्वर्ण के प्रति आग्रह रहता है अत. लोगों का स्वर्णमान में विश्वास बना रहता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का ही प्रभाव है कि स्वर्ण का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के लिए किया जाने लगा। इसके साथ ही स्वर्ण का अपना मूल्य भी होता है अतः स्वर्णमान समाप्त होने पर भी स्वर्ण को सरलतापूर्वक अन्य प्रयोगों में लाया जा सकता है।

(5) स्वय चालकता—स्वर्णमान का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें स्वयं चालकता होती है। इसी कारण इसे हस्तक्षेप मान (*Laissez faire* Standard) कहा जाता है। यह इस अर्थ में स्वयं चालक है कि इसे कार्यान्वित करने में सरकारी या मौद्रिक अधिकारियों के न्यूनतम हस्तक्षेप की आवश्यकता होती है। केवल स्वर्णमान के कुछ नियमों का पालन करना पड़ता है जैसे मुद्रा की मात्रा स्वर्णकोष पर आधारित होनी चाहिए एवं स्वर्ण के आयात-निर्यात पर कोई रोक टोक नहीं होनी चाहिए। स्वर्णमान में भुगतान शेष में सन्तुलन अपने आप स्थापित हो जाता है जिसे इसी अध्याय में अगले पृष्ठों में स्वर्ण गतियों के सिद्धान्त में समझाया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान इस अर्थ में भी स्वयं चालक है कि इसे सफलतापूर्वक क्रियान्वित करने के लिए न तो किसी अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की आवश्यकता अनुभव की गयी और न किसी समझौते की।

(6) **अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग में सुविधा**—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विनियोगों में वृद्धि की जा सकती है। प्रो केन्स ने कहा था कि "यदि स्वर्णमान को पुनः सारे यूरोप मे स्थापित किया जा सकता होता तो इस मत से सब सहमत होगे कि इसमे न केवल व्यापार एव उत्पादन पुनर्जीवित होता (जो किसी और उपाय से सम्भव नही था) वरन् अन्तर्राष्ट्रीय साख और पूंजी को भी उन मार्गो मे आने का प्रोत्साहन मिलता जहाँ उनकी आवश्यकता सबसे अधिक है।"

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की हानियाँ
(DISADVANTAGES OF INTERNATIONAL GOLD-STANDARD)

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के निम्न दोष गिनाये जा सकते हैं :

(1) **कीमत स्थायित्व सम्भव नहीं**—मौद्रिक नीति के दो महत्वपूर्ण उद्देश्य होते है—आन्तरिक कीमतो मे स्थिरता और विनिमय दरो मे स्थिरता। स्वर्णमान के इतिहास ने यह सिद्ध कर दिया है कि इन दोनो उद्देश्यो को एक साथ प्राप्त नही किया जा सकता। वरन् स्वर्णमान के नियम देश को इसके लिए बाध्य करते है कि वह कीमत-स्थिरता का परित्याग कर, विनिमय स्थिरता को बनाये रखे। अत स्वर्णमान मे आन्तरिक आर्थिक स्थिरता और रोजगार की बलि देकर विनिमय स्थिरता प्राप्त की जाती है।

(2) **अनुकूल समय का साथी**—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान केवल उसी समय चल सकता है जबकि इसके कुछ विशिष्ट नियमों का पालन किया जाय किन्तु यदि इनकी अवहेलना की जाती है तो स्वर्णमान असफल हो जाता है। यही कारण है कि प्रो. हाम ने स्वर्णमान की तुलना अच्छे मौसम मे चलने वाले जहाज (A fair Weather Craft) से की है। 1900-1914 तक स्वर्णमान का स्वर्णिम युग माना गया क्योंकि विश्व मे शान्ति एव स्थिरता रही। किन्तु प्रथम विश्व युद्ध के एक झटके मे ही स्वर्णमान टूटने लगा अर्थात् वह मुद्रा स्फीति के भार को नहीं सम्भाल सका। दूसरी बार 1929 की विश्व मन्दी का सामना भी स्वर्णमान नही कर सका।

(3) **आर्थिक समायोजन मे कठिनाईयाँ**—स्वर्णमान के नियमों के अनुसार समायोजन करने मे एक देश को आर्थिक स्थिति पर काफी दबाव पडता है। वास्तव में स्वर्णमान स्वयं चालक नहीं माना जा सकता क्योंकि इसे अपनाने वाले देशो के केन्द्रीय बैंको को इसका नियन्त्रण करना होता है जो स्वर्ण के नियमो के अनुसार साख का विस्तार एवं सकुचन करते है। ये क्रियाएँ सरल नही होती तथा केन्द्रीय बैंकों को इनमे काफी कठिनाइयों का सामना करना पडता है तथा इससे देश की आर्थिक स्थिरता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(4) **साख नियन्त्रण मे अराजकता**—प्रो. हाट्रे ने स्वर्णमान को विश्व-साख नियन्त्रण मे अराजकता (Anarchy in World Credit Control) कहा है। चूंकि स्वर्णमान वाले देशो मे साख के विस्तार एव साख के सकुचन मे समानता रहती है, अत: प्राय: पूरे विश्व में मुद्रा प्रसार एवं मुद्रा सकुचन की स्थितियाँ व्याप्त हो जाती है और एक देश की मुद्रा सकुचन एव मन्दी का प्रभाव अन्य देशो पर भी होता है तथा इसी प्रकार मुद्रा प्रसार का प्रभाव भी अन्य देशो पर पडता है।

(5) **मुद्रा संकुचन का समर्थक**—श्रीमती जोन रॉबिसन का मत है कि अन्तर्राष्ट्री स्वर्णमान मुद्रा संकुचन का समर्थन करता है। जिन देशो मे स्वर्ण बाहर जाता है, उन्हे कानूनी रूप में बाध्य होकर मुद्रा का सकुचन करना पडता है परन्तु जो देश स्वर्ण प्राप्त करते हैं वे कानूनी रूप मे मुद्रा का विस्तार करने के लिए बाध्य नही होते। और फिर केन्द्रीय बैंक के लिए बैंक दर के माध्यम से मुद्रा का सकुचन करना सरल होता है किन्तु साख का विस्तार कर विनियोग को बढाना कठिन

होता है। इस प्रकार स्वर्णमान में मुद्रा-संकुचन के कीटाणु मौजूद हैं यही कारण है कि प्रो. हाम ने स्वर्णमान को बेरोजगारी को प्रोत्साहित करने वाला बतलाया है।

(6) **खर्चीली प्रणाली**—स्वर्णमान इसलिए बहुत खर्चीली प्रणाली है क्योंकि इसमें विनिमय का माध्यम स्वर्ण होता है जो एक मँहगी धातु है। आलोचकों का मत है कि जब कागजी मान से विनिमय का कार्य हो सकता है तो फिर स्वर्ण सरीखी मँहगी धातु की क्या आवश्यकता है। इसमें रिजर्व के रूप में जो स्वर्ण रखा जाता है, वह एक प्रकार से स्वर्ण का दुरुपयोग है।

(7) **स्वतन्त्र नीति सम्भव नहीं**—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के अन्तर्गत सभी स्वर्णमान वाले देश एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं अतः कोई भी देश एक स्वतन्त्र नीति का पालन नहीं कर पाता अर्थात् वह ऐसी मौद्रिक नीति नहीं अपना पाता जो उसकी घरेलू आर्थिक दशाओं के अधिक अनुरूप होती है।

(8) **विकासशील देशों के लिए अनुपयुक्त**—स्वर्णमान उन देशों के लिए उपयुक्त नहीं है जो अपनी अर्थव्यवस्था का विस्तार करना चाहते हैं अर्थात् वे विकासशील देश जो नियोजित आर्थिक विकास के लिए प्रयत्नशील हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि आज के विश्व में शुद्ध स्वर्णमान न तो सम्भव है और न आवश्यक। आज स्वर्ण की वह भूमिका नहीं है जो स्वर्णमान के प्रचलन के समय अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के लिए होती थी।

स्वर्णमान की स्वयं चालकता अथवा स्वर्ण गतियों का सिद्धान्त
(AUTOMATIC FUNCTIONING OF GOLD STANDARD OF THEORY OF GOLD MOVEMENTS)

प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व, स्वर्णमान की प्रमुख विशेषता यह थी कि इसमें स्वयं चालकता का गुण था अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण के आवागमन के माध्यम से स्वर्णमान वाले देशों में भुगतान शेष में अपने आप सन्तुलन स्थापित हो जाता था।

स्वर्णमान में अपने आप समायोजन करने वाली प्रणाली (Self adjusting Process) को स्वर्ण गतियों के सिद्धान्त से समझाया जा सकता है। यदि किसी देश में निर्यात की तुलना में आयात अधिक करने से उसका भुगतान शेष प्रतिकूल हो जाता है तो वह दूसरे देश का ऋणी हो जायगा। जिससे भुगतान करने के लिए वह अपने स्वर्णकोषों का प्रयोग करेगा। स्वर्ण बाहर जाने से, मुद्रा का संकुचन होगा और उस देश में वस्तुओं की कीमतें गिरने लगेंगी। कीमतें गिरने से आयातों में कमी होगी एवं निर्यात बढ़ेंगे। दूसरी ओर, जिस देश में स्वर्ण जायेगा, वहाँ स्वर्ण कोषों में वृद्धि होगी एवं मुद्रा प्रसार होगा जिससे वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि होगी। फलस्वरूप इस देश के निर्यात कम होंगे एवं आयातों में वृद्धि होगी।

इस प्रकार पहले जिस देश का भुगतान शेष प्रतिकूल हो गया था, वह अब अनुकूल हो जायगा क्योंकि उस देश में सोना आने लगेगा। इस पूरी प्रणाली को क्रमबद्ध रूप में इस प्रकार समझा जा सकता है :

जिस देश से स्वर्ण बाहर जाता है उसमें निम्न प्रभाव होते हैं :

(i) स्वर्ण बाहर जाने से देश में मुद्रा और साख का संकुचन होता है क्योंकि केन्द्रीय बैंक के स्वर्ण-रिजर्व की मात्रा कम हो जाती है। इसी के अनुरूप व्यापारिक बैंकों के नकद-रिजर्व की मात्रा भी कम हो जाती है जिससे उन्हें साख का संकुचन करना पड़ता है।

(ii) मुद्रा में संकुचन होने से कीमतों में कमी हो जाती है।

(iii) देश में कीमतों के गिर जाने से ऐसे देश की वस्तुओं और सेवाओं की माँग विदेशियों द्वारा बढ़ जाती है फलस्वरूप निर्यात में वृद्धि होती है। साथ ही अब विदेशी वस्तुएँ मँहगी हो जाने से आयात कम हो जाते हैं।

(iv) निर्यात मे वृद्धि होने से विदेशी मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि होगी एवं आयात घटने से विदेशी मुद्रा की मांग मे कमी होगी।

(v) अन्त मे देश का भुगतान शेष का घाटा ठीक हो जायगा क्योंकि पहले स्वर्ण का निर्यात करने वाला देश अब स्वर्ण का आयात करने लगेगा।

जिस देश मे स्वर्ण आता है उसमे उपर्युक्त क्रियाओ के ठीक विपरीत प्रतिक्रिया होगी और अब वहाँ से स्वर्ण बाहर जाने लगेगा और उसकी भुगतान शेष मे अतिरेक की स्थिति समाप्त हो जायगी।

समायोजन कैसे होता है—स्वर्णमान मे जो उपर्युक्त समायोजन होता है वह सापेक्षिक कीमतो एवं आय मे परिवर्तन के फलस्वरूप होता है तथा इस समायोजन मे केन्द्रीय बैंक द्वारा अपनायी जाने वाली बैंक दर की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। जिस देश से स्वर्ण बाहर जाता था, वहाँ केन्द्रीय बैंक, बैंक दर मे वृद्धि कर देता था जिससे साख का संकुचन हो जाता था जिससे कीमतें गिरती थी एवं निर्यात मे वृद्धि होती थी।

जिस देश को स्वर्ण प्राप्त होता था, वहाँ बैंक दर मे कमी कर दी जाती थी जिससे साख का विस्तार हो जाता था। फलस्वरूप कीमतो मे वृद्धि होती थी जिससे निर्यातो मे कमी हो जाती थी एवं आयातो मे वृद्धि हो जाती थी। इन क्रियाओ मे यद्यपि समायोजन हो जाता था किन्तु स्वर्ण गतियो के फलस्वरूप स्वर्ण खोने वाले देशो मे आय संकुचन और बेरोजगारी फैलती थी एवं स्वर्ण प्राप्त करने वाले देशो मे मुद्राप्रसार की स्थिति काफी कष्टप्रद थी। स्वर्ण प्राप्त करने वाले देशो की तुलना मे, स्वर्ण का निर्यात करने वाले देशो मे गम्भीर स्थिति हो जाती है क्योंकि मुद्रा संकुचन से देश की आर्थिक स्थिरता नष्ट हो जाती है, मन्दी और बेरोजगारी फैल जाती है। यही कारण है कि स्वर्णमान को मुद्रा संकुचन का पक्षपाती कहा जाता है। प्रो. जे. एच. विलियम्स ने [redacted] मत का समर्थन किया है।

इस प्रकार साख का विस्तार दो देशो की मौद्रिक एवं साख नीतियों मे समायोजन कर, स्वर्णमान की स्वय-चालकता सम्भव बनाता है जिससे प्रो. क्राउथर के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान मे स्वर्णमान की स्वय-चालकता मे सन्तुलन स्थापित हो जाता है।

स्वर्णमान खेल के नियम
(RULES OF THE GOLD STANDARD GAME)

यद्यपि स्वर्णमान के किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन या समझौता की आवश्यकता नही है किन्तु यह आवश्यक है कि स्वर्णमान अपनाने वाले देशो को इसके सफल संचालन के लिए कुछ नियमो का पालन करना चाहिए। उन्हें प्रो. केन्स ने स्वर्णमान खेल के नियम नाम से पुकारा है। ये नियम इस प्रकार है.

(1) **स्वर्ण का स्वतन्त्र आयात निर्यात**—जो देश स्वर्णमान अपनाते है उनमे स्वर्ण का स्वतन्त्रता पूर्वक आयात एवं निर्यात होना चाहिए। वास्तव मे इस नियम को स्वर्णमान का आधारभूत नियम कहा जाता है क्योंकि इसके अभाव मे स्वर्णमान अधिक समय तक जीवित नही रह सकता।

(2) **स्वर्ण के अनुसार साख का संकुचन अथवा विस्तार**—स्वर्णमान वाले देश की सरकार को इस नियम का पालन करना चाहिए कि जब स्वर्ण देश मे आता है तो साख संकुचन करना चाहिए। अर्थात् स्वर्ण आने पर मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि होना चाहिए तथा स्वर्ण बाहर जाने पर मुद्रा का संकुचन होना चाहिए। क्राउथर[1] ने इसे स्पष्ट किया है।

---

1 "The golden rule of the standard is—expand credit when gold comes in ; contract credit when gold is going out."
—*Crowther*.

(3) लोचपूर्ण कीमतें—स्वर्णमान वाले देशों के कीमतों के ढाँचे में पर्याप्त लोच होना चाहिए ताकि जब स्वर्ण गतियों का प्रभाव पड़ता है तो आवश्यकतानुसार कीमतों के स्तर में वृद्धि अथवा कमी हो जाये।

(4) स्वतन्त्र व्यापार—स्वर्णमान के लिए यह भी आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मार्ग में कठोर प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए यद्यपि पूर्ण रूप से स्वतन्त्र व्यापार का होना स्वर्णमान के पूर्व शर्त नहीं है। जो देश आयात-अभ्यश लागू कर देते है, उसके कारण स्वर्णमान की स्वय-चालकता में बाधा उपस्थित होती है।

(5) स्वर्ण समता का पालन—स्वर्णमान वाले देशों के मौद्रिक अधिकारियों को निश्चित दर पर असीमित मात्रा में स्वर्ण का क्रय-विक्रय कर स्वर्ण-समता मूल्य को बनाये रखना चाहिए। इसके साथ ही घरेलू मुद्रा के स्वर्णमूल्य का न तो अधिमूल्यन किया जाना चाहिए और न अधोमूल्यन।

(6) राजनीतिक स्थिरता—स्वर्णमान वाले देशों में राजनीतिक स्थिरता होना चाहिए ताकि अस्थिरता के फलस्वरूप देशो में स्वर्ण का हस्तान्तरण न हो।

(7) पूंजी-गतिशीलता का अभाव—पूंजी की गतिशीलता के कारण स्वर्णमान की स्वय चालकता में बाधा उपस्थित होती है अत इसे रोका जाना चाहिए। स्वर्णमान में अपने आप समायोजन उसी समय सम्भव है जब देशों को विनियोग की कीमतों में समानता हो।

(8) घरेलू मौद्रिक नीति को गौण महत्व—स्वर्णमान उसी समय सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है जब देश के मौद्रिक अधिकारी घरेलू मौद्रिक नीति की परवाह न कर स्वर्णमान के नियमों का पालन करने के लिए तैयार रहे। अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक स्थिरता के लिए देश की मौद्रिक नीति के स्वतन्त्र उद्देश्यों का परित्याग कर दिया जाना चाहिए।

इस प्रकार स्वर्णमान की स्वय चालकता शत-प्रतिशत सही नहीं है वरन् उसके लिए कुछ नियमों का पालन करना बहुत आवश्यक होता है।

स्वर्णमान का उदय एवं उसकी कार्य-प्रणाली
(ORIGIN OF GOLD STANDARD AND ITS WORKING SYSTEM)

1914 से पूर्व—स्वर्णमान का इतिहास सन् 1816 से शुरू होता है जब इगलैण्ड ने इसे अपनाया था। इसके बाद अन्य यूरोप के देशों ने 1871 के बाद ही स्वर्णमान अपनाया। 1914 के पूर्व स्वर्णमान काफी सन्तोषजनक ढग से कार्य करता रहा। इसका कारण यह था कि उस समय विश्व में स्वर्णमान के लिए बहुत अनुकूल परिस्थितियाँ इस प्रकार थी :

(1) बहुत से देश स्वर्ण मुद्रामान अपनाये हुए थे जिसमे विनिमय दर सरलता से निर्धारित की जा सकती थी।

(2) 1914 से पूर्व लन्दन विश्व अर्थव्यवस्था का महत्वपूर्ण केन्द्र था जो विश्व बैंक के समान कार्य करता था एव सारे अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन लन्दन को भुगतान किये जाने वाले विनिमय पत्रों के माध्यम से किये जाते थे। इस प्रकार से अकेला स्टर्लिंग माल सरलता से प्रबन्धित किया जा सकता था।

(3) आर्थिक एव राजनीतिक क्षेत्रों में स्थिरता थी। अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी एव वस्तुओं के आवागमन में सन्तुलन स्थापित था।

(4) विश्व के अधिकाश देशों में अहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण किया जाता था तथा स्वतन्त्र व्यापार की नीति प्रचलन में थी जिससे भुगतान शेष में सन्तुलन स्थापित करने में सहायता मिलती थी।

(5) विनिमय दरों में स्थिरता के लिए स्वर्णमान वाले देश आन्तरिक स्थिरता की बलि देने के लिए तैयार रहते थे।

(6) उस समय देशों का आर्थिक ढांचा काफी लोचपूर्ण था।

प्रथम एवं द्वितीय विश्व युद्ध के बीच की स्थिति (1918-1936)

प्रथम विश्व युद्ध के फलस्वरूप विश्व के कई देशों की अर्थव्यवस्थाओं में असामान्य परिवर्तन हुए। इसके फलस्वरूप कई देशों की मुद्रा प्रणाली पंगु हो गयी और स्वर्ण का स्वतन्त्र आयात निर्यात रोक दिया गया। अतः 1914-18 की अवधि में स्वर्णमान का परित्याग कर दिया गया एवं अपरिवर्तनीय कागजी मान प्रचलन में आ गया। युद्ध व्यय के कारण मुद्रा प्रसार काफी बढ़ गया और स्वर्णमान के नियमों का पालन न हो सका जिससे स्वर्णमान टूट गया।

किन्तु युद्ध समाप्त होते ही, कई देशों के मौद्रिक अधिकारियों ने मिलकर स्वर्णमान को जीवित करने की योजना बनायी। 1922 में ब्रुसेल्स में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशन में पुनः स्वर्णमान को लागू करने का निर्णय लिया गया। चूंकि कई देशों में कागजी मान लोकप्रिय हो चुका था और स्वर्ण का अभाव था अतः 1920 में जिनेवा अधिवेशन में स्वर्ण मुद्रामान के स्थान पर स्वर्ण विनिमय मान अपनाने का निर्णय लिया गया। तदनुसार अमरीका ने 1924 में एवं इंगलैण्ड ने 1925 में स्वर्णमान अपनाया। अन्य यूरोप के देशों ने भी स्वर्णमान को अपनाया। इसे अपनाने वाला अन्तिम देश फ्रांस (1928) था। जिन देशों ने स्वर्ण विनिमय-मान अपनाया, उन्होंने पौण्ड, डालर या फ्रैंक से अपनी मुद्रा को सम्बन्धित कर विनिमय स्थिरता प्राप्त करने का प्रयत्न किया।

इस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध के बाद अपनाया जाने वाला स्वर्णमान पूर्व से इस अर्थ में भिन्न था कि बाद में स्वर्ण के सिक्के चलन में नहीं थे एवं वह स्वर्ण बुलियन मान एवं स्वर्ण विनिमय मान में था।

1930 के बाद स्वर्णमान का अन्त—यद्यपि स्वर्णमान को प्रथम विश्व युद्ध के बाद पुनः अपनाया गया किन्तु उसमें काफी कमजोरियाँ थी और वह पहले के समान सफलतापूर्वक कार्यान्वित नहीं किया जा सका। एक तो यह काफी कम समय चल पाया और दूसरे यह असन्तोषजनक ढंग से चला और 1931 में समाप्त हो गया जब ब्रिटेन ने इसका परित्याग कर दिया। पुर्तगाल, ग्रीस, जापान और दक्षिण अमरीका ने भी इंगलैण्ड का अनुसरण कर स्वर्णमान का परित्याग कर दिया। अमरीका ने 1933 में और फ्रांस ने 1936 में स्वर्णमान को त्याग दिया।

इस प्रकार जो प्रथम विश्व युद्ध के स्वर्णमान पुनर्जीवित हुआ था वह 1936 में पूर्ण रूप से समाप्त हो गया।

स्वर्णमान के पतन के कारण
(CAUSES OF THE DOWNFALL OF GOLD STANDARD)

जैसा कि हमने देखा है 1936 तक विश्व के सब देशों ने एक के बाद एक स्वर्णमान का परित्याग कर दिया अर्थात् न तो स्वर्ण मुद्रा की इकाई के रूप में विद्यमान रहा और न विनिमय का आधार। वास्तव में विश्वयुद्ध एवं विश्वव्यापी मन्दी के बाद देशों की स्थिति ऐसी नहीं रह गयी कि वे स्वर्णमान के नियमों का पालन कर सकते। युद्धोत्तर काल में स्वर्णमान के टूटने के मुख्य कारण इस प्रकार थे :

(1) **स्वर्ण का असमान वितरण**—विश्व युद्ध के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सामान्य प्रवाह अवरुद्ध हो गया और विभिन्न देशों के बीच स्वर्ण का असमान वितरण हो गया। युद्ध के

कारण कई देशो के दायित्वो मे भारी वृद्धि हो गयी किन्तु एक तो लेनदार देशो ने वस्तुओ के रूप मे भुगतान लेना अस्वीकार कर दिया और दूसरी ओर ऋण देना भी बन्द कर दिया। फलस्वरूप स्वर्ण मे ही ऋणो का भुगतान किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि अमरीका और फ्रास मे विश्व का तीन-चौथाई स्वर्ण जमा हो गया। अत शेष देशो को जिनके पास स्वर्ण के पर्याप्त कोष नही थे स्वर्णमान अपनाना कठिन हो गया।

(2) **स्वर्णमान के नियमो की अवहेलना**—जिन देशो के पास स्वर्ण के भण्डार जमा हो गये, उन देशो ने स्वर्णमान के नियमो का पालन नही किया। जैसे अमरीका ने स्वर्ण भण्डारो को निष्क्रिय बना दिया और कीमत-स्तर पर उनका कोई भी प्रभाव नही होने दिया गया। यदि इन देशो मे कीमतें बढ जाती तो आयात प्रोत्साहित होते तथा निर्यात कम हो जाते और स्वर्ण बाहर जाने लगता जिससे दूसरे देशो का प्रतिकूल भुगतान-शेष ठीक हो जाता। किन्तु यह नही हुआ और स्वर्ण की स्वय चालकता समाप्त हो गयी।

(3) **अल्पकालीन पूंजी की वापसी**—राजनीतिक अस्थिरता के कारण बहुत से देशो ने अपनी पूंजी के कोष विदेशी बैंको मे जमा कर दिये थे तथा ग्रेट-ब्रिटेन मे इस प्रकार की भारी पूंजी जमा थी। सकटकालीन स्थिति मे यह पूंजी निकाल ली जाती थी। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद फ्रास ने इगलैण्ड से बहुत ही कम समय मे अपने स्वर्ण कोष निकाल लिये जिसके कारण इगलैण्ड को 1931 मे स्वर्णमान त्यागना पडा। आस्ट्रिया और जर्मनी से भी इसी प्रकार अल्पकालीन पूंजी निकाल ली गयी जिससे वहाँ स्वर्णमान समाप्त हो गया।

(4) **विनिमय स्थिरता के स्थान पर कीमत-स्थिरता पर बल**—विश्वयुद्ध के बाद देशो मे स्वर्णमान के प्रति अभिरुचि समाप्त होने लगी। विनिमय स्थिरता के स्थान पर आन्तरिक कीमतो की स्थिरता और पूर्ण रोजगार के उद्देश्यो को प्राथमिकता दी जाने लगी। अर्थात् बाद मे जो मौद्रिक नीति अपनाई गयी वह स्वर्णमान के अनुरूप नही थी।

(5) **अन्तर्राष्ट्रीय मन्दी का प्रभाव**—विश्वव्यापी मन्दी ने स्वर्णमान पर बडा प्रहार किया। यह सकट आस्ट्रिया से प्रारम्भ हुआ तथा इसने क्रमश, जर्मनी, इगलैण्ड को भी अपनी पकड मे ले लिया। मन्दी का असर अमरीका पर भी हुआ क्योकि स्वर्णमान छोडने वाले देशो ने अमरीका से माल लेना बन्द कर दिया जिससे अमरीका मे अनबिके स्टॉक जमा होने लगे तथा बेरोजगारी फैलने लगी। अन्त मे अमरीका ने स्वर्णमान छोड दिया।

(6) **विश्वयुद्ध के बाद अर्थव्यवस्थाओं मे लोच का अभाव**—स्वर्णमान इसलिए भी समाप्त हो गया क्योकि प्रथम विश्वयुद्ध के बाद बहुत से देशो की अर्थव्यवस्थाओ में लोच नही रह गयी। इसके कई कारण थे—बहुत से देशो पर ऋणो का भारी भार हो गया जिसे दीर्घकाल मे भुगतान करने के समझौते किये गये। इस प्रकार देशो पर व्यय का भारी दबाव पडा। मजदूर संघो ने मजदूरी कटौती का तीव्र विरोध किया। कच्चे माल एव निर्मित वस्तुओ के मूल्यो मे जो परिवर्तन हुए वे स्वर्णमान के अनुरूप नही थे। इसका परिणाम यह हुआ कि सन्तुलन स्थापित नही हो सका।

(7) **मूल्यो मे असाम्यता**—स्वर्णमान के टूटने का यह भी कारण था कि कई महत्वपूर्ण देशो ने स्वर्ण समता मूल्यो का उल्लघन किया। जैसे ब्रिटिश पौण्ड का 10 प्रतिशत अधिमूल्यन किया गया जबकि फ्रेंक का इस सीमा तक अधोमूल्यन (Undervaluation) किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्रिटेन से स्वर्ण फ्रास और अमरीका जाने लगा एव ब्रिटेन के लिए अपने भुगतान-शेष को ठीक करना कठिन हो गया।

(8) **विश्व के देशो मे असहयोग**—स्वर्णमान की सफलता इस बात पर निर्भर रहती है

कि विश्व के देशों में आर्थिक एवं राजनीतिक सहयोग हो। किन्तु युद्ध के कारण देशों में शत्रुता और वैमनस्य की भावना फैल गयी जिससे स्वर्णमान लागू नहीं रह सका।

(9) राष्ट्रवाद की भावना—प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व, विश्व में अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना विद्यमान थी तथा स्वतन्त्र आयात निर्यात पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं थे। किन्तु बाद में मन्दीकाल ने राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहित किया एवं अपने देश के हितों को दृष्टि में रखते हुए प्रत्येक देश ने प्रशुल्क और अन्य आयात नियन्त्रणों का सहारा लिया एवं आन्तरिक मूल्य स्थिरता को महत्त्व दिया। इस प्रकार संकीर्ण राष्ट्रवाद की भावना ने स्वर्णमान को तोड़ दिया।

(10) संकट का सामना करने में असमर्थ—स्वर्णमान की एक कमजोरी यह भी प्रकट हुई कि वह संकट का सामना करने में असमर्थ था तथा कठिनाई में डगमगाने लगता था। इसीलिए स्वर्णमान को अनुकूल परिस्थितियों का मित्र कहा जाता है।

(11) लागत और कीमतों में असन्तुलन—प्रथम एवं द्वितीय विश्व युद्ध की अवधि में विभिन्न देशों में लागतों और कीमतों के ढाँचे में इतना अधिक असन्तुलन हो गया कि उसे स्वर्णमान के अपने-आप समायोजन के द्वारा ठीक नहीं किया जा सका। फलस्वरूप स्वर्णमान भी टूटने लगा।

(12) स्वर्णमान देशों की पारस्परिक निर्भरता—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की यह विशेषता होती है कि एक स्वर्णमान वाले देश के परिवर्तनों का प्रभाव अन्य स्वर्णमान वाले देशों पर पड़ता है। यदि किन्हीं कारणों से एक स्वर्णमान वाले देश की आर्थिक स्थिति बिगड़ती है तो इसका प्रतिकूल अन्य देशों पर भी पड़ता है एवं प्रथम विश्व युद्ध में भी यही हुआ कि बड़े देशों के आर्थिक संकट के कारण छोटे देश भी नहीं बच सके।

इस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध के बाद कुछ ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियाँ पैदा हुईं कि अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान 1936 में टूट गया।

स्वर्णमान—वर्तमान स्थिति एवं भविष्य

अब इस बात की सम्भावना तो कल्पना के परे है कि 1914 के पूर्व के समान स्वर्णमान फिर से स्थापित किया जा सके। अब तो यह भी सम्भव नहीं दीखता कि किसी भी रूप में स्वर्णमान विद्यमान रह सके। इसका कारण यह है कि स्वर्णमान के लिए जो आवश्यक दशाएँ एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग चाहिए अब उसे स्थापित नहीं किया जा सकता।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना 1944 में ब्रेटनवुड्स में एक अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सम्मेलन के फलस्वरूप 1945 में हुई। इसमें यह अनुभव किया गया कि माप की अन्तर्राष्ट्रीय इकाई के रूप में स्वर्ण का रहना जरूरी है क्योंकि पूर्ण रूप से स्वर्ण का परित्याग कर विश्व मौद्रिक प्रणाली का संचालन सफलतापूर्वक नहीं किया जा सकता। मुद्रा कोष में यह प्रावधान रखा गया कि (i) प्रत्येक सदस्य देश अपने चलन का मूल्य सोने में परिभाषित करे, (ii) प्रत्येक सदस्य देश अपने कोटे का 25 प्रतिशत स्वर्ण में जमा करे, एवं (iii) कोष अपने पास से स्वर्ण के बदले किसी भी सदस्य देश की मुद्रा को खरीद सकता है।

इस प्रकार मुद्रा कोष ने अप्रत्यक्ष रूप से अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण विनिमय मान की स्थापना कर दी और द्वितीय विश्व युद्ध के बाद भी विश्व में स्वर्ण का प्रभुत्व बना रहा।

किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में सुधार करने के लिए जून 1972 में 20 सदस्य देशों (C-20) की कमेटी बनी जिसके सुझाव पर मुद्रा कोष में स्वर्ण का वर्चस्व समाप्त कर विशेष आहरण अधिकार (SDRs) को प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय रिजर्व परिसम्पत्ति की संज्ञा दी गयी। इसके फलस्वरूप स्वर्ण का अधिकृत मूल्य समाप्त कर दिया गया। मुद्रा कोष के कुल स्वर्ण के $\frac{1}{6}$ भाग की नीलामी का एवं $\frac{1}{6}$ भाग सदस्य देशों को लौटाने का निर्णय लिया गया।

इस प्रकार वर्तमान में विश्व मौद्रिक प्रणाली में स्वर्ण का स्थान समाप्त हो गया है एवं

अधिकृत रूप के SDRs को अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के रूप में भी स्वीकार किया गया है। किन्तु निश्चित ही SDRs की भारी माँग बढ़ेगी और कोष के ऊपर भारी दबाव पड़ेगा। अतः कुछ मौद्रिक अर्थशास्त्रियों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर निजी लेन-देनों का भुगतान स्वर्ण के माध्यम से होना चाहिए एवं सरकारी लेन-देन SDRs के माध्यम से। जिन लोगों के पास स्वर्ण है, वे अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन के प्रयोग से स्वर्ण को समाप्त नहीं करना चाहेंगे अतः यह अच्छा है कि निजी लेन-देन में स्वर्ण विद्यमान रहा आये।

नवीनतम समाचारों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के करार सम्बन्धी नियमों में द्वितीय संशोधन के अनुसार जो 1 अप्रैल, 1978 से लागू हो गया है, SDR के मूल्य की इकाई के रूप में सोने का महत्व समाप्त हो गया है। अभी तक सोने का अधिकारिक मूल्य 35 SDR प्रति औंस था। सोने का अधिकारिक मूल्य समाप्त किये जाने से कोष से सदस्य देश बाजार में अधिकारिक मूल्य के बिना सोने में काम-काज के लिए स्वतन्त्र हैं।[1]

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के सफलतापूर्वक कार्य करने के लिए आवश्यक दशाओं का उल्लेख कीजिए। इसके अन्तर्गत विनिमय दर निर्धारण में स्वर्ण-बिन्दुओं के महत्व को समझाइए ?
2. अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के असफल होने के कारणों की विवेचना कीजिए ? क्या स्वर्णमान को पुनः स्थापित किया जा सकता है ?
3. अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान को परिभाषित करते हुए उसके गुण-दोषों की समीक्षा कीजिए ?
4. स्वर्णगतियों के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए यह समझाइए कि इससे भुगतान-शेष की प्रतिकूलता किस प्रकार अपने आप ठीक हो जाती है ?
5. "वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में स्वर्ण को सिंहासन पर से उतार दिया गया है और अब उसका कोई भविष्य नहीं है।" इस कथन की समीक्षा कीजिए ?
6. प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व की उन परिस्थितियों का उल्लेख कीजिए जो स्वर्णमान में सहायक थी। युद्ध के बाद ये परिस्थितियाँ किस प्रकार परिवर्तित हुई ?

Selected Readings

1. Haberler — *The Theory of International Trade*
2. Ellsworth — *The International Economy.*
3. D. M. Mithani — *Introduction to International Economics*
4. Crowther : *An Outline of Money.*
5. Crowther — *The Post-war Monetary Plan*
6. Gregory . *Gold Standard & Its Future.*
7. Halm . *International Monetary Co-operation.*

1 *Nav Bharat Times*, Bombay, 16th April, 1978.

है। ब्रिटिश सरकार ने 1932 में इस उद्देश्य से विनिमय समानीकरण कोष (Exchange Equalization Fund) की स्थापना की थी।[1]

2. विनिमय प्रतिबन्ध (Exchange Restrictions)—विनिमय प्रतिबन्ध का आशय उस नीति से है जिसके अन्तर्गत एक देश की सरकार विनिमय बाजार में आवश्यक रूप से अपने देश की मुद्रा की पूर्ति को घटा देती है। इस प्रकार घरेलू मुद्रा की पूर्ति को घटाकर उसकी विनिमय दर को कायम रखा जाता है।

विनिमय प्रतिबन्ध के तीन प्रकार हो सकते है—

(i) सरकार विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय को अपने पास अथवा देश के केन्द्रीय बैंक के पास केन्द्रित कर लेती है।

(ii) विदेशी मुद्रा के बदले देश की मुद्रा का विनिमय करने के पहले, लोगों को सरकार की अनुमति लेनी होती है।

(iii) सरकार के निर्देश के अनुसार विदेशी विनिमय सम्बन्धी सारे लेन-देन सरकारी एजेन्सियों के माध्यम से ही किये जाते है। इस सम्बन्ध में सरकारी निर्देशों का उल्लंघन दण्डनीय अपराध माना जाता है।

सन 1931 मे जर्मनी और आस्ट्रेलिया ने विनिमय प्रतिबन्धों को लागू किया था।

विनिमय प्रतिबन्ध के कई रूप हो सकते है किन्तु उसके दो प्रमुख रूप ये हैं—

(1) अवरुद्ध खाते (Blocked Accounts),

(2) बहु-विनिमय दरें (Multiple Exchange Rates)।

अब हम इन्हे विस्तार से समझेंगे—

(1) अवरुद्ध खाते—अवरुद्ध खाते की प्रणाली विनिमय प्रतिबन्ध की नयी रीति है जिसका प्रयोग 1931 के बाद किया गया। अपनी मुद्रा को हस्तान्तरित करने की कठिनाई के सन्दर्भ में, उसकी स्थिरता बनाये रखने की भावना ने "अवरुद्ध खातों" की प्रणाली को जन्म दिया। विनिमय प्रतिबन्ध की इस प्रणाली का प्रयोग एक देश मे आर्थिक संकट के समय विदेशी मुद्रा की निकासी को हतोत्साहित करने के लिए अथवा विदेशी ऋणदाताओं को युद्ध काल मे उनके ऋणों को प्रतिबन्धित करने के उद्देश्य से किया जाता है। इस प्रकार अवरुद्ध खाते का प्रमुख उद्देश्य एक ऋणी देश को मुद्रा के मूल्य ह्रास से बचाकर उसके हितों की रक्षा करना है।

अवरुद्ध खातों का कुछ भी उद्देश्य हो, इसका सम्बन्ध विदेशी विनिमय बाजार मे घरेलू मुद्रा की पूर्ति पर प्रतिबन्ध लगाना है। एक देश के नागरिकों को ऋणों की अदायगी, ब्याज का भुगतान अथवा आयातो के भुगतान के लिए जो भी भुगतान विदेशो को करना होता है, उसे देश के केन्द्रीय बैंक मे जमा कर अवरुद्ध कर दिया जाता है तथा इसका प्रयोग विदेशियों अथवा निष्कासित नागरिको द्वारा नही किया जा सकता। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक मे जो राशि जमा की जाती है, वह विदेशी साहूकारो के नाम मे जमा रहती है किन्तु यह राशि विदेशियों को उनकी मुद्रा मे उपलब्ध नही होती। किन्तु यदि नियन्त्रित करने वाले देश मे खरीदी के लिए इसका प्रयोग किया जा सकता है। कभी-कभी विदेशियों को इस शर्त पर अपने कोष प्राप्त हो सकते है कि वे अवरुद्ध खाते में जमा राशि को भारी कटौती के घाटे मे बेच दें। इस प्रकार यदि ऋणदाता और ऋणी देशों के दृष्टिकोण से देखा जाय तो अवरुद्ध खातो मे जमा की गयी राशि एक प्रकार से ऋणो का समझौता है।

सन् 1931 के लगभग मध्य यूरोप के छोटे देशो पर विदेशी ऋण का अधिक भार था और उनके सामने इनके भुगतान की भारी कठिनाई थी। इन देशो ने कुछ समय तक तो अपने

[1] इसी अध्याय में अन्त मे इसका विस्तृत विवरण देखें।

विदेशी विनिमय कोषो पर भारी दबाव सहकर ऋणो का भुगतान किया किन्तु अन्त में इन देशों ने "अवरुद्ध खाते" की प्रणाली को अपनाया। इन देशो में जर्मनी का नाम सबसे महत्वपूर्ण है जिसने अपने देश की मुद्रा मार्क को निम्न रूपो मे अवरुद्ध किया—रजिस्टर्ड मार्क (Registered Marks), साख-मार्क (Credit Marks), सिक्यूरिटी मार्क (Security Marks) एवं स्क्रिप्स (Scips)।

अवरुद्ध खाते के प्रभाव (Implications of Blocked Accounts)—कुछ लोगो का विश्वास है कि जो राशि अवरुद्ध खाते मे जमा कर दी जाती है वह स्वर्णकोषो के समान निष्क्रिय हो जाती है। परन्तु ऐसी बात नही है। अवरुद्ध खातो मे जमा राशि को अतिरिक्त लेन-देन के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है तथा इस राशि को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निकाला जा सकता है। कुछ मामलो मे इस राशि के प्रयोग हेतु विदेशी ऋणदाताओ की अनुमति लिए हो, ऋण प्रदान करने के लिए अप्रत्यक्ष रूप से इसका प्रयोग किया जाता है।

जहाँ तक अवरुद्ध खातो के प्रभाव का प्रश्न है, इस सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियों मे दो प्रकार के विचार हैं—पहली विचारधारा के अनुकूल यदि अवरुद्ध खातो मे जमा राशि का प्रयोग ऋणी देश द्वारा नही किया जाता तो उसके कुछ वित्तीय साधन निष्क्रिय हो जाते हैं तथा उसका प्रभाव मुद्रा सकुचन के समान होता है। दूसरी विचारधारा के अनुसार जितनी मात्रा मे अवरुद्ध खाती की राशि का प्रयोग ऋण देने या विनियोग के लिए किया जाता है तो इससे साख का दोहरापन (Duplication of Credit) होता है तथा इसके मुद्रा स्फीतिक प्रभाव होते है। वास्तव मे अवरुद्ध खातों का प्रभाव इस बात पर निर्भर रहता है कि किन परिस्थितियो के अन्तर्गत उनका निर्णय किया गया एव किन उद्देश्यो के लिए उनका प्रयोग किया जाता है।

सीमाएँ (Limitations)—अवरुद्ध खाता प्रणाली की मुख्य दो सीमाएँ है—

(i) इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है एव वह घटकर न्यूनतम हो जाता है।

(ii) इससे विदेशी विनिमय की चोर बाजारी को प्रोत्साहन मिलता है।

(2) बहु विनिमय दरें (Multiple Exchange Rates)—विनिमय प्रतिबन्ध की दूसरी रीति है बहु-विनिमय दरें। इस प्रणाली के अन्तर्गत एक देश मे आयातो एव निर्यातो के लिए विभिन्न विनिमय दरें निर्धारित की जाती है और यहाँ तक कि विभिन्न वस्तुओ के आयतो एव विभिन्न वस्तुओ के निर्यातों के लिए भी अलग-अलग विनिमय दरें निर्धारित की जाती हैं। इसका उद्देश्य है कि निर्यातो में वृद्धि कर एव आयतो मे कटौती कर दुर्लभ विदेशी विनिमय को अधिक मात्रा मे प्राप्त किया जा सके। सबसे पहले 1930 मे जर्मनी मे इसका प्रयोग किया गया किन्तु यह इतनी प्रभावपूर्ण सिद्ध हुई कि अन्य देशो ने भी इसका प्रयोग किया। बहु विनिमय दरो के अन्तर्गत या तो दोहरे दर की प्रणाली हो सकती है या मिश्रित बहु विनिमय दरें हो सकती हैं जो इस प्रकार है—

(i) दोहरे दर की प्रणाली (Dual Rate Systems)—बहु विनिमय दरो की सबसे सरल प्रणाली दोहरे दर की प्रणाली है जिसमे विनिमय की दो दरें होती हैं—एक सरकारी दर (Official Rate) और दूसरी स्वतन्त्र दर (Free Rate)। सरकारी दर ऊँचे स्तर पर उन निर्यातो के लिए निश्चित की जाती है जिसमे देश को अधिक लाभ होता है। इसका उद्देश्य व्यापार की शर्तों मे सुधार करना होता है। यही दर उन आयातो के लिए भी निश्चित की जाती है जो देश के लिए आवश्यक होते हैं।

उक्त निर्यातो एवं आयातो को छोड़कर अन्य आयात निर्यात स्वतन्त्र दर पर किये जाते हैं। इनमे वे निर्यात शामिल होते हैं जिनको प्रोत्साहन देना आवश्यक होता है तथा आयातो मे

गैर आवश्यक और विलासिता की वस्तुएँ शामिल होती है। इन आयातो एव निर्यातो की पूर्ति एवं मांग के आधार पर ही विनिमय की सन्तुलन दर (स्वतन्त्र दर) निर्धारित होती है। दोहरे दर की प्रणाली के अन्तर्गत विदेशी विनिमय अधिकारियो का प्रमुख कार्य सरकारी दर का समर्थन करना अथवा उसे मजबूत बनाये रखना है। यदि विनिमय की स्वतन्त्र दर मे एक दम परिवर्तन होने लगते है तो सरकार स्वतन्त्र बाजार मे विदेशी विनिमय खरीदकर अथवा बेचकर उसे स्थिर बनाये रखने का प्रयत्न करती है। कभी-कभी उक्त स्थिति न आने देने के लिए सरकार स्वतन्त्र दर पर होने वाले लेन-देन सीमित कर देती है जिससे विदेशी विनिमय मे काले बाजार को प्रोत्साहन मिलता है।

(ii) निश्चित बहु विनिमय दरें (Fixed Multiple Rates)—इसके अन्तर्गत निर्यात एव आयात की विभिन्न वस्तुओ के लिए अलग-अलग विनिमय दरें निश्चित कर दी जाती है। निर्यात की जिन वस्तुओं के लिए विश्व बाजार मे कठिन प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है, उनके लिए न्यूनतम दरें निश्चित की जाती हैं। यही दरें देश के लिए आवश्यक आयातो के लिए भी तय की जाती है। फिर अन्य निर्यातो एव आयातो के लिए उनके महत्व के अनुसार विनिमय दरें चढते हुए क्रम मे निश्चित की जाती हैं।

बहु विनिमय दरों के पक्ष मे तर्क

बहु विनिमय दरो के पक्ष मे निम्न तर्क दिये जाते है

(i) **भुगतान शेष में घाटे को ठीक करने के लिए**—एक देश के भुगतान शेष मे घाटे का सुधार करने के लिए बहु-विनिमय दरो का प्रयोग किया जा सकता है। जिन वस्तुओ के निर्यात को प्रोत्साहन दिया जाता है उनके लिए विनिमय की कम दर लागू की जा सकती है। विशेष रूप मे विकासशील देशो मे जब देश मे आन्तरिक असन्तुलन के कारण निर्यातो मे कमी होने लगती है तो बहु-विनिमय दरों का प्रयोग कर निर्यात के स्तर को बनाये रखा जा सकता है। विनिमय ह्रास (Exchange Depreciation) की तुलना मे, भुगतान शेष के घाटे को ठीक करने के लिए बहु-विनिमय दरो की रीति अधिक प्रभावशाली है।

(ii) **पूंजी के बहिर्गमन को रोकने के लिए**—देश मे घरेलू अथवा विदेशी पूँजी के बहिर्गमन को रोकने के लिए भी बहु-विनिमय दरों का प्रयोग किया जा सकता है। देश मे बाहर जाने वाली पूँजी के लिए विनिमय की न्यून दर लागू कर उसे हतोत्साहित किया जा सकता है। साथ ही नयी पूँजी को देश मे प्रोत्साहित करने के लिए विदेशी पूँजी को अनुकूल विनिमय दरें निश्चित की जा सकती हैं। देश मे विदेशी पूँजी का प्रयोग आर्थिक विकास के अनुरूप करने के लिए बहु-विनिमय दरो का प्रयोग किया जाता है।

(iii) **आयातों को आर्थिक सहायता अथवा उनका नियन्त्रण**—बहु-विनिमय दरो के माध्यम से पूँजीगत वस्तुओ, तकनीकी ज्ञान एवं आवश्यक कच्चे माल के आयात को प्रोत्साहित किया जा सकता है तथा अनावश्यक एव विलासितापूर्ण सामग्री के आयातो को हतोत्साहित किया जा सकता है। विकासशील देशों मे विकास के लिए पूंजीगत वस्तुओ को तो आयात करना पडता है किन्तु अन्य वस्तुओ के आयात को नियन्त्रित करना पडता है जिसे सरकार बहु विनिमय दरो के माध्यम से कर सकती है।

(iv) **सरकार के लिए आय का स्रोत**—जब विदेशी विनिमय की क्रय-विक्रय की दर मे भारी अन्तर होता है तो बहु विनिमय दरो मे सरकार को काफी आय होती है। सरकारी आयातो के लिए अनुकूल विनिमय दरों को लागू कर, सरकारी व्यय को कम किया जा सकता है। अप्रत्यक्ष रूप से भी बहु-विनिमय दरें सरकारी आय को प्रभावित करती हैं। यदि इन दरो के कारण घरेलू उद्योगो को प्रोत्साहन मिलता है तो इन पर लगाये गये करो के माध्यम से सरकार को आय प्राप्त होती है।

(v) पूँजी निर्माण के लिए—बहु विनिमय दरें देश में पूँजी निर्माण को भी प्रभावित करती हैं क्योंकि इसका सापेक्षिक कीमतों पर प्रभाव पड़ता है। पूंजीगत वस्तुओं के लिए सापेक्षिक रूप से नीची कीमतें रखकर उक्त उद्देश्य की पूर्ति की जा सकती है। अप्रत्यक्ष करों, मुद्रा प्रसार और आय कर की तुलना में बहु-विनिमय दरें, पूँजी निर्माण में अधिक सहायक सिद्ध हुई हैं।

(vi) किसी विशेष देश के भुगतान शेष के घाटे को ठीक करने के लिए—यह सम्भव है कि एक देश का किसी विशेष देश के साथ भुगतान-शेष में घाटा हो जबकि कुल मिलाकर विश्व के साथ उसका अतिरेक हो। अब यदि यह देश अपने घाटे को ठीक करने के लिए अपनी विनिमय दरों को सब देशों के लिए कम कर देता है तो यह उसके हित में नहीं होगा अतः उसके लिए यह बेहतर है कि वह केवल उस देश के लिए ही अपनी विनिमय दर कम करे जिसके साथ उसके भुगतान शेष में घाटा है तथा यह बहु-विनिमय दरों के द्वारा ही सम्भव है।

(vii) परिमाणात्मक प्रतिबन्धों की तुलना में श्रेष्ठ—विदेशी विनिमय को नियन्त्रित करने के लिए परिमाणात्मक प्रतिबन्धों (Quantitative Restrictions) का प्रयोग किया जाता है किन्तु इसमें कई कठिनाइयां आती हैं जैसे विभिन्न प्रयोगों एवं आयातकों को विदेशी विनिमय की मात्रा निर्धारित करते समय भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलता है एवं विलम्ब होता है किन्तु बहु-विनिमय दरों का प्रयोग कर इन कठिनाइयों को दूर किया जा सकता है क्योंकि यह प्रणाली कीमत-तन्त्र के माध्यम से अपने आप कार्य करती है।

(viii) निर्यातों से होने वाले असामान्य लाभों की प्राप्ति के लिए—यदि देश में निर्यात वस्तुओं की कमी के कारण निर्यातकों को असामान्य लाभ प्राप्त होता है तो बहु-विनिमय दरों का प्रयोग कर उक्त लाभ को सरकार प्राप्त कर सकती है। किन्तु यहाँ इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि विनिमय दर इतनी ऊँची न की जाये कि निर्यातों की पूर्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े विशेष रूप से उस स्थिति में जब निर्यात वस्तुओं की कमी अस्थायी हो।

बहु-विनिमय दरों के विपक्ष में तर्क

बहु-विनिमय दरों के विपक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं :

(i) देशों के साथ भेद-भाव—बहु-विनिमय दरों के अन्तर्गत विशिष्ट देशों के साथ भेद-भाव किया जाता है क्योंकि उनके लिए अलग विनिमय दरें निर्धारित की जाती हैं। इससे ऐसे देशों में विरोध की भावना पनपती है जिसका अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए अपने भुगतान-शेष के असन्तुलन को ठीक करने के लिए एक देश कुछ निर्यातों के लिए तो अनुकूल विनिमय दर निर्धारित करता है तथा कुछ आयातों के लिए प्रतिकूल विनिमय दर तय करता है जिसका निर्यातक देशों पर हानिकारक प्रभाव होता है।

(ii) भ्रष्टाचार एवं अवांछनीय तत्वों को प्रोत्साहन—बहु-विनिमय दरों को मनमाने ढंग से निश्चित किया जाता है जिससे भ्रष्टाचार एवं काला-बाजारी को प्रोत्साहन मिलता है। यदि किसी विशेष वस्तु के आयात के लिए निश्चित दर निर्यात की तुलना में कम है तो आयात की गयी वस्तुओं को या तो उसी रूप में अथवा उसमें थोड़ा सा परिवर्तन कर उसे पुनः निर्यात कर दिया जाता है। यदि आयात और निर्यात की दरों में अधिक अन्तर होता है तो उक्त पुनः निर्यात की मात्रा भी अधिक होती है।

(iii) विकासशील देशों को आय बढ़ाने के लिए अनुपयुक्त—आलोचकों का मत है कि विकासशील देशों में विदेशी विनिमय में वृद्धि करने एवं विदेशी मुद्रा के व्यय में कटौती करने के लिए बहु-विनिमय दरों की प्रणाली उपयुक्त नहीं है। इन देशों के निर्यातों एवं आयातों में होने वाले परिवर्तन विदेशी मुद्रा के सन्दर्भ में विश्व की कीमतों को प्रभावित नहीं कर पाते अतः विशेष रूप से छोटे विकासशील देशों की विदेशी मुद्रा की आय में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हो पाती।

(iv) आर्थिक विकास की वित्तीय व्यवस्था के लिए उपयुक्त नहीं—आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि वित्तीय साधनों की सतत व्यवस्था हो किन्तु बहु-विनिमय दरों से प्राप्त होने वाली आय सतत और निश्चित नहीं होती और यदि विनिमय दर के निर्धारण में आय प्राप्त करना ही प्रमुख उद्देश्य होता है तो फिर भुगतान-शेष में सुधार का उद्देश्य अर्थहीन हो जाता है। यदि विनिमय दर सही रूप से निर्धारित नहीं की जाती तो बहु-विनिमय दरों से काफी हानियाँ होने की सम्भावना रहती है। बहु-विनिमय दरों से प्राप्त होने वाली आय कर-निर्धारण के समानता सिद्धान्त के अनुरूप भी नहीं होती।

(v) आयातों को नियन्त्रित करने में अनुपयुक्त—बहु-विनिमय दरें, आयातों की संरचना को परिवर्तित करने अथवा आयातों को नियन्त्रित करने में अधिक सफल नहीं होतीं। विशेष रूप से जब आयातों की माँग बेलोचदार होती है तो आयात नियन्त्रित नहीं हो पाते। विकासशील देश मुख्य रूप से पूँजीगत वस्तुओं, तकनीकी ज्ञान एवं खाद्यान्न का आयात करते हैं जिनकी माँग बेलोचदार होती है।

(vi) प्रबन्ध की समस्या—बहु-विनिमय दरों की सबसे प्रमुख समस्या उनके प्रबन्ध करने की है। इसके अन्तर्गत अलग-अलग वर्गों के लिए अलग-अलग विनिमय दरें निर्धारित करना आवश्यक होता है जिसका प्रबन्ध कुशलता से सम्भव नहीं हो पाता। यदि निर्यातों एवं आयातों के वर्गीकरण की संख्या अधिक होती है तो बहु-विनिमय दरों के प्रबन्ध की समस्या और भी कठिन हो जाती है।

बहु विनिमय दरों का मूल्यांकन (Evaluation of Multiple Exchange Rates)

विनिमय नियन्त्रण की विधि के रूप में बहु विनिमय दरों को अधिक प्रभावशाली माना जाता है क्योंकि इसके कुछ निश्चित लाभ होते हैं किन्तु इससे कुछ अनिश्चितताओं का भी जन्म होता है। एक प्रकार से बहु-विनिमय दरों को आंशिक अवमूल्यन (Partial Devaluation) कहा जा सकता है जहाँ कीमतों के माध्यम से विदेशी विनिमय का राशनिंग किया जाता है। जहाँ तक अन्य परिमाणात्मक प्रतिबन्धों का प्रश्न है उनकी तुलना में बहु-विनिमय दरों का प्रबन्ध कुशलता से किया जा सकता है।

किन्तु उक्त लाभों के बावजूद भी बहु-विनिमय दरों की अपनी सीमाएँ होती हैं जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। प्रो. एल्सवर्थ के अनुसार, "विशेष रूप से इस सन्दर्भ में यह *तथ्य महत्वपूर्ण है कि जब निर्यातों के लिए विनिमय की रियायती दरें प्रदान की जाती हैं तो* यह केवल कुछ निर्यातों पर ही लागू होती है एवं इसका प्रभाव कुछ प्रतियोगी देशों पर ही होता है। सही रूप में यह एक अनुचित प्रतियोगिता है जिसे विनिमय दरों में और अधिक परिवर्तन कर ज्यादा विषम और भयकर बना दिया जाता है।"[1]

3 विनिमय समाशोधन समझौते (Exchange Clearing Agreements)—जब दो देश कोई इस प्रकार का समझौता करते हैं कि एक दूसरे के भुगतानों को इस प्रकार एक दूसरे के द्वारा चुकता कर दिया जाय कि उन्हें विदेशी विनिमय बाजार में जाने की आवश्यकता न पड़े तो इसे विनिमय समाशोधन-समझौता कहते हैं। इसके अन्तर्गत दो आपस में व्यापार करने वाले देश अपने विदेशी ऋणों की राशि अपने केन्द्रीय बैंक में जमा कर देते हैं। फिर ये केन्द्रीय बैंक दोनों देशों के समझौते के अनुसार मुद्रा की विनिमय दर निर्धारित कर एक दूसरे के ऋणों का भुगतान करते हैं। समाशोधन समझौते की प्रणाली उस देश के लिए अधिक उपयुक्त होती है जिसके पास विदेशी

1 P. T. Ellsworth, *op. cit.*, p. 380.

विनिमय रिजर्व की मात्रा बहुत कम होती है अथवा बिल्कुल नहीं होती और जो विदेशों से माल खरीदने की तुलना में, बेचने में अधिक अभिरुचि रखता है। इस प्रणाली में यह मान्यता निहित रहती है कि उक्त समझौते करने वाले देशों को अपने आयातों एवं निर्यातों में सन्तुलन बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिए ताकि अन्य देश को भुगतान करने या उससे भुगतान प्राप्त करने की आवश्यकता न हो। सन् 1930 की विश्वव्यापी मन्दी के समय बहुत से यूरोपीय देशों ने उक्त रीति का अनुसरण किया था। विनिमय प्रतिबन्ध की तुलना में समाशोधन समझौते की प्रणाली अधिक लाभप्रद है क्योंकि इसमें अधिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्भव है।

विनिमय समाशोधन समझौते की सीमाएँ

(i) इसके अन्तर्गत विकसित एवं सशक्त देशों द्वारा कमजोर देशों के शोषण की सम्भावना रहती है।

(ii) यह प्रणाली विदेशी विनिमय बाजार को महत्वहीन बना देती है तथा इसमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा भी सीमित हो जाती है।

(iii) इस प्रणाली में यह भी आवश्यक होता है कि समस्त भुगतानों को एकत्रित किया जाय जिसमें कठिनाई होती है।

(iv) इस प्रणाली में व्यापार की द्विपक्षीय प्रवृत्ति भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को सामान्य नहीं रहने देती।

4. **भुगतान समझौते (Payment Agreements)**—जो देश विनिमय नियन्त्रण अपनाता है अन्य देशों की नजर में उसकी स्थिति सन्देहपूर्ण हो जाती है जिससे ये देश विनिमय-नियन्त्रण वाले देश को निर्यात नहीं करते क्योंकि उन्हें भुगतान प्राप्त होने की आशा नहीं रहती। अब यदि विनिमय नियन्त्रण वाला देश वस्तुओं का आयात करना चाहता है तो वह निर्यात करने वाले देशों के साथ भुगतान का समझौता करता है जिसके अनुसार विनिमय नियन्त्रण वाले देश को उस औसत मूल्य से कम मूल्य का माल आयात करने की अनुमति दी जाती है जो वह पिछले कुछ महीनों में आयात करता रहा है। इस प्रणाली के अन्तर्गत निर्यात करने वाले देश के केन्द्रीय बैंक के निर्देश पर शीघ्र ही आयात करने वाले देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा भुगतान कर दिये जाते हैं अतः भुगतानों में कोई विलम्ब नहीं लगता। ये भुगतान समझौते प्रथम एवं द्वितीय विश्व युद्ध की अवधि में कई देशों द्वारा अपनाये गये। यद्यपि भुगतान समझौते, समाशोधन समझौतों से प्रणाली में भिन्न होते हैं पर दोनों प्रभाव में प्रायः समान ही होते हैं।

भुगतान समझौतों का मुख्य लाभ यह होता है कि निर्यात एवं आयात करने वाले देशों में प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं। फिर भी इस प्रणाली के कुछ दोष भी हैं जो इस प्रकार हैं—

(i) दो देशों के लेखों में जो भी शेष होता है उसका प्रयोग केवल एक दूसरे के भुगतान के लिए ही किया जा सकता है, अन्य के लिए नहीं।

(ii) केवल अविकृत भुगतानों का ही लेन-देन किया जा सकता है।

5. **स्वर्ण नीति (Gold Policy)**—स्वर्ण के क्रय एवं विक्रय की कीमतों में परिवर्तन करके भी विनिमय नियन्त्रण को प्रभावशील बनाया जा सकता है। इसका प्रभाव स्वर्ण बिन्दुओं पर पड़ता है जो विनिमय दर को प्रभावित करते हैं। सन् 1936 में इंगलैण्ड, फ्रान्स एवं अमेरिका में एक त्रिपक्षीय समझौता हुआ जिसमें स्वर्ण के क्रय विक्रय के मूल्य उस बिन्दु पर निश्चित किये गये जहाँ इन देशों ने विनिमय दर को निर्धारित करना चाहा और इस प्रकार विनिमय दरों को नियन्त्रित किया गया।

6. **यथास्थिर समझौते (Stand-Still Agreements)**—इसके अन्तर्गत समझौता करने वाले देशों के बीच पूंजी के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं और विदेशी ऋणों को

सुविधानुसार धीरे-धीरे चुकाने का समझौता किया जाता है। यह एक प्रकार का ऐसा उपाय है जिसके अन्तर्गत अल्पकालीन विदेशी ऋणों को समझौते के अनुसार स्थगित कर, पूँजी के बहिर्गमन को रोक दिया जाता है ताकि देश की स्थिति में सुधार किया जा सके। या तो अल्पकालीन ऋणों को दीर्घकालीन ऋणों में परिवर्तित कर दिया जाता है अथवा उसके क्रमश: भुगतान की व्यवस्था की जाती है। 1931 के बाद जर्मनी में इसका प्रयोग किया गया था।

7 विलम्बकाल हस्तान्तरण (Transfer Moratoria)—इसके अन्तर्गत विदेशी ऋणों का भुगतान तत्काल न किया जाकर कुछ समय पश्चात् किया जाता है। इस व्यवस्था में माल का आयात करने वाले देश अपने ऋणों का भुगतान अपने देश की ही मुद्रा में किसी अधिकृत बैंक में करते हैं एवं निश्चित अवधि के बाद विदेशियों को उसका भुगतान किया जाता है। भुगतान करने में जो समय मिलता है, उसमें देश की सरकार विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यक समायोजन कर लेती है।

विनिमय नियन्त्रण की अप्रत्यक्ष विधियाँ

(1) ब्याज की दरों में परिवर्तन (Changes in the Rates of Interest)—ब्याज की दरों में परिवर्तन अप्रत्यक्ष रूप में विदेशी विनिमय दर को प्रभावित करता है। यदि ब्याज की दर में वृद्धि कर दी जाय तो ऐसे देश में विदेशी पूँजी एवं बैंकिंग कोष आकर्षित होते हैं एवं देश की पूँजी विदेशों को नहीं जाती। इन सबका प्रभाव यह होता है कि घरेलू मुद्रा की माँग बढ़ जाती है तथा विनिमय दर देश के पक्ष में हो जाती है। यदि ब्याज की दरों में कमी कर दी जाय तो इसके ठीक विपरीत प्रभाव होते हैं तथा विनिमय दर देश के प्रतिकूल हो जाती है।

जर्मनी ने 1924 और 1930 के बीच की अवधि में ब्याज की दरों में परिवर्तन कर काफी मात्रा में विदेशी कोषों को आकर्षित किया।

(2) आयात कर एवं अभ्यंश (Tariff Duties and Import Quotas)—विनिमय नियन्त्रण की अप्रत्यक्ष विधियों में आयात कर अथवा आयात-अभ्यंश के माध्यम से आयातों को नियन्त्रित करना सबसे महत्वपूर्ण है। आयातों को नियन्त्रित करने का प्रभाव यह होता है कि विदेशी विनिमय बाजार में ऐसे देश की मुद्रा की पूर्ति कम हो जाती है। जो देश अपनी मुद्रा के विनिमय मूल्य को ऊँचे बिन्दु पर रखना चाहते हैं, वे इस विधि का प्रयोग करते हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जब आयात करों एवं अभ्यंशों का प्रयोग किया जाता है तो विनिमय दर इनका प्रयोग करने वाले देश के पक्ष में हो जाती है। सन् 1936 के पहले फ्रांस ने इसी विधि का प्रयोग कर अपने भुगतान सन्तुलन की विषमता को दूर करने का प्रयत्न किया था।

(3) निर्यात प्रोत्साहन (Export Bounties)—निर्यातों में रियायत अथवा सहायता प्रदान कर उन्हें प्रोत्साहित किया जा सकता है और इस प्रकार विदेशी विनिमय बाजार में घरेलू मुद्रा की माँग में वृद्धि की जा सकती है। इसका प्रभाव यह होता है कि देश की मुद्रा के बाह्य मूल्य में वृद्धि हो जाती है अर्थात् विनिमय दर ऐसे देश के पक्ष में हो जाती है। इस रीति का प्रयोग सर्वप्रथम जर्मनी ने किया था।

विनिमय नियन्त्रण की अप्रत्यक्ष विधियाँ—एक मूल्यांकन

जहाँ तक विनिमय नियन्त्रण की अप्रत्यक्ष विधियों का प्रश्न है, प्रायः इनका प्रयोग विनिमय नियन्त्रण की अपेक्षा अन्य कारणों से किया जाता है क्योंकि आयात कर का मूल उद्देश्य तो आयातों को कम करना तथा निर्यात छूट का मूल उद्देश्य निर्यातों को प्रोत्साहन देना है। विनिमय नियन्त्रण में इनका अप्रत्यक्ष प्रयोग उसी समय सम्भव है जब इन्हें केवल विदेशी विनिमय के संरक्षण के उद्देश्य से ही प्रयुक्त किया जाय। इनका प्रभाव अप्रत्यक्ष इसलिए होता है क्योंकि विदेशी विनिमय बाजार पर इनका कोई प्रत्यक्ष हस्तक्षेप नहीं होता। किन्तु इन विधियों की अपनी कुछ सीमाएँ होती हैं।

जैसे यदि कोई देश अपने आयातों को सीमित करता है और यदि अन्य देश भी ऐसा ही करने लगते हैं तो विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य ही विफल हो जाता है और फिर आयात करों से आयातों को पूर्ण रूप से नियन्त्रित भी नहीं किया जा सकता। निर्यातों को छूट देने के लिए भी यह आवश्यक है कि राजस्व कोष पर्याप्त हो। इसी प्रकार ब्याज की दरों में परिवर्तन करके भी विनिमय दरों को प्रभावित नहीं किया जा सकता तथा ब्याज की दरों में असीमित मात्रा में वृद्धि भी नहीं की जा सकती क्योंकि इससे मन्दी का भय बना रहता है।

विनिमय नियन्त्रण के प्रभाव (Effects of Exchange Control)

विनिमय नियन्त्रण के निम्न प्रभाव होते हैं :

(i) **संरक्षणात्मक प्रभाव**—विनिमय नियन्त्रण का प्रभाव निषेधात्मक आयात करों (Prohibition Tariff) के समान होता है जिसके अन्तर्गत विलासिता की एवं गैर आवश्यक वस्तुओं के आयात के लिए विदेशी विनिमय के प्रयोग पर रोक लगा दी जाती है। किन्तु संरक्षणात्मक *प्रभाव सदैव एक समान न होकर परिवर्तनशील होता है।*

(ii) **व्यापार चक्रीय प्रभाव**—विनिमय नियन्त्रण का यह प्रभाव भी होता है कि इससे एक देश ऐसी नीतियों को अपना सकता है जिससे मन्दी को रोका जा सके अथवा आर्थिक पुनरुत्थान को शीघ्र प्राप्त किया जा सके।

(iii) **व्यापार की शर्तों पर प्रभाव**—विनिमय नियन्त्रण का प्रभाव बहुधा एक देश की व्यापार की शर्तों में परिवर्तन करने से सम्बन्धित होता है अर्थात् स्वतन्त्र रूप में जो व्यापार की शर्तें होतीं उनकी अपेक्षा व्यापार की शर्तें अधिक अनुकूल हो जाती हैं।

एक देश निम्न विधियों से अपनी व्यापार की शर्तों में सुधार कर सकता है :

(A) आयात करों में वृद्धि करके अथवा अभ्यंशों को निर्धारित करके,

(B) विदेशों को दिये जाने वाले ऋणों में कमी करके, एवं

(C) विनिमय नियन्त्रण के माध्यम से मुद्रा का अधिमूल्यन करके।

(iv) **देशों के साथ भेदभाव पूर्ण व्यवहार**—विनिमय नियन्त्रण का मुख्य प्रभाव भेदभाव पूर्ण व्यापारिक सम्बन्धों को जन्म देना है। यह भेद-भाव दो प्रकार का हो सकता है :

(A) निर्यातों के क्षेत्र में भेद-भाव पूर्ण नीति अर्थात् विभिन्न देशों के साथ अलग-अलग व्यवहार, एवं

(B) एक ही देश को विभिन्न निर्यातों की वस्तुओं में भेद-भाव।

विनिमय नियन्त्रण की सीमाएँ अथवा दोष

विनिमय नियन्त्रण की विभिन्न विधियों के जहाँ कुछ गुण है, वहाँ उनके कुछ दोष भी है। जहाँ तक विनिमय नियन्त्रण से भुगतान शेष के असन्तुलन को दूर करने का प्रश्न है, यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि विनिमय नियन्त्रण समस्या का समाधान नहीं है, यह तो स्थिति को और अधिक भयंकर होने से बचाने का उपाय भर है।

विनिमय नियन्त्रण की निम्न सीमाएँ हैं

(i) विनिमय नियन्त्रण विश्व व्यापार में बाधक होता है तथा इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ सीमित हो जाते हैं।

(ii) विनिमय नियन्त्रण से अन्तर्राष्ट्रीय विनियोगों में भी बाधा उपस्थित होती है जो कि विश्व के आर्थिक संसाधनों के नियोजित विकास के लिए आवश्यक होते हैं।

(iii) विनिमय नियन्त्रण के कारण एक देश न तो विश्व के सस्ते बाजार में माल खरीद पाता है और न ही अच्छे और मँहगे बाजार में अपना माल बेच पाता है।

(iv) विनिमय नियन्त्रण बहुपक्षीय व्यापार एव मुद्राओं की परिवर्तनशीलता को नष्ट कर देता है।

(v) विनिमय नियन्त्रण की प्रणाली एक खर्चीली प्रणाली है जिसके प्रबन्ध मे कठिनाई होती है।

उक्त दोषों के कारण ही अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने विनिमय नियन्त्रण को हटा लेने का समर्थन किया था।

विनिमय समानीकरण खाता
(THE EXCHANGE EQUALISATION ACCOUNT)

इंगलैण्ड मे विनिमय समानीकरण खाता की स्थापना अप्रैल 1932 मे की गयी थी जिसका मुख्य उद्देश्य पूँजी के अल्पकालीन आवागमन और भुगतान शेष मे होने वाले अल्पकालीन उच्चावचनों के कारण विनिमय दर मे होने वाले उच्चावचनों को कम करना था।

ब्रिटेन ने 1931 मे स्वर्णमान का परित्याग कर दिया क्योंकि उसे भुगतान शेष की काफी कठिनाईयों का सामना करना पड़ा जिसके फलस्वरूप स्टर्लिंग पौण्ड की विनिमय दर में निरन्तर गिरावट आती गयी। इस परिस्थिति मे इगलैण्ड के सामने दो रास्ते थे, एक तो पौण्ड का अवमूल्यन कर दिया जाय और दूसरा विनिमय दर को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय। इगलैण्ड ने दूसरा मार्ग अपनाया जिसके फलस्वरूप पौण्ड की विनिमय दर में सुधार हुआ। यह विनिमय दर जो दिसम्बर 1931 मे $ 3 23 थी, जनवरी 1932 मे बढकर $ 3 50 हो गयी। अब इगलैण्ड के सामने मुख्य प्रश्न यह था कि पौण्ड मे भविष्य मे होने वाले विनिमय दरों के उच्चावचनो को किस प्रकार रोका जाय? इस दृष्टि से विनिमय समानीकरण कोष की स्थापना की गयी जिसकी प्रारम्भिक पूँजी अमरीकन डालर मे 25 मिलियन पौण्ड के बराबर थी जिसे बाद में ट्रेजरी बिल्स की निकासी के माध्यम से बढ़ाकर 150 मि० पौण्ड कर दी गयी। बाद मे बैंक आफ इंगलैण्ड की विदेशी विनिमय की राशि भी उक्त कोष मे स्थानान्तरित कर दी गयी।

कोष का उद्देश्य—प्रो क्रम्प (Crump) के अनुसार कोष के दो उद्देश्य थे प्रथम तो समस्त विदेशी विनिमय और विदेशी स्वर्ण के लिए एक कोष की स्थापना करना एव द्वितीय सट्टे के फलस्वरूप होने वाले विदेशी विनिमय के उच्चावचनों को रोकना। उक्त दोनों उद्देश्यों की पूर्ति होने पर ही स्टर्लिंग पौण्ड की दर को यथोचित स्तर पर बनाये रखा जा सकता था। कोष का उद्देश्य केवल अल्पकालीन उच्चावचनों को रोकना था तथा उसका कार्य दीर्घकालीन विनिमय दर मे हस्तक्षेप करना नहीं था।

कोष की कार्य प्रणाली—विनिमय समानीकरण कोष का सचालन तथा कार्य विधि पूर्ण रूप से ब्रिटिश सरकार के कोषागार (Treasury) के नियन्त्रण मे था। समानीकरण कोष की पूरी राशि ब्रिटिश सरकार के कोषागार विपत्रों (Treasury Bills) मे विनियोजित थी। प्रारम्भ मे समानीकरण खाते मे न तो स्वर्ण कोष था और न विदेशी मुद्रा अतः पौण्ड मे जो सट्टा होता था उसे कोष की कार्य विधि द्वारा नियन्त्रित नहीं किया जा सकता था। किन्तु धीरे-धीरे जब विदेशी पूँजी ब्रिटेन मे आने लगी तो कोष मे स्वर्ण और विदेशी मुद्रा मे भी वृद्धि होने लगी तथा 1937 में समानीकरण कोष की कुल पूँजी 571 मिलियन स्टर्लिंग पौण्ड हो गयी।

विनिमय समानीकरण कोष की स्थापना के बाद, ब्रिटेन में विदेशी विनिमय की माँग और पूर्ति में होने वाले परिवर्तनों के फलस्वरूप विनिमय दर को स्वतन्त्र छोड़ दिया गया। यदि ब्रिटेन में भारी मात्रा मे विदेशी मुद्रा आती थी अथवा काफी मात्रा मे घरेलू मुद्रा बाहर जाती थी तो समानीकरण कोष के अधिकारी मुद्रा बाजार मे कोषागार विपत्रों को बेच देते थे। इन विपत्रों को

व्यापारिक बैंकों द्वारा खरीदा जाता था और इस प्रकार कोष को जो मुद्रा प्राप्त होती थी, उसका प्रयोग विनिमय बाजार में विदेशी अधिशेषों (Foreign Balances) को खरीदने में किया जाता था जिन्हें स्वर्ण में परिवर्तित कर लिया जाता था। इस प्रकार विदेशी विनिमय की पूर्ति में जो वृद्धि होती थी, उसके लिए कोष के अधिकारियों द्वारा उतनी ही माँग में वृद्धि कर दी जाती थी अर्थात् कोष उसे खरीद लेता था। इस प्रकार विदेशी विनिमय की बढ़ती हुई पूर्ति का विनिमय दर पर कोई प्रभाव नहीं होता था।

जब इंगलैण्ड से बड़ी मात्रा में विदेशी मुद्रा का बहिर्गमन होता था तो समानीकरण कोष के अधिकारी कोष का स्वर्ण बेचते थे और उससे प्राप्त राशि से कोषागार विपत्रों को खरीदते थे और विनिमय दरों में होने वाले उच्चावचनों को रोक देते थे। किन्तु कोष की इन क्रियाओं का प्रभाव देश की आन्तरिक साख पर पड़ता था क्योंकि जब देश में विदेशी मुद्रा आती थी एवं जब व्यापारिक बैंक कोषागार विपत्र खरीदते थे तो उनके जमा में वृद्धि हो जाती थी एवं वे अपनी नकद-मात्रा का अनुपात कम कर देते थे जिसके फलस्वरूप उन्हें साख का संकुचन करना होता था। इससे ब्याज की दर में वृद्धि हो जाती थी। जब विदेशी मुद्रा देश के बाहर जाती थी तो ठीक इसके विपरीत प्रभाव होता था तथा ब्याज दर में कमी हो जाती थी।

उक्त रूप से साख के ढाँचे को असन्तुलित होने से बचाने के लिए समानीकरण कोष के अधिकारियों ने विदेशों से आने वाले स्वर्ण के एक भाग को, कोष से बैंक ऑफ इंगलैण्ड (इंगलैण्ड का केन्द्रीय बैंक) में हस्तान्तरण करना शुरू कर दिया। साथ ही बैंक ऑफ इंगलैंड व्यापारिक बैंकों को अतिरिक्त मुद्रा देता था जिससे उन्हें अपने नकद अनुपात में कमी नहीं करनी पड़ती थी इस तरह ब्याज दर की वृद्धि को रोक दिया जाता था।

इस प्रकार विनिमय समानीकरण कोष की कार्य प्रणाली के फलस्वरूप विनिमय दरों के अल्पकालीन परिवर्तन प्रायः पूर्ण रूप से समाप्त हो गये थे।

कोष की सीमाएँ—समानीकरण कोष ने यद्यपि विनिमय दरों के अल्पकालीन परिवर्तनों को तो रोक दिया किन्तु यह विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं के मूल्यों एवं आय के समायोजन को स्थापित नहीं कर पाया। अपनी स्थापना के बाद कोष ने स्टर्लिंग पौण्ड के बदले डालर खरीदना शुरू किया क्योंकि 1933 तक अमेरिका स्वर्णमान पर था किन्तु जब अमेरिका ने स्वर्णमान त्याग दिया तथा कोष ने पौण्ड के बदले फ्रेंक (फ्रांस की मुद्रा) खरीदना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु जब 1936 में फ्रांस ने भी स्वर्णमान त्याग दिया तो एक गम्भीर समस्या उपस्थित हो गयी। इंगलैण्ड, फ्रांस और अमरीका ने पारस्परिक रूप से एक मौद्रिक समझौता किया जिसके अनुसार प्रत्येक देश को यह अधिकार दिया गया कि उसके पास दूसरे देश की जो भी मुद्रा उपलब्ध हो, वह वहाँ के केन्द्रीय बैंक से चौबीस घण्टे के भीतर स्वर्ण में परिवर्तित कर लें। इससे स्पष्ट है कि स्वर्णमान के समाप्त होने के पश्चात कोष की कार्य प्रणाली का महत्व कम हो गया।

युद्धोत्तर काल में समानीकरण कोष 1951 से पुनः सक्रिय हुआ है जब लन्दन विदेशी विनिमय बाजार पुनः खोल दिया गया। इस नयी स्थिति में अधिकृत व्यापारी विदेशी विनिमय का लेन-देन तो कर सकते थे किन्तु यह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा निश्चित सीमा के अन्दर ही हो सकता था। इस क्रम में समानीकरण कोष का कोई विशेष योगदान नहीं रहा क्योंकि वह मुद्रा कोष के पूरक के रूप में ही क्रियाशील रहा है।

गत वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति में कुछ ऐसे परिवर्तन हुए हैं कि स्टर्लिंग पौण्ड की स्थिति में दुर्बलता आयी है एवं उसकी विनिमय दर निरन्तर गिर रही है। अतः पौण्ड की विनिमय दर को स्थायी बनाने में समानीकरण कोष का महत्व पहले से अधिक है। किन्तु कोष अपना

योगदान उसी समय दे सकता है जब ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति को मजबूत बनाने के प्रयत्न किये जायें और समानीकरण कोष विदेशी मुद्रा का पर्याप्त भण्डार निर्मित कर लें।

अन्त में कहा जा सकता है कि कोष ने अपने उद्देश्यों को पूर्ण सफलता के साथ निभाया है।

अन्य साधनों की तुलना में विनिमय नियन्त्रण की श्रेष्ठता

इस अध्याय के अन्त में हम इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करेंगे कि क्या समायोजन के अन्य साधनों की तुलना में विनिमय नियन्त्रण का उपाय श्रेष्ठ है? एक देश जिसके भुगतान शेष में घाटा हो, उसे वह या तो स्वर्णमान के स्वचालित तन्त्र से ठीक कर सकता है अथवा विनिमय दरों में उच्चावचनों को स्वतन्त्र छोड़ सकता है अथवा इन दोनों के बीच का रास्ता अपना सकता है। क्या कारण है कि एक देश न तो स्वर्णमान का सहारा लेता है और न ही अपनी मुद्रा की परिवर्तनशीलता पर विश्वास करता है वरन् विनिमय नियन्त्रण का तरीका अपनाता है। प्रो. एल्सवर्थ के अनुसार इसका कारण यह है कि समायोजन की स्वचालित प्रणाली दोषपूर्ण है एवं विनिमय नियन्त्रण की प्रणाली अधिक प्रभावपूर्ण है।

जहाँ तक स्वर्णमान का प्रश्न है, इसकी मान्यता यह है कि जिस देश में भुगतान शेष में घाटा है, वहाँ से स्वर्ण बाहर जायगा और उस देश में अपने आप मुद्रा की मात्रा कम हो जायगी अर्थात् उस देश में जब तक घाटा है, तब तक वहाँ मुद्रा का संकुचन होगा। किन्तु इसका परिणाम यह भी होगा कि ऐसे देश में मुद्रा संकुचन के कारण आय और रोजगार में भी कमी हो जायगी अतः कोई भी देश समायोजन के लिए ऐसी भारी कीमत नहीं चुकाना चाहेगा।

जहाँ तक परिवर्तनशील विनिमय दरों का प्रश्न है, यह भी दोषपूर्ण है क्योंकि इसमें विनिमय मूल्य ह्रास को प्रोत्साहन मिलता है। जिन देशों में विदेशी विनिमय की माँग और पूर्ति अत्यधिक बेलोचदार होती है, वहाँ मूल्य ह्रास (Depreciation) आवश्यक हो जाता है। बहुत से देशों का यह कटु अनुभव है कि मूल्य ह्रास भयंकर मुद्रा प्रसार को जन्म देता है जिसे देश आमन्त्रित नहीं करना चाहेंगे।

उक्त प्रणालियों के दोष स्पष्ट करते हैं कि विनिमय नियन्त्रण की विधि लोकप्रिय क्यों हुई। विनिमय नियन्त्रण का सबसे बड़ा लाभ तो यह है कि यह पूँजी के बहिर्गमन को रोक देता है। स्वर्णमान के अन्तर्गत पूँजी के बहिर्गमन को केवल ब्याज की दरों में वृद्धि करके रोका जा सकता है किन्तु यदि भुगतान शेष में घाटा बहुत अधिक है तो ब्याज की दरों में वृद्धि मात्र अनिश्चितता को बढ़ाती है और पूँजी का बहिर्गमन और भयंकर बन जाता है। परिवर्तनशील विनिमय दरें भी सदैव पूँजी के बहिर्गमन को रोकने में सफल नहीं हो पाती। घरेलू मुद्रा का मूल्य ह्रास विदेशी मुद्रा को प्राप्त करने की लागत बढ़ा देता है परन्तु यह बढ़ी हुई लागत भी पूँजी को बाहर जाने से नहीं रोक पाती। अतः पूँजी के बहिर्गमन को रोकने के लिए विनिमय नियन्त्रण की विधि स्वर्णमान एवं परिवर्तनशील विनिमय दरों इन दोनों से श्रेष्ठ है। जब सरकार का विदेशी विनिमय बाजार पर एकाधिकार होता है तो सरकार विदेशी मुद्रा को देने से इंकार कर, पूँजी को देश के बाहर जाने से रोक सकती है।

इस प्रकार अपनी कुछ निश्चित सीमाओं के बावजूद भी विनिमय नियन्त्रण की विधि अन्य रीतियों से श्रेष्ठ है।

भारत में विनिमय नियन्त्रण
(EXCHANGE CONTROL IN INDIA)

भारत में सबसे पहले विनिमय नियन्त्रण द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने पर सितम्बर 1939 में लागू किया गया। इस समय यद्यपि भारत में भुगतान शेष के असन्तुलन का भय नहीं था किन्तु मित्र राष्ट्रों विशेष रूप से ब्रिटेन को सहायता देने के लिए विनिमय नियन्त्रण आवश्यक

समझा गया। इसका एक उद्देश्य डालर के दुर्लभ साधनों को अनावश्यक प्रयोगों से बचाना भी था। प्रारम्भ में विनिमय नियन्त्रण भारत रक्षा नियम के अन्तर्गत लागू किया गया पर युद्ध समाप्त होने पर इसे विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम, 1947 (Foreign Exchange Regulation Act) के अन्तर्गत स्थायी कर दिया गया। 1947 में विनिमय नियन्त्रण को स्टर्लिंग देशों के साथ होने वाले सौदों पर भी लागू कर दिया गया। सन् 1951 में पाकिस्तान एवं अफगानिस्तान के साथ किये जाने वाले सौदे भी विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत ले लिये गये। 1947 के अधिनियम के द्वारा रिजर्व बैंक एवं भारत सरकार को समस्त विदेशी विनिमय के लेन-देन का नियमन करने का अधिकार दिया गया है। इसमें यह व्यवस्था की गयी थी कि कोई भी व्यक्ति या संस्था केवल रिजर्व बैंक की अनुमति पर ही विदेशी विनिमय खरीद सकती है। किन्तु स्टर्लिंग क्षेत्र के लोगों को यह छूट दी गयी थी कि आज्ञापत्र के बिना भी वे 150 पौण्ड तक प्रति माह अपने परिवार के व्यय के लिए भेज सकते थे।

भारत में विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य

(i) आर्थिक विकास के लिए आवश्यक सामग्री का आयात किया जा सके।

(ii) विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय पर नियन्त्रण रखना।

(iii) पूंजी के बहिर्गमन को नियन्त्रित करना।

(iv) विनिमय दर में स्थिरता बनायी रखी जा सके।

(v) विदेशों में भारत की सौदेबाजी की क्षमता में वृद्धि हो सके।

आर्थिक नियोजन और विनिमय नियन्त्रण—भारत में सन् 1951 में आर्थिक नियोजन आरम्भ होने के बाद विनिमय नियन्त्रण का काफी महत्व बढ़ गया तथा यह योजनाओं को कार्यान्वित करने का एक महत्वपूर्ण साधन बन गया। द्वितीय योजना में देश में भारी पैमाने पर औद्योगीकरण किया गया तथा विदेशों से मशीनों एवं अन्य सामग्री का आयात किया गया जिस पर स्टर्लिंग निधि का एक बड़ा भाग व्यय कर दिया। इसके अतिरिक्त आर्थिक विकास के लिए काफी मात्रा में विदेशी ऋण लिया गया। प्रथम योजना के अन्त में हमारे भुगतान शेष में 289 करोड़ का घाटा था जो द्वितीय योजना में बढ़कर 2,088 करोड़ रुपये का हो गया। ऐसी कठिन परिस्थितियों में विनिमय नियन्त्रण ही भारत के लिए सहायक था। अत. आर्थिक विकास की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विनिमय नियन्त्रण को कड़ा एवं विस्तृत कर दिया गया। सुलभ मुद्रा (Soft Currency) और दुर्लभ मुद्रा (Hard Currency) के भेद को समाप्त कर दिया गया एवं सभी प्रकार के विदेशी मुद्रा के व्यय पर प्रतिबन्ध लगा दिए गये।

1 जनवरी, 1974 से विदेशी विनिमय अधिनियम, 1973 लागू हो गया है तथा इसने "विदेशी विनिमय अधिनियम, 1947" का स्थान ग्रहण कर लिया है। नये नियम के अन्तर्गत विनिमय नियन्त्रण को और कठोर बनाया गया है।

भारत में विनिमय नियन्त्रण की व्यवस्थाएं

(i) **अधिकृत व्यापारी**—विदेशी विनिमय अधिनियम के अन्तर्गत विदेशी विनिमय का लेन-देन केवल अधिकृत व्यक्तियों या संस्थाओं के माध्यम से ही किया जा सकता है। इनमें से अधिकांश संख्या भारतीय अनुसूचित बैंक और विदेशी बैंकों की है।

(ii) **विनिमय दरें**—विदेशी विनिमय की आधारभूत दरें अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की मान्यता के अनुसार निर्धारित होती है परन्तु विनिमय की बाजार दरें निश्चित सीमाओं में घट सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की व्यवस्था के अनुसार सितम्बर 1949 के पूर्व भारतीय रुपये का स्वर्ण समता में विनिमय मूल्य प्रति रुपये 0 268601 ग्राम शुद्ध स्वर्ण था जो 1949

में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के बाद प्रति रुपये 0·186621 ग्राम शुद्ध स्वर्ण हो गया। जून 1966 में पुनः भारतीय रुपये के अवमूल्यन के बाद नयी विनिमय दर प्रति रुपये 0·118489 ग्राम शुद्ध स्वर्ण हो गयी। विदेशों से जो भी विदेशी विनिमय अर्जित किया जाता है उसे अधिकृत बैंक में जमा किया जाता है।

(iii) यात्रा प्रशिक्षण आदि के लिए व्यवस्था- जो लोग भारत से यात्रा, प्रशिक्षण, व्यापार अथवा धार्मिक यात्रा के लिए विदेश जाते है, उन सबके लिए रिजर्व बैंक से विदेशी विनिमय की अनुमति लेनी पड़ती है। प्रशिक्षण, शिक्षा एवं इलाज के लिए उसी स्थिति में अनुमति दी जाती है जब इनकी व्यवस्था भारत में सम्भव न हो। अन्य कार्यों के लिए भी प्राथमिकता के क्रम में अनुमति दी जाती है। हज यात्रा के लिए एक विशेष समिति बनी है जो इसके लिए जाँच-पड़ताल कर अनुमति देती है। हज यात्रा के लिए किसी व्यक्ति को दो वर्ष में एक बार अनुमति दी जा सकती है। भारत में कार्यरत विदेशी कर्मचारियों को अपने देश जाने के लिए उचित मात्रा में विदेशी विनिमय की सुविधा प्रदान की जाती है।

(iv) आयात-भुगतान—केवल लाइसेंस प्राप्त आयातकर्ता ही विदेशों से मँगायी गयी वस्तुओं का अधिकृत बैंकों के माध्यम से निश्चित राशि तक विदेशी भुगतान कर सकते हैं। यदि आयातकर्ता विनिमय दर में होने वाले सम्भावित परिवर्तनों की हानि से बचना चाहता है तो वह अग्रिम विनिमय भी कर सकता है।

(v) पूँजी का स्थानान्तरण—जिन विदेशियों की पूँजी भारत में लगी है वे रिजर्व बैंक की अनुमति से पूरी पूँजी अपने देश में ले जा सकते हैं। भारत से अवकाश प्राप्त कर अपने देश जाने वाले विदेशी भी अपनी पूरी बचत, प्राविडेण्ट फण्ड आदि की राशि ले जा सकते हैं। कुछ विशेष परिस्थितियों के अतिरिक्त पूँजी का स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर निर्यात नहीं किया जा सकता था।

(vi) पारिवारिक निर्वाह व्यय—भारत में स्थित विदेशी कर्मचारी अथवा व्यवसायी अपने परिवार के सदस्यों के भरण-पोषण के लिए अपने वेतन का 50 प्रतिशत (कुल राशि 2,660 रु० प्रति माह से अधिक न हो) रिजर्व बैंक की अनुमति से भेज सकते हैं। भारत में पेंशन प्राप्त करने के अधिकारी, विदेशी नागरिकों की पेंशन की पूरी राशि अधिकृत बैंक से ही भेज सकते हैं।

(vii) बीमा-शुल्क—यद्यपि भारत के लोग विदेशी मुद्रा में बीमा पालिसी नहीं ले सकते किन्तु भारत स्थित विदेशी ऐसी पालिसी ले सकते हैं एवं वे विदेशी मुद्राओं में बीमे की रकम बिना किसी प्रतिबन्ध के भेज सकते हैं। विदेशी अंशधारियों तथा जमा के स्वामियों को लाभांश एवं ब्याज की रकम को देश से बाहर भेजने की पूरी स्वतन्त्रता है।

(viii) परिवहन शुल्क—जो यात्री विदेशों से वापस भारत लौटते हैं अथवा माल का आयात करते हैं, उनका परिवहन शुल्क विदेशी मुद्रा में चुकाया जाता है जिसके लिए रिजर्व बैंक से अनुमति लेनी पड़ती है।

(ix) बहुमूल्य धातुओं और आभूषणों के लिए प्रावधान—स्वर्ण, हीरे, जवाहरात आदि बहुमूल्य धातुओं के आयात-निर्यात के लिए लाइसेन्स लेना आवश्यक है। विदेशों में जाने वाले यात्री अपने साथ 15,000 रुपये तक के आभूषण आदि ले जा सकते हैं।

(x) भारत में विदेशी पूँजी—यदि कोई विदेशी कम्पनी भारत में पूँजी लगाना चाहें तो भारत सरकार के वाणिज्य उद्योग मन्त्रालय तथा पूँजी निर्गमन नियन्त्रक से अनुमति लेना आवश्यक है। विदेशी पूँजी लौटाने के लिए भी रिजर्व बैंक से अनुमति लेना होती है।

नवनीतम व्यवस्था

भारत सरकार ने यह अनुभव किया कि परिवर्तनशील विनिमय दरों की स्थिति मे भारतीय रुपये को केवल एक रिजर्व करेन्सी से बांधे रहने की अपेक्षा उसे विविध मुद्राओ (Multi Currency Peg) से सम्बन्धित करना ज्यादा अच्छा है अत 25 सितम्बर, 1975 को भारतीय रुपये का सम्बन्ध स्टर्लिंग पौण्ड से विच्छेद कर दिया गया। अब नयी व्यवस्था के अन्तर्गत भारतीय रुपये की विनिमय दर का निर्धारण उन देशो की मुद्राओ की विनिमय दरो के परिवर्तनो द्वारा होता है जिनका कि भारत के साथ व्यापार होता है।

विदेशों से भारत को निजी प्रेषण (Private Remittances) को प्रोत्साहित करने के लिए भारतीय मूल के विदेशियो अथवा गैर निवासी भारतीयों को भारत मे विदेशी मुद्रा मे खाते खोलने की सुविधा प्रदान की गयी है जिससे विदेशी मुद्रा मे वृद्धि हुई है।

पिछले वर्षों मे भारत के विदेशी मुद्रा कोष में पर्याप्त वृद्धि हुई है। 1976-77 मे इसमे 1,371 करोड रुपये की वृद्धि हुई जबकि 1975-76 मे इसमे 881 करोड रुपये की वृद्धि हुई। अप्रैल 1978 मे भारत के विदेशी मुद्रा कोष में कुल 3,959 31 करोड रुपये (स्वर्ण एव एस डी आर को छोडकर) की राशि थी।

1978 की आयात-निर्यात नीति मे इसके पूर्व के नियन्त्रणो मे ही भारी परिवर्तन किया गया है। भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए जिन वस्तुओ की आवश्यकता है उनके निर्यात पर नियन्त्रण लगाया गया है। जिन वस्तुओ के निर्यात को स्वतन्त्र कर दिया गया है, उनके लिए लाइसेंस की आवश्यकता नही होगी।

विदेशो मे रह रहे भारतीय यदि भारत मे आकर बसना चाहते हैं तो उन्हे अपनी बचत का प्रयोग किसी भी उद्योग के स्थापित करने के लिए स्वतन्त्रता होगी। गैर निवासी भारतीयों एव भारतीय मूल के विदेशो मे रहने वाले लोग यदि भारत मे विनियोग करना चाहते हैं तो उनके साथ उदार नीति अपनायी जायगी।

जिन वस्तुओ के आयातो को स्पष्ट कर दिया गया है, उनके अतिरिक्त अन्य वस्तुओ के आयातो को नियन्त्रित कर दिया गया है।

10 लाख रुपये से अधिक की पूँजीगत वस्तुओ को छोडकर अन्य मामलो मे लाइसेंस प्रणाली को उदार एव विकेन्द्रित किया गया है।

इस प्रकार 1978 की नयी आयात-निर्यात नीति मे भारत मे विनिमय नियन्त्रण मे आमूल परिवर्तन किया गया है

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. विनिमय नियन्त्रण से आप क्या समझते हैं। विनिमय नियन्त्रण के प्रमुख उद्देश्यो को समझाइए ?
2 जिन परिस्थितियो मे विनिमय नियन्त्रण आवश्यक है, उन पर प्रकाश डालिए साथ ही विनिमय नियन्त्रण की प्रत्यक्ष एव परोक्ष रीतियो का विश्लेषण कीजिए ?
3 विनिमय समानीकरण कोष को पूर्ण रूप से समझाइए तथा उसकी सीमाओ का उल्लेख कीजिए ?
4 "एक देश मे प्रतिकूल भुगतान शेष को ठीक करने के लिए विनिमय नियन्त्रण की व्यवस्था के गम्भीर परिणाम न केवल इसे अपनाने वाले देश की अर्थव्यवस्था पर होते हैं वरन् सम्पूर्ण विश्व के लिए भी होते हैं।" इस कथन की समीक्षा कीजिए ?
5 बहु विनिमय दरो से आप क्या समझते हैं ? इनका प्रयोग क्यो किया जाता है, इनके पक्ष एव विपक्ष में तर्क प्रस्तुत कीजिए ?

6. क्या विनिमय नियन्त्रण की विधि विनिमय दरों के समायोजन की अन्य विधियों से श्रेष्ठ है ? तर्कपूर्ण उत्तर देते हुए विनिमय नियन्त्रण की सीमाओं का उल्लेख कीजिए ?
7. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :
   (i) बहु विनिमय दरें, (ii) अवरुद्ध खाते, (iii) विनिमय समायोधन समझौते, (iv) विनिमय नियन्त्रण के प्रभाव, (v) भुगतान समझौते।
8. भारत में विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्यों की चर्चा करते हुए, विनिमय नियन्त्रण के नवीनतम प्रावधानों का उल्लेख कीजिए ?

Selected Readings

1. P. T. Ellsworth . *The International Economy.*
2. H E Evitt ' *A Manual of Foreign Exchange.*
3. G V Haberler : *The Theory of International Trade.*
4. Paul Einzig : *Exchange Control.*
5. Crowther : *An Outline of Money.*
6. K. R. Gupta : *International Economics.*

अध्याय 25

मूल्य स्थिरता बनाम विनिमय स्थिरता
[PRICE STABILITY *VERSUS* EXCHANGE STABILITY]

परिचय

प्रारम्भ से ही यह विषय विवादग्रस्त रहा है कि मौद्रिक नीति का उद्देश्य आन्तरिक मूल्यों में स्थिरता बनाये रखना होना चाहिए अथवा विनिमय दर में स्थायित्व बनाये रखना होना चाहिए। जहाँ तक स्थिरता (Stability) शब्द का सम्बन्ध है, अर्थशास्त्र के साहित्य में इसका अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है। इसे कई अर्थों में प्रयोग किया जाता है जैसे सन्तुलन की स्थिति, सन्तुलित विकास, एवं व्यापार चक्रीय उच्चावचनों का अभाव। कीमतों में स्थिरता से आशय कीमत स्तर की स्थिरता से है तथा यह उस स्थिति का सूचक है जहाँ मौद्रिक प्रभाव तटस्थ हो जाता है अर्थात् न तो मुद्रा प्रसार की स्थिति होती है और न मुद्रा संकुचन की स्थिति। विनिमय दर में स्थिरता का आशय यह है कि देश की मुद्रा के बाह्य मूल्य में परिवर्तन नहीं होना चाहिए। यह उसी समय सम्भव है जब भुगतान शेष को ठीक स्तर पर कायम रखा जा सके। देशों के सामने यह समस्या रही है कि मूल्य स्थिर रखे जायें अथवा विनिमय दर को स्थिर रखा जाय? अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना हो जाने के बाद अब विनिमय दरों की स्थिरता की समस्या बहुत गम्भीर नहीं रही है अतः अब बहुत से देश आन्तरिक कीमतों में स्थिरता को महत्व देने लगे हैं। इस अध्याय में हम मूल्य स्थिरता एवं विनिमय स्थिरता के पक्ष एवं विपक्ष में तर्कों का विवेचन करेंगे।

मूल्य स्थिरता अथवा विनिमय स्थिरता—प्रत्येक देश की सरकार सामान्य रूप में या तो कीमतों में स्थिरता को चुनती है अथवा विनिमय स्थिरता को बनाये रखना चाहती है। इन दोनों विचारधाराओं में केवल उसी समय समायोजन किया जा सकता है यदि विदेशी सरकारें भी अपने देशों में कीमतों को स्थिर रखती हैं अर्थात् इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय समझौता आवश्यक है। परन्तु यदि विदेशों में कीमतों में उतार चढ़ाव होता रहता है तो सम्बन्धित देश के सामने एक ही विकल्प रहता है कि या तो वह विनिमय में स्थिरता को बनाये और आन्तरिक कीमतों में विदेशी मूल्य स्तर के अनुसार परिवर्तन होने दे अथवा आन्तरिक कीमतों में स्थिरता बनाये रखे एवं विनिमय दर को विदेशी कीमत स्तर के विपरीत अनुपात में परिवर्तित होने दे। यदि विदेशों में कीमत स्तरों में ज्यादा उच्चावचन नहीं होते तो प्रायः देश विनिमय में स्थिरता को महत्व देते हैं।

विनिमय स्थिरता को प्राथमिकता देने के प्रमुख दो कारण इस प्रकार हैं :

(1) विनिमय दरों में होने वाले परिवर्तनों को सरलता से देखा जा सकता है जबकि कीमत स्तर में होने वाले मामूली परिवर्तनों पर कोई ध्यान नहीं देता और न ही वे ध्यान आकर्षित करते हैं।

विनिमय में वृद्धि होगी एवं प्रतिकूल भुगतान शेष ठीक हो जायगा। देश B में ठीक इसके विपरीत स्थिति होगी जहाँ स्वर्ण की मात्रा में वृद्धि होने से कीमतें बढ़ेंगी जिससे निर्यात हतोत्साहित होंगे एवं आयातों में वृद्धि होगी। इससे B में विदेशी विनिमय की माँग में वृद्धि होगी तथा A में इसकी कमी होगी और इस प्रकार पुनः दोनों देशों का भुगतान शेष सन्तुलित हो जायगा।

(b) ब्याज-दर के माध्यम से—देश A में मुद्रा की पूर्ति एवं साख के संकुचन के फलस्वरूप, वहाँ ब्याज की दर में वृद्धि होगी जिससे वहाँ विदेशों से पूँजी एवं स्वर्ण आयगा तथा वहाँ से पूँजी का बहिर्गमन नहीं होगा। B देश में जहाँ भुगतान शेष का अतिरेक है, ब्याज की दर में कमी होगी जिससे वहाँ विदेशी पूँजी हतोत्साहित होगी तथा वहाँ से पूँजी का बहिर्गमन होगा। इस प्रकार प्रतिकूल भुगतान शेष सन्तुलित हो जायगा।

कीमत सिद्धान्त की आलोचना—इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएँ इस प्रकार हैं—

(i) **पूर्ण प्रतियोगिता की अवास्तविक मान्यता**—कीमत सिद्धान्त पूर्ण प्रतियोगिता पर आधारित है जो कि अवास्तविक है। आज का युग अपूर्ण प्रतियोगिता का है जिसके अन्तर्गत उत्पादक, वस्तु विभेद के माध्यम से, ऊँची लागत और कीमतें होने पर भी, अपनी वस्तुओं को बेचने में सफल हो जाते हैं। अर्थात् ऊँची कीमतें, सन्तुलन को नष्ट नहीं करतीं।

(ii) **आय परिवर्तनों की अवहेलना**—प्रतिष्ठित सिद्धान्त में केवल एक परिवर्तनशील तत्व कीमतों पर ही ध्यान दिया गया है तथा आय परिवर्तन एवं अन्य तत्वों जैसे उत्पादन, रुचि, एवं पूँजी गतिशीलता की अवहेलना की गयी है जिनकी असन्तुलन में महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

(iii) **स्वतन्त्र व्यापार की मान्यता गलत**—प्रतिष्ठित सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि विभिन्न देशों में स्वतन्त्र व्यापार होता है जिसमें आयात-निर्यात में अपने आप समायोजन होते रहते हैं। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि आजकल व्यापार स्वतन्त्र न होकर प्रतिबन्धित है तथा संरक्षण की नीति को दृष्टि में रखते हुए, विदेशों से उन वस्तुओं को भी आयात नहीं किया जाता जो तुलनात्मक रूप से सस्ती होती है। इसी प्रकार देश के विकास के लिए आवश्यक वस्तुओं का निर्यात नहीं किया जाता भले ही विदेशों में ये ऊँची कीमतें पा सकती हैं।

(iv) **ऐतिहासिक अनुभव विरुद्ध**—स्वर्णमान में अपने आप भुगतान शेष की प्रतिकूलता को ठीक करने के लिए कुछ नियमों का पालन आवश्यक है जिन्हें "Rules of Game" कहते हैं अर्थात् जैसे ही देश में स्वर्ण आता है तो मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होना चाहिए एवं स्वर्ण बाहर जाने पर मुद्रा की पूर्ति में संकुचन होना चाहिए। किन्तु ऐतिहासिक अनुभव यह बताता है कि स्वर्ण की गतिशीलता एवं समायोजन नियम के अनुसार नहीं हुआ एवं उसमें सरकार की ओर से अनेक हस्तक्षेप किये गए।

(v) **पूर्ण रोजगार की मान्यता अवास्तविक** - प्रतिष्ठित सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि उत्पत्ति के समस्त साधनों को पूर्ण रोजगार प्राप्त है एवं मुद्रा की पूर्ति एवं साख में होने वाला कोई भी परिवर्तन कीमतों में परिवर्तन कर देता है। किन्तु पूर्ण रोजगार की मान्यता गलत है।

(vi) **कीमतों में परिवर्तन का आयात और निर्यात पर व्यापक प्रभाव नहीं**—प्रतिष्ठित सिद्धान्त मानकर चलता है कि सापेक्षिक कीमतों में परिवर्तन के फलस्वरूप शीघ्र ही आयातों एवं निर्यातों में परिवर्तन होते हैं। किन्तु हाल ही के अध्ययन से पता चला है कि कीमतों में लोच इतनी अधिक नहीं होती कि भुगतान शेष के असन्तुलन को अपने आप ठीक किया जा सके। विशेष रूप से अर्द्धविकसित देशों में आयात और निर्यात की लोच बहुत ही कम होती है अर्थात् कीमतों में परिवर्तन के अनुरूप आयात और निर्यात में परिवर्तन नहीं होते। इसी प्रकार ब्याज की दर का भी पूँजी के आवागमन पर उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ता बल्कि अन्य तत्व जैसे पूँजी की सुरक्षा एवं हस्तान्तरणशीलता इत्यादि पूँजी के आवागमन को अधिक प्रभावित करते हैं।

इस प्रकार प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का कीमतों का सिद्धान्त असन्तुलन की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं करता।

2. आय अथवा केन्सियन सिद्धान्त
(INCOME OR KEYNESIAN THEORY)

इस सिद्धान्त को केन्सियन कहने का यह आशय नहीं लगाया जाना चाहिए कि इसका प्रतिपादन प्रो. केन्स ने किया वरन् इस सिद्धान्त को इसलिए केन्सियन कहते हैं क्योंकि इसमें केन्स की उस तकनीक का प्रयोग किया गया है जिसका प्रतिपादन प्रो केन्स ने अपनी पुस्तक "जनरल थ्योरी" में किया।

प्रतिष्ठित सिद्धान्त की आलोचना में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि यह आय-परिवर्तनों के प्रभावों की अवहेलना करता है। 1930 की मन्दी के पश्चात् अर्थशास्त्रियों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि निर्यात और आयातों का राष्ट्रीय आय पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है तथा आय में होने वाले परिवर्तनों का भुगतान शेष एवं उसके समायोजन पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। इस सिद्धान्त के विचार को "विदेशी व्यापार आय गुणक" (Foreign Trade Income Multiplier) के द्वारा व्यक्त किया गया है जो यह स्पष्ट करता है कि निर्यातों में होने वाले परिवर्तनों का देश की राष्ट्रीय आय पर क्या प्रभाव होता है। आय सिद्धान्त स्पष्ट करता है कि यदि एक देश की आय विश्व के अन्य देशों की तुलना में अधिक दर से बढ़ रही है (जिनसे इस देश के व्यापारिक सम्बन्ध हैं) तो इस देश के भुगतान शेष में घाटा होगा। इसका कारण यह है कि इस देश में आय में वृद्धि के फलस्वरूप आयातों में वृद्धि होगी क्योंकि आयात, आय का फलन है। आयातों में वृद्धि के कारण इस देश के भुगतान शेष में असन्तुलन हो जायगा।

असन्तुलन का समायोजन—आय में होने वाले परिवर्तन किस प्रकार आयात और निर्यात में सन्तुलन स्थापित कर देते हैं, इस सम्बन्ध में विदेशी व्यापार गुणक उस प्रणाली को स्पष्ट करता है जिसके अनुसार भुगतान शेष समायोजन हो जाता है। इसे हम एक उदाहरण देकर स्पष्ट करेंगे। मानलो दो देश A और B हैं जिनका भुगतान शेष प्रारम्भ में सन्तुलन में हैं। अब किसी कारण से A के भुगतान शेष में असन्तुलन होता है और उसके निर्यातों में वृद्धि होने से उसके भुगतान शेष में अतिरेक हो जाता है। निर्यातों में वृद्धि के कारण देश A में राष्ट्रीय आय बढ़ती है अब इसी बढ़ी हुई आय को या तो देश में ही अतिरिक्त वस्तुओं और सेवाओं पर व्यय किया जा सकता है या इसमें आयात किया जा सकता है अथवा इसकी बचत की जा सकती है। यदि अतिरिक्त आय को घरेलू वस्तुओं पर व्यय किया जाता है तो इससे भी आय में वृद्धि होती है। यदि हम यह मानलें कि बचत नहीं की जाती और अनुकूल भुगतान शेष के कारण बढ़ी हुई आय को अतिरिक्त आयातों पर व्यय किया जाता है तो देश में अतिरेक की मात्रा कम होने लगती है। दूसरी ओर देश B में प्रारम्भ में आयातों में वृद्धि के कारण वहाँ भुगतान शेष में घाटा होता है किन्तु बाद में A देश के लिए उसके निर्यातों में वृद्धि होती है। अब यदि देश A द्वारा समस्त अतिरिक्त आय को आयातों पर व्यय कर दिया जाता है तो दोनों देशों के भुगतान शेष में पुन सन्तुलन स्थापित हो जाता है।

इस प्रकार यह सिद्धान्त मानकर चलता है कि भुगतान शेष में होने वाला असन्तुलन अपने आप ठीक हो जाता है।

आलोचना—भुगतान शेष के आय सिद्धान्त की निम्न आलोचनाएँ की गयी हैं :

(i) **बचत सम्बन्धी रिसाव (Saving leakages)**—आय सिद्धान्त मानकर चलता है कि निर्यातों के कारण आय में जो वृद्धि होती है, उसे आयातों पर व्यय कर दिया जाता है। किन्तु यह

भी सम्भव है कि उसी बढ़ी हुई आय के कुछ अंश को बचा लिया जाय तो फिर उतना आयात सम्भव नहीं होगा कि भुगतान शेष के असन्तुलन को पूर्ण रूप में ठीक कर लिया जाय।

(ii) मांग की आय लोच में कमी—आय सिद्धान्त की यह मान्यता है कि मांग की आय लोच बहुत ऊँची होती है अर्थात् आय में होने वाले परिवर्तनों का आयात-निर्यात पर शीघ्र एवं व्यापक प्रभाव होता है किन्तु अध्ययन से यह ज्ञात हुआ है कि आयातों के लिए मांग की आय लोच इतनी अधिक नहीं होती कि भुगतान शेष का असन्तुलन अपने आप ठीक हो सके।

(iii) केवल आय सिद्धान्त अपर्याप्त—आजकल स्वयं आय सिद्धान्त के समर्थकों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि भुगतान शेष के असन्तुलन को अपने आप ठीक होने की पूर्ण प्रणाली को समझाने में आय सिद्धान्त अपर्याप्त है। इसके लिए आवश्यक है कि इसके पूरक सिद्धान्त के रूप में कीमत सिद्धान्त एवं अन्य तत्वों का भी समावेश किया जाना चाहिए।

(iv) व्यापार पर सरकार का हस्तक्षेप—आजकल विनिमय नियन्त्रण एवं व्यापार नियन्त्रण के माध्यम से आयातों एवं निर्यातों पर सरकार का हस्तक्षेप इतना बढ़ गया है कि भुगतान शेष के अपने आप समायोजन की कल्पना नहीं की जा सकती।

(v) तुलनात्मक लागत एवं कीमतों की उपेक्षा—आलोचकों का कहना है कि यदि दो देशों में तुलनात्मक लागत और कीमतों में अन्तर नहीं है तो मात्र एक देश की आय वृद्धि होने से उसके आयातों में वृद्धि नहीं होगी। किसी वस्तु का आयात किया जायगा अथवा नहीं, यह मूल रूप से तुलनात्मक कीमतों के अन्तर द्वारा निर्धारित होता है। आय प्रभाव तो केवल आयात की मात्रा का ही निर्धारण कर सकता है। किन्तु आय सिद्धान्त लागत और कीमतों पर ध्यान नहीं देता।

3 प्रदर्शन प्रभाव सिद्धान्त
(DEMONSTRATION EFFECT THEORY)

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रो. रेगनर नर्क्से ने किया। उन्होंने बताया कि विकसित देशों की राष्ट्रीय एवं प्रति व्यक्ति आय काफी ऊँची रहती है अतः वहाँ के लोगों का जीवन स्तर भी ऊँचा रहता है जबकि अर्द्धविकसित देशों में कम आय होने के कारण इन देशों के लोगों का जीवन स्तर नीचा होता है। इन विकसित एवं अर्द्धविकसित देशों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं अन्य संचार के साधनों में वृद्धि के फलस्वरूप सम्पर्क स्थापित हो रहा है तथा विकासशील देश के लोग, विकसित देश के लोगों के उच्च जीवन स्तर से परिचित हो रहे हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अर्द्ध-विकसित देश के लोग भी अपनी आय को उच्च उपभोग एवं विलासिता की वस्तुओं पर व्यय करते हैं। उपभोग की प्रवृत्ति में वृद्धि होने से इन वस्तुओं को विदेशों से आयात किया जाता है फलस्वरूप आयातों में वृद्धि होती है जिससे भुगतान शेष प्रतिकूल हो जाता है।

इस प्रकार प्रो. नर्क्से के अनुसार विकसित एवं अर्द्धविकसित देशों के जीवन स्तर में भिन्नता ही, अर्द्धविकसित देशों के भुगतान-शेष में प्रतिकूलता का मुख्य कारण है ?

आलोचना—इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएँ इस प्रकार हैं :—

(i) एकपक्षीय सिद्धान्त—यह सिद्धान्त असन्तुलन की व्याख्या केवल बढ़े हुए आयातों के सम्बन्ध में करता है तथा निर्यातों की उपेक्षा करता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त एकपक्षीय है।

(ii) तथ्य के विपरीत—इस सिद्धान्त की पुष्टि तथ्यों द्वारा नहीं होती। इस सिद्धान्त के अनुसार, विकसित देशों का भुगतान शेष उनके अनुकूल एवं अर्द्धविकसित देशों का उनके प्रतिकूल होता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद कई आर्थिक रूप से विकसित राष्ट्रों जैसे फ्रांस, ब्रिटेन एवं आस्ट्रेलिया में भुगतान शेष में घाटा रहा जबकि कई विकासशील देशों जैसे पुर्तगाल एवं कई ब्रिटिश उपनिवेशों में भुगतान शेष अनुकूल रहा।

(iii) प्रदर्शन प्रभाव का अतिरंजित महत्व—आलोचकों का कहना है कि प्रो. नर्क्से ने प्रदर्शन प्रभाव का बहुत बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र की बात तो दूर, एक देश के विभिन्न क्षेत्रों में भी यह प्रदर्शन प्रभाव कार्यशील नहीं हो पाता क्योंकि अच्छे सम्पर्क के बावजूद भी लोग अपनी आय शान-शौकत पर व्यय न कर उसे बचाते हैं।

(iv) अनुकूल प्रभावों की उपेक्षा—प्रो. नर्क्से ने प्रदर्शन प्रभाव की भुगतान शेष पर केवल प्रतिकूल प्रभाव की विवेचना की है एवं अनुकूल प्रभावों की उपेक्षा की है। यह भी सम्भव है कि उपभोग स्तर के अतिरिक्त अर्द्धविकसित देश के लोग विकसित देशों के उत्पादन के उन्नत तरीकों को भी अपनाये जिसके फलस्वरूप, अर्द्ध विकसित देशों में उत्पादन में वृद्धि हो एवं लागत में कमी हो जिसका भुगतान शेष पर अनुकूल प्रभाव पड़ेगा।

(v) प्रतिबन्धों के कारण प्रदर्शन प्रभाव निष्क्रिय—प्रदर्शन प्रभाव उसी समय क्रियाशील हो सकता है जब आयात पर कोई प्रतिबन्ध न हो पर आजकल विकासशील देश, विनिमय नियन्त्रण एवं अन्य प्रतिबन्धों के कारण आवश्यक उपभोग एवं विलासिता की वस्तुओं के आयातों पर नियन्त्रण लगाये हुए हैं। केवल ऐसी वस्तुओं का आयात किया जाता है जो देश के आर्थिक विकास में सहायक होती हैं। अतः यदि इन देशों का भुगतान शेष प्रतिकूल है तो उपभोग के स्तर के कारण नहीं वरन् आर्थिक विकास के लिए बढ़ते हुए आयातों के कारण है।

4 उत्पादकता सिद्धान्त में विषमता
(DISPARITIES IN THE PRODUCTIVITY THEORY)

भुगतान शेष में असन्तुलन की व्याख्या, उत्पादकता में विषमता के आधार पर की गयी है। दो देशों में उत्पादकता में विभिन्नता या तो सब उद्योगों में हो सकती है, अथवा यह विषमता निर्यात या आयात उद्योगों में हो सकती है। उत्पादकता में विभिन्नता दो प्रकार से भुगतान शेष को प्रभावित करती है—कीमत प्रभाव के द्वारा एवं आय प्रभाव के द्वारा।

कीमत प्रभाव—यदि दो देशों में उत्पादकता में विभिन्नता निर्यात उद्योगों (Export-biased) के कारण है अर्थात् एक देश में निर्यात उद्योगों में सापेक्षिक रूप से उन्नत तकनीक है तो उस देश से जो दूसरा देश आयात करेगा, उसके भुगतान शेष पर अनुकूल प्रभाव होगा क्योंकि उसके आयातों का मूल्य कम हो जायगा। जो देश निर्यात कर रहा है यदि वस्तु की कीमतों में कमी के बावजूद उसके निर्यातों में वृद्धि नहीं होती तो उसके भुगतान शेष पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा किन्तु यदि उसके निर्यातों के लिए माँग की लोच इकाई से अधिक है तो उसके भुगतान शेष पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

आय-प्रभाव—एक देश में निर्यात उद्योगों में अधिक उत्पादकता के कारण, जो देश इस देश से आयात करेगा, आयातित वस्तुओं की कीमतों में कमी के कारण, उस देश की वास्तविक आय में वृद्धि होगी जिसमें आयातों में वृद्धि होगी और इस देश के भुगतान शेष पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा तथा निर्यात करने वाले देश का भुगतान सन्तुलन अनुकूल हो जायगा। किन्तु यदि उत्पादकता में वृद्धि के फलस्वरूप निर्यात वस्तुओं की कीमतों में कमी नहीं की जाती तथा उसका प्रयोग श्रमिकों की मजदूरी एवं उद्यमियों के लाभ की वृद्धि के लिए किया जाता है तो निर्यात करने वाले देश के भुगतान शेष पर प्रतिकूल प्रभाव होगा।

जहाँ तक आयात उद्योगों में उत्पादकता की वृद्धि का प्रश्न है तो कीमत प्रभाव का निर्यात करने वाले देशों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। किन्तु आय प्रभाव का आयात करने वाले देश के भुगतान शेष पर प्रतिकूल प्रभाव होगा क्योंकि उसमें केवल आयात करने वाले देश की आय में वृद्धि होगी जिसमें निर्यात प्रोत्साहित नहीं होंगे।

कीमतो एव आय मे परिवर्तनो के अतिरिक्त तकनीकी प्रगति का भी आयातों एव निर्यातों पर प्रभाव पड़ता है। तकनीकी प्रगति वाले देश अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे नयी एवं उन्नत किस्म की वस्तुओं को प्रस्तुत करते हैं जिससे पुरानी वस्तुओं का बाजार समाप्त हो जाता है भले ही उनकी कीमतें कम हो।

यह माना जा सकता है कि उत्पादकता मे विभिन्नता का सिद्धान्त भुगतानशेष मे असन्तुलन की व्याख्या करता तो है किन्तु केवल यही सिद्धान्त असन्तुलन की व्याख्या करने मे सक्षम नही है। अन्य तत्व भी है जो असन्तुलन के लिए उत्तरदायी है।

विकासशील देशों के भुगतान-शेष में असन्तुलन
(DISEQUILIBRIUM IN THE BALANCE OF PAYMENTS OF DEVELOPING COUNTRIES)

इसमे दो मत नही है कि विश्व के अर्द्ध-विकसित देशो को अपने भुगतान शेष मे घाटे की कठिन समस्या का सामना करना पड रहा है एव इस उद्देश्य के लिए स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष भी इन देशो के भुगतान शेष की समस्याओ को हल नही कर पाया है। वर्तमान मे विकसित एवं अर्द्ध-विकसित देशों के भुगतान-शेष मे जो असन्तुलन है उससे विश्व व्यापार एव आर्थिक विकास मे अस्थिरता (Instability) पैदा हो रही है। यदि हम इनके कारणो की व्याख्या करें तो भुगतान-शेष के किसी एक सिद्धान्त को इसके लिए उत्तरदायी नही माना जा सकता। अभी हमने जिन चार सिद्धान्तो का विवेचन किया है उन सबका सयुक्त प्रभाव ही अर्द्धविकसित देशो के भुगतान-शेष मे असन्तुलन पैदा कर रहा है। मुख्य रूप मे यह कहा जा सकता है कि विकसित एव विकासशील देशो की आयात की माँग एव उनके निर्यातो का गुणात्मक स्तर ही भुगतान शेष मे असन्तुलन के लिए जिम्मेदार है।

विदेशी विनिमय के अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय आँकड़े स्पष्ट करते है कि विदेशी विनिमय मे अर्द्धविकसित देशो की तुलना मे विकसित देशो का हिस्सा काफी अधिक है। विकासशील देशों को अपनी अल्पकालीन आयातों की माँग को पूरा करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की बहुत आवश्यकता है। विश्वयुद्ध के बाद से विकासशील देशो की व्यापार शर्तों मे भी निरन्तर ह्रास हो रहा है जो कि असन्तुलन का मुख्य कारण है। विकसित देशो के बीच निर्यात की मात्रा, विकासशील देशो के बीच होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की तुलना मे काफी अधिक है। विकासशील देश अपने निर्यातो के लिए विकसित देशो पर निर्भर है जबकि विकसित देश अधिकाश वैकल्पिक वस्तुओं का उत्पादन करने लगे है जिनको वे पहले विकासशील देशो से आयात करते थे। अतः विकासशील देशो को विदेशी विनिमय की कमी की समस्या का सामना करना पड रहा है।

विकासशील देशो का भुगतान-शेष किस प्रकार प्रतिकूल रहा है, यह निम्न तालिका से स्पष्ट है :

विश्व के देशों के चालू खाते में भुगतान सन्तुलन की स्थिति (1973-76)[1]

(In Billion of U. S dollars)

	1973	1974	1975	1976
1. प्रमुख तेल निर्यातक देश	[illegible]	67	35	40
2. औद्योगिक देश	12	10	19	3
3. गैर-तेल प्राथमिक उत्पादक				
(A) विकसित देश	1	—14	—14	—10
(B) विकासशील देश	—10	- 29	—37	—32

1 Source : I. M. F. Annual Report, 1976.

पिछली तालिका से स्पष्ट है कि विकासशील देशों को निरन्तर भारी मात्रा में प्रतिकूल भुगतान शेष की स्थिति का सामना करना पड़ता है। विकासशील देशों के साथ प्राथमिक उत्पादन करने वाले विकसित कहे जाने वाले देशों के भुगतान-शेष में भी घाटे की स्थिति विद्यमान रही है।

विकासशील देशों के भुगतान शेष में असन्तुलन के कारण—अब महत्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है कि विकासशील देशों का भुगतान शेष प्रतिकूल क्यों रहता है ? इसी अध्याय में हमने भुगतान शेष में असन्तुलनों के कारणों की जो व्याख्या की है वह मुख्य रूप से विकासशील देशों को दृष्टि में रखकर की है अतः उन्हीं कारणों को यहाँ समझाया जा सकता है किन्तु उनको दोहराने की आवश्यकता नहीं है। केवल संक्षेप में उन्हें गिनाया जा सकता है जैसे विकास-विनियोग कार्यक्रम, चक्रीय उच्चावचन, आय प्रभाव एवं कीमत प्रभाव, निर्यात माँग में परिवर्तन, विकसित देशों में आयात प्रतिबन्ध, जनसंख्या वृद्धि एवं प्रदर्शन प्रभाव इत्यादि। इनकी विस्तृत व्याख्या के लिए पिछले पृष्ठों को देखें। इसके अतिरिक्त जो अन्य कारण भुगतान शेष में असन्तुलन के लिए उत्तरदायी होते हैं विशेष रूप में विकासशील देशों में, उनकी संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है—

(1) प्राथमिक उत्पादन की कीमतों की अस्थायी प्रकृति—विश्व बाजार में निर्मित वस्तुओं की तुलना में विकासशील देशों की प्राथमिक वस्तुओं की कीमतों में अस्थिरता रहती है। यदि माँग में परिवर्तन के फलस्वरूप इन वस्तुओं की कीमतों में उच्चावचन होते हैं तो निर्यात-वस्तुओं की पूर्ति पर इसका प्रभाव पड़ता है। इसके पूर्व जब इनके निर्यातों की मात्रा अधिक रहती है तो ये देश एक निश्चित मात्रा में आयातों के आदी हो जाते हैं किन्तु जब निर्यात कम हो जाते हैं तो भी इनके आयात कम नहीं हो पाते, फलस्वरूप इनका भुगतान शेष प्रतिकूल हो जाता है।

(2) विकसित देशों द्वारा विकासशील देशों में विनियोग की कमी—विकसित देशों का भुगतान शेष अनुकूल रहता है। यदि ये अतिरेक वाले देश, पिछड़े देशों में पूँजी का विनियोग करें तो विकासशील देशों की समस्या हल हो सकती है। उन्नीसवीं सदी में बहुत से अर्द्धविकसित देशों का भुगतान शेष ब्रिटेन के साथ इसलिए प्रतिकूल नहीं हुआ क्योंकि ब्रिटेन ने इन देशों में पूँजी का विनियोग किया।

(3) निर्यातों के विशिष्टीकरण में अन्तर—विकासशील देश मुख्य रूप में कृषि एवं खनिज वस्तुओं के निर्यात में विशिष्टीकरण करते हैं जिनके लिए माँग की आय लोच कम रहती है। इसके विपरीत विकसित देश मुख्य रूप में औद्योगिक वस्तुओं के निर्यात में विशिष्टीकरण करते हैं जिनके लिए माँग की आय लोच तुलनात्मक रूप में ऊँची रहती है। जैसे ही एक देश की राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है, उसका औद्योगिक एवं निर्मित वस्तुओं पर आनुपातिक व्यय बढ़ जाता है तथा खाद्यान्न पर आनुपातिक व्यय घट जाता है। यही कारण है कि विश्व में आय वृद्धि के साथ, विकसित देशों के निर्यात में वृद्धि होती है तथा उनका भुगतान शेष अनुकूल हो जाता है जबकि विकासशील देशों के निर्यात कम हो जाने से उनका भुगतान शेष प्रतिकूल हो जाता है।

(4) विश्व बाजार में विकासशील देशों की वस्तुओं के विज्ञापन एवं प्रतिष्ठा का अभाव—विकसित देशों ने विज्ञापन एवं विक्रय कला के माध्यम से विश्व बाजार में अपनी वस्तुओं की प्रतिष्ठा स्थापित कर ली है जिससे उनके निर्यातों में वृद्धि हुई है। किन्तु विकासशील देशों ने अपनी वस्तुओं की इस प्रकार प्रसिद्धि स्थापित नहीं की है अभी भी वे अपने निर्यातों के

लिए विश्व में बाजारों की खोज में लगे हुए हैं। फलस्वरूप उनके निर्यातों में वाछनीय वृद्धि नहीं हो पायी है एवं उनका भुगतान-शेष प्रतिकूल है।

उपर्युक्त सब कारणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि विकासशील देशों का भुगतान-शेष प्रतिकूल क्यों रहता है।

विकासशील देशों के प्रतिकूल भुगतान-शेष में सुधार के उपाय

सामान्य रूप से प्रतिकूल भुगतान-शेष को कैसे ठीक किया जा सकता है, इसके लिए हमने इसी अध्याय में पिछले पृष्ठों में मौद्रिक एवं अमौद्रिक उपायों का विवेचन किया है। ये उपाय विकासशील देशों पर भी लागू किये जा सकते हैं। यहाँ हम इन उपायों के अतिरिक्त विकासशील देशों को दृष्टि में रखकर कुछ विशेष उपायों की चर्चा करेंगे—

(1) **अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में सुधार**—यदि हम विकासशील देशों के प्रतिकूल भुगतान-शेष को ठीक करना चाहते हैं तो इसके लिए यह आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में, विकासशील देशों की समस्याओं को दृष्टि में रखते हुए सुधार किया जाय। इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय तरलता (International Liquidity) में वृद्धि आवश्यक है। अर्थशास्त्रियों का विचार है कि तरलता में वृद्धि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष द्वारा जारी की गयी एवं स्वर्ण से समर्थित कागजी मुद्रा से की जा सकती है। यहाँ मुद्रा कोष की बचत को विकासशील देशों में विनियोग कर भी तरलता की समस्या हल की जा सकती है।

(2) **विनिमय की स्थिर दर**—कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि यह विकासशील देशों के हित में है कि विनिमय की दर स्थिर रखना चाहिए। इन देशों को प्रायः प्रतिकूल भुगतान शेष की समस्या का सामना करना पड़ता है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की स्थिति मजबूत हो तो स्थिर विनिमय दर के अन्तर्गत ये देश अपने विकास कार्यक्रमों को पूरा कर सकते हैं। यदि विनिमय दर के समायोजन के माध्यम से इन देशों के प्रतिकूल भुगतान शेष को ठीक करने का प्रयत्न किया गया तो इस बात की अधिक सम्भावना है कि इन देशों की मुद्राओं के विनिमय मूल्य में ह्रास हो एवं भुगतान-शेष की समस्या और अधिक गम्भीर हो जाय।

(3) **पूंजी के पलायन पर रोक**—यदि विकासशील देशों से पूंजी बाहर जाती है तो इससे भुगतान-शेष की स्थिति और भी कठिन हो जाती है। यदि देश में राजनीतिक अस्थिरता, युद्ध या अशान्ति अथवा असुरक्षा की स्थिति विद्यमान रहती है तो पूंजी का बहिर्गमन होने लगता है। अतः अर्द्ध-विकसित देशों को ऐसी दशाओं का निर्माण करना चाहिए कि पूंजी देश के बाहर न जाने पाय।

(4) **विदेशी विनियोगों को प्रोत्साहन**—विकासशील देशों को इस प्रकार की दशाओं का निर्माण करना चाहिए कि देश में विदेशी विनियोगों को प्रोत्साहन मिले तथा जो लाभ वे अर्जित करें उसका पुनः देश में ही विनियोग कर दिया जाये। इसके लिए सरकार द्वारा विभिन्न प्रकार की रियायतें दी जा सकती हैं। किन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि विदेशी फर्मों की गतिविधियाँ देश के हितों के प्रतिकूल न हों।

(5) **जनसंख्या नियन्त्रण**—विकासशील देशों को विदेशों से इसलिए अधिक आयात करना पड़ता है क्योंकि जनसंख्या वृद्धि के कारण वस्तुओं के लिए इनकी माँग अधिक होती है। इसलिए आयातों को नियन्त्रण करने के लिए यह आवश्यक है कि जनसंख्या पर नियन्त्रण रखा जाय। यह प्रशंसनीय है कि बहुत से अर्द्धविकसित देश इस आवश्यकता को तेजी से अनुभव कर रहे हैं।

(6) **सुरक्षित भण्डार का निर्माण**—प्रो॰ हैरड ने इस सुझाव का समर्थन किया है कि एक अन्तर्राष्ट्रीय कच्चे माल का कोष अथवा भण्डार का निर्माण इस उद्देश्य से किया जाना चाहिए

कि चक्रिय उच्चावचनों के बावजूद भी उनकी क्षमता को स्थिर रखा जा सके। इसी प्रकार विकासशील देशों को भी अनाज का सुरक्षित भण्डार रखना चाहिए ताकि संकट के समय उनके आयातों के लिए भारी मूल्य न चुकाना पड़े एवं उनके भुगतान शेष में दबाव पैदा न हो।

(7) **बचत एवं विनियोग को प्रोत्साहन** – विकासशील देशों को अपनी भुगतान शेष की समस्या को हल करने के लिए निर्यातों में वृद्धि करना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब उनके उत्पादन में वृद्धि हो। उत्पादन बढ़ाने के लिए विनियोग एवं बचत में वृद्धि होना आवश्यक है। प्रदर्शन प्रभाव के कारण [illegible] देशों में बचत नहीं हो पाती है अतः इसे निष्क्रिय बनाया जाना चाहिए।

(8) **निर्यातों में विविधता एवं नये बाजारों की खोज**—अपने निर्यातों में वृद्धि करने के लिए विकासशील देशों को निर्यात-सम्वर्द्धन के उपायों को अपनाना चाहिए तथा निर्यात की वस्तुओं में विविधता एवं गुणात्मक सुधार लाना चाहिए ताकि वे विश्व बाजार में प्रतियोगिता कर सकें। साथ ही निर्यात के लिए नये बाजारों की खोज भी आवश्यक है। इससे उनके भुगतान शेष में सुधार होगा।

(9) **नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना**—विकासशील देश इस बात पर जोर दे रहे हैं कि उनके हितों एवं समस्याओं को दृष्टि में रखते हुए एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना की जानी चाहिए। इसके लिए इन देशों में सगठन होना आवश्यक है। हाल ही में कोलम्बो कान्फ्रेन्स में "तृतीय विश्व के लिए बैंक" की स्थापना का जो निर्णय लिया गया है, वह उत्साहवर्द्धक है। प्रो० रावर्ट ट्रिफिन (येल वि० वि० अमरीका) ने इसका समर्थन किया है।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सुधार, नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना एवं अन्य मौद्रिक एवं गैर-मौद्रिक उपायों के माध्यम से विकासशील देशों की प्रतिकूल भुगतान शेष की समस्या को ठीक किया जा सकता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. व्यापार-शेष एवं भुगतान शेष में अन्तर बताइए? भुगतान-शेष में जो मदें शामिल होती हैं उनका उल्लेख कीजिए?
2. "भुगतान-शेष सदैव सन्तुलित रहता है" इस कथन की समीक्षा कीजिए?
3. भुगतान-शेष में असन्तुलन होने के क्या कारण हैं? प्रतिकूल भुगतान शेष को किस प्रकार ठीक किया जा सकता है, समझाइए?
4. किसी देश के अनेक वर्षों के भुगतान सन्तुलन के विश्लेषण से उस देश की आन्तरिक एवं बाह्य अर्थव्यवस्था के बारे में कौन से तथ्य जाने जा सकते हैं, समझाइए?
5. व्यापार सन्तुलन एवं भुगतान सन्तुलन का अन्तर बताइए तथा विपरीत भुगतान सन्तुलन को सुधारने की विभिन्न विधियों की विवेचना कीजिए?
6. विकासशील देशों का भुगतान शेष प्रतिकूल क्यों रहता है? इसमें सुधार करने के लिए आप क्या सुझाव देंगे? भारत के विशेष सन्दर्भ में समझाइए?
7. भुगतान-शेष के विभिन्न सिद्धान्तों को समझाइए? इनमें से कौनसा सिद्धान्त विकासशील देशों के प्रतिकूल व्यापार शेष को स्पष्ट करता है?
8. भुगतान-शेष में असन्तुलन कितने प्रकार से हो सकता है, उन्हें पूर्ण रूप से समझाइए?
9. भुगतान-शेष में "अतिरेक" एवं "घाटे" से आप क्या समझते हैं? इसमें सन्तुलन किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है?

अध्याय **24**

विनिमय नियन्त्रण

[EXCHANGE CONTROL]

परिचय

विनिमय नियन्त्रण अथवा विनिमय प्रतिबन्ध भुगतान-शेष की कठिनाइयों को हल करने की एक वैकल्पिक व्यवस्था है जिसका आशय सरकार द्वारा विदेशी विनिमय बाजार की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप से है। जब किसी देश की सरकार विनिमय की उस दर से सन्तुष्ट नहीं होती जो स्वतन्त्र विनिमय बाजार में माँग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा स्थापित होती है तो वह प्रतिबन्ध अथवा हस्तक्षेप के द्वारा विनिमय दर को नियन्त्रित करती है तथा इसे ही विनिमय नियन्त्रण कहते हैं। अन्य शब्दों में, विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत बाजार की शक्तियों को कोई महत्व नहीं दिया जाता तथा उन्हें सरकारी निर्णयों द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया जाता है। विनिमय नियन्त्रण के फलस्वरूप देश के समस्त विदेशी विनिमय एवं उसे प्राप्त होने वाली विदेशी मुद्रा पर प्रत्यक्ष रूप से सरकार का नियन्त्रण हो जाता है। विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत आयातों और अन्य अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों का निर्धारण अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों की तुलना से नहीं किया जाता वरन् देश की परिस्थिति एवं आवश्यकतानुसार किया जाता है।

आजकल अपनी भुगतान शेष की समस्याओं को हल करने के लिए प्रत्येक देश किसी न किसी रूप में विनिमय नियन्त्रण का उपयोग करता है। इसीलिए प्रो. क्राउथर ने कहा है कि "आज के नियोजित अर्थव्यवस्था और व्यक्तिगत व्यापार पर सरकार के हस्तक्षेप के युग में यदि विदेशी विनिमय बाजार पर किसी न किसी मात्रा में नियन्त्रण न हो तो यह विचित्र होगा।"

विनिमय नियन्त्रण की परिभाषा

उपर्युक्त परिचय से यह तो स्पष्ट हो गया है कि विनिमय नियन्त्रण का क्या तात्पर्य है। विस्तृत अर्थ में विनिमय नियन्त्रण का अर्थ उस सरकारी हस्तक्षेप से है जिससे विनिमय दर को प्रभावित किया जा सके। ये सरकारी हस्तक्षेप कई प्रकार के हो सकते हैं। किन्तु सीमित अर्थ में विनिमय नियन्त्रण का आशय उन उपायों से है जो प्रत्यक्ष रूप से विदेशी विनिमय की माँग और पूर्ति को नियमित करते हैं। अब हम विनिमय नियन्त्रण की कुछ परिभाषाओं पर विचार करेंगे—

प्रो. हैबरलर के अनुसार, "विनिमय नियन्त्रण वह सरकारी नियमन है जो विदेशी विनिमय बाजार में आर्थिक शक्तियों को स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं करने देता है।"[1]

पाल एनज़िग (Paul Einzig) के अनुसार, "विनिमय नियन्त्रण का आशय मौद्रिक अधि-

---

1 Haberler : *Theory of International Trade*, p. 83

कारी के उन सभी हस्तक्षेपों से होता है जो विनिमय दरों या उनसे सम्बन्धित बाजारों को प्रभावित करने के लिए किये जाते हैं।"[1]

प्रो ईंजिग के अनुसार, "विदेशी विनिमय के लेन-देन की स्वतन्त्रता में किसी भी प्रकार का सरकारी हस्तक्षेप विनिमय नियन्त्रण है।"[2]

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत विदेशी विनिमय के स्वतन्त्र लेन-देन को प्रतिबन्धित कर दिया जाता है।

विनिमय-नियन्त्रण की कार्यप्रणाली
(MECHANISM OF EXCHANGE CONTROL)

विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत विदेशी विनिमय की माँग को प्रतिबन्धित करने के लिए, विनिमय नियन्त्रण अधिकारियों द्वारा उसे प्राथमिकता के क्रम से वर्गीकृत कर दिया जाता है तथा फिर उसे अलग-अलग ढंग से पूर्ण नियन्त्रण के साथ कार्यान्वित किया जाता है। कुछ देशों में आयात लाइसेंस की प्रणाली को अपनाया जाता है ताकि आयातों की किस्म एवं मात्रा को नियन्त्रित किया जा सके। जैसे-जैसे विनिमय निर्यन्त्रन अधिकारियों की स्थिति एकाधिकारी के समान होती जाती है विनिमय नियन्त्रण भी उतना ही अधिक प्रभावपूर्ण होता जाता है।

विनिमय नियन्त्रण के अभाव में विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय व्यक्तिगत व्यापारियों द्वारा किया जाता है एवं मुख्य रूप से यह कार्य वाणिज्यिक बैंकों के विनिमय विभाग करते हैं। किन्तु विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत विदेशी विनिमय के सारे लेन-देन सरकार के पास केन्द्रित हो जाते हैं। सरकार विदेशी विनिमय की दरें निश्चित कर देती है। साथ ही देशवासियों द्वारा विदेशी मुद्रा को बेचने और विदेशियों द्वारा देश की मुद्रा को क्रय करने के लिए भी सरकार द्वारा दर निर्धारित कर दी जाती है। सरकार ऐसे नियम भी बना देती है जिनके अनुसार समस्त विदेशी विनिमय पर सरकार का स्वामित्व हो जाता है। एक देश की सरकार विदेशी भुगतान के लिए विदेशी सरकारों से समझौता भी कर सकती है। इस प्रकार विनिमय की वास्तविक दर को, स्वतन्त्र बाजार दर से भिन्न कर दिया जाता है।

पूर्ण एवं आंशिक विनिमय नियन्त्रण
(FULL-FLEDGED AND PARTIAL EXCHANGE CONTROL)

पूर्ण विनिमय नियन्त्रण—विनिमय नियन्त्रण या तो पूर्ण रूप से किया जा सकता है अथवा आंशिक रूप से। पूर्ण विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत विदेशों को किये जाने वाले भुगतान (Payments) एवं विदेशों से प्राप्त होने वाले भुगतान (Receipts) दोनों को नियन्त्रित कर दिया जाता है। इस प्रकार विदेशी विनिमय बाजार में सरकार का पूर्ण प्रभुत्व हो जाता है। निर्यातों से प्राप्त होने वाले एवं अन्य स्रोतों से प्राप्त होने वाले भुगतानों को सरकार को सौंप दिया जाता है। निर्यात करने के लिए "निर्यात लाइसेंस" दिये जाते हैं जिन्हें वास्तव में माल निर्यात करने के पहले कस्टम अधिकारियों को दिखाना जाना अनिवार्य होता है। सरकार को जो विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है, उसे राष्ट्रीय हित को दृष्टि में रखते हुए प्रतियोगी आयातकों में आवंटित किया जाता है। केवल उन वस्तुओं का ही आयात किया जाता है जो अर्थव्यवस्था के लिए अनिवार्य होते हैं तथा अनावश्यक एवं विलासिता की वस्तुओं का आयात पूर्ण रूप से प्रतिबन्धित कर दिया जाता है। पूँजी का

1 Paul Einzig, *Exchange Control*, p. 10

2 "Any form of official interference with the freedom of dealings in foreign exchange is exchange control." Einzig, *Op. cit.*, p. 187.

निर्यात रोक दिया जाता है तथा प्राप्त एवं परियोजन भुगतान को गम्भीर रूप में सीमित कर दिया जाता है।

आंशिक विनिमय नियन्त्रण—सब प्रकार के विनिमय नियन्त्रण पूर्ण विनिमय नियन्त्रण के समान कठोर नहीं होते। यदि भुगतान शेष का दबाव बहुत अधिक नहीं है अर्थात् वह साधारण पूँजी निर्यात तक ही सीमित है तो विदेशी विनिमय के आवेदनों को साधारण जाँच पड़ताल के बाद स्वीकृत कर दिया जाता है तथा कुछ विशेष माँगों को ही सीमित किया जाता है। जैसे सन् 1931 में स्वर्णमान टूटने के बाद इंगलैण्ड में पूँजी निर्यात पर पाबन्दी तो लगा दी पर इसका नियन्त्रण सरकार के हाथ में रखकर वाणिज्यिक बैंकों को सौंप दिया। ये आंशिक विनिमय नियन्त्रण अल्पकालीन होते हैं और जैसे ही भुगतान शेष की कठिनाई दूर होती है, इन नियन्त्रणों को भी समाप्त कर दिया जाता है।

विनिमय नियन्त्रण और सरकारी हस्तक्षेप में अन्तर—विनिमय नियन्त्रण और सरकारी हस्तक्षेप (Government Intervention) इन दोनों शब्दों को प्रायः एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है किन्तु इन दोनों में अन्तर है। विनिमय दरों में होने वाले परिवर्तनों को सरकार दो प्रकार से रोकती है विनिमय नियन्त्रण और सरकारी हस्तक्षेप। विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत निजी व्यक्तियों द्वारा विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय की स्वतन्त्रता को समाप्त कर दिया जाता है और विदेशी विनिमय के सारे अधिकार सरकार के पास केन्द्रित हो जाते हैं। परन्तु सरकारी हस्तक्षेप के अन्तर्गत निजी व्यक्तियों की विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय की स्वतन्त्रता समाप्त नहीं की जाती किन्तु सरकार विनिमय दर को निर्धारित कर उसके क्रय-विक्रय को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है।

विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य
(OBJECTIVES OF EXCHANGE CONTROL)

आजकल बहुत से देश विनिमय-नियन्त्रण को अपना रहे हैं। कई उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विनिमय नियन्त्रण का सहारा लिया जा रहा है। मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं

(1) पूँजी का बहिर्गमन रोकने के लिए (To Check Capital Flights)—विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग पूँजी के बहिर्गमन को रोकने के लिए किया जाता है। सन् 1930 के आस-पास जर्मनी, अर्जेन्टाइना एवं अन्य देशों ने इस उद्देश्य से विनिमय नियन्त्रण को प्रयुक्त किया। मुख्य रूप से दो कारणों से पूँजी के बहिर्गमन को विनिमय नियन्त्रण के द्वारा रोका जाता है—प्रथम, देश में असुरक्षा, एवं अस्थिरता के भय के कारण पूँजी का जो आकस्मिक एवं अनिश्चित बहिर्गमन होता है एवं द्वितीय, अर्द्धविकसित देशों द्वारा अपने ही निवासियों अथवा विदेशी विनियोगकर्त्ताओं द्वारा देश के बाहर पूँजी भेजने से रोकने के लिए। क्योंकि इन देशों में विनिमय नियन्त्रण द्वारा ही पूँजी को रोक कर देश में ही विनियोग किया जा सकता है। यदि विनिमय नियन्त्रण को प्रभावपूर्ण ढंग से कार्यान्वित किया जाय तो देश से पूँजी को बाहर जाने से रोका जा सकता है।

(2) प्रतिकूल भुगतान शेष ठीक करने के लिए (To Correct Adverse Balance of Payments)—विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग उस सीमा तक आयातों को सीमित करने के लिए किया जाता है जितना कि विदेशी विनिमय देश में उपलब्ध है ताकि भुगतान शेष में सन्तुलन स्थापित किया जा सके। इस प्रकार प्रचलित विनिमय दर से भिन्न दर निर्धारित कर विदेशी विनिमय रिजर्व की निकासी को रोका जाता है।

(3) विनिमय दर के उच्चावचन को रोकने के लिए (To Avoid Fluctuations)—विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग विनिमय दर के उच्चावचन को टालने के लिए भी किया जाता है। इसमें उन उच्चावचनों को रोका जाता है जो अस्थायी होते हैं एवं जिनसे सटोरियों को बढ़ावा

मिलता है। विनिमय दर में अस्थिरता के कारण विदेशी व्यापार के लाभ भी अनिश्चित हो जाते हैं। पहले से यह जान लेना कठिन होता है कि विनिमय दर का कौन सा उच्चावचन अस्थायी है किन्तु पूर्व के अध्ययन से इसमें सहायता मिल सकती है। ब्रिटेन ने 1932 और 1939 के बीच विनिमय समानीकरण कोष[1] के सहयोग से इस उद्देश्य से विनिमय नियन्त्रण को अपनाया था।

(4) अधिमूल्य मुद्रा बनाये रखने के लिए (To Maintain Overvalued Currency)—विनिमय नियन्त्रण इस उद्देश्य से भी किया जाता है कि एक देश की मुद्रा की अन्तर्राष्ट्रीय दर को, स्वतन्त्र बाजार से ऊँची दर पर कायम रखा जा सके। यद्यपि अधिमूल्यन से देश के निर्यातों को धक्का लगता है फिर भी निम्न कारणों से इसे अपनाया जाता है

(i) यदि देश से पूँजी बाहर जा रही है एवं सट्टे की गतिविधियों को प्रोत्साहन मिल रहा है तो ऐसी स्थिति में विनिमय मूल्य ह्रास से उक्त गतिविधियाँ और तेज हो जायेंगी। अतः अधिमूल्यन किया जाता है।

(ii) यदि देश में युद्ध की स्थिति हो तो मुद्रा का अधिमूल्यन कर विदेशों से आवश्यक वस्तुओं को खरीदा जा सकता है।

(iii) जिस देश को विदेशी मुद्रा में ऋण का भारी मात्रा में भुगतान करना होता है, उसके लिए अधिमूल्यन करना लाभप्रद होता है।

(5) विदेशी व्यापार नियन्त्रित करने के लिए (To Control Foreign Trade)—यदि कोई देश यह अनुभव करता है कि प्रचलित विनिमय दर पर वह अपनी माँग के अनुसार विदेशी विनिमय प्राप्त नहीं कर पा रहा है तो उपलब्ध मात्रा की राशनिंग कर दी जाती है और कुछ निश्चित मापदण्डों के अनुसार निम्न को दृष्टि में रखते हुए विदेशी विनिमय का आवंटन कर दिया जाता है

(i) विदेशी विनिमय को कौन से प्रयोगों में लाया जायगा,

(ii) किन फर्मों को विदेशी विनिमय प्रदान किया जायगा, एवं

(iii) किन देशों से आयात किया जायगा।

इस प्रकार यह निर्धारित कर दिया जाता है कि किन देशों से आयात किया जायगा तथा इस तरह विदेशी व्यापार को नियन्त्रित कर दिया जाता है जिसका प्रभाव आयात एवं निर्यात करने वाले दोनों देशों पर पड़ता है क्योंकि प्रथम, आयात नियन्त्रित करने से देश की अर्थव्यवस्था में घरेलू उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है विशेष रूप से जबकि घरेलू अर्थव्यवस्था आयातों पर काफी निर्भर हो एवं द्वितीय, एक देश के विनिमय नियन्त्रण का विदेशों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(6) घरेलू उद्योगों को संरक्षण हेतु (To Protect Domestic Industries)—विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग इस उद्देश्य से भी किया जाता है कि देश में उत्पादन को दृष्टि में रखते हुए विदेशी विनिमय को प्रयुक्त किया जाय। इसके अनुसार प्राथमिकता के आधार पर ही आयात किये जाते हैं एवं देश के उद्योगों को संरक्षण दिया जाता है जिसके निम्न दो उद्देश्य हो सकते हैं :

(i) प्रतियोगी आयातों को इसलिए न्यायोचित हटाया जाता है ताकि देश के शिशु उद्योगों को विकसित किया जा सके।

(ii) आयातों को नियन्त्रित करने का यह भी उद्देश्य होता है कि देश में कुल उत्पादन और रोजगार में वृद्धि की जा सके।

---

[1] विनिमय समानीकरण कोष अथवा खाता का विस्तृत विवरण इसी अध्याय के अन्त में देखें।

(7) आय प्राप्त करने के लिए (To Acquire Revenue)—सरकार, आय प्राप्त करने के लिए भी विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग करती है। बहु विनिमय दरों (Multiple Exchange Rates) के अन्तर्गत विनिमय नियन्त्रण अधिकारी विदेशी विनिमय की क्रय एवं विक्रय करने की अलग दरें निर्धारित कर देते हैं। औसत क्रय दर और औसत विक्रय दर में जो अन्तर होता है, वह सरकार को आय के रूप में प्राप्त होता है। इस प्रकार प्राप्त आय का प्रयोग देश के आर्थिक विकास के कार्यों के लिए किया जा सकता है। यह स्वाभाविक है कि विदेशी विनिमय की क्रय दर, उसकी विक्रय दर से कम रखी जाती है।

(8) घरेलू विकास कार्यक्रम के लिए (To Safeguard Domestic Programmes)—विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य यह भी होता है कि उसकी अर्थव्यवस्था को बाह्य प्रतिकूल प्रभावों से मुक्त रखने हेतु एक देश आर्थिक विकास की मुद्रा प्रसार विरोधी (Anti-deflationary) नीति अपना सके। यदि अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव स्वतन्त्र रूप से किसी देश की अर्थव्यवस्था को प्रभावित करते हैं तो उसके विकास कार्यक्रमों में अस्थिरता आती है। इस प्रकार विनिमय नियन्त्रण के माध्यम से देश की अर्थव्यवस्था को अवस्थायित एवं अस्थायी बाह्य प्रतिकूल प्रभावों से सुरक्षित रखा जा सकता है।

(9) मन्दी को रोकने हेतु (To Prevent Spread of Depression)—अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों के माध्यम से, एक देश में होने वाली मन्दी अन्य देशों में भी फैल जाती है। किन्तु विनिमय नियन्त्रण के माध्यम से आयातों एवं निर्यातों को नियन्त्रित कर इस प्रकार की मन्दी को फैलने से रोका जा सकता है। 1930 के लगभग बहुत से देशों ने इसी उद्देश्य से विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग किया था।

(10) विदेशी ऋणों के भुगतान के लिए (To Provide for Meeting External Debts)—अधिक मात्रा में विदेशी ऋणों के भुगतान के लिए भी विनिमय नियन्त्रण को प्रयुक्त किया जाता है। यदि कोई देश अपने विदेशी ऋणों को नहीं चुकाता तो उसकी अन्तर्राष्ट्रीय साख को धक्का लगता है। अतः ऋणों के भुगतान के लिए सरकारें, आवश्यक विदेशी विनिमय प्राप्त करने के लिए विनिमय नियन्त्रण का सहारा लेती हैं।

(11) शत्रु देशों द्वारा क्रय शक्ति के प्रयोग को रोकने हेतु (To Prevent the Use of Purchasing Power by Enemy Nations)—विनिमय नियन्त्रण के इस उद्देश्य का प्रयोग युद्ध काल में किया गया था ताकि शत्रु देशों एवं उनके एजेन्ट अथवा नागरिकों को जो नियन्त्रण लगाने वाले या तटस्थ देशों में रहते हैं, क्रय शक्ति का प्रयोग करने से रोका जा सके। इस क्रिया को "पूँजी का अवरुद्ध किया जाना या सीलन" (Freezing of Assets) कहते हैं। इसी उद्देश्य से द्वितीय विश्व युद्ध काल में मित्र राष्ट्रों ने अपने देशों में शत्रु राष्ट्र के निवासियों की जमा सम्पत्तियों को जब्त कर लिया था।

(12) मुद्रा के अवमूल्यन के लिए (For Undervaluation of Currency)—जब कोई देश स्वतन्त्र बाजार की शक्तियों से छूट कर अपनी मुद्रा के बाह्य मूल्य को कम कर देता है तो इसे अवमूल्यन कहते हैं। इससे निर्यात प्रोत्साहित और आयात हतोत्साहित होते हैं। किन्तु इसका एक परिणाम यह होता है कि देश की आन्तरिक कीमतों में वृद्धि होने लगती है जो विश्व कीमतों से अधिक होती है। आयात और निर्यातों के माध्यम से भी, देश की कीमत स्तर पर प्रभाव पड़ता है। यदि देश आयातों पर अधिक निर्भर है तो अवमूल्यन से जीवन निर्वाह व्यय में वृद्धि होती है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य से अवमूल्यन की नीति अनैतिक एवं स्वार्थपूर्ण है। यह एक ऐसा खेल है जिसे केवल एक ही खेल सकता है। किन्तु

यदि इसे प्रत्येक खेलना शुरू कर देता है तो यह एक दौड में परिवर्तित हो जाता है तथा सारी मुद्राएँ बेकार हो जाती हैं।

(13) महत्वपूर्ण देशों के साथ अपने मौद्रिक सम्बन्ध स्थिर रखना (To Stabilise the Monetary Reations)—बहुत से देशों ने इस उद्देश्य से भी विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग किया है। जैसे 1931 में ब्रिटेन द्वारा स्वर्णमान स्थगित कर दिया गया था तो स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों ने ब्रिटेन के साथ अपनी विनिमय दरें स्थायी रखने के उद्देश्य से विनिमय नियन्त्रण को अपनाया था।

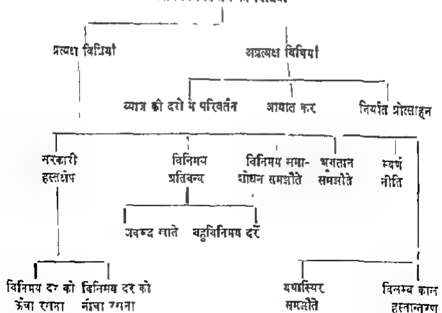
विनिमय नियन्त्रण की रीतियाँ
(METHODS OF EXCHANGE CONTROL)

विनिमय नियन्त्रण की विभिन्न विधियों को मोटे तौर पर दो भागों में बाँटा जा सकता है—प्रत्यक्ष विधियाँ एवं अप्रत्यक्ष विधियाँ।

प्रत्यक्ष विधियाँ (Direct Methods)—प्रत्यक्ष विधियों के अन्तर्गत एक देश के लोगों की विदेशी विनिमय क्रय करने की स्वतन्त्रता को सीमित कर दिया जाता है ताकि विनिमय दर पर सरकार का प्रभावपूर्ण नियन्त्रण हो सके। लोग केवल सरकार की अनुमति से ही विदेशी मुद्रा को क्रय कर सकते हैं। सरकार के पास उपलब्ध विदेशी विनिमय की राशनिंग कर दी जाती है और काफी सोच समझ कर महत्वपूर्ण उद्देश्यों के लिए ही विदेशी विनिमय का प्रयोग आयात करने के लिए किया जाता है। विनिमय नियन्त्रण की यह कठोर विधि है।

अप्रत्यक्ष विधियाँ (Indirect Methods)—अप्रत्यक्ष विधियों के अन्तर्गत मौद्रिक अधिकारी घोषित विनिमय दर पर असीमित मात्रा में विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करते हैं तथा इस दर पर लोग किसी भी उद्देश्य के लिए विदेशी विनिमय को खरीद सकते हैं, एवं उन पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता। इन रीतियों का दो कारणों से अधिक प्रयोग नहीं किया जाता। प्रथम तो यह कि यदि अन्य देश भी इस प्रकार की नीतियों को अपना लें तो ये प्रभावहीन हो जाती है और द्वितीय यह कि ये विधियाँ विनिमय दर को केवल प्रभावित ही कर सकती हैं। इसे पूर्ण रूप से नियन्त्रित नहीं कर सकती। प्रो. क्राउथर के शब्दों में, "विनिमय नियन्त्रण की अप्रत्यक्ष विधियाँ, यद्यपि ये किसी भी तरह त्याज्य अथवा नगण्य नहीं हैं, सरकार के लिए विनिमय दर पर पूर्ण नियन्त्रण रखने के लिए न तो सक्षम है और न ही उपयुक्त है।"

विनिमय नियन्त्रण की प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष विधियों को निम्न चार्ट द्वारा अच्छी तरह से समझा जा सकता है :



अब हम विस्तार से उपर्युक्त विधियों का विवेचन करेंगे।

विनिमय नियन्त्रण की प्रत्यक्ष विधियाँ

1 सरकारी हस्तक्षेप (Intervention)—इस विधि के अन्तर्गत सरकार स्वतन्त्र विनिमय बाजार में विनिमय दर का अधिमूल्यन (Over-Valuation) अथवा अवमूल्यन (Under-Valuation) करने के उद्देश्य से प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप करती है। सरकार स्वयं विदेशी विनिमय के क्रेता या विक्रेता के रूप में बाजार में प्रवेश करती है तथा अपनी मुद्रा की विनिमय दर को बढ़ा सकती है अथवा उसे घटा सकती है। प्रथम विश्व युद्ध के समय ब्रिटिश सरकार ने इसी प्रकार का हस्तक्षेप किया था और पौण्ड का अधिमूल्यन 1£=$ 4.76.5 की विनिमय दर पर किया था। न्यूज़ीलैण्ड ने इसी विधि के अन्तर्गत अपने पौण्ड का अवमूल्यन किया था।

विनिमय उद्बन्धन अथवा अधिकीलन क्रियायें (Exchange Pegging Operations)

सरकारी हस्तक्षेप की मुख्य विधि विनिमय उद्बन्धन है। जब विनिमय दर को एक निश्चित बिन्दु पर बनाये रखने के लिए हस्तक्षेप किया जाता है तो इसे उद्बन्धन या अधिकीलन कहते हैं। अधिकीलन के दो रूप होते हैं—पहला, विनिमय दर को ऊँचा रखना या टाँकना (Pegging Up) और दूसरा विनिमय दर को नीचा रखना या टाँकना (Pegging Down)। इस प्रकार उद्बन्धन (Pegging) का अर्थ है मुद्रा की विनिमय दर को स्थिर रखना यद्यपि हस्तक्षेप का आशय सदैव निश्चित दर से नहीं होता। उद्बन्धन क्रियाओं के अन्तर्गत एक देश केन्द्रीय बैंक, विदेशी विनिमय बाजार में, विदेशी मुद्रा के बदले अपनी मुद्रा का क्रय विक्रय करता है ताकि विनिमय दर को निश्चित रखा जा सके चाहे वह अवमूल्यन हो अथवा अधिमूल्यन। इस प्रकार विनिमय दर ऊँची रखी जा सकती है (Pegging Up) अथवा नीची (Pegging Down) रखी जा सकती है।

(i) विनिमय दर को ऊँचा रखना—जैसा कि स्पष्ट है इसमें विनिमय दर को ऊँचा रखा जाता है अर्थात् मुद्रा का अधिमूल्यन किया जाता है। इसके अन्तर्गत सरकार के पास विदेशी मुद्रा का पर्याप्त भण्डार होना चाहिए ताकि वह एक निश्चित दर पर असीमित मात्रा में घरेलू मुद्रा का क्रय कर सके अर्थात् विदेशी मुद्रा का विक्रय कर सके। अधिमूल्यन से, आयात अतिरेक के कारण विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ जाती है।

(ii) विनिमय दर को नीचा रखना—इसके अन्तर्गत, विदेशी मुद्रा के बदले में, केन्द्रीय बैंक को किसी भी मात्रा में घरेलू मुद्रा बेचने के लिए तैयार रहना पड़ता है क्योंकि जब मुद्रा का अवमूल्यन किया जाता है तो निर्यात अतिरेक के कारण, घरेलू मुद्रा की माँग बढ़ जाती है। अत केन्द्रीय बैंक के पास पर्याप्त मात्रा में घरेलू मुद्रा होनी चाहिए।

दोनों का तुलनात्मक विवेचन Pegging Up and Pegging Down—A Comparison)

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विनिमय दर को ऊँचा रखना अधिक कठिन है क्योंकि इसके लिए पर्याप्त मात्रा में विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होती है। यद्यपि विनिमय दर को नीचा रखना, ऊपरी तौर पर सरल लगता है किन्तु उसकी अपनी कुछ सीमाएँ हैं क्योंकि इसके लिए सरकार के पास भारी मात्रा में घरेलू मुद्रा होनी चाहिए। यह मुद्रा या तो कर लगाकर या लोगों से ऋण लेकर या हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा प्राप्त की जा सकती है। इस अन्तिम विधि से मुद्रा प्रसार की सम्भावना रहती है। इस प्रकार विनिमय दर को ऊँचा या नीचा रखना—इन दोनों की सीमाएँ—अन्तर केवल इतना है कि ऊँची विनिमय दर रखना तुलनात्मक रूप में अधिक कठिन है।

हस्तक्षेप की नीति को, विनिमय दर के उच्चावचन रोकने के लिए भी अपनाया जा सकता

की सरकार को इस बात की जानकारी मिलती है कि अन्तर्राष्ट्रीय-जगत मे उसकी आर्थिक स्थिति क्या है तथा इस सम्बन्ध में विदेशी व्यापार, मौद्रिक एवं राजकोषीय तथा अन्य विनिमय सम्बन्धी किन नीतियों का अनुसरण किया जा सकता है ताकि भुगतान शेष को सन्तुलित किया जा सके।

(2) **विदेशी व्यापार की प्रवृत्ति का सूचक**—भुगतान-शेष के विवरण से हम यह जान सकते है कि किसी विशेष देश की विदेशी व्यापार प्रवृत्ति क्या है क्योंकि विदेशी व्यापार की मद, भुगतान-शेष की सबसे महत्वपूर्ण मद होती है। यह भी जाना जा सकता है कि देश के निर्यातों एवं आयातों का मूल्य क्या है।

(3) **विदेशी ऋणों के भुगतान की विधि का ज्ञान**—भुगतान-शेष से हम यह भी जान सकते है कि एक देश अपने विदेशी दायित्वो का भुगतान किस प्रकार कर रहा है? क्या वह वस्तुओं का निर्यात कर रहा अथवा विदेशी-जमा का प्रयोग कर रहा है अथवा उपहार प्राप्त कर रहा है। इस प्रकार भुगतान-शेष के विवरण से यह जाना जा सकता है कि एक देश मुद्रा का ऋण ले रहा है अथवा दे रहा है, उसके विदेशी विनिमय कोषो में वृद्धि हो रही है अथवा कमी एवं उसकी मौद्रिक एवं विनिमय नियन्त्रण सम्बन्धी नीतियाँ कहाँ तक प्रभावशील है?

(4) **मुद्रा के अवमूल्यन के प्रभाव का ज्ञान**—भुगतान-शेष विवरण से यह भी जान सकते हैं कि उस देश की मुद्रा के अवमूल्यन का क्या प्रभाव हुआ है। चालू खाते से यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि अवमूल्यन के फलस्वरूप क्या देश के निर्यातो में वृद्धि हुई है अथवा नही?

(5) **राष्ट्रीय आय पर प्रभाव**—विदेशी व्यापार गुणक मे यह स्पष्ट किया जा चुका है कि विदेशी व्यापार का देश की राष्ट्रीय आय पर प्रभाव पड़ता है अतः प्रो किंडलबर्जर के अनुसार भुगतान शेष का प्रयोग यह मापने के लिए किया जाता है कि विदेशी व्यापार एवं लेनदेन का देश की राष्ट्रीय आय पर क्या प्रभाव हुआ है।

(6) **विभिन्न मुद्राओं मे देश की भुगतान-शेष की स्थिति**—किसी भी देश का भुगतान-शेष विभिन्न मुद्राओं वाले देशो के साथ एक समान रहे, यह आवश्यक नही है। जैसे अमेरिका अथवा डालर क्षेत्र के देशों के साथ एक देश की भुगतान सन्तुलन की स्थिति घाटे की रह सकती है जबकि अन्य देशो के साथ अतिरेक की रह सकती है अतः भुगतान शेष के अध्ययन से यह पता चल सकता है कि विभिन्न मुद्राओं मे देश के भुगतान-शेष की स्थिति क्या है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि किसी देश का भुगतान-शेष उसकी आर्थिक स्थिति का मापक (Barometer) होता है। इसके महत्व को दृष्टि मे रखकर ही प्रो. जेवन्स (Jevons) ने कहा है कि "एक अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्री के लिए भुगतान शेष का वही महत्व होता है जो एक रसायन-शास्त्री के लिए तत्वो के आवर्धिक तालिका का होता है।"[1]

अब प्रश्न है कि क्या भुगतान शेष से किसी देश की सही स्थिति का ज्ञान होता है? कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि इससे सम्पूर्ण तथ्यों का ज्ञान नही होता। यह सम्भव है कि किसी विशेष वर्ष मे एक देश मे अच्छी फसल हो जाने से निर्यात बढ़ जाये और भुगतान-शेष अनुकूल हो जाये किन्तु इसे देश की समृद्धि का प्रतीक नही माना जा सकता क्योंकि यह अस्थायी लक्षण नही है। इसी प्रकार देश के विकास के लिए आवश्यक आयातो मे वृद्धि होने से, देश का भुगतान शेष प्रतिकूल हो सकता है किन्तु यह देश के लिए खतरे की बात नही है और न ही देश की कमजोर आर्थिक स्थिति का सूचक है क्योंकि यह तो एक प्रकार से भविष्य में उत्पादन वृद्धि के लिए

1 "What is periodic table of elements of the chemist, the balance of payment is the international Economist." —Jevons

विनियोग है। यह तो कहा जा सकता है कि भुगतान-शेष से काफी निश्चित तथ्यों का पता चल सकता है किन्तु उससे सम्पूर्ण एवं दीर्घकालीन स्थिति का बोध नहीं होता।

भुगतान-शेष में असन्तुलन
(DISEQUILIBRIUM IN THE BALANCE OF PAYMENT)

समग्र रूप से विचार करने पर, एक देश के भुगतान-शेष में असन्तुलन नहीं हो सकता जैसा कि पिछले पृष्ठों में हम विचार कर चुके हैं। परन्तु भले ही एक देश के अन्तर्राष्ट्रीय लेखों में सन्तुलन रहे, उसके स्वयं के लेखों में सन्तुलन रहना आवश्यक नहीं है। यदि देश के चालू खाते (वस्तुओं और सेवाओं में) में घाटा है तो उसके पूँजी खाते में आधिक्य होना चाहिए ताकि कुल लेनदारियाँ और देनदारियाँ बराबर हो जायें अर्थात् यदि देश के चालू खाते में घाटा है तो या तो वह देश पूँजी का आयात करता है अथवा स्वर्ण का निर्यात करता है अथवा विदेशों से उपहार प्राप्त करता है जिससे उसके घाटे की पूर्ति हो जाती है।

जब यह कहा जाता है कि किसी देश का भुगतान-शेष असन्तुलन में है तो इसका यह तात्पर्य नहीं है कि समग्र रूप में उसका भुगतान-शेष असन्तुलित है वरन इसका वह अर्थ है कि भुगतान-शेष के ढाँचे में कुछ प्रविष्टियों में असन्तुलन है। प्रो. क्रिंडलबर्जर के अनुसार, "यद्यपि भुगतान-शेष में कुल लेनदारियों और देनदारियों बराबर होती हैं, सन्तुलन की सीमा को स्पष्ट करने के लिए कई आंशिक शेषों (Balances) का प्रतिपादन किया गया है।"

भुगतान शेष में असन्तुलन की स्थिति या तो सक्रिय भुगतान शेष (Active Balance of Payment) के कारण हो सकती है जब एक देश को विदेशों को भुगतान की तुलना में उनसे अधिक प्राप्त करना होता है अथवा निष्क्रिय भुगतान शेष के कारण हो सकती है जब देश को विदेशों से प्राप्तियों की तुलना में, उन्हें भुगतान अधिक करना होता है अर्थात् अनुकूल अथवा प्रतिकूल भुगतान शेष दोनों के कारण असन्तुलन की स्थिति हो सकती है। देश के मौद्रिक अधिकारियों द्वारा प्रतिकूल भुगतान शेष अधिक चिन्ता का विषय माना जाता है। केवल स्वीडन का उदाहरण ही ऐसा है जहाँ अनुकूल भुगतान शेष को देश के दीर्घकालीन हितों के विरुद्ध समझा गया है। स्वीडन के सम्बन्ध में यह तर्क दिया गया था कि अनुकूल भुगतान शेष के फलस्वरूप स्वीडन की अर्थव्यवस्था में मुद्रा-स्फीति दशाओं को प्रोत्साहन मिलेगा एवं स्वर्ण का आयात होगा जो एक प्रकार का निष्क्रिय विनियोग है।

सामान्य तौर पर भुगतान शेष को एक देश द्वारा विदेशों को किये जाने वाले भुगतान एवं विदेशों से प्राप्त होने वाले भुगतान का अन्तर माना जाता है जिसे सूत्र में निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है—

$$B = Rf - Pf$$

यहाँ B=भुगतान-शेष

Rf=विदेशियों से प्राप्तियाँ

Pf=विदेशियों को किये गये भुगतान

यदि B शून्य है ($Rf - PF = O$) तो भुगतान शेष सन्तुलित माना जाता है। जब B धनात्मक ($Rf > Pf$) रहता है तो भुगतान शेष अनुकूल माना जाता है और यदि B ऋणात्मक ($Rf < Pf$) रहता है तो भुगतान शेष प्रतिकूल माना जाता है। जिस देश का भुगतान शेष अतिरेक में रहता है उसे अतिरेक वाला देश (Surplus Country) एवं जिस देश का भुगतान शेष घाटे में रहता है उसे घाटे वाला देश (Deficit Country) माना जाता है।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि अतिरेक और घाटे की अर्थात् असन्तुलन की उपर्युक्त व्याख्या भुगतान-शेष के विभिन्न उपसमूहों की प्राप्तियों एवं भुगतान के अन्तर पर आधारित है न

आवश्यकता विभिन्न उद्देश्यों के लिए अधिक होती है। लेखा भुगतान-शेष में घाटा उस समय होता है जब देनदारी पक्ष (Debit Side) की ओर अतिरेक विदेशी विनिमय की प्रविष्टि की जाती है ताकि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक लेन-देनों में सन्तुलन स्थापित किया जा सके। यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त तीनों भुगतान-शेष में घाटे का अर्थ भिन्न-भिन्न होता है। वर्तमान में व्यापार और विनिमय नियन्त्रण के युग में बाजार-शेष का अधिक महत्व नहीं है। वरन् नियोजित अर्थव्यवस्था में कार्यक्रम भुगतान शेष ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

यह आवश्यक नहीं है कि उक्त तीनों भुगतान शेषों में एक साथ घाटा रहे। यह सम्भव है कि एक देश जो कार्यक्रम भुगतान शेष में घाटे की स्थिति में है, अपने बाजार-शेष में अतिरेक की स्थिति में हो। इसके विपरीत स्थिति भी हो सकती है जब बाजार-शेष में घाटा हो तथा कार्यक्रम भुगतान शेष में अतिरेक हो।

भुगतान-शेष में असन्तुलन के प्रकार
(KINDS OF DISEQUILIBRIUM IN BALANCE OF PAYMENT)

भुगतान-शेष में मुख्य रूप से तीन प्रकार का असन्तुलन हो सकता है जो इस प्रकार है—

(i) चक्रीय असन्तुलन (Cyclical disequilibrium),

(ii) सुदीर्घकालिक असन्तुलन (Secular disequilibrium),

(iii) संरचनात्मक असन्तुलन (Structural disequilibrium)।

(i) **चक्रीय असन्तुलन**—भुगतान शेष में चक्रीय असन्तुलन, चक्रीय उच्चावचनों के कारण होता है। हम यह जानते हैं कि व्यापार-चक्र के अर्थव्यवस्था पर व्यापक प्रभाव होते हैं। व्यापार चक्र के कारण भुगतान-शेष में निम्न प्रकार से चक्रीय असन्तुलन पैदा हो सकता है :

(a) जब विभिन्न देशों में व्यापार चक्र के फलस्वरूप तेजी एवं मन्दी की स्थिति में भिन्नता हो अथवा गहनता हो। यदि एक देश X में, दूसरे देश Y की तुलना में व्यापार चक्र का प्रभाव अधिक गहन है तो X देश में तेजी की स्थिति में भुगतान-शेष प्रतिकूल रहेगा (क्योंकि कीमतों की वृद्धि से निर्यात हतोत्साहित होंगे) एवं मन्दी के समय भुगतान-शेष अनुकूल रहेगा (कीमतों में कमी से निर्यात प्रोत्साहित होंगे)। Y देश में इसके विपरीत स्थिति होगी।

(b) यदि विभिन्न देशों में व्यापार चक्र की विभिन्न अवस्थाओं की अवधि में भिन्नता हो तो भी भुगतान-शेष में चक्रीय असन्तुलन अथवा असाम्य पैदा हो सकता है। यदि दूसरे देश की तुलना में, एक देश में पुनरुत्थान (Recovery) की अवस्था बहुत विलम्ब से आती है तो इसका दीर्घकालीन प्रभाव उस देश के भुगतान-शेष पर प्रतिकूल होता है।

(c) यदि विभिन्न देशों में आयातों के लिए माँग की आय लोच में भिन्नता हो तो भी भुगतान-शेष में चक्रीय असन्तुलन पैदा हो सकता है। यदि अन्य बातों के स्थिर रहने पर X देश में आयातों के लिए माँग की आय लोच, Y की तुलना में अधिक है तो तेजी की स्थिति में X देश में भुगतान-शेष प्रतिकूल रहेगा एवं मन्दी के समय अनुकूल रहेगा।

(d) यदि विभिन्न देशों में आयातों के लिए माँग की कीमत लोच में भिन्नता हो तो भी भुगतान-शेष में चक्रीय असन्तुलन पैदा हो सकता है। यदि अन्य बातें स्थिर रहने पर, X देश में आयातों के लिए माँग की कीमत लोच, Y की तुलना में अधिक है तो तेजी की स्थिति में X देश में भुगतान-शेष अनुकूल होगा एवं मन्दी की स्थिति में प्रतिकूल होगा।

चक्रीय असन्तुलन की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि व्यापार चक्र की पूरी अवधि में भुगतान-शेष सन्तुलन की स्थिति में रहता है।

(ii) सुदीर्घकालिक असन्तुलन—एक अर्थव्यवस्था को आर्थिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है जिसके अन्तर्गत धीरे-धीरे होने वाले दीर्घकालीन परिवर्तन होते हैं जैसे परम्परागत समाज (Traditional Society) से स्वयं स्फूर्ति के पूर्व की अवस्था प्राप्त करने के लिए अर्थव्यवस्था मे कई परिवर्तन होते हैं जो एकाएक न होकर धीरे-धीरे होते है। इस समय अन्तराल मे कई गतिशील तत्वों मे परिवर्तन होते है जैसे पूंजी-निर्माण, जनसंख्या की वृद्धि, तकनीकी प्रगति एवं नव-प्रवर्तन इत्यादि। एक विकासशील अर्थव्यवस्था मे, विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे बचत की तुलना मे अधिक विनियोग करना आवश्यक हो जाता है तथा निर्यातों की तुलना मे आयात भी अधिक करना होता है। यदि ऐसी स्थिति मे देश मे पर्याप्त मात्रा में विदेशी पूंजी उपलब्ध नही होती तो देश मे भुगतान-शेष की घाटे की भयंकर स्थिति निर्मित हो जाती है। इसी प्रकार यदि विकास की दर की तुलना मे देश में जनसंख्या की वृद्धि की दर अधिक रहती है तो भी उसकी आयात की आवश्यकताएं निर्यात की तुलना मे अधिक रहती है जिसके परिणामस्वरूप भुगतान-शेष प्रतिकूल रहता है अथवा उसमे दीर्घकालीन घाटे की स्थिति आ जाती है।

किन्तु आर्थिक विकास की परिपक्वता की अवस्था (Drive to Maturity) प्राप्त कर लेने के बाद देश मे विनियोग की तुलना मे आय का अनुपात बढ़ जाता है। पूंजी के आधिक्य से उत्पादन मे भी वृद्धि होती है और आयातों की तुलना मे निर्यात भी अधिक बढ़ने लगते हैं और यदि इस स्थिति मे देश में पर्याप्त मात्रा मे पूंजी का बहिर्गमन नही होता तो देश के भुगतान-शेष मे दीर्घकालीन अतिरेक की स्थिति आ जाती है।

(iii) संरचनात्मक असन्तुलन—किसी देश के भुगतान शेष मे संरचनात्मक असन्तुलन की स्थिति उस समय आती है जब निर्यात अथवा आयात या इन दोनों की मांग या पूर्ति के ढांचे में परिवर्तन होता है। प्रो. किंडलबर्जर के अनुसार जब देश की आधारभूत परिस्थितियों मे परिवर्तन के फलस्वरूप देश की आय का भाग या तो विदेशों में व्यय किया जाने लगता है अथवा विदेशों से आय प्राप्त होने लगती है तो भी भुगतान-शेष मे असन्तुलन की स्थिति पैदा हो जाती है। इसे एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। मानलो विदेशों मे भारतीय शक्कर की स्थानापन्न वस्तु की खोज के कारण भारत की शक्कर की मांग घट जाती है तो इस स्थिति मे शक्कर उद्योग मे लगे साधनों को अन्य निर्यात उद्योगों मे हस्तान्तरित करना पड़ेगा और यदि किन्ही कारणों से इन साधनों को अन्य निर्यात उद्योगों मे हस्तान्तरित नही किया जा सकता तो भारत के कुल निर्यात में कमी हो जायगी एवं आयात अपरिवर्तित रहने पर, भारत के भुगतान शेष मे असन्तुलन की स्थिति आ जायगी। इसे ही संरचनात्मक असन्तुलन कहते हैं।

यदि विदेशों मे शक्कर की मांग कम न हो किन्तु यदि भारत मे गन्ने की फसल खराब हो जाने के कारण भारत अपने निर्यातों की पूर्ति नही कर पाता और यदि आयात अपरिवर्तित रहता है तो भी कुल निर्यात कम हो जायगा और भारत के भुगतान-शेष मे असन्तुलन की स्थिति पैदा हो जायगी।

संक्षेप में संरचनात्मक असन्तुलन के निम्न कारण हो सकते है :

(1) पूंजीगत हानियां (Capital Losses)—जब देश मे युद्ध या अन्य प्राकृतिक संकटों के फलस्वरूप पूंजी की भारी मात्रा मे क्षति होती है तो उत्पादन की बहुत हानि होती है एवं राष्ट्रीय आय पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। कई पूंजीगत साधनों की क्षति के कारण, विदेशों से भारी मात्रा में पूंजी का आयात करना पड़ता है। ऐसी स्थिति मे यदि निर्यात अपरिवर्तित रहते हैं (जो कि बढ़ नहीं पाते) तो भुगतान-शेष मे संरचनात्मक असन्तुलन पैदा हो जाता है।

(2) मांग का स्वरूप (Pattern of Demand)—भुगतान-शेष मे सन्तुलन के लिए यह आवश्यक है कि देश मे उत्पादन, मांग के ढांचे के अनुरूप हो। जब देश मे राष्ट्रीय आय और प्रति

विदेशों से आयात करना पड़ता है। यदि निर्यातों के मूल्य में कोई परिवर्तन न हो तो उतने समय के लिए जब तक कि अगले वर्ष प्रचुर मात्रा में फसल प्राप्त नहीं हो जाती, उस देश का भुगतान शेष असन्तुलित हो जाता है। इसे अस्थायी सन्तुलन कहते हैं।

(8) स्थायी असन्तुलन (Permanent Disequilibrium)—यह कुछ-कुछ दीर्घकालीन असन्तुलन से मिलता-जुलता है। दीर्घकालीन असन्तुलन उस समय होता है जब आर्थिक विकास की अवस्थाओं में परिवर्तन होता है। किन्तु इस कारण के अतिरिक्त यदि अन्य किन्हीं कारणों से किसी देश का भुगतान शेष का असन्तुलन दीर्घकाल तक चलता है तो उसे स्थायी असन्तुलन कहते हैं। जैसे यदि देश में उत्पादन लागत में वृद्धि होती है जिससे कीमतें बढ़ती हैं और उन्हें किसी तरह से कम नहीं किया जाता तो इसका देश के निर्यात पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है जिससे भुगतान शेष में स्थायी असन्तुलन होने की प्रवृत्ति रहती है। इस स्थिति में उसी समय सुधार सम्भव है जब हमारी निर्यात की वस्तुओं की विदेशों में अनुकूल माँग-लोच हो। यदि इस स्थायी असन्तुलन को ठीक नहीं किया जाता तो देश की आर्थिक स्थिति, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बहुत ही खराब हो जाती है। इसके लिए कई मौद्रिक और गैर-मौद्रिक उपायों का सहारा लिया जाता है।

भुगतान शेष में असन्तुलन के कारण
(CAUSES OF DISEQUILIBRIUM IN BALANCE OF PAYMENT)

एक देश के सन्तुलित भुगतान-शेष में कई कारणों से परिवर्तन हो सकते हैं। अभी हमने भुगतान-शेष में असन्तुलन के प्रकारों का अध्ययन किया है उससे इस बात पर काफी प्रकाश पड़ता है कि भुगतान-शेष में असाम्य की स्थिति किस प्रकार उपस्थित होती है। फिर भी हम यहाँ स्पष्ट रूप से उन कारणों का उल्लेख करेंगे जो असन्तुलन उत्पन्न कर देते हैं। सामान्य रूप से असन्तुलन उस समय होता है जब आयातों में तो कोई परिवर्तन न हो, किन्तु निर्यातों के मूल्य में वृद्धि अथवा कमी हो जाय अथवा निर्यातों में तो कोई परिवर्तन न हो किन्तु आयातों के मूल्य में वृद्धि अथवा कमी हो जाय। अथवा आयात और निर्यात दोनों में गैर आनुपातिक (Disproportionate) कमी अथवा वृद्धि हो जाय अर्थात् निर्यातों में जितनी वृद्धि हुई है उसकी तुलना में आयातों में अधिक वृद्धि हो जाय। सम्भव है एक देश के निर्यातों में इसलिए कमी हो जाय क्योंकि विदेशों में हमारी निर्यात वस्तुओं की माँग में कमी हो जाय। आयातों की वृद्धि से भी असन्तुलन हो सकता है जिसका समायोजन न तो निर्यात वृद्धि से किया जाता है और न ही विदेशी पूँजी के आयात से।

विभिन्न देशों में भुगतान शेष में असन्तुलन के विभिन्न कारण हो सकते हैं तथा एक ही देश में भिन्न भिन्न समय में असन्तुलन के विभिन्न कारण हो सकते हैं जैसे भारत में द्वितीय पंचवर्षीय योजना की अवधि में भुगतान शेष में असन्तुलन इसलिए हुआ क्योंकि भारी मात्रा में पूँजीगत वस्तुओं का औद्योगीकरण के लिए आयात किया गया तथा तृतीय योजनाकाल में इसलिए असन्तुलन हुआ क्योंकि देश में सूखे की स्थिति के कारण खाद्यान्न का काफी आयात किया गया जबकि युद्ध की स्थिति के कारण (चीन और पाकिस्तान के आक्रमण के कारण) निर्यातों में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हो सकी।

इस प्रकार भुगतान शेष की कई मदों—जैसे दृश्य एवं अदृश्य आयात और निर्यात, एक पक्षीय भुगतान प्राप्ति आदि में एक ही दिशा में होने वाले परिवर्तन असन्तुलन की स्थिति निर्मित कर देते हैं। सामान्य तौर पर निम्न कारण भुगतान शेष में असन्तुलन पैदा कर देते हैं :

(1) विकास एवं विनियोग कार्यक्रम—विशेष रूप से अर्द्धविकसित देशों में भुगतान शेष में असन्तुलन होने का मुख्य कारण, वहाँ भारी मात्रा में विकास एवं विनियोग सम्बन्धी कार्यक्रम

है। ये देश द्रुत गति से औद्योगीकरण एवं आर्थिक विकास करना चाहते हैं किन्तु इसके लिए इनके पास पर्याप्त मात्रा में पूँजी एवं अन्य साधनों का अभाव होता है। अतः इन चीजों का इन्हें विदेशों से आयात करना होता है। इस प्रकार इन देशों का आयात तो बढ़ जाता है किन्तु उसी अनुपात में इनके निर्यात में वृद्धि नहीं हो पाती क्योंकि प्राथमिक उत्पादक होने के नाते, ये केवल इनी-गिनी वस्तुओं का ही निर्यात करते हैं। इसके साथ ही जब इन देशों में औद्योगीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है तो उन वस्तुओं की खपत देश में ही बढ़ जाती है जिनका कि पहले निर्यात किया जाता था। इस प्रकार इन देशों के भुगतान शेष में संरचनात्मक परिवर्तन होते हैं जिसके फलस्वरूप संरचनात्मक असन्तुलन हो जाता है।

(2) **चक्रीय उच्चावचन**—व्यापार चक्र के फलस्वरूप विभिन्न देशों में, भिन्न अर्थव्यवस्था में, चक्रीय उच्चावचन होते हैं जिनकी अवस्थाएँ भिन्न देशों में अलग-अलग होती हैं जिसके फलस्वरूप भुगतान-शेष में चक्रीय असन्तुलन पैदा हो जाता है। 1930 की मन्दी के आस-पास विश्व के भुगतान शेष में इस प्रकार का असन्तुलन पैदा हुआ था।

(3) **आय प्रभाव एवं कीमत प्रभाव**—विकासशील देशों में आर्थिक विकास के फलस्वरूप लोगों की आय में वृद्धि होती है जिससे कीमतों में भी वृद्धि होती है जिसका इन देशों के भुगतान शेष पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। आयात में वृद्धि होती है क्योंकि इनकी सीमान्त आयात प्रवृत्ति (Marginal Propensity to Import) ऊँची होती है। इसके साथ ही चूँकि इन देशों में सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति भी ऊँची होती है, लोगों की घरेलू वस्तुओं के उपभोग की माँग में भी वृद्धि होती है। इसका परिणाम यह होता है कि इनके पास निर्यात की वस्तुओं में कमी हो जाती है।

जब इन देशों में घाटे के बजटों से, अधिक मात्रा में विनियोग किया जाता है तो इसका मुद्रा-स्फीतिक प्रभाव होता है क्योंकि अन्तिम उत्पादन होने में तो काफी समय लगता है जबकि बढ़ी हुई मुद्रा लोगों के हाथों में पहुँच जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि वस्तुओं की माँग में वृद्धि होने से इनकी कीमतें बढ़ने लगती हैं जिससे आयातों को प्रोत्साहन मिलता है तथा निर्यात हतोत्साहित होते हैं और देश के भुगतान शेष में असन्तुलन पैदा हो जाता है।

(4) *निर्यात माँग में परिवर्तन*—विकासशील देशों के भुगतान शेष में असन्तुलन होने का एक प्रमुख कारण यह है कि इनके द्वारा निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की माँग में परिवर्तन हुआ है। आज विकसित देश नायलान, कृत्रिम रबर एवं अन्य वैकल्पिक वस्तुओं का उत्पादन करने लगे हैं जिनका कि पहले वे विकासशील देशों से आयात करते थे इसके फलस्वरूप विकासशील देशों के निर्यात कम हो गये हैं एवं उनके भुगतान शेष में संरचनात्मक असन्तुलन पैदा हो गया है।

जहाँ तक विकसित देशों का प्रश्न है, उनके निर्यात भी पहले की तुलना में कम हो गये हैं जिसका कारण यह है कि एक तो उनके उपनिवेश बाजार समाप्त हो गये हैं एवं दूसरे विकासशील देशों में अधिक आत्मनिर्भर होने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि विकसित देशों की तुलना में विकासशील देशों के भुगतान-शेष में असन्तुलन की समस्या अधिक व्यापक एवं चिन्तनीय है।

(5) **विकसित देशों में आयात प्रतिबन्ध**—प्रायः विकसित देशों में अनुकूल व्यापार शर्तों एवं अन्य कारणों के फलस्वरूप, उनका भुगतान-शेष अतिरेक की स्थिति में रहता है और यदि ये विकासशील देशों से आयात करते रहें तो विकासशील देशों की भुगतान शेष की स्थिति में सुधार हो सकता है। किन्तु ये देश तरह-तरह के आयात प्रतिबन्ध लगा देते हैं जिससे विकासशील देशों के निर्यातों में वृद्धि नहीं हो पाती एवं उनके भुगतान शेष में असन्तुलन हो जाता है।

(6) **विकासशील देशों में अत्यधिक जनसंख्या वृद्धि**—विकासशील देशों में जनसंख्या की वृद्धि की दर बहुत अधिक है जिसका इन देशों के आर्थिक एवं उनके फलस्वरूप भुगतान-शेष पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। जनसंख्या में वृद्धि के कारण एक तो इन देशों की आयात की मात्रा में

वृद्धि हो जाती है किन्तु दूसरी ओर, घरेलू उपभोग में वृद्धि होने से निर्यात-क्षमता कम हो जाती है। यह तथ्य भी इन देशों की स्थिति को भीषण बना देता है कि विकसित देशों की घटती हुई जनसंख्या से, विकासशील देशों के निर्यात में कमी हो जाती है क्योंकि इन वस्तुओं की मांग में कमी हो जाती है। फलस्वरूप विकासशील देशों के भुगतान-शेष में असन्तुलन की समस्या और भी कठिन हो जाती है।

(7) **प्रदर्शन प्रभाव**—प्रो. नर्क्से ने अपनी पुस्तक[1] में प्रदर्शन प्रभाव (Demonstration Effect) की व्यापक चर्चा की है। इसका तात्पर्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, राजनीतिक एवं अन्य सामाजिक कारणों से जब अर्द्धविकसित देश, विकसित देशों के सम्पर्क में आते हैं तो वहां के लोग विकसित देश के लोगों की उपभोग-आदतों को अपनाने के लिए प्रवृत्त होते हैं तथा पश्चिमी रहन-सहन को अपनाना चाहते हैं। अतः ऐसी वस्तुओं का विदेशों से आयात किया जाता है अर्थात् आयात-प्रवृत्ति में वृद्धि होने लगती है। जबकि दूसरी ओर या तो उनकी निर्यात की मात्रा स्थिर रहती है अथवा उसमें कमी हो जाती है। इसके फलस्वरूप विकासशील देशों के भुगतान-शेष में असन्तुलन की स्थिति पैदा हो जाती है।

(8) **अन्तर्राष्ट्रीय ऋण एवं विनियोग**—अपने विकास कार्यक्रम की वित्तीय आवश्यकता के लिए बहुत से विकासशील देश, विकसित देशों से भारी मात्रा में ऋण लेते हैं जिसके ब्याज एवं मूलधन की वापसी के लिए उन्हें बहुत अधिक विदेशी विनिमय खर्च करना होता है जिससे उनके भुगतान शेष में असन्तुलन पैदा हो जाता है। दूसरी ओर जो देश ऋण देते हैं, उनका भुगतान शेष अनुकूल रहता है। क्योंकि उन्हें ब्याज आदि के रूप में विदेशी विनिमय प्राप्त होता है।

उपर्युक्त कारणों से यह स्पष्ट है कि विशेष रूप से विकासशील देशों के भुगतान शेष में असन्तुलन क्यों पैदा हो जाता है एवं विकसित देशों का भुगतान शेष अनुकूल क्यों रहता है।

असन्तुलन के भुगतान-शेष में सुधार के उपाय
(MEASURES FOR CORRECTING THE DISEQUILIBRIUM IN THE BALANCE OF PAYMENT)

अभी हमने उन कारणों का उल्लेख किया है जिनसे किसी देश के भुगतान-शेष में असन्तुलन की स्थिति पैदा हो जाती है। यह असन्तुलन या तो अतिरेक अथवा घाटे की स्थिति के कारण पैदा हो सकता है। चाहे भुगतान-शेष अनुकूल हो अथवा प्रतिकूल, किन्तु यदि यह प्रवृत्ति देश में दीर्घकाल तक चलती है तो न केवल उस देश की अर्थव्यवस्था पर वरन् विश्व-व्यापार पर भी इसका प्रतिकूल प्रभाव होता है। अतः शुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि जहाँ तक सम्भव हो, प्रत्येक देश में भुगतान-शेष सन्तुलन की स्थिति में रहे। असन्तुलन के फलस्वरूप जहाँ तक भुगतान-शेष में "अनुकूल" अथवा "प्रतिकूल" स्थिति का प्रश्न है, प्रतिकूल अथवा घाटे की स्थिति तुलनात्मक रूप से अधिक हानिकारक है अतः इसमें शीघ्र सुधार करना आवश्यक है तथा वर्तमान में अर्द्धविकसित देश तेजी के साथ इसकी आवश्यकता का अनुभव कर रहे हैं।

असन्तुलन को ठीक करने के उपायों को मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है :

(A) मौद्रिक उपाय (Monetary Measures)

(B) अमौद्रिक उपाय (Non-Monetary Measures)।

1 Problem of Capital in Under-developed Countries.

(A) मौद्रिक उपायों में निम्न का समावेश होता है :

(i) मुद्रा संकुचन (Deflation)

(ii) विनिमय नियन्त्रण (Exchange control)

(iii) अवमूल्यन (Devaluation)

(iv) विनिमय मूल्य ह्रास (Exchange Depreciation)

(B) अमौद्रिक उपायों में निम्न का समावेश होता है :

(i) आयातों पर प्रतिबन्ध (Import Restrictions) अथवा आयात अभ्यंश

(ii) प्रशुल्क-आयात कर (Tariff)

(iii) निर्यात प्रोत्साहन कार्यक्रम (Export Promotion Programmes)

(iv) विदेशी पर्यटकों को प्रोत्साहन (Encouragement of Foreign Tourists)

अब हम इन उपायों का विस्तार से अध्ययन करेंगे—

(A) मौद्रिक उपाय

भुगतान-शेष के प्रतिकूल असन्तुलन को निर्यातों में वृद्धि करके एवं आयातों में कमी करके ठीक किया जा सकता है जिसके लिए निम्न मौद्रिक उपायों का सहारा लिया जाता है :

(i) मुद्रा संकुचन—भुगतान-शेष के असन्तुलन को ठीक करने के लिए देश में मुद्रा संकुचन का सुझाव दिया जाता है अर्थात् मंहगी मुद्रा नीति एवं आवश्यक साख नीति को अपनाकर, देश में मुद्रा की मात्रा को सीमित कर दिया जाय। मुद्रा की मात्रा में कमी होने का परिणाम यह होगा कि साधनों एवं अन्य वस्तुओं की कीमतों में कमी हो जायेगी तथा वस्तु उत्पादन लागत घटकर बाजार में उनकी कीमतें गिर जायेंगी। जिससे ऐसे देश की वस्तुएँ विदेशों में सापेक्षिक रूप से सस्ती हो जायेंगी एवं निर्यातों को प्रोत्साहन मिलेगा। मुद्रा संकुचन का यह प्रभाव भी होता है कि लोगों की आय कम हो जाती है अतः उनकी माँग भी कम हो जाती है जिससे निर्यात के लिए अधिक अतिरेक (Surplus) की मात्रा बच रहती है। साथ ही आय कम होने से उनकी सीमान्त आयात प्रवृत्ति भी सीमित हो जाती है जिससे आयात हतोत्साहित होते हैं। इस प्रकार निर्यातों में वृद्धि एवं आयातों में कमी के माध्यम से प्रतिकूल व्यापार शेष को ठीक किया जा सकता है।

किसी भी देश में मुद्रा संकुचन की नीति को मौद्रिक अधिकारियों द्वारा उसी समय सफलतापूर्वक अपनाया जा सकता है जबकि निम्नलिखित दो शर्तें पूर्ण होती हों :

प्रथम तो यह कि देश स्वर्णमान पर आधारित हो अथवा उनके बीच विनिमय की दरें स्थिर हों क्योंकि जब एक देश असन्तुलन को ठीक करने के लिए मुद्रा संकुचन का सहारा लेता है तो उनकी विनिमय दरों में परिवर्तन नहीं होना चाहिए एवं द्वितीय मुद्रा संकुचन किस सीमा तक सहायक होगा, यह आयात एवं निर्यात की माँग की लोच पर निर्भर रहता है। यदि आयातों की माँग लोचदार है तो संकुचन के द्वारा आयातों को कम किया जा सकता है। किन्तु यदि आयातों की माँग बेलोचदार है तो भारी मात्रा में मुद्रा संकुचन करना होगा ताकि आयातों को रोका जा सके किन्तु यह देश के हित में नहीं होगा।

किन्तु भुगतान शेष के प्रतिकूल असन्तुलन को ठीक करने के लिए प्रायः मुद्रा संकुचन को उचित नहीं माना जाता। इसका कारण यह है कि जो देश आर्थिक विकास को गतिशील बनाने के प्रयत्न में लगे हुए हैं अर्थात् अर्द्धविकसित देश, उनमें मुद्रा संकुचन का प्रतिकूल प्रभाव यह होता है कि देश में बेरोजगारी फैलने लगती है, उत्पादन की मात्रा घटने लगती है एवं लोगों की आय तथा श्रमिकों की मजदूरी कम होने लगती है। यही कारण है कि प्रो. केन्स ने मुद्रा संकुचन को अनुपयुक्त बताया है क्योंकि इसका देश की अर्थव्यवस्था पर घातक प्रभाव होता है।

(ii) विनिमय नियन्त्रण[1]—सरल शब्दों में विनिमय नियन्त्रण उन सब क्रियाओं के सामूहिक स्वरूप को कहते हैं जो मुद्रा की विनिमय दर को एक निर्धारित स्तर पर बनाये रखने के लिए की जाती है। प्रो. हैबरलर के अनुसार, "विनिमय नियन्त्रण वह सरकारी नियमन है जो विदेशी विनिमय बाजार में आर्थिक शक्तियों को स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य नहीं करने देता।" भुगतान-शेष के असन्तुलन को ठीक करने के लिए विनिमय नियन्त्रण की नीति को अधिक निश्चित एवं प्रभावशील माना जाता है। जब किसी देश में विदेशी विनिमय का संकट उपस्थित होता है तो सरकार विदेशी विनिमय के समस्त लेन-देनों को नियमित कर अपने हाथ में ले लेती है और केवल अधिकृत व्यापारियों को ही सीमित मात्रा में विदेशी मुद्रा के लेन-देन की अनुमति देती है। साथ ही आयात की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा को भी सरकार द्वारा नियन्त्रित कर दिया जाता है जिससे आयात को, उपलब्ध विदेशी विनिमय के अनुसार समायोजित कर दिया जाता है।

जहाँ तक विनिमय नियन्त्रण के प्रभावशील होने का प्रश्न है इस रूप में तो यह विधि कार्यशील है कि भुगतान-शेष के घाटे को कम कर देती है। किन्तु यह प्रतिकूल भुगतान शेष के मूलभूत कारणों की ओर ध्यान नहीं देती इसकी तुलना एक ऐसे उपचार से की जा सकती है जिसके अन्तर्गत रोग की दवा तो दिया जाता है किन्तु रोग की जड़ को दूर नहीं किया जाता। इसका परिणाम यह होता है कि जैसे ही सरकार विनिमय नियन्त्रण में ढील देती है, भुगतान शेष में पुन: असन्तुलन पैदा होने लगता है। प्रो एल्सवर्थ के अनुसार, "विनिमय नियन्त्रण, भुगतान शेष के घाटे का तो समाधान प्रस्तुत करता है किन्तु उसके कारणों पर ध्यान नहीं देता एवं उन कारणों को और अधिक सक्रिय कर सकता है जो असन्तुलन को और व्यापक बना दें।"[2]

अर्थशास्त्रियों के अनुसार विनिमय नियन्त्रण इस रूप में भी प्रतिकूल भुगतान शेष को ठीक करने में सहायता देता है कि यह पूँजी के निर्यात अथवा बहिर्गमन को रोक देता है। यह विनिमय नियन्त्रण का विशेष लाभ है जिसके कारण सन् 1930 में जर्मनी, डेनमार्क अर्जेण्टाइना एवं अन्य देशों ने इसे अपनाया गया।

विनिमय नियन्त्रण की सीमाओं को स्पष्ट करते हुए प्रो. एल्सवर्थ कहते हैं कि जब भुगतान-शेष में घाटा पूँजी के बहिर्गमन के कारण होता है तो विनिमय नियन्त्रण में मात्र घाटे को कम करके असन्तुलन के मूलभूत कारणों को दूर नहीं किया जा सकता। ये मूलभूत कारण हो सकते हैं—राजनीतिक या आर्थिक अनिश्चितता, युद्ध का भय अथवा प्रत्याशित अवमूल्यन। अन्य स्थितियों में भी, विनिमय नियन्त्रण मूलभूत कारणों को दूर नहीं कर पाता। फिर भी विशेष रूप से उन देशों के लिए जिनके विदेशी मुद्रा के रिजर्व कोष स्थिर विनिमय दर को बनाये रखने में असमर्थ है अथवा उनकी विदेशी विनिमय की माँग-पूर्ति की दशाएँ प्रतिकूल हैं, विनिमय नियन्त्रण का विकल्प ही एकमात्र उपाय है। उक्त परिस्थितियों में एक अस्थायी उपाय के रूप में विनिमय नियन्त्रण को प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन को ठीक करने के लिए न्यायोचित कहा जा सकता है।

(iii) अवमूल्यन—प्रतिकूल भुगतान शेष को ठीक करने के लिए बहुत से देशों द्वारा अवमूल्यन को अन्तिम अस्त्र के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। अवमूल्यन के अन्तर्गत, सरकारी घोषणा के अनुसार देश की मुद्रा के बाह्य मूल्य को कम कर दिया जाता है। पालएनजिग (Paul-Einzing) के अनुसार, "अवमूल्यन का अर्थ मुद्राओं की अधिकृत समताओं में कमी कर देने से है। अवमूल्यन के फलस्वरूप विदेशी मुद्रा की एक इकाई के बदले, पहले से अधिक स्वदेशी मुद्रा की इकाइयाँ प्राप्त होने लगती हैं। अवमूल्यन में यह आवश्यक नहीं है कि मुद्रा के बाह्य मूल्य में

---

1 विस्तृत अध्ययन के लिए विनिमय नियन्त्रण नामक अध्याय देखें।

2 Ellsworth, *op. cit.*, p. 335.

अवमूल्यन का अन्य देशों के व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है अतः इस बात की सम्भावना रहती है कि प्रतिशोधी रूप में अन्य देश भी अवमूल्यन करें अतः इस सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग एवं समझौता आवश्यक है।

(iv) **विनिमय मूल्य-ह्रास**—प्रतिकूल भुगतान शेष ठीक करने का एक उपाय यह भी है कि घरेलू मुद्रा के बाह्य मूल्य को कम कर दिया जाय अर्थात् अन्य देश की तुलना में एक देश की विनिमय दर में कमी कर दी जाय। विनिमय मूल्य-ह्रास में यह मान्यता निहित है कि देश स्वतन्त्र विनिमय दर अपनाये हुए है।

यहां विनिमय मूल्य ह्रास एवं अवमूल्यन में अन्तर समझ लेना चाहिए क्योंकि दोनों का अर्थ एक समान ही है। किन्तु इनमें मुख्य अन्तर यह है कि अवमूल्यन में मुद्रा के बाह्य मूल्य में कमी सरकारी निर्णय के अनुसार की जाती है जबकि मूल्य-ह्रास में बाह्य मूल्य में कमी बाजार की शक्तियों के फलस्वरूप अपने आप होती है। इन दोनों का प्रभाव एक समान ही होता है अर्थात् विदेशी मुद्रा में वस्तुओं को सस्ती कर निर्यातों को बढ़ाना एवं विदेशी वस्तुओं को मँहगा बनाकर आयातों में कटौती करना और इस प्रकार भुगतान शेष के घाटे को ठीक करना।

विनिमय मूल्य-ह्रास बाजार की शक्तियों के फलस्वरूप अपने आप कैसे होता है, इसे एक उदाहरण से समझाया जा सकता है। मानलो भारतीय रुपये और अमेरिकन डालर की विनिमय दर 1 रु० = 25 सेंट है। अब यदि अमरीका के साथ भारत का भुगतान शेष प्रतिकूल है तो भारत में अमरीकन डालर की मांग बढ़ जायगी जिससे भारतीय रुपये की तुलना में अमरीकन डालर का मूल्य [redacted] जायगा अर्थात् रुपये के विनिमय मूल्य में ह्रास हो जायगा अब सम्भव है कि नयी विनिमय दर 1 रु० = 20 सेंट हो जाय। इसका परिणाम यह होगा कि भारतीय वस्तुएं विदेशों में सस्ती हो जायेंगी जिससे भारत के निर्यात में वृद्धि होगी। किन्तु अब भारत के लिए आयात मँहगे हो जायेंगे अतः आयातों में कमी हो जायगी जिससे प्रतिकूल भुगतान शेष ठीक हो जायगा अथवा यह कहा जा सकता है कि भारत के भुगतान शेष में जो सम्भावित घाटा होने वाला था, वह रुक जायगा। प्रो० एल्सवर्थ के अनुसार, "विनिमय दर में होने वाला परिवर्तन या मूल्य-ह्रास भुगतान शेष के असन्तुलन को समायोजित करने का पूर्ण दायित्व निभाता है।"[1]

विनिमय मूल्य ह्रास की सफलता भी इस बात पर निर्भर रहती है कि विदेशी आयातों के लिए देश की मांग लोचपूर्ण है एवं देश के निर्यातों के लिए विदेशी मांग भी लोचपूर्ण है अर्थात् मूल्य कम होने पर निर्यातों की मांग में वृद्धि होती है। साथ ही, अवमूल्यन के समान मूल्य-ह्रास प्रभावशील बनाने के लिए विदेशी सहयोग भी आवश्यक है। जो देश अपनी विनिमय दर को स्थिर रखना चाहते हैं उनके लिए मूल्य-ह्रास की नीति उपयुक्त नहीं है।

बहुत से देशों का अनुभव यह सिद्ध करता है कि विनिमय मूल्य ह्रास से देश में स्फीतिक दशाएँ फैल जाती हैं क्योंकि निर्यातों में वृद्धि से आय में वृद्धि होती है और देश में मूल्य बढ़ने लगते हैं। इसके फलस्वरूप देश में लागतें भी बढ़ने लगती हैं और निर्यातों की विदेशी मांग भी कम हो जाती है अतः पुनः भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल हो जाता है जिसे ठीक करने के लिए पुनः मूल्य ह्रास किया जाता है जिससे देश की मुद्रा का बाह्य मूल्य गिरता चला जाता है जो देश की अर्थव्यवस्था के लिए उचित नहीं है।

कौन विधि उपयुक्त—अब प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रतिकूल भुगतान शेष को ठीक करने के लिए उपर्युक्त चारों मौद्रिक विधियों में कौन अधिक उपयुक्त है। किन्तु निरपेक्ष रूप से

---

1 "The change in the exchange rate or currency depreciation performs the entire task of adjusting to the disturbance in the balance of payments." Ellsworth, *op. cit.*, p. 381

इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। किसी देश के लिए कौन सी विधि अधिक उपयुक्त रहेगी, यह इस बात पर निर्भर रहेगा कि उस देश के आर्थिक विकास की अवस्था क्या है तथा वहाँ प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन किस कारण से उपस्थित हुआ है। किसी भी उपाय को अपनाने के पहले प्रत्येक देश को, उसके गुण एवं दोषों पर अच्छी तरह से विचार करना चाहिए और जहाँ तक सम्भव हो उसके दोषों से बचना चाहिए। आजकल इस बात का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने ले लिया है कि प्रत्येक देश में सामान्य भुगतान शेष में सन्तुलन की स्थिति बनी रहे। अत: मुद्राकोष अपने सदस्यों को प्रतिकूल भुगतान शेष को ठीक करने में न केवल उचित सलाह देता है वरन् इस दिशा में उसकी सहायता भी करता है।

जब भुगतान शेष में अतिरेक की स्थिति हो—अभी हमने उन उपायों की चर्चा की है जिनसे भुगतान-शेष के घाटे को ठीक किया जा सकता है अर्थात् प्रतिकूल भुगतान-शेष में सुधार किया जा सकता है। किन्तु यदि भुगतान-शेष में अतिरेक हो और वह भी दीर्घकालीन हो तो उसे कैसे ठीक किया जाय? जहाँ तक किसी विशेष देश का प्रश्न है, उसके लिए अनुकूल व्यापार शेष अधिक चिन्ता का विषय नहीं है। किन्तु यदि विश्व व्यापार को स्थिर रखने के दृष्टिकोण से देखा जाय तो यह आवश्यक हो जाता है कि उक्त अतिरेक को ठीक कर भुगतान-शेष को सन्तुलित किया जाय। यह स्वाभाविक है कि यदि एक देश में निरन्तर अतिरेक की स्थिति है तो निश्चित ही अन्य देशों में घाटे की स्थिति होगी जिसे ठीक करना जरूरी है। ऐसे अतिरेक वाले देश को अपना भुगतान-शेष सन्तुलित करने के लिए अधिक आयातों को प्रोत्साहित करना चाहिए, मुद्रा प्रसार के माध्यम से निर्यातों को हतोत्साहित करना चाहिए। इस उद्देश्य के लिए उसे सस्ती मौद्रिक नीति विनिमय मूल्य वृद्धि और अपनी मुद्रा का पुनर्मूल्यन करना चाहिए। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष भी इस बात का ध्यान रखता है कि किसी देश का भुगतान शेष निरन्तर अनुकूल न रहे क्योंकि इसका विश्व व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(B) अमौद्रिक उपाय (Non-Monetary Measures)

प्रतिकूल भुगतान शेष को ठीक करने के लिए अमौद्रिक उपायों में निम्न का समावेश होता है :

(1) **आयात अभ्यंश (Import Quota)**—आयातों को सीमित करने के लिए एक देश की सरकार आयात-अभ्यंश के माध्यम से आयात किये जाने वाले माल की मात्रा को निश्चित कर देती है अथवा आयात किये जाने वाले माल के मूल्य की अधिकतम सीमा भी निश्चित कर देती है जिससे अधिक आयात नहीं किया जा सकता। इसके लिए अवधि भी निश्चित कर दी जाती है। आयात कम हो जाने वाली विदेशी विनिमय की मात्रा कम हो जाती है और इस प्रकार प्रतिकूल व्यापार शेष को ठीक किया जाता है।

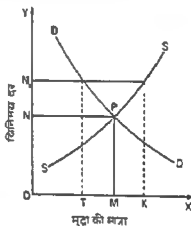
आयात अभ्यंश के निम्न दो रूप हो सकते हैं :

(a) **एकपक्षीय कोटा प्रणाली (Unilateral Quota System)**—इसके अन्तर्गत विदेशों से आयात किये जाने वाले माल की कुल मात्रा या मूल्य निश्चित कर दिये जाते हैं और आयात करने वाले व्यापारियों को लाइसेंस दे दिये जाते हैं। जब व्यापारी निर्धारित कोटा का माल विश्व के किसी भी देश से आयात कर सकते हैं तो इसे अन्तर्राष्ट्रीय कोटा (Global Quota) कहते हैं किन्तु जब सरकार द्वारा यह निर्धारित कर दिया जाता है कि कौन-सा माल कितनी मात्रा में किस देश से आयात किया जायगा तो इसे निर्धारित कोटा (Allocated Quota) कहते हैं।

(b) **द्विपक्षीय अभ्यंश प्रणाली (Bilateral Quota System)**—इसके अन्तर्गत एक निश्चित मात्रा तक तो माल बिना आयात कर पर मंगाया जा सकता है किन्तु इस मात्रा से अधिक

मदों के कारण होती है। चूँकि यह सिद्धान्त मानकर चलता है कि विदेशी मुद्रा माँग और पूर्ति का निर्धारण भुगतान-शेष की स्थिति द्वारा होता है इसका आशय यह है कि उक्त माँग और पूर्ति का निर्धारण ऐसे तत्वों द्वारा होता है जो विनिमय-दर के परिवर्तन अथवा मौद्रिक नीति से स्वतन्त्र होते हैं। अतः विभिन्न देशों की विनिमय दरें उनके मौलिक भुगतान-शेष द्वारा निर्धारित होती हैं। यद्यपि भुगतान-शेष में अन्य मदों का समावेश भी होता है, किन्तु उनमें वस्तुओं की क्रय-विक्रय (व्यापार-शेष) सम्बन्धी मदें मुख्य होती हैं।[1] साधारण रूप में निर्यात, आयातों का भुगतान करते हैं (Exports pay for Imports) अर्थात निर्यातों से जो विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है, उसमें आयातों का भुगतान किया जाता है किन्तु इसके अतिरिक्त, भुगतान शेष की अन्य मदें भी विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति को प्रभावित करती हैं जिनका विनिमय दर के निर्धारण में प्रभाव होता है। उदाहरण के लिए जिस देश की वस्तुओं और सेवाओं के निर्यात, आयात में अधिक होते हैं उसकी मुद्रा की माँग, पूर्ति से अधिक हो जाती है अत उस देश की विनिमय दर बढ़ने लगती है और विपरीत स्थिति में मुद्रा की विनिमय दर में गिरावट होने लगती है।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण—भुगतान-शेष सिद्धान्त के अनुसार यदि माँग और पूर्ति की अनुसूचियाँ दी हुई हों तो जहाँ वे एक दूसरे को काटती हैं, वहाँ मुद्राओं की सन्तुलन विनिमय दर निर्धारित होती है। यदि मुद्रा का मूल्य कम है तो उसकी माँग अधिक होती है जिससे माँग वक्र का ढाल नीचे की ओर होता है तथा दूसरी ओर, पूर्ति वक्र ऊपर की ओर बायें से दायें ओर जाता है जिसका अर्थ यह है कि किसी मुद्रा के मूल्य में कमी हो जाने से, उसकी पूर्ति में संकुचन होता है। भुगतान-शेष सिद्धान्त के अनुसार विनिमय दर का निर्धारण संलग्न रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया गया है।



चित्र 22·4

संलग्न रेखाचित्र 22·4 में DD और SS क्रमशः एक देश की मुद्रा के माँग वक्र और पूर्ति वक्र हैं। ये दोनों वक्र एक दूसरे को P बिन्दु पर काटते हैं अतः विनिमय दर PM अथवा ON है। यह विनिमय की सन्तुलन दर है जहाँ मुद्रा की माँग और पूर्ति दोनों बराबर (OM) हैं। यदि विनिमय दर, बढ़कर ON_1 हो जाती है तो माँग की तुलना में पूर्ति बढ़ने लगती है अतः मुद्रा की पूर्ति बढ़ने से विनिमय दर कम हो जाती है और विनिमय दर कम हो जाने से पूर्ति संकुचित होने लगती है और माँग का विस्तार होने लगता है। यह प्रक्रिया उस समय तक जारी रहती है जब तक कि माँग और पूर्ति सन्तुलन में होकर, विनिमय दर PM के बराबर नहीं हो जाती। रेखाचित्र में यदि विनिमय दर बढ़कर ON_1 हो जाती है तो विदेशी विनिमय की पूर्ति बढ़कर OK हो जाती है लेकिन उसकी माँग केवल OT होती है। अन्त में जाकर माँग और पूर्ति OM हो जाती है तथा विनिमय दर PM हो जाती है। यदि विनिमय दर, सन्तुलन बिन्दु के नीचे आती है तो ठीक इसके विपरीत स्थिति होती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि माँग अथवा पूर्ति अथवा इन दोनों में होने वाले परिवर्तन

[1] भुगतान-शेष का विस्तृत विवेचन अगले अध्याय में किया गया है।

विनिमय की सन्तुलन दर को प्रभावित करते है और मूल्य के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार विनिमय दर का निर्धारण किया जाता है।

भुगतान-शेष सिद्धान्त के गुण —विनिमय दर के निर्धारण मे इस सिद्धान्त के निम्न गुण हैं:

(i) इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा गुण यह है कि यह स्पष्ट करता है कि अन्य वस्तुओ की भांति मुद्रा का मूल्य भी उसकी मांग और पूर्ति के द्वारा निर्धारित होता है अर्थात विनिमय दर के निर्धारण को भी सामान्य मूल्य सिद्धान्त के क्षेत्र मे लाता है।

(ii) यह सिद्धान्त इस तथ्य की ओर भी सकेत करता है कि आयात-निर्यात की वस्तुओ के अतिरिक्त, भुगतान-शेष की अन्य मदें भी माँग और पूर्ति के माध्यम से विनिमय दर को प्रभावित करती हैं। प्रो. कुरिहारा (Prof K. Kourihara) के अनुसार "यह सिद्धान्त इस अर्थ मे अधिक वास्तविक है क्योकि इसमे विदेशी मुद्रा की घरेलू कीमत के निर्धारण को मात्र सामान्य मूल्य स्तर को व्यक्त करने वाली क्रय शक्ति का फलन न मानकर अन्य कई महत्वपूर्ण चरो (Variables) का फलन माना जाता है।"[1]

(iii) इस सिद्धान्त का यह भी एक गुण है कि यह सिद्धान्त स्पष्ट करता है कि भुगतान-शेष मे असन्तुलन की स्थिति को विनिमय-दर मे मामूली परिवर्तन करके ठीक किया जा सकता है। यह परिवर्तन अवमूल्यन (Devaluation) अथवा पुनर्मूल्यन (Revaluation) करके किया जा सकता है तथा इसमे आन्तरिक क्रय शक्ति मे परिवर्तन करने की आवश्यकता नही है जैसा कि क्रय शक्ति समता सिद्धान्त मे बताया गया है।

इस सिद्धान्त के दोष—भुगतान-शेष सिद्धान्त मे उपरोक्त गुणो के बावजूद भी निम्न दोष हैं :

(i) यह सिद्धान्त पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता को लेकर चलता है तथा एक देश से दूसरे देश को मुद्रा के प्रवाह मे हस्तक्षेप स्वीकार नही करता किन्तु ये दोनो बातें अवास्तविक हैं।

(ii) यह सिद्धान्त विनिमय दर और आन्तरिक मूल्य स्तर मे कोई सम्बन्ध स्थापित नही करता। किन्तु आलोचको का मत है कि उक्त सम्बन्ध को पूर्ण रूप से अस्वीकार नही किया जा सकता क्योकि भुगतान शेष की स्थिति पर देश के कीमत-लागत ढाँचे का प्रभाव पड़ता है।

(iii) इस सिद्धान्त के अनुसार विदेशो से आयात की जाने वाली वस्तुओ की मांग पूर्ण रूप से बेलोचदार होती है तथा इस पर कीमत और विनिमय दर का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु सामान्य अनुभव की बात यह है कि बेलोचदार वस्तुओ की मांग पर भी कुछ न कुछ कीमत परिवर्तनो का प्रभाव पड़ता है।

(iv) इस सिद्धान्त का एक मुख्य दोष यह भी है कि यह भुगतान-शेष को एक निश्चित मात्रा मे मानकर चलता है किन्तु तथ्य यह है कि व्यापार-शेष, देश एवं विदेश के कीमत स्तरो पर निर्भर रहता है तथा दो देशो के मूल्य स्तरो पर उन देशो की विनिमय दरो का भी प्रभाव पड़ता है अत भुगतान-शेष पूर्ण रूप से विनिमय दरो से स्वतन्त्र नहीं होता जैसा कि यह सिद्धान्त बताता है।

(v) विनिमय दर का मांग-पूर्ति का सिद्धान्त यह बताने मे सक्षम नही है कि मुद्रा के आन्तरिक मूल्य का निर्धारण किस प्रकार होता है।

(vi) आलोचको का कथन है कि भुगतान शेष का सिद्धान्त बिना कारण-परिणाम की व्याख्या किये मात्र एक स्वत सिद्ध तथ्य की ओर सकेत करता है। यदि भुगतान-शेष अन्त मे सदैव सन्तुलन मे हो जाते हैं तो प्रतिकूल व्यापार-शेष के अन्तर्गत विनिमय दर मे कमी होने का

1. Kurihara, Monetary Theory & Public Policy p. 330.

कोई तर्क ही नहीं है क्योंकि प्रो. के. डी. बूथ के अनुसार ऐसा शेष (Balance) होता ही नहीं है जिसकी पूर्ति न की जावे।

विनिमय दरों में होने वाले परिवर्तन एवं व्यापार-शेष
(EXCHANGE RATE CHANGES AND THE BALANCE OF TRADE)

अभी हमने देखा है कि भुगतान-शेष सिद्धान्त के अनुसार किसी देश की भुगतान-शेष स्थिति का प्रभाव उसकी विनिमय दर पर पड़ता है। किन्तु इसके विपरीत भी सत्य है अर्थात् विनिमय दरों में होने वाले परिवर्तन व्यापार-शेष को एवं इस कारण भुगतान-शेष को प्रभावित करते हैं।

प्रो. ए. सी एल. डे ने अपनी पुस्तक 'Outline of Monetary Economics' में वस्तुओं की मांग की लोच के माध्यम से विनिमय दर एवं व्यापार-शेष के सम्बन्ध को व्यक्त किया है। विनिमय दर में परिवर्तन होने से विभिन्न वस्तुओं की कीमतों एवं मांग में परिवर्तन होता है जिसका प्रभाव व्यापार-शेष (Balance of Trade) पर पड़ता है। यह प्रभाव मांग की लोच की सहायता से समझाया जा सकता है जो एक देश की तुलना में दूसरे देश की कीमतों में होने वाले प्रभाव को स्पष्ट करती है जबकि अन्य वस्तुओं की कीमतें एवं अन्य बातें स्थिर रहती हैं।

विनिमय दर में जो परिवर्तन होते हैं, उनका प्रभाव उन वस्तुओं की कीमतों पर पड़ता है जिनका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार किया जाता है। इनकी कीमतों में परिवर्तन होने का प्रभाव व्यापार-शेष पर पड़ता है जो भुगतान-शेष में परिवर्तन कर देता है। कीमतें, व्यापार-शेष को किस सीमा तक प्रभावित करेंगी यह आयात और निर्यात की मांग की लोच पर निर्भर रहता है। उदाहरण के लिए यदि ब्रिटेन के माल के लिए अमरीका की मांग तथा अमेरीका के माल के लिए ब्रिटेन की मांग (अमरीका का निर्यात) इकाई से कम अथवा बेलोचदार है तो व्यापार-शेष अमेरिका के पक्ष में होगा यदि डालर की मूल्य वृद्धि की जाती है अथवा पौण्ड का मूल्य-ह्रास किया जाता है। इसका कारण यह है कि जब अमरीका के आयात बेलोचदार है तो निर्यातों का मूल्य घटेगा किन्तु जब अमरीका के निर्यातों की मांग भी बेलोचदार है तो निर्यातों का मूल्य बढ़ेगा अत: ऐसी स्थिति में डालर की मूल्य वृद्धि (Appreciation of Dollar) अमरीका का व्यापार शेष उसके अनुकूल हो जायगा तथा विदेशी व्यापार गुणक के प्रभाव से अमरीका में आय व रोजगार में वृद्धि होगी तथा उसका भुगतान शेष अतिरेक की स्थिति में हो जायगा। पौण्ड के मूल्य में ह्रास होने से वहाँ ठीक इसके विपरीत स्थिति होगी तथा उसका भुगतान-शेष घाटे में रहेगा।

यदि ब्रिटेन के माल के लिए अमरीका की मांग की लोच तथा अमरीकन माल के ब्रिटेन की मांग की लोच का योग इकाई से अधिक है अर्थात सापेक्षिक लोचदार है तो डालर के मूल्य में वृद्धि का, अमरीका के भुगतान-शेष पर प्रतिकूल प्रभाव होगा क्योंकि विदेशी वस्तु की लोचदार मांग का अर्थ यह होगा कि विदेशी वस्तुओं के मूल्य में कमी होने से (डालर की मूल्य वृद्धि से पौण्ड सस्ता हो गया है) अमरीका के आयात में वृद्धि होगी किन्तु अमरीका के निर्यात की मांग भी लोच पूर्ण होने से अमरीका का निर्यात कम हो जायगा क्योंकि अमरीकन माल पौण्ड की तुलना में मंहगा हो गया है। जब अमरीका के निर्यातों की तुलना में, उसके आयात बढ़ जाते हैं तो अमरीका के लिए भुगतान शेष प्रतिकूल हो जाता है जिसके गुणक प्रभाव के कारण देश में आय और रोजगार में कई गुनी कमी हो जाती है इसे उत्प्रेरित प्रभाव (Induced effect) कहते है।

जब दोनों लोच का योग इकाई के बराबर होता है तो भुगतान-शेष पर कोई प्रभाव नहीं होता।

विदेशी विनिमय दरों में उच्चावचन
(FLUCTUATIONS IN THE RATE OF EXCHANGE)

पिछले पृष्ठों में हमने विनिमय दर को निर्धारित करने वाले तीन सिद्धान्तों का अध्ययन

किया है। ये सिद्धान्त बताते हैं कि दीर्घकाल में सामान्य अथवा विनिमय की सन्तुलन दर क्या होती है किन्तु जहाँ तक अल्पकालीन विनिमय दर और विनिमय की बाजार दर का प्रश्न है, यह दर घटती-बढ़ती रहती है अर्थात् इसमें उच्चावचन होते रहते हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक हस्तान्तर के कारण होते हैं। इन उच्चावचनों के कारण किसी भी देश में अनिश्चितता की स्थिति आ जाती है तथा देश की अर्थव्यवस्था पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। ऐसे कई कारण हैं जो पारस्परिक रूप से देशों की मुद्राओं की मांग को प्रभावित करते हैं और विनिमय दर में अल्पकालीन उच्चावचनों को जन्म देते हैं।

विनिमय दरों में उच्चावचन के कारण—प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो. एच. ई. ईविट ने अपनी पुस्तक "A Manual of Foreign Exchange" में विनिमय दरों के उच्चावचनों के निम्न कारण बताये :

अल्पकालीन कारण— (a) व्यापार कारण

(b) वित्तीय कारण

दीर्घकालीन कारण— (c) चलन और साख सम्बन्धी दशाएँ

(d) राजनीतिक और औद्योगिक दशाएँ

इन कारणों का समावेश करते हुए, विनिमय दरों को प्रभावित करने वाले अथवा उनमें उच्चावचन पैदा करने वाले मुख्य कारणों का विवेचन इस प्रकार किया जाता है :

(1) **व्यापारिक प्रभाव**—इसके अन्तर्गत आयात एवं निर्यात के प्रभाव का समावेश होता है। यदि किसी देश की आयात अथवा निर्यात की मात्रा में परिवर्तन होता है तो उसका प्रभाव उस देश की विनिमय दर पर पड़ता है। उदाहरण के लिए यदि निर्यातों की तुलना में आयात बढ़ जाते हैं तो विदेशी मुद्रा की मांग में वृद्धि होने लगती है तथा ऐसे देश की विनिमय दर उसके प्रतिकूल हो जाती है। इसके विपरीत यदि आयातों की तुलना में देश के निर्यातों में वृद्धि होती है तो देश की मुद्रा की मांग विदेशों में बढ़ती है और देश के लिए विनिमय दर अनुकूल हो जाती है। आयात-निर्यात के अन्तर्गत दृश्य मदों के अतिरिक्त अदृश्य मदों को सीमित किया जाता है।

(2) **पूंजी [redacted] प्रवाह**—एक देश से पूंजी के आवागमन का प्रभाव भी उसकी विनिमय दर पर पड़ता है। एक देश से पूंजी का अल्पकालीन बहिर्गमन विदेशों में ऊँची ब्याज दर प्राप्त करने के लिए हो सकता है अथवा विदेशों में पूंजी का दीर्घकालीन विनियोग किया जा सकता है। उदाहरण के लिए यदि भारी मात्रा में पूंजी इंग्लैण्ड से अमरीका को हस्तान्तरित होती है तो इसके फलस्वरूप विनिमय बाजार में स्टर्लिंग-पौण्ड की पूर्ति बढ़ जाती है और पौण्ड की तुलना में अमरीकन डालर का विनिमय मूल्य बढ़ जाता है अर्थात पौण्ड की विनिमय दर गिर जाती है। यदि अमरीका से पूंजी इंगलैण्ड को हस्तान्तरित होती है तो ठीक इसके विपरीत प्रभाव पड़ता है।

(3) **चलन एवं साख सम्बन्धी दशाएँ अथवा मौद्रिक नीति**—प्रो. ईविट ने चलन एवं साख सम्बन्धी दशाओं को विनिमय दर को, प्रभावित करने वाला दीर्घकालीन कारण माना है। यदि देश में विस्तारवादी मौद्रिक नीति को अपनाया जाता है अर्थात् अति-निर्गम (Over-issue) से देश में चलन की मात्रा बढ़ायी जाती है तो देश में मूल्यों में वृद्धि होने लगती है तथा मुद्रा की आन्तरिक क्रय शक्ति कम हो जाती है और उसकी मुद्रा की विदेशों में मांग कम हो जाती है तथा उस देश की विनिमय दर भी गिरने लगती है। दूसरी ओर देश में मुद्रा संकुचन की नीति से देश में वस्तुओं की कीमतें गिरती हैं निर्यात प्रोत्साहित होते हैं और विनिमय दर बढ़ने लगती है। इस प्रकार मौद्रिक नीति का देश की विनिमय दर पर प्रभाव पड़ता है।

(4) बैंकों की क्रियाएँ—विदेशी मुद्रा के लेन-देन में बैंकों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है अत इनकी क्रियाओं का विनिमय दर के निर्धारण में महत्वपूर्ण प्रभाव होता है। बैंकों की क्रियाएँ विदेशी विनिमय की माँग और पूर्ति को प्रभावित करती हैं जिसका प्रभाव विनिमय दर पर पड़ता है। इन क्रियाओं में बैंक दर महत्वपूर्ण है। जब देश में बैंक दर, विदेशी बैंक दर की तुलना में ऊँची रहती है तो देश में विदेशी कोष आकर्षित होते हैं अर्थात् विदेशियों को उस देश में विनियोग करना लाभदायक होता है अतः देश में विदेशी पूँजी आने लगती है स्वदेशी मुद्रा की माँग बढ़ने लगती है तथा विनिमय दर भी बढ़ने लगती है। जब देश में तुलनात्मक रूप से बैंक दर गिरती है तो ठीक इसका विपरीत प्रभाव होता है।

बैंक दर के साथ, साख पत्रों के क्रय-विक्रय का भी विनिमय दर पर प्रभाव होता है। जब एक देश के बैंक विदेशी साख पत्रों में रुपया लगाते हैं अर्थात् उनका क्रय करते हैं तो देश की पूँजी विदेशों को जाती है अर्थात् विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ती है जिससे उसका मूल्य बढ़ता है और विनिमय दर भी बढ़ जाती है। इसके विपरीत यदि बैंकों द्वारा साख पत्रों का विक्रय किया जाता है अर्थात् विदेशी हमारे साख पत्रों को खरीदते हैं तो देश की मुद्रा की माँग बढ़ती है जिससे इसका मूल्य विदेशी मुद्रा में बढ़ जाता है और विनिमय दर देश के पक्ष में हो जाती है।

(5) मध्यस्थों की क्रियाएँ अथवा मूल्यान्तर के सौदे (Arbitrage Operations)—मध्यस्थों की क्रियाएँ भी विनिमय-दर को प्रभावित करती हैं। इन क्रियाओं को अन्तर्वर्णन भी कहते हैं। अन्तरपणन की क्रिया, दो मुद्रा बाजारों में विनिमय दरों के अन्तर से लाभ उठाने के लिए की जाती है। जिस बाजार में मुद्रा सस्ती होती है, वहाँ से खरीदकर उसे बाजार में बेचा जाता है जहाँ वह महँगी होती है। मुद्रा के क्रय विक्रय का यह कार्य व्यापारिक बैंकों द्वारा अपने विदेशी प्रतिनिधियों के माध्यम से किया जाता है। अन्तर्वर्णन के सौदे तत्काल किये जाते हैं क्योंकि समय-विलम्ब के साथ विनिमय दरों का अन्तर समाप्त हो सकता है। एक उदाहरण से हम इसे समझ सकते हैं। मान लीजिए बम्बई में डालर का मूल्य 9.50 रु० प्रति डालर है तथा वाशिंगटन में प्रति डालर 9 रुपये प्रति डालर खरीदकर उसे बम्बई में 9.50 रुपये प्रति डालर बेचकर, प्रत्येक डालर पर 50 पैसे का लाभ प्राप्त कर सकता है। इससे वाशिंगटन में डालर की माँग इसकी पूर्ति से अधिक हो जायगी और बम्बई में इसकी पूर्ति माँग से अधिक हो जायगी। इसके फलस्वरूप विनिमय दर भारत में अधिक और अमरीका में कम हो जायगी।

(6) सट्टा बाजार की क्रियाओं का प्रभाव—विनिमय दर में भविष्य में होने वाले परिवर्तनों का पूर्व अनुमान कर विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय किया जाता है जिसका विनिमय दर पर प्रभाव पड़ता है। यदि किसी समय सटोरियों द्वारा विदेशी मुद्रा को अधिक मात्रा में खरीदा जाता है तो उस मुद्रा की माँग बढ़ जाती है तथा उसकी विनिमय दर भी बढ़ने लगती है। यदि इसके विपरीत सटोरियों द्वारा विदेशी मुद्रा बेची जाती है तो उसकी विनिमय दर गिरने लगती है। विशेष रूप से जब देश में किसी कारण अनिश्चितता का वातावरण बनता है तो उक्त क्रियाएँ तेज हो जाती हैं और विनिमय दर में उतार-चढ़ाव होने लगते हैं। प्रो ईंजिंग के अनुसार यदि देश में श्रम संघर्ष (हड़ताल, तालाबन्दी) एवं उत्पादन की ऊँची लागत की स्थिति विद्यमान है तो मुद्रा के विनिमय मूल्य पर इसका तात्कालिक प्रभाव पड़ता है और सटोरिये भविष्य में व्यापार की गिरती हुई स्थिति का अनुमान लगाकर विदेशी मुद्रा को बेचना शुरू कर देते हैं।

(7) स्टॉक एक्सचेञ्ज की क्रियाएँ—इन क्रियाओं में ऋण प्रदान करना, विदेशी ऋण पर ब्याज का भुगतान, विदेशी पूँजी की आमदनी एवं विदेशी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय आदि का समावेश होता है। इन विदेशी मुद्रा की माँग पर प्रभाव पड़ता है जिससे विनिमय दर भी प्रभावित

होती है। उदाहरण के लिए जब एक देश द्वारा विदेश को ऋण दिया जाता है तो विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ जाती है तथा देश के लिए विनिमय दर प्रतिकूल हो जाती है, किन्तु जब विदेशियों द्वारा ऋण एवं ब्याज का भुगतान किया जाता है तो देश की मुद्रा की माँग बढ़ जाती है जिससे विनिमय दर भी बढ़कर देश के अनुकूल हो जाती है।

(8) **मौसमी परिवर्तन**—विनिमय दर को प्रभावित करने वाले "मौसमी परिवर्तन" का उल्लेख प्रो. ईविट ने अपनी पुस्तक में किया है। उनका कहना है कि एक मुद्रा के विनिमय मूल्य पर उसकी माँग और पूर्ति में होने वाले मौसमी परिवर्तन का प्रभाव पड़ता है। जैसे आस्ट्रेलिया में अनाज और ऊन को दिसम्बर से फरवरी तक एकत्रित किया जाता है और इन्हीं महीनों में इन वस्तुओं का विदेशों में विक्रय किया जाता है जिससे वहाँ अन्य देशों की मुद्रा की तुलना में आस्ट्रेलिया की मुद्रा की माँग बढ़ती है तथा उसकी विनिमय दर भी बढ़ती है। ऐसी स्थिति में सम्बन्धित देशों के बैंक इस बात का प्रयत्न करते हैं कि आवश्यक मुद्रा की पूर्ति कर, विनिमय दरों में होने वाले भीषण उच्चावचनों को रोका जा सके।

(9) **विदेशी विनियोग का प्रभाव**—विनियोग का भी विनिमय दर पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। विश्व के अग्रणी स्टॉक एक्सचेन्जों द्वारा इस प्रकार की विनियोग की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। यदि विदेशी विनियोगकर्ता यह अनुभव करते हैं कि किसी विशेष देश की आर्थिक एवं औद्योगिक स्थिति अनुकूल है तथा भविष्य में उस देश की मुद्रा के विनिमय मूल्य में सुधार की आशा है तो वे अपने अतिरेक कोषों का प्रयोग उस देश की मुद्रा को क्रय करने में करते हैं जिसे बाद में प्रतिभूतियों के क्रय में प्रयुक्त किया जाता है और इसका प्रभाव ठीक विनियोग के समान होता है तथा देश की विनिमय दर अनुकूल हो जाती है। दूसरी प्रकार से भी विनियोग, विनिमय दर को प्रभावित करते हैं। मानलो अमरीका और भारत के बीच, भारत के रुपये की विनिमय दर डालर की तुलना में गिरने की सम्भावना हो और ऐसे ही समय में अमरीका भारत को बड़ी मात्रा में डालर का ऋण दे दे तो भारतीय रुपये की विनिमय दर गिरने से बच सकती है यदि अमरीका, भारत में पूँजी का विनियोग करता है तो डालर की तुलना में रुपये की माँग बढ़ जायगी और रुपये की विनिमय दर बढ़ जायगी।

(10) **देश की राजनीतिक एवं आर्थिक दशाएँ**—देश की राजनीतिक और आर्थिक दशाओं का भी विनिमय दर पर प्रभाव पड़ता है। यदि देश में सरकार स्थायी है, शान्ति और सुरक्षा है, सम्पत्ति के स्वामियों की एवं उनकी सम्पत्ति की रक्षा की जाती है तो भले ही देश में ब्याज की दर कम हो, फिर भी यहाँ ब्याज कमाने की दृष्टि से अथवा विनियोग के लिए अथवा सुरक्षा की दृष्टि से विदेशी पूँजी देश में आती है जिससे विनिमय दर देश के पक्ष में हो जाती है। इसके विपरीत यदि देश में राजनीतिक संघर्ष की स्थिति है, सरकार को उखाड़ फेंकने की चालें चल रही हैं तो देश से पूँजी का बहिर्गमन होने लगता है जिससे विदेशी मुद्रा की तुलना में देश की मुद्रा की विनिमय दर गिरती है।

इसी प्रकार देश की आन्तरिक औद्योगिक स्थिति का भी विनिमय दर पर प्रभाव पड़ता है। यदि देश में श्रमिकों एवं पूँजीपतियों के बीच अच्छे सम्बन्ध हैं, कीमतों और मजदूरी के स्तर में समन्वय है औद्योगिक क्षेत्र में उद्यमी प्रतिभा एवं श्रमिकों में कुशलता है तो इन सबका देश की मुद्रा पर दीर्घकालीन प्रभाव यह होता है कि देश की विनिमय दर अनुकूल होती है।

विनिमय दरों के उच्चावचन की सीमाएँ—विभिन्न मानों के अन्तर्गत विनिमय दरों के उच्चावचन की सीमाएँ अलग-अलग होती हैं जो इस प्रकार हैं.

(1) **स्वर्णमान में**—स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दरों में एक निश्चित सीमा तक ही उच्चावचन होते हैं तथा इनकी सीमाओं का निर्धारण स्वर्ण बिन्दुओं द्वारा होता है। अतः दो स्वर्ण

मान वाले देशों में विनिमय दर, टंक समता (Mint Parity) के चारों ओर स्वर्ण आयात और स्वर्ण निर्यात बिन्दु की सीमाओं के भीतर ही घटती-बढ़ती रहती है। इसका विस्तृत विवेचन हम, विनिमय की टकसाली दर के अन्तर्गत कर चुके है।

(2) पत्र चलनमान में—अपरिवर्तनीय कागजी मान के अन्तर्गत विनिमय दर के उच्चावचनों की सीमाओं का निर्धारण यद्यपि क्रय शक्ति समता के अनुसार होता है किन्तु स्वर्णमान की टंक समता के समान, क्रय शक्ति में स्थिरता नहीं रहती वरन् इसमें परिवर्तन होते है अत: विनिमय दर में परिवर्तन केवल कुछ निश्चित सीमाओं तक ही नहीं होते वरन् विदेशी विनिमय की माँग और पूर्ति की दशाएँ विनिमय दर को प्रभावित करती रहती है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. स्पष्ट कीजिए कि अपरिवर्तनीय कागजी मान मे विनिमय दर का निर्धारण किस प्रकार किया जाता है। क्या इसमे विनिमय दर के उच्चावचनों की कुछ सीमाएँ होती है ?
2. स्वर्ण बिन्दु क्या है ? ये बिन्दु किस पर निर्भर रहते है क्या विनिमय दर इन बिन्दुओं के बाहर जा सकती है ? पूर्ण व्याख्या कीजिए ?
3. विनिमय दर के निर्धारण के क्रय शक्ति समता सिद्धान्त एव भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त मे अन्तर स्पष्ट कीजिए ? इसका व्यावहारिक महत्व भी समझाइये ?
4. "क्रय शक्ति समता सिद्धान्त सही विनिमय मूल्य समझाने के लिए तात्कालिक उपाय प्रस्तुत नही करता।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।
5. विदेशी विनिमय दर को प्रभावित करने वाले विभिन्न घटकों की व्याख्या कीजिए ?
6. स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दर के टंक समता सिद्धान्त को समझाइये ? विनिमय दर के निर्धारण मे स्वर्ण बिन्दुओं का क्या महत्व है ?

Selected Readings

1. Halm G. N. : *Monetary Theory.*
2. Crowther G : *An Outline of Money*
3. Day A. C. L. : *Outline of Monetary Economics.*
4. Mithani D. M. : *Introduction to International Economics.*
5. Evitt H. E. : *A Manual of Foreign Exchange.*

अध्याय **23**

व्यापार-शेष एवं भुगतान-शेष

[THE BALANCE OF TRADE AND BALANCE OF PAYMENTS]

परिचय

किसी भी देश की अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति को उसका भुगतान शेष देखकर समझा जा सकता है। इससे हम यह जान सकते हैं कि क्या देश को अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को पूर्ण करने के लिए कठिनाई का अनुभव हो रहा है अथवा इस सन्दर्भ में उसकी स्थिति सन्तोषजनक है या नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों को पूर्ण करने के लिए व्यापार अत्यन्त महत्वपूर्ण है किन्तु इसके साथ ही अन्य भी मदें हैं जिनके माध्यम से या तो अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान प्राप्त किये जा सकते हैं अथवा दायित्वों का भुगतान किया जा सकता है। हम इस अध्याय में इन्हीं दोनों व्यापार शेष एवं भुगतान शेष का अध्ययन करेंगे एवं भुगतान शेष से सम्बन्धित समस्याओं पर विस्तार से विचार करेंगे।

भुगतान-शेष का अर्थ

भुगतान-शेष अथवा भुगतान सन्तुलन से आशय देश के समस्त आयातों एवं निर्यातों एवं अन्य सेवाओं के मूल्यों के सम्पूर्ण विवरण से है। भुगतान-शेष का विवरण तैयार करते समय दोहरी-प्रविष्टि प्रणाली अपनायी जाती है जिसमे शेष विश्व के साथ लेखा का विवरण रहता है। इसके अन्तर्गत लेन-देन को दो भागों में विभाजित किया जाता है। एक ओर तो देश की विदेशी मुद्रा की लेनदारियों का विवरण होता है जिसे समाकलन अथवा धनात्मक पक्ष (Credit or plus entry) कहते हैं तथा दूसरी ओर उस देश की समस्त देनदारियों का विवरण होता है जिसका भुगतान उसे विश्व के अन्य देशों को करना होता है जिसे विकलन अथवा ऋणात्मक पक्ष (Debit or Minus entry) कहते हैं। इस प्रारम्भिक परिचय के बाद अब आगे भुगतान-शेष की कुछ परिभाषाओं पर विचार करेंगे।

प्रो. वाल्टर क्रासे के अनुसार "किसी देश का भुगतान-शेष उसके निवासियों एवं शेष विश्व के निवासियों के बीच दी हुई अवधि में (साधारणतः एक वर्ष) पूर्ण किये गये समस्त आर्थिक लेन-देन का एक व्यवस्थित विवरण अथवा लेखा है।"[1] यहाँ निवासियों का अर्थ केवल व्यक्तियों से न होकर, निगम, संस्थाओं एवं सरकार से भी है।

---

1 "The balance of payment of a country is a systematic record of all economic transactions completed between its residents and residents of the rest of the world during a given period of time usually a year."

—Krause, *The International Economy*, p. 43

जेम्स इंग्राम (Jams Ingram) के अनुसार "भुगतान शेष एक देश के उन सभी आर्थिक लेन-देनों का संक्षिप्त विवरण है जो उसके एवं शेष विश्व के निवासियों के बीच एक दिये हुए समय में किये जाते हैं।"

प्रो स्नाइडर के अनुसार "किसी एक देश के एवं शेष विश्व के निवासियों, व्यापारियों सरकार एवं अन्य संस्थाओं के बीच दिये हुए समय की अवधि में किये गये समस्त विनिमय वस्तुओं के हस्तान्तरण एवं सेवाओं के मौद्रिक मूल्य और ऋण या स्वामित्व के उचित वर्गीकरण के विवरण को भुगतान-शेष कहकर परिभाषित किया जा सकता है।"

प्रो बेनहम ने भुगतान-शेष की परिभाषा व्यापार-शेष के साथ तुलना करते हुए की है। उनके अनुसार "किसी देश का भुगतान-शेष उसका शेष विश्व के साथ एक समय की अवधि में किये जाने वाले मौद्रिक लेन-देन का विवरण है जबकि एक देश का व्यापार सन्तुलन एक निश्चित अवधि में उसके आयातों एवं निर्यातों के बीच सम्बन्ध है।"

प्रो हैबरलर के अनुसार "भुगतान-शेष शब्द का प्रयोग (विदेशी चलन) की सम्पूर्ण माँग एवं पूर्ति की परिस्थितियों में है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विवेचन में इसी अर्थ में भुगतान-शेष का बहुधा प्रयोग किया जाता है। उपरोक्त परिभाषा देकर प्रो हैबरलर ने भुगतान-शेष के अन्य अर्थों की ओर भी संकेत किया है जिसमें इसका प्रयोग किया जाता है, जो निम्न प्रकार हैं :

(i) *भुगतान-शेष का प्रयोग एक निश्चित अवधि में विदेशी मुद्रा के क्रय एवं विक्रय में* किया जाता है और इस अर्थ में भुगतान शेष सदैव सन्तुलन की स्थिति में रहता है। पर यह एक अच्छी परिभाषा नहीं है।

(ii) दूसरे अर्थ में भुगतान-शेष का प्रयोग विदेशों को किये गये भुगतान एवं विदेशियों से प्राप्त भुगतान से किया जाता है। यह अर्थ प्रथम अर्थ से भिन्न है। इस अर्थ में भी दीर्घकाल में भुगतान-शेष सदैव सन्तुलन में रहता है। यह भी शब्द का मान्य अर्थ नहीं है।

(iii) तीसरे अर्थ में भुगतान-शेष शब्द का प्रयोग "आय-विवरण" (On Income Account के सीमित अर्थ में किया जाता है। इसके अन्तर्गत ऋण-शेष व्यापार एवं सेवाओं के शेष को शामिल किया जाता है।

(iv) भुगतान-शेष का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के अर्थ में भी किया जाता है तथा इनका भुगतान करने के बाद यह सन्तुलन में ही आता है।

उपरोक्त अर्थों की कमियों को दृष्टि में रखते हुए प्रो. हैबरलर ने भुगतान शेष को विनिमय दर को निर्धारित करने वाली मुद्रा की माँग और पूर्ति की दशाओं के सन्दर्भ में परिभाषित किया है।

समस्त परिभाषाओं को दृष्टि में रखते हुए प्रो. काने द्वारा दी हुई परिभाषा अधिक उपयुक्त है जिसका उल्लेख हमने प्रारम्भ में किया है।

भुगतान-शेष का जो विवरण या लेखा तैयार किया जाता है उसकी तुलना बैलेंस शीट अथवा "लाभ और हानि लेखा" से नहीं की जाना चाहिए क्योंकि बैलेंस शीट में एक निश्चित अवधि में परिसम्पत्ति एवं दायित्वों (Assets and Stabilities) का उल्लेख होता है जबकि भुगतान-शेष में एक समय की अवधि में आर्थिक लेन-देन का विवरण होता है।

भुगतान सन्तुलन[1] और व्यापार सन्तुलन में अन्तर

भुगतान-शेष से बहुत कुछ मिलता शब्द व्यापार-शेष है अतः इन दोनों का अर्थ समझ लेना

1 साधारणतया पुस्तकों में Balance of payment के लिए भुगतान सन्तुलन अर्थ का प्रयोग किया जाता है किन्तु Balance का यहाँ अर्थ "शेष" है अतः "भुगतान-शेष" उपयुक्त शब्द है। भ्रम दूर करने के लिए यहाँ सन्तुलन लिख दिया गया है।

चाहिए क्योंकि दोनों में भिन्नता है। व्यापार-शेष के अन्तर्गत आयात और निर्यातों का विस्तृत विवरण रहता है। व्यापार-शेष या तो अनुकूल हो सकता है अथवा प्रतिकूल। जब एक देश के आयातों की तुलना में उसके निर्यात अधिक होते हैं तो उसे अनुकूल व्यापार-शेष कहते हैं और जब निर्यातों की तुलना में आयात अधिक होते हैं तो इसे प्रतिकूल-व्यापार-शेष कहते हैं।

यह समझना भी आवश्यक है कि जब दो देशों में व्यापार अथवा आर्थिक सम्बन्ध प्रारम्भ होता है तो केवल वस्तुओं का ही आयात-निर्यात नहीं किया जाता वरन् वस्तुओं के अतिरिक्त सेवाओं, पूँजी स्वर्ण, आदि का आयात-निर्यात भी किया जाता है। आयात-निर्यात दो प्रकार के होते हैं दृश्य (Visible) और अदृश्य (Invisible)। अदृश्य मदों का अर्थ उन सेवाओं से है जिनके लिये यद्यपि देशों द्वारा आपस में भुगतान लिया एवं दिया जाता है किन्तु बन्दरगाहों पर उनका कोई लेखा नहीं होता। यही कारण है कि इन्हें अदृश्य मदों में शामिल किया जाता है। दृश्य मदों के अन्तर्गत आयात निर्यात के मूल्यों को ही शामिल किया जाता है एवं व्यापार-शेष में केवल दृश्य मदों अर्थात् वस्तुओं के आयात-निर्यात को ही शामिल किया जाता है जबकि भुगतान-शेष में दृश्य एवं अदृश्य दोनों मदों का समावेश किया जाता है। चूंकि भुगतान-शेष में समस्त दृश्य-अदृश्य मदों को शामिल कर लिया जाता है भुगतान-शेष सदैव सन्तुलित होता है जबकि व्यापार-शेष में सन्तुलन होना आवश्यक नहीं है क्योंकि दृश्य आयातों की मात्रा दृश्य निर्यातों से कम या अधिक हो सकती है।

भुगतान-शेष अधिक महत्वपूर्ण—उपरोक्त अर्थ के सन्दर्भ में विचार करते समय यह कहा जा सकता है कि व्यापार-शेष की तुलना में भुगतान शेष अधिक व्यापक है क्योंकि भुगतान-शेष में दृश्य मदों के अतिरिक्त अन्य अदृश्य मदों का समावेश भी होता है। इस प्रकार व्यापार-शेष, भुगतान-शेष का एक अंग है और यह सबसे बड़ा अंग है। यदि किसी देश का व्यापार सन्तुलन उसके पक्ष में नहीं है तो यह अधिक चिन्ता की बात नहीं है। किन्तु यदि भुगतान-सन्तुलन देश के पक्ष में नहीं है तो इस बात का सूचक है कि देश की आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। उदाहरण के लिए द्वितीय महायुद्ध के पूर्व यद्यपि इंग्लैण्ड का व्यापार-शेष उसके पक्ष में नहीं रहता था फिर भी इंग्लैण्ड एक समृद्ध राष्ट्र था। क्योंकि भुगतान-शेष उसके पक्ष में था। दूसरी ओर स्वतन्त्रता के पूर्व यद्यपि भारत का व्यापार-सन्तुलन उसके पक्ष में था किन्तु उसकी आर्थिक स्थिति इसलिए अच्छी नहीं थी क्योंकि भुगतान-शेष भारत के पक्ष में नहीं था। इसका कारण स्पष्ट किया जा चुका है कि चूंकि आयात-निर्यात भुगतान-शेष का एक अंग मात्र है, व्यापार-शेष अनुकूल होने पर भी अन्य अदृश्य मदें उसके प्रतिकूल हो सकती हैं एवं व्यापार-शेष प्रतिकूल होने पर भी कुल मिलाकर अन्य अदृश्य मदें अनुकूल होने पर उसका भुगतान-शेष पक्ष में हो सकता है। अतः व्यापार-शेष की तुलना में भुगतान-शेष अधिक व्यापक एवं महत्वपूर्ण है।

भुगतान-शेष की संरचना अथवा प्रमुख मदें
(COMPOSITION OR MAIN ITEMS OF BALANCE OF PAYMENT)

एक देश एवं शेष विश्व के नागरिकों के बीच जो लेन-देन किये जाते हैं, वे भुगतान के दायित्वों अथवा प्रति-दायित्वों को जन्म देते हैं। एक देश के नागरिकों के वे लेन-देन जिसके फलस्वरूप उस देश को विदेशी भुगतान-शेष के प्राप्ति-पक्ष (Credit transaction) का प्रतिनिधित्व करते हैं और इसके विपरीत वे लेन-देन जिनके फलस्वरूप उस देश को विदेशी भुगतान करना पड़ते हैं, भुगतान शेष के देनदारी के पक्ष (Debit transaction) को स्पष्ट करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देनों को कुछ प्रमुख मदों में अग्र प्रकार समझाया जा सकता है अर्थात भुगतान शेष की प्रमुख मदें अग्र प्रकार हैं—

(1) वस्तुओं का आयात-निर्यात (Merchandise)—किसी भी देश के भुगतान शेष की यह सबसे प्रमुख मद होती है तथा इसके अन्तर्गत वस्तुओं के आयात-निर्यात को ही शामिल किया जाता है। इसे भुगतान शेष की दृश्य मद भी कहा जाता है। एक देश जिन वस्तुओं का निर्यात करता है, उनके फलस्वरूप वह विदेशों से भुगतान प्राप्त करने को अधिकृत हो जाता है जिसे जमा-पक्ष (Credit Account) की ओर रखा जाता है। इसके विपरीत देश जिन वस्तुओं का आयात करता है उसके फलस्वरूप उसके भुगतान के दायित्व बढ़ते है जिसे देनदारी पक्ष (Debit transaction) की ओर रखा जाता है।

(2) सेवाएं (Services)—दो देशों के आर्थिक सम्बन्धों के अन्तर्गत केवल वस्तुओं का आयात-निर्यात ही नहीं होता वरन् सेवाओं का आयात निर्यात भी किया जाता है। ये सेवाएँ मुख्य रूप से तीन प्रकार की होती है—(i) व्यापार कम्पनियों जैसे बैंक एवं बीमा कम्पनियों द्वारा विदेशों में की गयी सेवाएं (ii) विशेषज्ञों की (चिकित्सक, इंजीनियर, तकनीकी विशेषज्ञ, शिक्षक आदि) सेवायें एवं (iii) शिक्षा एवं भ्रमण के लिए विदेशों में जाने वाले पर्यटकों आदि के द्वारा उपभोग की जाने वाली सेवाएं। जिस देश द्वारा उक्त सेवाएं प्रदान की जाती है, वे इस देश के लिए 'अदृश्य निर्यात'' होती हैं तथा जिस देश द्वारा उक्त सेवाओं का उपभोग किया जाता है, वे उस देश के लिए ''अदृश्य आयात'' होती हैं।

(3) ब्याज एवं लाभांश (Interest & Dividends)—यदि कोई देश विदेशों में विनियोग करता है चाहे वह किसी उद्योग में हो अथवा विदेशी सरकारों की प्रतिभूतियों में हो अथवा व्यक्तिगत ऋणों के रूप में हो तो उसे ब्याज अथवा लाभांश के रूप में भुगतान प्राप्त होता है जिसे लेनदारी पक्ष में दिखाया जाता है। इसके विपरीत देश में उक्त मदों के अन्तर्गत विनियोग के फलस्वरूप जो भुगतान देश द्वारा, विदेशों को किये जाते हैं, वे उस देश की देनदारियों (debit) के अन्तर्गत दिखाये जाते है। कभी-कभी विनियोग और लाभांश को भुगतान-शेष के अन्तर्गत सेवाओं की आय भी मान लिया जाता है तथा इसे अलग से नहीं दिखाया जाता।

(4) उपहार (Gifts)—कभी-कभी एक देश द्वारा विदेशों में रहने वाले नागरिकों को वस्तुओं के उपहार भेजे जाते है जो उस देश के भुगतान-शेष में जमा-पक्ष में शामिल किये जाते है। जिस देश द्वारा उपहार दिये जाते है, चूंकि उनका कोई भुगतान नहीं किया जाता है अतः इन्हें *Debit entries में एकपक्षीय हस्तान्तरण (Unilateral transfers)* के वर्ग में रखा जाता है।

(5) दीर्घकालीन विनियोग (Longterm Investment)—इसके अन्तर्गत उन विनियोगों को शामिल किया जाता है जो एक वर्ष या उससे अधिक की अवधि के लिए किये जाते हैं। साधारण रूप से दीर्घकालीन विनियोग के अन्तर्गत, एक देश के नागरिकों द्वारा विदेशों में क्रय की जाने वाली निजी परिसम्पत्ति को शामिल किया जाता है जैसे फैक्टरी, खानें अथवा बागान *(plantation) इत्यादि। जब इन विनियोगों का भुगतान किया जाने लगता है तो विनियोग करने* वाला देश भुगतान प्राप्त करता है अतः इसके लिए जमापक्ष होता है तथा जिस देश में विनियोग किया जाता है एवं वहां से जो भुगतान किया जाता है उसके लिए यह व्यय-पक्ष होता है।

(6) अल्पकालीन विनियोग (Shortterm Investment)—इसके अन्तर्गत वे विनियोग आते है जिनकी अवधि एक वर्ष से कम की होती है। साधारणतया इनकी परिपक्वता की अवधि 30, 60 या 90 दिनों की होती है। *अल्पकालीन विनियोगों के अन्तर्गत विदेशी बैंकों में अतिरिक्त* जमा, अल्पकालीन विदेशी सरकारों के बन्ध पत्र (Bonds) का क्रय एवं कुछ व्यापारिक पत्रों का क्रय शामिल होता है।

(7) स्वर्ण का आवागमन (Gold Movement)—किसी देश के भुगतान-शेष में स्वर्ण के आयात-निर्यात को उसी तरह प्रविष्ट किया जाता है जिस प्रकार की वस्तुओं के आयात और

निर्यात को । जब कोई देश विदेश से स्वर्ण खरीदता है तो विदेशी स्वर्ण विक्रेता भुगतान प्राप्त करता है जिसकी प्रविष्टि उसके लेनदारी पक्ष में होती है तथा स्वर्ण आयात करने वाले देश में इसकी प्रविष्टि देनदारी पक्ष में होती है ।

(8) मुद्रा नौपरिवहन (Currency shipment)—एक देश में मुद्राओं के निर्यात को पूँजी के अन्तंप्रवाह (Inflow of Capital) के समान माना जाता है तथा इसे जमा-प्रविष्टि में लिखा जाता है ।

भुगतान शेष का वैज्ञानिक वर्गीकरण—चालू खाता एवं पूँजी खाता
(SCIENTIFIC CLASSIFICATION OF BALANCE OF PAYMENT CURRENT ACCOUNT & CAPITAL ACCOUNT)

भुगतान-शेष के लेन-देन का जो वर्गीकरण लेनदारी (Credit) और देनदारी पक्ष (Debit) के अन्तर्गत किया जाता है उससे एक देश की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के बारे में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती । अतः इसका क्रमबद्ध विवेचन चालू खाता और पूँजी खाता के अनुसार किया जाता है ।

चालू खाते के अन्तर्गत लेन-देन के फलस्वरूप किये जाने वाले अथवा प्राप्त होने वाले उन भुगतानों का समावेश किया जाता है जो चालू (एक) वर्ष में पूर्ण किये जाते हैं । पूँजी खाते से किसी देश की अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग अथवा ऋणग्रस्तता सम्बन्धी स्थिति का ज्ञान होता है । इन दोनों में वहीं अन्तर है जो आय (Income) और पूँजी (Capital में होता है । आय निश्चित अवधि में एक प्रवाह (Flow) के समान है जबकि पूँजी समय अन्तराल से एक संग्रह (Stock) है । चालू खाता, आय का सूचक है तथा पूँजी खाता, पूँजी अथवा संग्रह का प्रतीक है ।

उपरोक्त वर्गीकरण आर्थिक लेन-देन के वास्तविक लेन-देन (Real transaction) एवं वित्तीय लेन-देन (Financial Transaction) पर आधारित है । वास्तविक लेन-देन वे लेन-देन हैं जो एक देश से वस्तुओं और सेवाओं के वास्तविक रूप से हस्तान्तरित होने के फलस्वरूप किये जाते उन्हें आय-निर्मित करने वाले लेन-देन भी कहते हैं । जब किसी देश के निवासी विदेशों को वस्तुओं एव सेवाओं का विक्रय करते हैं तो उन्हें आय प्राप्त होती है तथा जब वे विदेशियों से वस्तुएँ एव सेवाएँ खरीदते हैं तो विदेशियों को आय प्राप्त होती है । वित्तीय लेन-देन वे लेन-देन होते हैं जिनके अन्तर्गत विदेशी विनिमय अथवा मौद्रिक स्वत्वों अथवा विनियोग स्वत्वों के हस्तान्तरण का समावेश किया जाता है । वित्तीय लेन-देनों को पूंजीगत लेन-देन के अन्तर्गत शामिल किया जाता है । ये लेन-देन किसी देश की आय को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं करते वरन् उसकी पूंजी और वित्तीय परिसम्पत्तियों एव दायित्वों में ही परिवर्तन करते है । अतः वास्तविक लेन-देनों को भुगतान शेष के चालू खाते के मद में लिखा जाता है जबकि वित्तीय अथवा पूंजीगत लेन-देनों को भुगतान शेष के पूंजीखाते में प्रविष्ट किया जाता है । भुगतान-शेष के विवरण में उन लेन-देनों को जिनसे विदेशी विनिमय के भुगतान की प्राप्ति होती है, जमा पक्ष में धन (+) चिन्ह के साथ लिखा जाता है और उन लेन-देनों को जिनसे विदेशों को भुगतान किया जाता है, देनदारी पक्ष (Debit) में ऋण (—) चिन्ह के साथ लिखा जाता है ।

पिछले वर्गीकरण को दृष्टि में रखते हुए चालू खाते के अन्तर्गत वस्तुओं और सेवाओ, ब्याज एव लाभांश और एकपक्षीय हस्तान्तरणों को शामिल किया जाता है तथा पूंजी खाते में दीर्घकालीन और अल्पकालीन विनियोगों, एव मुद्रा के आवागमन को शामिल किया जाता है । कभी-कभी स्वर्ण के आवागमन को तीसरे वर्गीकरण स्वर्ण खाता (Gold Account) में रखा जाता है ।

भारत का कुल भुगतान-शेष का विवरण-1964-65

(करोड़ो रुपयों में)

मदें	लेनदारियाँ (Credits)	देनदारियाँ (Debits)	शेष
A-चालू खाता			
(1) वस्तुओं का निर्यात आयात			
(a) व्यक्तिगत	799 6	626·3	+173·3
(b) सरकारी	1·3	794 65	−793 2
(2) अमौद्रिक स्वर्ण प्रवाह	16 0		+ 16 0
(3) विदेशी पर्यटन	17 5	10 3	+ 7·2
(4) परिवहन	56·5	32·2	+ 24·3
(5) बीमा	7 3	4 9	+ 2 4
(6) विनियोग आय	11 4	119·7	−108 3
(7) सरकारी सहायता (अन्यत्र शामिल नहीं)	96 2	14 9	+ 81 3
(8) विविध (सेवाओं के लिए प्राप्ति एवं भुगतान)	23 4	45 8	− 22 4
(9) हस्तान्तरण भुगतान			
(a) सरकारी	138 1	10·3	+127·8
(b) व्यक्तिगत	56 2	16 6	+ 39·6
चालू लेन-देन का योग=	1223 5	1675 5	−452 0
भूल-चूक			− 48·8
कुल योग			−500 8
B-पूँजी खाता			
(1) व्यक्तिगत (गैर-बैंकिंग) ऋण			
(a) दीर्घकालीन	45 9	36·6	+ 0 3
(b) अल्पकालीन	3 2	7·1	− 3 9
(2) बैंकिंग लेन-देन (रिजर्व बैंक को छोड़कर)	42 3	59 5	− 17·2
(3) सरकारी लेन-देन (रिजर्व बैंक सहित)			
(a) ऋण	64 8	47·6	+594·2
(b) ऋण परिशोध	4 5	67 4	− 62 9
(c) विविध	142·3	217 2	− 74 9
(d) रिजर्व बैंक	82 5	26 3	+ 56 2
कुल पूँजी एवं मौद्रिक स्वर्ण	962·5	461 7	+500 8

उपरोक्त तालिका में चालू खाते में कुल घाटा 500·8 करोड़ रु० का है जो पूंजीखाते के कुल अतिरेक 500 8 करोड़ रु० के बराबर है। इस प्रकार भुगतान-शेष सन्तुलन में है।

भुगतान-शेष सदैव सन्तुलन में रहता है
(BALANCE OF PAYMENT ALWAYS BALANCES)

एक देश का व्यापार-शेष भले ही सन्तुलन में न रहे पर भुगतान-शेष सदैव सन्तुलन में रहता है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि व्यापार-शेष का सम्बन्ध माल के निर्यात और आयात से होता है। जब किसी देश के निर्यात का मूल्य आयात के मूल्य से अधिक होता है तो उस देश का व्यापार-शेष उसके पक्ष में होता है। व्यापार-शेष का विचार मूल रूप में वाणिज्य-वादियों की विचारधारा से सम्बन्धित है जिनकी धारणा थी कि एक देश अनुकूल व्यापार-शेष के माध्यम से शक्तिशाली एवं समृद्ध हो सकता है। किन्तु व्यापार-शेष से देश की सम्पूर्ण आर्थिक स्थिति का ज्ञान नहीं होता तथा व्यापार-शेष में असन्तुलन हो सकता है।

जहाँ तक भुगतान-शेष का सम्बन्ध है, चूँकि इसका विवरण अथवा लेखा बही खाते के समान दोहरी प्रविष्टि-लेनदारी एवं देनदारी के आधार पर तैयार किया जाता है और यदि सारी प्रविष्टियाँ सही ढंग से की जाती हैं तो कुल लेनदारियाँ (Credits) कुल देनदारियों (Debits) के बराबर होती हैं। इसका कारण यह है कि प्रत्येक लेनदेन के दोनों पक्ष (Credit and Debit) मात्रा में बराबर होते हैं पर उन्हें एक दूसरे के विरुद्ध दिशा में लिखा जाता है। अतः लेखा के सन्दर्भ में भुगतान-शेष सदैव सन्तुलित होता है। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रकार के सन्तुलन में भुगतान-शेष के चालू खाता और पूँजीगत खाता दोनों को दृष्टि में रखना आवश्यक है। यदि केवल चालू खाते को लिया जाय तो भुगतान शेष भी असन्तुलित हो सकता है। अतः दोनों खातों को दृष्टि में रखते हुए एक देश की कुल प्राप्तियाँ उसके कुल भुगतान के बराबर होती हैं यदि प्राप्तियों में न केवल निर्यात की गयी वस्तुओं को शामिल किया जाता है वरन् उन आयातों के भुगतान की क्रय शक्ति की प्राप्ति के लिए जिनकी पूर्ति व्यापारिक निर्यातों से सम्भव नहीं हो पाती, निर्यात की स्वर्ण अथवा मौद्रिक रिजर्व की मात्रा को भी शामिल किया जाता है।

इसे हम एक उदाहरण देकर स्पष्ट कर सकते हैं। मानलो दो देश A और B हैं जो मौद्रिक इकाई के लिए डालर का प्रयोग करते हैं। यदि A देश की एक फर्म, B देश की फर्म से 1000 डालर के माल का आयात करती है तो निम्न स्थिति होगी—

	देश A		देश B	
	लेनदारी	देनदारी	लेनदारी	देनदारी
माल व्यापार	—	\$ 1,000	\$ 1,000	—

किन्तु उपरोक्त विवरण में ही भुगतान-शेष का लेखा पूर्ण नहीं हो जाता है निर्यातक देश B अपने माल के लिए A से भुगतान प्राप्त करना चाहेगा तथा A भी इसके लिए भुगतान अथवा उचित समझौते की व्यवस्था करेगा। अतः इस दृष्टि से प्रत्येक देश में आवश्यक लेन देन किये जाते है। यदि A देश B को डालर में भुगतान करता है तो यह देश A के लिए पूँजी का अन्तर्प्रवाह (Capital Inflow or Credit) है तो B के लिए पूँजी का बहिर्गमन (Debit) है। यदि आयात करने वाला देश A माल के भुगतान के लिए B से ऋण प्राप्त करता है तो यह A के लिए पूँजी की प्राप्ति (Credit) है तथा B के लिए पूँजी का बहिर्गमन (Debit) है, उपरोक्त दोनों में से किसी भी प्रकार का लेनदेन किया जाय तो प्रत्येक देश के भुगतान-शेष सन्तुलन में हो जायगा जिसकी निम्न स्थिति होगी :—

	देश A		देश B	
	लेनदारी	देनदारी	लेनदारी	देनदारी
माल व्यापार	—	\$ 1,000	\$ 1,000	—
पूँजी खाता	\$ 1,000	—	—	\$ 1,000

उपरोक्त साधनों के अतिरिक्त और भी अन्य साधन हैं जिनसे भुगतान किया जा सकता है। यह भी सम्भव है कि देश B भी A से वस्तुओं का आयात करे। प्रत्येक लेन देन दोनों देशों में जमा प्रविष्टि एवं डेबिट प्रविष्टि को जन्म देता है। भुगतान-शेष के सन्तुलन का आवश्यक अंग यह है कि कुल लेनदारियाँ कुल देनदारियों के बराबर होनी चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक मद में पूर्ण सन्तुलन हो परन्तु समस्त लेखों अथवा मदों का कुल योग समान होना चाहिए। यदि कुल लेनदारियों की तुलना में देनदारियाँ अधिक है तो इसका आशय यह है कि किसी न किसी लेन-देन की प्रविष्टि नहीं की गयी है। यदि समस्त लेन-देनों की जानकारी पूर्ण रूप से एक देश को होती है तथा उनकी सावधानी से प्रविष्टि की जाती है तो कुल लेनदारियाँ कुल देनदारियों के बराबर होती हैं।

अध्याय **22**

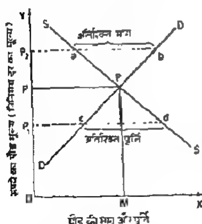
विनिमय दर का निर्धारण

[DETERMINATION OF EXCHANGE RATE]

परिचय

यह जानने के बाद कि विदेशी विनिमय की समस्या क्यों उपस्थित होती है अब यह जानना भी आवश्यक है कि विनिमय दर का निर्धारण किस प्रकार होता है। अर्थात यदि इंग्लैण्ड और भारत के बीच व्यापार हो रहा है तो स्टर्लिंग, पौण्ड और रुपये की विनिमय दर क्या होगी अर्थात एक पौण्ड के बदले कितने रुपये दिये जायेंगे? विदेशी मुद्रा की मांग उन लोगो द्वारा की जाती है जो विदेशों से वस्तुएँ आयात करना चाहते हैं अथवा विदेशी सेवाओं के लिए भुगतान करना चाहते हैं अथवा विदेशों में पूंजी विनियोग करना चाहते हैं। विनिमय दर निर्धारित करने के लिए प्रचलित मौद्रिकमान के आधार पर समय-समय पर विभिन्न सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है जिसकी विशद् चर्चा हम इस अध्याय में करेंगे।

विनिमय दर का निर्धारण—विनिमय दर के निर्धारण में दो विभिन्न देशों की मुद्राओं के पारस्परिक मूल्य को ज्ञात किया जाता है। प्रो ईविट के अनुसार विनिमय दर दूसरे देश की मुद्रा की तुलना में एक देश की मुद्रा की कीमत है अर्थात् दूसरे देश की दी हुई मुद्रा की इकाइयों के बदले एक देश की मुद्रा की कितनी इकाइयाँ प्राप्त की जा सकती हैं। स्वतन्त्र विश्व अर्थव्यवस्था में दो देशो की विनिमय दर को सदैव निश्चित नहीं माना जा सकता वरन् विश्व में उस मुद्रा की माँग एवं पूर्ति में होने वाले परिवर्तन उसकी विनिमय दर को भी प्रभावित करते है। इसका तात्पर्य यह है कि विदेशी विनिमय बाजार में विनिमय दर का निर्धारण उसी सिद्धान्त के आधार पर किया जाता है जिसके अनुसार वस्तु का मूल्य सामान्य सिद्धान्त



चित्र 2·21

के अनुसार निर्धारित होता है अर्थात माँग और पूर्ति का सिद्धान्त। इस प्रकार विनिमय दर का निर्धारण उस बिन्दु पर होता है। जहाँ विदेशी मुद्रा की कुल माँग उसकी कुल पूर्ति के बराबर हो जाती है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में किसी मुद्रा की माँग बढ़ती है तो उसका मूल्य बढ़ने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है और यदि मुद्रा की माँग कम हो जाती है तो उसके मूल्य में कमी होने

लगती है। यहाँ यह मान लिया गया है कि पूर्ति स्थिर रहती है। इसे निम्न रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

उपर्युक्त रेखाचित्र 22 1 में DD वक्र पौण्ड का माँग वक्र है तथा SS वक्र पौण्ड की पूर्ति का वक्र है। दोनों वक्र एक दूसरे के विरोधी है अर्थात् माँग वक्र क्रमशः बढ़ता है तथा पूर्ति वक्र क्रमशः घट रहा है। माँग वक्र स्पष्ट करता है कि जैसे ही विनिमय दर में वृद्धि होती है विदेशी विनिमय की माँगी हुई मात्रा मे वृद्धि होती जाती है एवं जैसे ही विनिमय दर मे कमी होती है, विदेशी विनिमय की माँगी हुई मात्रा मे कमी हो जाती है। अर्थात् जब विनिमय दर ऊँची रहती है तो विदेशी मुद्रा की तुलना मे घरेलू मुद्रा (रुपया) के मूल्य मे वृद्धि होती है जिससे आयातों मे वृद्धि होती है तथा विदेशी मुद्रा की माँग में वृद्धि होती है। दूसरी ओर पूर्ति वक्र का निषेधात्मक ढाल स्पष्ट करता है कि जब विनिमय दर नीची रहती है तो विदेशी मुद्रा की पूर्ति अधिक होती है तथा जब विनिमय दर ऊँची रहती है तो विदेशी मुद्रा की पूर्ति घट जाती है। इसका कारण यह है कि नीची विनिमय दर घरेलू मुद्रा की तुलना मे विदेशी मुद्रा के ऊँचे मूल्य का प्रतीक है जिससे निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है और विदेशी मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि होती है।

प्रस्तुत रेखाचित्र म विनिमय दर का सन्तुलन P बिन्दु पर है जहाँ पौण्ड की माँग-पूर्ति OM है तथा विनिमय दर OP है जिसे विनिमय समता (Parity of Exchange) कहते है। यदि विनिमय दर सन्तुलन बिन्दु के ऊपर अथवा नीचे है तो विदेशी विनिमय बाजार मे क्रमशः अतिरिक्त माँग एव पूर्ति की दशाएँ विद्यमान हो जायेगी। यदि विदेशी मुद्रा की माँग बढती है तो घरेलू मुद्रा की तुलना मे उसका मूल्य बढ जायगा जिससे विनिमय दर गिरेगी तथा उसकी माँग मे कमी होगी तथा पूर्ति मे वृद्धि होगी। यह प्रक्रिया उस बिन्दु तक जारी रहेगी जब तक कि विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति दोनो बराबर नही हो जाते। चित्र मे अतिरिक्त माँग की स्थिति ab से स्पष्ट की गयी है जहाँ विनिमय दर OP_2 है। इसके विपरीत यदि विदेशी मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि होती है तो इसकी तुलना मे घरेलू मुद्रा का मूल्य बढेगा तथा विनिमय दर मे वृद्धि होगी। अतिरिक्त पूर्ति की स्थिति चित्र मे cd से स्पष्ट है जहाँ विनिमय दर OP_1 है।

विनिमय की बाजार दर और सन्तुलन दर
(MARKET RATE AND EQUILIBRIUM RATE OF EXCHANGE)

जिस प्रकार किसी वस्तु का बाजार मूल्य (अल्पकालीन मूल्य) और सामान्य मूल्य (Normal Price) होता है, उसी प्रकार, विदेशी विनिमय बाजार मे विनिमय की सामान्य दर अथवा सन्तुलन दर एव बाजार दर (अल्पकालीन दर) होती है। जिस प्रकार मूल्य, सामान्य मूल्य के चारो ओर चक्कर काटता है, उसी प्रकार विनिमय की बाजार दर भी विनिमय की सन्तुलन दर के चारो ओर घूमती है।

विनिमय की सन्तुलन दर का निर्धारण विभिन्न मौद्रिक मानो के अन्तर्गत अलग-अलग होता है। जहाँ तक विनिमय की बाजार दर का प्रश्न है, वह विदेशी विनिमय बाजार मे माँग और पूर्ति के अस्थायी प्रभावो के फलस्वरूप निर्धारित होती है तथा प्रवृत्ति सन्तुलन दर के आस-पास होने की होती है।

विनिमय की सन्तुलन दर का निर्धारण
(DETERMINATION OF EQUILIBRIUM RATE OF EXCHANGE)

विनिमय की सन्तुलन दर वह दर होती है जिस पर एक देश की मुद्रा का न तो अधिमूल्यन होता है और न अवमूल्यन होता है अर्थात दूसरे देश की मुद्रा के साथ उसका समता मूल्य बना रहता है। प्रो. स्केमेल (Scamell) के अनुसार, "एक सन्तुलन दर वह दर है जिसमे प्रामाणिक अवधि मे (जिसमे पूर्ण रोजगार की स्थिति बनी रहती है, व्यापार के प्रतिरूपो मे कोई परिवर्तन

नहीं होता और न ही मुद्रा के हस्तान्तरण में परिवर्तन होता है। सम्बन्धित देश के स्वर्ण कोष तथा मुद्रा की आरक्षित निधि में कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं होता।"[1] संक्षेप में कहा जा सकता है कि विनिमय की सन्तुलन दर में निम्न विशेषताएँ होना चाहिए :

(i) विनिमय दर ऐसी होनी चाहिए कि देश में सामान्य कीमत स्तर और रोजगार के स्तर में सापेक्षिक स्थिरता रहे।

(ii) विनिमय दर ऐसी हो कि जिससे देश की मुद्रा अधोमूल्यन (Over valuation) न करना पड़े।

(iii) विनिमय दर ऐसी भी होना चाहिए कि देश को अन्य देशों की प्रतियोगिता में आकर अपनी मुद्रा का अवमूल्यन न करना पड़े।

अब हमें इस बात पर विचार करना है कि विनिमय की सन्तुलन दर का निर्धारण किस प्रकार होता है। वास्तविक स्थिति यह है कि विभिन्न दशाओं में विनिमय की सन्तुलन दर का निर्धारण अलग-अलग होता है। यहाँ हम ऐसी तीन दशाओं का अध्ययन करेंगे—

(1) विनिमय का टकसाली समता का सिद्धान्त (Mint Parity Theory of Exchange)

(2) क्रय शक्ति समता का सिद्धान्त (Purchasing Power Parity Theory)

(3) भुगतान-शेष सिद्धान्त (Balance of Payments Theory)

विनिमय का टकसाली समता का सिद्धान्त
अथवा
स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दर
(MINT PARITY THEORY OF EXCHANGE OR RATE OF EXCHANGE UNDER GOLD STANDARD)

जब दो देशों का मौद्रिक मान स्वर्णमान अथवा रजतमान (धातुमान) पर आधारित होता है तो उनके बीच विनिमय की जो दर निर्धारित की जाती है, उसे विनिमय की टकसाली दर कहते हैं। यहाँ हम यह मानकर चलेंगे कि दो देश स्वर्णमान पर आधारित हैं। यही कारण है कि हमने शीर्षक में "स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दर का उल्लेख किया है। स्वर्णमान पर आधारित देशों में निम्न विशेषताएँ पायी जाती हैं" -

(i) या तो देश में स्वर्ण के सिक्के चलते हैं अथवा देश की प्रामाणिक मुद्रा का मूल्य स्वर्ण में निश्चित कर दिया जाता है।

(ii) मुद्रा का स्वतन्त्र टंकण होता है अर्थात स्वर्ण को सिक्कों में अथवा सिक्कों को स्वर्ण में परिवर्तन किया जा सकता है।

(iii) चलन माल में प्रचलित अन्य कोई भी मुद्रा स्वर्ण में परिवर्तनीय होती है एवं

(iv) स्वर्ण के आयात-निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता है।

परिभाषा— टकसाली समता का अर्थ यह है कि विनिमय की दर दो देशों की मुद्राओं में निहित स्वर्ण की मात्रा के आधार पर निर्धारित की जाती है अर्थात दो मुद्राओं की विनिमय दर ज्ञात करने के लिए उनमें निहित शुद्ध स्वर्ण की मात्राओं का अनुपात निकाल लिया जाता है। अन्य शब्दों में उनकी टकसाली समता ज्ञात कर ली जाती है। इस प्रकार प्रत्येक मुद्रा की कीमत उसमें निहित स्वर्ण की मात्रा पर निर्भर रहती है।

टामस के अनुसार, "टकसाली समता वह अनुपात है जो एक ही धातुमान पर आधारित देशों की प्रामाणिक मौद्रिक इकाइयों के वैधानिक धातुमान्य में व्यक्त होता है।"

प्रो. ईविट के अनुसार विनिमय की टकसाली समता की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है, "जहाँ दो देश अपनी मुद्राओं के लिए एक समान धातु का प्रयोग करते हैं, उनके बीच

1 Scammell W. M. "*International Monetary Policy*", p. 56.

विनिमय की टकसाली समता एक मुद्रा की उतनी इकाईयाँ है जितने वैधानिक रूप में शुद्ध धातु की उतनी ही मात्रा रहना चाहिए जितनी कि कानूनी रूप से दूसरी मुद्रा की इकाईयों में रहती है।"[1]

इसे एक उदाहरण से अच्छी तरह समझाया जा सकता है। मानलो दो देश X और Y है तथा दोनों में स्वर्ण चलनमान है। X देश की मुद्रा की एक इकाई में 8 ग्रेन शुद्ध स्वर्ण है तथा Y देश की मुद्रा की एक इकाई में 4 ग्रेन शुद्ध स्वर्ण है तो इन दोनों मुद्राओं की टकसाली समता निम्न प्रकार की होगी।

8 ग्रेन शुद्ध स्वर्ण=X देश की मुद्रा की एक इकाई
8 „ „ „ =Y देश की मुद्रा की दो इकाईयाँ

अत X देश की मुद्रा की एक इकाई = Y देश की मुद्रा की दो इकाईयाँ होंगी। इसे एक वास्तविक उदाहरण से भी स्पष्ट किया जा सकता है। प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व इग्लैण्ड और अमरीका पूर्ण स्वर्णमान पर आधारित थे—पौण्ड में 113.0016 ग्रेन शुद्ध स्वर्ण की मात्रा थी एवं डालर में 23.2200 ग्रेन शुद्ध स्वर्ण की मात्रा थी। चूंकि टकसाली समता में दोनों मुद्राओं के स्वर्ण अनुपात को बराबर किया जाता है, ब्रिटिश पौण्ड और अमरीकन डालर की विनिमय दर £ 1=$ 4.8665 थी।

प्रो० हैबरलर के अनुसार, "यदि व्यापारी देशों में स्वर्णमान है और स्वर्ण का आयात-निर्यात अनियन्त्रित है तो उनके चलन का आपसी सम्बन्ध बहुत दृढ़ होगा। ऐसे देशों के बीच विनिमय दर उनके चलनों की सोना समीकरण की सन्निकट में समानता स्थापित करके प्राप्त की जाती है।" इस प्रकार स्वर्णमान में विनिमय दर देश की मुद्राओं के स्वर्ण मूल्य के अनुपात के लगभग बराबर होती है।

स्वर्णमान में विनिमय दरों के उच्चावचन की सीमाएं—विनिमय की टकसाली दर, विनिमय दर की सामान्य प्रवृत्ति को स्पष्ट करती है। वास्तविक दर इससे कुछ भिन्न हो सकती है। कुछ निश्चित सीमाओं के भीतर इस विनिमय दर में उच्चावचन होता रहता है तथा इन सीमाओं का निर्धारण स्वर्ण बिन्दु (Gold Points or Species) द्वारा होता है। विनिमय दर में परिवर्तन उच्चतम स्वर्ण बिन्दु और निम्नतम स्वर्ण बिन्दु के बीच होते हैं। उच्चतम स्वर्ण बिन्दु (Upper Specie Point) विनिमय दर की उच्चतम सीमा निर्धारित करता है जिसके ऊपर विनिमय दर नहीं जा सकती इस बिन्दु को स्वर्ण निर्यात बिन्दु कहते हैं क्योंकि इस सीमा के बाद स्वर्ण का निर्यात होने लगता है। निम्नतम स्वर्ण बिन्दु (Lower Specie Point) विनिमय दर की निम्नतम सीमा निर्धारित करता है जिसके नीचे विनिमय दर नहीं जा सकती। इस बिन्दु को स्वर्ण आयात बिन्दु (Gold Import Point) कहते हैं क्योंकि इस सीमा के बाद देश में स्वर्ण का आयात होने लगता है। चूंकि स्वर्णमान में, स्वर्ण का स्वतन्त्रतापूर्वक क्रय-विक्रय किया जा सकता है उक्त स्वर्ण बिन्दुओं का निर्धारण स्वर्ण की परिवहन लागत तथा बीमा व्यय और उसके बीमा व्यय के आधार पर किया जाता है। अब हम इन दोनों सीमाओं को विस्तार से समझेंगे।

विनिमय दर की उच्चतम सीमा अथवा स्वर्ण निर्यात बिन्दु—अभी हमने प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व अमरीका और इगलैण्ड में स्वर्णमान में विनिमय दर का उल्लेख किया है 1 स्टर्लिंग पौण्ड=4.8665 डालर। इसी के आधार पर हम स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दर के उच्चावचन की सीमाओं को समझेंगे। मानलो ब्रिटेन और अमरीका के बीच व्यापार होता है

1 "Where two countries use the same metal as the basis of their currencies, the Mint Par of Exchange between them is the number of units of the one currency which should legally contain the same amount of pure metal as does, legally, a given number of units of the other currency." —H. E. Evitt, *op. cit.* p. 7.

तथा अमेरिका एक पौण्ड के बराबर मूल्य के स्वर्ण को ब्रिटेन भेजने का व्यय '02 डालर है। यदि इस व्यय को विनिमय की टकसाली दर में जोड़ दिया जाय तो विनिमय दर की उच्चतम सीमा ज्ञात की जा सकती है जो 1 पौण्ड=4·8665+·02=4·8865 होगी अर्थात विनिमय की अधिकतम दर 1 पौण्ड=4 8865 डालर होगी।

मानलो ब्रिटेन से अमरीका को अधिक माल का निर्यात होता है तथा आयात उसमें कम होता है तो इसके फलस्वरूप अमेरिका में भुगतान करने के लिए पौण्ड की माग में वृद्धि होगी एवं डालर की तुलना मे पौण्ड का मूल्य बढ जायगा अर्थात अब 4 8665 डालर मे एक पौण्ड प्राप्त नही होगा और एक पौण्ड प्राप्त करने के लिए अमेरिका मे 4 8665 डालर से अधिक का भुगतान करना होगा। कितने अधिक डालर दिये जायेंगे, यह स्वर्ण के निर्यात व्यय पर निर्भर रहेगा। अभी हमने देखा है कि अमरीका से एक पौण्ड के मूल्य के बराबर स्वर्ण भेजने का व्यय '02 डालर है तो अमरीकाका व्यापारी एक पौण्ड प्राप्त करने के लिए अधिक से अधिक 4·8665+·02= 4 8865 डालर देने को तैयार हो जायगा। अब यदि पौण्ड का मूल्य इससे अधिक बढ़ता है तो फिर अमरीका में पौण्ड का भुगतान करने के लिए स्वर्ण का निर्यात होने लगेगा। इस प्रकार 4 8865 डालर वह सीमा है जिसके बाद अमरीका से स्वर्ण का निर्यात होने लगता है अतः अमरीका की दृष्टि से उसे उच्चतम स्वर्ण बिन्दु या स्वर्ण निर्यात बिन्दु कहेंगे और ब्रिटेन के दृष्टिकोण से इस बिन्दु को स्वर्ण आयात बिन्दु या निम्नतम स्वर्ण बिन्दु कहेंगे।

विनिमय दर की निम्नतम सीमा अथवा स्वर्ण आयात बिन्दु

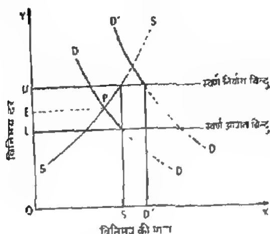
जिस प्रकार विनिमय दर की उच्चतम सीमा होती है, उसी प्रकार विनिमय दर की एक निम्नतम सीमा भी होती है और यदि विनिमय दर इस सीमा से नीचे आती है तो स्वर्ण का आयात प्रारम्भ हो जाता है। पिछले उदाहरण को दृष्टि मे रखते हुए यदि ब्रिटेन अमरीका को निर्यात की तुलना मे वहाँ से आयात अधिक करता है तो ब्रिटेन के आयात कर्त्ताओं को भुगतान करने के लिए डालर की आवश्यकता होगी तथा वे उसकी मांग करेंगे। मांग बढने से डालर का मूल्य बढ जायगा अर्थात अब 1 पौण्ड के बदले 4 8665 डालर से कम डालर प्राप्त होंगे। किन्तु प्रश्न है कि डालर का मूल्य कितना बढेगा अर्थात कितने डालर कम मिलेंगे? यदि एक पौण्ड के बराबर मूल्य का स्वर्ण निर्यात व्यय ·02 डालर है तो विनिमय दर 1 पौण्ड=4·8465 डालर से कम नही होगी क्योंकि निम्नतम स्वर्ण बिन्दु 1 पौण्ड=4 8665-·02=4 8465 है। यदि पौण्ड का मूल्य इस सीमा से नीचे गिरता है तो ब्रिटेन के आयातकर्त्ता, पौण्ड का विनिमय कर डालर का भुगतान नही करेंगे वरन स्वर्ण के रूप मे भुगतान करेंगे। अमरीका की दृष्टि से यह स्वर्ण आयात बिन्दु होगा एवं ब्रिटेन की दृष्टि से यह स्वर्ण निर्यात बिन्दु होगा।

स्वर्ण आयात और स्वर्ण निर्यात बिन्दुओं को सामूहिक रूप मे स्वर्ण बिन्दु (Gold points) अथवा धातु बिन्दु (Specie points) कहते हैं। ये दोनों बिन्दु स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दर की उच्चतम और निम्नतम सीमाएँ निर्धारित करते हैं। स्वर्णमान मे विनिमय दर पूर्ण रूप मे स्थिर नही रहती वरन् उनमें स्वर्ण बिन्दुओं द्वारा निश्चित की गयी सीमाओं के भीतर उच्चावचन होते रहते हैं।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण—विनिमय की टकसाली दर और उसमे होने वाले उच्चावचनों को हम रेखाचित्र 22 2 द्वारा भी स्पष्ट कर सकते हैं।

रेखाचित्र 22 2 मे OE स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय की टकसाली दर (सन्तुलन दर) है जहाँ विदेशी विनिमय की मांग और पूर्ति समान है। चित्र मे DD मांग वक्र एवं SS पूर्ति वक्र है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि स्वर्णमान मे विनिमय दर स्वर्ण आयात

बिन्दु के नीचे एवं स्वर्ण निर्यात बिन्दु के ऊपर नहीं जा सकती अतः इस स्थिति को वर्गों के खण्डित भाग द्वारा व्यक्त किया गया है। यदि विनिमय की माँग DD से बढ़कर DD' हो जाती



चित्र 22·2

है तो विनिमय दर बढ़कर OU हो जाती है यहाँ वस्तुओं और सेवाओं के निर्यात से होने वाली पूर्ति OS है तथा इनके आयात के कारण होने वाली विदेशी विनिमय की माँग OD' है अर्थात् विदेशी विनिमय की पूर्ति माँग की अपेक्षा SD' कम है जिसके फलस्वरूप विनिमय दर OU हो जाती है अतः इस सीमा के बाद स्वर्ण का निर्यात होने लगता है। विदेशी विनिमय की पूर्ति माँग से अधिक होने पर विनिमय दर घटकर OL हो जाती है जिस सीमा के बाद स्वर्ण का आयात होने लगता है। रेखाचित्र से यह स्पष्ट है।

इस प्रकार विदेशी विनिमय दर बढ़कर OU हो सकती है एवं घटकर OL हो सकती है परन्तु इन सीमाओं के आगे विनिमय दर में परिवर्तन नहीं हो सकता अर्थात् यह स्वर्ण निर्यात बिन्दु के आगे नहीं जा सकती और स्वर्ण आयात बिन्दु से कम नहीं हो सकती क्योंकि इन बिन्दुओं पर विदेशी विनिमय की माँग और पूर्ति पूर्ण रूप से लोचदार हो जाती है और स्वर्ण का निर्यात अथवा आयात होने लगता है।

विनिमय की टकसाली दर अथवा सन्तुलन दर में परिवर्तन होने के बाद ऐसी शक्तियाँ कार्यशील हो जाती है कि पुनः सन्तुलन दर स्थापित हो जाती है। यह स्वर्णमान के कीमत धातु प्रवाह तन्त्र (Price Specie flow mechanism) के फलस्वरूप होता है अर्थात् जिस देश में स्वर्ण आता है वहाँ मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि हो जाती है तथा कीमतें बढ़ने लगती हैं इससे निर्यात हतोत्साहित होते है और इस देश की मुद्रा की माँग कम हो जाती है जिससे विनिमय दर पुनः सन्तुलन की स्थिति में आ जाती है। जिस देश से स्वर्ण का निर्यात होता है वहाँ ठीक इसके विपरीत स्थिति होती है।

स्वर्ण बिन्दुओं का महत्व—स्वर्णमान के अन्तर्गत विदेशी विनिमय दर को निर्धारित करने में स्वर्ण बिन्दुओं का महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि इससे यह ज्ञात होता है कि विदेशी विनिमय बाजार में विनिमय दर में किस सीमा तक परिवर्तन हो सकता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है विनिमय की सामान्य दर जिसका निर्धारण टकसाली दर के माध्यम से होता है और वास्तविक दर में भिन्नता क्यों होती है।

वर्तमान सन्दर्भ में विनिमय की टकसाली दर—वर्तमान में मुद्रा में निहित स्वर्ण धातु द्वारा अथवा टकसाली समता द्वारा विनिमय दर का निर्धारण महत्वहीन हो गया है। इसके प्रमुख तीन कारण इस प्रकार हैं :

(i) आज विश्व में कोई भी देश न तो स्वर्णमान अपनाये हुए है और न धातुमान।

(ii) विदेशी सरकारों द्वारा स्वर्ण के स्वतन्त्र क्रय-विक्रय पर प्रतिबन्ध लगे हुए हैं जिसमें स्वर्ण के समता मूल्य को निर्धारित करना सम्भव नहीं है और

(iii) आजकल प्रायः सब देशों में कागजीमान अथवा अधिदिष्ट मुद्रा प्रणाली (अपरिवर्तनीय कागजी नोटों की प्रणाली (Fiat Currency) है जिसके अन्तर्गत विनिमय की टकसाली दर निश्चित नहीं की जा सकती।

स्वर्णमान तथा रजतमान के अन्तर्गत विनिमय दर
(EXCHANGE RATE UNDER GOLD AND SILVER STANDARD)

जब दो व्यापार करने वाले देशों में एक स्वर्णमान पर हो तथा दूसरा रजतमान पर हो तो इनके बीच विनिमय दर ज्ञात करने के लिए यह ज्ञात किया जाता है कि जो देश स्वर्णमान पर है उसकी मुद्रा की एक इकाई में शुद्ध स्वर्ण की कितनी मात्रा है तथा रजतमान वाले देश में मुद्रा की इकाई में शुद्ध चाँदी की मात्रा कितनी है। इसके बाद चाँदी का स्वर्ण मूल्य ज्ञात किया जाता है अर्थात् निश्चित स्वर्ण के बदले कितनी चाँदी देना पड़ेगी। यह मूल्य सरकार द्वारा निश्चित किया जाता है। इसके पश्चात् दोनों देशों की मुद्राओं में स्वर्ण के अनुपात की तुलना करके विनिमय दर निर्धारित की जाती है उसे ही टक समता दर (Mint Parity) कहते हैं। उदाहरण के लिए 1898 तक ब्रिटेन व भारत के बीच विनिमय दर इसी प्रकार निर्धारित की जाती थी उस समय भारतीय रुपये में 165 ग्रेन शुद्ध चाँदी होती थी तथा इसका स्वर्ण मूल्य 7·533 ग्रेन शुद्ध स्वर्ण था। ब्रिटेन के पौण्ड में 113·0016 ग्रेन शुद्ध स्वर्ण था अतः इंग्लैण्ड और भारत के बीच विनिमय दर 1 पौण्ड=15 रुपये थी।

उच्चावचन की सीमाएँ—स्वर्ण और रजमान वाले देशों में विनिमय दर के उच्चावचन की सीमाएँ दो तथ्यों पर निर्भर रहती हैं पहला तो यह कि स्वर्ण और रजत मूल्यों में आनुपातिक परिवर्तन कितना होता है तथा सम्बन्धित देशों में स्वर्ण और रजत का निर्यात व्यय क्या है। सामान्य रूप से स्वर्ण और रजतमान वाले देशों की विनिमय दरों में स्वर्णमान वाले देशों की तुलना में अधिक उच्चावचन होते हैं क्योंकि स्वर्ण और रजत दोनों धातुएँ स्वाभाविक रूप से सम्बन्धित नहीं हैं तथा दोनों के उत्पादन की मात्रा एवं मूल्यों में परिवर्तन होते रहते हैं जिनका प्रभाव विनिमय दरों पर पड़ता है। अतः दोनों देशों का पारस्परिक व्यापार स्वतन्त्र रूप से नहीं होता क्योंकि विनिमय दरों में उच्चावचन के कारण भुगतान की राशि अनिश्चित रहती है।

स्वर्णमान तथा पत्र मुद्रामान में विनिमय दर
(RATE OF EXCHANGE UNDER GOLD AND PAPER STANDARD)

जब दो व्यापार करने वाले देशों में एक स्वर्णमान पर हो तथा दूसरा कागजीमान पर हो तो विनिमय दर दो प्रकार से ज्ञात की जा सकती है। पहली विधि में यह ज्ञात किया जाता है कि कागजीमान वाले देश में मुद्रा की एक इकाई कितना स्वर्ण खरीद सकती है तथा स्वर्णमान वाले देश में मुद्रा की एक इकाई कितने स्वर्ण के बराबर है। फिर दोनों का विनिमय अनुपात निकालकर विनिमय दर ज्ञात कर ली जाती है। उदाहरण के लिए X देश में स्वर्णमान है तथा इसकी मुद्रा की एक इकाई में 8 ग्रेन स्वर्ण है अथवा उसका मूल्य 8 ग्रेन स्वर्ण के तुल्य है Y देश में पत्र मुद्रामान है तथा उसकी मुद्रा की एक इकाई में 2 ग्रेन स्वर्ण खरीदा जा सकता है तो X और Y देशों में विनिमय दर 1:4 होगी।

दूसरी विधि के अन्तर्गत दोनों देशों की मुद्राओं की एक-एक इकाई की क्रयशक्ति उन देशों में ज्ञात कर ली जाती है तथा फिर उनका अनुपात निकालकर विनिमय दर निश्चित की जाती है।

उक्त दोनों देशों की विनिमय दरों में अत्यधिक उतार-चढ़ाव होते हैं तथा इनकी कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती।

पत्र मुद्रामान के अन्तर्गत विनिमय दर
(RATE OF EXCHANGE UNDER INCONVERTIBLE PAPER STANDARD)

जब व्यापार करने वाले देश अपरिवर्तनीय कागजीमान के अन्तर्गत होते हैं तो उनके बीच विनिमय दर, स्वर्णमान के समान निर्धारित नहीं की जाती क्योंकि कागजी मुद्रा किसी धातु से सम्बन्धित नहीं होती। ऐसे देशों की विनिमय दर में उतार-चढ़ाव की कोई सीमा नहीं रहती है तथा इनमें मुद्रा की माँग और पूर्ति की शक्तियों के अनुसार उच्चावचन होते रहते हैं। पत्र मुद्रामान के अन्तर्गत विनिमय दर निम्न दो सिद्धान्तों पर आधारित होती है।

(1) क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त (Purchasing Power Parity Theory)

(2) भुगतान शेष सिद्धान्त (Balance of Payment Theory)

अब हम इन दोनों का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त
(PURCHASING POWER PARITY THEORY)

प्रथम विश्व युद्ध (1914-18) की अवधि में स्वर्णमान समाप्त हो जाने के पश्चात् स्वर्ण की स्वतन्त्र गतिशीलता समाप्त हो गयी और उसके फलस्वरूप विनिमय की टकसाली दर भी समाप्त हो गयी। विनिमय दरों में असीमित रूप से उच्चावचन होने लगे। स्वर्णमान के बाद बहुत से देशों ने पत्र मुद्रामान अपना लिया जिसमें यह महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित हुआ कि अपरिवर्तनशील कागजी मान वाले देशों में विनिमय दर का निर्धारण किस प्रकार किया जाय? इस प्रश्न का समुचित उत्तर दिया स्टाक होम (स्वीडन) के प्रो. गस्टव कैसल (Gustav Cassel) ने जिन्होंने 1922 में प्रकाशित अपनी पुस्तक "Money and Foreign Exchange After 1914" में विनिमय दर को समझाने के लिए क्रय शक्ति समता सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। ऐसा माना जाता है कि इस सिद्धान्त की सर्वप्रथम प्रारम्भिक व्याख्या जान व्हीटले (John Wheatley) ने 1802 में अपनी पुस्तक "Remarks on Currency and Commerce" में की। प्रो० रिकार्डो के लेखन में भी इस सिद्धान्त का आभास मिलता है। किन्तु इसे पूर्ण रूप से प्रो० कैसल ने ही विकसित किया।

सिद्धान्त की परिभाषा—इस सिद्धान्त के पीछे मूल विचार यह है कि सामान्य दशाओं में अन्तर्गत विदेशी मुद्रा की माँग केवल स्वामित्व के लिए नहीं की जाती वरन् इसलिए की जाती है क्योंकि उसमें अपने देश में (विदेश में) वस्तुओं को खरीदने की क्षमता होती है और उससे अधिक लाभप्रद आवश्यकताओं की सन्तुष्टि की जा सकती है। जब एक देश की मुद्रा का विदेशी मुद्रा से विनिमय किया जाता है तो यह देश की क्रय-शक्ति का विदेशी क्रय शक्ति से विनिमय किया जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विनिमय दर को निर्धारित करने वाला मुख्य तत्व दो देशों की सापेक्षिक क्रय शक्ति है। जब दो मुद्राओं का विनिमय किया जाता है तो वास्तव में दो मुद्राओं की अन्तर्राष्ट्रीय क्रय शक्ति का विनिमय किया जाता है। इस आधार पर विनिमय की सन्तुलन दर ऐसी होनी चाहिए कि मुद्राओं के विनिमय से समान क्रय शक्ति का विनिमय हो। एक उदाहरण

देकर इसे समझाया जा सकता है। यदि अमरीका में 1 डालर द्वारा उतना ही गेहूं खरीदा जा सकता है जितना कि भारत में 5 रुपये द्वारा खरीदा जा सकता है तो इस स्थिति में डालर और रुपये की विनिमय दर 1·5 होगी। एक दूसरे उदाहरण के अनुसार यदि एक साइकिल की कीमत इंगलैण्ड में 10 पौण्ड है तथा अमरीका में एक साइकिल की कीमत 30 डालर है तो क्रय शक्ति समता सिद्धान्त के अनुसार इंगलैण्ड और अमरीका में विनिमय दर 1 पौण्ड=3 डालर होगी। अब हम क्रय शक्ति समता सिद्धान्त की कुछ परिभाषाओं पर विचार करेंगे।

प्रो. गस्टव कैसल के शब्दों में, दो मुद्राओं की विनिमय दर आवश्यक रूप से इन मुद्राओं की आन्तरिक क्रय-शक्ति के भागफल पर निर्भर रहती है।[1]

प्रो. केन्स (J. M. Keynes) के अनुसार "दो चलन इकाईयों के बीच विदेशी विनिमय दर उसी प्रकार से परिवर्तित होती रहती है जिस प्रकार कि अन्तर्राष्ट्रीय निर्देशांक घटता-बढ़ता रहता है।"

प्रो. ऐलिस के अनुसार, "किन्हीं दो देशों में क्रयशक्ति समता एक देश की मुद्रा की वह मात्रा है जिसमें उतनी मुद्रा वाले किसी व्यक्ति को उतनी ही क्रय शक्ति प्राप्त होती है अर्थात् उससे वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदी जा सकती हैं जितनी कि दूसरे देश की निश्चित मुद्रा से खरीदी जा सकती है।"[2]

प्रो. जी. डी. एच. कोल के अनुसार, "उन राष्ट्रीय मुद्राओं का मूल्य जहाँ स्वर्णमान नहीं है, दीर्घकाल में विशेषतः उनकी वस्तुओं और सेवाओं की क्रय शक्ति द्वारा निश्चित होता है।

एस. ई. टामस के अनुसार, "जबकि किसी विशेष समय में, एक देश की चलन मुद्रा का मूल्य, दूसरे देश की चलन मुद्रा की तुलना में बाजार की माग और पूर्ति की दशाओं द्वारा निर्धारित होता है, दीर्घकाल में यह मूल्य दोनों देशों की मुद्राओं के सापेक्षिक मूल्य द्वारा निर्धारित होता है जो प्रत्येक देश में वस्तुओं और सेवाओं की सापेक्षिक क्रय शक्ति द्वारा व्यक्त होता है। अन्य शब्दों में विनिमय दर की प्रवृत्ति उस बिन्दु पर स्थिर रहने की होती है जहाँ दोनों देशों की मुद्राओं की क्रय शक्ति समान होती है। इस बिन्दु को ही क्रय शक्ति समता कहते हैं।"

उक्त परिभाषाओं के निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अपरिवर्तनीय कागजीमान के अन्तर्गत किसी देश की मुद्रा का बाह्य मूल्य आवश्यक और अन्तिम रूप से, उस देश की, मुद्रा की विदेशी मुद्रा की तुलना में, घरेलू क्रय शक्ति पर निर्भर रहता है।

सिद्धान्त के दो रूप—क्रय शक्ति समता सिद्धान्त को दो रूपों में प्रस्तुत किया गया है—सिद्धान्त का निरपेक्ष स्वरूप तथा सापेक्षिक स्वरूप। दूसरे स्वरूप का प्रतिपादन प्रो. कैसल ने किया। अब हम इन दोनों का विस्तार से विवेचन करेंगे।

(1) क्रय शक्ति समता—निरपेक्ष स्वरूप (Absolute version)—क्रय शक्ति समता सिद्धान्त का निरपेक्ष रूप यह स्पष्ट करता है कि दो देशों में विनिमय दर सामान्य रूप से उनकी आन्तरिक क्रय शक्ति के अनुरूप होती है। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लो भारत में X प्रतिनिधि वस्तुओं की कीमत 1000 रुपये है तथा उतनी ही वस्तुओं की कीमत अमरीका में 200 डालर है। यदि विनिमय की चालू दर 5 रुपये=1 डालर है तो

---

1 "The rate of exchange between two countries must stand essentially on the quotient of the internal purchasing powers of these currencies." —G. Cassel.

2 "The purchasing power parity between any two countries is that current of the currency of one country which endows the holder with the same current of purchasing power, i. e., Command over goods and services as would a stated amount of the currency of the other country." —H. E. Ellis, op. cit., p. 8

$$1 \text{ रु०} = 20 \text{ सेण्ट} \times \frac{100}{400} \times \frac{200}{100}$$

$$= 20 \text{ सेण्ट} \times \frac{1}{2}$$

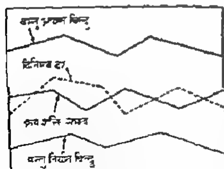
$$= 10 \text{ सेण्ट।}$$

अर्थात् नयी विनिमय दर 1 रु०=10 सेण्ट होगी। इसका कारण यह है कि भारत में चालू वर्ष में, कीमतों का निर्देशांक अमरीका की तुलना में दुगुना हो गया है। इसका अर्थ यह है कि *भारत के रुपये की कीमत आधी हो गयी है। यहाँ यह ध्यान रहे कि आधार वर्ष का निर्देशांक* 100 मान लिया जाता है। यदि दोनों देशों के कीमत निर्देशांक में समान परिवर्तन होता है तो विनिमय दर भी वही रहेगी अर्थात् उसमें कोई परिवर्तन नहीं होगा।

जैसे यदि भारत में निर्देशांक बढ़कर दुगुना हो जाय तथा अमरीका में भी कीमतों का निर्देशांक बढ़ कर दुगुना हो जाय तो रुपया और डालर की विनिमय दर पुरानी दर के समान 1 रु०=20 सेण्ट ही रहेगी।

यदि हम यह मानलें कि दोनों देशों में कीमतों के स्तर में कोई परिवर्तन न हो किन्तु किसी कारण से विनिमय दर 1 रु०=25 सेण्ट हो जाती है। इसका अर्थ यह है कि रुपये की क्रय शक्ति अमरीका में बढ़ गयी है अतः लोगों को इससे लाभ होगा कि एक रुपये में 35 सेण्ट प्राप्त करें तथा निश्चित वस्तुओं (उदाहरण के लिए X वस्तुओं का समूह) को अमरीका से 20 सेण्ट में खरीदकर उसे भारत में 1 रु० में बेच दें और प्रत्येक सौदे पर 5 सेण्ट का लाभ प्राप्त करें। इससे भारत में डालर की माँग बढ़ जायगी किन्तु इसकी पूर्ति कम हो जायगी क्योंकि अब बहुत कम लोग भारत में अमरीका को वस्तुओं का निर्यात करेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि रुपये की तुलना में डालर का मूल्य बढ़ जायगा तथा विनिमय दर पुनः पुरानी दर दर 1 रु०=20 सेण्ट हो जायगी जो भारत और अमरीका के बीच क्रय शक्ति समता दर होगी।

विनिमय दर में परिवर्तन की सीमाएँ—क्रय शक्ति समता सिद्धान्त के उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विनिमय दर में परिवर्तन का मुख्य कारण, सम्बन्धित मुद्राओं की क्रयशक्ति में होने वाला परिवर्तन है। विनिमय दर में तब तक कोई परिवर्तन नहीं होगा जब तक मुद्राओं की क्रय शक्ति में परिवर्तन न हो। बाजार की विनिमय दर, देश की मुद्रा की माँग व पूर्ति में परिवर्तन होने पर सामान्य दर से कम या अधिक हो सकती है। बाजार की विनिमय दर में किन सीमाओं तक उच्चावचन अथवा परिवर्तन होंगे, यह वस्तुओं के परिवहन व्यय प्रशुल्क सीमा-शुल्क पैकिंग व्यय इत्यादि पर निर्भर रहता है। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि क्रय-शक्ति समता में परिवर्तन की सीमाएँ इतनी निश्चित नहीं होतीं जितनी कि विनिमय दर के उच्चावचनों की सीमाओं को वस्तु निर्यात बिन्दु तथा वस्तु आयात-बिन्दु कहते हैं। निम्न रेखाचित्र में विनिमय दर के उच्चावचनों को स्पष्ट किया गया है।



विदेशी विनिमय की माँग और पूर्ति

चित्र 22·3

उपरोक्त रेखाचित्र 22·3 से स्पष्ट है कि बाजारी विनिमय दर, क्रय-शक्ति समता बिन्दु के आस पास घूमती है तथा उसकी दीर्घकालीन प्रवृत्ति क्रय-शक्ति समता बिन्दु के समीप रहने की रहती है।

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त की आलोचना
(CRITICISM OF THE PURCHASING POWER PARITY THEORY)

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त के निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों रूपों में कुछ न कुछ कमजोरियाँ हैं। दो देशों में वास्तविक विनिमय दर उस विनिमय दर से भिन्न होती है जिसकी गणना क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त के आधार पर की जाती है। इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचनाएँ प्रो. काउथर, प्रो केन्स, प्रो हाम एवं प्रो नवंगे आदि अर्थशास्त्रियों ने की है। मुख्य आलोचनाएँ इस प्रकार है :

(1) विनिमय दर पर अन्य तत्वों का प्रभाव—क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि दो देशों की मुद्राओं की क्रय शक्ति एवं विनिमय दर में प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है किन्तु व्यावहारिक रूप में इन दोनों में प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता और न ही विनिमय दर केवल क्रय शक्ति द्वारा निर्धारित होती है। प्रो. केन्स के अनुसार विनिमय दर, क्रय शक्ति के अतिरिक्त अन्य तत्वों द्वारा भी प्रभावित होती है जैसे प्रशुल्क, सट्टा पूँजी का आवागमन, माँग की पारस्परिक लोच इत्यादि। ये सब तत्व मिलकर विदेशी विनिमय की माँग और पूर्ति को प्रभावित करते है जिसका प्रभाव विनिमय दर पर पड़ता है।

(2) विनिमय दर का निर्धारण वस्तु मूल्य से नहीं वरन् मुद्राओं की माँग पूर्ति से—आलोचकों का कहना है कि विनिमय दरों का निर्धारण, वस्तुओं के मूल्यों से नहीं बल्कि सम्बन्धित देशों की मुद्राओं की माँग और पूर्ति द्वारा होता है। वास्तविकता यह है कि एक देश के मूल्य स्तर का विनिमय दर से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता। यदि किसी देश का मूल्य स्तर कम है तो उसकी वस्तुओं की माँग विदेशों में बढ़ जाती है जिससे भुगतान करने के लिए उस देश की मुद्रा की माँग भी बढ़ जाती है और विनिमय दर बढ़ने लगती है। अतः विनिमय दर को प्रभावित करने वाला मुख्य कारण मुद्रा की माँग है। हाँ यह कहा जा सकता है कि वस्तुओं का मूल्य केवल आंशिक रूप में ही विनिमय दर को प्रभावित करता है।

(3) विनिमय दर की पूर्व मान्यता एवं उसमें कठिनाई—जब हम विनिमय दर में परिवर्तनों को मापना चाहते है तो हम पूर्व की सन्तुलन विनिमय दर को मानकर चलते हैं किन्तु पूर्व में प्रचलित सन्तुलन दर को ज्ञात करना सरल नहीं है। स्वयं प्रो. कैसल ने इसकी कठिनाई को स्वीकार करते हुए कहा है कि "दो देशों में मुद्राओं की क्रय-शक्ति में परिवर्तन के फलस्वरूप विनिमय दर की गणना उसी समय की जा सकती है जब हम किसी विशेष सन्तुलन को प्रकट करने वाली विनिमय दर जानते है।"

(4) आर्थिक दशाओं में परिवर्तन का प्रभाव—क्रय शक्ति समता के अन्तर्गत दो मुद्राओं में सन्तुलन विनिमय दर उसी समय स्थापित हो सकती है जब दोनों देशों में आर्थिक दशाएँ अपरिवर्तित रहें। किन्तु वास्तव में आर्थिक दशाओं में परिवर्तन होते रहते हैं जो विनिमय दरों को प्रभावित करते है। भले ही दोनों देशों में कीमतों का स्तर अपरिवर्तित रहे किन्तु यदि लोगों की रुचि, फैशन अथवा आय में परिवर्तन होता है तो इससे पारस्परिक माँग पर प्रभाव पड़ता है जिससे विनिमय दर परिवर्तित होती है। इसी प्रकार यदि किसी देश के व्यापार में सापेक्षिक प्रतियोगिता के कारण कमी आती है तो उसका प्रतिकूल प्रभाव उस देश की विनिमय दर पर पड़ता है।

(5) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओं पर ही प्रभावशील—कुछ आलोचकों का मत है कि क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त उसी समय मान्य होता है जब इसे उन वस्तुओं पर लागू किया जाय जिनका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार किया जाता है। किन्तु जब इसे सामान्य मूल्य स्तर पर लागू किया जाता है तो यह लागू नहीं होता। अन्तर्राष्ट्रीय बाजार की कीमतों का उन वस्तुओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रवेश नहीं करतीं। ऐसी वस्तुओं की घरेलू और विदेशी कीमतों में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता जिसके फलस्वरूप इनके कीमत स्तरों और विनिमय दर में भी सम्बन्ध नहीं होता। अतः अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं के सम्बन्ध में भी उक्त सिद्धान्त एक स्वतः सिद्ध विवेचन (Truism) के अलावा कुछ नहीं है।

(6) वस्तुओं में विभिन्नता—क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि दो देशों में वस्तुओं के समूहों में एकरूपता रहती है। किन्तु यह मान्यता गलत है क्योंकि भौगोलिक श्रम-विभाजन के कारण देशों के उत्पादन में विभिन्नता रहती है और यही कारण है कि उत्पादन तुलनात्मक लागत के आधार पर किया जाता है और जब देशों में वस्तुओं में विभिन्नता रहेगी, क्रय-शक्ति के आधार पर विनिमय दर का निर्धारण सम्भव नहीं है।

(7) कीमत स्तर में परिवर्तन "अस्पष्ट" एवं "भ्रामक"—विनिमय दर में परिवर्तन के लिए कीमत स्तर में परिवर्तन को आधार माना गया है किन्तु यह बहुत ही अस्पष्ट है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि समस्त वस्तुओं में एक समान परिवर्तन नहीं होता अर्थात न तो सब वस्तुओं की कीमतें एक साथ बढ़ती हैं और न ही एक साथ घटती हैं और यदि कीमतें बढ़ती भी हैं तो कुछ वस्तुओं की कीमतें अन्य वस्तुओं की तुलना में अधिक बढ़ती हैं। ऐसी दशाओं के अन्तर्गत विभिन्न देशों में कीमतों में होने वाले परिवर्तनों की सामान्य अथवा सरल रूप में तुलना नहीं की जा सकती।

(8) निरपेक्ष स्वरूप में परिवहन लागत की अवहेलना—क्रय-शक्ति समता का निरपेक्ष स्वरूप वस्तुओं के परिवहन पर कोई ध्यान नहीं देता। यह सिद्धान्त उसी समय लागू हो सकता है जब दो देशों में वस्तुओं का स्वतन्त्र और बिना परिवहन लागत के प्रवाह (गतिशीलता) हो। इस मान्यता के अन्तर्गत न केवल औसत कीमत स्तर समान होता है वरन् प्रत्येक वस्तु की कीमत भी एक-सी होती है। किन्तु यह मान्यता उचित नहीं क्योंकि वस्तुओं के परिवहन व्यय के आधार पर तो दो देशों की वस्तुओं के मूल्यों में भिन्नता होती है, इसके अतिरिक्त अन्य कारणों से भी वस्तुओं के मूल्यों में अन्तर होता है।

(9) निर्देशांकों की गणना में कठिनाई—आलोचकों के अनुसार इस सिद्धान्त में निर्देशांकों के आधार पर विनिमय दर ज्ञात करने में काफी कठिनाई होती है तथा यह गणना विश्वसनीय भी नहीं है। कीमत निर्देशांक कई प्रकार के होते हैं जैसे थोक मूल्य निर्देशांक, जीवन-निर्वाह निर्देशांक एवं मजदूरी निर्देशांक इत्यादि। अतः प्रश्न उपस्थित होता है कि क्रय-शक्ति की गणना करने के लिए किस निर्देशांक का प्रयोग किया जाय ? इसके सम्बन्ध में सिद्धान्त अस्पष्ट है और फिर दो देशों के निर्देशांकों की तुलना करना सम्भव नहीं है क्योंकि दोनों देशों के आधार वर्ष, प्रतिनिधि वस्तुओं एवं उनके दिये जाने वाले भार (Weight) में भिन्नता होती है। इसका तात्पर्य यह है कि उक्त निर्देशांकों की तुलना के आधार पर विनिमय दर की वास्तविक तुलना नहीं की जा सकती।

(10) विनिमय दर का भी कीमत स्तर पर प्रभाव पड़ता है – सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि कीमत स्तर में होने वाले परिवर्तन तो विनिमय दर को प्रभावित करते हैं किन्तु यह सिद्धान्त यह नहीं मानता कि विनिमय दर परिवर्तनों का भी कीमत स्तर पर प्रभाव होता है। किन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि आनुभविक प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि विनिमय दर का भी कीमत स्तरों पर प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध मौद्रिक अर्थशास्त्री प्रो. हाम (G. N. Halm) ने

ही इसका प्रयोग विनिमय की सन्तुलन दर की समता के लिए किया जा सकता है। यही कारण है कि प्रो. हाम इसकी आलोचना करते हुए कहते हैं कि "क्रय शक्ति समता को सन्तुलन दर ज्ञात करने अथवा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सन्तुलन के विचलन की वास्तविक गणना करने में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। अधिकतम क्रयशक्ति समता का प्रयोग उस अनुमानित श्रेणी को जानने के लिए किया जा सकता है जिसके अन्तर्गत विनिमय की सन्तुलन दर को ज्ञात किया जा सकता है।

क्रय शक्ति समता सिद्धान्त का मूल्यांकन

इस सिद्धान्त के उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि क्रयशक्ति समता सिद्धान्त विनिमय दर को निर्धारित करने वाली दीर्घकालीन नहीं वरन् तात्कालिक शक्तियों की व्याख्या करता है। सिद्धान्त की कमजोरियों के बावजूद भी इसे समस्त मौद्रिक दशाओं में दीर्घकाल में विनिमय दर को निर्धारित करने वाला सारपूर्ण स्पष्टीकरण स्वीकार किया जाता है। यह सिद्धान्त इस बात की व्याख्या भी करता है कि भुगतान शेष का निर्धारण कैसे होता है। इससे स्पष्ट होता है कि देशों के सापेक्षिक मूल्य स्तरों में परिवर्तन के फलस्वरूप ही देशों के व्यापार एवं भुगतान में परिवर्तन होता है। यह सिद्धान्त विनिमय दर के निर्धारण में, कीमत स्तर के प्रभाव में, कीमत स्तर के प्रभाव की समुचित व्याख्या करता है। यदि व्यवहारिक दृष्टि से विचार किया जाय तो क्रय शक्ति समता सिद्धान्त, प्रतिष्ठित सिद्धान्त (टकसाली समता सिद्धान्त) पर एक महत्वपूर्ण सुधार है।

यह सिद्धान्त उस समय काफी महत्वपूर्ण हो जाता है जहाँ कीमतों के उतार-चढ़ाव विनिमय दर को बहुत अधिक प्रभावित करते हैं किन्तु जब कीमतों के उच्चावचन इतने अधिक प्रभावपूर्ण नहीं होते तो यह सिद्धान्त भी अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध नहीं होता। किन्तु इस सिद्धान्त की आलोचनाओं से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि यह सिद्धान्त महत्वहीन है।

विदेशी विनिमय का भुगतान-शेष सिद्धान्त
(BALANCE OF PAYMENT THEORY OF FOREIGN EXCHANGE)

इस सिद्धान्त के अनुसार देश की मुद्रा की तुलना में, विदेशी मुद्रा के मूल्य का निर्धारण, विदेशी विनिमय बाजार में माँग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा होता है एवं माँग तथा पूर्ति की शक्तियों का निर्धारण अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान-शेष की विभिन्न मदों द्वारा होता है। यह सिद्धान्त स्पष्ट करता है कि जब भुगतान-शेष में घाटा होता है तो विनिमय दर में कमी हो जाती है और इसके विपरीत, जब भुगतान-शेष में आधिक्य होता है तो विनिमय दर में वृद्धि हो जाती है। देश के भुगतान शेष में घाटा इस बात का प्रतीक है कि विदेशी विनिमय की माँग उसकी पूर्ति की तुलना में अधिक है जिसके फलस्वरूप देश की मुद्रा का मूल्य घट जाता है। भुगतान-शेष में आधिक्य होने का आशय यह है कि विदेशों में, देश की मुद्रा की पूर्ति की तुलना में उसकी माँग अधिक है जिसके फलस्वरूप विदेशी मुद्रा की तुलना में देश की मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है।

इस प्रकार सारांश में भुगतान-शेष सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि विनिमय दर का निर्धारण माँग और पूर्ति के सन्दर्भ में भुगतान-शेष द्वारा होता है। इस सिद्धान्त को विनिमय दर का माँग और पूर्ति का सिद्धान्त भी कहते हैं। जहाँ क्रयशक्ति समता सिद्धान्त विनिमय दर की व्याख्या मूल्य-स्तरों में परिवर्तन की दृष्टि से करता है, भुगतान-शेष सिद्धान्त बताता है कि विनिमय दर मुद्रा की माँग-पूर्ति का फल है। किन्तु क्रयशक्ति सिद्धान्त, विनिमय दर के निर्धारण में, उन अदृश्य मदों (Invisible Items) को शामिल नहीं करता जिन्हें भुगतान-शेष सिद्धान्त करता है। भुगतान शेष सिद्धान्त के अनुसार, विदेशी विनिमय की माँग, भुगतान-शेष में विकलन (debit) सम्बन्धी मदों के कारण होती है तथा विदेशी विनिमय की पूर्ति समाकलन अथवा जमा (Credit) सम्बन्धी

किन्तु उक्त तर्क के विपरीत, प्रो० नर्कसे ने प्रदर्शन प्रभाव को अर्द्धविकसित देशों में पूंजी निर्माण में बाधक बताया है। इसका सीधा तर्क यह है कि पूंजी निर्माण के लिए बचत बहुत आवश्यक है किन्तु प्रदर्शन प्रभाव के फलस्वरूप बचत नहीं हो पाती। कठोर परिश्रम के प्रोत्साहन से उत्पादन में वृद्धि और उससे जो आय बढ़ती है, उसकी तुलना में उपभोग अधिक बढ़ जाता है अतः प्रदर्शन प्रभाव पूंजी निर्माण में रिसाव (Leakage) का कार्य करता है।

(6) विकसित देशों से बढ़ती हुई प्रतियोगिता का विकास पर प्रतिकूल प्रभाव—जब अर्द्ध-विकसित देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रवेश करते हैं तो इनके सामने कई समस्याएं आती हैं जिनमें विदेशी प्रतियोगिता महत्वपूर्ण है। यदि ये देश अपना निर्यात बढ़ाना चाहते हैं तो इन्हें विदेशी माल से प्रतियोगिता करनी पड़ती है चूंकि विदेशी वस्तुएं उच्च तकनीक के कारण गुणों में उत्तम होती हैं तथा उनकी कीमतें भी कम होती हैं अतः अर्द्धविकसित देश उनके सामने ठहर नहीं पाते और अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों पर उनका अधिकार नहीं हो पाता। यह समस्या इसलिए और भी भयंकर हो गयी क्योंकि आजकल विकसित देश भी प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन करने लगे हैं और यदि कभी ये निर्धन देश प्रतियोगिता करने में समर्थ भी हो जाते हैं तो इन्हें आवश्यक उपकरणों एवं मशीनों का निर्यात बन्द कर दिया जाता है। जैसे हाल में ही अमेरिका ने भारत को यूरेनियम का निर्यात बन्द करने की धमकी दी थी।

अर्द्धविकसित देशों की प्रतियोगिता शक्ति इसलिए भी कमजोर है क्योंकि इनमें आपस में कोई सशक्त संगठन नहीं है जिससे इनकी मोलभाव की शक्ति कमजोर रहती है। अभी तक भारत काफी मात्रा में बैलाडीला क्षेत्र से लौह-अयस्क (Iron-ore) का निर्यात जापान को करता था किन्तु उसने अचानक निर्णय लेकर इसका भारत से आयात रोक दिया है अतः भारत के सामने अतिरिक्त अयस्क की खपत की बड़ी समस्या खड़ी हो गयी है। इन सब कारणों का अर्द्धविकसित देशों के आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

निष्कर्ष—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और आर्थिक विकास से सम्बन्धित दो विभिन्न विचारधाराओं का अध्ययन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सम्पूर्ण विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विकास हुआ है। विदेशी विनियोग, प्रवसन (Migration) और जनसंख्या वृद्धि का वास्तविक प्रभाव यह हुआ कि विभिन्न देशों में साधन अनुपात की विषमता कम हुई तथा तकनीकी कुशलता और ज्ञान का प्रसार हुआ। औद्योगीकरण के विस्तार, परिवहन-संचार साधनों के विकास आदि का आर्थिक विकास पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। इसका तात्पर्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में हानियों की अपेक्षा लाभ अधिक हुए जिससे इसका विस्तार हुआ।

फिर भी कुछ निर्धन देशों को इसका लाभ क्यों नहीं मिल पाया। इसका कारण यह है कि इन देशों में कुछ आधारभूत शर्तों का अभाव रहा है जो विकास के लिए आवश्यक है। इन देशों के सामाजिक मूल्यों में प्रकृति पर विजय प्राप्त की भावना का अभाव रहा है और निर्धन राष्ट्रों की सरकारें भी आर्थिक नीतियों को क्रियान्वित करने में पिछड़ी रही हैं जिससे इन देशों के विकास में सतत् उद्दीपन नहीं मिल पाया। प्रो० रोस्टोव (W W Rostow) के अनुसार इन देशों में निर्यात क्षेत्रों में विस्तार होने पर भी घरेलू अर्थव्यवस्था विकसित क्यों नहीं हो सकी, इसका कारण यह है कि अर्थव्यवस्था में स्वयं विकास का आरम्भ होने के लिए आवश्यक दशाएं मौजूद नहीं रहीं। अतः अधिकांश अर्द्धविकसित देश, निर्यातों में वृद्धि के बावजूद भी, विकास के द्वितीय स्तर तक नहीं पहुंच सके हैं। द्वितीय स्तर का आशय उस क्रान्ति के युग से है जिसके अन्तर्गत देश की राजनीतिक, सामाजिक संरचना एवं परम्परागत समाज के मूल्यों में इस प्रकार के परिवर्तन होते हैं जिनसे अर्थव्यवस्था में सतत् विकास हो। अतः कहा जा सकता है कि निर्धन देशों की विदेशी व्यापार की बाधाओं की तुलना में घरेलू बाधाओं का महत्व अधिक रहा है और इन देशों की

विदेशी व्यापार की मूल समस्या यह नहीं है कि व्यापार को कैसे नियन्त्रित किया जाय वरन यह है कि इनकी निर्यात क्षेत्र की अर्थव्यवस्था से कैसे सामंजस्य स्थापित किया जाय।

अतः विदेशी व्यापार और आर्थिक विकास में कोई विरोधाभास नहीं है और न ही विदेशी व्यापार अर्द्धविकसित देशों के विकास में बाधक है। किन्तु यदि हम चाहते हैं कि विदेशी व्यापार से आर्थिक विकास हो तो घरेलू अर्थव्यवस्था के कुछ मूलभूत तत्वों में परिवर्तन करना होगा क्योंकि विदेशी व्यापार विकास क्रिया को सुविधाजनक बना सकता है, वह विकास का आयात नहीं कर सकता। अतएव विकास के फलस्वरूप होने वाले लाभों के साथ विदेशी व्यापार के लाभों का समन्वय घरेलू नीतियों के अनुकूल होने पर निर्भर रहता है। प्रो० मिअर के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभों को न केवल आर्थिक कुशलता प्राप्त करने वरन् त्वरित विकास (Rapid Development) की चुनौती को स्वीकार करने के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है।"[1]

अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों की विदेशी व्यापार सम्बन्धी समस्यायें—पिछले विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अर्द्धविकसित देशों में विकास को गतिशील बना सकता है। किन्तु इसके लिए आवश्यक है कि व्यापार के मार्ग में बाधाएँ न हों तथा देश में विकास के लिए कुछ आधारभूत शर्तें विद्यमान हों। जहाँ तक दूसरी बात का सम्बन्ध है यह देशों का दायित्व है कि वे आधारभूत बातों को पैदा करें किन्तु जहाँ तक पहली बात का प्रश्न है, यह बहुत कुछ अन्य राष्ट्रों के सहयोग पर निर्भर रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग न मिल पाने के कारण अर्द्धविकसित देशों को विदेशी व्यापार के क्षेत्र में काफी समस्याओं का सामना करना पड़ता है जो मुख्य रूप से इस प्रकार हैं

(1) प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन के ऋण का बढ़ता हुआ भार—अर्द्धविकसित देशों की विदेशी व्यापार की सबसे बड़ी समस्या यह है कि इन पर विकसित देशों द्वारा ऋण का भारी बोझ है जो अधिकांश रूप से प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन का परिणाम है। एक अनुमान के आधार पर विकसित देशों का विकासशील देशों पर 250 अरब डालर का ऋण है जिसके फलस्वरूप अर्द्धविकसित देशों के प्रारम्भिक निवेश पर भारी आर्थिक दबाव पड़ता है तथा उन्हें अपनी विकास परियोजनाओं में भारी मात्रा में कटौती करनी पड़ती है। इसके फलस्वरूप विकासशील देशों की उत्पादन क्षमता घटती है और वे अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में प्रतियोगिता नहीं कर पाते। जब तक इन देशों के विदेशी व्यापार में वृद्धि नहीं होती तब तक विकासशील राष्ट्र न बड़े पैमाने के उद्योगों को मुनाफे पर चला सकेंगे और न उनका व्यापार सन्तुलन ही उनके पक्ष में हो सकेगा।

(2) बाजारों का छोटा होना—अर्द्धविकसित देशों की विदेशी व्यापार की दूसरी समस्या यह है कि इनके बाजार काफी छोटे हैं जो बड़े पैमाने पर उत्पादन करने वाले उद्योगों के विकास के लिए माँग पैदा करने में असमर्थ हैं और यदि आर्थिक विकास त्वरित गति से नहीं किया जाता तथा बाजार की अपूर्णताओं को समाप्त नहीं किया जाता तो इन बाजारों के छोटे ही रहने की सम्भावना है। यह बात बहुत स्पष्ट है कि बाजार की अपूर्णता, श्रम विभाजन एवं उत्पादन को सीमित कर देती है। इन देशों के सामने प्रमुख समस्या यही नहीं है कि ये देश विकसित देशों के साथ अपने व्यापार को बढ़ायें वरन यह भी है कि अर्द्धविकसित देश भी पारस्परिक व्यापार को प्रोत्साहित करें।

(3) उद्यमी वर्ग का अभाव—विदेशी व्यापार के प्रोत्साहन एवं निर्यात वृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि देश में पर्याप्त मात्रा में उत्पादन हो यह उसी समय सम्भव है जब देश में उद्यमी

---

1 G. M. Meier, International Trade and Economic Development, p. 167

प्रतिभा विद्यमान हो ताकि वे पर्याप्त पूँजी का निवेश कर निर्यात बढाने के लिए, उत्पादन में वृद्धि कर सकें। किन्तु अर्द्धविकसित देशों में विकास के लिए वाञ्छित पूँजी निवेश करने वाले निजी पूँजीपतियों का पर्याप्त रूप से विकसित वर्ग नहीं है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि जहाँ एक ओर निजी विनियोग को प्रोत्साहन दिया जाय, वहीं दूसरी ओर सरकार को भी पूँजी-निवेश करना चाहिए। इसके लिए सार्वजनिक क्षेत्र के निरन्तर विकास की जरूरत है। जहाँ निजी विनियोग आगे आने से कतराता है वहाँ सार्वजनिक क्षेत्र को और भी ओजपूर्ण ढंग से पहुँचाने की जरूरत है।

(4) **निर्यात सम्वर्धन सम्बन्धी समस्याएँ**—किसी भी देश के आर्थिक विकास में निर्यातों की वृद्धि का महत्वपूर्ण स्थान होता है अत: अर्द्धविकसित देशों के लिए भी यह आवश्यक है कि निर्यातों में वृद्धि की जाय किन्तु वे निर्यातों को वाँछनीय दिशा में नहीं बढा पाते और निर्यातों से जो आय होती है, उसे पूर्ण रूप से पूँजी निर्माण के लिए प्रयुक्त नहीं किया जाता। इसका कारण यह है कि निर्यात से प्राप्त आय का अधिकांश भाग आयातों, विदेशी ऋण एवं ब्याज के भुगतान में प्रयुक्त हो जाता है। इन देशों के निर्यात-सम्वर्धन में कई प्रकार की समस्याएँ आती हैं जो इस प्रकार हैं :

(i) **निर्यात की तुलना में आयातों में अधिक वृद्धि**—जब अर्द्धविकसित देशों की आय बढती है तो पूँजीगत वस्तुओं एवं उपभोग की वस्तुओं की माँग बढने से उनका आयात किया जाता है और आयातों की वृद्धि, आय की वृद्धि से अधिक हो जाती है जबकि विकसित देशों में आयातों की वृद्धि, आय वृद्धि से कम होती है क्योंकि इन देशों में केवल खाद्यान्न एवं कच्चे माल का ही आयात किया जाता है। इस प्रकार आयातों की तीव्र गति की वृद्धि, निर्यातों को निरर्थक बना देती है।

(ii) **चक्रीय परिवर्तनों का प्रभाव**—अर्द्धविकसित देश कुछ गिनी-चुनी वस्तुओं का ही निर्यात करते हैं तथा वह भी कुछ विशिष्ट देशों को ही अर्थात इनके व्यापार में विविधता नहीं होती तथा इनका अन्तर्राष्ट्रीय बाजार भी सीमित होता है। ये राष्ट्र अपने निर्यातों के लिए कुछ देशों पर ही निर्भर हो जाते हैं और जब ये विकसित देश, अर्द्धविकसित देशों के माल का आयात अपने देशों में या तो पूर्ण रूप से रोक देते हैं अथवा प्रतिबन्धित कर देते हैं तो इसका प्रतिकूल प्रभाव अर्द्धविकसित देशों के निर्यातों और फलस्वरूप उसकी अर्थव्यवस्था पर पड़ता है। विकसित देशों की माँग में परिवर्तन का मुख्य कारण चक्रीय परिवर्तन अथवा उच्चावचन है अर्थात जब इन देशों में मन्दी की स्थिति आती है तो चूँकि, अर्द्धविकसित देश इन पर निर्भर रहते हैं, वह मन्दी की स्थिति, अर्द्धविकसित देशों में भी प्रवेश कर जाती है और देशों को मन्दीकाल की सारी बुराइयों का सामना करना पड़ता है जैसे बेरोजगारी क्रयशक्ति की कमी, माँग का अभाव इत्यादि। इस प्रकार अर्द्धविकसित देश अपने आपको चक्रीय परिवर्तनों के प्रतिकूल प्रभावों से बचा नहीं पाते।

(iii) **विकसित देशों द्वारा वस्तुओं का उत्पादन**—अर्द्धविकसित देशों द्वारा इसलिए भी निर्यात सम्वर्धन में बाधा आयी है क्योंकि पहले ये जिन प्राथमिक वस्तुओं का निर्यात, विकसित देशों को करते थे, अब इनमें से अधिकांश वस्तुओं का उत्पादन स्वयं विकसित देश करने लगे हैं और उन्होंने प्राथमिक वस्तुओं के नये विकल्पों अथवा स्थानापन्न वस्तुओं की खोज कर ली है। बहुत से विकसित राष्ट्र आज उपभोक्ता वस्तुओं के स्थान पर रसायन और कच्चे माल के उत्पादन पर महत्व दे रहे हैं दूसरी ओर अर्द्धविकसित राष्ट्रों में भी, औद्योगीकरण के कारण, निर्मित वस्तुओं का उत्पादन बढ़ रहा है जिससे अधिकांश प्राथमिक उत्पादन की खपत हो रही है अत: अब इन वस्तुओं का निर्यात भी नहीं बढ़ पा रहा है।

(iv) प्रतियोगी शक्ति की कमी—यह बिल्कुल स्पष्ट है कि आज, अर्द्धविकसित देश केवल प्राथमिक वस्तुओं का ही उत्पादन नहीं करते वरन उपभोग और पूँजीगत वस्तुओं का उत्पादन भी कर रहे हैं किन्तु इन वस्तुओं के निर्यात में उन्हें विकसित देशों से भारी प्रतियोगिता करना पड़ रही है क्योंकि उन्नत तकनीक के कारण विकसित देशों का माल टिकाऊ और सस्ता होता है जिससे ये पिछड़े देश विश्व-बाजार के क्षेत्र से बाहर हो जाते हैं एवं निर्यातों को नहीं बढ़ा पाते।

(5) आयात सम्बन्धी समस्याएँ—अर्द्धविकसित देशों को केवल निर्यातों पर निर्भर नहीं रहना पड़ता वरन् वे आयातों के लिए भी विकसित देशों पर निर्भर रहते हैं। पिछड़े देश मुख्य रूप से निर्मित वस्तुओं (Manufactured Goods), मशीनरी, मशीनों, हल्की उपभोग की वस्तुओं और खाद्यान्न का आयात करते हैं। चूँकि अर्द्धविकसित देशों में जनसंख्या की तीव्र गति से वृद्धि होती है अत: खाद्यान्न की माँग बढ़ती है जिससे इसका आयात करना आवश्यक हो जाता है। भारत के उदाहरण से स्पष्ट है कि अभी हाल ही तक हमें निरन्तर भारी मात्रा में विदेशों से खाद्यान्न का आयात करना पड़ा है।

इन अर्द्धविकसित देशों में जब औद्योगीकरण प्रारम्भ होता है तो मशीनों और उच्च-तकनीक की भी आवश्यकता होती है जिसका विकसित देशों से आयात किया जाता है किन्तु प्रमुख समस्या यह होती है कि पिछड़े देश अनुकूल शर्तों पर इन्हें आयात नहीं कर पाते। चूँकि यह देश प्रारम्भिक अवस्था में पर्याप्त मात्रा में निर्मित माल और उपभोग वस्तुओं का उत्पादन नहीं कर पाते अत: इन वस्तुओं के आयात पर भी इन्हें निर्भर रहना पड़ता है। पिछड़े देशों की आयात प्रवृत्ति तो ऊँची रहती ही है साथ ही आन्तरिक प्रदर्शन प्रभाव के कारण दीर्घकाल सीमान्त में औसत आयात प्रवृत्ति में भी वृद्धि होती है।

बढ़ते आयातों का भुगतान करने के लिए, निर्यात की वृद्धि करना आवश्यक है अन्यथा भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल हो जाता है।

(6) विदेशी पूँजी का प्रभाव—अर्द्धविकसित देशों की विदेशी व्यापार की एक समस्या यह भी है कि अपने निर्यात क्षेत्र के विस्तार के लिए विदेशी पूँजी पर निर्भर रहते हैं जिसका परिणाम होता है प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग। यह विनियोग, घरेलू माँग की अवहेलना कर, प्राथमिक उत्पादन पर केन्द्रित होता है जिसका मुख्य उद्देश्य निर्यातों में वृद्धि करना होता है क्योंकि विदेशी निवेश-कर्त्ताओं का मुख्य उद्देश्य विदेशी मुद्रा कमाना होता है। निर्यातों से होने वाली आय की तुलना में विदेशी पूँजी के प्रभाव में अधिक उच्चावचन होते हैं तथा यह देखने में आया है कि विदेशी पूँजी में कमी के साथ निर्यातों में भी कमी आती है। विदेशी पूँजी में उच्चावचन के साथ घरेलू अर्थव्यवस्था में भी अस्थिरता आती है।

विदेशी पूँजी का यह परिणाम भी हुआ है कि अर्द्धविकसित देशों में खेती (Plantation) और खनन उद्योगों पर विदेशी व्यापारिक फर्मों का स्वामित्व हो गया है जैसे रोडेशिया, केन्या (Kenya), बेल्जियम, काँगो आदि में कुल भौगोलिक उत्पादन का 75 प्रतिशत से 95 प्रतिशत तक अंश, विदेशी स्वामित्व के अन्तर्गत है। इन विदेशी फर्मों की स्थिति एकाधिकारियों के समान होती है जो अर्द्धविकसित देशों के आयात और निर्यात पर भी आधिपत्य जमा लेते हैं तथा इसका भारी प्रतिकूल प्रभाव अर्द्धविकसित देशों पर पड़ता है।

(7) विकसित राष्ट्रों की शोषण प्रवृत्ति – विकसित राष्ट्रों की शोषण की प्रवृत्ति ने भी, अर्द्धविकसित देशों के व्यापार को भारी धक्का पहुँचाया है। जिन वस्तुओं को अर्द्धविकसित देश, विदेशों से सस्ते में आयात कर सकते थे, उनकी कीमतों को घटने से रोका गया। जब पैदावार

बढ़ जाने से विकसित राष्ट्रों में लाभ का अंश कम हो गया हो तो वहाँ पूर्ति को सीमित करने के लिए (ताकि अधिक मूल्य प्राप्त किया जा सके) वस्तुओं को जान-बूझकर नष्ट कर दिया गया। एक फ्रांसीसी समाचार पत्र के अनुसार, सन् *1970* से *1975* तक फ्रान्स में 6 लाख 20 हजार टन फल और सब्जियाँ इसलिए नष्ट कर दी गयीं ताकि बाजार में इन चीजों के भाव न गिरें, यह आन्दोलन केवल फ्रान्स में ही नहीं, यूरोपीय साझा बाजार के सदस्य देशों में भी चला है। अमेरिका में गेहूँ की उत्पादन की एक सीमा से आगे न बढ़ने देने के लिए खेत परती छोड़ दिये जाते हैं। प्रो. रेने ड्यूमो का कहना है कि समृद्ध राष्ट्र भोजन के रूप में अधिकाधिक मांस प्राप्त करने के लिए जानवरों को इतना अधिक अनाज खिलाते हैं कि उन पर खर्च किए गये अन्न आदि से अफ्रीका और एशिया के कई गुना अधिक मनुष्यों के जीवन की रक्षा हो सकती है तथा सस्ती कीमत पर ये पिछड़े देश अनाज का आयात कर सकते हैं।

प्रो. रेने का कहना है कि समृद्ध राष्ट्रों ने पिछले चार सौ वर्षों में गरीब देशों के कच्चे माल को मिट्टी के मोल खरीदा है और निर्मित माल को अन्धाधुन्ध कीमतों पर बेचा है। यह विदेशी व्यापार के माध्यम से भयानक शोषण का उदाहरण है।

(8) **व्यापार की शर्तों का प्रभाव** व्यापार की शर्तों का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और आर्थिक विकास पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है—इसका विस्तार से विवेचन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। इसे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं। इतना कहना पर्याप्त है कि जब प्राथमिक उत्पादन करने वाले अर्द्धविकसित देशों के बीच व्यापार होता है तो सदा व्यापार शर्तें हमेशा औद्योगिक राष्ट्रों के पक्ष में हो जाती हैं। इसका कारण यह है कि प्राथमिक वस्तुओं के मूल्यों में काफी अस्थिरता होती है जबकि औद्योगिक वस्तुओं में तुलनात्मक रूप से स्थिरता होती है। दूसरी बात यह है कि प्राथमिक उत्पादन की मांग एक निश्चित सीमा तक ही होती है जबकि निर्मित वस्तुओं की मांग सदैव बनी रहती है। तीसरी बात यह है कि प्राथमिक उत्पादन को, अर्द्धविकसित देश, सस्ती कीमतों पर भी बेच देते हैं क्योंकि टिकाऊ न होने के कारण इनका संग्रह नहीं किया जा सकता जबकि विकसित देश निर्मित वस्तुओं का संग्रह कर सकते हैं और उसके लिए वांछित मूल्य प्राप्त कर सकते हैं। अतः अनुकूल व्यापार की शर्तों के कारण विकसित देश विदेशी व्यापार से अधिक लाभ उठाते हैं जबकि प्रतिकूल व्यापार शर्तों के कारण, अर्द्धविकसित देशों को घाटा उठाना पड़ता है।

यह निर्विवाद है कि व्यापार की शर्तें अर्द्धविकसित देशों के लिए दीर्घकाल तक प्रतिकूल रही हैं। विस्तृत अध्ययन के लिए "व्यापार की शर्तें" नामक अध्याय देखें।

अर्द्धविकसित देशों की विदेशी व्यापार सम्बन्धी समस्याओं को देखते हुए, तेजी से एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की आवश्यकता महसूस की जा रही है जिसमें समृद्ध राष्ट्र विकासशील देशों को ऋणों में छूट देंगे, अधिक आयात करेंगे तथा निर्यात की कीमतों में कमी करेंगे, एवं कच्चे माल का उचित दाम देंगे तथा आवश्यक वस्तुओं के भण्डारण की ऐसी व्यवस्था करेंगे कि उनकी कीमतों में अनावश्यक उतार-चढ़ाव नहीं होगा। किन्तु संयुक्तराष्ट्र व्यापार एवं विकास सम्मेलन (UNCTAD) के नैरोबी सम्मेलन में यह आशा पूरी नहीं हुई। विकसित और अर्द्धविकसित राष्ट्रों के स्पष्ट मतभेद उभरकर सामने आ गये हैं तथा यह बात साफ हो गयी है कि विश्व में एक नयी अर्थव्यवस्था के निर्माण के लिए गरीब देशों को काफी संघर्ष करना पड़ेगा क्योंकि सरलता से वे अपने आपको विदेशी व्यापार एवं अन्य प्रकार के शोषण से मुक्त नहीं कर सकते।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. विकासशील देशों की विदेशी व्यापार सम्बन्धी समस्याओं पर विस्तार से प्रकाश डालिये ?
2 किसी अर्द्धविकसित देश के आर्थिक विकास पर, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का क्या प्रभाव पड़ता है ? पूर्ण रूप से समझाइये।
3. क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने अर्द्धविकसित देशों के आर्थिक विकास में बाधा उपस्थित की है ? तर्कपूर्ण ढंग से समझाइये।

Seleted Readings

1. G M. Meier : *International Trade and Economic Development.*
2. Meier and Baldwin : *Economic Development.*
3 D. H. Robertson · *The Future of Trade and Economic Development.*
4. H. Mynt : *The Gains from the International Trade and the Backward Contries.*

अध्याय 21

विदेशी विनिमय अथवा विनिमय दर का निर्धारण

[FOREIGN EXCHANGE OR DETERMINATION OF EXCHANGE RATE]

परिचय

अभी तक हमने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विशुद्ध सिद्धान्तों का अध्ययन किया है। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कुछ मौद्रिक समस्याओं को भी जन्म देता है जैसे विनिमय दर का निर्धारण, भुगतान सन्तुलन, विनिमय-नियन्त्रण इत्यादि। अतः अब हम व्यापार से सम्बन्धित इन समस्याओं का अध्ययन करेंगे।

प्रारम्भ में हमने देखा है कि गृह व्यापार और विदेशी व्यापार में मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ गृह व्यापार में एक ही मुद्रा का प्रयोग किया जाता है वहीं विदेशी व्यापार में दो या दो से अधिक मुद्राओं का प्रयोग किया जाता है और इसी कारण विनिमय दर का प्रश्न उपस्थित होता है। जैसे भारत, अमरीका से माल का आयात करता है तो उसे डालर में भुगतान करना होगा किन्तु समस्या यह है कि निश्चित मात्रा में डालर प्राप्त करने के लिए कितने रुपयों की आवश्यकता होगी अर्थात् इन दोनों मुद्राओं की विनिमय दर क्या है? विदेशी मुद्रा की आवश्यकता निम्न कारणों से होती है—

(i) विदेशों से क्रय की गयी वस्तुओं अथवा सेवाओं का भुगतान करने के लिए

(ii) विदेशी प्रतिभूतियाँ क्रय करने अथवा ऋण प्रदान करने के लिए

(iii) सट्टे से सम्बन्धित उद्देश्यों के लिए

(iv) राजनैतिक अस्थिरता अथवा आर्थिक संकट के कारण एक देश से मुद्रा को स्थानान्तरित करने के लिए।

विदेशी विनिमय का भुगतान आयात और निर्यात करने वालों में प्रत्यक्ष रूप से नहीं होता क्योंकि इनमें कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता वरन् विदेशी विनिमय बाजार (Foreign Exchange Market) के माध्यम से व्यवस्थित और सुसंगठित तरीके से किया जाता है।

विदेशी-विनिमय बाजार—जिस बाजार में घरेलू मुद्रा के सन्दर्भ में विदेशी मुद्रा के दावियों का क्रय विक्रय किया जाता है, उसे विदेशी विनिमय बाजार कहते हैं। इस बाजार में विदेशी विनिमय की व्यवस्था इस प्रकार की जाती है कि आयात करने वाला अपने देश की मुद्रा में भुगतान कर देता है तथा निर्यात करने वाला अपना भुगतान अपने देश की मुद्रा में प्राप्त कर लेता है। विदेशी विनिमय बाजार में विदेशी विनिमय बैंक वाणिज्यिक बैंकों के विदेशी विनिमय विभाग केन्द्रीय बैंक और ट्रेजरी का समावेश होता है।

जिस प्रकार किसी बड़े शहर में समाशोधन गृह, विभिन्न बैंकों के भुगतान की व्यवस्था करता है, उसी प्रकार विदेशी विनिमय बाजार के माध्यम से विभिन्न देशों में क्रय शक्ति का

अथवा स्वर्ण का निर्यात कर समस्या हल कर ली जाय। भुगतान के लिए विदेशी-विनिमय का सहारा लिया जाता है तथा विशेष माध्यमों से भुगतान किया जाता है जो इस प्रकार है :

(i) **विदेशी विनिमय बिल (Foreign Bills of Exchange)**—जिस प्रकार विनिमय-बिल से आन्तरिक भुगतान किया जाता है, उसी प्रकार जब इसका प्रयोग विदेशी भुगतान के लिए किया जाता है तो इसे विदेशी विनिमय बिल कहते है। माल का विक्रय करने वाला जो भुगतान पाने का अधिकारी है, माल क्रय करने वाले (जो भुगतान का देनदार है) पर विनिमय-पत्र लिखता है जिसमे यह आदेश होता है कि निश्चित अवधि (90 दिन) के भीतर उसमे उल्लखित राशि का भुगतान लेनदार को अथवा उसके द्वारा निर्देशित व्यक्ति को कर दिया जाय।

विदेशी विनिमय-पत्र, निर्यात करने वाले द्वारा, आयात करने वाले पर लिखा जाता है तथा स्वीकृत होने के बाद यह विनिमय पत्र अपने ही देश में उन लोगो को बेच दिया जाता है जिन्हें आयात करने वाले देश को भुगतान करना है तथा वे व्यक्ति इन विनिमय पत्रों को विदेशो में उन व्यक्तियों के पास भेजते है जिन्हे वे भुगतान करना चाहते है। इन लेनदारों के द्वारा इन विनिमय पत्रो की राशि उन लोगो से वसूल कर ली जाती है जिन्होने प्रारम्भ मे इसे माल का आयात करने के कारण स्वीकार किया था।

मानलो एक दिल्ली का व्यापारी 'अ' वाशिंगटन के व्यापारी 'ब' से मशीनों का आयात करता है। एक दूसरा व्यापारी "स" वाशिंगटन मे भारत से चाय का आयात करता है तथा उसे उतने ही रुपयों का भुगतान (जितना कि वाशिंगटन मे ब को लेना है) दिल्ली के व्यापारी 'द' को करना है। अमेरिका का व्यापारी 'ब' भारत मे 'अ' को विनिमय पत्र लिखेगा जिसे 'अ' स्वीकार करेगा अर्थात् 'ब' भारत के 'अ' से भुगतान लेने का हकदार है। 'ब' इस भुगतान-अधिकार का हस्तांतरण अमरीका के व्यापारी 'स' को कर सकता है जिसे उतने ही रुपयों का भुगतान भारत में 'द' को करना है। इस विनिमय पत्र को 'स' अमरीका से भारत मे 'द' के पास भेज देता है जो अपने बैंक के माध्यम से भारत में ही 'अ' से भुगतान प्राप्त कर लेता है। विदेशी विनिमय पत्रों का भुगतान प्रत्यक्ष रूप से न किया जाकर विदेशी विनिमय बैंकों के द्वारा किया जाता है जो समय से पूर्व भी कटौती के आधार पर बिल का भुगतान कर देते है।

(ii) **ड्राफ्ट द्वारा भुगतान (Payment by Bank Drafts)**—बैंक ड्राफ्ट एक बैंक द्वारा अपनी शाखा अथवा अन्य बैंक (जिसके साथ उसका हिसाब रहता है) को लिखा गया आदेश है कि ड्राफ्ट मे उल्लिखित राशि का भुगतान (जो ड्राफ्ट जारी करने वाले बैंक मे जमा कर ली गयी है) ग्राहक द्वारा माँग करने पर कर दिया जाय। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के लिए भी अन्तर्राष्ट्रीय बैंकों अथवा विदेशी विनिमय बैंको द्वारा ड्राफ्ट का प्रयोग किया जाता है। यदि भारत के व्यापारी को, मुद्रा का भुगतान इंग्लैंड के व्यापारी को करना है तो वह भारत से स्टर्लिंग पौंड का ड्राफ्ट लेकर, इंग्लैंड के व्यापारी के पास भेज देगा जो वहाँ बैंक की शाखा से उतनी ही मुद्रा प्राप्त कर लेगा।

(iii) **तार द्वारा हस्तान्तरण/भुगतान (Telegraphic Transfer)**—तार द्वारा भुगतान के अन्तर्गत, एक देश के बैंक द्वारा विदेश मे अपनी शाखा को तार द्वारा सूचना दी जाती है कि एक निश्चित राशि का भुगतान विशेष व्यक्ति को कर दिया जाय। एक प्रकार से यह तार द्वारा भेजा हुआ ड्राफ्ट है जिसमे शीघ्र ही भुगतान कर दिया जाता है। इसे भेजने मे अधिक व्यय होता है।

(iv) **साख-पत्र (Letter of Credit)**—साख-पत्र जारी करने वाला बैंक किसी व्यक्ति को एक निश्चित राशि, चैक या बिल द्वारा एक निश्चित अवधि मे निकालने का अधिकार देता है। इस साख पत्र के आधार पर जो आयातकर्ता बैंक से प्राप्त करता है, निर्यात करने

वाला, वस्तुओं का निर्यात कर देता है क्योंकि भुगतान की गारण्टी, साख पत्र जारी करने वाले बैंक के ऊपर होती है।

इसके अतिरिक्त यात्री चैक, अन्तर्राष्ट्रीय मनिआर्डर आदि के द्वारा भी विदेशी भुगतान किया जाता है।

विनिमय-दर
(THE RATE OF EXCHANGE)

विनिमय दर की आवश्यकता इसलिए है क्योंकि विभिन्न देशों में विभिन्न मुद्राएँ चलन में होती हैं। जब इन देशों में व्यापार होता है तो उनकी मुद्राओं में विनिमय दर का प्रश्न उपस्थित होता है। विदेशी व्यापार में क्रेता एवं विक्रेता का कम से कम दो कीमतों से सम्बन्ध होता है। एक तो वस्तुओं और सेवाओं की कीमत और दूसरे, विदेशी मुद्रा की कीमत। जैसे यदि अमरीका का एक व्यापारी ब्रिटेन से एक मशीन का आयात करना चाहता है, तो उसे न केवल मशीन की स्टर्लिंग पौंड में कीमत पर विचार करना होगा वरन यह भी विचार करना होगा कि डालर में पौंड का क्या मूल्य है। सरल शब्दों में डालर और पौंड में विनिमय दर क्या।

सरल शब्दों में विनिमय दर वह दर है जिस पर किसी देश की मुद्रा की एक इकाई का दूसरे देश की मुद्रा की इकाइयों से विनिमय किया जाता है। जैसे यदि एक डालर प्राप्त करने के लिए 8 रुपये लगते हैं तो डालर और रुपये की विनिमय दर डालर 1=Rs 8 होगी।

क्राउथर (Crowther) के अनुसार, "विनिमय दर उस सीमा का माप है जिसके अनुसार किसी देश की मुद्रा की एक इकाई के बदले, दूसरे देश की इकाईयाँ प्राप्त की जाती हैं।"

एशर (Escher) के अनुसार, "विनिमय दर एक देश की मुद्रा का दूसरे देश की मुद्रा में व्यक्त मूल्य है।"

इस प्रकार विनिमय दर एक देश की मुद्रा की, दूसरे देश की मुद्रा में आँकित कीमत है जिसे निम्न दो तरह से व्यक्त किया जा सकता है :

(i) विदेशी मुद्रा की एक इकाई के बदले, देश की मुद्रा की कितनी इकाईयाँ देनी होंगी जैसे अमरीकन एक डालर =8 रुपये

(ii) देश की मुद्रा की एक इकाई के बदले विदेशी मुद्रा की कितनी इकाईयाँ प्राप्त होंगी जैसे एक रुपये=अमरीका के 12 सेण्ट

विनिमय दरों के विभिन्न प्रकार—विदेशी विनिमय बाजार में दो देशों की मुद्राओं में सदैव एक ही विनिमय दर नहीं रहती वरन भुगतान के लिए प्रयुक्त साख-माध्यमों के आधार पर विनिमय दरों में भिन्नता पायी जाती है। अब हम विभिन्न दरों पर विचार करेंगे तथा बाद में विनिमय दर के निर्धारण पर विचार करेंगे।

तात्कालिक विनिमय दर एवं अग्रिम विनिमय दर
(SPOT RATE OF EXCHANGE & FORWARD RATE OF EXCHANGE)

तात्कालिक अथवा वर्तमान विनिमय दर, देश की मुद्रा में वह मूल्य होता है जिसका भुगतान विशिष्ट विदेशी मुद्रा की तत्काल प्राप्ति के लिए किया जाता है। इस प्रकार यह प्रचलित विनिमय दर है। क्रय और विक्रय करने वाले व्यक्तियों के लिए यह दर अलग-अलग रूप में व्यक्त की जायगी। जैसे एक क्रेता के लिए एक डालर का मूल्य आठ रुपये हो सकता है जबकि विक्रेता के लिए यह मूल्य सात रुपये पचास पैसे हो सकता है। इन दोनों में जितना अन्तर है यह स्वर्ण के परिवहन व्यय, बीमा खर्च एवं कमीशन की दरों पर निर्भर रहता है।

तात्कालिक दर को केबल दर (Cable Rate) भी कहते हैं क्योंकि विदेशी विनिमय का

शीघ्र हस्तान्तरण विदेशी विनिमय बैंकों द्वारा तार द्वारा इसी दर पर किया जाता है। इस दर को चैक दर, मेल ट्रान्सफर अथवा टेली ग्राफिक ट्रान्सफर भी कहते है।

अग्रिम विनिमय दर वह दर है जिस पर क्रय-विक्रय का सौदा तो अभी हो गया है परन्तु जिसकी सुपुर्दगी भविष्य की किसी निश्चित तिथि को की जायगी। ईविट के अनुसार, "अग्रिम विनिमय एक ऐसी प्रणाली है जिसके द्वारा एक मुद्रा के बदले दूसरी मुद्रा के क्रय-विक्रय की दर तो उसी समय निश्चित कर दी जाती है किन्तु इसे किसी भविष्य की तिथि में कार्यान्वित किया जाता है।"[1] इस प्रणाली के अन्तर्गत एक मुद्रा का दूसरी मुद्रा में विनिमय भविष्य में किया जाता है पर विनिमय दर उसी समय निश्चित कर दी जाती है। हो सकता है जब वास्तविक विनिमय हो तो उस समय विनिमय दर उस दर से भिन्न हो जिस पर सौदा किया गया था। अग्रिम विनिमय दर के द्वारा एक भुगतान प्राप्त करने वाला व्यक्ति (Creditor) अपने देश की मुद्रा में ऋण की राशि का मूल्य स्थिर कर सकता है जिसे भविष्य में विदेशी मुद्रा में किसी ऋणी (debtor) से भुगतान प्राप्त करना है। इसी प्रकार ऋणी भी अपने देश की मुद्रा में विदेशी ऋण की राशि भी निश्चित कर सकता है जिसका भुगतान वह भविष्य में करेगा।

अग्रिम विनिमय क्यों किया जाता है ?

विदेशी विनिमय दर में उच्चावचन होते हैं अत. विदेशी मुद्रा में सौदा करने वालों को कुछ न कुछ तो जोखिम रहता है। ये जोखिम उस समय और भी बढ़ जाते हैं जब मुद्रा प्रणाली स्वतन्त्र होती है। यद्यपि इन जोखिमों को समाप्त नहीं किया जा सकता किन्तु अग्रिम विनिमय दर तय करके इन जोखिमों को टाला जा सकता है।

यदि कोई व्यापारी यह अनुभव करता है कि वर्तमान विनिमय दर नीची है तथा भविष्य में इसके बढ़ जाने की सम्भावना है जब विदेशी भुगतान किये जायेंगे तो वह भविष्य तिथि में भुगतान का सौदा कर सकता है। इसके विपरीत यदि वर्तमान विनिमय दर ऊँची है तो एक व्यक्ति जिसे भविष्य में विदेशी मुद्रा में भुगतान प्राप्त करना है, भविष्य में विक्रय का सौदा कर विनिमय दर में होने वाली कमी में अपने आपको बचा सकता है। अग्रिम सौदा करने वाले मध्यस्थ बनकर विनिमय दरों का अनुबन्ध करते हैं। जब भी कोई अनुबन्ध करने वाला भविष्य में विदेशी विनिमय के भुगतान का सौदा करता है तो वह उसी समय प्रचलित विनिमय दर पर विदेशी मुद्रा को खरीदने का भी सौदा कर लेता है ताकि वह घाटे से बच सके। इस कार्यवाही को प्रतिरक्षा (Hedging) कहते है।

अग्रिम विनिमय बाजार में किये जाने वाले सौदों को अग्रिम विनिमय सौदे कहते हैं जिनमें भविष्य में किये जाने वाले, विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय का समावेश होता है। जिन दरों पर ये सौदे किये जाते हैं उन्हें अग्रिम दर (Forward Rates) कहते हैं। अग्रिम विनिमय दर का निर्धारण, विक्रय के समय ही कर लिया जाता है किन्तु जब तक विक्रेता के द्वारा विदेशी विनिमय प्रदान नहीं किया जाता उसका भुगतान नहीं किया जाता है। अग्रिम दरों का उल्लेख बहुधा कटौती के आधार पर अथवा तात्कालिक दर के ऊपर या नीचे किया जाता है। इस प्रकार अग्रिम दरों को तात्कालिक दरों से प्रतिशत विचलन (Percentage deviation) में व्यक्त किया जाता है। इसे एक उदाहरण से व्यक्त किया जा सकता है मानलो एक भारतीय व्यापारी अमरीका से 100 डालर के मूल्य का सामान खरीदता है जिसका भुगतान तीन माह में किया जायगा। उस समय प्रचलित

---

1 Forward Exchange is an operation whereby a rate is fixed atonce for a purchase and sale of one currency for another which is to be completed at some futuure date"
—*Evitt, op. cit*, p. 140.

तात्कालिक विनिमय दर 7·50 रुपये = एक डालर है। भविष्य के जोखिम को टालने के उद्देश्य से भारतीय व्यापारी वर्तमान विनिमय दर के आधार पर 100 डालर खरीदने का अनुबन्ध कर सकता है। यदि अग्रिम विनिमय दर 10 पैसे की कटौती के आधार पर की जाती है तो भारतीय व्यापारी को 7·40 रुपये = एक डालर के हिसाब से भुगतान करना पड़ेगा। यदि अग्रिम विनिमय दर 10 पैसे अधिमूल्य (Premium) के आधार पर निर्धारित होती है तो तीन माह बाद भुगतान 7·60 रुपये = एक डालर के आधार पर भुगतान किया जायगा। इस प्रकार अग्रिम दर प्रणाली में क्रेता इस रूप में जोखिम से बच जाता है कि भविष्य में विनिमय दर में भी जो उच्चावचन हों वह वर्तमान में ही जान लेता है कि 100 डालर के लिए उसे कितने रुपयों का भुगतान करना पड़ेगा। अग्रिम विनिमय दरों से आयातकर्ता और निर्यातकर्ता यह जान लेते हैं कि उन्हें अपने माल का क्या मूल्य मिलेगा। इस प्रकार अग्रिम दरों से, विनिमय दरों की अस्थिरता एवं उच्चावचनों को टाला जा सकता है।

बैंकों को लाभ—अग्रिम विनिमय दर के माध्यम से व्यापारी अपने जोखिम को टाल देते हैं, तथा साथ ही विदेशी विनिमय का अनुबन्ध करने वाले अथवा बैंकों को भी इससे लाभ होता है क्योंकि बैंक प्रत्येक अग्रिम क्रय अथवा सौदे के विक्रय को अग्रिम क्रय से सन्तुलित कर देते हैं और क्रेता तथा विक्रेता दोनों से शुल्क प्राप्त कर लेते हैं। जिस दर पर एक बैंक विदेशी मुद्रा (उदाहरण के लिए डालर) बेचने का अनुबन्ध करता है वह उसी दर पर दूसरे व्यापारी से उसी अवधि में बैंक एक व्यक्ति से उसी दर पर डालर खरीदकर दूसरे को बेच देता उसे हैज सौदे (Hedge Contracts) अथवा 'Marrying a transaction" कहते हैं।

तात्कालिक और अग्रिम विनिमय दर—यह बताया जा चुका है कि अग्रिम दरें, तात्कालिक दर से कम अथवा अधिक हो सकती हैं। यदि हम डालर और पौण्ड का उदाहरण लें तो यदि अग्रिम डालर के खरीदने वालों की संख्या अधिक है तथा डालर बेचने वालों की संख्या कम है तो अग्रिम डालर का विनिमय अधिमूल्य (Premium) पर होगा। यदि पौंड की मांग अधिक है तथा इसकी पूर्ति कम है तो पौण्ड का विनिमय अधिमूल्य अथवा प्रब्याज पर होगा एवं डालर बट्टे (Discount) पर बिकेगा।

अग्रिम विनिमय का महत्व—अग्रिम विनिमय के माध्यम से आयातकर्ता यह निश्चित कर सकता है कि उसे विदेशी मुद्रा के बदले अपने देश की कितनी मुद्रा का भुगतान करना होगा। निर्यातकर्ता भी यह जान सकता है कि उसे अपने माल के बदले अपने देश की मुद्रा में कितना भुगतान मिलेगा। इसके साथ ही जो व्यक्ति अल्पकाल के लिए विदेशों में विनियोग करना चाहता है विनिमय दर में उच्चावचन से होने वाले जोखिमों से अपने को बचा सकता है क्योंकि विनियोग के लिए जो विदेशी मुद्रा वह तात्कालिक दर पर खरीद रहा है वह उसके विक्रय का अग्रिम सौदा कर सकता है ताकि विनियोग के परिपक्व होने पर वह निश्चित मात्रा में अपने देश की मुद्रा प्राप्त कर सके।

अग्रिम विनिमय दर का निर्धारण—अग्रिम विनिमय दरें, तात्कालिक दरों से असम्बन्धित नहीं रहतीं जैसा ब्याज की दर के माध्यम से उनमें अप्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है। अग्रिम विनिमय दर का सिद्धान्त स्पष्ट करता है कि सामान्य दशाओं के अन्तर्गत एक देश की मुद्रा का दूसरे देश की मुद्रा में विनिमय में बट्टा अथवा अधिमूल्य दोनों देशों में प्रचलित ब्याज की दर में विभिन्नता से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित होता है। यदि गृह देश की तुलना में विदेश में ब्याज की दर नीची है, तो तात्कालिक दर की तुलना में अग्रिम विनिमय दर ऊँची होगी तथा वह उतनी ऊँची होगी जितना ब्याज की दर में अन्तर होगा और विनिमय का अधिमूल्य होगा। इसका कारण यह है कि बैंक सामान्यतः गृह देश में उस दर से अधिक दर पर ऋण लेता है जिस दर पर वह विदेशी मुद्रा को

विदेशों में विनियोग करता है अतः बैंक अपना कमीशन लेता है तथा घाटे की पूर्ति करता है। इसके विपरीत यदि विदेश में ब्याज की दर ऊँची रहती है तो अग्रिम विनिमय दर कम होती है अथवा बट्टे पर होगी।

अग्रिम विनिमय बाजार के लिए आवश्यक दशाएँ—अग्रिम विनिमय दर की प्रणाली उसी समय कार्यशील हो सकती है जब निम्न दशायें मौजूद हों

(i) विदेशी विनिमय, सट्टे की क्रियाओं और ब्याज मूल्यान्तर के सौदों पर आवश्यक रूप से कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता है अर्थात ब्याज की दरों में भिन्नता के फलस्वरूप कोषों का अन्तर्राष्ट्रीय हस्तान्तरण होता है।

(ii) स्थिर विनिमय दर का अनुसरण नहीं किया जाता है अर्थात विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति में परिवर्तनों के फलस्वरूप लोचपूर्ण विनिमय दरें विद्यमान रहती हैं।

(iii) जिस मुद्रा का अग्रिम विनिमय किया जाता है वह महत्वपूर्ण है अर्थात उस मुद्रा में सौदे नियमित रूप से एवं बड़ी मात्रा में होते हैं।

विनिमय नियन्त्रणों के कारण अग्रिम विनिमय बाजार में बाधा उपस्थित होती है यदि किसी मुद्रा में अल्प सौदे किये जाते हैं अथवा विदेशी विनिमय दर को स्थिर कर दिया जाता है तो उसमें अग्रिम विनिमय सम्भव नहीं है। कुछ देश पूर्ण रूप से अग्रिम विनिमय को प्रतिबन्धित कर देते हैं।

अनुकूल और प्रतिकूल विनिमय दर—जब विनिमय दर अपने देश की मुद्रा में व्यक्त की जाती है तो कम होती हुई (Falling Rate) विनिमय दर देश के लिए अनुकूल विनिमय दर कहलाती है। इसके विपरीत बढ़ती हुई विनिमय दर देश के लिए प्रतिकूल होती है। इसे स्पष्ट करने के लिए हम एक उदाहरण लें मानलो अमरीका और भारत में विनिमय दर 1 डालर=8 रुपये है। अब यदि इसमें परिवर्तन होता है और विनिमय दर 1 डालर=7 रु० हो जाती है तो रुपये में यह घटती हुई विनिमय दर भारत के लिए अनुकूल होगी। इसके विपरीत यदि विनिमय दर परिवर्तित होकर 1 डालर=9 रु० होती है तो यह बढ़ती हुई विनिमय दर भारत के लिए प्रतिकूल होगी।

किन्तु जब विनिमय दर विदेशी मुद्रा में व्यक्त की जाती है तो ठीक उल्टी स्थिति होती है अर्थात बढ़ती हुई विनिमय दर देश के पक्ष में होगी और घटती हुई विनिमय दर देश के प्रतिकूल होगी। उदाहरण के लिए भारत और इंग्लैण्ड में विनिमय दर 1 रुपये=6 शिलिंग है अब यदि यह विनिमय दर परिवर्तित होकर 1 रु०=7 शिलिंग हो जाती है तो यह बढ़ती हुई दर देश के पक्ष में होगी। अब यदि विनिमय दर घटकर 1 रु०=5 शिलिंग हो जाती है तो यह घटती हुई विनिमय दर भारत के लिए प्रतिकूल होगी।

स्थिर एवं अस्थिर अथवा लोचपूर्ण विनिमय दर
(FIXED AND FLEXIBLE OR FLOATING RATE OF EXCHENGE)

स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दर स्थिर होती थी क्योंकि इसमें एक निश्चित सीमा-स्वर्ण बिन्दुओं द्वारा निर्धारित—तक ही परिवर्तन होते थे। इस सीमा के आगे परिवर्तन होने पर स्वर्ण का आयात निर्यात होने लगता था। 1944 में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना के बाद बहुत से देशों ने एक निश्चित विनिमय दर अपना ली थी तथा इस दर को बनाये रखने की चेष्टा की क्योंकि मुद्रा कोष इस स्थिर दर को बनाये रखने में सहायता करता है। किन्तु 1971 में डालर अवमूल्यन के बाद एवं अन्य अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण अब विनिमय दर को स्थिर रखना सम्भव नहीं रह गया है।

लोचदार विनिमय दर वह दर है जिसमें माँग और पूर्ति की शक्तियों के फलस्वरूप परिवर्तन होता रहता है तथा सरकार का इस पर कोई नियन्त्रण नहीं होता। प्रो. सैमुअलसन के

अनुसार "लोचपूर्ण विनिमय दरों को वस्तुओं की माँग और पूर्ति अथवा पूँजी के प्रवाह के द्वारा लोचपूर्ण ढंग से ऊपर या नीचे रखा जाता है"[1] इस प्रकार लोचदार विनिमय दरों की प्रणाली परिवर्तनों पर पूर्ण ध्यान देती है।

स्थिर अथवा निश्चित विनिमय दरों के पक्ष में तर्क

(1) **अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में सरलता**—यदि देशों की विनिमय दरों में स्थिरता है तो अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में आसानी हो जाती है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है। देशों का एक दूसरे की मुद्रा में विश्वास हो जाता है। इसके फलस्वरूप विश्व के देशों में आर्थिक एकता सम्भव होती है।

(2) **पूँजी निर्माण**—विनिमय दर में स्थिरता के कारण देश की अर्थव्यवस्था में भी स्थिरता आती है। लोग विदेशों में भी विनियोग करते हैं जिसके फलस्वरूप पूँजी निर्माण को प्रोत्साहन मिलता है। मुद्रा के मूल्य में स्थायित्व के कारण बचत को भी प्रोत्साहन मिलता है।

(3) **विदेशी पूँजी को प्रोत्साहन**—यदि विनिमय दर में अस्थिरता होती है तो विदेशी पूँजी देश में आकर्षित नहीं होती क्योंकि विदेशी विनियोगकर्ताओं को इस बात का विश्वास नहीं रहता कि उन्हें अपनी पूँजी का प्रतिफल मिलेगा? किन्तु विनिमय दर स्थिर रहने से विदेशी पूँजी का आयात होता है जो देश के आर्थिक विकास में सहायक होती है।

(4) **उच्चावचनों की समाप्ति**—यदि विनिमय दर स्थिर रहती है तो अर्थ व्यवस्था में ज्यादा उच्चावचन नहीं होते। जबकि विनिमय दर में अस्थिरता होने से उसमें अधिक उच्चावचन होते हैं जिससे सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है तथा अस्थिरता बढ़ती है। सट्टेबाजी के भयंकर प्रभाव होते हैं।

(5) **नियोजन में सफलता**—नियोजन, विशेष रूप से अर्द्धविकसित देशों में उसी समय सफल हो सकता है जब उन्हें आवश्यक मात्रा में पूँजी, मशीनें, उपकरण तथा तकनीकी ज्ञान, विदेशों से उपलब्ध हो सके। यदि विनिमय दर में स्थिरता रहती है तो पूर्व निर्धारित व्यय के अनुसार उक्त वस्तुओं को आयात किया जा सकता है विनिमय दर में अस्थिरता के कारण नियोजन में व्यय का अनुमान लगाना ही कठिन हो जाता है।

(6) **अर्थव्यवस्था में विदेशी व्यापार पर अधिक निर्भरता**—जिन देशों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अधिक महत्व रहता है उन देशों के लिए विनिमय दरों में स्थिरता रखना आवश्यक हो जाता है अन्यथा उनकी अर्थ-व्यवस्था पर बहुत प्रभाव पड़ता है और आर्थिक विकास में बाधा उपस्थित होती है।

निश्चित विनिमय दर प्रणाली के दोष

(1) **कठोर नियन्त्रण**—निश्चित विनिमय दर को बनाये रखने के लिए कई प्रकार के प्रतिबन्धों और नियन्त्रणों की आवश्यकता होती है जो प्रायः सम्भव नहीं हो पाते। निश्चित विनिमय दर उसी समय सम्भव है जब (i) आवश्यकतानुसार देश में मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन किया जाय (ii) सरकार किसी भी मात्रा में विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय के लिए तैयार रहे और (iii) विनिमय नियन्त्रण का पूरा पालन किया जाय। प्रो. मेयलस के अनुसार प्रायः देश में आवश्यक मात्रा में मुद्रा में परिवर्तन नहीं किया जाता जिससे विनिमय दर में असाम्य की स्थिति आ जाती है।

(2) **भ्रष्टाचार का विषम चक्र**—विनिमय दरों को स्थिर बनाये रखने के लिए अर्थ-व्यवस्था में अन्य क्षेत्रों में भी नियन्त्रण लगाना आवश्यक हो जाता है जैसे विदेशी व्यापार, उद्योग,

---

1 "Floating exchange rates are forced flexibly up or down by supply and demand for goods or capital movements. —*Smuelson op Cit.* p 648.

बैंकिंग आदि। इन पर प्रतिबन्धों और नियन्त्रणों से देश में भ्रष्टाचार के पनपने की सम्भावना रहती है जिससे और अधिक नियन्त्रण लगाना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार भ्रष्टाचार का विषम चक्र फैलता जाता है।

(3) **राष्ट्रीय हितों की बलि**—निश्चित विनिमय दरों को बनाये रखने के लिए आन्तरिक हितों का परित्याग कर दिया जाता है तथा सदैव अन्तर्राष्ट्रीय हितों को प्राथमिकता दी जाती है अपनी मुद्रा की दर को अन्य देशों में विनिमय दर स्थिर रखने के लिए देश को राष्ट्रीय आय, रोजगार, मूल्य स्तर और राष्ट्रीय हितों को गौण मान लिया जाता है।

(4) **विनिमय दरों में आकस्मिक परिवर्तन**—निश्चित विनिमय दर बनाये रखने के प्रयत्नों में जब कोई मुद्रा कमजोर हो जाती है तो उसका अवमूल्यन कर दिया जाता है जिसके फलस्वरूप विनिमय दर आकस्मिक रूप में घट जाती है। इसका विदेशी व्यापार और भुगतान सन्तुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि निश्चित विनिमय दर प्रणाली सब परिस्थितियों में एवं सब देशों के लिए उपयुक्त नहीं है।

लोचपूर्ण विनिमय दरों के पक्ष में तर्क

(1) **मौद्रिक नीति का सफल कार्यान्वयन**—लोचपूर्ण विनिमय दरों के अन्तर्गत किसी देश में अल्पकाल में मौद्रिक नीति को प्रभावशाली ढंग से लागू किया जा सकता है। विनिमय दर में देश की मौद्रिक नीति को प्रभावशाली ढंग से लागू किया जा सकता है। विनिमय दर में देश की मौद्रिक नीति के अनुसार परिवर्तन किये जा सकते हैं और देश में कीमतों में स्थिरता, आय एवं रोजगार में वृद्धि की जा सकती है। इसका देश के आर्थिक विकास पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

(2) **स्वतन्त्र आर्थिक नीति सम्भव**—स्थिर विनिमय दरों के अन्तर्गत, एक देश एक बड़ी सीमा तक विदेशों पर निर्भर हो जाता है एवं देश के लिए स्वतन्त्र आर्थिक नीति नहीं अपना पाता। किन्तु अस्थिर विनिमय दरों में वह अन्य देशों के हितों की अवहेलना कर अपने देश के लिए स्वतन्त्र आर्थिक नीति अपना सकता है एवं अपने देश की प्रतिष्ठा बनाये रख सकता है।

(3) **अधिमूल्यन या अवमूल्यन सम्भव**—देश में आर्थिक उच्चावचन के फलस्वरूप कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ आती है कि देश की मुद्रा का अवमूल्यन (Devaluation) अथवा अधिमूल्यन (Over-Valuation) करना पड़ता है। जब विदेशी मुद्रा की तुलना में, देश की मुद्रा का मूल्य घटा दिया जाता है तो इसे अवमूल्यन कहते हैं और जब विदेशी मुद्रा की तुलना में देश की मुद्रा का मूल्य बढ़ा दिया जाता है तो इसे अधिमूल्यन कहते हैं। लोचपूर्ण विनिमय दरों में अवमूल्यन तथा अधिमूल्यन करना होता है जबकि स्थिर विनिमय दरों में इसमें काफी कठिनाई होती है।

(4) **आर्थिक स्थिति की सूचक**—लोचपूर्ण विनिमय दरें, देश की वास्तविक आर्थिक प्रगति की सूचक हैं। यदि आर्थिक स्थिति में स्थिरता रहती है तो विनिमय दर में स्थिरता बनी रहती है और यदि आर्थिक स्थिति अस्थिर रहती है तो विनिमय दर में भी अस्थिरता आ जाती है। इस प्रकार देश की विनिमय-दर आर्थिक स्थिति की सूचक है। इसके साथ ही, लोचपूर्ण विनिमय दरों की यह विशेषता होती है कि वह घूम-फिर कर साम्य बिन्दु पर आ जाती है।

(5) **भुगतान सन्तुलन में सुधार**—भुगतान-शेष (Balance of Payment) में सन्तुलन स्थापित करना विनिमय दर का कार्य है तथा विनिमय दर में उसी समय वांछनीय परिवर्तन किये जा सकते हैं जबकि विनिमय दरें लोचपूर्ण हों। अतः भुगतान शेष में सन्तुलन तभी स्थापित किया जा सकता है जब विदेशी विनिमय दर में आवश्यकतानुसार परिवर्तन होते रहें।

लोचपूर्ण विनिमय दरों के विपक्ष में तर्क

(1) **साधनों की बर्बादी**—विनिमय दरों में बारम्बार परिवर्तन होने से निर्यात और

आयात-प्रतियोगी उद्योगों में तुलनात्मक रूप से होने वाले लाभ में परिवर्तन होता रहता है जिससे इन उद्योगों में ससाधनों का हस्तान्तरण होता रहता है फलस्वरूप साधनों की बर्बादी होती है। स्थिर विनिमय दरों के अन्तर्गत भुगतान सन्तुलन में होने वाले अल्प परिवर्तनों को मौद्रिक रिजर्व में परिवर्तन करके ठीक किया जा सकता है तथा उसकी लागत अधिक नहीं होती है। इस प्रकार विनिमय दरों में होने वाले बार-बार परिवर्तनों से बचा जा सकता है।

(2) भुगतान-शेष में सन्तुलन के लिये अनुकूल नहीं—भुगतान-शेष में सन्तुलन बनाये रखने के लिए, लोचपूर्ण विनिमय दरों पर निर्भर नहीं रहा जा सकता। यदि विनिमय दर में एक दिशा में परिवर्तन होता है तो यह अनुमान लगा लिया जाता है कि उसी दिशा में आगे भी परिवर्तन होगा। इसमें सट्टे की क्रियाओं को प्रोत्साहन मिलता है जिससे भुगतान शेष में सन्तुलन तो दूर, उल्टे असन्तुलन पैदा हो जाता है तथा समस्या और उलझ जाती है।

(3) व्यापार शर्तों पर प्रतिकूल प्रभाव—लोचपूर्ण विनिमय दरों के अन्तर्गत बहुत देश व्यापार और विनिमय नियन्त्रण के माध्यम से अपनी विनिमय दर को उस बिन्दु से ऊँचा रखने का प्रयत्न करते हैं जो स्वतन्त्र बाजार में प्रचलित होती। इसका उन देशों की व्यापार की शर्तों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है क्योंकि निर्यात हतोत्साहित होते हैं। अतः लोचपूर्ण विनिमय दरों से जो लाभ होता है, उसकी तुलना में प्रतिकूल व्यापार की शर्तों से हानि अधिक होती है।

(4) विकासशील देशों के लिए अनुपयुक्त—अर्द्धविकसित देशों को विकसित देशों से कच्चा माल, पूँजीगत वस्तुएँ तकनीकी ज्ञान आदि को आयात करने के लिए भारी मात्रा में विदेशी विनिमय की आवश्यकता होती है जबकि उनके पास इसकी भारी कमी होती है अतः उनके लिए यह आवश्यक है कि विदेशी विनिमय दर में स्थिरता रहे और अस्थिर विनिमय दरें उनके हितों के अनुकूल नहीं होती।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि निश्चित और लोचपूर्ण विनिमय दरों—दोनों में कुछ गुण और दोष हैं। सर्वोत्तम विनिमय दर वह होगी जिसमें दोनों के गुण हों। ऐसी विनिमय दर एक बिन्दु पर स्थायी रखकर प्राप्त की जा सकती है। जब देश के भुगतान सन्तुलन में परिवर्तन हो तो विनिमय दर में भी परिवर्तन करके भुगतान शेष की प्रतिकूल स्थिति को दूर कर दिया जाय। प्रो. हाम (Halm) ने इस दर को तटस्थ दर (Neutral Rate) कहा है तथा प्रो. नर्क्स ने इसका समर्थन किया है।

अन्तर्पणन अथवा मूल्यान्तर की क्रियाएँ

जब एक बाजार से मुद्रा खरीदकर साथ ही उसे दूसरे बाजार में बेच दिया जाता है ताकि दोनों बाजारों में विनिमय दरों की भिन्नता के कारण लाभ उठाया जा सके तो इसे मूल्यान्तर की क्रियाएँ कहते हैं। मुद्रा जिस बाजार में सस्ती होती है, वहाँ से उसे खरीदकर तुरन्त उस बाजार में बेचा जाता है जहाँ वह महँगी होती है। विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय के सौदे व्यापारिक बैंकों द्वारा उनके विदेशी प्रतिनिधियों के माध्यम से किये जाते है। यदि मूल्यान्तर के सौदे केवल दो बाजारों तक सीमित होते हैं तो उन्हें दो बिन्दु मूल्यान्तर या अन्तर्पणन (Two Point Arbitrage) कहते है तथा अनेक बाजारों तक विस्तृत होने पर इन्हें बहु-बिन्दु मूल्यान्तर (Multi-Point Arbitrage) कहते हैं। इन क्रियाओं में समय का बड़ा महत्व है क्योंकि समय बीतते ही विनिमय दरों में परिवर्तन हो जाता है।

एक उदाहरण से मूल्यान्तर स्पष्ट हो जायगा। मानलो डालर और पौंड की अधिकृत विनिमय दर £ 1 = $2 40 है। यदि न्यूयार्क (अमरीका) में पौंड की माँग बढ़ जाने या कुछ अन्य कारणों से, विनिमय दर 1 पौंड = 2 50 डालर हो जाती है जबकि लन्दन में विनिमय 1 पौंड = 2·40 डालर ही रहती है। इस तरह न्यूयार्क और लन्दन में पौण्ड और डालर की विनिमय

मिला है तो यह 4 लाख प्रारम्भिक रोजगार (Primary Employment) होगा। किन्तु कुल रोजगार में केवल 4 लाख की ही वृद्धि नहीं होगी। जब ये 4 लाख व्यक्ति उपभोग वस्तुओं पर व्यय करेंगे तो उपभोग वस्तुओं के उद्योगों को प्रोत्साहन मिलेगा वहाँ और लोगों को रोजगार मिलेगा जिसे हम द्वितीयक रोजगार (Secondary Employment) कहेंगे। यदि हम मानलें कि यह द्वितीयक रोजगार 8 लाख है तो कुल रोजगार 12 लाख हो जायगा। अब यदि हम कुल रोजगार को प्रारम्भिक रोजगार से विभाजित कर दें तो रोजगार गुणक ज्ञात किया जा सकता है जो 3 होगा। इसे निम्न सूत्र से व्यक्त किया जा सकता है

$$K' = \frac{\Delta N}{\Delta N'}$$

इसमें K' = रोजगार गुणक

ΔN = कुल रोजगार की वृद्धि

$\Delta N'$ = प्राथमिक अथवा प्रारम्भिक रोजगार की वृद्धि

विदेशी व्यापार गुणक
(FOREIGN TRADE MULTIPLIER)

अभी हमने विनियोग गुणक और रोजगार गुणक का अध्ययन किया है जिसका अध्ययन एक बन्द अर्थव्यवस्था (Closed Economic) की दृष्टि से किया गया है अर्थात् इसमें हमने आयात और निर्यातों के प्रभावों की उपेक्षा की है। किन्तु किसी भी राष्ट्र की अर्थव्यवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार निर्यात-आयात का महत्वपूर्ण स्थान होता है तथा ऐसे व्यापार करने वाले देश की अर्थव्यवस्था को खुली अर्थव्यवस्था (Open Economy) कहते हैं। पिछले अध्यायों में हम देख चुके हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का राष्ट्रीय व्यापार पर काफी प्रभाव पड़ता है। अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि एक खुली अर्थव्यवस्था में शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन और वास्तविक राष्ट्रीय आय एक दूसरे के बराबर नहीं होते। यदि देश के लिए व्यापार शर्तें अनुकूल हैं तो शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन की तुलना में वास्तविक राष्ट्रीय आय अधिक होगी क्योंकि निर्यातों के मूल्य आधिक्य से राष्ट्रीय आय बढ़ती है। यह एक सामान्य बात है कि राष्ट्रीय आय की गणना करते समय, उसमें विदेशों से होने वाली आय को भी शामिल किया जाता है। यदि व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हैं तो वास्तविक राष्ट्रीय आय शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन से कम होगी।

जब किसी देश के निर्यात में वृद्धि होती है तो उस देश के निर्यात उद्योगों में लगे श्रमिकों की आय में वृद्धि होती है। इस बढ़ी हुई आय को देश में ही उपभोक्ता वस्तुओं पर व्यय करते हैं जिससे उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योगों का विस्तार होता है तथा वहाँ लोगों को रोजगार मिलता है तथा उनकी आय बढ़ती है। इस प्रकार प्रारम्भ में निर्यात वृद्धि के कारण आय में जो वृद्धि हुई थी अन्त में आय में उससे अधिक वृद्धि होती है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय आय में कुल वृद्धि, निर्यात में होने वाली वृद्धि से बहुत अधिक होती है जो विदेशी व्यापार गुणक के कारण ही सम्भव होती है। अब हम विदेशी व्यापार गुणक की परिभाषा दे सकते हैं—"विदेशी व्यापार गुणक यह बताता है कि निर्यात में वृद्धि के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय में कितनी गुनी वृद्धि होती है। इसे निर्यात गुणक भी कहते हैं। सूत्र रूप में इसे निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :

$$K_{f} = \frac{\Delta Y}{\Delta X}$$

जिसमें Kf = विदेशी व्यापार गुणक

ΔY=कुल आय में होने वाली वृद्धि

ΔX=निर्यात में होने वाली वृद्धि

अब हम विस्तार से विदेशी व्यापार गुणक पर विचार करेंगे क्योंकि अभी सरल रूप में समझने के लिए हमने केवल निर्यात-वृद्धि को ही लिया है किन्तु आयातों को भी दृष्टि में रखते हुए इस पर समग्र रूप से विचार करना होगा।

आयात फलन और निर्यात फलन
(IMPORT FUNCTION AND EXPORT FUNCTION)

किसी भी राष्ट्र की आय पर विदेशी व्यापार के प्रभाव का अध्ययन करते समय हमें दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है निर्यात एवं आयात। राष्ट्र की आय को प्रभावित करने में निर्यात और आयात का जो कार्य होता है, उसे क्रमशः निर्यात-फलन और आयात-फलन कहते हैं जो इस प्रकार है—

(i) निर्यात फलन—इसके अन्तर्गत हम इस बात का अध्ययन करते है कि राष्ट्रीय आय पर निर्यातों का क्या प्रभाव पड़ता है ? यदि व्यापार की वृत्ति अनुकूल रहे तो निर्यातों में होने वाली वृद्धि से देश की राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है। कई विकसित राष्ट्रों का विदेशी व्यापार का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि निर्यातों के कारण उन देशों की राष्ट्रीय आय में काफी वृद्धि हुई है। यदि हम राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप में देखें तो ज्ञात होता है कि देश के आयात और निर्यात की मात्रा में विपरीत सम्बन्ध होता है अर्थात बड़े देश राष्ट्रीय आय के कम प्रतिशत का निर्यात करते हैं तथा छोटे देश अधिक प्रतिशत का निर्यात करते हैं। इसका कारण यह है कि बड़े देश अपनी आवश्यकता की बहुत-सी वस्तुओं का उत्पादन स्वयं कर लेते हैं जिससे उनकी विदेशी आयातों पर निर्भरता कम हो जाती है जिसकी पूर्ति के लिए उन्हें कम मात्रा में निर्यात करना होता है।

निर्यातों का राष्ट्रीय आय पर क्या प्रभाव होता है इसका अध्ययन विदेशी व्यापार गुणक की सहायता से किया जा सकता है।

(ii) आयात-फलन—इसके अन्तर्गत हम इस बात का अध्ययन करते हैं कि आयातों का राष्ट्रीय आय पर क्या प्रभाव पड़ता है। राष्ट्रीय आय (Y), उपभोग (C) और विनियोग (I) पर निर्भर रहती है ($Y=C+I$) अतः कहा जा सकता है कि आयात के फलस्वरूप यदि विनियोग अथवा उपभोग में वृद्धि होती है तो राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो जायगी। विदेशी व्यापार की स्थिति में विनियोग या तो देश में ही किया जा सकता है अथवा विदेशों में किया जा सकता है। विदेशियों द्वारा भी देश में विनियोग किया जा सकता है। उपभोग में वृद्धि के फलस्वरूप या तो देश में उपभोग बढ़ सकता है अथवा निर्यातों में वृद्धि हो सकती है।

सीमान्त आयात प्रवृत्ति और औसत आयात प्रवृत्ति
(MARGINAL PROPENSITY TO IMPORT & AVERAGE PROPENSITY TO IMPORT)

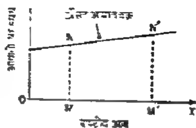
राष्ट्रीय आय पर आयातों के प्रभाव को जानने के लिए हमें सीमान्त और औसत आयात प्रवृत्ति को जान लेना जरूरी है।

सीमान्त आयात प्रवृत्ति—यदि आयात में होने वाली वृद्धि को आय में होने वाली वृद्धि से विभाजित कर दिया जाय तो हम सीमान्त आयात प्रवृत्ति जान सकते है। निम्न सूत्र इसे व्यक्त करता है—

$$MPM=\frac{\Delta M}{\Delta Y}$$

सामान्य रूप से सीमान्त आयात प्रवृत्ति में वृद्धि के साथ औसत आयात प्रवृत्ति भी बढ़ती है तथा राष्ट्रीय आय में वृद्धि के फलस्वरूप दोनों में ही वृद्धि होती है। संलग्न रेखाचित्र से स्पष्ट है।

संलग्न रेखाचित्र 19·2 से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है जब राष्ट्रीय आय OM है आयात MN है तथा जब आय बढ़कर OM' हो जाती है तो आयात भी बढ़कर M'N' हो जाता है। औसत आयात दर इसे व्यक्त करता है।



चित्र 19 2

आयात में परिवर्तन का प्रभाव—यदि देश में बचत एवं विनियोग तुल्य की स्थिति में हो तो केवल निर्यात ही राष्ट्रीय आय में परिवर्तन नहीं करते वरन आयातों में होने वाले परिवर्तन भी राष्ट्रीय आय को प्रभावित करते हैं यदि निर्यात के स्तर में कोई परिवर्तन न भी हो तो आयात में होने वाले परिवर्तन राष्ट्रीय आय में परिवर्तन कर देते हैं। नीचे रेखाचित्र से यह स्पष्ट है।

चित्र 19 3

संलग्न रेखाचित्र 19 3 में प्रारम्भिक सन्तुलन राष्ट्रीय आय के OY बिन्दु पर है। यदि निर्यात-स्तर स्थिर रहे तथा आयात में कमी हो जाती है तो आयात रेखा दायीं ओर हट जाती है जैसा कि उपरोक्त चित्र में M(Y) रेखा दायीं ओर हट कर $M_1(Y)$ हो जाती है इस स्थिति में निर्यात और आयात का साम्य जो पहले E बिन्दु पर था, अब हटकर E_1 पर हो जाता है एवं साम्य का आय स्तर बढ़कर OY से OY_1 हो जाता है इसके विपरीत आयात में वृद्धि होने से आयात रेखा बायीं ओर हट जाती है जिसका अर्थ है कि आय के प्रत्येक स्तर पर पहले की अपेक्षा अधिक आयात होगा अर्थात आयात में कमी से राष्ट्रीय आय में वृद्धि एवं आयात में वृद्धि से राष्ट्रीय आय में कमी हो जाती है। रेखाचित्र में PK रेखा स्थिर निर्यात को व्यक्त करती है।

रेखाचित्र में यह भी स्पष्ट है कि आयात में ΔM की कमी से राष्ट्रीय आय में ΔY के बराबर वृद्धि होती है अतः विदेशी व्यापार गुणक को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

$$Kf = \frac{\Delta Y}{\Delta M}$$

जिसमें Kf = विदेशी व्यापार गुणक

ΔY = राष्ट्रीय आय में परिवर्तन

ΔM = आयात में परिवर्तन

उपरोक्त गुणक का विवेचन इस मान्यता पर आधारित है कि बचत और विनियोग तुल्य

होते है तथा आयात-निर्यात में सन्तुलन होता है किन्तु व्यावहारिक जगत मे मान्यताएँ सत्य नही होती अतः अब हम गुणक का विवेचन आयात और विनियोग को धनात्मक मानते हुए करेंगे ।

धनात्मक विनियोग और बचत के संन्दर्भ में विदेशी व्यापार गुणक

राष्ट्रीय आय मे परिवर्तन के साथ ही उसका बचत और विनियोग पर भी प्रभाव पड़ता है । आय मे सन्तुलन के लिए यह आवश्यक है कि बचत और विनियोग मे समानता हो तथा आयात और निर्यात मे भी समानता हो अर्थात $S=I$ एवं $M=X$ ($M=$आयात तथा $X=$ निर्यात)

स्पष्ट किया जा चुका है कि विनियोग या तो घरेलू अर्थात देश के नागरिकों द्वारा किया जा सकता है अथवा विदेशियों द्वारा (Foreign Investment) किया जा सकता है। इस दृष्टि से बचत और विनियोग का निम्न सूत्र होगा ।

$$S=ID+If \quad ...(A)$$

जिसमे $S=$बचत, $ID=$घरेलू विनियोग तथा $If=$विदेशी विनियोग ।

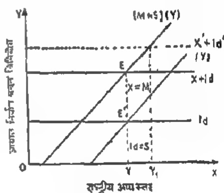
यदि विदेशी विनियोग को वस्तु और सेवाओ के निर्यात एवं आयात का अन्तर मान लिया जाय तो उपरोक्त सूत्र निम्न प्रकार लिखा जायगा .

$$S=Id+X-M \quad ....(B)$$

अथवा

$$S+M=Id+X \quad ....(C)$$

उपरोक्त (C) समीकरण यह स्पष्ट करता है कि एक खुली अर्थव्यवस्था मे सन्तुलन किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है अर्थात सन्तुलन के लिए बचत आयात का योग घरेलू विनियोग तथा निर्यात के योग के बराबर होना चाहिए । सलग्न रेखाचित्र से यह स्पष्ट है ।



चित्र 19.4

सलग्न रेखाचित्र 19.4 इस मान्यता पर आधारित है कि निर्यात एवं विनियोग का आय से कोई सम्बन्ध नही है किन्तु आयात एवं बचत दोनो आय के स्तर पर आधारित हैं । समीकरण (C) के अनुसार साम्य आय की पूर्ति तभी पूरी होती है जब बचत तथा आयात का योग विनियोग तथा निर्यात मे योग के बराबर होता हो । उपरोक्त रेखाचित्र 19.4 मे यह शर्त आय के OY स्तर पर पूरी होती है जहाँ आयात और निर्यात मे समानता के साथ ही साथ बचत और विनियोग मे भी समानता है । इस चित्र मे E बिन्दु पर $M+S=Id+X$ है तथा E' बिन्दु पर बचत और विनियोग बराबर है ($S=Id$) चित्र से यह भी स्पष्ट है कि E' तथा E के बीच राष्ट्रीय आय का स्तर वही है क्योंकि E' बिन्दु पर बचत और विनियोग बराबर है किन्तु यदि विनियोग के साथ निर्यात को मिला दिया जाय और निर्यात के बराबर आयात को मानते हुए इसमे बचत को जोड दिया जाय तो साम्य E बिन्दु पर परिवर्तित होने पर भी सन्तुलन आय का स्तर वही होगा ।

अब यदि विनियोग अथवा निर्यात या इन दोनों मे वृद्धि होती है जिससे विनियोग और निर्यात की रेखा $X+Id$ से बढ़कर $X'+Id'$ हो जाती है तो चित्र मे स्पष्ट है कि साम्य का स्तर राष्ट्रीय आय OY से बढ़कर OY_1 पर हो जायगा तथा $X+Id$ मे हुई आय की वृद्धि की अपेक्षा

$X'+Id'$ पर आय की वृद्धि अधिक है । इस प्रकार गुणक प्रभाव के कारण निर्यात अथवा विनि- योग अथवा दोनो के स्तर मे परिवर्तन की तुलना मे आय मे अधिक परिवर्तन होता है जो सूत्र से स्पष्ट है—

$$\triangle Y = kf.\ \triangle (X+Id) \qquad ....(i)$$

विदेशी व्यापार गुणक (kf) की उत्पत्ति जानने हेतु निम्न विधि का प्रयोग किया जाता है—

चूंकि $S+M=Id+X$

तथा $\triangle S+\triangle M=\triangle X$ (विनियोग M को स्थिर मान लिया गया है)

अब दोनो ओर $\triangle Y$ का भाग देने पर

$$\frac{\triangle S+\triangle M}{\triangle Y}=\frac{\triangle X}{\triangle Y} \qquad ....(ii)$$

चूंकि विदेशी व्यापार गुणक $=\frac{\triangle X}{\triangle Y}$ तो उपरोक्त समीकरण (ii) को निम्न रूप मे लिखा जा सकता है :

$$\frac{\triangle S+\triangle M}{\triangle Y}=\frac{1}{kf} \qquad ....(iii)$$

अथवा

$$kf=\frac{\triangle Y}{\triangle S+\triangle M} \qquad ....(iv)$$

उपरोक्त समीकरण (iv) को निम्न रूप मे भी रख सकते है .

$$kf=\frac{1}{\frac{\triangle S}{\triangle Y}+\frac{\triangle M}{\triangle Y}}$$

किन्तु $\frac{\triangle S}{\triangle Y}=MPS$ (समस्त बचत प्रवृत्ति) तथा $\frac{\triangle M}{\triangle Y}$ (समस्त आयात प्रवृत्ति) है

अत $$kf=\frac{1}{MPS+MPM} \qquad ...(v)$$

अर्थात बचत और विनियोग धनात्मक होने पर विदेशी व्यापार गुणक MPS और MPS के योग का विलोम होता है ।

रेखाचित्र 19 4 मे $X+Id$ जब बढकर $X'+Id'$ हो जाता है तो आय Y से बढकर Y_2 हो जाती है जो निर्यात की वृद्धि एव विदेशी व्यापार गुणाक के गुणनफल के समान है । किसी भी अर्थव्यवस्था मे विदेशी व्यापार गुणक उस समय काफी प्रभावपूर्ण होता है जब विदेशी व्यापार का तुलनात्मक रूप मे अधिक महत्व होता है । जिस देश मे विदेशी व्यापार नगण्य होता है वहाँ विदेशी व्यापार गुणक का कोई महत्व नही होता ।

आयात-निर्यात के परिवर्तनों का प्रभाव—किसी देश के आयात और निर्यात का प्रभाव केवल उसी देश की राष्ट्रीय आय पर नही पडता है जिनसे कि इस देश के व्यापारिक सम्बन्ध होते हैं । इन्हे प्रति निर्यात प्रभाव (Back wash Effects) कहते हैं । इन परिवर्तनों के कारण किसी

देश का भुगतान सन्तुलन अपरिवर्तित नहीं रह सकता क्योंकि अन्य देशों में होने वाले आयात और निर्यात के परिवर्तन इस देश के व्यापार को प्रभावित कर उसके भुगतान सन्तुलन में परिवर्तन कर देते हैं अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि एक देश की राष्ट्रीय आय दूसरे देश की राष्ट्रीय आय का फलन है। सूत्र रूप में—

$$Yb = F\ (Ya)$$

जहाँ Yb = देश B की राष्ट्रीय आय

Ya = देश A की राष्ट्रीय आय

f = फलन

उपरोक्त सूत्र का आशय यह है कि A और B दोनों देशों की राष्ट्रीय आय पारस्परिक रूप में प्रभावित होती है। एक देश को विदेशी व्यापार की नीति का निर्धारण करते समय इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि उसका अन्य देशों की राष्ट्रीय आय पर क्या प्रभाव होगा। जैसे यदि विकसित देश, अर्द्धविकसित देशों का अपने निर्यात बढ़ाना चाहें तो उन्हें इन देशों की प्रति व्यक्ति आय पर ध्यान देना होगा अन्यथा अर्द्धविकसित देशों की आष्ट्रीय आय के स्तर पर पड़ने वाले प्रतिकूल प्रभाव विकसित देशों की राष्ट्रीय आय को भी प्रभावित करेंगे।

जितना बड़ा देश होगा उसके अति निर्यात प्रभाव भी उतने ही अधिक होंगे। जैसे यदि अमेरिका की आय बढ़ जाय तो अन्य देशों से इसके आयात बढ़ जायेंगे जिससे अन्य देशों की मौद्रिक आय बढ़ेगी तथा उनके अमेरिका से होने वाले आयात बढ़ जायेंगे। ये परिवर्तन किस सीमा तक होंगे, यह इस बात पर निर्भर रहेगा कि अमेरिका और अन्य देशों में सीमान्त बचत प्रवृत्ति और सीमान्त आयात प्रवृत्ति का क्या मूल्य है?

निष्कर्ष—विदेशी व्यापार गुणक के उपरोक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि अब प्रतिष्ठित विचारधारा की डेविड ह्यूम की मान्यता समाप्त हो चुकी है कि सदैव पूर्ण रोजगार की स्थिति, अर्थव्यवस्था में विद्यमान रहती है एवं विदेशी व्यापार, उत्पादन सम्भावना वक्र को न तो उसके बाहर ले जाता है और न ही भीतर। अब सब यह स्वीकार करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का देश के उपभोग, विनियोग एवं राजकीय विनियोग $(C+I+G)$ पर अर्थात् सामूहिक रूप में राष्ट्रीय आय पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार घरेलू विनियोग का देश के उत्पादन और रोजगार पर प्रसरण प्रभाव (Expansionary effect) होता है, उसी प्रकार अतिरिक्त निर्यात और विदेशी विनियोग का भी देश के उत्पादन, रोजगार और आय पर प्रसरण-प्रभाव होता है। विदेशी व्यापार का उत्पादन और आय पर वही गुणक प्रभाव होता है जो कि घरेलू विनियोग का होता है। विदेशी व्यापार में प्रत्यक्ष रूप से देश में आय बढ़ती है और उससे व्यय एवं पुनः व्यय की शृंखला शुरू हो जाती है जो अन्त में जाकर राष्ट्रीय आय में कई गुनी वृद्धि कर देती है। यही विदेशी व्यापार गुणक है।

विदेशी व्यापार गुणक में सावधानियाँ—विदेशी व्यापार गुणक को ज्ञात करने के लिए हमें निम्न सावधानियों को ध्यान में रखना चाहिए—

1. गुणक को ज्ञात करने के लिए हमने बचत और विनियोग को पूर्ण रूप में आय पर निर्भर माना है तथा यह माना है कि आय में वृद्धि के साथ उनमें भी उसी अनुपात में वृद्धि होती है पर यह मान्यता वास्तविक नहीं है।

2. आयात-प्रवृत्तियों में भी समय के साथ परिवर्तन होता है जिस पर ध्यान देना आवश्यक है।

3. सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति और सीमान्त बचत प्रवृत्ति में परिवर्तन कई कारणों से होता रहता है अतः इसका प्रयोग सावधानी से करना चाहिए।

गुणक प्रभाव में रिसाव
(LEAKAGE IN MULTIPALIER EFFECT)

रिसाव का अर्थ है कि विदेशी व्यापार से जो आय प्राप्त होती है उसका पूर्ण प्रभाव राष्ट्रीय आय की वृद्धि पर नहीं होता तथा उसमें से बीच में ही कुछ ऐसे रिसाव होते हैं जो विदेशी व्यापार के गुणक प्रभाव को कम कर देते हैं। ये रिसाव निम्न प्रकार हैं

(1) यदि निर्यातों से होने वाली आय के कुछ अंश को आयातों पर व्यय कर दिया जाय तो इससे देश में आय की वृद्धि उतनी मात्रा में सीमित हो जाती है क्योंकि आय का एक अंश विदेशी वस्तुओं के उपभोग पर व्यय कर दिया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक स्तर पर आयात विदेशी व्यापार गुणक में उसी प्रकार रिसाव का कार्य करते हैं जिस प्रकार विनियोग गुणक में सीमान्त बचत प्रवृत्ति में होने वाली वृद्धि।

(2) घरेलू बचत में होने वाली वृद्धि भी रिसाव का कार्य करती है। निर्यात से आय में होने वाली वृद्धि को पूर्ण रूप से उपभोग पर व्यय नहीं किया जाता जिससे गुणक प्रभाव सीमित हो जाता है। सेमुअलसन के अनुसार "जब तक प्रत्येक अवस्था में आय का कुछ न कुछ अंश घरेलू बचत के रूप में रिस जाता है, निर्यातों में नये डालर से आय तो बढ़ेगी पर उतनी अधिक नहीं कि पूरे एक डालर के बराबर आयात किया जा सके।"[1] अर्थात् नये डालर का कुछ अंश घरेलू बचत के रूप में निकल जाता है।

(3) मूल्य वृद्धि अथवा स्फीति के कारण भी गुणक में रिसाव हो जाता है। कीमतों में वृद्धि के कारण आय-वृद्धि का एक अंश बेकार हो जाता है तथा उससे उपभोग, आय और रोजगार में वृद्धि नहीं होती।

(4) यदि विदेशी व्यापार गुणक विश्लेषण को एक छोटे क्षेत्र अथवा छोटे देश पर लागू किया जाय, तो उस क्षेत्र पर गुणक के द्वितीयक प्रभाव नगण्य होते हैं क्योंकि अधिकांश आय का दूसरे क्षेत्रों में रिसाव हो जाता है।

विदेशी व्यापार गुणक का महत्व—जिस प्रकार देश में विनियोग गुणक का आय और रोजगार वृद्धि के लिए महत्व है, उसी प्रकार देश में आय बढ़ाने में विदेशी व्यापार गुणक की धारणा भी महत्वपूर्ण है। महत्वपूर्ण आधुनिक अर्थशास्त्रियों जैसे प्रो॰ सेमुअलसन, प्रो॰ हैरड और प्रो॰ हैन्सन ने इसका समर्थन किया है। निम्न बिन्दुओं से इसका महत्व स्पष्ट हो जाता है :

(1) विदेशी व्यापार गुणक के कारण ही एक देश का प्रभाव अन्य देशों की अर्थव्यवस्था पर पड़ता है तथा उक्त देश स्वयं भी प्रभावित होता है। यदि एक देश में तेजी की स्थिति आती है तो वह अन्य देशों में भी पहुँच जाती है तथा इसी प्रकार मन्दी की स्थिति भी पहुँच जाती है। तेजी से निर्यात में वृद्धि होती है तथा उसका गुणक प्रभाव अर्थव्यवस्था पर पड़ता है। आय बढ़ने से आयातों में भी वृद्धि होती है जिससे दूसरे देश के निर्यात प्रोत्साहित होते हैं तथा वहाँ भी गुणक क्रियाशील हो जाता है।

(2) यदि आयात की तुलना में निर्यात अधिक हों तथा गुणक का प्रभाव धनात्मक होता है। किन्तु जब निर्यात और आयात बराबर हों तो गुणक का प्रभाव तटस्थ हो जाता है अर्थात् कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु जब निर्यातों की तुलना में आयात अधिक होते हैं और यह क्रम लम्बे समय तक चलता है तो इसका ऋणात्मक प्रभाव गुणक पर पड़ता है अर्थात् गुणक विपरीत दिशा में कार्य करने लगता है और रोजगार तथा आय में कई गुनी कमी हो जाती है। इसे गुणक की विपरीत क्रियाशीलता (Reverse working of the multiplier) कहते हैं।

1. Samuelson Economics p 665.

(3) देश में राष्ट्रीय आय को बढ़ाने में गुणक की धारणा बहुत महत्वपूर्ण है। यह उस समय और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है जब देश में बेरोजगारी हो और आन्तरिक अथवा घरेलू उत्पादन में उत्पादन क्षमता का पूर्ण विकास न हुआ हो। ऐसी स्थिति में यह निर्यात उद्योगों का विस्तार कर अधिक निर्यात किया जा सके तो विदेशी व्यापार गुणक का लाभ उठाया जा सकता है।

(4) गुणक यह भी बताता है यदि आयातों की तुलना में निर्यात अधिक हों तो उसका स्फीतिक प्रभाव होता है किन्तु जब निर्यातों और आयातों दोनों में कमी होती है तथा निर्यात में कमी आयातों की कमी की तुलना में धीमी गति से होती है तो भी इस स्थिति का स्फीतिक प्रभाव हो सकता है एवं गुणक क्रियाशील होता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विदेशी व्यापार के गुणक प्रभाव किसी भी अर्थव्यवस्था के लिए काफी महत्वपूर्ण हैं।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. विदेशी व्यापार गुणक को स्पष्ट कीजिये। राष्ट्रीय आय को यह किस प्रकार प्रभावित करता है?
2. एक देश के विनियोग गुणक और विदेशी-व्यापार गुणक के अन्तर को स्पष्ट कीजिये। व्यापार गुणक का महत्व भी समझाइये?
3. व्यापार गुणक के निर्धारण में निर्यात और आयात में होने वाले परिवर्तनों का क्या महत्व है, उदाहरण सहित समझाइये?

Selected Readings

1. Samuelson — *Economics*
2. Agrawal & Berla — *Antarrashtriya Aatha Shastra*
3 Kindle Berger : *International Economics*
4. Machleep — *Inetronotional Trade & National Income Multiplier.*

अध्याय 20

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं आर्थिक विकास

[INTERNATIONAL TRADE AND ECONOMIC DEVELOPMENT]

परिचय

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के अब तक के विभिन्न पहलुओं के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और आर्थिक विकास में घनिष्ट सम्बन्ध है। सम्बन्ध में जब हम आर्थिक विकास का अध्ययन करते हैं तो यह स्वाभाविक है कि हमारा ध्यान अर्द्धविकसित देशों की ओर जाता है क्योंकि वहीं आर्थिक विकास की समस्या सबसे महत्त्वपूर्ण है। अर्द्धविकसित देश कुछ ऐसी समस्याओं से घिरे हैं कि वे निर्धनता के कुचक्र से बाहर नहीं निकल पा रहे हैं। इसके अतिरिक्त इनके सामने पूँजी की कमी, जनसंख्या का भार, पिछड़ापन, अर्द्धविकास, प्राथमिक उत्पादन की मुख्यता आदि कुछ ऐसी विकट समस्याएँ हैं जिनका निराकरण शीघ्र आवश्यक है। तो इसी सन्दर्भ में प्रश्न उठता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इन देशों की अर्थव्यवस्था को गतिशील बनाने में क्या भूमिका निभाता है?

विचारों की विभिन्नता-ऐतिहासिक विवेचन

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और आर्थिक विकास में क्या सम्बन्ध है इस सम्बन्ध में हमारे सामने दो विचार धाराएं हैं—पहली विचारधारा प्रतिष्ठित और नवप्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की है जिनका विश्वास है कि किसी देश के विकास में विदेशी व्यापार महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकता है। इनके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार केवल उत्पादन को कुशलतम बनाने का ही उपाय नहीं वरन विकास का इन्जन भी है। किसी भी देश के व्यापार की मात्रा एवं संरचना, व्यापार की शर्तें और अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान ये तीनों मिलकर उसके विकास को प्रभावित करते हैं तथा प्रतिष्ठित विचारकों का विश्वास था कि इन तीनों का आर्थिक विकास पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

किन्तु एक दूसरी विचारधारा उक्त विचारधारा का विरोध करती है अर्द्धविकसित देशों के सन्दर्भ में इस मत का प्रतिपादन करती है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का इन देशों के आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव होता है।[1] प्रोफेसर सिंगर ने प्रतिष्ठित विचारधारा की कटु आलोचना की है और विकास के विशिष्ट स्तर के बाद ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का समर्थन किया है। इस विचारधारा के अर्थशास्त्रियों का विश्वास है कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के निष्कर्षों के आधार पर विकास की समस्याओं का विवेचन नहीं किया जा सकता। इनका तो यहाँ तक कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से धनी और निर्धन राष्ट्रों के बीच असमानता की खाई बढ़ती है अतः इनका तर्क है कि निर्धन देशों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का परित्याग कर देश में औद्योगीकरण को प्रोत्साहित करना चाहिए। जिस प्रकार बड़े धक्के का सिद्धान्त (Big Push Theory) और-

---

1 इस विचारधारा के प्रमुख समर्थक प्रो० सिंगर, प्रो० प्रेबिश और प्रो० गुन्नार मिर्डल आदि हैं।

धीरे अनवरत् रूप से विकास करने के सिद्धान्त को समाप्त कर देता है उसी प्रकार घरेलू विनियोग और औद्योगीकरण से होने वाले लाभ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभों के महत्व को गौण बना देते हैं। यहाँ सबसे पहले हम उन बिन्दुओं को स्पष्ट करेंगे जिनके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अर्द्धविकसित देशों के विकास पर अनुकूल प्रभाव होता है। उसके बाद उन तर्कों की विवेचना करेंगे जिनके अनुसार विदेशी व्यापार ने अर्द्धविकसित देशों के आर्थिक विकास में बाधा पहुँचायी है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आर्थिक विकास पर अनुकूल प्रभाव
(FAVOURABLE IMPACT OF INTERNATIONAL TRADE ON ECONOMIC DEVELOPMENT)

अर्द्धविकसित देशों के आर्थिक विकास में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सहायता पहुँचाती है इसके समर्थन में निम्न तर्क दिये जाते हैं

(1) वास्तविक आय और पूंजी निर्माण में वृद्धि—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अन्तर्गत एक देश उन्हीं वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करता है जिसमें उसे तुलनात्मक लाभ होता है जिसके फलस्वरूप उसकी वास्तविक आय में वृद्धि होती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रभाव यह होता है कि देश में जो उत्पत्ति के साधन तथा उत्पादन तकनीक पहले से निश्चित रहती है उनमें परिवर्तन होकर साधनों का वितरण अनुकूलतम हो जाता है अर्थात् उत्पादन दक्षतापूर्ण ढंग से होने लगता है। वास्तविक आय में होने वाली वृद्धि पूंजी निर्माण में सहायक होती है तथा पूंजी निर्माण आर्थिक विकास को गतिशील बना सकता है।

(2) निर्यात क्षेत्र से होने वाला विकास—किसी भी देश में उत्पत्ति के समस्त क्षेत्रों में एक समान विकास नहीं होता वरन् कुछ क्षेत्र महत्त्वपूर्ण होते हैं जिसमें पहले विकास होता है तथा ये क्षेत्र अन्य उद्योगों को गति प्रदान करते हैं। इस दृष्टि से गति प्रदान करने में (Propulsive) निर्यात क्षेत्र की भूमिका काफी महत्वपूर्ण है जो निम्न तीन तथ्यों से स्पष्ट है :

(i) विदेशों में माँग-वृद्धि के कारण देश की विभिन्न वस्तुओं का बाजार विस्तृत होता है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने स्पष्ट किया था कि केवल देश में विक्रय की तुलना में, कोई उद्योग विदेशों में अपना माल बेचने में सफल होता है तो वह द्रुत गति से उद्योग का विकास कर सकता है। इससे बड़े पैमाने की बचतें प्राप्त होती हैं तथा अन्य उद्योगों पर इसका विकासात्मक प्रभाव पड़ता है।

(ii) निर्यात उद्योगों का विकास देश के भीतर बिना सामाजिक पूंजी का विनियोग किये, किया जा सकता है। उदाहरण के लिए यदि विदेशी व्यापार एवं निर्यात नहीं किया जाता तो देश के भीतर ही बाजार को विकसित करने के लिए पर्याप्त परिवहन एवं वितरण की व्यवस्था आवश्यक है जिसमें काफी मात्रा में विनियोग आवश्यक होता है। किन्तु यदि देश में अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में प्रवेश कर लेता है तो उक्त कठिनाई का सामना किये बिना ही देश वस्तुओं का निर्यात कर लाभ उठा सकता है।

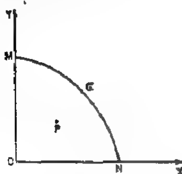
(iii) निर्यातों के कारण कई प्रभावपूर्ण माँग का जन्म होता है जिससे गृह-बाजार की वस्तुओं की माँग बढ़ती है। प्रो० लुईस (Prof. Lewis) का मत है कि उत्पत्ति के साधनों के लिए घरेलू और निर्यात उद्योगों में प्रतियोगिता होती है जिससे देश के अन्य उद्योग भी नव-प्रवर्तन अपनाते हैं। इससे उत्पादन में वृद्धि होती है।

ब्रिटेन के आर्थिक विकास में निर्यातों, विशेषकर सूती वस्त्र उद्योग, का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इससे आय में वृद्धि हुई है जिसका देश के अन्य उद्योगों पर गुणकस्वरूप प्रभाव पड़ा जिससे अन्य उद्योगों का भी विस्तार हुआ तथा राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई। इससे स्पष्ट होता है

कि किसी भी अर्थव्यवस्था में विकास को गतिशील बनाने में निर्यातों में वृद्धि की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जो विदेशी व्यापार के कारण ही सम्भव है।

(3) आयातों से देश का आर्थिक विकास—अर्द्धविकसित देशों को देश में उद्योगों की स्थापना एवं तकनीकी विकास के लिए जिन साधनों की आवश्यकता होती है, वे पर्याप्त मात्रा में इन देशों में उपलब्ध नहीं होते अतः विदेशों से इन्हें आयात किया जाता है। इन आयातों को हम निम्न तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं

(i) विकास-सम्बन्धित आयात (Developmental Imports)—पिछड़े देशों में आय में वृद्धि करने के लिए उत्पादन क्षमता में वृद्धि करना आवश्यक है ताकि ये देश कम से कम अपनी उत्पादन सम्भावना वक्र पर पहुँच सकें। वर्तमान स्थिति यह है कि बहुत से पिछड़े देश अपनी उत्पादन सम्भावना वक्र के भीतर ही उत्पादन करते हैं इसे हम निम्न रेखाचित्र से स्पष्ट कर सकते हैं-



चित्र 20.1

संलग्न रेखाचित्र 20.1 में एक देश की उत्पादन सम्भावना वक्र MN है तथा यदि वह दो वस्तुओं X और Y का उत्पादन कर रहा है तो MN वक्र बताता है कि वह इस वक्र के किसी बिन्दु पर (G) उत्पादन कर सकता है। किन्तु वास्तव में वह उत्पादन सम्भावना वक्र के भीतर P बिन्दु पर ही उत्पादन करता रहता है अर्थात देश के समस्त साधनों का पूर्ण प्रयोग नहीं करता। इसका मुख्य कारण उत्पादन तकनीक का पिछड़ापन है। यदि विदेशों से मशीनों एवं अन्य उपकरणों का आयात किया जाता है तो उत्पादन क्षमता में विस्तार होता है तथा देश न केवल उत्पादन सम्भावना वक्र पर पहुँच सकता है वरन उसमें परिवर्तन कर उसे दायीं ओर विवर्तित भी कर सकता है। जो आयात देश में उत्पादन क्षमता का विस्तार कर, आर्थिक विकास की गति को बढ़ाते हैं उन्हें विकास सम्बन्धी आयात कहते हैं।

(ii) निर्वाह अथवा पारितोषक आयात (Maintenance Imports)—जब अर्द्धविकसित देशों में एक निश्चित उत्पादन क्षमता की स्थापना होती है तो उसका पूर्ण प्रयोग करने के लिए निरन्तर कच्चे माल एवं मध्यवर्ती वस्तुओं की आवश्यकता होती है जो सदैव अर्द्धविकसित देशों में उपलब्ध नहीं हो पाती अतः इनका विदेशों से आयात किया जाता है। ऐसे आयात को जो देश की उत्पादन क्षमता का पूर्ण प्रयोग करने के लिए किये जाते हैं, निर्वाह-आयात कहते हैं। पिछड़े देशों में उत्पादन बढ़ाने के लिए ऐसे आयातों का बहुत महत्त्व है।

(iii) अस्फीतिकारी आयात (Anti-Inflationary Imports)—जब अर्द्धविकसित देशों में मुद्रा-प्रसार के कारण स्फीतिक दबाएँ फैल जाती हैं तो दीर्घकाल में इसका आर्थिक विकास पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। ऐसी स्थिति में देश में वस्तुओं का अभाव हो जाता है एवं अर्थव्यवस्था असन्तुलित हो जाती है। इसे दूर करने के लिए विदेशों से वस्तुओं का आयात किया जाता है जिससे अर्थव्यवस्था में स्थिरता आती है और आर्थिक विकास सम्भव होता है। अतः ऐसे आयातों को अस्फीतिकारी आयात कहते हैं।

अर्द्धविकसित देशों में आयातों की भूमिका स्पष्ट करते हुए प्रो. मिअर और बाल्डविन (Meier and Baldwin) कहते हैं कि "जैसे ही पिछड़े देश विकास करते हैं यहाँ उन्हें विदेशों से पूँजी का आयात करना होता है। जिसका प्रयोग उनके श्रम और कच्चे माल के साथ किया जाता

है। जैसे ही इन देशों में औद्योगीकरण प्रारम्भ होता है तो इनके आयातों में कच्चे माल, अर्ध-निर्मित वस्तुओं, ईंधन आदि की वृद्धि होती है तथा निर्मित उपभोग की वस्तुएँ कम हो जाती हैं। इन देशों में कच्चे माल के आयात में इसलिये वृद्धि होती है क्योंकि औद्योगिक कच्चे माल की माँग बढ़ती है तथा प्राथमिक उत्पादन से द्वितीयक और मध्यवर्ती उत्पादन में साधनों को हस्तान्तरित करने के लिए भी आयातों की आवश्यकता होती है।"[1]

इस प्रकार अर्द्धविकसित देशों को अपना आर्थिक विकास करने के लिए आयात बहुत आवश्यक है जिनमें विकास के साथ ही साथ परिवर्तन होता है।

(4) विदेशी कलाओं की जानकारी से विकास—प्रो. जे. एस. मिल के अनुसार विदेशी व्यापार से निर्धन देशों को लाभ होता है क्योंकि इसके द्वारा उनकी जानकारी विदेशी कलाओं में होती है इसके कारण वे अतिरिक्त पूँजी से अधिक दर पर लाभ उठाने लगते है तथा इस दृष्टि से विदेशी पूंजी का आयात बढ़ाते हैं जिससे उत्पादन में वृद्धि होती है। विदेशी कलाओं की जानकारी अर्द्धविकसित देशों के व्यक्तियों के नवीन विचारों को जागृत करके एवं उनकी परम्परागत आदतों को बदलकर उनमें नवीन इच्छाओं, बड़ी आकांक्षाओं तथा दूरदर्शिता को जन्म देती है।

(5) भुगतान सन्तुलन का आर्थिक विकास पर प्रभाव—भुगतान सन्तुलन की स्थिति आर्थिक विकास और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध को अच्छी तरह व्यक्त करती है। पिछड़े देश प्रारम्भिक स्थिति में निर्यातों की तुलना में आयात अधिक करते हैं तथा उनका विनियोग, बचत की तुलना में अधिक होता है बचत और विनियोग में जो अन्तर होता, है उसकी पूर्ति विदेशी पूँजी से की जाती है, अर्द्धविकसित देश विदेशों से दीर्घकालीन पूँजी उधार लेते है एवं उनका विनियोग बचत से अधिक होता है। विकसित देशों की स्थिति इसके विपरीत होती है। उनकी घरेलू बचत विनियोग से अधिक होती है अतः वे पिछड़े देशों में विनियोग कर अपना विनियोग बढ़ाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी प्रवाह में अन्तरण प्रणाली (*Transfer-mechanism*) की समस्या उपस्थित होती है जिसके अनुसार भुगतान सन्तुलन को अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी प्रवाह के अनुसार समायोजित किया जाता है। प्रारम्भिक स्थिति में जब ये पिछड़े देश ऋण लेते है तो "अतिरेक आयात" (Import surplus) का निर्माण होता है किन्तु जब ये देश विकास कर लेते हैं तो नयी पूँजी के आयातों की तुलना में अधिक मात्रा में ब्याज और मूलधन को वापस करने लगते है। इस प्रकार ये देश निर्यात अतिरेक (Export surplus) का निर्माण करते हैं। ब्रिटेन के उदाहरण से यह बात स्पष्ट है कि उसके द्वारा बड़ी मात्रा में पूँजी उधार लिये जाने पर भी ब्रिटेन एवं अन्य ऋण लेने वाले देशों में भुगतान-शेष सन्तुलन की स्थिति में था। यह इस बात का प्रमाण है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय अधिशेषों (International Balances) में समायोजन था। इसी प्रकार अन्य ऋण लेने वाले अर्द्धविकसित देशों में भी भुगतान-शेष की सन्तुलन स्थिति को प्रोत्साहन मिला।

इस प्रकार विदेशी व्यापार के फलस्वरूप जो बहुपक्षीय भुगतान किये गये उससे भुगतान-शेषों को सन्तुलन की स्थिति प्राप्त करने में प्रोत्साहन मिला। इससे तुलनात्मक लाभ के आधार पर विशिष्टीकरण किया गया। इसमें न केवल विनिमय स्थिरता को बल मिला बल्कि विनिमय दरों में भी समानता आयी। इस प्रकार भुगतान शेष सन्तुलन में लाने के लिए अर्द्धविकसित देशों में निर्यातों को बढ़ाने के लिए प्रयत्न किया जाता है जिससे आर्थिक विकास को प्रोत्साहन मिलता है।

1 Meier and Baldwin, *Op. Cit.* pp. 262-63.

(6) समग्र आर्थिक विकास—प्रो. एच. मिण्ट के अनुसार विदेशी व्यापार गतिशील उत्पादकता के सिद्धान्त पर आधारित है जो श्रम-विभाजन की सम्भावनाओं को बढ़ाता है एवं इसमें मशीनों के प्रयोग को प्रोत्साहन मिलता है और नव-प्रवर्तन का प्रयोग सम्भव होकर गतिशील होता है। इसमें श्रम की उत्पादकता बढ़ती है और व्यापार करने वाले समस्त देशों को अधिकतम लाभ मिलता है। इससे स्पष्ट है कि आर्थिक विकास में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का महत्वपूर्ण योगदान होता है।

(7) पूंजी संचय एवं बचत-क्षमता में वृद्धि—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने विदेशी व्यापार के प्रभाव को स्पष्ट किया है जो देश के साधनों पर पड़ता है। उन्होंने बताया कि विदेशी व्यापार के फलस्वरूप साधनों का कुशलतम ढंग से प्रयोग किया जाता है जिससे फलस्वरूप वास्तविक आय में वृद्धि के साथ बचत करने की क्षमता भी बढ़ती है। विदेशों से व्यापार करके से बाजार का विस्तार होता है और विनियोग प्रोत्साहित होते हैं। प्रो. हिक्स के अनुसार "विदेशी व्यापार करने के लिए, किसी देश को बड़े पैमाने पर उत्पादन करना पड़ता है जिससे उसे पूंजीगहन उन्नत तकनीक से उत्पादन करने से लाभ होने लगता है।"

(8) व्यापार की शर्तों का आर्थिक विकास पर प्रभाव—इसका विस्तृत विवेचन हम "व्यापार की शर्तें" नामक अध्याय में कर चुके हैं अतः यहाँ विस्तार से चर्चा करना आवश्यक नहीं है। यह कहना पर्याप्त है कि अनुकूल व्यापार की शर्तों के फलस्वरूप पिछली शताब्दी में एवं इस शताब्दी में भी औद्योगिक और गैर-औद्योगिक देशों दोनों को लाभ हुआ है। अर्द्धविकसित देशों ने विकसित देशों को आवश्यक कच्चे माल की पूर्ति की है जिससे वहाँ औद्योगीकरण बढ़ा है और इसके बदले औद्योगिक देशों ने अर्द्धविकसित देशों को उपयोग और पूँजीगत वस्तुएँ प्रदान की हैं। विकसित देशों की पूंजी एवं तकनीक ने अर्द्धविकसित देशों के आर्थिक विकास में बड़ी सहायता की है। इस प्रकार आयातों और बढ़ती हुई उत्पादन सम्भावनाओं ने प्राथमिक उत्पादन करने वाले देशों में विस्तृत और गहन आर्थिक विकास को प्रोत्साहन दिया है।

(9) प्रो. हैबरलर के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से अर्द्धविकसित देश को निम्न चार गतिशील लाभ प्राप्त होते हैं—

(i) मशीन, पूंजी, कच्चे माल, अर्द्धनिर्मित वस्तुएं तथा अन्य भौतिक साधनों की उपलब्धि

(ii) देश में अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय से पूँजी की प्राप्ति

(iii) तकनीक एवं नवप्रवर्तन के लाभ

(iv) विदेशी प्रतियोगिता से कुशल एवं अधिक उत्पादन

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने विशेष रूप से अर्द्धविकसित देशों के आर्थिक विकास में काफी सहायता पहुँचायी है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने अनेक ऐसे देशों के विकास को आगे बढ़ाने का कार्य किया है जो कि आज संसार के सबसे अधिक समृद्ध देश समझे जाते हैं जैसे ब्रिटेन, स्वीडन, डेनमार्क, कनाडा, आस्ट्रेलिया, एवं स्विटजरलैण्ड इत्यादि।

क्या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अर्द्धविकसित देशों के आर्थिक विकास में बाधक रहा है?

अभी हमने उन तर्कों का अध्ययन किया है जिसके अनुसार विदेशी व्यापार ने अर्द्धविकसित देशों के आर्थिक विकास में सहायता पहुंचायी है। किन्तु प्रश्न का दूसरा पहलू भी है कि कुछ निर्धन देशों में निर्यातों में वृद्धि के बावजूद भी आर्थिक विकास की प्रक्रिया शुरू नहीं हुई है। निर्यात क्षेत्रों का विकास होने पर भी दूसरे क्षेत्रों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और शेष अर्थव्यवस्था उन्नति नहीं कर सकी? कुछ अर्थशास्त्री ऐसे है जो परम्परावादी दृष्टिकोण की कटु आलोचना करते हैं इनमें प्रो. सिंगर, प्रो. मिर्डल और प्रो. प्रेबिश मुख्य हैं। ये आलोचक प्रतिष्ठित तर्कों को दो कारणों से गलत मानते हैं पृथक तो यह वे परम्परावादी सिद्धान्तों के निष्कर्षों को निरर्थक

बताते हैं और द्वितीय वे यह सिद्ध करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शक्तियों ने अर्द्धविकसित देशों के विकास में बाधा उपस्थित की है।

जहाँ तक प्रतिष्ठित तुलनात्मक लागत के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रश्न है, बहुत से आलोचक इसे स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि यह सिद्धान्त स्थैतिक मान्यताओं पर आधारित है तथा इसमें दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सार की अवहेलना की गयी है और विकास के पहलू को भुला दिया गया है। हमने अध्याय 7 में "तुलनात्मक लागत सिद्धान्त और अर्द्धविकसित देश" के अन्तर्गत उपर्युक्त प्रश्न पर काफी विस्तार से विचार किया है। यह स्पष्ट किया गया है कि जहाँ तक अर्द्धविकसित देशों के विशिष्ट लक्षणों एवं समस्याओं का प्रश्न है प्रतिष्ठित तुलनात्मक लागत सिद्धान्त पर इन देशों के आर्थिक विकास दृष्टि में रखते हुए पुनः विचार किया जाना चाहिए।

अब हम कुछ कारणों पर विचार करेंगे जो यह सिद्ध करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने अर्द्धविकसित देशों के विकास में बाधा पहुँचायी है।

(1) निर्यात क्षेत्र के अतिरिक्त शेष अर्थव्यवस्था की अवहेलना—इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप उनके निर्यातों में तो वृद्धि हुई है परन्तु इससे केवल निर्यात क्षेत्र विकसित हुए हैं तथा शेष अर्थव्यवस्था को विकसित करने में इसने कोई योगदान नहीं दिया है जिसका परिणाम यह हुआ कि आज भी अर्द्धविकसित देश, असन्तुलित विकास के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। प्रो मिर्डल का कहना है कि "पिछड़े देशों का उच्च विदेशी व्यापार का अनुपात इस बात का प्रमाण नहीं है कि उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन का लाभ उठाया है वरन इस बात का सबूत है कि वे अर्द्धविकसित एवं निर्धन हैं।"[1] निर्यात क्षेत्र में जिस उत्पादन तकनीक का प्रयोग किया गया उसका शेष अर्थव्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। निर्यात क्षेत्र की वृद्धि का शेष अर्थव्यवस्था पर न तो कोई विधात्मक प्रभाव पड़ा और न ही इससे उसकी प्रतिभा का विकास हुआ।

(2) कीमतों में समानता नहीं—दूसरी आलोचना इस निष्कर्ष के विरुद्ध है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से व्यापार करने वाले देशों में उत्पत्ति के साधनों की कीमतें बराबर हो जाती हैं। आलोचक कहते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने साधनों की कीमतों में समानता स्थापित नहीं की है वरन इससे ऐसी सचयी प्रवृत्ति का जन्म हुआ है जिससे साधन अनुपातों में समानता और उनकी कीमतों में समानता के सन्तुलन का बिन्दु दूर हटता गया है। अन्तर्राष्ट्रीय समानता की बात तो दूर, इससे देश के विभिन्न क्षेत्रों में भी साधनों और उनकी कीमतों में समानता स्थापित नहीं हो सकी है। वास्तविकता तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से आय के अन्तर्राष्ट्रीय वितरण में असमानता ही आयी है। कुछ अर्थशास्त्री जैसे मिर्डल "साधनों की कीमतों में समानता" के सिद्धान्त के विरुद्ध एक दूसरा मत प्रस्तुत करते हैं जिसे संचयी-कार्य-कारण (Cummulative Causation) का सिद्धान्त या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा उत्पन्न घटकों के असमानुपातों तथा उनकी कीमतों के सन्तुलन को भंग करने की प्रक्रिया कहते हैं।

(3) दोहरी अर्थव्यवस्थाओं का निर्माण—आलोचकों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार करने के बाद बहुत पिछड़े देशों में दोहरी अर्थव्यवस्थाओं का निर्माण हुआ है जहाँ निर्यातक क्षेत्र "विकास का द्वीप" (Island of Development) बना है वहाँ शेष अर्थव्यवस्था प्रायः पिछड़ी हुई रही है अर्थात निर्यात क्षेत्र के चारों ओर निर्वाह अर्थव्यवस्था (Subsistance Economy) का निर्माण हुआ है। निर्यात के उन्नत क्षेत्र में उत्पादन की विधियाँ पूँजीप्रधान होती हैं और

---

1 G. Myrdal, "*An International Econom*", pp. 225-26

उत्पादन गुणक निश्चित रहता है जबकि पिछड़े हुए क्षेत्र में उत्पादन तो श्रम-गहन होता है एवं उत्पत्ति के साधन बराबर अनुपातों में प्रयुक्त नहीं किये जाते। विदेशी पूंजी केवल निर्यात करने के लिए ही देश के प्राकृतिक साधनों के दोहन के लिए प्रयुक्त की जाती है जिससे देश के लोगों को पर्याप्त रोजगार नहीं मिलता तथा लोगों को पिछड़े क्षेत्रों में ही रोजगार ढूंढना पड़ता है।

(4) **व्यापार की शर्तों का दीर्घकाल में प्रतिकूल रहना**—यह कहा जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों ने कुछ ऐसी असन्तुलनकारी दशाएं पैदा की हैं कि जिससे निर्धन देशों की व्यापार की शर्तें काफी समय तक प्रतिकूल रहने के कारण उनकी आय धनी देशों को जाती रही है। यदि औद्योगिक देश एवं प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले अर्द्धविकसित देशों के बीच व्यापार होता है तो वस्तु व्यापार की शर्तें सदैव औद्योगिक देशों के पक्ष में हो जाती हैं। इसका कारण यह है कि कच्चे माल और साधनों के बाजार में धनी देशों का एकाधिकार होता है एव तकनीकी प्रगति के सहयोग के कारण उत्पत्ति के साधनों की आय बढ़ जाती है जबकि प्राथमिक उत्पादन करने वाले देशों में यदि उत्पादकता बढ़ती है तो वहां कीमतें घट जाती हैं।

जहां तक व्यापार की शर्तों में चक्रीय गतिविधियों (Cyclical movements) का प्रश्न है, इनका प्रभाव अर्द्धविकसित देशों के लिए प्रतिकूल एव बाधक रहा है।

किन्तु यदि हम समग्रता के साथ विचार करें तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि व्यापार की शर्तों के दीर्घकाल में प्रतिकूल रहने का तर्क बहुत अधिक विश्वसनीय नहीं है। कुछ अर्थशास्त्रियों का तो विश्वास है कि विकसित देशों में उद्योगों के सतत् विकास एवं कृषि क्षेत्र से श्रमिकों के बाहर जाने के फलस्वरूप भविष्य में प्राथमिक उत्पादनों में सापेक्षिक कमी होगी और इस स्थिति में निश्चित ही अर्द्धविकसित देशों की व्यापार की शर्तों में सुधार होगा।

(5) **प्रदर्शन-प्रभाव (Demonstration Effect)**—आलोचकों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शन प्रभाव के कारण भी निर्धन देश के विकास में बाधा उपस्थित होती है। अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शन प्रभाव का अर्थ यह है कि अर्द्धविकसित देश, विकसित देशों की उपभोग की प्रवृत्ति को अपनाते हैं जिससे विदेशी आयातों में वृद्धि होती है अर्थात् पूँजी का बहिर्गमन होता है और निर्धन देशों में पूँजी का सचय कम हो जाता है। इसका कारण यह है कि प्रदर्शन प्रभाव के कारण अर्द्धविकसित देश के लोगों में विदेशी उपभोग एवं विलासिता की वस्तुओं के लिए लालसा जागृत होती है अतः विदेशी वस्तुओं के आयात में वृद्धि होती है और विदेशी दायित्व बढ़ते हैं जिनका आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

प्रदर्शन प्रभाव का सबसे पहले प्रयोग प्रो ड्यूजनबेरी ने किया। सन् 1914 के पहले प्रदर्शन प्रभाव प्रायः कमजोर था क्योंकि एक तो उस समय जीवन-स्तर में अधिक असमानता नहीं थी और दूसरे यदि थोड़ी-बहुत थी तो इसका लोगों को ज्ञान नहीं था किन्तु 1914 के बाद अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क में वृद्धि तथा विभिन्न राष्ट्रों में असमानता के कारण, प्रदर्शन का व्यापक प्रसार हुआ।

प्रदर्शन प्रभाव के दो परिणाम होते हैं एक तो प्रसार प्रभाव (Spread Effects) और दूसरा बाधक प्रभाव जिसे प्रो मिर्डल ने (Back wash Effects) कहा है। प्रसार-प्रभाव का तात्पर्य यह है कि जब लोगों की उपभोग-प्रवृत्ति बढ़ती है तो इससे लोगों को अधिक आय प्राप्त करने के लिए कठोर परिश्रम करने का प्रोत्साहन मिलता है जिससे उत्पादन बढ़ता है। साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क के फलस्वरूप, लोगों को उन्नत विदेशी तकनीक की जानकारी भी मिलती है जो आर्थिक विकास में सहायक है। कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं जबकि कुछ देशों में घरेलू उद्योगों का विकास, प्रदर्शन प्रभाव के फलस्वरूप हुआ।

अध्याय 17

व्यापार की शर्तें एवं आर्थिक विकास

[TERMS OF TRADE AND ECONOMIC DEVELOPMENT]

परिचय

व्यापार की शर्तों एवं आर्थिक विकास में पारस्परिक सम्बन्ध है। व्यापार की शर्तों का देश के आर्थिक विकास पर प्रभाव पड़ता है। व्यापार की शर्तों में सुधार होने का आशय है कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में देश की क्रय शक्ति में वृद्धि होती है, निर्यातों में वृद्धि होने से विदेशी पूँजी देश में आती है और इसका परिणाम होता है कि देश में आर्थिक विकास गतिशील होता है। (दूसरी ओर आर्थिक विकास का स्तर भी व्यापार की शर्तों को प्रभावित करता है। देश में आर्थिक विकास से आर्थिक घटकों पर प्रभाव पड़ता है जैसे उपभोग, तकनीक, साधनों की पूर्ति एवं कीमतें आदि जिससे देश में वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तन होता है जो व्यापार की शर्तों को प्रभावित करता है।

यदि निर्यात कीमतों में कमी हो जाने से व्यापार की शर्तों में ह्रास होता है, तो विदेशों में देश की क्रय शक्ति कम हो जाती है और अब उतनी ही मात्रा में आयात प्राप्त करने के लिए निर्यात उद्योगों में अधिक साधनों का प्रयोग करना पड़ता है। इसका प्रभाव यह होता है कि देश में विकास की क्षमता कम हो जाती है तथा विदेशी विनियोगों पर भी प्रतिकूल प्रभाव होता है। यदि देश पूर्ण रूप से आर्थिक सन्दर्भों में विकसित है तो व्यापार की शर्तों की प्रवृत्ति उसके अनुकूल होने की होती है अन्यथा प्रतिकूल। जब देश की व्यापार की शर्तें अनुकूल होती हैं तो वह दी हुई निर्यात की मात्रा के बदले में अधिक वस्तुओं का आयात कर सकता है फलस्वरूप देश में संसाधनों में वृद्धि होती है जिससे द्रुत गति से आर्थिक विकास सम्भव होता है और राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है। प्रो. रेगनर नर्क्से (Ragner Nurkse) के अनुसार "अनुकूल व्यापार की शर्तें देश में पूँजी निर्माण का सर्वाधिक स्रोत है। इसका बड़ा लाभ यह है कि इसमें न तो विदेशी ऋण के भार का खतरा है और न विभिन्न सरकारों द्वारा कर्ज के कारण उत्पन्न विभिन्न संघर्षों का डर है।"[1]

अब यहाँ अलग-अलग इस बात का अध्ययन करेंगे कि व्यापार की शर्तें और आर्थिक विकास कैसे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं :

व्यापार की शर्तें एवं आर्थिक विकास—जहाँ तक अर्द्धविकसित देशों का प्रश्न है द्रुत आर्थिक विकास के लिए वहाँ अनुकूल व्यापार की शर्तों का बहुत महत्त्व है। यह महत्त्व उस अर्थ-व्यवस्था में और अधिक बढ़ जाता है जहाँ विदेशी व्यापार की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है, यह स्पष्ट किया जा चुका है कि व्यापार की शर्तों में सुधार होने के फलस्वरूप दिये हुए निर्यात के

---

1 R. Nurkse, Problem of Capital Formation in Underdeveloped countries (Newyork) p 93.

बदले अधिक वस्तुओं का आयात किया जा सकता है जिससे देश में संसाधनों की वृद्धि होती है और उत्पादन में वृद्धि होती है। इसका प्रत्यक्ष प्रभाव यह होता है कि देश की आय में वृद्धि होती है और विकास होता है। इससे अप्रत्यक्ष रूप से भी राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है। निर्यातों में जो बचत होती है उसे विकास के अन्य कार्यों के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। अनुकूल व्यापार की शर्तों से भुगतान सन्तुलन की कठिनाइयों को भी दूर किया जा सकता है जिससे आर्थिक विकास में सहायता मिलती है।

किन्तु यह ध्यान में रखना महत्वपूर्ण है कि अनुकूल व्यापार की शर्तों से आर्थिक विकास उसी समय सम्भव होता है जब इससे प्राप्त अतिरिक्त संसाधनों का आर्थिक विकास के कार्यों में विनियोग किया जाता है। यदि इनका विनियोग न कर, उपभोग कर लिया जाता है तो पूँजी निर्माण और आर्थिक विकास नहीं होता।

ऐसी कई प्रतिकूल परिस्थितियाँ होती हैं जो व्यापार की शर्तों में हुए सुधार को निष्प्रभावित कर देती है तथा आर्थिक विकास का उद्देश्य प्राप्त नहीं हो पाता। ये प्रतिकूल परिस्थितियाँ इस प्रकार है :

(i) यदि व्यापार की शर्तों में सुधार, मुद्राप्रसार के फलस्वरूप बढ़ती हुई लागत के कारण हुआ है तो उक्त व्यापार की शर्तों मे सुधार मुद्रा प्रसार के प्रतिकूल प्रभावों के कारण निष्प्रभावित हो जाता है।

(ii) यदि निर्यातों की पूर्ति में कमी होने से निर्यात कीमतों में वृद्धि होती है तो इससे भी व्यापार की शर्तों मे सुधार होता है, वह निर्यात की मात्रा में कमी के कारण प्रभावहीन हो जाता है क्योंकि आयात करने की सापेक्षिक क्षमता गिर जाती है।

(iii) यदि निर्यातों को सीमित करने के फलस्वरूप व्यापार की शर्तों में सुधार होता है तो निर्यात-उद्योगों में साधनों का पूर्ण प्रयोग नहीं हो पाता और देश में रोजगार आय और उत्पादन का क्षेत्र सीमित हो जाता है जिसका आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार जब हम व्यापार की शर्तों में सुधार होने के कारण आर्थिक विकास के प्रश्न पर विचार करते है तो हमें उन तत्वों पर भी ध्यान देना चाहिए जिनमें सम्भावित परिवर्तन होते है जैसे उत्पादकता, पूर्ति, माँग, निर्यात की मात्रा, आयात की मात्रा, रोजगार और कीमतों आदि में होने वाले परिवर्तन क्योंकि इनका आर्थिक विकास पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

व्यापार की शर्तों एवं आर्थिक विकास के सम्बन्ध में जेवन्स का मत—जेवन्स का मत है कि व्यापार की शर्तें, विदेशी व्यापार के लाभ होने का प्रतीक नहीं हैं। उनका तर्क है कि व्यापार की शर्तों द्वारा आयात की समस्त इकाई से उपयोगिता एवं निर्यात की सीमान्त इकाई की अनुपयोगिता का सम्बन्ध दिखाया जाता है जबकि व्यापार से लाभों की गणना करते समय आयात से प्राप्त कुल उपयोगिता एवं निर्यात की कुल अनुपयोगिता का अन्तर लिया जाता है। जेवन्स के अनुसार यह सम्भव है कि व्यापार की शर्तें प्रतिकूल होने पर भी व्यापार के लाभों में वृद्धि हो। उनका कहना है कि अल्पकाल में व्यापार की शर्तें प्रतिकूल होने पर भी, यदि हम विदेशों से कच्चा माल और मशीनों को प्राप्त कर सकते है तो देश में आर्थिक विकास किया जा सकता है।

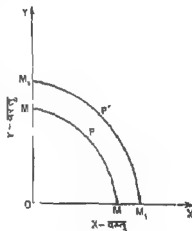
किन्तु यदि हम व्यापार की शर्तों के तात्कालिक प्रभाव को देखें तो जेवन्स का मत उचित प्रतीत नहीं होता। इसके साथ ही दीर्घकाल तक प्रतिकूल रहने वाली व्यापार की शर्तें आर्थिक विकास में सहायक नहीं हो सकती।

आर्थिक विकास का व्यापार की शर्तों पर प्रभाव

आर्थिक विकास का व्यापार की शर्तों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव यह होता है कि आर्थिक विकास से देश की उत्पादन सम्भावना वक्र बढ़ती है अर्थात् यह दायीं

ओर विवर्तित होती है। यह इसलिए सम्भव होता है कि आर्थिक विकास के अभाव में जो साधन पूर्णरूप से प्रयुक्त नहीं हो पाते अथवा जिनका गलत ढग से प्रयोग किया जाता है, जब आर्थिक विकास के कारण उनका कुशलतम ढंग से प्रयोग किया जाता है जिससे देश की उत्पादन क्षमता बढ़ जाती है। संलग्न रेखाचित्र से यह स्पष्ट है :

संलग्न चित्र 17.1 से स्पष्ट है कि आर्थिक विकास के फलस्वरूप जब ससाधनों का कुशलतम रूप से प्रयोग किया जाता है तो उसके फलस्वरूप उत्पादन सम्भावना वक्र दायीं ओर बढता है। आर्थिक विकास के पहले उत्पादन सम्भावना वक्र M-M थी जहाँ X और Y वस्तुओं के P सयोग को ही प्राप्त किया जा सकता था किन्तु आर्थिक विकास के फलस्वरूप अब उत्पादन सम्भावना वक्र M_1M_1 हो गया है तथा दोनो वस्तुओं का सयोग भी बढकर P' हो गया है अर्थात् अब दोनों वस्तुओं की अधिक मात्रा प्राप्त की जा सकती है।



चित्र 17·1

आर्थिक विकास के फलस्वरूप कुल राष्ट्रीय उत्पाद (G. N. P.) में वृद्धि होती है और यदि जनसख्या की वृद्धि की दर उक्त दर से कम हो तो प्रति व्यक्ति आय मे भी वृद्धि होती है। आय मे परिवर्तन के फलस्वरूप आयातो की माँग की आय लोच मे भी परिवर्तन होता है जिससे व्यापार की शर्तें प्रभावित होती है।

आर्थिक विकास के फलस्वरूप, व्यापार की शर्तों मे किस दिशा मे परिवर्तन होगा यह इस बात पर निर्भर रहता है कि विकास का आयातो की निवल माँग (Net demand) पर क्या प्रभाव पडता है। आय मे वृद्धि होने से आयातो की वस्तुओ की माँग बढती है किन्तु आर्थिक विकास के फलस्वरूप पहले जिन वस्तुओं का आयात किया जाता था, अब उनका देश मे उत्पादन बढने लगता है। प्रथम प्रभाव को माँग की आय लोच का प्रभाव (Income-elasticity of demand Effect) कहते हैं। आर्थिक विकास से आयात की जाने वाली उपयोग की वस्तुओ मे जितने प्रतिशत परिवर्तन होता है, यदि उसमें कुल वास्तविक आय मे होने वाले प्रतिशत परिवर्तन का भाग दे दिया जाय तो जो भागफल प्राप्त होगा, उसे माँग की आय लोच कहेंगे। दूसरे प्रभाव को पूर्ति की आय लोच (Income elasticity of Supply) कहते है। आर्थिक विकास के फलस्वरूप देश मे वस्तुओं के उत्पादन मे (जिन्हे पहले आयात किया जाता था) जितने प्रतिशत परिवर्तन होता है, यदि उसमे कुल वास्तविक आय मे होने वाले प्रतिशत परिवर्तन का भाग दे दिया जाय तो जो भागफल प्राप्त होगा, उसे पूर्ति की आय लोच कहते है। यदि वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतो को स्थिर मान लिया जाय तो आर्थिक विकास का व्यापार की शर्तो पर निम्न प्रभाव होगा—

(i) जब देश मे आयात योग्य वस्तुओ की पूर्ति के लिए माँग की आय लोच इकाई के बराबर है तो इसका प्रभाव यह होगा कि व्यापार की शर्तो पर प्रतिकूल प्रभाव पडेगा क्योंकि आयातो की माँग मे निवल वृद्धि (Net Rise) हो जायगी।

(ii) जब माँग की आय लोच इकाई से कम होती है तथा पूर्ति की आय लोच इकाई से

अधिक है तो विकास के साथ व्यापार की शर्तों में सुधार होगा क्योंकि आयात की माँग कम हो जायगी।

(iii) यदि माँग की आय लोच इकाई से अधिक होती है तथा पूर्ति की आय लोच इकाई से कम होती है तो व्यापार की शर्तों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है क्योंकि आयातों की माँग में वृद्धि होती है।

(iv) यदि माँग की आय लोच इकाई से अधिक है तथा पूर्ति की आय लोच भी अधिक है तो फिर आर्थिक विकास का व्यापार की शर्तों पर क्या प्रभाव होगा, यह माँग के सापेक्षिक आकार पर निर्भर होगा। यदि आयातों के लिए माँग अधिक है तो व्यापार की शर्तों में ह्रास होगा और यदि इनकी माँग कम है तो शर्तों में सुधार होगा।

प्रो. मियर (G. M. Meier) का कथन है कि किसी देश के विकास तथा उसकी व्यापार की शर्तों के बीच कोई निश्चित सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। प्रत्येक देश में यह उसके विकास में पक्षपात की किस्म, मात्रा तथा उसके विकास की दर पर निर्भर रहता है कि व्यापार की शर्तें उस देश के अनुकूल होंगी या प्रतिकूल। प्रो. मियर आगे कहते हैं कि विकास की दर अधिक रहने पर वस्तु व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हो जाती हैं अत जब विकास की दर कम होने पर व्यापार की शर्तें अनुकूल रहती है तो सम्भव है कि उनके अनुकूल रहने पर जो लाभ होता है वह उस उत्पादन की कमी से अधिक होता है जो कम विकास के कारण होती है? यदि देश का विकास निर्यात प्रधान है तो व्यापार की शर्तें देश के अनुकूल नहीं हो पाती क्योंकि देश में आयात-योग्य वस्तुओं का उत्पादन नहीं हो पाता भले ही विकास की दर कम रहे।

ऐसी स्थिति भी हो सकती है कि देश में विकास की दर इस प्रकार हो कि व्यापार की शर्तें उसके अधिक प्रतिकूल हो जायें अर्थात् उत्पादन में वृद्धि से जो लाभ होता है वह उस नुकसान से अधिक है जो व्यापार की शर्तों के प्रतिकूल होने से होता है। यह सैद्धान्तिक रूप से सम्भव है तथा इसका प्रमाण प्रो. जगदीश भगवती[1] ने दिया है तथा इसे झूठे विकास (Immiserizing Growth) की स्थिति बताया है। उदाहरण के लिए यदि साधनों की पूर्ति बढ़े या तकनीकी प्रगति हो तो स्थिर कीमतों के अन्तर्गत वास्तविक आय में उतनी ही वृद्धि होती है जितना कि उत्पादन में परिवर्तन हुआ है। आलोचकों का मत है कि झूठे विकास की धारणा ऐसी दशाओं पर आधारित है जो लागू नहीं हो सकती यदि अर्थव्यवस्था लोचपूर्ण है?

व्यापार की शर्तें एवं अर्द्धविकसित देश

(TERMS OF TRADE AND UNDER-DEVELOPED COUNTRIES)

बहुत से अर्थशास्त्रियों ने इस बात का समर्थन किया है कि अर्द्धविकसित देशों की वस्तु व्यापार की शर्तें प्रतिकूल रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार "उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर द्वितीय विश्व महायुद्ध के समय तक निर्मित वस्तुओं की कीमतों की तुलना में प्राथमिक वस्तुओं (Primary Goods) की कीमतों में लगातार घटने की प्रवृत्ति रही है। औसत रूप में प्राथमिक वस्तुओं की एक निश्चित मात्रा, इस अवधि के अन्त में निर्मित वस्तुओं की उस कुल मात्रा का केवल 60 प्रतिशत भुगतान कर सकी है जितनी कि इसके द्वारा आरम्भ में खरीदी जा सकती थी?

प्रो. सिंगर, प्रो. प्रेबिश (Prebisch), प्रो. मिण्ट, प्रो. लुईस (Lewis) और प्रो. मिर्डल का मत है कि निर्धन देशों की प्रवृत्ति दीर्घकाल में प्रतिकूल होने की रही है। प्रो. प्रेबिश ने तर्क दिया

1 Jagdish Bhagwati Immiserizing Growth—A Geometrical Note—Review of Economic Studies June 1958 pp. 201-205.

है कि 1870 और 1930 की अवधि में निर्यात और आयात की कीमतें इस बात का प्रमाण हैं कि औद्योगिक देशों को अपनी तकनीकी प्रगति का पूरा लाभ मिला है जबकि अर्द्धविकसित देशों में जो भी तकनीकी प्रगति हुई है, उसका अधिकांश लाभ विकसित देशों को मिला है। उनका कहना है कि यद्यपि व्यापार चक्र की तेजी की अवस्था में प्राथमिक वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हुई है किन्तु मन्दी की अवस्था में उक्त वृद्धि निष्फल हो गयी है। इसके विपरीत यद्यपि तेजी की अवस्था में निर्मित वस्तुओं की कीमतों में उतनी अधिक वृद्धि नहीं हुई है किन्तु उनमें मन्दीकाल में उतनी अधिक गिरावट भी नहीं आयी है जिसका कारण यह है कि औद्योगिक मजदूरी और कीमतों में अपेक्षाकृत कम लोच होती है। अतः निरन्तर उक्त दोनों वस्तुओं की कीमतों में अन्तर बढ़ता गया है तथा अर्द्धविकसित देशों की व्यापार की शर्तों में ह्रास हुआ है। प्रो. किंडलबर्जर ने प्रेबिश के तर्क को स्वीकार नहीं किया है तथा तथ्यों और विश्लेषण—दोनों के आधार पर उसकी आलोचना की है। इसका कारण यह है कि अर्द्धविकसित देशों के आयात और निर्यातों के पूर्ण आंकड़े विश्लेषण के लिए उपलब्ध नहीं हैं। प्रो. प्रेबिश ने अपने मत के समर्थन में ब्रिटेन की अनुकूल व्यापार शर्तों का उदाहरण दिया है किन्तु किण्डलबर्जर के अनुसार यद्यपि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटेन की व्यापार की शर्तों में सुधार हुआ है पर इसी अवधि में यूरोप के औद्योगिक देशों की शर्तें प्रतिकूल रही हैं।

फिर भी कहा जा सकता है कि निर्धन देशों की व्यापार की शर्तें तुलनात्मक रूप से प्रतिकूल रही हैं। इसका कारण यह है कि निर्धन तथा धनी देशों के बीच उनकी गतिविधियाँ विषम रही हैं क्योंकि प्राथमिक उत्पादन की माँग में सापेक्षिक कमी हुई है तथा औद्योगिक वस्तुओं की माँग में सापेक्षिक वृद्धि हुई है।

अर्द्ध-विकसित देशों की व्यापार की शर्तों के प्रतिकूल रहने के कारण

अर्द्धविकसित देशों (प्राथमिक उत्पादन वाले देश) में व्यापार की शर्तों में सुधार नहीं हुआ है वरन् उनमें ह्रास हुआ है। इसके मुख्य कारण निम्न हैं-

(1) जनसंख्या की वृद्धि—विकसित देशों की तुलना में, अर्द्धविकसित देशों में जनसंख्या की वृद्धि की दर काफी अधिक रही है। इसके फलस्वरूप निर्धन देशों की माँग निर्मित वस्तुओं, पूंजी-उपकरण आदि के लिए काफी बढ़ी है जबकि इसकी तुलना में विकसित देशों की प्राथमिक वस्तुओं की माँग में उतनी अधिक दर से वृद्धि नहीं हुई है। अतः निर्धन देशों की आयातों की माँग निर्यातों की तुलना में बढ़ी है जिससे व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हुई हैं।

(2) प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन—अर्द्धविकसित देशों में मुख्य प्राथमिक वस्तुओं अथवा खनिजों का ही उत्पादन किया जाता है तथा श्रम-प्रधान अथवा भूमि-प्रधान प्राथमिक वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण किया जाता है जैसे सीलोन में चाय, रबर और नारियल, इण्डोनेशिया में टिन, रबर और तेल, मलाया में रबर-टिन इत्यादि। एक तो इन वस्तुओं की उत्पादकता कम होती है, दूसरे इन वस्तुओं की माँग की आय लोच कम रहती है। इसके विपरीत विकसित देश मुख्य रूप से निर्मित वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करते हैं एवं इनका निर्यात करते हैं जिनकी माँग की आय-लोच तुलनात्मक रूप से अधिक होती है। जैसे ही किसी देश की राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है, उसका आनुपातिक व्यय निर्मित वस्तुओं पर बढ़ता है तथा प्राथमिक वस्तुओं पर घटता है। अतः विकसित देशों के निर्यातों में, अर्द्धविकसित देशों की तुलना में, वृद्धि होती है और निर्धन देशों की व्यापार की शर्तों में ह्रास होता है।

(3) पिछड़ी तकनीक—अर्द्धविकसित देशों में तकनीक का स्तर काफी पिछड़ा हुआ है जिससे उत्पादन कम मात्रा में होता है तथा लागत बढ़ जाती है जिससे इन देशों के निर्यात हतोत्साहित होते हैं। इसके अतिरिक्त, विकसित देशों में तकनीक का जो द्रुत गति से विकास हुआ है,

उससे उनकी, अर्द्धविकसित देशों की आयातों की माँग घट गयी है, जैसे अब इन देशों में उन वस्तुओं के स्थान पर पहले जिन्हें निर्धन देशों से आयात किया जाता था, सिन्थेटिक वस्तुओं का प्रयोग होने लगा है उदाहरण के लिए सिन्थेटिक कपड़े, रबर और प्लास्टिक इत्यादि। इसका अर्द्धविकसित देशों की व्यापार की शर्तों पर प्रतिकूल प्रभाव हुआ है।

(4) **प्रतिस्थानापन्न वस्तुओं का प्रभाव**—अर्द्धविकसित देश, विकसित देशों के आयातों पर पूर्ण रूप से निर्भर रहते हैं क्योंकि उनके पास विकसित देशों की वस्तुओं के लिए कोई प्रतिस्थानापन्न वस्तुएँ नहीं होतीं अतः इनकी आयातों की माँग बेलोचदार होती है। इसके विपरीत, विकसित देशों में, निर्धन देशों की वस्तुओं के लिए कई स्थानापन्न वस्तुओं की खोज कर ली गयी है जिससे विकसित देशों की आयातों की माँग लोचदार हो गयी है। इसका परिणाम यह हुआ कि अर्द्धविकसित देशों की व्यापार की शर्तें प्रतिकूल होती जा रही हैं।

(5) **अर्थव्यवस्था में लोच का अभाव**—विकसित देशों की अर्थव्यवस्थाओं में विविधता होती है अतः उनमें अर्द्धविकसित देशों की तुलना में अधिक लोच होती है जबकि अर्द्धविकसित देशों में कुछ गिनी-चुनी वस्तुओं के उत्पादन के कारण उनमें विविधता नहीं होती अतः लोच का अभाव रहता है। जब विश्व-बाजार में कुछ वस्तुओं की कीमतों में गिरावट होती है तो विकसित देश उन वस्तुओं का उत्पादन करने लगते हैं जिनकी कीमतों में कमी नहीं होती जबकि अर्द्धविकसित देशों में लोच का अभाव होने के कारण यह सम्भव नहीं हो पाता। इससे स्पष्ट होता है कि कुछ प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन करने के बावजूद भी विकसित देशों की व्यापार की शर्तें प्रतिकूल नहीं हो पाती जबकि अर्द्धविकसित देशों की व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हो जाती हैं।

(6) **प्राथमिक उत्पादनों के आयात पर नियन्त्रण**—विकसित देशों ने कृषि उत्पादन को संरक्षण देने की दृष्टि से, अर्द्धविकसित देशों के प्राथमिक उत्पादनों के आयात पर प्रतिबन्ध लगा देते हैं जिससे इन देशों का निर्यात कम हो जाता है। जैसे अमरिका ने, अनुकूल व्यापार सन्तुलन के बावजूद भी अर्द्धविकसित देशों के आयातों पर नियन्त्रण लगाये हैं तथा प्राथमिक उत्पादों की निर्यात करने क्षेत्र में, अर्द्धविकसित देशों से प्रतियोगिता भी की है। इसके फलस्वरूप पिछड़े देशों की व्यापार की शर्तों में गिरावट आयी है।

(7) **मोलभाव की शक्ति का अभाव**—चूँकि अर्द्धविकसित देश अधिकांश ऐसी वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जो कालान्तर में नष्ट हो जाती हैं अतः विश्व बाजार में उनकी मोल-भाव करने की शक्ति बहुत सीमित होती है और कम कीमतों के होने पर भी उन्हें इन वस्तुओं का निर्यात करना पड़ता है। इस प्रकार इन देशों को अपने निर्यात और आयात दोनों के लिए विकसित देशों पर निर्भर रहना पड़ता है। फलस्वरूप इन देशों की व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हो जाती हैं।

(8) **संगठन का अभाव**—अर्द्धविकसित देशों की व्यापार की शर्तों के प्रतिकूल रहने का एक कारण यह भी है कि इन देशों में संगठन का अभाव है। ये देश कुछ ऐसी वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जैसे कॉफी, चाय, शक्कर, कोको, जूट इत्यादि जिनका उत्पादन विकसित देशों में नहीं होता। अतः यदि अर्द्धविकसित देश आपस में संगठन कर, यूरोपियन साझा बाजार के समान संगठन बना लें तो विकसित देशों में ऊँची कीमतों पर अपना निर्यात बढ़ा सकते हैं तथा व्यापार की शर्तों को भी अनुकूल बना सकते हैं।

(9) **विकसित देशों में एकाधिकारी प्रवृत्तियाँ**—प्रो. सिंगर ने अर्द्धविकसित देशों में प्रतिकूल व्यापार की शर्तों का स्पष्टीकरण इस प्रकार दिया है—उनका कहना है कि तकनीकी प्रगति से होने वाले लाभ या तो स्वयं उत्पादक, ऊँची आय के रूप में प्राप्त कर सकता है अथवा वस्तुओं

की कीमतों को घटाकर इसका वितरण उपभोक्ताओं के बीच किया जा सकता है। विकसित देशों में निर्यात वस्तुओं के उत्पादन से पूरा लाभ उत्पादकों ने उठाया है तथा अर्द्धविकसित देशों में यह लाभ कीमतों को कम कर, उपभोक्ताओं को प्रदान कर दिया गया है अर्थात् इन देशों के निर्यातों की कीमतों में वृद्धि नहीं हुई जबकि विकसित देशों में वृद्धि हुई है। यद्यपि प्रो. सिंगर ने इसका स्पष्टीकरण नहीं दिया है पर प्रो. मेकलायड (A. N. Mcleod) का मत है कि इसका कारण अर्द्धविकसित देशों की तुलना में विकसित देशों में एकाधिकारी तत्वों की अधिकता है। प्रो. प्रेबिश का मत है कि विकसित देशों में उत्पादकता में जितनी वृद्धि हुई है, उसकी तुलना में उत्पत्ति के साधनों की आय में अधिक वृद्धि हुई है जबकि अर्द्धविकसित देशों में उत्पादकता में वृद्धि की तुलना में साधनों की आय में कम वृद्धि हुई है।

(10) **निर्यातों का केन्द्रीयकरण**—अर्द्धविकसित देशों में पिछले कुछ वर्षों में यह प्रवृत्ति देखने में आयी है कि यहाँ निर्यात एवं विदेशी विनियोग निर्यात उद्योगों में हुआ है। इसका परिणाम यह हुआ कि निर्यात वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि के कारण उनकी कीमतों में गिरावट आयी है तथा अर्द्धविकसित देशों की व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हुई हैं।

(11) **विकसित देशों में समृद्धि**—विकसित देशों ने अपने घरेलू उत्पादन में काफी वृद्धि की है और अब वे बहुत-सी उन वस्तुओं का उत्पादन भी करने लगे हैं जिनका पहले आयात किया जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि अर्द्धविकसित देशों के आयातों पर उनकी निर्भरता कम हो गयी है जिससे एक ओर जहाँ इन देशों की व्यापार की शर्तों में सुधार हुआ है वहीं अर्द्धविकसित देशों की व्यापार की शर्तों में गिरावट आयी है।

निष्कर्ष—उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अर्द्धविकसित देशों में व्यापार की शर्तों की प्रवृत्ति प्रतिकूल रहने की रही है। किन्तु यह निष्कर्ष निकालते समय कुछ बातों पर विचार करना पड़ता है। कच्चे माल और निर्मित माल के बीच की वस्तु व्यापार की शर्तों का सम्बन्ध होता है वह इन व्यापार की शर्तों से भिन्न है जो निर्धन और विकसित देशों के बीच होता है। इसके अतिरिक्त व्यापार की शर्तों की गणना करते समय कीमतों के आँकड़े एकत्रित करने में कई व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना भी करना होता है। इसे दृष्टि में रखते हुए कुछ अर्थशास्त्रियों ने इसमें सन्देह व्यक्त किया है कि अर्द्धविकसित देशों के लिए दीर्घकाल में व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हो गयी हैं। ऐसा कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता कि पिछले 80 वर्षों की अवधि में इन देशों की व्यापार शर्तें प्रतिकूल रही हैं। वरन् इसके विपरीत, कुछ लोगों का मत है कि इन देशों की वस्तुओं में गुणात्मक सुधार होने एवं परिवहन लागत की कमी के कारण, व्यापार की शर्तों में सुधार हुआ है। इसी आधार पर प्रो. **हैबरलर** का मत है कि, "इस सम्बन्ध में कि अर्द्धविकसित देशों में दीर्घ काल तक व्यापार की शर्तें प्रतिकूल रही हैं, जो कारण दिये गये हैं वे या तो गलत हैं अथवा उक्त निष्कर्षों के लिए पूर्ण रूप से अपर्याप्त एवं असम्बन्धित हैं।"

अर्द्धविकसित राष्ट्रों की व्यापार-शर्तों में सुधार करने के सुझाव—यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि अर्द्धविकसित देशों की व्यापार की शर्तों में सुधार किस प्रकार किया जाय ताकि वे अपने विदेशी व्यापार के लाभ को बढ़ा सकें। यह भी आवश्यक है कि इन देशों की व्यापार की शर्तों के उच्चावचन को रोककर उन्हें स्थिर बनाया जाय—इसके लिए निम्न उपायों का सहारा लिया जा सकता है:

(1) **निर्यात में वृद्धि**—अर्द्धविकसित देशों के सामने प्रमुख समस्या केवल निर्यात बढ़ाने की नहीं है वरन इन निर्यातों को बहुमुखी बनाने की भी है। वर्तमान में ये देश केवल कुछ प्राथमिक वस्तुओं के निर्यातों पर ही निर्भर हैं अतः इस बात की आवश्यकता है कि देश में उत्पादन में विविधता लायी जाय तथा अन्य वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि की जाय तथा उन्हें निर्यात करने की

समस्त सम्भावनाओं का लाभ उठाया जाये। यह देश की अर्थव्यवस्था पर निर्भर रहेगा कि वहाँ और कौन-सी वस्तुओं का उत्पादन एवं निर्यात किया जा सकता है। भारत में इस दिशा में उल्लेखनीय प्रगति हुई है तथा अब भारत से लोहा, इंजीनियरिंग वस्तुएँ आदि का निर्यात किया जाने लगा है। जिस प्रकार विकसित देशों ने कुछ प्राथमिक वस्तुओं एवं उनकी स्थानापन्न वस्तुओं का उत्पादन शुरू कर दिया है, उसी प्रकार अर्द्धविकसित देशों को भी निर्मित वस्तुओं के उत्पादन में प्रयत्न करना चाहिए तभी उनकी व्यापार शर्तों में सुधार हो सकता है तथा उनकी विदेशी आयातों पर निर्भरता कम हो सकती है। निर्यातों को बढ़ाने की दृष्टि से भारत की नवीनतम आयात-निर्यात नीति में निर्यात-शर्तों को उदार बना दिया गया है। निर्यात बढ़ाने के लिए उत्पादन में कुशलता होना आवश्यक है।

(2) वस्तुओं का भण्डार—किसी अर्द्धविकसित देश की व्यापार की शर्तों में सुधार करने के लिए यह भी आवश्यक है कि उनके उच्चावचन को रोका जाय। उच्चावचन इसलिए होते हैं क्योंकि कभी-कभी प्राथमिक उत्पादन वाले देशों के पास निर्यात करने के लिए पर्याप्त मात्रा में वस्तुएँ नहीं होतीं अतः इन देशों को वस्तुओं के भण्डार का निर्माण करना चाहिए ताकि आवश्यकता के समय वे अपने निर्यात को जारी रख सकें और व्यापार की शर्तों को प्रतिकूल होने से रोक सकें।

(3) सामूहिक समझौते—इसका सम्बन्ध अर्द्धविकसित देश को संगठित रखने से है। अर्थात् इन देशों को आपस में मिलकर ऐसा समझौता करना चाहिए कि वे अपने निर्यातों के मूल्यों को गिरने न दें। इस दिशा में आवश्यक है कि ये देश अपना माल बेचने के लिए आपस में प्रतियोगिता न करें। यद्यपि इस दिशा में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं फिर भी प्रयास करना वांछनीय है।

(4) पारस्परिक व्यापार को प्रोत्साहन—इस बात की भी प्रबल सम्भावना है कि अर्द्धविकसित देश पारस्परिक व्यापार को प्रोत्साहित करें अर्थात् ये देश विकसित देशों को तो अपने निर्यात बढ़ायें ही, साथ ही दूसरे अर्द्ध-विकसित देशों को भी निर्यात करें। इसका परिणाम यह होगा कि ये उस शोषण से अपने आपको बचा सकेंगे जो विकसित देश इनके साथ व्यापार करते हैं। वर्तमान में अर्द्धविकसित देश अपने कुल विदेशी व्यापार का 80% व्यापार विकसित देशों से करते हैं जिसमें परिवर्तन किया जाना चाहिए। अर्द्धविकसित देशों के बीच व्यापार के मार्ग में जो कठिनाइयाँ हैं उन्हें दूर किया जाना चाहिए।

वर्तमान में अर्द्धविकसित देश जिस अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर जोर दे रहे हैं, उसमें यह एक महत्वपूर्ण बिन्दु है कि इन देशों को आपस में व्यापार करना चाहिए तथा इस मार्ग में अनेक रुकावटों को दूर करना चाहिए। पियर्सन आयोग ने भी इन देशों को आपस में व्यापार करने के लिए व्यापार प्रतिबन्धों को हटाने का समर्थन किया है।

उपरोक्त विवेचन स्पष्ट करता है कि अर्द्धविकसित देशों को अपने व्यापार की शर्तों में सुधार करने की बहुत आवश्यकता है जिसके लिए उन्हें आवश्यक कदम पर विचार करना चाहिए।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. अर्द्धविकसित देशों की व्यापार की शर्तों के प्रतिकूल होने के क्या कारण हैं? उनमें सुधार करने के लिए आप क्या सुझाव देंगे?
2. क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि "दीर्घकाल में अर्द्धविकसित देशों की व्यापार शर्तों की प्रवृत्ति प्रतिकूल होने की रहती है? तर्कपूर्ण उत्तर दीजिए?
3. "व्यापार की शर्तें और आर्थिक विकास आपस में एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।" पूर्ण व्याख्या कीजिए?

Selected Readings

1. Meier and Baldwin : *Economic Development.*
2. G. M. Meier : *International Trade & Economic Development.*

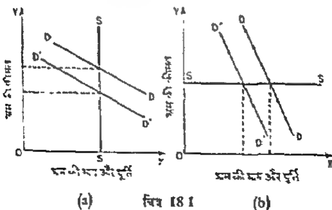
प्रतियोगिता सम्भव है जिससे वहाँ मजदूरी में समानता रहती है। इसे दृष्टि में रखते हुए यह मान्य हो जाती है कि सब श्रमिकों की मान्यता मजदूरी का स्तर समान रहता है।

अप्रतियोगी समूहों का कीमत-प्रश्नों पर क्या प्रभाव होता है, इसके सम्बन्ध में विभिन्न अर्थशास्त्रियों के भिन्न विचार हैं। प्रो. केयरन्स यह मानकर चलते है कि अप्रतियोगी समूहों की प्रकृति एवं संख्या स्थिर रहती है। उनके मत में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त के अनुसार जो विभिन्न देशों में उत्पत्ति के साधनों को अगतिशील मानता है प्रत्येक देश में समान श्रमिकों की पूर्ति वास्तव में अप्रतियोगी समूह की ही विचारधारा है। यदि एक ही देश में श्रमिकों के अप्रतियोगी समूह हों तो उनके बीच आर्थिक सम्बन्धों को अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों के माध्यम से समझाया जा सकता है। एक ही देश में इन अप्रतियोगी समूहों की पारस्परिक माँग, जो एक दूसरे के उत्पादन के लिए की जाती है इस बात का निर्धारण करेगी कि प्रत्येक समूह में मजदूरी का क्या स्तर होगा?

प्रो. टाजिग ने केयरन्स की तुलना में अधिक व्यापक विश्लेषण किया है। वे इन समूहों को स्थिर नहीं मानते। उनके मत में जब हम मजदूरी के प्रश्न पर दीर्घकालीन दृष्टि से विचार करते हैं तो किसी विभिन्न प्रकार के श्रम की माँग को ही, उन विशिष्ट समूह के श्रमिकों की मजदूरी के निर्धारण का एकमात्र कारण नहीं माना जा सकता। हमें श्रमिकों की पूर्ति पर भी विचार करना चाहिए। यह सम्भव है कि विभिन्न समूहों की सापेक्षिक मजदूरी पर उनकी माँग का कोई प्रभाव न हो।

प्रो. मार्शल[1] का विचार है कि श्रमिकों के अप्रतियोगी समूहों में श्रमिकों की पूर्ति लोचदार होती है। उनका कहना है कि समाज में विभिन्न व्यवसायों में सामान्य मजदूरी वह होती है जो नियमित रूप से रोजगार में लगे श्रमिकों को स्वयं अपने एवं अपने सामान्य आकार वाले परिवार के लिए अपने व्यवसाय के स्तर के अनुसार आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त है। यह मजदूरी माँग पर केवल इस रूप में निर्भर है कि यदि उस मजदूरी पर उस व्यवसाय के श्रम की माँग न हो तो व्यवसाय समाप्त हो जायगा अन्य शब्दों में सामान्य मजदूरी श्रम के उत्पादन व्यय का प्रतिनिधित्व करती है।

मार्शल के उपरोक्त विवेचन का यह अर्थ है कि विभिन्न प्रकार के श्रम की पूर्ति स्थिर लागत पर की जाती है और उसका पूर्ति वक्र समस्तर (Horizontal) होता है। ऐसी स्थिति में, दीर्घकाल में, माँग में होने वाला परिवर्तन, श्रमिकों की कीमतों में परिवर्तन नहीं करेगा वरन् केवल श्रम की पूर्ति प्रभावित होगी।



(a) चित्र 18.1 (b)

1. Marshall, "Principles of Economics" pp. 557-58.

इस प्रकार हमारे सामने दो स्थितियाँ हैं—कैयरंस के अनुसार बन्द समूहों में श्रम की पूर्ति पूर्ण रूप से बेलोचदार होती है तथा, मार्शल के अनुसार यह पूर्ति पूर्ण रूप से लोचदार होती है। इसे हम रेखाचित्र 18.1 से स्पष्ट कर सकते हैं।

दोनों रेखाचित्रों 18·1 (a)(b) में OX पर श्रम की माँग और पूर्ति तथा OY पर श्रम का मूल्य दिखाया गया है। चित्र 18·1 (a) में कैयरन्स तथा (b) में मार्शल का दृष्टिकोण दिखाया गया है। कैयरंस के अनुसार श्रमिकों का पूर्ति वक्र पूर्ण बेलोचदार होता है तथा मार्शल के अनुसार पूर्ण लोचदार होता है। कैयरन्स के अनुसार माँग वक्र में जब D D से परिवर्तन होकर वह D'D' हो जाता है तो श्रमिकों की कीमत प्रभावित होती है किन्तु पूर्ति स्थिर रहती है। यह चित्र 18·1 (a) में स्पष्ट है। मार्शल के अनुसार जब माँग वक्र D D से परिवर्तित होकर D' D' हो जाता है तो उसका प्रभाव केवल श्रमिकों की पूर्ति पर पड़ता है तथा उनकी कीमत स्थिर रहती है। यह चित्र 18·1 (b) में स्पष्ट है।

प्रो कैयरंस का "बन्द समूह" का विवेचन—हम यह कल्पना करें कि एक देश में कैयरंस द्वारा प्रतिपादित बन्द अथवा अप्रतियोगी समूह हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण मान लो उस देश को इस समूह द्वारा उत्पादित वस्तुओं से, पहले की तुलना में अधिक हानि होती है और इस समूह को विदेशी आयातों से भारी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है तो इसका परिणाम यह होगा कि इस समूह के श्रमिकों की मजदूरी में कमी होगी। किन्तु यदि इनकी मजदूरी एकाएक तेजी से गिरती है तो फिर श्रमिक इस समूह को छोड़ देंगे तथा अन्य श्रमिक इस व्यवसाय अथवा समूह में नहीं आवेंगे। यदि इसके विपरीत देश, तुलनात्मक लाभ के कारण "बन्द समूह" के माल का निर्यात करता है तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रभाव यह होगा कि श्रमिकों की मजदूरी में वृद्धि हो जायगी। यह सम्भव है कि इस समूह के मजदूर श्रम संघ दृढ़ संगठन के द्वारा, इस समूह में अन्य मजदूरों को न आने दें एवं मजदूरी ऊँची रखने में सफल हो जायें। कैयरंस की यह व्याख्या अल्पकालीन है।

मार्शल और टॉजिग का विवेचन—यदि हम मार्शल की श्रम की लोचदार पूर्ति की मान्यता को स्वीकार करें तो हमें स्वीकार करना होगा कि दीर्घकाल में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का श्रमिकों के विभिन्न समूहों की सापेक्षिक मजदूरी पर प्रभाव नहीं पड़ता। प्रो० टॉजिग भी मार्शल के विचार से सहमत हैं। उनका कहना है कि विदेशों से श्रमिकों की माँग पर पड़ने वाला दबाव मजदूरी की सापेक्षिक दरों को मुश्किल से ही प्रभावित करेगा जिनका निर्धारण देश के मानकों के अनुसार हुआ है।

यदि हम उपर्युक्त स्थिति को मार्शल के विवेचन का संशोधित रूप मानें तो हमें टॉजिग के इस कथन में कोई विरोधाभास प्रतीत नहीं होता जिसमें उन्होंने विभिन्न प्रकार के श्रमिकों की पूर्ति द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर होने वाले प्रभावों पर जोर दिया है। यदि किसी देश में श्रम के अप्रतियोगी समूहों द्वारा जो अन्य देश में विद्यमान नहीं हैं, सस्ते श्रम की प्रचुर मात्रा में पूर्ति की जाती है तो इसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर व्यापक प्रभाव पड़ेगा। अपने तर्क की पुष्टि में टॉजिग (Taussing) ने जर्मनी के रसायन और कोलतार के उत्पादनों के निर्यातों का उदाहरण दिया है। जिनका उत्पादन रसायन विशेषज्ञों एवं प्रशिक्षित सहायकों द्वारा किया जाता है।

टॉजिग का विवेचन पाण्डित्यपूर्ण एवं तथ्यों से पुष्ट होते हुए भी यह स्वीकार करना होगा कि उनकी अप्रतियोगी समूहों की व्याख्या पूर्ण और व्यवस्थित नहीं है। प्रो हैबरलर का मत है कि मूल्य के श्रम सिद्धान्त को सामान्य मूल्य के सिद्धान्त द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया जाय तो टॉजिग की व्याख्या को अधिक व्यावहारिक बनाया जा सकता है।

प्रो. हैबरलर द्वारा अप्रतियोगी समूहों की व्यवस्थित व्याख्या

प्रो. हैबरलर के अनुसार अप्रतियोगी समूहों के श्रमिक एक प्रकार से उत्पादन के विशिष्ट (Specific Factors) हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विभिन्न विशिष्ट और अविशिष्ट साधनों की सापेक्षिक कीमतों पर क्या प्रभाव पड़ेगा इसके सम्बन्ध में निम्न बातों पर ध्यान देना आवश्यक है :

(1) जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप वस्तुओं का अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय होता है तो उन साधनों की कीमतों में वृद्धि हो जाती है जो उस देश के निर्यात उद्योग के लिए विशिष्ट साधन होते हैं तथा अन्य उद्योगों की तुलना में निर्यात उद्योगों में अधिक मात्रा में प्रयुक्त होते हैं।

(2) जिन वस्तु के उत्पादन में देश का तुलनात्मक रूप से हानि होती है, उनमें लगे हुए विशिष्ट साधनों के मूल्य में कमी हो जाती है क्योंकि इन उद्योगों का या तो संकुचन कर दिया जाता है अथवा उन्हें बन्द कर दिया जाता है।

(3) जो साधन अविशिष्ट हैं अर्थात् जो दूसरे उद्योगों में भी रोजगार प्राप्त कर सकते हैं, उनकी कीमतों में वृद्धि हो जाती है क्योंकि उनसे कुल उत्पादन में वृद्धि हो जाती है किन्तु साधनों की कीमतों में यह वृद्धि, उन विशिष्ट साधनों से कम होती जिसका अध्ययन हमने क्रमांक (1) में किया है।

श्रम और उत्पत्ति के भौतिक साधन
(LABOUR AND MATERIAL MEANS OF PRODUCTION)

प्रो. हैबरलर ने श्रम और उत्पत्ति के भौतिक साधनों में भेद किया है। उनके अनुसार दीर्घकाल में उत्पत्ति के भौतिक साधन जो अति विशिष्ट होते हैं। मुख्य रूप से कृषि में पाये जाते हैं जैसे विभिन्न श्रेणियों की भूमि और सब प्रकार के प्राकृतिक साधन, यद्यपि समस्त प्राकृतिक साधन विशिष्ट नहीं होते। जहाँ तक अन्य उद्योगों—निर्माण उद्योग, वाणिज्य और यातायात का प्रश्न है, इनमें दीर्घकाल में विशिष्ट भौतिक साधनों की भूमिका विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। परन्तु यदि हम अल्पकालीन दृष्टि से विचार करें तो अधिकांश बिल्डिंग, प्लान्ट, यातायात के साधन और मध्यवर्ती उत्पाद (Intermediate Prodects) आदि विशिष्ट होते हैं। इसलिए विदेशी प्रतियोगिता में होने वाले परिवर्तन, प्रशुल्क में होने वाली वृद्धि अथवा कमी अथवा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तनों का उक्त साधनों के स्वामियों की आय पर बहुत प्रभाव पड़ता है, या तो इन साधनों की आय में वृद्धि होती है अथवा उसमें कमी हो जाती है।

जहाँ तक श्रम का प्रश्न है, दीर्घकाल में उत्पत्ति का यह साधन सबसे कम विशिष्ट होता है तथा इसे अन्य रोजगारों में भी प्रयुक्त किया जा सकता है। किन्तु अल्पकाल में यही साधन अति विशिष्ट हो जाता है और इसकी गतिशीलता कम हो जाती है। जब कुछ आर्थिक दशाओं में होने वाले परिवर्तन के फलस्वरूप, किन्हीं उद्योगों में श्रम को अधिक मात्रा में प्रयुक्त किया जाता है तथा दूसरे उद्योगों में श्रम को कम मात्रा में लगाया जाता है तो इससे उन श्रमिकों को हानि होती है (स्थायी अथवा अस्थायी रूप से) जहाँ उनकी मात्रा कम कर दी जाती है। स्वाभाविक है इनमें श्रमिकों में असन्तोष की भावना फैलती है। वर्तमान में होने वाली प्रविधियों एवं प्रयोगों ने श्रमिकों की गतिशीलता एवं बहुधन्धों को सीमित कर दिया है। दो बातों ने इसे प्रभावित किया है प्रथम तो बढ़ते हुए श्रमसंघों के प्रभावों ने एवं सरकार द्वारा श्रमिकों के मामलों में हस्तक्षेप के कारण, उनकी गतिशीलता कम हो गयी है तथा दूसरे अब बढ़ती हुई जनसंख्या का स्थान भौतिक अवस्था में नहीं है जिससे अब श्रमिकों का विभिन्न उद्योगों में पुनर्वितरण करना सम्भव नहीं रह गया है।

अध्याय 19

विदेशी व्यापार गुणक
[FOREIGN TRADE MULTIPLIER]

परिचय

विदेशी व्यापार गुणक को समझने के पहले यह आवश्यक है कि हम गुणक के बारे मे समझ लें। ऐसा माना जाता है कि सबसे पहले अर्थशास्त्र मे गुणक का प्रयोग प्रो. आर. एफ. काहन (R. F Kahn) ने सन् 1931 मे किया जो कि रोजगार गुणक था। बाद मे प्रो. केन्स ने इसमे संशोधन कर इसका प्रयोग अपने रोजगार के सिद्धान्त मे किया जिसे विनियोग गुणक (Investment Multiplier) कहते है। इसके गुणक की धारणा का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे किया गया जिसे विदेशी व्यापार गुणक कहते है। सरल शब्दो मे गुणक विनियोग में प्रारम्भिक वृद्धि एव कुल आय मे होने वाली अन्तिम वृद्धि के बीच सम्बन्ध व्यक्त करता है। इसी के अनुरूप, विदेशी व्यापार गुणक, निर्यात मे वृद्धि के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय मे होने वाली वृद्धि का सूचक है। राष्ट्रीय आय मे वृद्धि केवल घरेलू विनियोग के कारण ही नही होती वरन इसमे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

प्रो. केन्स का विनियोग गुणक
(KEYNES' INVESTMENT MULTIPLIER)

प्रो केन्स ने अपने रोजगार के सिद्धान्त मे सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (Marginal Propensity to Consume) को महत्वपूर्ण स्थान दिया है तथा इससे गुणक को सम्बन्धित किया है क्योंकि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (M P. C) का गुणक पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। गुणक बताता है कि प्रारम्भिक विनियोग का उपभोग मे परिवर्तन के माध्यम से अन्तिम कुल आय पर क्या प्रभाव पड़ता है। संक्षेप मे, "विनियोग मे होने वाले और उसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आय मे होने वाले परिवर्तन का अनुपात ही गुणक है।[1] जब भी अर्थव्यवस्था मे विनियोग किया जाता है तो राष्ट्रीय आय मे केवल उतनी ही वृद्धि नही होती जितना कि विनियोग किया गया है वरन् उससे अधिक होती है। इसका कारण यह है कि प्रारम्भिक विनियोग से केवल उन्ही उद्योगो मे आय नही बढ़ती जहाँ विनियोग किया गया है वरन् उन उद्योगो मे भी आय बढ़ती है जिनकी वस्तुओ की माँग विनियोग किये गये उद्योगो मे प्रयुक्त श्रमिकों द्वारा की जाती है।

गुणक का आकार, MPC के आधार पर निर्भर रहता है। यदि MPC ऊँची है तो गुणक भी ऊँचा होगा, यदि MPC कम है तो गुणक भी कम होगा। यदि हम MPC जानते है तो गुणक को जाना जा सकता है। यदि 1 मे से MPC को घटा दिया जाय तो उसके व्युत्क्रम को गुणक कहते है इसे अग्रलिखित सूत्र द्वारा व्यक्त कर सकते है।

1 "The Multiplier is the ratio of the change in income to the change in investment"

$$K = \frac{1}{1-m}$$

जिसमें K=गुणक

m=सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति

यदि MPC $\frac{1}{2}$ है तो गुणक 2 होगा जिसे नीचे दिखलाया गया है।

$$K = \frac{1}{1-\frac{1}{2}} = \frac{1}{\frac{1}{2}} = 2$$

सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति में यदि सीमान्त बचत प्रवृत्ति (Marginal Propensity to Save MPS) को जोड़ दिया जाय तो योग इकाई के बराबर होगा अर्थात् यदि 1 में से MPC को घटा दिया जाय तो MPS बच रहेगा। अतः गुणक को निम्न प्रकार भी ज्ञात किया जा सकता है :

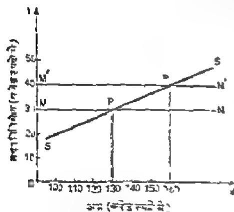
$$K = \frac{1}{S}$$

यहाँ S=सीमान्त बचत प्रवृत्ति

जैसे यदि MPC 9/10 है तो इसे 1 में से घटाने पर MPS निकाला जा सकता है जो 1/10 होगा तथा इसका व्युत्क्रम 10 गुणक होगा। संक्षेप में कहा जा सकता है कि गुणक सीमान्त बचत प्रवृत्ति का व्युत्क्रम होता है।

गुणक का रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण

विनियोग गुणक को रेखाचित्र की सहायता से भी समझाया जा सकता है मानलो समाज की MPC 2/3 है तो MPS 1/3 होगी अर्थात् गुणक 3 होगा। समाज में पहले विनियोग 30 करोड़ रुपये का था तथा अब अतिरिक्त 10 करोड़ का विनियोग किया जाता है। चूँकि गुणक 3 है तो कुल आय में 30 करोड़ रुपये की अतिरिक्त वृद्धि होगी। नीचे रेखाचित्र से यह स्पष्ट है।



चित्र 19·1

संलग्न रेखाचित्र 19·1 में रेखा MN प्रारम्भिक 30 करोड़ रुपये का विनियोग दिखा रही है। अतिरिक्त 10 करोड़ रुपये का विनियोग M'N' रेखा द्वारा दिखाया गया है। बचत एवं विनियोग का प्रारम्भिक सन्तुलन बिन्दु P है जहाँ समाज की कुल आय 130 करोड़ रुपये है जब अतिरिक्त 10 करोड़ रुपये का विनियोग किया जाता है तो नये विनियोग की रेखा M'N' पूर्ति वक्र SS को N' बिन्दु पर काटती है। इस सन्तुलन बिन्दु पर कुल आय 160 करोड़ रुपये है जिसका अर्थ है कि अतिरिक्त 10 करोड़ रुपये के विनियोग से कुल आय में 30 करोड़ रुपये की अतिरिक्त वृद्धि हुई है क्योंकि गुणक 3 है।

प्रो. काहन का रोजगार गुणक
(PROF. KAHAN'S EMPLOYMENT MULTIPLIER)

अब विदेशी व्यापार गुणक को समझने के पहले हम संक्षेप में रोजगार को भी समझ लें। रोजगार गुणक, प्रारम्भिक रोजगार में वृद्धि और कुल रोजगार में वृद्धि का अनुपात है। मानलो भवन-निर्माण कार्य में 20 करोड़ रुपये के विनियोग के फलस्वरूप 4 लाख व्यक्तियों को रोजगार

यहाँ 1 का अर्थ चालू वर्ष से है तथा o का अर्थ आधार वर्ष से है। आधार वर्ष में निर्यात और आयात की कीमतों के निर्देशांक को 100 मान लिया जाता है जिसकी व्यापार की शर्तें 1 होगी क्योंकि $\frac{100}{100}=1$

यदि चालू वर्ष में निर्यात कीमत निर्देशांक 160 तथा आयात कीमत निर्देशांक 120 है तो व्यापार की शर्तों की गणना इस प्रकार होगी

$$N=\frac{160}{120}=\frac{100}{100}=1{\cdot}33 \quad !$$

इसका आशय है कि चालू वर्ष में व्यापार की शर्तों में 33 प्रतिशत सुधार हुआ है। अर्थात् यदि आयात कीमतों की तुलना में निर्यात मूल्य बढ़ता है तो व्यापार की शर्तें देश के अनुकूल हो जाती हैं और यदि निर्यात मूल्यों की तुलना में आयात मूल्य बढ़ता है तो व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हो जाती हैं। जब एक देश की व्यापार की शर्तों में सुधार होता है तो वह शेष विश्व में वास्तविक उत्पादन की निश्चित मात्रा, निर्यात किये जाने वाले कम वास्तविक उत्पादन में क्रय कर सकता है। इससे हम व्यापार की स्थिति में होने वाले अल्पकालीन परिवर्तनों की गणना कर सकते हैं।

किन्तु शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों का प्रमुख दोष यह है कि इससे भुगतान सन्तुलन की स्थिति का ज्ञान नहीं होता क्योंकि यह व्यापार की मात्रा पर ध्यान नहीं देती।

उपरोक्त आधार पर प्रो मार्शल-एजवर्थ ने व्यापार की शर्तों का रेखाचित्रीय निरूपण किया है जिसकी विवेचना हम आगे करेंगे।

(ii) सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें—अभी यह स्पष्ट किया गया है कि शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें का भुगतान सन्तुलन के बारे में कोई जानकारी नहीं देती। इस दोष को दूर करने के लिए प्रो. टॉजिग ने सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तों का प्रतिपादन किया। उनका कहना है कि आयात और निर्यात कीमतों में सम्बन्ध स्थापित करने के स्थान पर आयात और निर्यात की कुल मात्राओं में सम्बन्ध स्थापित किया जाना चाहिए अत प्रो टॉजिग के अनुसार सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें आयात की कुल भौतिक मात्रा और निर्यात की कुल भौतिक मात्रा का सम्बन्ध व्यक्त करती हैं अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि सकल वस्तु विनिमय व्यापार की पूर्ति एक देश के कुल निर्यातों और कुल आयातों के बीच विनिमय दर को व्यक्त करती है। सूत्र के रूप में इसे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है

$$G=\frac{Qm}{Qx}$$

उपरोक्त सूत्र में G=सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें

Q=मात्रा

x=निर्यात

m=आयात

यदि हम व्यापार की शर्तों की दो अवधियों में तुलना करना चाहें तो निम्न सूत्र होगा :

$$G=\frac{Qm_1}{Qx_1}:\frac{Qmo}{Qxo}$$

यहाँ 1=चालू वर्ष और o=आधार वर्ष

यदि चालू वर्ष की G में वृद्धि होती है तो यह अनुकूल स्थिति की परिचायक है अर्थात् आधार वर्ष की तुलना में दी हुई निर्यात की मात्रा के बदले अधिक मात्रा में आयात किया जा रहा है।

यदि व्यापार अधिशेष (Balance of Trade) सन्तुलन की स्थिति में है तो शुद्ध और सकल वस्तु विनिमय की व्यापार की शर्तें एक समान रहती हैं तथा व्यापार अधिशेष में सन्तुलन न होने से इनमें भिन्नता रहती है। यदि व्यापार एकपक्षीय (unilateral) हो तो भी शुद्ध और सकल वस्तु विनिमय की व्यापार की शर्तें समान नहीं रहती।

सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तों की इर्सलिए आलोचना की जाती है क्योंकि इनमें एकपक्षीय भुगतान को शामिल किया जाता है जो कि उचित नहीं है क्योंकि इन भुगतानों पर व्यापार की मात्रा का प्रभाव नहीं पड़ता। अत. एकपक्षीय भुगतान में होने वाले लाभ या हानि को व्यापार से होने वाले लाभ या हानि समझना गलत होगा।

सकल वस्तु विनिमय कीमतों के परिवर्तन के बारे में अधिक जानकारी नहीं देता वरन् भुगतान सन्तुलन के बारे में इससे अधिक जाना जा सकता है। इसलिए कई अर्थशास्त्री शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तों का प्रयोग करना अच्छा समझते हैं।

(iii) आय व्यापार की शर्तें—प्रो जी एस. डोरेंस[1] (G. S Dorrance) ने शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तों में सशोधन किया एव आय व्यापार की शर्तों का प्रतिपादन किया। इसकी परिभाषा देते हुए उन्होंने बताया कि यदि निर्यातों के मूल्य के निर्देशांक को आयातों की कीमतों के निर्देशांक से विभाजित कर दिया जाय तो आय व्यापार की शर्तों को ज्ञात किया जा सकता है। दूसरे शब्दों मे कहा जा सकता है कि यदि शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तों में निर्यातों की मात्रा का गुणा कर दिया जाय तो आय व्यापार शर्तों को व्यक्त किया जा सकता है। आय व्यापार की शर्तों को आयात करने की क्षमता (Capacity to Import) के रूप में भी परिभाषित किया जाता है। इसे निम्न सूत्र मे व्यक्त किया जा सकता है—

$$I = \frac{Px\ Qx}{Pm}$$

जिसमे I=आय व्यापार की पूर्ति, P=कीमतें, Q=मात्रा, X=निर्यात, m=आयात

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, आय व्यापार की शर्तों को देश की आयात क्षमता भी कहा जाता है क्योंकि $\frac{PxQx}{Pm}$ आयात की मात्रा Qm का सूचक है एक देश अधिक आयात कर सकता है यदि—

(i) अन्य बातों के स्थिर रहने पर, निर्यात की कीमतों में वृद्धि हो जावे,

(ii) अन्य बातों के स्थिर रहने पर आयात की कीमतों में कमी हो जावे अथवा

(iii) अन्य बातों के स्थिर रहने पर निर्यात की मात्रा में वृद्धि हो जावे।

निर्यात पर आधारित, आयात-क्षमता को कुल आयात करने की क्षमता से भिन्न समझना चाहिए। कुल आयात क्षमता न केवल निर्यात पर निर्भर रहती है वरन् देश में पूँजी के अन्तःप्रवाह (Inflow) और अदृश्य विनिमय प्राप्तियों पर भी निर्भर रहती है। आय-व्यापार की शर्तों मे होने वाला परिवर्तन आवश्यक रूप से देश मे कल्याण में परिवर्तन का प्रतीक नहीं है वरन् निर्यात के माध्यम से आयात की मात्रा का सूचक है।

(iv) एक-घटकीय व्यापार की शर्तें—वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें निर्यातों के उत्पादन मे, उत्पादकता में होने वाले परिवर्तन पर ध्यान नहीं देती अत. इस दोष को दूर करने के लिए प्रो. वाइनर ने "एक घटकीय व्यापार की शर्तों" का प्रतिपादन किया। ये व्यापार की शर्तें निर्यात

---

1 Dorrance G S.—*Income terms of trade Review of Economic Studies* (Edinburgh 1950). p. 55.

कीमत निर्देशांक और आयात कीमत निर्देशांक के अनुपात को व्यक्त करती है जिसमें निर्यातों के उत्पादन को देश के साधनों की उत्पादकता में होने वाले परिवर्तनों के अनुसार समायोजित कर लिया जाता है। वाइनर के अनुसार, यदि वस्तु व्यापार शर्तों के निर्देशांक को निर्यात-वस्तु के तकनीकी गुणकों के निर्देशांक के व्युत्क्रम (Reciprocal) से गुणा कर दिया जाय तो जो निर्देशांक प्राप्त होगा वह व्यापार से लाभ की प्रवृत्ति के बारे में वस्तु व्यापार शर्तों के निर्देशांक की तुलना में अधिक अच्छा पथ प्रदर्शक हो सकता है"[1]। इसे निम्न सूत्र द्वारा प्रकट किया जा सकता है :

$$S=\frac{Px}{Pm}Zx$$

जहाँ S=एक घटकीय व्यापार की शर्तें

Zx=निर्यातों की उत्पादकता का निर्देशांक

$\frac{Px}{Pm}$=शुद्ध वस्तु-विनिमय व्यापार की शर्तें (इसे पहले ही समझाया जा चुका है)

उपरोक्त सूत्र को निम्न रूप में भी व्यक्त कर सकते हैं :

$$S=NZx$$

जहाँ N=शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें

यदि S में वृद्धि होती है तो यह इस अर्थ में अनुकूल परिवर्तन की सूचक है कि निर्यात वस्तुओं के उत्पादन में प्रयुक्त प्रति इकाई साधन-आगत (Facter-input) के लिए आयातों की अधिक मात्रा को प्राप्त किया जा सकता है।

जब उत्पादन की दशाओं में परिवर्तन होता है तो केवल वस्तु व्यापार की शर्तों से व्यापार के लाभ की गणना नहीं की जा सकती। यदि आयात मूल्यों की तुलना में, निर्यात मूल्य गिरते हैं किन्तु इन मूल्यों में गिरावट की तुलना में उत्पादकता में अधिक वृद्धि होती है तो निश्चित ही देश की स्थिति में सुधार होगा। यद्यपि वस्तु व्यापार शर्तों के अनुसार यह स्थिति प्रतिकूल होगी। इसी श्रेष्ठता के कारण सर डेनिस राबर्टसन (Sir Dennis Robertson) ने आय व्यापार की शर्तों को सब व्यापार की शर्तों की तुलना में सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना है।

(५) द्विघटकीय व्यापार की शर्तें—एक-घटकीय व्यापार की शर्तों में, देश आयातों के उत्पादन की सम्भावित लागत पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है अतः इस कमी को दूर करने के लिए प्रो० वाइनर ने द्विघटकीय व्यापार की शर्तों का प्रयोग किया। यदि वस्तु व्यापार की शर्तों (N) को आयातों तथा निर्यातों का उत्पादन करते हुए उत्पादकता में होने वाले परिवर्तनों के अनुकूल बना दिया जाय तो वस्तु व्यापार की शर्तें, द्विघटकीय व्यापार की शर्तों में परिवर्तित हो जाती हैं। इसे निम्न सूत्र में व्यक्त कर सकते हैं :

$$D=\frac{NZx}{Zm}$$

जिसमें D=द्विघटकीय व्यापार की शर्तें, Zm= आयात उत्पादकता निर्देशांक

N=शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें

Zx=निर्यात उत्पादकता निर्देशांक

---

1 "If the Commodity terms of trade index is multiplied by the reciprocal of the export Commodity technical co-efficients index, the resultant index will provide a better guide to the trend of gain from trade than the commodity terms of trade index by itself.
—*Prof. J. Viner, op. cit., p. 559.*

यदि D में वृद्धि होती है तो यह इस बात का सूचक है कि निर्यात-उत्पादन में प्रयुक्त देश के साधनों की एक इकाई के बदले आयात-उत्पादन में प्रयुक्त विदेशी साधनों की अधिक इकाईयाँ प्राप्त की जा सकती हैं।

यदि दो देशों में स्थिर लागत दशाओं के अन्तर्गत उत्पादन हो रहा है और परिवहन लागत नहीं लगती तो द्विघटकीय व्यापार की शर्तों (D) और वस्तु व्यापार की शर्तों (N) में समानता होगी तथा इन दोनों में परिवर्तन होने पर D और N में भी भिन्नता होगी और ऐसी स्थिति में D इस बात की सूचक होगी कि व्यापार के लाभों का विभाजन किस प्रकार हो रहा है।

प्रो० किंडलबर्जर के अनुसार एकघटकीय व्यापार की शर्तें द्विघटकीय व्यापार की तुलना में अधिक सार्थक एवं महत्वपूर्ण है।

प्रो वाइनर की उक्त व्यापार की शर्तों को प्रयुक्त करने में इसलिए कठिनाई होती है क्योंकि उत्पादकता में होने वाले परिवर्तनों की गणना करना कठिन है।

(vi) **वास्तविक लागत व्यापार की शर्तें**—प्रो० वाइनर ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के वास्तविक लाभों का निर्धारण करने के लिए "वास्तविक लागत व्यापार की शर्तों का प्रतिपादन किया है। उपयोगिता के सन्दर्भ में, व्यापार से कुल लाभों की गणना, निर्यातों में त्याग की गयी उपयोगिता (प्राप्त अनुपयोगिता) के बदले आयातों से प्राप्त अतिरिक्त उपयोगिता के माध्यम से की जाती है। यदि निर्यातों के उत्पादन के कारण होने वाली अनुपयोगिता (तुष्टिहीनता) पर विचार करना हो तो एकघटकीय व्यापार की शर्तों के निर्देशांक में उन उत्पादन साधनों की प्रति इकाई तुष्टिहीनता के निर्देशांक के व्युत्क्रम (Reciprocal) का गुणा करते हैं जो निर्यातों के उत्पादन में प्रयुक्त किये जाते हैं। इसके फलस्वरूप जो सूचक (Index) प्राप्त होता है, उसे वास्तविक लागत व्यापार की शर्तें कहते हैं।

इसे निम्न सूत्र द्वारा व्यक्त कर सकते हैं :

$$R = NZxRx$$

जहाँ R = वास्तविक लागत व्यापार की शर्तें

N = शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें

Zx = निर्यातों की उत्पादकता का निर्देशांक

Rx = निर्यातों के उत्पादन में प्रति इकाई साधन की तुष्टिहीनता का निर्देशांक

R में होने वाली वृद्धि इस बात की सूचक है कि प्रति इकाई वास्तविक लागत से प्राप्त आयातों की मात्रा अधिक है।

वास्तविक लागत व्यापार की शर्तों का निर्देशांक विदेशी वस्तुओं की उस मात्रा को दिखाता है जो निर्यात वस्तुओं के उत्पादन की प्रति इकाई वास्तविक लागत से प्राप्त की जा सकती है। किन्तु इसमें व्यापार से होने वाले लाभ का आंशिक बोध ही होता है, पूर्ण नहीं। अतः इस लाभ को पूर्ण रूप से ज्ञात करने के लिए वाइनर ने "उपयोगिता की शर्तें" (Utility Terms of Trade) का प्रयोग किया।

(vii) **उपयोगिता व्यापार की शर्तें**—यदि वास्तविक लागत व्यापार की शर्तों में आयात की सापेक्षिक उपयोगिता और परित्याग की गयी वस्तुओं के निर्देशांक (u) का गुणा कर दिया जाय तो उपयोगिता व्यापार की शर्तों को ज्ञात किया जा सकता है यथा—

$$u = NZxRxu$$

दूसरे रूप में इसे निम्न प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं :

$$u = \frac{Px}{Pm} ZxRxu$$

प्रो० राबर्टसन उपयोगिता व्यापार की शर्तों को वास्तविक व्यापार की शर्तें मानते हैं।

व्यापार की शर्तों के विभिन्न प्रकार—एक तुलनात्मक विवेचन

व्यापार की शर्तों के उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तों (G) द्विघटक व्यापार-शर्तों (D) वास्तविक लागत शर्तें (R) और उपयोगिता व्यापार की शर्तें (u) की गणना करना बहुत कठिन है। यदि हम सही रूप से G को जानना चाहते है तो हमें एकपक्षीय भुगतान के विभिन्न प्रकारो में भेद करना चाहिए जो एक कठिन कार्य है। इसी प्रकार D और N के अन्तर की सीमा जानना भी कठिन है। चूंकि उपयोगिता की गणना एक विवादग्रस्त विषय है अतः R तथा u की गणना करना भी जटिल है।

इन कठिनाइयो के कारण व्यावहारिक रूप से शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तों (N), एकघटकीय व्यापार-शर्तों (S) और आय व्यापार-शर्तों (I) का अधिक प्रयोग किया जाता है। इनमे होने वाले परिवर्तनो का विकसित और अर्धविकसित दोनो देशो की आर्थिक गतिविधियो पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

जे० एस० मिल का व्यापार शर्तों का सिद्धान्त

प्रो० मिल के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे पारस्परिक मांग के द्वारा व्यापार की शर्तों का निर्धारण होता है जो व्यापार करने वाले देश के लाभ का अंश निर्धारित करती है। मिल ने व्यापार की शर्तों को वस्तु विनिमय व्यापार-शर्तों के रूप मे परिभाषित किया है जो दिये हुए निर्यातो के बदले मे, प्राप्त आयातो के अनुपात को दिखाती हैं। मिल ने बताया कि व्यापार की शर्तें केवल लागत पर ही निर्भर नही रहती जैसा कि रिकार्डो ने माना था, वरन् मांग की दशाओं पर भी निर्भर रहती है।

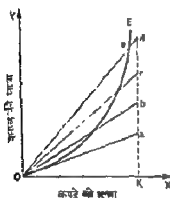
मिल के अनुसार दो देशो के बीच वस्तुओं के वास्तविक विनिमय का अनुपात पारस्परिक मांग पर निर्भर रहता है। पारस्परिक मांग का अर्थ है कि दो देशों की एक दूसरे की वस्तु के लिए अपनी वस्तु की तुलना मे सापेक्षिक मांग की लोच क्या है। जब प्रत्येक देश के आयातो का मूल्य, उसके निर्यातो के मूल्य के बराबर होता है तो विनिमय अनुपात स्थिर (Stable) रहता है।

मिल ने स्पष्ट किया कि यह सम्भव है कि एक देश के लिए व्यापार की शर्तें अनुकूल हो तथा दूसरे देश के लिए प्रतिकूल जो देश के सापेक्षिक मांग की लोच पर निर्भर रहती हैं। मांग की लोच ही व्यापार से लाभ की मात्रा को निर्धारित करती है। उदाहरण के लिए यदि एक देश की मांग की लोच, आयातो के लिए बेलोचदार है तो वह आयात की वस्तुओं के बदले, अपने देश की अधिक वस्तुओं का निर्यात करने के लिए तैयार रहेगा अत ऐसे देश के लिए व्यापार की शर्तें प्रतिकूल रहेंगी एवं व्यापार मे उसकी लाभ की मात्रा घट जायगी। किन्तु यदि देश की आयातो की मांग सापेक्षिक रूप से लोचदार है तो वह दिये हुए आयातो के बदले मे, अपनी कम वस्तुओं का निर्यात करने के लिए तैयार रहेगा। ऐसी स्थिति मे, उसकी व्यापार की शर्तें अनुकूल हो जायेंगी तथा उसके लाभ की मात्रा बढ़ जायगी। अन्य शब्दो मे कहा जा सकता है कि जब कोई देश व्यापार की शर्तों को दूसरे देश के गृह लागत अनुपात की ओर ले जाने में सफल हो जाता है तो उसका स्वयं का लाभ बढ़ जाता है।

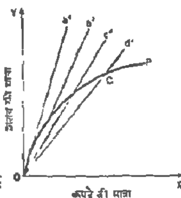
प्रो० मिल का विश्लेषण मौद्रिक मूल्यो मे न होकर वस्तु मूल्यो के रूप मे है अर्थात् एक वस्तु का मूल्य दूसरी वस्तु के रूप मे व्यक्त करके ही मिल के पारस्परिक मांग के सिद्धान्त को स्पष्ट किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त मिल ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के भुगतान एवं आय मूल्य सम्बन्धो पर भी ध्यान नही दिया है। फिर भी मिल के विवेचन ने उस नीव कार्य किया है जिस पर मार्शल ने अपने प्रस्ताव वक्र की व्याख्या को आधारित किया है जिसका विश्लेषण अगले पृष्ठ पर है। मार्शल ने रेखागणित का सहारा लेकर अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय मे व्यापार की शर्तों के निर्धारण मे मांग की शक्तियो को अधिक स्पष्ट एवं सशक्त रूप से समझाया है।

मार्शल-एजवर्थ प्रस्ताव-वक्र द्वारा व्यापार शर्तों की व्याख्या

प्रो. मार्शल व एजवर्थ ने दो देशों और दो वस्तुओं के माडल के आधार पर प्रस्ताव वक्र की सहायता से शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तों की व्याख्या की है। यह मिल के पारस्परिक माँग सिद्धान्त का रेखाचित्रीय निरूपण है। किसी देश का प्रस्ताव वक्र (Offer Curve) उस वस्तु की मात्रा को दिखाता है जो वह अन्य वस्तु की निश्चित मात्रा के बदले में देने को तैयार है। यह दो वस्तुओं की सापेक्षिक कीमत पर आधारित होती है। कीमत रेखा (कीमत अनुपात वक्र) उस सीमा को दिखाती है जिसके बाहर प्रस्ताव वक्र नहीं जा सकती। अर्थात जिस विनिमय अनुपात पर एक देश किसी वस्तु को देश में पैदा कर सकता है, उस वस्तु को वह अधिक निर्यात के बदले में आयात नहीं करना चाहेगा। निम्न रेखाचित्र में इग्लैण्ड के कपड़े के प्रस्ताव वक्र को समझाया गया है जिसके बदले वह पुर्तगाल से शराब प्राप्त करना चाहता है—पुर्तगाल का प्रस्ताव वक्र भी समझाया गया है जिसमें वह शराब के बदले इग्लैण्ड से कपड़ा प्राप्त करना चाहता है—

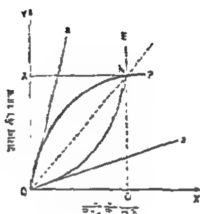


चित्र 16·1 (a)
इग्लैण्ड का कपड़े का प्रस्ताव वक्र
(शराब की माँग)



चित्र 16·1 (b)
पुर्तगाल का शराब का प्रस्ताव वक्र
(कपड़े की माँग)

उपरोक्त रेखाचित्र 16·1 (a) में Oa, Ob, Oc, Od रेखाओं का ढाल पुर्तगाल की शराब की तुलना में इग्लैण्ड के कपड़े की वैकल्पिक कीमतों को दिखाता है। Oa कीमत रेखा व्यापार से पूर्व इन दोनों वस्तुओं के विनिमय अनुपात को दिखाती है जिस कीमत रेखा पर OK कपड़े की मात्रा के बदले शराब की Oa मात्रा का विनिमय होता है। Ob कीमत रेखा पर OK कपड़े की मात्रा के बदले शराब की Ob मात्रा का विनिमय होता है। इस प्रकार बढ़ती हुई कीमत रेखा शराब के बदले कपड़े की बढ़ती हुई कीमतों को दिखाती है। (अथवा कपड़े की कीमत के बदले शराब की घटती कीमत दिखाती है) विभिन्न कीमतों पर इग्लैण्ड, पुर्तगाल की शराब के लिए कपड़े की कितनी मात्रा देना चाहता है, इस आधार पर प्रस्ताव वक्र खींचा गया है। रेखाचित्र 16·1 (a) में OE इग्लैण्ड का प्रस्ताव वक्र है—जो इग्लैण्ड के उन विभिन्न सन्तुलन बिन्दुओं को दिखाती है जिस पर वह पुर्तगाल की शराब के बदले कपड़े को देना चाहेगा। उपर्युक्त चित्र से स्पष्ट है कि Oa रेखा के ऊपर, इग्लैण्ड, शराब के बदले, कपड़े की क्रमशः कम मात्रा देने को तैयार है तथा अन्त में एक ऐसा बिन्दु e है जिस पर इंग्लैंड, अतिरिक्त शराब के बदले कपड़े की कोई मात्रा देने को तैयार नहीं है अर्थात यहाँ इग्लैंड की पूर्ति की लोच शून्य हो जाती है।



चित्र 16.2

है, उसका प्रमुख कारण उसकी व्यापार की शर्तों में दीर्घकालिक (Secular) सुधार है। व्यापार की शर्तों का महत्व निम्न विवेचन से स्पष्ट है:

(1) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ का निर्धारण—प्रो. मिल ने बहुत पहले ही यह स्पष्ट कर दिया था कि एक देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में जो लाभ प्राप्त करता है उसकी गणना आयातों की तुलना में, उसके निर्यातों की विनिमय दर में होने वाली वृद्धि अर्थात् व्यापार की शर्तों द्वारा की जाती है। यदि किसी देश के लिए व्यापार की शर्तें अनुकूल हो जाती हैं तो यह इस बात का प्रतीक है कि उसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अधिक लाभ प्राप्त हो रहा है। इसके फलस्वरूप देश में आय में वृद्धि होती है। इसके विपरीत यदि किसी देश के लिए व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हो जाती हैं तो उसके व्यापार के लाभ में कमी हो जाती है। बाटरकन के अनुसार, आयात और निर्यात करने वाले देशों के बीच लाभ का वितरण प्रचलित व्यापार की शर्तों द्वारा निर्धारित होता है। किसी देश के लिए व्यापार की शर्तें जितनी अधिक अनुकूल होंगी, उतना ही अधिक उस देश को व्यापार में लाभ का अंश प्राप्त होगा।"

इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि व्यापार की शर्तें कुल लाभ में से देश के हिस्से को ही निर्धारित करती हैं तथा 'कुल लाभ' अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का परिणाम है।

(2) साधनों के पुरस्कार और रोजगार पर प्रभाव—व्यापार की शर्तों का व्यावहारिक महत्त्व इस कारण भी है कि व्यापार शर्तें देश में साधनों के रोजगार एवं उनके पुरस्कार को प्रभावित करती हैं। जब एक देश की व्यापार-शर्तों में सुधार होता है तो इसके निर्यात उद्योग प्रोत्साहित होते हैं जिसके फलस्वरूप उन उद्योगों में कार्यरत उत्पत्ति के साधनों की माँग बढ़ती है जिससे रोजगार में वृद्धि होती है और साथ ही उन उद्योगों के साधनों का पुरस्कार बढ़ता है। जब इन साधनों की आय बढ़ती है तो अन्य उपभोग की वस्तुओं की माँग बढ़ती है जिससे अन्य उद्योग भी प्रोत्साहित होते हैं और वहाँ भी साधनों के रोजगार और आय में वृद्धि होती है। इसके विपरीत यदि व्यापार की शर्तों में ह्रास होता है तो ठीक विपरीत प्रभाव होता है।

(3) विदेशी विनिमय के अनुमान में सहायक—व्यापार की शर्तों से इस बात का भी अनुमान लगाया जा सकता है कि एक देश की विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यकता कितनी है? व्यापार की शर्तों से हम यह जान सकते हैं कि हमारे निर्यात मूल्य और आयात-मूल्य क्या हैं? यदि हमारे आयात मूल्य अधिक हैं और निर्यात मूल्य कम हैं तो व्यापार की शर्तों से ही हम जान सकते हैं कि कितनी मात्रा में अतिरिक्त विदेशी मुद्रा का भुगतान किया जाता है?

(4) जीवन-स्तर का अनुमान—किसी देश के लिए अनुकूल व्यापार की शर्तों का तात्पर्य है कि निश्चित निर्यात वस्तुओं के बदले में वह अधिक वस्तुओं का आयात कर सकता है। उपभोग की अधिक वस्तुओं के उपलब्ध होने से लोगों के जीवन-स्तर में वृद्धि होती है। इसके विपरीत प्रतिकूल व्यापार की शर्तों से जीवन-स्तर नीचे गिरता है। जिस देश के कुल उत्पादन में, विदेशी-व्यापार का प्रतिशत अधिक होता है वहाँ व्यापार की शर्तों का विदेशी-व्यापार से लाभ और जीवन स्तर का निर्धारण करने में महत्त्वपूर्ण हाथ होता है। इसके विपरीत यदि अर्थव्यवस्था प्रायः आत्म-निर्भर है तो उसमें व्यापार की शर्तों की महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं होती।

(5) आर्थिक विकास में सहायता—व्यापार की शर्तों का देश के आर्थिक विकास पर भी प्रभाव पड़ता है। एक देश की व्यापार की शर्तों में सुधार होने से अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में उसकी क्रयशक्ति बढ़ती है जो उसके आर्थिक विकास में सहायक होती है। व्यापार शर्तों में सुधार होने से देश, निश्चित निर्यात के बदले, अधिक वस्तुओं का आयात कर सकता है जिसके फलस्वरूप निर्यात उद्योगों एवं आयात-प्रतियोगी उद्योगों में जितने साधन अन्य विकास कार्यों के लिए उपलब्ध होते हैं उतनी ही मात्रा में देश में विकास की क्षमता बढ़ती है। निर्यात वस्तुओं की कीमतों में

वृद्धि होने से देश में विदेशी पूंजी, अधिक मात्रा में उपलब्ध होती है जो आर्थिक विकास में सहायक होती है।

व्यापार की शर्तों की गणना करने में कठिनाईयां—व्यापार की शर्तों की गणना करने में कई प्रकार की सांख्यिकीय कठिनाइयों [redacted] सामना करना पड़ता है। मुख्य कठिनाईयाँ इस प्रकार हैं :

(1) **निर्देशांकों की समस्या**—कई अर्थशास्त्रियों ने व्यापार की शर्तों की गणना करने में निर्देशांकों का सहजता से प्रयोग किया है। यदि कोई देश सिर्फ समरूप एक ही वस्तु का निर्यात एवं आयात करें तो व्यापार की शर्तों की गणना सरलता से की जा सकती है। किन्तु वास्तव में एक देश कई वस्तुओं का निर्यात एवं आयात करता है जिसमें भिन्नता होती है। ऐसी स्थिति में व्यापार की शर्तों में होने वाले परिवर्तनों की गणना करने में भारी कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

(2) **वस्तुओं में गुणात्मक परिवर्तन**—व्यापार की शर्तों की गणना यदि केवल सापेक्षिक कीमतों में होने वाले परिवर्तन के आधार पर की जाय तो यह गणना सही नहीं होगी क्योंकि वस्तुओं के गुणों में भी परिवर्तन होता है। पिछले वर्षों में, प्राथमिक वस्तुओं की तुलना में निर्मित वस्तुओं के गुणात्मक स्तर में भारी सुधार हुआ है जिसके फलस्वरूप उनकी कीमतों में वृद्धि हुई है। अतः यदि केवल कीमतों के आधार पर ही व्यापार की शर्तों की गणना करें तथा उनमें गुणात्मक परिवर्तन की अवहेलना करें तो यह सही गणना नहीं होगी।

(3) **आयात-निर्यात संरचना में परिवर्तन**—विदेशी व्यापार की कई वस्तुएँ विभिन्न प्रकारों आकारों एवं वर्गों की होती है। आयातों एवं निर्यातों की सापेक्षिक कीमतों में इसलिए भी परिवर्तन हो सकता है एवं व्यापार की शर्तें परिवर्तित हो सकती हैं क्योंकि आयात एवं निर्यात की संरचना में परिवर्तन हो गया है अर्थात वस्तुओं की विभिन्न श्रेणियों में परिवर्तन हो गया है।

(4) **इकाई मूल्य का उपयोग**—जिन मूल्यों के आधार पर व्यापार की शर्तों का निर्धारण किया जाता है, वे सरकारी आँकड़ों पर आधारित होते हैं। किन्तु जब तक वस्तुओं का बाजार में विक्रय नहीं किया जाता, वास्तविक कीमतों का सही ज्ञान नहीं हो पाता। सम्भव है कि प्रदर्शित कीमतों की तुलना में, वास्तविक कीमतों में भारी अन्तर हो और उसी सीमा तक व्यापार की शर्तों की गणना भी गलत हो सकती है।

(5) **भारांकन की समस्या**—जब हम व्यापार की शर्तों की गणना करने के लिए, विभिन्न वस्तुओं की कीमतों का औसत निकालते हैं तो सब वस्तुओं को समान महत्व नहीं दिया जा सकता अर्थात् आयात-निर्यात वस्तुओं का निर्देशांक बनाते समय वस्तु को उचित भार देने की समस्या आती है। इसके अतिरिक्त समय के साथ ही साथ वस्तुओं के महत्व में भी परिवर्तन होता है अतः उसी के अनुरूप उन्हें भार दिया जाना चाहिए।

(6) **जहाज, परिवहन एवं बीमा [redacted] व्यय**—व्यापार की शर्तों की गणना करते समय केवल आयात और निर्यात की वस्तुओं की कीमतों को ही शामिल किया जाता है किन्तु प्रायः विकसित देश अपने निर्यातों के लिए परिवहन व्यय और बीमा आदि का व्यय भी वसूल करते हैं। इसके विपरीत, विकसित देशों की आयात कीमतों में वे व्यय शामिल कर दिये जाते हैं जिनका अर्द्धविकसित देशों को भुगतान नहीं किया जाता। यदि हम व्यापार की शर्तों को अधिक वास्तविक बनाना चाहते हैं तो उनमें वस्तुओं के मूल्य के साथ सेवाओं के मूल्य का समावेश भी किया जाना चाहिए एवं इनका वास्तव में भुगतान किया जाना चाहिए।

(7) **निर्यातों एवं आयातों में समय अन्तराल**—व्यापार की शर्तों में किसी विशेष समय में आयातों एवं निर्यातों की सापेक्षिक कीमतों का बोध होता है किन्तु यह सम्भव है कि आयात

और निर्यात में समय का अन्तराल (Time-lag) हो विशेषकर उस समय जबकि देश को भुगतान सन्तुलन में अतिरेक अथवा घाटा हो। यदि एक देश उस समय निर्यात करता है जब आयातों की कम कीमतो के कारण उसकी व्यापार की शर्तें अनुकूल है और उस समय आयात करता है जब उसके निर्यातो की ऊँची कीमतो के कारण उसकी शर्तें अनुकूल है तो भले ही इससे ऐसा संकेत मिलता है कि व्यापार की शर्तों में सुधार हुआ है किन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि उसकी व्यापार की शर्तें अपरिवर्तित है। व्यापार की शर्तों का सही माप उसी समय सम्भव है जब आयात और निर्यात एक साथ ही किये जायें।

उपरोक्त कठिनाइयो का यह निष्कर्ष नही निकाला जाना चाहिए कि व्यापार-शर्तों की गणना महत्वहीन है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि व्यापार-शर्तों का प्रयोग, आर्थिक गणना करने के लिए, सावधानी के साथ किया जाना चाहिए।

व्यापार की शर्तों पर प्रभाव डालने वाले कारक
(FACTORS DETERMINING TERMS OF TRADE)

आधार रूप से किसी देश की व्यापार की शर्तों का निर्धारण, दूसरे देश की तुलना में, उसकी आयात एव निर्यात की सापेक्षिक माँग की लोच द्वारा होता है। इसके अतिरिक्त और भी अन्य कारण है जो व्यापार की शर्तों का निर्धारण करते है। इनका विवरण इस प्रकार है -

(1) **मांग की लोच**—प्रो मिल ने व्यापार की शर्तों के निर्धारण मे माँग की लोच को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना है और इसे "पारस्परिक माँग की लोच" कहा है। सापेक्षिक माँग की लोच पर निम्न बातो का प्रभाव पडता है।

(i) **जनसंख्या का आकार एवं वृद्धि**—जिस देश की जनसंख्या अधिक होती है तथा वृद्धि की दर भी अधिक होती है, उसकी आयात की तीव्रता सापेक्षिक रूप से अधिक होती है।

(ii) **वस्तुओं की प्रवृत्ति**—जिन वस्तुओ का आयात और निर्यात किया जाता है उनकी प्रकृति की माँग की लोच को प्रभावित करती है। प्राथमिक उत्पादन की माँग सामान्य रूप से बेलोचदार होती है तथा आय मे वृद्धि के साथ निर्माण वस्तुओ की माँग लोचदार होती है।

(iii) **वस्तुओं की विभिन्नता**—यदि एक देश विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन करता है तो दूसरे देश के लिए उसकी वस्तुओ की माँग अधिक तीव्र होती है तथा स्वय दूसरे देश के आयातों के लिए उसकी माग कम तीव्र होती है।

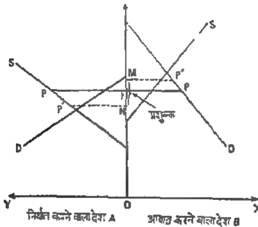
(iv) **लोगों की रुचि एव क्रय-क्षमता**—इन दोनो तत्वो का भी माँग की लोच पर काफी प्रभाव पडता है। लोगो की रुचि से इस बात का निर्धारण होता है कि देश मे किस प्रकार की वस्तुओ का आयात किया जायगा तथा लोगों की क्रय क्षमता यह निर्धारित करती है कि ये वस्तुएँ कितनी मात्रा मे आयात की जायगी यदि किसी देश A की विदेशी वस्तुओ की माँग, विदेशों द्वारा उसकी वस्तु की माँग की तुलना मे अधिक है तो व्यापार की शर्तें A के प्रतिकूल रहेगी तथा दूसरे देश B के अनुकूल रहेगी।

(2) **पूर्ति की लोच**—पूर्ति का लोचदार होने का अर्थ है कि कीमतो मे होने वाले परिवर्तनों के अनुसार पूर्ति को समायोजित किया जा सकता है। यदि देश मे निर्यातों की पूर्ति लोचदार है तो अन्य बातें समान होने पर, व्यापार की शर्तें उस देश के अनुकूल होंगी। पूर्ति बेलोचदार होने पर व्यापार की शर्तें देश के लिए प्रतिकूल होगी।

(3) **स्थानापन्न वस्तुओं की उपलब्धि**—एक देश जिन वस्तुओ का निर्यात कर रहा है यदि उसकी स्थानापन्न वस्तुएँ विदेशो मे उपलब्ध है तो ऐसे देश के लिए व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हो सकती है क्योंकि निर्यात की वस्तुओ मे जरा भी मूल्य वृद्धि होने पर, विदेशो मे उसकी माँग कम हो जायेगी क्योंकि वहां स्थानापन्न वस्तुओं का प्रयोग होने लगेगा। जैसे भारत की शक्कर की

स्थानापन्न वस्तु विदेशों में चुकन्दर की शक्कर है अत: भारत शक्कर का मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय बाजार नहीं बढ़ पाता।

(4) प्रशुल्क नीति (Tariff)—व्यापार की शर्तों में सुधार करने के उद्देश्य से प्रशुल्क का प्रयोग किया जाता है। प्रशुल्क का क्या प्रभाव पड़ेगा यह इस बात पर निर्भर रहता है कि प्रशुल्क किस प्रकार से लगाया जाता है। प्रशुल्क से व्यापार की शर्तों में उस समय सुधार होता है जब प्रशुल्क लगाने वाले देश की वस्तुओं की माँग विदेश में विस्तृत और बेलोचदार होती है। प्रशुल्क लगाने से आयात कम हो जाते है अत अपने निर्यातों को बढाने के लिए विदेशी, अपनी वस्तुओं के दाम कम कर देते है। इससे प्रशुल्क लगाने वाले देश को आयात की वस्तुएँ सस्ती प्राप्त होने लगती है। इस प्रकार प्रशुल्क लगाने का प्रभाव एक देश के लिए यह होता है कि निर्यात कीमतों की तुलना मे उसकी आयात कीमतें घट जाती है तथा उसकी व्यापार की शर्तों में सुधार होता है। इसे आंशिक सन्तुलन (Partial Equilibrium) की दशा के अनुसार समझाया जा सकता है जो नीचे दिये चित्र से स्पष्ट है

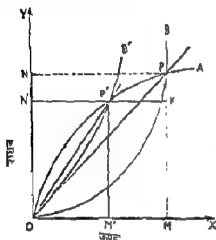


चित्र 16 3

उपरोक्त रेखाचित्र 16·3 मे हम प्रशुल्क का यह प्रभाव देख सकते है कि उससे निर्यात और आयात करने वाले देशों में कीमतों में कितना अन्तर हो गया है। दो देश A और B है A निर्यात करता है तथा B आयात करता है। प्रशुल्क लगने के पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य स्तर P है। अब आयात करने वाला देश B प्रशुल्क लगाता है जो रेखाचित्र में MN के बराबर है। प्रशुल्क लगाने के बाद प्रत्येक देश के बाजार मे कीमत P' है यदि हम यह मानकर चलें कि दोनो देशो मे माँग और पूर्ति की लोच लगभग एक समान है तो प्रशुल्क का प्रभाव यह होगा कि आयात करने वाले देश B में कीमत आंशिक रूप से बढ जायगी तथा निर्यात करने वाले देश A मे आंशिक रूप से कम हो जायगी। जब निर्यातक देश मे कीमतें घटती हैं तो वस्तुएँ सस्ती हो जाती है किन्तु आयात करने वाले देश मे उपभोक्ताओं को ऊँची कीमतें देनी पड़ती हैं पर आयात के आय प्रभाव (Revenue Effect) के कारण ऊँची कीमतें निष्प्रभावित (Offset) हो जाती हैं। चित्र से स्पष्ट है कि कुल प्रशुल्क MN के बराबर लगाया जाता है जिसमे से NK भाग निर्यातक देश द्वारा तथा KM आयात करने वाले देश द्वारा वहन किया जाता है। चूँकि NK की तुलना मे KM कम है अत. स्पष्ट है कि प्रशुल्क का अधिक भाग निर्यातक देश द्वारा वहन किया जा रहा है। इस आंशिक सन्तुलन से स्पष्ट है कि प्रशुल्क लगाने से आयात करने वाले देश B की व्यापार की शर्तों मे सुधार हुआ है।

मार्शल के प्रस्ताव वक्र द्वारा व्यापार की शर्तों पर प्रशुल्क का विवेचन

अभी जो विवेचन आंशिक साम्य के आधार पर किया गया है उसे मार्शल के प्रस्ताव वक्र द्वारा भी समझाया जा सकता है अर्थात् प्रशुल्क का व्यापार की शर्तों पर क्या प्रभाव पड़ेगा। नीचे दिये हुए रेखाचित्र से यह स्पष्ट है।



चित्र 16.4

संलग्न रेखाचित्र 16.4 में प्रस्ताव वक्र OA इंगलैण्ड का प्रस्ताव वक्र है तथा OB पुर्तगाल का प्रस्ताव है (दोनों वक्र एक दूसरे को P बिन्दु पर काटते है जहाँ व्यापार की शर्तें निर्धारित होती हैं अर्थात् OM कपड़े की इकाईयाँ=ON शराब की इकाइयाँ।

अब मानलो पुर्तगाल द्वारा शराब के आयात पर प्रशुल्क लगा दिया जाता है इसके फलस्वरूप इसका प्रस्ताव वक्र OB में से हटकर OB' हो जाता है। यदि पुर्तगाल कपड़े के निर्यात पर प्रशुल्क लगा दे तो भी प्रस्ताव वक्र OB से हटकर OB' हो जायगा। प्रशुल्क का उद्देश्य यह होता कि पुर्तगाल कपड़े की निश्चित मात्रा के बदले शराब की अधिक मात्रा चाहता है। पुर्तगाल पहले ON' शराब के बदले OM कपड़े की इकाईयाँ देने को तैयार था परन्तु प्रशुल्क के बाद अब केवल कपड़े की OM' इकाईयाँ ही देने को तैयार है और शेष M'M इकाईयाँ प्रशुल्क के रूप में प्राप्त कर लेना है। यह भी कह सकते है कि पुर्तगाल पहले ON' शराब के बदले N'K कपड़े की इकाईयाँ देने को तैयार था किन्तु प्रशुल्क के बाद N'P' कपड़े की इकाइयाँ देने को ही तैयार है और शेष P'K इकाइयाँ प्रशुल्क के रूप में प्राप्त कर लेता है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रशुल्क से व्यापार की शर्तों में उसी समय सुधार हो सकता है जब दूसरे देश द्वारा प्रतिरोध न किया जाय। यदि दूसरा देश भी बदला लेने की भावना से प्रशुल्क लगा देता है तो प्रशुल्क का प्रभाव निष्प्रभावित हो जाता है तथा दोनों देशों को हानि होती है क्योंकि व्यापार की मात्रा घट जाती है। इसके विपरीत यदि दोनों देश समझौता कर प्रशुल्क हटा देते हैं तो व्यापार की मात्रा बढ़ती है और दोनों को लाभ होता है।

(5) **अवमूल्यन का व्यापार की शर्तों पर प्रभाव**—अवमूल्यन के अन्तर्गत एक देश विदेशी मुद्रा की तुलना में अपनी मुद्रा की क्रय-शक्ति को घटा देता है अन्य शब्दों में अपने मुद्रा की विनिमय दर को कम कर देता है। इसका प्रभाव यह होता है कि विदेशी मुद्रा की तुलना में देश की वस्तुएँ सस्ती हो जाती हैं और निर्यात प्रोत्साहित होता है जिससे व्यापार की शर्तों में सुधार होता है। किन्तु व्यापार की शर्तों में सुधार होगा अथवा नहीं, यह देश की आयातों और निर्यातों के लिए माँग और पूर्ति की लोच पर निर्भर रहता है व्यापार की शर्तों में अवमूल्यन से उस समय सुधार होगा जब एक देश की आयातों और निर्यातों की पूर्ति की लोच के उत्पाद की तुलना में उसके आयातों और निर्यातों की माँग की लोच का उत्पाद अधिक है। बीजगणितीय रूप में इसे अग्रलिखित रूप में व्यक्त कर सकते हैं :

Dm, Dx > Sm, Sx

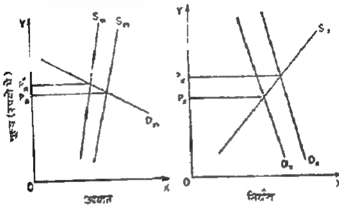
जहाँ Dm = आयात की माँग की लोच

Dx = निर्यात की माँग की लोच

Sm = आयात की पूर्ति की लोच

Sx = निर्यात की पूर्ति के लोच

इसे निम्न रेखाचित्र में स्पष्ट किया गया है .



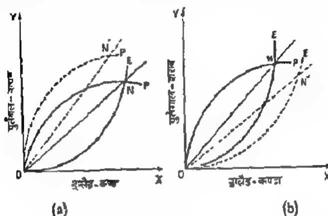
चित्र 16·5

हम यह मानकर चलते हैं कि अवमूल्यन करने वाले देश की आयात की माँग लोचपूर्ण (Dm > 1) है तथा उसके निर्यातों की माँग भी लोचपूर्ण (Dx > 1) है तथा उसकी आयात की पूर्ति बेलोचदार (Sm > 1) है एवं निर्यात की पूर्ति लोचपूर्ण (Sx > 1) है। रेखाचित्र 16·5 में अवमूल्यन के पहले देश की मुद्रा में आयात की कीमतें OPm तथा निर्यात की कीमतें OPx हैं। अवमूल्यन के पश्चात् आयात का पूर्ति वक्र ऊपर की ओर जायगा अर्थात् Sm से S'm हो जायगा तथा निर्यात का माँग वक्र भी Dx से हटकर ऊपर की ओर D'x हो जायगा। अब कीमतों में परिवर्तन होगा तथा नयी सन्तुलन कीमत आयात के लिए OPm से बढ़कर OP'm हो जायगी तथा निर्यात कीमत OPx बढ़कर OP'x हो जायगी। उपरोक्त चित्र से स्पष्ट है कि निर्यात कीमतों की तुलना में आयात कीमतों में कम वृद्धि हुई है। इसका अर्थ है कि व्यापार की शर्तों में सुधार हुआ है। विपरीत स्थिति में व्यापार की शर्तों में ह्रास होगा।

यह निष्कर्ष निकाला गया है कि जो अर्द्ध-विकसित देश अवमूल्यन करते हैं उनकी व्यापार की शर्तों में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं होता क्योंकि ये देश प्राय: कुछ प्राथमिक उत्पादनों का निर्यात करते हैं जिनकी विदेशी माँग आपेक्षिक बेलोचदार होती है जबकि ये देश विदेशों से कई निर्मित वस्तुओं [redacted] आयात करते हैं जिनकी पूर्ति आपेक्षिक रूप से लोचदार होती है।

(6) आयात और/अथवा निर्यात की माँग में परिवर्तन—निश्चित व्यापार की शर्तों पर दो देशों की आयातों के माँग एवं पूर्ति तथा निर्यातों के लिए माँग एवं पूर्ति दोनों में सन्तुलन होगा। अब यदि अन्य बातों के स्थिर रहने पर एक देश के निर्यातों के लिए विदेश में माँग बढ़ती है [redacted] आयातों की तुलना में उसके निर्यातों की कीमतों में वृद्धि होती है। इसके फलस्वरूप इस देश की व्यापार की शर्तों में सुधार होता है। यदि अन्य बातों के समान रहने पर देश के आयातों में वृद्धि होती है तो निर्यातों की तुलना में आयातों के मूल्यों में वृद्धि होती है तथा देश की व्यापार की

शर्तों में ह्रास होता है। इसे रेखाचित्र 16·6 से स्पष्ट किया जा सकता है। रेखाचित्र 16·6 (a) और (b) में माँग में परिवर्तन के पूर्व की स्थिति यह है कि पुर्तगाल का शराब का प्रस्ताव वक्र OP है तथा इंग्लैण्ड का कपड़े का प्रस्ताव वक्र OE है। रेखाचित्र 16·6 (a) में यह मान लिया गया है कि पुर्तगाल में इंग्लैण्ड की कपड़े की माँग बढ़ जाती है जिसके फलस्वरूप पुर्तगाल का



चित्र 16·6

शराब का प्रस्ताव वक्र बायीं ओर हटकर OP' हो जाता है। पहले व्यापार की शर्तों का सन्तुलन N बिन्दु पर था जो अब हटकर N' बिन्दु पर हो जाता है अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय दर ON से बदलकर ON' हो जाती है एवं पुर्तगाल को अब कपड़े के बदले में अधिक शराब देनी पड़ती है। इस प्रकार पुर्तगाल की व्यापार की शर्तों में ह्रास होता है तथा इंग्लैण्ड की व्यापार की शर्तों में सुधार होता है।

चित्र 16·6 (b) में यह माना गया है कि इंग्लैण्ड में पुर्तगाल की शराब की माँग बढ़ जाती है जिसके फलस्वरूप इंग्लैण्ड का कपड़े का प्रस्ताव वक्र दायीं ओर हटकर OE से OE' हो जाता है। पहले व्यापार का सन्तुलन N' बिन्दु पर था जो अब हटकर N' बिन्दु पर हो जाता है अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय दर ON से बदलकर ON' हो जाती है एवं इंग्लैण्ड को अब शराब के बदले अधिक कपड़ा देना पड़ता है। इस प्रकार इंग्लैण्ड की व्यापार की शर्तों में ह्रास तथा पुर्तगाल की शर्तों में सुधार होता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि दो व्यापार करने वाले देशों में से एक देश की व्यापार की शर्तों में जितनी मात्रा में ह्रास होता है दूसरे देश की व्यापार की शर्तों में उतनी मात्रा में सुधार होता है।

(7) आर्थिक विकास का प्रभाव—आर्थिक विकास का व्यापार की शर्तों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जैसे ही किसी देश में विकास अग्रसर होता है, तो वहाँ उपभोग की आदतों, तकनीक, साधनों की पूर्ति एवं उनकी कीमतों तथा बाजार के ढाँचे में एकाधिकारी एवं प्रतियोगी तत्वों में परिवर्तन होता है। इन सबका प्रभाव यह होता है कि वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तन होता है जिससे व्यापार की शर्तें प्रभावित होती हैं। इसकी विस्तृत चर्चा अगले अध्याय में की गयी है।

(8) पूँजी की गतिशीलता—पूँजी की गतिशीलता का देश के भुगतान सन्तुलन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जब देश से पूँजी का बहिर्गमन होता है तो भुगतान सन्तुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है एवं जब पूँजी विदेशों से देश में आती है तो भुगतान सन्तुलन अनुकूल होता है।

कई कारण है जो पूंजी की गतिशीलता को प्रभावित करते है। देश मे पर्याप्त पूंजी की प्राप्ति, व्यापार की शर्तों को अनुकूल बना देती है तथा देश से पूंजी का बहिर्गमन व्यापार की शर्तों को प्रतिकूल बना देता है।

(9) व्यापार चक्र—व्यापार चक्र की आर्थिक क्षेत्र मे मन्दी या तेजी का प्रभाव भी व्यापार शर्तों पर पड़ता है। यदि देश मे मुद्रा-स्फीति की स्थिति है तो कीमतो मे वृद्धि होने से निर्यात कम हो जाते है तथा आयातो मे वृद्धि होती है जिससे देश के लिए व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हो जाती है तथा निर्यात करने वाले देश के लिए शर्तें अनुकूल होगी। देश मे मन्दी होने से आयातो मे कमी होने के कारण दूसरे देश के लिए (निर्यातक देश) व्यापार की शर्तें प्रतिकूल होगी।

(10) सरकारी-नीति—सरकार की आर्थिक नीतियो का भी व्यापार की शर्तों पर प्रभाव पड़ता है। यदि सरकार अपनी विदेशी व्यापार की नीति मे प्रशुल्क आयात अभ्यंश इत्यादि नियन्त्रित उपायो को अपनाती है तो इसमे देश मे आयात मे कमी हो जाती है तथा उसकी व्यापार की शर्तों मे सुधार होता है।

(11) एकपक्षीय भुगतान—व्यापार की शर्तों पर इस बात का भी प्रभाव पड़ता है कि दो देश एक दूसरे को कितनी सापेक्षिक मात्रा मे एकपक्षीय भुगतान करते है। इसके सम्बन्ध मे दो विचारधाराएं है एक तो यह है कि एकपक्षीय भुगतान की समस्या वास्तविक है तथा दूसरा दृष्टिकोण इसे धन सम्बन्धी समस्या मानना है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का विचार था कि चूंकि अर्थ-व्यवस्था सदैव पूर्ण रोजगार की स्थिति मे रहती है अतः ऐसी स्थिति मे यदि एकपक्षीय भुगतान किया जाता है तो व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हो जायेंगी। पूर्ण रोजगार से कम की स्थिति मे एक-पक्षीय भुगतान अर्थव्यवस्था मे रोजगार में वृद्धि करके किया जा सकता है।

क्या कोई देश अपनी व्यापार की शर्तों में परिवर्तन कर सकता है ?

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि व्यापार की शर्तों में सुधार होना एक देश के लिए लाभदायक है। किन्तु महत्वपूर्ण प्रश्न है कि कोई देश अपनी इच्छानुसार व्यापार की शर्तों में परिवर्तन कर सकता है। सीधे 'हाँ' या 'न' में इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता क्योकि इसके लिए कई बातो पर विचार करना पड़ेगा। व्यापार की शर्तों में परिवर्तन तभी सम्भव है जब आयात और निर्यात की मात्रा मे परिवर्तन करना सम्भव हो। यदि आयात मे कटौती और निर्यात में वृद्धि की जा सके तो शर्तों में सुधार किया जा सकता है। हमें इस बात पर भी विचार करना होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में व्यापार की कैसी दशाएं विद्यमान है यदि कुछ देश संघ बनाकर किसी वस्तु के निर्यात पर एकाधिकार प्राप्त कर लेते हैं तो वे निश्चित ही अपनी व्यापार की शर्तों को सुधार सकते है।

किन्तु यह भी महत्वपूर्ण है कि एक देश आयात-निर्यात की नीति में परिवर्तन करते समय, दूसरे देशों की प्रतिक्रियाओं की अवहेलना नही कर सकता क्योकि अन्य देश भी प्रतिशोध की इच्छा से अपने व्यापार को नियन्त्रित कर देते है जिसका प्रभाव दूसरे देश की व्यापार की शर्तों पर पड़ता है। किन्तु इस पर विचार करते समय वस्तु की माँग एवं पूर्ति की लोच पर ध्यान देना होगा।

इस प्रकार एक देश व्यापार की शर्तों मे परिवर्तन कर तो सकता है पर उसे अन्य देशो की प्रतिक्रिया को भी ध्यान मे रखना होगा।

महत्वपूर्ण प्रश्न -

1. व्यापार की शर्तों से आप क्या समझते है ? व्यापार की शर्तों को प्रभावित करने वाले कारको की विवेचना कीजिए ?
2. व्यापार की शर्तों की परिभाषा दीजिए तथा इनसे सम्बन्धित विभिन्न प्रकारो को विस्तार समझाइये ?

3. टाजिग ने जो कुल और शुद्ध व्यापार की शर्तों का विचार प्रस्तुत किया है उसे समझाइये ?

4 "व्यापार की शर्तों" का किसी देश के "व्यापार से होने वाले लाभ" की गणना मे क्या महत्व है—व्यापार की शर्तों की सीमाएँ कौन-सी हैं समझाइये ?

5 व्यापार की शर्तों को समझाइये तथा व्यापार की शर्तों मे गिरावट का परिणाम आवश्यक रूप से आर्थिक कल्याण मे क्षति के रूप मे होता है समझाइये ?

Selected Readings

1. Jacob Viner · *Studies in the Theory of International Trade.*
2. F. W. Taussing : *International Trade.*
3. Meier and Baldwin · *Economic Development*
4. Haberler : *The Thory of International Trade*
5 K. R. Gupta : *Internatianal Economic.*
6 G N. Reier *International Trade and Economic Development.*

जाती है और चूंकि उत्पादन-फलन यूलरप्रमेय[1] के अन्तर्गत होते है, व्यापार होने से दोनों देशों में वस्तु-कीमतों की समानता तुलनीय-साधनों की सीमान्त उत्पादकता एवं उनकी कीमतों में भी समानता स्थापित कर देती है।

दो से अधिक वस्तुएं एवं दो से अधिक साधन होने पर सिद्धान्त की प्रामाणिकता

यदि हम केवल दो वस्तुओं की मान्यता समाप्त कर तीन वस्तुओं का विश्लेषण करें तो भी साधन-कीमतों में पूर्ण समानता स्थापित हो सकती है किन्तु हमें यह मानकर चलना होगा कि कम से कम दो वस्तुओं का दोनों देशों में एक साथ ही उत्पादन किया जाता है। यदि तीसरी वस्तु, दोनों वस्तुओं के समान ही है तो हमारे विश्लेषण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा और यदि तीसरी वस्तु श्रम-पूंजी की गहनता की तुलना में बहुत भिन्न भी है तो इस बात की पूर्ण सम्भावना है कि बिल्कुल भिन्न साधनों के बावजूद भी दोनों देशों में साधन-कीमतों में पूर्ण समानता स्थापित हो जाय। किन्तु यदि व्यापार के बाद किसी एक देश में पूर्ण विशिष्टीकरण हो जाय अर्थात केवल एक ही वस्तु का उत्पादन किया जाय तो उक्त समानता का सिद्धान्त लागू नहीं होगा।

यदि दो के स्थान पर उत्पत्ति के तीन साधनों का प्रयोग किया जाय तथा केवल दो वस्तुओं का उत्पादन और व्यापार किया जाय तो साधन-कीमत समीकरण लागू नहीं होगा। उदाहरण के लिए यदि देश A में, B की तुलना में भूमि और श्रम के पीछे पूंजी की अधिक मात्रा है तो यह सम्भव है कि दोनों वस्तुओं के लिए देश A में देश B की तुलना में श्रम और भूमि की सीमान्त भौतिक उत्पादकता (Marginal Physical Product) दुगुनी हो। ऐसी स्थिति में यदि दोनों देश दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन करें तथा व्यापार के बाद वस्तु-कीमतों में समानता भी स्थापित हो जाये फिर भी दोनों देशों में साधनों की निरपेक्ष और सापेक्षिक कीमतों में समानता स्थापित नहीं होगी।

निष्कर्ष—उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि—

(i) जब तक दोनों क्षेत्रों में साधन अनुपातों में केवल साधारण भिन्नता है,

(ii) जब तक वस्तुओं के उत्पादन में साधन गहनता में अन्तर है।

(iii) जब तक दोनों देशों में दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है और

(iv) जब तक वस्तुओं की संख्या, साधनों की संख्या से अधिक है,

साधन-कीमतों में समानता स्थापित हो जायगी अर्थात् साधनों की निरपेक्ष और सापेक्षिक कीमतों में समानता स्थापित होगी।

उपरोक्त निष्कर्ष को एजवर्थ के आयताकार रेखाचित्र के (Edge worth-Box Diagram) द्वारा भी सिद्ध किया जा सकता है जिसे आगे समझाया गया है।

साधन, कीमत, समानीकरण—एजवर्थ रेखाचित्र से प्रमाणित
(FACTOR PRICE EQUALISATION—PROVED WITH THE HELP OF EDGEWORTH—BOX DIAGRAM)

एजवर्थ के आयताकार रेखाचित्र की सहायता से यह सिद्ध किया जा सकता है कि कुछ दशाओं के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से देशों में साधनों की कीमतों में पूर्ण समानता स्थापित की जा सकती है।

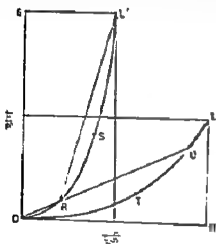
मान्यताएं—हम ऐसे दो देश A और B लेते हैं जो प्रत्येक X और Y दो वस्तुऐं का उत्पादन करते हैं और उत्पत्ति के समान साधन श्रम और पूंजी का प्रयोग करते हैं। दोनों

---

1 यूलर-प्रमेय के अनुसार यदि उत्पादन-फलन उत्पत्ति समता नियम के अन्तर्गत है तो सीमान्त उत्पादन का योग कुल उत्पादन के बराबर होगा। वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के विकास में यूलर-प्रमेय का महत्वपूर्ण योगदान है।

देशों में प्रत्येक वस्तु के उत्पादन के लिए उत्पत्ति के समान तकनीक का प्रयोग किया जाता है—वस्तु Y की तुलना में X का उत्पादन पूंजी प्रधान है। दोनों वस्तुओं का उत्पादन पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत हो रहा है तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से किसी भी देश में पूर्ण विशिष्टीकरण नहीं होता। अन्तिम मान्यता यह भी है कि व्यापार में परिवहन लागत नहीं लगती और न ही व्यापार में कोई अवरोध है।

व्याख्या—उपरोक्त मान्यताओं के अन्तर्गत निम्न रेखाचित्र के आधार पर विश्लेषण किया गया है कि किस प्रकार व्यापार से साधन कीमतों में समानता स्थापित हो जायगी—



चित्र 14.2

संलग्न रेखाचित्र 14.2 में दोनों देशों में उत्पत्ति के साधनों की मात्रा भिन्न है। देश में पूंजी की मात्रा अधिक है तथा B में श्रम की मात्रा अधिक है। संलग्न चित्र में दो एजवर्थ-बाक्साओं को खींचा गया है जो दोनों देशों में उत्पत्ति के विभिन्न साधन अनुपात प्रदर्शित करते हैं तथा X और Y दोनों वस्तुओं का समान उत्पादन फलन भी दिखाते हैं। इन बाक्साओं में वस्तु X के लिए समान उद्गम बिन्दु O है। साधनों के विभिन्न अनुपात से वस्तु Y के दो पृथक उद्गम बिन्दु हैं—देश A के लिए यह बिन्दु L है तथा B के लिए L' है देश A के लिए उत्पादन दक्षता बिन्दु पथ (Production Efficiency Locus) OL है तथा B के लिए OL' है। अब इन दोनों देशों में व्यापार नहीं होता तो देश A का उत्पादन और उपभोग का बिन्दु T है तथा B का यही बिन्दु S है इन दोनों सन्तुलन बिन्दुओं का निर्धारण अपने देश की माँग द्वारा होता है। देश A में B की तुलना में पूंजी-श्रम का अनुपात दोनों वस्तुओं X और Y के उत्पादन में ऊँचा है। यह रेखाचित्र से इस बात से स्पष्ट है कि OS वक्र OT की अपेक्षा अधिक ढाल वाला है जो दिखाता है कि A में X वस्तु के उत्पादन का पूंजी-श्रम अनुपात B की तुलना में ऊँचा है तथा LT की तुलना में SL' का अधिक ढाल दिखाता है कि देश A में Y वस्तु के उत्पादन का पूंजी-श्रम अनुपात B की तुलना में ऊँचा है। देश A में दोनों वस्तुओं के उत्पादन में B की तुलना में अधिक पूंजी प्रयुक्त की जाती है अर्थात इस देश में श्रम की तुलना में पूंजी सस्ती है। इसके विपरीत B देश में दोनों वस्तुओं के उत्पादन में श्रम-पूंजी का अनुपात ऊँचा होने से, पूंजी की तुलना में श्रम सापेक्षिक रूप से सस्ता होगा।

दोनों देशों में व्यापार होने से वस्तुओं की कीमतों में समानता स्थापित हो जाती है। अब समान उत्पाद-फलन को स्थिर उत्पाद के अन्तर्गत है और समान वस्तुओं की कीमतों के फलस्वरूप, साधनों का प्रतिफल भी समान होना चाहिए यदि प्रत्येक वस्तु के उत्पादन में दोनों देशों में साधनों का अनुपात समान हो जाता है। यह तब समय सम्भव है यदि व्यापार के बाद उत्पादन बिन्दु R और U पर होता है। बिन्दु R और U पर दोनों देशों में X वस्तु के उत्पादन में साधन-अनुपातों में समानता स्थापित हो जाती है क्योंकि बिन्दु R सीधी रेखा OU पर स्थित है। LU और L'R रेखाएं समानान्तर हैं जो यह व्यक्त करती हैं कि दोनों देशों में Y के उत्पादन में साधनों का अनुपात समान है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्यापार के फलस्वरूप दोनों देशों में साधन-कीमतों में समानीकरण हो जाता है।

साधन कीमत समानीकरण—एक समापन विवेचन
(FACTOR PRICE EQUALISATION—A CONCLUDING REMARK)

जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप साधनों की कीमतों में समानता का प्रश्न है, सामान्य अनुभव इसके विपरीत है क्योंकि वास्तविक जगत में व्यापार के फलस्वरूप साधन कीमतों में समानता स्थापित नहीं हुई है वरन् साधनों की आय में असमानता ही बढ़ी है। प्रो. गुन्नर मिर्डल के अनुसार, "जबकि अन्तर्राष्ट्रीय असमानताएं बढ़ रही हैं और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इनका दबाव बढ़ता जा रहा है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त का विकास इस दिशा में हो रहा है कि व्यापार विभिन्न देशों में साधनों की कीमतों और आय में क्रमशः समानता स्थापित करने की प्रवृत्ति दिखा रहा है।"

प्रो. ओहलिन का समानता का सिद्धान्त इसलिए पूर्ण रूप से लागू नहीं हो पा रहा है क्योंकि परिवहन लागत और प्रशुल्क की बाधाएँ समानता स्थापित नहीं होने देती। दूसरी ओर वस्तु और साधनों के बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता का अभाव और कई वस्तुओं में पूर्ण विशिष्टीकरण भी बाधा उपस्थित करता है। दूसरी ओर यूरोपियन साझा बाजार के देशों में व्यापार के माध्यम से साधनों की कीमतों में समानता होने की प्रवृत्ति अधिक शक्तिशाली है किन्तु अन्य देशों में उक्त सिद्धान्त के लागू होने में संदेह ही प्रकट किया जा सकता है।

किन्तु साधन-कीमत समानता के सिद्धान्त को चुनौती देना हैक्सचर-ओहलिन के सिद्धान्त को चुनौती देना है। क्योंकि समानता सिद्धान्त को ओहलिन के सिद्धान्त के आधार पर ही विकसित किया गया है तो क्या हम साधन, कीमत, समानता सिद्धान्त को अव्यवहारिक कह कर अस्वीकृत कर सकते हैं। इस सन्दर्भ में प्रो. सेमुअलसन के मत को उद्धृत करना अधिक समीचीन होगा जो इस प्रकार है—"ओहलिन के सिद्धान्त की कमियों को स्वीकार करने पर भी मैं सोचता हूँ कि हैक्सचर-ओहलिन का विश्लेषण ऐसी अन्तर्दृष्टि से पूर्ण है जो विश्व व्यापार की शक्तियों को स्वरूप प्रदान करता है और जब वाइनर (Viner) के समान अर्थशास्त्री यह बताने का कष्ट करते हैं कि ओहलिन के समान व्याख्या प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के मस्तिष्क में भी थी तो मैं यह समझता हूँ कि वे प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के साथ मजाक करने के स्थान पर अपने पूर्वजों को मात्र सम्मान दे रहे हैं और मेरा विश्वास है कि आज से एक शताब्दी बाद भी लेखक, सापेक्षिक-साधन-अनुपात सिद्धान्त का प्रयोग आर्थिक भूगोल के विश्लेषण में आवश्यक अंग के रूप में करेंगे।"

अध्याय 15

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ अथवा मुनाफा

[GAINS FROM INTERNATIONAL TRADE]

परिचय

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त इस दृष्टिकोण से विकसित किया था कि व्यापार करने वाले देशों पर उसका लाभ अथवा हानि के सम्बन्ध में क्या प्रभाव पड़ता है। उन्होंने बताया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में देश के कुल कल्याण में वृद्धि होती है। इसके पहले वाणिज्यवादियों ने यह मत प्रतिपादित किया था कि यदि एक देश सदैव अन्य देशों को निर्यात करने में सफल होता है तो वह समृद्ध हो सकता है। इसे भी उन्होंने व्यापार के लाभ से सम्बन्धित किया। किन्तु इसका विरोध करते हुए प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने बताया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में केवल एक देश को ही नहीं वरन् सब देशों को लाभ होता है। जिसका आधार है विशिष्टीकरण और उसके कारण बढ़ा हुआ उत्पादन। इसके अतिरिक्त अन्य अर्थशास्त्रियों—प्रो मिल, प्रो मार्शल (Marshall), प्रो सेमुअलसन, प्रो केम्प, (Prof. Kemp) और प्रो. हैबरलर आदि ने भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों को स्पष्ट किया है। प्रारम्भिक अध्याय में हम देख चुके हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से क्या लाभ होते हैं किन्तु यह अध्याय उसमें इस अर्थ में भिन्न है कि इसमें हम लाभों अथवा उपलब्धियों की विस्तृत वैज्ञानिक विवेचना करेंगे।

लाभ की प्रकृति
(NATURE OF GAIN)

पहले हम यह समझ लें कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में होने वाले लाभ की प्रकृति क्या है? प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने बताया कि तुलनात्मक लागत पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम विभाजन होता है जिससे इसलिए लाभ होता है क्योंकि—

(i) विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन के लिए विभिन्न साधनों की विभिन्न अनुपात में आवश्यकता होती है।

(ii) विश्व के विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्राकृतिक और आर्थिक साधन होते हैं।

(iii) उत्पत्ति के साधनों में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गतिशीलता का प्रायः अभाव रहता है।

ऐसी स्थिति में यदि उत्पत्ति के साधन गतिशील नहीं होते तो उनके द्वारा निर्मित वस्तुएँ गतिशील होती हैं जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्भव बनाता है जिसके फलस्वरूप विश्व के देशों में साधनों का सर्वोत्तम वितरण हो जाता है। देश इसलिये व्यापार नहीं करते हैं कि उन्हें व्यापार करने का शौक होता है वरन् इसलिए व्यापार करते हैं क्योंकि उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ होता है। साधनों का सर्वोत्तम वितरण होने से उनका कुशलतम प्रयोग किया जा सकता है जिससे उत्पादन में वृद्धि होती है। अधिक स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि व्यापार से लाभ अधिक

कुल उत्पादन, विभिन्न वस्तुओं की अधिक मात्रा आदि में परिलक्षित होता है। माल्थस के अनुसार व्यापार में लाभ उस अधिक मूल्य में निहित है जो उस विनिमय से प्राप्त होती है जब कम चाही गयी वस्तु का अधिक चाही गयी वस्तु से विनिमय किया जाता है। यहाँ मूल्य का अर्थ मौद्रिक मूल्य में न होकर उसकी क्रय शक्ति में है।

संक्षेप में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ इस प्रकार हैं—

(i) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन से, विश्व के संसाधनों का सर्वोत्तम वितरण होता है जिससे उनका कुशलतम प्रयोग किया जा सकता है।

(ii) व्यापार से प्रत्येक देश में विनिमय की जा सकने वाली वस्तुओं के उत्पादन और मूल्य में वृद्धि होती है।

(iii) विश्व के कुल उत्पादन में वृद्धि होती है।

(iv) व्यापार के कारण प्रत्येक देश उपभोग की विभिन्न वस्तुएँ अधिक मात्रा में प्राप्त कर सकता है।

(v) प्रत्येक देश के कल्याण में वृद्धि होती है तथा विश्व की समृद्धि बढ़ती है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ के स्रोत
(SOURCES OF GAIN FROM INTERNATIONAL TRADE)

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार तुलनात्मक लागत के लाभ पर आधारित विशिष्टीकरण ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ का प्रमुख स्रोत है। इसके अतिरिक्त दूसरा प्रमुख स्रोत है बड़े पैमाने के उत्पादन की बाह्य और आन्तरिक बचतों को प्राप्त करना जो विशिष्टीकरण के फलस्वरूप बड़े पैमाने के उत्पादन से प्राप्त होती है। बाजार के विस्तार का भी इन बचतों पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। एडम स्मिथ इसे स्पष्ट करते हुए कहते है कि श्रम-विभाजन, बाजार के विस्तार द्वारा सीमित होता है। बाजार के विस्तार से जब उत्पत्ति का पैमाना बढ़ता है तो श्रम-विभाजन एवं विशिष्टीकरण का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है जिससे उत्पादन लागत घटती है और वस्तु का मूल्य घट जाता है। यह भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ है।

रिकार्डो के अनुसार तुलनात्मक लागत यह स्पष्ट करता है कि व्यापार से दोनों देशों को लाभ होता है भले ही उनमें से एक देश दोनों वस्तुओं को सस्ते में बना सकता है। यह सिद्धान्त बताता है कि वास्तविक जगत में बढ़े हुए विश्व उत्पादन के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ होगा। प्रत्येक देश व्यापार न होने की स्थिति की तुलना में, व्यापार से सापेक्षिक रूप में अधिक मात्रा में और सस्ती वस्तुएँ प्राप्त कर सकता है तथा उसे कोई हानि नहीं होगी। वस्तुस्थिति तो यह है कि आज कोई भी देश आत्मनिर्भर नहीं बना सकता यद्यपि तुलनात्मक सिद्धान्त की विस्तार के साथ प्रायोगिक जाँच नहीं की गयी है फिर भी यह कहा जा सकता है कि इस पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण प्रत्येक देश में उत्पादन तथा उपभोग का स्तर ऊँचा हो जायगा।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभों की गणना
(MEASUREMENT OF THE GAINS FROM INTERNATIONAL TRADE)

प्रो जेकब वाइनर के अनुसार प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभों की गणना करने के लिए तीन भिन्न विधियों का अनुसरण किया जो इस प्रकार हैं :

(1) तुलनात्मक लागत की विधि जिसके अन्तर्गत लाभ का मुख्य आधार है निश्चित वास्तविक आय प्राप्त करने के लिए कुल वास्तविक लागत में मितव्ययता।

(2) व्यापार की शर्तें—अन्तर्राष्ट्रीय वितरण और लाभ की प्रवृत्ति की सूचक।

(3) देश की वास्तविक आय में वृद्धि लाभ का आधार।

अब आगे इनका विस्तार से विवेचन करेंगे :

(1) तुलनात्मक लागत विधि—तुलनात्मक लागत विधि के अन्तर्गत, कुल वास्तविक लागत को कम करने को ही लाभ का आधार माना गया है जिस पर एक निश्चित आय प्राप्त की जा सकती है। इस सम्बन्ध में रिकार्डो का मत है कि विशिष्टीकरण और व्यापार के फलस्वरूप साधनों के उपयोग में मितव्ययता की जा सकती है। अर्थात् यहाँ रिकार्डो का उद्देश्य प्रति इकाई वास्तविक आय की लागत में कमी है। किन्तु माल्थस ने रिकार्डो की आलोचना की है कि रिकार्डो का कहना है कि आयातित वस्तुओं की तुलना में उनकी गृह-लागत अधिक होती है किन्तु माल्थस कहते हैं कि यह लाभ का बहुत बढ़ा-चढ़ाकर किया गया वर्णन है क्योंकि जहाँ आयातित वस्तुओं को गृह देश में पैदा ही नहीं किया जा सकता अथवा केवल उन्हें ऊँची लागतों पर ही तैयार किया जा सकता है, वहाँ रिकार्डो की व्याख्या लागू नहीं होती। माल्थस[1] के अनुसार, लाभ की मात्रा, विनिमय में प्राप्त की जाने वाली वस्तु के अधिक मूल्य में निहित है। उनके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में निर्यात की गयी वस्तुओं की तुलना में जो वस्तुएँ हम प्राप्त करते हैं, वे समाज की आवश्यकताओं के अधिक अनुरूप होती हैं तथा उनसे हमारी वस्तुओं के विनिमय-मूल्य, आनन्द के साधनों एवं सम्पत्ति में वृद्धि होती है। यहाँ प्रो. माल्थस ने मूल्य का सम्बन्ध श्रम-शक्ति पर अधिकार (Labour Command) से किया है किन्तु इसी कारण प्रो. वाइनर ने माल्थस की आलोचना की है। प्रो. वाइनर का कहना है कि बिना उन शर्तों का उल्लेख किये जिनके द्वारा श्रम को निर्देशित किया जा सकता है, लाभों की गणना करना गलत है।

रिकार्डो के अनुसार विदेशी व्यापार दो प्रकार से लाभों में वृद्धि करता है—(i) इससे सामान्य उपभोग की वस्तुओं में वृद्धि होती है और (ii) इससे आनन्द प्राप्त करने के साधनों के योग में वृद्धि होती है। परन्तु वाइनर इसकी आलोचना करते हुए कहते हैं कि "वस्तुओं के समूह" की गणना करने के लिए वास्तविक राष्ट्रीय आय के सूचकांक का प्रयोग करना आवश्यक है जिसमें काफी कठिनाइयाँ पैदा हो सकती हैं तथा जिन पर रिकार्डो ने कोई ध्यान नहीं दिया। दूसरे, आनन्द के योग (Sum of Enjoyments) की प्रत्यक्ष गणना करना सम्भव नहीं है।

(2) व्यापार की शर्तें—यद्यपि रिकार्डो के "लाभों" की अवहेलना नहीं की जा सकती क्योंकि निश्चित ही व्यापार से साधनों में मितव्ययता होती है। किन्तु लाभों की गणना एवं विभिन्न राष्ट्रों में इसका वितरण किस प्रकार होता है, इसका जवाब रिकार्डो ने नहीं दिया वरन् प्रो. जे. एस. मिल ने दिया। प्रो. मिल ने बताया कि पारस्परिक माँग (Reciprocal demand) व्यापार की शर्तों को निर्धारित करती है जिनसे प्रत्येक देश के लाभ का निर्धारण होता है। अर्थात् तुलनात्मक लागत के साथ ही वस्तु-व्यापार की शर्तें उस आधार को प्रस्तुत करती हैं जिसके अनुसार व्यापार करने वाले देश के शुद्ध लाभों का वितरण, उसके एवं विश्व के अन्य देशों के बीच होता है। इस प्रकार पारस्परिक माँग की व्याख्या कर लाभ के स्वरूप को निर्धारित करना मिल की सबसे बड़ी उपलब्धि है और सम्भवतः अर्थविज्ञान के क्षेत्र में उसकी प्रमुख मौलिकता है। व्यापार की शर्तों का विस्तृत विवेचन हम अगले अध्याय में करेंगे।

किन्तु प्रो. जेवन्स (Jevons) ने मिल की आलोचना की है। उनका कहना है कि वस्तु व्यापार की शर्तें व्यापार से लाभों की गणना करने के लिए अपर्याप्त आधार है क्योंकि लाभ की कुल मात्रा कुल उपयोगिता (Total Utility) पर निर्भर रहती है जबकि वस्तु विनिमय की शर्तों का सम्बन्ध केवल उपयोगिता की अन्तिम दशा (Final Degree of Utility) से है। उनके अनुसार "उपभोक्ता के लिए एक वस्तु से प्राप्त लाभ की गणना करते समय हमें कुल उपयोगिता की

1 Malthus T. R. —*Principles of Political Economy*, pp. 461-62.

दृष्टि में रखना चाहिए न कि उपयोगिता की अन्तिम दशा को जो व्यापार की शर्तों को निर्धारित करती है।" इसे दृष्टि में रखते हुए वेबनर के अनुसार लाभ की गणना इस आधार पर करनी चाहिए कि निर्यात की गयी वस्तुओं में परित्याग की गयी उपयोगिता की तुलना में, आयात की गयी वस्तुओं से कुल कितनी उपयोगिता प्राप्त होती है। इस आधार पर प्रो. मार्शल ने लाभ की गणना करने के लिए कुछ उपभोक्ता की बचत से मिलता-जुलता सिद्धान्त प्रस्तुत किया। मार्शल के अनुसार व्यापार से लाभ अथवा अतिरेक में वृद्धि होगी यदि इन दोनों में वृद्धि होगी—(i) आयात की प्रत्याशित उपयोगिता का वांछनीयता एवं (ii) निर्यात की प्रत्याशित अनुपयोगिता (Expected Disutility) का अवांछनीयता।

(3) वास्तविक आय में वृद्धि—प्रो. टाजिग (Taussing) के अनुसार एक देश को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ उस समय होता है जब उसकी आय के स्तर में वृद्धि होती है। यदि निर्यात उद्योग उन्नत अवस्था में है तो वह अपने श्रमिकों को अधिक मजदूरी देगा प्रतियोगिता के कारण अन्य उद्योगों में भी मजदूरी का स्तर बढ़ेगा। इसके फलस्वरूप ऐसे देश में मौद्रिक-मजदूरी के सामान्य स्तर एवं मौद्रिक आय में वृद्धि होगी। चूँकि जिन वस्तुओं का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार किया जाता है, उनकी कीमतों में प्रत्येक क्षेत्र में समानता स्थापित हो जाती है अतः जिन देशों में मौद्रिक आय ऊँची रहती है, वहाँ के उपभोक्ताओं को व्यापार की वस्तुओं से, कम आय वाले देश की तुलना में अधिक लाभ होता है।

आय के सन्दर्भ में लाभ की गणना का एक आधार यह भी है कि व्यापार न होने की स्थिति में एक देश को आंशिक रूप से वास्तविक आय में कमी और लागत में वृद्धि के फलस्वरूप कितना नुकसान होगा। यदि वस्तुओं का देश में ही उत्पादन किया जाय तथा उपभोग किया जाय तो आय में जितनी कमी होगी अपेक्षाकृत उसी अनुपात में विदेशों से इन वस्तुओं का आयात एवं उपभोग किया जाय तो आय में होने वाली कमी है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ की गणना का आधार होगा। यह अधिकतम लाभ होगा। जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त वस्तुओं का उपभोग उसी अनुपात में किया जाता है, जिस अनुपात में उन्हें देश में उत्पादित कर उपभोग किया जाता है तो पहली स्थिति में जो आय में वृद्धि होगी वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का न्यूनतम लाभ होगा। वास्तविक लाभ इन्हीं अधिकतम और न्यूनतम सीमाओं के बीच होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभों के सम्बन्ध में प्रतिष्ठित विचारों की आलोचना

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के जो लाभ के सम्बन्ध में तीन विचार प्रस्तुत किये गये हैं, उनकी प्रमुख दो आलोचनाएँ की गयी हैं जो इस प्रकार हैं—

(i) प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार कोई भी तत्व जो व्यापार की मात्रा बढ़ा देता है जैसे—परिवहन लागत की कमी, कोटा-प्रशुल्क आदि व्यापार की बाधाओं की समाप्ति, उससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ बढ़ जाते हैं। परन्तु जर्मन ऐतिहासिक सम्प्रदाय ने इसकी आलोचना की है। उनका कहना है कि स्वतन्त्र व्यापार सदैव लाभदायक नहीं है एवं दीर्घकाल में प्रशुल्क आदि के द्वारा देश में उत्पादन शक्ति का विकास करना व्यापार से तात्कालिक धन में वृद्धि करने की तुलना में अधिक लाभदायक है। इसी प्रकार का विचार फ्रेडरिक लिस्ट ने भी व्यक्त किया है।

(ii) दूसरी आलोचना प्रो. ग्राहम ने की है। उनका कहना है कि दोनों देशों में यदि उत्पादन विभिन्न प्रतिफल नियमों के अन्तर्गत हो रहा है तो अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन से किसी देश की उत्पत्ति में कमी के रूप में भारी हानि होती है। प्रो. ग्राहम के अनुसार, तुलनात्मक लाभ से प्रभावित होकर एक देश ऐसे उद्योग में विशिष्टीकरण कर सकता है जिसमें उत्पादन घटती हुई

लागत के अन्तर्गत हो रहा हो तथा वह घटती हुई लागत के उद्योग का परित्याग कर सकता है। अत. ग्राहम का कहना है कि केवल सीमित क्षेत्र मे ही व्यापार से लाभ हो सकता है, सामान्य रूप से नही। परन्तु प्रो हेबरलर ने उक्त सन्दर्भ मे व्याख्या कर स्पष्ट कर दिया है कि प्रतिष्ठित विचारकों की व्यापार से लाभ की धारणा सही है। इसकी विस्तृत व्याख्या हम अध्याय 9 में कर चुके हैं।

"लाभ" के सम्बन्ध मे प्रो ओहलिन के विचार—ओहलिन का विचार है कि व्यापार का प्रभाव यह होता है कि साधन-कीमतो में समानता के कारण जहाँ साधनो की ऊँची कीमतें होती है, वे कम होकर समान हो जाती हैं अत अधिक मात्रा मे लाभ उन देशो को होता है जहाँ प्रारम्भ मे साधनो की कीमतें कम होती हैं। प्रो. ओहलिन के अनुसार एक देश मे व्यापार के कारण आर्थिक क्रान्ति होती है जिसके अन्तर्गत न केवल वस्तुओ की पूर्ति एवं साधनों में परिवर्तन होता है वरन् नयी वस्तुओ एव साधनो का भी समावेश होता है। व्यापार से व्यक्तियो की रुचि मे परिवर्तन होता है जिससे माँग मे परिवर्तन होता है। व्यापार का देश में राष्ट्रीय आय के वितरण पर भी प्रभाव पड़ता है। ओहलिन के अनुसार जब व्यापार के इतने व्यापक प्रभाव होते है तो उसके लाभों की तुलना करना उपयुक्त नही है। उनके ही शब्दो मे, "स्पष्ट रूप से यह तथ्य कि व्यापार आर्थिक विषयों की सख्या एव प्रकृति को प्रभावित करता है, कुल लाभो के बारे मे तर्क और उनकी गणना करने का प्रयत्न स्वच्छन्द एव मूल्यहीन है।"[1]

ओहलिन के अनुसार "व्यापार से लाभ" उसी समय अर्थपूर्ण है जब हम व्यापार के मामूली परिवर्तनो पर विचार करें जिससे उत्पादन के सूचकांक मे वृद्धि होती है किन्तु उससे माँग और आय के वितरण पर प्रभाव नही पड़ता। यद्यपि इससे देश की आर्थिक स्थिति में सुधार होता है। इस दृष्टि से मुख्य विषय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से कुल लाभो पर विचार करना नही है वरन् यह है कि व्यापार के विस्तार से क्या लाभ और व्यापार मे कमी से क्या हानि होती है।

व्यापार से लाभ का रेखाचित्रीय स्पष्टीकरण—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ के सम्बन्ध मे आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि व्यापार से आवश्यक रूप से लाभ होता है। इनमे मार्शल, सेमुअलसन, प्रो. केम्प एव प्रो हेबरलर के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रो. मार्शल ने अपनी पुस्तक[2] मे उपभोक्ता की बचत के सिद्धान्त का प्रयोग करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से वास्तविक लाभ (*Net Benefit*) का विवेचन किया है। प्रो. सेमुअलसन ने अपने प्रसिद्ध लेख[3] मे स्पष्ट किया है कि आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था की तुलना मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से समाज सम्भावित रूप से अधिक सम्पन्न बन जाता है। यद्यपि उन्होने स्वीकार किया है कि यद्यपि व्यापार से कुछ व्यक्तियो को हानि हो सकती है जैसे एक देश मे स्वल्प साधन की वास्तविक आय कम हो सकती है परन्तु फिर भी यह दिखाया जा सकता है कि अनुदान एव करों की सहायता लेकर प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति मे सुधार किया जा सकता है। उन्होंने स्पष्ट रूप से लाभो की व्याख्या उदाहरण एव रेखाचित्र के माध्यम से की है। प्रो. केम्प ने अपनी पुस्तक[4] मे सेमुअलसन के लाभ के सिद्धान्त की अधिक सामान्य एव उत्कृष्ट व्याख्या की है। उन्होंने सेमुअलसन के सिद्धान्त का विस्तार कर यह स्पष्ट किया है कि किसी भी आकार के देश के लिए न केवल क्षतिपूर्ति वाली स्वतन्त्र व्यापार की

1 "Evidently the fact that trde affects the character and number of the economic subjects makes all reasoning about the total gain still more attempts to measure it, arbitrary and valueless." —Ohlin, *op. cit*,

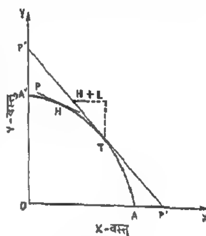
2 Marshall—"*Money Credit and Commerce*"

3 Samuelson—*Article in Readings in International Trade*, pp. 239-252,

4 Murray C. Camp—*The Pure Theory of International Trade* pp. 159-67.

स्थिति व्यापार न होने की तुलना मे श्रेष्ठ है वरन् क्षतिपूर्ति वाला सीमित व्यापार (Compensated Restricted Trade) भी आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था से श्रेष्ठ है। प्रो सेमुअलसन के प्रमाण (Proof) का प्रयोग करते हुए प्रो हैबरलर ने रेखाचित्र की सहायता से स्पष्ट किया है कि स्वतन्त्र व्यापार से राष्ट्रीय आय और आर्थिक कल्याण मे वृद्धि होती है।

प्रो. हैबरलर का प्रमाण (Haberler's Proof of the Gain of Trade)—प्रो. हैबरलर ने निम्न रेखाचित्र के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों को स्पष्ट किया है।



चित्र 15 1

संलग्न रेखाचित्र 15·1 मे A A' देश का उत्पादन सम्भावना वक्र है। व्यापार के पूर्व की स्थिति मे H उत्पादन-उपभोग का सन्तुलन बिन्दु है तथा P H का ढाल व्यापार के पूर्व X और Y दोनो वस्तुओं के कीमत अनुपात को दर्शाता है। अन्तरराष्ट्रीय व्यापार होने के बाद अन्तरराष्ट्रीय कीमत अनुपात P' P' रेखा द्वारा दिखाया गया है नयी कीमत रेखा पर उत्पादन का सन्तुलन बिन्दु T है तथा उपभोग बिन्दु H' है। H' बिन्दु पर देश X की H'L मात्रा का निर्यात करता है और Y की L T मात्रा का आयात करता है।

अब तटस्थता वक्र द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि बिन्दु H' बिन्दु H की तुलना मे श्रेष्ठ है। चूंकि H' को स्पर्श करती हुई तटस्थता वक्र H की तुलना मे ऊँची होगी अत. कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ होता है। चूंकि बिन्दु H से उत्पादन हटकर जब T बिन्दु पर सन्तुलित होता है, इसमे आय के पुनर्वितरण का सवाल पैदा होता है अतः प्रो. हैबरलर तटस्थता वक्र के प्रयोग के पक्ष मे नही है। किन्तु दूसरे प्रकार से भी H' बिन्दु की श्रेष्ठता सिद्ध की जा सकती है। यदि H' बिन्दु H के ऊपर एव दायें ओर है, तो स्पष्ट है कि व्यापार के पूर्व की तुलना मे अब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से X और Y दोनो वस्तुओ की अधिक मात्रा उपलब्ध होती है। यही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ है।

लाभ की मात्रा को निर्धारित करने वाले तत्व
(FACTORS DETERMINING THE SIZE OF GAIN)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभ पर निम्न तत्वों का प्रभाव पड़ता है :

(1) **लागत-अनुपातों में अन्तर**—प्रो. हैरड के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे होने वाला लाभ इस बात पर निर्भर रहता है कि दो देशो मे उत्पादन-लागत अनुपातो मे क्या सम्बन्ध है। लाभ इस पर निर्भर नही रहता कि दो देशो मे X या Y वस्तु को सापेक्षिक सस्ते मे उत्पादन किया जा सकता है वरन् इस पर निर्भर रहता है कि एक देश मे X और Y की उत्पादन लागत का अनुपात क्या है तथा दूसरे देश मे यही लागत अनुपात क्या है। लाभ उसी समय सम्भव है जब दोनो देशों मे लागत अनुपात भिन्न-भिन्न हो।

अतः यह कहा जा सकता है कि दो देशो मे दो वस्तुओ की उत्पादन लागत के अनुपात मे भिन्नता होने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे लाभ का उदय होता है। इसे हम एक उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं—मानलो इंगलैण्ड मे 10 दिन के श्रम से कपड़े की 10 इकाईयां और शराब की

5 इकाईयों का उत्पादन होता है तथा उतने ही दिन के श्रम से पुर्तगाल में कपड़े की 5 इकाईयाँ तथा शराब की 15 इकाईयों का उत्पादन होता है—इसे हम नीचे लिखे अनुसार व्यक्त कर सकते हैं। 10 दिन के श्रम से :

	कपड़े की इकाईयाँ	शराब की इकाइयाँ	लागत अनुपात
इंगलैण्ड में—	10	5	1 : 2
पुर्तगाल में—	5	15	3 : 1

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि इंगलैण्ड कपड़े के उत्पादन में तथा पुर्तगाल शराब के उत्पादन में विशिष्टीकरण करेगा। जब इन दोनों में व्यापार होता है तो दोनों देशों को लाभ होता है। यदि विनिमय की शर्तें इस प्रकार निश्चित होती हैं कि शराब की 1 इकाई=कपड़े की 1 इकाई तो पुर्तगाल को 1 इकाई शराब के बदले कपड़े की 1 इकाई प्राप्त हो जाती है जबकि पुर्तगाल को अपने देश में एक इकाई शराब के बदले कपड़े की केवल एक तिहाई इकाई ही प्राप्त होती है अतः इंगलैण्ड से व्यापार करने पर उसे कपड़े की दो-तिहाई इकाई अतिरिक्त प्राप्त होती है, यही उसका लाभ है। इसी प्रकार जब इंगलैण्ड, पुर्तगाल से व्यापार करता है तो उसे कपड़े की एक इकाई के बदले शराब की एक इकाई प्राप्त हो जाती है जबकि वह व्यापार में उसे कपड़े की एक इकाई के बदले शराब की केवल आधी इकाई ही प्राप्त होती है अतः शराब की आधी इकाई की अतिरिक्त प्राप्ति उसका लाभ है। विशिष्टीकरण से कुल उत्पादन भी अधिक होता है जिसे अन्तर-राष्ट्रीय व्यापार का लाभ कहा जा सकता है। यदि दोनों देश दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन करें और व्यापार न हो तो कपड़े की 15 तथा शराब की 20 इकाईयों का उत्पादन होगा किन्तु जब विशिष्टीकरण होगा तो कपड़े की 20 तथा शराब की 30 इकाईयों का उत्पादन होगा अतः कपड़े की 5 तथा शराब की 10 अतिरिक्त इकाईयों का उत्पादन होगा।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि दो देशों में लागत के अनुपात में जितना अधिक अन्तर होगा, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार करने से उन्हें लाभ भी उतना ही अधिक होगा। यह स्पष्ट है कि विशिष्टीकरण के बाद एक देश में एक ही वस्तु का अधिक उत्पादन होगा जिसने उत्पादन लागत पर प्रभाव पड़ेगा अर्थात यदि उत्पादन बढ़ती हुई लागत के अन्तर्गत होता है तो लागत बढ़ जायेगी और लागत-अनुपात भी बदलेगा फिर भी यदि नये लागत अनुपात दोनों देशों में भिन्न हैं तो व्यापार से दोनों देशों को लाभ होगा और विशिष्टीकरण तथा उत्पादन बढ़ेगा तथा इससे पुनः लागत-अनुपात पर प्रभाव पड़ेगा।

प्रो. हैरड के अनुसार, "लाभ के कारण जब व्यापार का विस्तार किया जाता है तो एक ऐसी स्थिति आयगी जब एक देश की अनुपात लागत, दूसरे देश के बराबर हो जायेगी। एक देश को विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में विस्तार और संकुचन उस समय तक करना चाहिए जब तक उस देश के लागत-अनुपात विदेश के लागत-अनुपात के बराबर नहीं हो जाते।"[1] उपरोक्त उदाहरण के सन्दर्भ में चूँकि इंगलैण्ड को कपड़े के तथा पुर्तगाल को शराब के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ है अतः इंगलैण्ड को उस सीमा तक कपड़े का उत्पादन बढ़ाना चाहिए एवं शराब का उत्पादन घटाना चाहिए जब तक कि इनका लागत अनुपात पुर्तगाल के परिवर्तित लागत-अनुपातों के बराबर नहीं हो जाता जिसके (पुर्तगाल) लागत अनुपातों में शराब के उत्पादन को बढ़ाने एवं कपड़े का उत्पादन घटाने से परिवर्तन होता है। जब दोनों का लागत अनुपात समान हो जाता है तो फिर इन्हें व्यापार करने से कोई लाभ प्राप्त नहीं होता।

1 Harrod *op. cit.* pp. 16-17

अन्त में कहा जा सकता है कि जहाँ तक लागत-अनुपातों का प्रश्न है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाला लाभ, व्यापार से पूर्व प्रचलित, लागत के अनुपातों के अन्तर पर निर्भर रहता है।

(2) देश की उत्पादन-क्षमता—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभ पर देश की उत्पादन क्षमता का प्रभाव भी पड़ता है। यदि एक देश की उत्पादन क्षमता बढ़ती है तो इससे दूसरे देश को लाभ होगा क्योंकि इससे दूसरे देश के लिए व्यापार की शर्तें अधिक अनुकूल हो जायेंगी। इसके विपरीत यदि एक देश की उत्पादन क्षमता घटती है तो प्रतिकूल व्यापार की शर्तों के माध्यम से दूसरे देश को हानि होगी। हड़तालों अथवा प्रतिबन्धित श्रम शक्ति एवं स्वेच्छापरिवर्तन आदि कई कारणों से देश की उत्पादन क्षमता घट सकती है।

उत्पादन क्षमता बढ़ने से दूसरे देश के लिए व्यापार की शर्तें इसलिए अनुकूल हो जाती हैं क्योंकि पहले देश में लागत और कीमतों में कमी होती है तथा व्यापार में विस्तार होता है जिससे दूसरे देश को लाभ होता है।

(3) व्यापार की शर्तें अथवा मांग और पूर्ति की सापेक्षिक लोच—व्यापार की शर्तों का आशय उस दर से है जिसके अनुसार एक देश की वस्तुओं का दूसरे देश की वस्तुओं से विनिमय होता है। व्यापार की शर्तें उन वस्तुओं की कीमतों पर निर्भर रहती हैं जिनका व्यापार किया जाता है अतः व्यापार की शर्तें निर्यात कीमतों एवं आयात कीमतों के बीच सम्बन्ध व्यक्त करती हैं। प्रो. मिल ने बताया कि किस प्रकार पारस्परिक मांग से इस बात का निर्धारण होगा कि एक देश को व्यापार से कितना लाभ होगा। व्यापार की शर्तें मुख्य रूप से इस बात पर निर्भर रहती हैं कि किसी देश की वस्तु के लिए विदेशों में मांग की लोच क्या है एवं विभिन्न देशों में विभिन्न वस्तुओं की पूर्ति की लोच क्या है। प्रो. मिल का कहना है कि "व्यापार से एक देश को होने वाले लाभ को स्वतन्त्र आयातों की तुलना में, उनके निर्यातों की विनिमय दर में होने वाली वृद्धि से भी मापा जाता है।" मिल ने यह भी स्पष्ट किया कि जब दो देशों में विशिष्टीकरण के फलस्वरूप वस्तुओं का विनिमय होता है तो एक देश किसी वस्तु की कितनी मात्रा का आयात करेगा, यह केवल लागत-अनुपातों के अन्तर पर निर्भर नहीं रहता वरन् इस बात पर भी निर्भर रहता है कि वस्तु की मांग में कैसा परिवर्तन होता है।

एक देश में दूसरे देश की वस्तु की मांग जितनी अधिक बेलोचदार होगी, पहले देश के लिए व्यापार की शर्तें प्रतिकूल होंगी एवं मांग लोचदार होने पर व्यापार की शर्तें अनुकूल होंगी। प्रो. टॉजिग के अनुसार "व्यापार से उस देश को सबसे अधिक लाभ होता है जिसकी वस्तुओं की मांग विदेशों में अधिक होती है तथा स्वयं उसकी मांग विदेशी वस्तुओं के लिए कम होती है।" पूर्ति की लोच का भी व्यापार की शर्तों पर प्रभाव पड़ता है। यदि एक देश की निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की पूर्ति लोचदार है तो व्यापार की शर्तें उसके अनुकूल होंगी अन्यथा प्रतिकूल। इसी प्रकार देश जिन वस्तुओं का आयात करता है यदि उनकी विदेशों में पूर्ति बेलोचदार है तो देश के लिए व्यापार की शर्तें अनुकूल होंगी अन्यथा प्रतिकूल।

पिछले पृष्ठों में हमने जो इंग्लैण्ड और पुर्तगाल का उदाहरण लिया है, उससे स्पष्ट किया जा सकता है कि यदि पुर्तगाल की, इंग्लैण्ड के कपड़े के लिए मांग बेलोचदार है तो व्यापार की शर्तें इंग्लैण्ड के अनुकूल होंगी एवं पुर्तगाल के प्रतिकूल और यदि इंग्लैण्ड की पुर्तगाल की शराब के के लिए मांग बेलोचदार है तो व्यापार की शर्तें पुर्तगाल के अनुकूल एवं इंग्लैण्ड के प्रतिकूल होंगी। मांग पर इसलिए भी प्रभाव पड़ता है क्योंकि विशिष्टीकरण के कारण देश में एक वस्तु का उत्पादन बढ़ता है जिससे वास्तविक आय में वृद्धि होती है जैसे इंग्लैण्ड में आय की वृद्धि होने से शराब की मांग बढ़ती है क्योंकि अब इंग्लैण्ड केवल कपड़े का उत्पादन कर रहा है तथा पुर्तगाल से शराब का आयात कर रहा है अतः पुर्तगाल से शराब का निर्यात बढ़ता है, उसी

प्रकार, पुर्तगाल में केवल शराब का उत्पादन होने से आय में वृद्धि होती है जिससे इंग्लैण्ड के कपड़े की माँग बढ़ती है जिससे इंग्लैण्ड के निर्यात में वृद्धि होती है।

इस प्रकार विशिष्टीकरण के कारण, दोनों देशों में वास्तविक आय में वृद्धि होती है जिससे व्यापार से लाभ में वृद्धि होती है जो माँग की लोच पर निर्भर रहती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि व्यापार की शर्तें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों को प्रभावित करती हैं। देश की व्यापार की शर्तों में सुधार होने का अर्थ है कि व्यापार से निश्चय ही लाभ में वृद्धि होगी।

(4) **देश का आकार**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से आकार में छोटे देशों को बड़े देशों की तुलना में अधिक लाभ होता है। एक छोटा देश विश्व बाजार में अपने विनिमय अनुपात में परिवर्तन किये बिना किसी एक वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण कर सकता है। यदि एक बड़ा देश एक वस्तु में विशिष्टीकरण करने का प्रयत्न करता है तो उस वस्तु की पूर्ति बहुत अधिक बढ़ जाने से विश्व बाजार में उसका मूल्य घट जाता है तथा व्यापार से उसका लाभ कम हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अनुपातों पर बड़े देशों के लागत के ढाँचे का अधिक प्रभाव पड़ता है एवं इन दोनों में जल्दी समानता स्थापित हो जाती है। जैसे-जैसे एक देश, अन्य क्षेत्रों को मिलाकर बड़ा होता जाता है, उसका विश्व विनिमय अनुपात पर प्रभाव बढ़ता जाता है, एवं उसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त होने वाला लाभ घटता जाता है। क्या इससे यह निष्कर्ष निकाला जाय कि यदि बहुत से देश एक इकाई में परिवर्तित हो जायें तो लाभ समाप्त होते जायेंगे? वास्तविक स्थिति यह है कि उक्त दशा में यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ कम होते जाते हैं किन्तु गृह-अनुपात से लाभ बढ़ते जाते हैं जो उक्त लाभ के समान ही हैं। यदि समस्त देश मिलकर एक विश्व संघ बन जाय तो फिर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ही नहीं होगा और न ही लाभ का प्रश्न उठेगा।

एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि व्यापार से छोटे देश को केवल आकार के कारण ही लाभ प्राप्त नहीं होता वरन् इसलिए होता है कि उसका गृह लागत का अनुपात, विश्व विनिमय अनुपात से बहुत भिन्न होता है। यदि इसी देश का आन्तरिक लागत ढाँचा, विश्व विनिमय अनुपात के लगभग समान हो जाय तो व्यापार से उसका लाभ भी कम हो जायगा।

(5) **परिवहन लागत**—यदि परिवहन लागत में कमी होती है अथवा विदेशों में माल बेचने में जो कठिनाई होती है वह दूर हो जाती है अथवा विदेशियों को देश में वस्तुओं के विक्रय में जो कठिनाई एवं असुविधा होती है वह दूर हो जाती है तो विदेशी व्यापार का क्षेत्र एवं उससे मिलने वाले लाभों में विस्तार हो जाता है।

(6) **अन्य कारण**—उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त और भी अन्य कारण हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में होने वाले लाभ की मात्रा को प्रभावित करते हैं जैसे व्यापार की मात्रा, वस्तुओं का महत्व और विक्रय क्षमता। विदेशी व्यापार की मात्रा जितनी अधिक होगी, व्यापार से होने वाला लाभ भी उतना ही अधिक होगा। प्रो. मिल के अनुसार यदि कोई देश ऐसी वस्तु का भारी मात्रा में उत्पादन करता है जिसकी विदेशों में अधिक माँग है तथा केवल उसको ही निर्यात करके वह अपने समस्त आयातों की व्यवस्था कर सकता है तो व्यापार से उसे अधिक मात्रा में लाभ होगा। विक्रय-क्षमता भी लाभ की मात्रा को प्रभावित करती है। यदि कोई देश कुशल-क्षमता के द्वारा विश्व में नये ग्राहकों की खोज कर सकता है तथा अपने निर्यात को बढ़ा सकता है तो उसे अधिक लाभ प्राप्त होता है।

इस प्रकार उपरोक्त कारण विदेशी व्यापार से होने वाले लाभ की मात्रा को प्रभावित करते हैं। ये लाभ केवल एक विशेष देश को ही प्राप्त नहीं होते हैं वरन् प्रो. केम्प का कहना है कि यदि कुछ देश आपस में मिलकर एक संगठन बना लेते हैं जैसे यूरोपियन साझा बाजार, तो उन्हें भी सामूहिक रूप से विदेशी व्यापार से लाभ होता है।

सम्भावित एवं वास्तविक लाभ में समानता
(EQUALISATION OF POTENTIAL AND ACTUAL GAIN)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में होने वाले सम्भावित लाभ की मात्रा का निर्धारण लागत अनुपातों के अन्तर से होता है। जब दो देशों में स्वतन्त्र व्यापार होता है तथा प्रशुल्क कर मरीली कोई बाधाएँ नहीं होती तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रभाव यह होगा कि दो देशों के लागत अनुपातों में समानता स्थापित होने की प्रवृत्ति होगी तथा इस पर केवल परिवहन लागत का ही प्रभाव होगा यदि हम इसका समावेश करें। इसके विपरीत यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बाधा उपस्थित होती है तो वस्तुओं की कीमतों और लागत अनुपातों में समानता नहीं होगी तथा कीमतें ऊँची होंगी।

यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार स्वतन्त्र है तो एक देश के लिए उस सीमा तक विशिष्टीकरण करना लाभदायक होगा जहाँ उसकी कीमतें, विश्व बाजार की कीमतों के बराबर हो जाती हैं तथा इसी सीमा पर उनका लाभ अधिकतम होगा अतः स्वतन्त्र व्यापार, लाभ को अधिकतम करने के लिए पूर्व शर्त है।

प्रो. हैरड[1] के अनुसार व्यापार में लाभ अधिकतम करने के लिए तीन शर्तों का पूरा होना आवश्यक है—ये शर्तें इस प्रकार हैं

(i) व्यापार में पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए ताकि वस्तुओं की कीमतों में देश तथा विदेश में समानता स्थापित हो सके। इसका विवेचन हम ऊपर कर चुके हैं।

(ii) विभिन्न व्यवसायों में उत्पत्ति के साधनों का पुरस्कार एक समान होना चाहिए। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि उत्पत्ति के साधनों में पूर्ण प्रतियोगिता होनी चाहिए तथा उनका विभिन्न व्यवसायों में इस प्रकार वितरण होना चाहिए कि बिना उत्पादन को कम किये, उनका एक व्यवसाय से अन्य में स्थानान्तर सम्भव न हो। इस प्रकार साधनों की कीमत उनकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगी।

(iii) उत्पादकों को अपनी वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाकर उस सीमा तक ले जाना चाहिए जहाँ वस्तुओं की मौद्रिक लागत उनकी कीमतों के बराबर हो जाती है।

उपरोक्त शर्तों के अन्तर्गत ही, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ अधिकतम हो सकता है तथा वास्तविक लाभ, सम्भावित लाभ के बराबर हो सकता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभों की गणना करने के लिए प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने जो आधार प्रस्तुत किये हैं, उनकी विवेचना कीजिए ?
2. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाभ की प्रकृति समझाइये ? वे कौन-से कारण हैं जो इन लाभों को प्रभावित करते हैं ?
3. 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाभ" से आप क्या समझते हैं ? इसे किस प्रकार नापा जाता है ?
4. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाभ किस प्रकार नापा जाता है ? क्या किसी देश के लिए व्यापार की शर्तों में सुधार का अर्थ "व्यापार में लाभ" में निश्चय ही वृद्धि होना है ?

---

1. Prof. Harrod, *op. cit.*, p. 40.

5. व्यापार से लाभ के सम्बन्ध में प्रो. हैबरलर का प्रमाण प्रस्तुत कीजिए जो उन्होंने प्रो. सेमुअल्सन के सिद्धान्त के समर्थन में दिया है ?

Selected Readings

1. Harrod . *International Economics.*
2. Viner · *Studies in the Theory of International Trade.*
3. Samuelson : *Article in Reading in International Trade.*
4. Ohlin : *Interegional and International Trade.*
5. Haberler *The Theory of International Trade.*

अध्याय 16

व्यापार की शर्तें

[TERMS OF TRADE]

परिचय

व्यापार की शर्तों का विषय अर्थशास्त्र के लिए नया नहीं है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने यह स्पष्ट किया था कि वस्तु व्यापार की शर्तें इस बात की परिचायक हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभ में किस प्रकार परिवर्तन हो रहा है। बहुत पहले वाणिज्यवादियों ने भी बता दिया था कि आयात कीमतों की तुलना में निर्यात कीमतों में होने वाली वृद्धि अनुकूल व्यापार की सूचक है। अब हम व्यापार की शर्तों के अर्थ को स्पष्ट करेंगे।

व्यापार की शर्तों का अर्थ—जिस दर पर एक देश की वस्तुओं का विनिमय दूसरे देश की वस्तुओं से होता है उसे व्यापार की शर्तें कहा जाता है। अन्य शब्दों में दो देशों में जिन दो वस्तुओं का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार किया जाता है, उनके विनिमय अनुपात का सम्बन्ध व्यापार की शर्तों से होता है। जब दो से अधिक वस्तुओं का व्यापार किया जाता है तो हम कह सकते हैं कि व्यापार की शर्तों का सम्बन्ध उस दर से होता है जिस पर आयातों और निर्यातों का विनिमय किया जाता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि व्यापार की शर्तें निर्यात कीमतों और आयात कीमतों में सम्बन्ध व्यक्त करती हैं। इसे हम निम्न सूत्र में व्यक्त कर सकते हैं :

$$\text{व्यापार की शर्तें} = \frac{\text{निर्यात का कुल मूल्य}}{\text{आयात का कुल मूल्य}}$$

अनुकूल या प्रतिकूल व्यापार की शर्तें—किसी देश के लिए व्यापार की शर्तें या तो अनुकूल हो सकती हैं अथवा प्रतिकूल। एक देश के लिए व्यापार की शर्तें उस समय अनुकूल होती हैं जब उसके आयातों के मूल्य की तुलना में उसके निर्यातों का मूल्य अधिक होता है। अन्य शब्दों में कह सकते हैं कि जब एक आयात की दी हुई मात्रा के लिए कम वस्तुओं का निर्यात किया जाता है तो व्यापार की शर्तें अनुकूल होती हैं।

एक देश के लिए व्यापार की शर्तें उस समय प्रतिकूल होती हैं जब उसके निर्यातों के मूल्य की तुलना में आयातों का मूल्य अधिक होता है। अन्य शब्दों में जब एक दी हुई आयात की मात्रा के लिए अधिक वस्तुओं का निर्यात किया जाता है तो व्यापार की शर्तें प्रतिकूल होती हैं।

यह स्वाभाविक है कि दो व्यापार करने वाले देशों में जब व्यापार की शर्तें एक देश के लिए अनुकूल हो जाती हैं तो दूसरे देश के लिए व्यापार की शर्तें प्रतिकूल हो जाती हैं।

रिकार्डो ने अपने तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ के सन्दर्भ में व्यापार की शर्तों का कोई उल्लेख नहीं किया। आगे चलकर प्रो. जे एस. मिल ने इनका स्पष्ट उल्लेख अपने पारस्परिक माँग के सिद्धान्त में किया और बताया कि व्यापार से एक देश को जो लाभ होता है, उसकी गणना आयातों की तुलना में उसके निर्यातों की विनिमय दर में होने वाली

वृद्धि से होती है अर्थात् अनुकूल व्यापार की शर्तों से होती है। प्रो. मिल ने अपने विवेचन में वस्तु व्यापार की शर्तों (Commodity Terms of Trade) का उल्लेख किया जिसकी आगे चलकर प्रो. जेवन्स ने आलोचना की और बताया कि वस्तु व्यापार की शर्तों का सम्बन्ध उपयोगिता की अन्तिम दशा से है जबकि व्यापार में होने वाला कुल लाभ, जिसे व्यापार की शर्तों से मापा जाता है कुल उपयोगिता पर निर्भर रहता है। इसके लिए उन्होंने उपयोगिता व्यापार की शर्तों का प्रतिपादन किया।

आगे चलकर अन्य अर्थशास्त्रियों ने व्यापार की शर्तों में संशोधन प्रस्तुत किये जिनमें मार्शल, एजवर्थ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

व्यापार की शर्तों के विभिन्न रूप
(DIFFERENT TYPES OF TERMS OF TRADE)

व्यापार की शर्तों के विभिन्न रूपों को निम्न तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है।

(1) वे व्यापार की शर्तें जो वस्तुओं के विनिमय अनुपातों से सम्बन्धित होती हैं इनमें निम्न तीन का समावेश होता है :

(i) शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें (Net Barter Terms of Trade)

(ii) सकल वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें (Gross Barter Terms of Trade)

(iii) आय व्यापार शर्तें (Income Terms of Trade)

(2) वे व्यापार की शर्तें जिसका सम्बन्ध उत्पादक ससाधनों के परस्पर अदल-बदल से होता है। इसमें निम्न दो का समावेश होता है

(iv) एक-घटकीय व्यापार की शर्तें (Single Factoral Terms of Trade)

(v) द्वि-घटकीय व्यापार की शर्तें (Double Factoral Terms of Trade)

(3) वे व्यापार की शर्तें जो व्यापार से होने वाले लाभों की गणना उपयोगिता विश्लेषण के सन्दर्भ में करती हैं। इसमें निम्न दो का समावेश होता है.

(vi) वास्तविक लागत व्यापार की शर्तें (Real Cost Terms of Trade)

(vii) उपयोगिता व्यापार की शर्तें (Utility Terms of Trade)

अब हम क्रमशः इनकी विवेचना करेंगे।

(1) शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें—वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों पर विचार करते हुए प्रो. टॉसिग ने शुद्ध (Net) तथा सकल (gross) वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों में भेद किया है। निर्यात और आयात की कीमतों में जो अनुपात होता है, उसे शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें कहते हैं। इसे वस्तु व्यापार की शर्तें भी कहते हैं। इसे सरल सूत्र में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं।

$$N = \text{शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें} = \frac{Px}{Pm}$$

उक्त सूत्र में P=कीमत निर्देशांक

x=निर्यात

m=आयात

N=शुद्ध वस्तु विनिमय व्यापार की शर्तें

यदि हम दो कालों में व्यापार की शर्तों में होने वाले परिवर्तन की तुलना करना चाहते हैं तो सूत्र निम्न ढंग से व्यक्त किया जा सकता है।

$$\frac{Px_1}{Pm_1} = \frac{Pxo}{Pmo}$$

(4) प्रतिष्ठित सिद्धान्त पर जोर दिया था किन्तु प्रो. ओहलिन ने बताया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पृथक सिद्धान्त की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की ही एक विशेष दशा है।

(5) प्रतिष्ठित सिद्धान्त ने श्रम लागत के आधार पर एवं संशोधित रूप में मौद्रिक लागतों के आधार पर, वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतों के सन्दर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की व्याख्या प्रस्तुत की किन्तु प्रो. हेक्सचर-ओहलिन ने साधनों की सापेक्षिक कीमतों में भिन्नता के आधार पर, अन्तर-राष्ट्रीय व्यापार की व्याख्या की।

(6) रिकार्डो इस बात को स्पष्ट नहीं कर सके कि तुलनात्मक लागतों में अन्तर क्यों होता है। किन्तु प्रो. ओहलिन ने साधन-अनुपात विश्लेषण (Factor Proportion Analysis) के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि तुलनात्मक लागतों में अन्तर क्यों होता है।

(7) प्रो. रिकार्डो ने बताया कि तुलनात्मक लाभों का मूल कारण उत्पाद-फलन में अन्तर-राष्ट्रीय भिन्नता है और इसके लिए उन्होंने श्रम के गुणात्मक स्तर की भिन्नता पर जोर दिया है किन्तु प्रो ओहलिन के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का कारण भिन्न क्षेत्रों में उत्पत्ति के साधनों में गुणात्मक (Qualitative) भिन्नता नहीं है वरन् साधनों में परिमाणात्मक (Quantitative) भिन्नता है जिसमें समान उत्पादन फलन (Identical Production Fuction) के अन्तर्गत भी तुलनात्मक लाभ में भिन्नता रहती है।

(8) प्रतिष्ठित सिद्धान्त अपने व्यापार सिद्धान्त के प्रतिपादन में कल्याणकारी साध्यों (Welfare Propositions) में स्थापित करने का प्रयत्न करता है जबकि हेक्सचर-ओहलिन का सिद्धान्त वास्तविक अर्थशास्त्र (Positive Economics) के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण योगदान है। क्योंकि ओहलिन का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के ढाँचे एवं आधार की विवेचना करता है जबकि प्रतिष्ठित सिद्धान्त व्यापार के लाभों (Gains from Trade) की व्याख्या करता है।

(9) प्रो. केल्विन लैंकास्टर (Prof Kelvin Lancaster) के अनुसार, ओहलिन का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के भविष्य के बारे में भी सन्तोषजनक उत्तर प्रदान करता है। प्रतिष्ठित सिद्धान्त बताता है कि दो देशों में तकनीकी ज्ञान एवं कुशलता आदि में भिन्नता के कारण तुलनात्मक लागतों में भिन्नता होती है। इसका तात्पर्य यह है कि जब देशों में तकनीकी ज्ञान और कुशलता में समानता स्थापित हो जायगी तो उनके बीच में कोई व्यापार नहीं होगा। परन्तु प्रो. हेक्सचर-ओहलिन का सिद्धान्त बताता है कि उक्त स्थितियों के विद्यमान होने पर भी अन्तर-राष्ट्रीय व्यापार होगा क्योंकि निम्न दो कारणों से वस्तुओं की कीमतों में अन्तर रहेगा :

(i) साधनों की कीमतों में सापेक्षिक अन्तर के कारण एवं

(ii) विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में साधनों की आवश्यकता में सापेक्ष अन्तर के कारण।

(10) प्रो हेक्सचर-ओहलिन के सिद्धान्त में स्थान-तत्व (Space-factor) पर पूर्ण ध्यान दिया गया है जबकि प्रतिष्ठित सिद्धान्त में इस तत्व की अवहेलना की गयी है अतः प्रो. ओहलिन का सिद्धान्त रिकार्डो की तुलना में अधिक व्यावहारिक है। प्रो ओहलिन के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त कीमतों का बहु-बाजारों (Multiple Markets) का सिद्धान्त है।

अन्त में कहा जा सकता है कि यद्यपि ओहलिन का सिद्धान्त रिकार्डो की तुलना में श्रेष्ठ है, फिर भी "दोनों में कोई वास्तविक संघर्ष नहीं है ओहलिन का सिद्धान्त, प्रतिष्ठित सिद्धान्त को स्थापित करता है तथा तुलनात्मक लागत के मूलाधार को और अधिक व्यापक साधनों की उपलब्धि में भिन्नता के कारण-रूप में स्पष्ट करता है।"[1]

1 "There is no real conflict between the Heckscher Ohlin approach and the Traditional Theory of Comparative Cost. The former establishes the letter and does something more. It establishes comparative costs as due to something more fundamental, —*Differences in factor endowment*". Rav & Kunda, *op. cit* p. 156.

प्रो. हेक्सचर-ओहलिन के सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन

उपरोक्त विवेचन में व्यापार के आधुनिक सिद्धान्त की श्रेष्ठताओं को स्पष्ट किया गया है। परन्तु इसके बावजूद भी कई अर्थशास्त्रियों ने प्रो. ओहलिन के सिद्धान्त की आलोचना की है जो इस प्रकार है :

(1) **अवास्तविक मान्यताएँ**—आलोचकों का कथन है कि प्रो ओहलिन का सिद्धान्त ऐसी मान्यताओं पर आधारित है जिन्हें आवश्यकता से अधिक सरल बना दिया गया है किन्तु जो व्यावहारिक नहीं हैं। उदाहरण के लिए पूर्ण प्रतियोगिता, उत्पत्ति के साधनों में गुणात्मक भिन्नता का अभाव, पूर्ण रोजगार समान उत्पाद-फलन इत्यादि। यदि वास्तविकता को अच्छे सिद्धान्त की कसौटी माना जाय तो नि.सन्देह ओहलिन का सिद्धान्त अच्छा बनने में असफल हो जाता है।

किन्तु प्रो लेंकास्टर के अनुसार प्रो ओहलिन ने उपरोक्त मान्यताओं का सहारा इसलिए लिया है ताकि विभिन्न क्षेत्रों में व्यापार की व्याख्या करने वाले न्यूनतम अन्तर को स्पष्ट किया जा सके जो देशों में उत्पत्ति के साधनों में सापेक्ष अन्तर है। उनके अनुसार, "उक्त तथ्य को एक बार स्वीकार करने पर ओहलिन के सिद्धान्त के स्पष्ट दोष, गुणों में परिवर्तित हो जाते हैं।" फिर जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, पूर्ण रोजगार और पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता को छोड़कर अन्य मान्यताओं के हटाने पर भी ओहलिन के सिद्धान्त को लागू किया जा सकता है। जिस प्रकार दो वस्तुओं की तटस्थता वक्र की व्याख्या उपभोक्ता के व्यवहार को सरल रूप में स्पष्ट करती है उसी प्रकार हैक्सचर ओहलिन का व्यापार का साधारण मॉडल भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की विवेचना करता है।

(2) **पूर्ण सन्तुलन की व्याख्या का अभाव**—प्रो हैबरलर के अनुसार, "यद्यपि ओहलिन का सिद्धान्त कम अमूर्त है तथा वास्तविकता के निकट है फिर भी वह पूर्ण सामान्य सन्तुलन प्रणाली को विकसित करने में असफल हो गया है। अधिकतम रूप से यह एक 'आंशिक सन्तुलन' व्याख्या है।"[1]

(3) **पूर्ति की तुलना में माँग का अधिक प्रभाव**—प्रो ओहलिन के अनुसार साधनों में सापेक्षिक अन्तर होने के कारण उनकी कीमतों में भी सापेक्षिक अन्तर होता है अर्थात साधनों के मूल्य निर्धारण में माँग की तुलना में पूर्ति अधिक महत्त्वपूर्ण है। किन्तु आलोचकों का मत है कि यदि माँग की दशाएँ पूर्ति की तुलना में अधिक शक्तिशाली हैं तो यह सम्भव है कि एक पूँजी-प्रचुर देश, श्रम-प्रधान वस्तुओं (Labour intensive goods) का निर्यात करने लगे जो कि *ओहलिन-सिद्धान्त की मान्यता के प्रतिकूल है। इसी बात को प्रो. ल्योन्टीफ (Prof. Leontief)* ने स्पष्ट किया है जिसका विवेचन हम अगले अध्याय में "ल्योन्टीफ विरोधाभास" (Leontief's Paradox) के नाम से करेंगे।

(4) **वस्तु कीमत अनुपात लागत अनुपातों का प्रतिबिम्ब नहीं**—कुछ आलोचकों का मत है कि यदि उपभोक्ताओं के अभिमान और वस्तुओं की माँग पर पूर्ण ध्यान दिया जाय, तो वस्तुओं की कीमतों का अनुपात, उनकी लागत के अनुपात के समान नहीं होगा अर्थात माँग और रुचियों में परिवर्तन के कारण कीमतों में अधिक परिवर्तन हो सकता है और इस स्थिति में ओहलिन का सिद्धान्त लागू नहीं होगा।

---

1 "Though the location theory of Ohlin is less abstract and operates closer to reality, it has failed to develop a Comprehensive general equilibrium system It is, by and large, a partial equilibrium analysis"

—Haberler, *Survey of International Trade Theory*, p. 4.

(5) सापेक्षिक कीमतों में भिन्नता के अन्य कारण—कुछ आलोचकों का मत है कि साधनों मे भिन्नता के अतिरिक्त और भी कई कारण हो सकते है, जिससे दो क्षेत्रों की सापेक्षिक कीमतों में भिन्नता हो सकती है जैसे साधनों मे गुणात्मक भिन्नता, भिन्न उत्पादन तकनीक उपभोक्ताओं की माग मे भिन्नता आदि कारणों से होने पर भी कीमतें भिन्न हो सकती है। प्रो. ओहलिन ने उक्त तथ्य को स्वीकार किया है फिर भी उनका मत है कि उत्पत्ति के साधनो मे भिन्नता, कीमतों में भिन्नता तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने का सबसे महत्वपूर्ण कारण है।

(6) प्रो. विजनहोल्ड्स (Prof. Wijanholds) ने इस आधार पर ओहलिन के सिद्धान्त की आलोचना की है कि वस्तुओं की कीमतों का निर्धारण साधनो की लागतो (कीमतो) द्वारा नही होता जैसा कि ओहलिन का मत है वरन् इनमे विपरीत सम्बन्ध है। प्रो. विजनहोल्डस के अनुसार वस्तुओं की कीमतों का निर्धारण उपभोक्ता की उनकी उपयोगिता द्वारा अथवा माँग की शक्तियो द्वारा तथा कच्चे माल की कीमतो द्वारा होता है इस प्रकार श्रम की मजदूरी, अन्तिम रूप से वस्तुओ की कीमतो पर निर्भर रहती है। वे कहते हैं कि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त और ओहलिन का सिद्धान्त दोनो दोषपूर्ण है क्योंकि ये अपनी व्याख्या उत्पादन लागत की भिन्नता से शुरू करते हैं। किन्तु अधिक तर्कपूर्ण व्याख्या यह है कि विवेचन कीमतो मे भिन्नता से प्रारम्भ किया जाय। किन्तु यह आलोचना अधिक सही प्रतीत नही होती क्योंकि जब तक वस्तुओं का उत्पादन नही किया जाता, उनमे भिन्नता का प्रश्न ही उपस्थित नही होता।

अन्त मे कहा जा सकता है कि यद्यपि प्रो. ओहलिन का सिद्धान्त भी, तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के समान, कुछ मान्यताओं पर आधारित है फिर भी प्रो. ओहलिन का सिद्धान्त, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार और कारणो को स्पष्ट करने मे अधिक समीचीन एव तर्कपूर्ण है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. प्रो. हेक्सचर-ओहलिन द्वारा प्रतिपादित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधुनिक सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये ?
2. प्रो. ओहलिन ने सामान्य साम्य सिद्धान्त को किस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लागू किया है पूर्ण विवेचना कीजिए ?
3. साधन-कीमत समीकरण से आप क्या समझते हैं ? क्या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप साधनो की कीमतो मे पूर्ण समानता स्थापित की जा सकती है, समझाइए ?
4. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिष्ठित एव आधुनिक सिद्धान्तों की तुलना करते हुए बताइये कि क्या ओहलिन का सिद्धान्त तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की अपेक्षा श्रेष्ठ है ?
5. प्रो. ओहलिन के व्यापार के सिद्धान्त को संक्षेप मे प्रस्तुत करते हुए उसका आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए ?
6. "हेक्सचर-ओहलिन का आधुनिक सिद्धान्त मुश्किल से ही प्रतिष्ठित सिद्धान्त का उल्लंघन करता है किन्तु वह पूर्णशक्ति मे उसके पूरक सिद्धान्त का कार्य करता है" विवेचना कीजिए ?

Selected Readings

1. Bertil Ohlin : *Interregional and International Trade.*
2. Eli Heckscher : *Artical in Readings in the Theory of International Trade.*
3. Haberler : *A Survey of International Trade Theory.*
4. Subimal Mookerjee : *Factor endowments and International Trade*
5. Wijanholds : *The Theory of International Trade, A New Approach.*
6. PA Samuelson : *International Trade and the Equalisation of Factors Prices Eco-Journal*—June 1948.

अध्याय **14**

हेक्सचर-ओहलिन के सिद्धान्त की आनुभविक अथवा प्रायोगिक जाँच—ल्योनटीफ-विरोधाभास

[ON EMPIRICAL TESTING OF HECKSCHER-OHLIN THEORY—LEONTIEF PARADOX]

परिचय

पिछले अध्याय में जिस हेक्सचर-ओहलिन के सिद्धान्त का विवेचन किया गया है, उसके सम्बन्ध में एक प्रश्न उठाया गया है कि यह सिद्धान्त कहाँ तक मान्य है अर्थात क्या अनुभव इस सिद्धान्त को पुष्ट करता है ? बहुत से अर्थशास्त्रियों ने ओहलिन के सिद्धान्त की प्रामाणिकता (Validity) की जाँच करने का प्रयत्न किया है तथा यह अध्ययन किया है कि क्या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार करने वाले देशों के व्यापार का ढाँचा प्रो हेक्सचर-ओहलिन के निष्कर्षों के अनुरूप है अथवा नहीं ? उस दिशा में सबसे महत्वपूर्ण प्रयास प्रो ल्योनटीफ[1] (Pro W W. Leontief) ने किया है जिन्हें 1973 में अर्थशास्त्र का नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया है। इस अध्ययन के फलस्वरूप जो निष्कर्ष निकाले गये हैं उन्हें "ल्योनटीफ-विरोधाभास" (Leontief Paradox) की संज्ञा दी गयी है। इसके अतिरिक्त प्रो मैकडूगाल (Mac-Dougall) एवं डॉ. भारद्वाज ने भी ओहलिन निष्कर्षों की जाँच की है। इस अध्याय में हम इनके अध्ययन एवं परिणामों की विवेचना करेंगे :

(1) **प्रो मैकडूगाल की जाँच** (Prof Mac-Dougall's Test)—प्रो मैकडूगाल ने इस बात की जाँच की कि क्या एक देश के निर्यातों में उन्हीं वस्तुओं की प्रमुखता रहती है जिनके *उत्पादन में उस देश में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध साधनों का गहनता से प्रयोग किया जाता है।* इसके लिए उन्होंने अमेरिका और इंग्लैण्ड के निर्यातों में पूँजी-गहन वस्तुओं के अंश का अध्ययन किया और यह निष्कर्ष निकाला कि पूँजी प्रचुर देश होते हुए भी अमरीका, इंग्लैण्ड से पूँजी-प्रधान वस्तुओं का आयात कर रहा था जो ओहलिन के सिद्धान्त के विरुद्ध है क्योंकि अमरीका को श्रम-प्रधान वस्तुओं का आयात करना चाहिए।

किन्तु उक्त जाँच की आलोचना की गयी है क्योंकि प्रो. मैकडूगाल ने पूँजी-गहनता का माप प्रचलित साधन कीमतों के आधार पर अश्वशक्ति (Horsepower) के रूप में किया है जो सन्तोषजनक नहीं है।

(2) **प्रो. ल्योनटीफ का अध्ययन (ल्योनटीफ-विरोधाभास)**—प्रो ल्योनटीफ ने सबसे पहले हेक्सचर-ओहलिन की मान्यता को प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है—"कुछ मान्यताओं के अन्तर्गत

---

1 W. W. Leontief, "Factor Proportion and the structure of American Trade," Review of Economics and Statistics, 1956 pp. 386 407 & "Domestic Production and foreign Trade," *The American Capital Position Reconsidered Economic* 1954 p 25.

एक देश उन वस्तुओं का निर्यात करता है जिनके उत्पादन में उन साधनों की अधिक आवश्यकता होती है जो उस देश में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। अतः ऐसा देश उन वस्तुओं का आयात करेगा जिसके उत्पादन में उन साधनों की अधिक मात्रा में आवश्यकता होती है जो उस देश में स्वल्प (Scarce) मात्रा में हैं।

उक्त मान्यता को प्रस्तुत करने के बाद प्रो. ल्योनटीफ कहते हैं कि जिन देशों के साथ अमरीका का व्यापार होता है उनकी तुलना में अमरीका में प्रति श्रमिक पूंजी की मात्रा अधिक है। यदि हेक्सचर-ओहलिन का सिद्धान्त सही है तो अमरीका को पूंजी-प्रधान वस्तुओं का निर्यात करना चाहिए और ऐसी वस्तुओं का आयात करना चाहिए जिन्हें यदि अमरीका में उत्पादित किया जाता तो उनमें सापेक्षिक रूप से अधिक श्रम लगता। परन्तु प्रो. ल्योनटीफ ने जो निष्कर्ष निकाले, वे इन अर्थों में क्रान्तिकारी हैं कि वे ओहलिन के सिद्धान्त के विपरीत हैं अर्थात हेक्सचर-ओहलिन के सिद्धान्त को स्थापित एवं पुष्ट नहीं करते हैं। ल्योनटीफ के निष्कर्ष स्पष्ट करते हैं कि अमरीका श्रम-प्रधान (Labour-intensive) वस्तुओं का निर्यात करता है तथा उसके प्रतियोगी आयात पूंजी-प्रधान वस्तुओं के हैं। इसका आशय यह है कि अमेरिका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में इसलिए भाग लेता है कि वह पूंजी में मितव्ययता कर सके एवं अपने अतिरेक श्रम का निर्यात कर सके न कि इसलिए कि वह अपनी अतिरेक-पूंजी (Surplus Capital) का अर्थात पूंजी प्रधान वस्तुओं का निर्यात कर सके। यहां प्रो. ओहलिन के सिद्धान्त एवं उक्त निष्कर्षों में स्पष्ट विरोधाभास दिखायी देता है जिसे अर्थशास्त्र में ल्योनटीफ विरोधाभास कहा गया है। यदि हम इसे मान लें तो इसका अर्थ होगा कि या तो हेक्सचर-ओहलिन के सिद्धान्त के निष्कर्ष गलत हैं अथवा अमरीका पूंजी समृद्ध देश नहीं है।

प्रो. ल्योनटीफ की जाँच की विधि (Leontief's Method of Testing)—प्रो. ल्योनटीफ ने हेक्सचर-ओहलिन सिद्धान्त की जाँच करने के लिए यह माना है कि अमेरिका किसी प्रकार से अपने निर्यातों और आयातों को समान मात्रा में कम कर देता है। इससे उत्पत्ति के जो साधन पहले निर्यात-उद्योगों में लगे हुए थे, वे अब उन उद्योगों में चले जाते हैं जिनकी स्थापना, आयात की कटौती के फलस्वरूप होती है जिन्हें आयात-प्रतिस्थापित (Import Replacement) उद्योग कहते हैं। अब यदि हेक्सचर-ओहलिन का सिद्धान्त सही है तो अमरीका में निर्यात में कटौती के कारण तुलनात्मक रूप से अधिक मात्रा में पूंजी एवं कम मात्रा में श्रम विमुक्त (Release) होना चाहिए अपेक्षाकृत इन दोनों की उस मात्रा के जो चालू कीमत पर आयात-प्रतिस्थापित उद्योगों में प्रयुक्त की जाती हैं। परन्तु प्रो. ल्योनटीफ ने यह पाया कि अमरीका के व्यापार में सीमान्त कटौती के फलस्वरूप, आयात-प्रतिस्थापित उद्योगों में जिस मात्रा में श्रम और पूंजी की आवश्यकता होती है, उसकी अपेक्षा अधिक मात्रा में श्रम और कम मात्रा में पूंजी की विमुक्ति होती है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है अमरीका में आयात-प्रतिस्थापित उद्योगों में अधिक मात्रा में पूंजी और कम मात्रा में श्रम की आवश्यकता होती है अपेक्षाकृत उसके निर्यात उद्योगों के। यह निष्कर्ष उन निष्कर्षों के बिलकुल विपरीत है जो हेक्सचर-ओहलिन ने निकाले थे। सरल शब्दों में, प्रो. ओहलिन के अनुसार चूँकि अमरीका एक पूंजी प्रधान देश है अतः उसे ऐसी वस्तुओं का आयात करना चाहिए जो श्रम-प्रधान हैं किन्तु ल्योनटीफ के अनुसार उसके आयात-प्रतिस्थापित उद्योगों में अधिक मात्रा में पूंजी की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार निर्यात की कटौती से पूंजी की तुलना में श्रम अधिक मात्रा में विमुक्त होता है जिसका अर्थ यह हुआ कि अमरीका पूंजी-प्रधान वस्तुओं की अपेक्षा श्रम-प्रधान वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करता है। यही ल्योनटीफ का विरोधाभास है।

ल्योनटीफ द्वारा विरोधाभास का स्पष्टीकरण (Leontief's Own Explanation)—प्रो. ल्योनटीफ ने प्रो. हेक्सचर-ओहलिन के सिद्धान्त को स्वीकार किया है तथा वे यह भी मत स्वीकार करते हैं कि अमरीका में, अन्य देशों की अपेक्षा, प्रति श्रमिक, उत्पादक पूँजी मात्रा अधिक है। फिर भी उन्होंने अपनी जाँच द्वारा जो विरोधाभास प्रस्तुत किया है, उसका स्पष्टीकरण स्वयं दिया है। उनका तर्क यह है कि, विभिन्न मात्राओं की कार्यक्षमता का समायोजन करते हुए श्रम की परिमाषा प्रामाणिक इकाइयों में की जानी चाहिए। इस आधार पर उनका मत है कि अमरीका के औसत श्रमिक की कार्यक्षमता अन्य देशों के श्रमिकों की तुलना में तीन गुनी है। इसका कारण यह है कि अमरीका में उत्पादन प्रणाली में अन्य देशों की तुलना में अधिक गहनता के साथ पूँजी का प्रयोग किया जाता है। इसे दृष्टि में रखते हुए, अमरीका में श्रम की पूर्ति, कार्यक्षमता इकाइयों में व्यक्त की जानी चाहिए जिसमें अमरिका में श्रम की पूर्ति को अन्य देशों की तुलना में निश्चित गुना अधिक कार्य-कुशल माना जा सकता है। इस प्रकार संशोधन करते हुए प्रो. ल्योनटीफ कहते हैं कि "अमरीका में पूँजी की पूर्ति इस प्रकार समतुल्य श्रमिक के सन्दर्भ में अन्य बहुत से देशों की तुलना में, अधिक मात्रा की अपेक्षा कम मात्रा में होना सिद्ध होती है।"[1] अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि श्रम कार्यक्षमता की परिवर्तनशील मात्रा का समायोजन करने पर स्पष्ट होता है कि अमरीका तुलनात्मक रूप से श्रम में समृद्ध है तथा पूँजी में स्वल्प है। इस प्रकार का स्पष्टीकरण देकर प्रो. ल्योनटीफ ने प्रो. हेक्सचर-ओहलिन के सिद्धान्त को खण्डित होने से बचा लिया है।

प्रो. ल्योनटीफ-विरोधाभास की आलोचना
(CRITICISM OF LEONTIEF S PARADOX)

प्रो. ल्योनटीफ ने अमरीकन निर्यात और आयात का अध्ययन कर जो निष्कर्ष निकाले हैं एवं अपना विरोधाभास प्रस्तुत किया है उसकी कई अर्थशास्त्रियों द्वारा आलोचना की गयी है जो इस प्रकार है

(1) **जाँच की विधि अपूर्ण**—आलोचकों का कहना है कि ओहलिन के सिद्धान्त की जाँच करने की प्रो. ल्योनटीफ की विधि तर्कपूर्ण नहीं है। उन्होंने आयात की कटौती को, प्रतियोगी-आयात-प्रतिस्थापित उद्योगों के सन्दर्भ में लिया है जिसका सम्बन्ध वास्तविक आयातों से नहीं है। प्रो. जे. एल. फोर्ड (J L Ford) के अनुसार ल्योनटीफ को निर्यातों के आगत-गुणक (Input Co-efficients) और वास्तविक आयातों की तुलना करनी चाहिए थी। यदि वास्तविक आयातों की तुलना, वास्तविक निर्यातों से की जाती है तो प्रो. हेक्सचर-ओहलिन का सिद्धान्त पूर्ण रूप से मान्य होता है। यदि हम उन देशों के आगत-निर्गत (Input-Output) के ढाँचे की जाँच करें जिनसे अमरीका, वस्तुओं का आयात करता है तो स्पष्ट होगा कि ये वस्तुएँ श्रम-प्रधान होती हैं।

(2) **उपादान-गहनता की गलत तुलना**—इस सम्बन्ध में प्रो. एल्सवर्थ आलोचना करते हुए कहते हैं कि ल्योनटीफ के निष्कर्ष सही नहीं हैं और न ही उनका विरोधाभास सन्तोषजनक है। प्रो. ल्योनटीफ ने अमरीका के निर्यातों एवं अमरीका के आयात-प्रतिस्थापित उद्योगों के उपादान-गहनता (Factor Intensities) की तुलना की है—अर्थात निर्यातों में कटौती करने पर कितनी मात्रा में उपादान विमुक्त होते हैं तथा आयात-प्रतिस्थापित उद्योगों में कितनी मात्रा में उपादानों या साधनों का प्रयोग होता है। किन्तु प्रो. एल्सवर्थ का कहना है कि उक्त तुलना के स्थान पर अमरीका के निर्यातों एवं विदेशों के निर्यातों की तुलना की जानी चाहिए थी। आगे वे कहते हैं कि ल्योनटीफ का अध्ययन विरोधाभास नहीं है वरन् इस बात का समर्थन करता है कि अमरीका में पूँजी की प्रधानता है। एल्सवर्थ के अनुसार अमरीका में प्रति श्रमिक अधिक मात्रा में

1 "The American Capital Supply per "equivalent worker" turns out to be comparatively smaller, rather than larger, than that of many other Countries" —*Leontief.*

पूंजी का आशय है कि वह अपनी निर्यात की जाने वाली वस्तुओं को अधिक पूंजी-गहन अथवा पूंजी प्रधान विधि से उत्पादन करेगा अपेक्षाकृत उन देशों के जो अमरीका को निर्यात करते हैं।

किन्तु आलोचकों ने प्रो. एल्सवर्थ के उक्त तर्क को स्वीकार नहीं किया है उनका कहना है कि एल्सवर्थ यह मानकर चले हैं कि अमरीका में प्रतिस्थापित उद्योगों एवं विदेशों के निर्यात उद्योगों में उत्पाद-फलन भिन्न-भिन्न हैं। किन्तु यह प्रो ओहलिन की उस मान्यता के विरुद्ध है जिसके अनुसार प्रत्येक देश में उत्पाद-फलन समान होता है। चूंकि वास्तविक जगत में विभिन्न देशों में उत्पाद-फलन प्रायः समान होता है, प्रो एल्सवर्थ का निष्कर्ष सही नहीं है।

(3) **सांख्यिकीय विधि आपत्तिजनक**—आलोचकों ने उस सांख्यिकीय विधि पर भी आपत्ति की है जिसका प्रयोग ल्योनटीफ ने अपना विरोधाभास ज्ञात करने के लिए किया है। प्रो० ल्योनटीफ ने पूंजी-श्रम अनुपातों की गणना करने के लिए आयात-निर्यात ढांचे के समूहन (aggregation) की विधि का प्रयोग किया है परन्तु इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। यह सम्भव है कि अमरीका के निर्यात उद्योगों में श्रम की प्रधानता इसलिए नहीं है कि वहां श्रम प्रचुर मात्रा में है वरन् इसलिए है कि वहां उन वस्तुओं का जो श्रम प्रधान है किन्तु उनका निर्यात नहीं किया जाता, योग उन वस्तुओं के साथ कर दिया गया है जो पूंजी प्रधान है तथा जिनका निर्यात किया जाता है। अर्थात् वास्तव में अमरीका से पूंजी-प्रधान वस्तुओं का ही निर्यात किया जाता है।

(4) **मांग की दशाओं का प्रभाव**—प्रो ल्योनटीफ ने विरोधाभास प्रस्तुत करते समय एक देश की मांग की दशाओं पर ध्यान नहीं दिया है। एक देश में निर्यात और आयात के ढांचे को निर्धारित करने में मांग की दशाओं का महत्वपूर्ण हाथ होता है। यदि एक पूंजी प्रचुर देश में पूंजी प्रधान वस्तुओं का उपयोग इन वस्तुओं की पूर्ति की तुलना में अधिक मात्रा में किया जाता है तो इस देश का निर्यात ढांचा प्रो ओहलिन के सिद्धान्त के अनुसार नहीं होगा। अर्थात अमरीका पूंजी प्रचुर देश होते हुए भी उसमें पूंजी-प्रधान वस्तुओं की अधिक मांग हो सकती है जिससे वह विदेशों से इन वस्तुओं का आयात करे।

(5) **प्राकृतिक साधनों की उपेक्षा**—आलोचकों का मत है कि प्रो. ल्योनटीफ की उत्पत्ति के साधनों की परिभाषा, प्रो हेक्सचर-ओहलिन की परिभाषा से भिन्न है। ल्योनटीफ ने समस्त साधनों को "श्रम और पूंजी" केवल इन दो साधनों में समाहित कर लिया है एवं "प्राकृतिक साधनों" सरीखे उत्पत्ति के महत्वपूर्ण उपादान की उपेक्षा की है। प्रो. हाफमेयर[1] (Prof. Hoffmeyer) ने भी उक्त मत का समर्थन किया है। उनका कहना है कि यदि पूंजी-श्रम अनुपातों की गणना में से उन वस्तुओं को पृथक कर दिया जाय जिनके उत्पादन में बड़ी मात्रा में प्राकृतिक साधनों की आवश्यकता होती है तो ल्योनटीफ का निष्कर्ष बिल्कुल विपरीत हो जायगा अर्थात वह ओहलिन के सिद्धान्त की पुष्टि करेगा। अर्थात् अमरीका का निर्यात पूंजी प्रधान वस्तुओं का और आयात श्रम-प्रधान वस्तुओं का होगा।

(6) **उत्पादन-तकनीक में भिन्नता**—आलोचकों का मत है कि यह सम्भव है कि निश्चित वस्तुओं के उत्पादन के लिए अमरीका में उत्पादन तकनीक अन्य देशों की तुलना में भिन्न हो। उदाहरण के लिए A और B दो वस्तुएं हैं। अमरीका में समस्त साधन-कीमत-अनुपातों की दृष्टि से वस्तु A तुलनात्मक रूप में पूंजी प्रधान है जबकि दूसरे देश में B सापेक्षिक रूप में पूंजी प्रधान है। ऐसी स्थिति में हम यह कल्पना कर सकते हैं कि अमरीका B का निर्यात करता है तथा दूसरा देश A वस्तु का निर्यात करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अमरीका ऐसी वस्तु का

1. Hoffmeyer E., "The Leontief Paradox Critically Examined" *Manchester School*, 1958.

निर्यात कर रहा है जो उस देश में उत्पादन-तकनीक के अनुसार श्रम-प्रधान है किन्तु वही वस्तु दूसरे देश में पूंजी प्रधान है तथा ऐसी वस्तु का आयात करता है जो उस देश की उत्पादन-तकनीक के अनुसार पूंजी प्रधान है किन्तु अन्य देश के अनुसार श्रम-प्रधान है।

(7) आयातों का ढांचा—आलोचकों के अनुसार यह भी सम्भव है कि अमरीका में अधिकांश आयात अमरीकन-स्वामित्व वाली उन फर्मों में किया जाता है जो विदेशों में स्थित हैं तथा ये फर्में वहां की अन्य स्थानीय फर्मों की तुलना में अधिक ऊँचे पूंजी श्रम-अनुपात का प्रयोग करती हैं। यदि उपरोक्त दशाओं में किये जाने वाले आयात को अमरीका के आयात-बिल से अलग कर दिया जाता है तो अमरीका में आयात-प्रतिस्थापित उद्योगों में जिन्हें शेष आयातों से प्रतियोगिता करनी पड़ती है, निर्यात-उत्पादन की तुलना में अधिक श्रम प्रधान तकनीक का प्रयोग किया जायेगा।

प्रो. ल्योनटीफ के विरोधाभास की प्रो. हैबरलर द्वारा व्याख्या
(HABERLER'S EXPLANATION OF LEONTIEF'S PARADOX)

प्रो. हैबरलर[1] ने ल्योनटीफ द्वारा निकाले गये निष्कर्षों का पारस्परिक सिद्धान्त (प्रतिष्ठित) के साथ समन्वय स्थापित किया है। उनका तर्क है कि बहुत से आलोचकों ने इस तथ्य की उपेक्षा की है कि ल्योनटीफ विश्लेषण केवल दो साधन मॉडल से सम्बन्धित न होकर अनेक साधनों के मॉडल से सम्बन्धित है उन्होंने पूंजी को केवल श्रम से ही पृथक नहीं किया है वरन् उसमें उत्पत्ति के उत्पादित-उपादान, प्लाण्ट, भवन, औजार भण्डारण (Inventories) इत्यादि का समावेश किया है। पूंजी एवं श्रम के अतिरिक्त उत्पत्ति के अनेक साधन होते हैं जैसे प्राकृतिक साधन, सगठन और साहस अथवा उद्यम। ये उपादान गुणों में इतने विभिन्न और मापने में इतने कठिन होते हैं कि प्रो. ल्योनटीफ ने उन्हें अपनी गणना में शामिल नहीं किया है। इसे दृष्टि में रखते हुए श्रम और पूंजी के सन्दर्भ में ल्योनटीफ का उत्पाद-फलन न तो समरूप (Homogeneous) है न वह विभिन्न देशों में एक समान रहता है।

प्रो. ल्योनटीफ का दूसरा स्पष्टीकरण देते हुए प्रो हैबरलर कहते हैं कि विरोधाभास इसलिए भी हो सकता है कि अमरीका में आयातों से प्रतियोगिता करने वाले उद्योगों में पूंजी का गहनता से प्रयोग हो रहा हो क्योंकि अमरीकन श्रम की तुलना में वहां की पूंजी विदेशी प्राकृतिक साधनों के लिए अधिक अच्छी स्थानापन्न (Better Substitutes) है। जिसके फलस्वरूप अमरीका में आयात-प्रतिस्थापित उद्योगों में श्रम के स्थान पर पूंजी का प्रयोग हो रहा हो। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि अमरीका पूंजी प्रधान वस्तुओं का आयात करता है।

निष्कर्ष—उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि ल्योनटीफ के विरोधाभास का मूल कारण यह है कि श्रम और पूंजी के अतिरिक्त उत्पादन के और भी उपादान होते हैं। विभिन्न देशों में श्रम और पूंजी के अतिरिक्त प्राकृतिक साधन सहित उत्पत्ति के अन्य साधन भी होते हैं जिनकी पूर्ण रूप से सांख्यिकीय गणना नहीं की जा सकती। इन्हीं उत्पत्ति के साधनों के कारण विभिन्न देशों के उत्पाद-फलन असमान हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप किसी एक देश में जो उद्योग पूंजी प्रधान होता है, वही दूसरे देश में श्रम-प्रधान हो जाता है। इसे दृष्टि में रखते हुए किसी देश के व्यापार की संरचना के सम्बन्ध में पहले से ही सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता।

(3) डॉ. भारद्वाज की जाँच (Dr Bharadwaj's Test)—बम्बई विश्वविद्यालय के प्रो. डॉ भारद्वाज ने प्रो. हेक्सचर-ओहलिन के सिद्धान्त की जाँच भारत के अमरीका से द्विपक्षीय (Bilateral) व्यापार के सम्बन्ध में की है तथा यह निष्कर्ष निकाला है कि भारत से अमरीका को

1 Haberler - *A Survey of International Trade Theory.*

निर्यात की जाने वाली वस्तुएँ पूंजी प्रधान होती हैं तथा अमरीका से आयात की जाने वाली वस्तुएँ श्रम प्रधान होती हैं अर्थात डॉ भारद्वाज ने ओहलिन के सिद्धान्त को गलत सिद्ध कर दिया है। इसके लिए डॉ भारद्वाज ने अनेक स्पष्टीकरण भी दिये हैं।

इस प्रकार उपरोक्त तीनों जाँचों में प्रो ओहलिन के निष्कर्षों को गलत साबित कर दिया गया है किन्तु जापान के द्विपक्षीय व्यापार के सम्बन्ध में जो अध्ययन प्रो. टेटमोटो और इचीमूरा[1] (Tatemoto and Ichimura) ने किया है, वह पूर्ण रूप से ओहलिन के सिद्धान्त को निरर्थक सिद्ध नहीं करता।

जर्मनी में स्तोपू एवं रोस्पर (Stolpu and Rostper) ने जर्मनी के विदेशी व्यापार का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि हेक्सचर-ओहलिन का सिद्धान्त सही है।

अन्त में कहा जा सकता है कि अभी तक पूर्ण रूप से प्रो. हेक्सचर-ओहलिन के सिद्धान्त की जाँच नहीं की गयी है। यदि हम ओहलिन के सिद्धान्त की मान्यताओं-पूर्ण प्रतियोगिता और पूर्ण रोजगार को दृष्टि में रखें तो इस सिद्धान्त के निष्कर्षों को चुनौती देना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. प्रो ल्योनटीफ का विरोधाभास क्या है ? प्रो. ओहलिन के सिद्धान्त के सन्दर्भ में इसकी पूर्ण व्याख्या कीजिये ?
2. प्रो. हेक्सचर-ओहलिन के सिद्धान्त की प्रायोगिक जाँच किस आधार पर की गयी है, समझाइये ?
3. ल्योनटीफ-विरोधाभास से आप क्या समझते हैं ? उसका महत्व समझाइये तथा उसकी सीमाएँ बताइये।

Selected Readings

1. Haberler : *A Survey of International Trade Theory.*
2. Dr. Mithani *Introduction of International Economics.*
3. K R. Gupta . *International Economics*
4. Ray and Kundu . *International Economics*
5. W. W. Leontief . *Article in Review of Economics and Statistics* 1956 pp. 386-407.
6. Hoffmeyer Dr : *The Leontief Pradox Critically Examined Manchester School* 1958.

1 M. Tatemoto and Ichimura 'Factor Proportions and foreign Trade the case of Japan", *Review of Economics and Statistics,* Vol. 41, 1959.

परिशिष्ट (A)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और साधनों की कीमत

—स्टाल्पर-सेमुअलसन प्रमेय

[INTERNATIONAL TRADE AND FACTOR PRICES]

—The Stolper-Samuelson Theorem

हेक्सचर-ओहलिन के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से इस प्रश्न पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है कि व्यापार का उत्पत्ति के साधनो की सापेक्षिक कीमत पर क्या प्रभाव पडता है विशेष रूप से उनकी निरपेक्ष वास्तविक आय (Absolute Real Income) पर क्या प्रभाव होता है। इस प्रश्न का उत्तर तो प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो ने दिया और न ही नव-प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने दिया किन्तु हेक्सचर-ओहलिन के सिद्धान्त ने इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए कई अर्थशास्त्रियों को प्रेरित किया।

प्रो बेस्टेबल और केयरन्स ने व्यापार और आय के वितरण पर अपने विचार व्यक्त किये है तथा यह निष्कर्ष निकाला है कि विशिष्ट साधनो अथवा अप्रतियोगी श्रम समूहो को जिन्हें केवल आयात-प्रतियोगी उद्योगो मे ही रोजगार दिया जा सकता है, ऐसे उद्योगो पर से प्रशुल्क (आयात-कर) हटाने से नुकसान होता है उनकी मान्यताओ को दृष्टि मे रखते हुए उक्त साधनो को मूल्य मजदूरी दर भी स्विकार कर रहे निर्यात उद्योगो मे रोजगार नही दिया जा सकता। प्रो. हैबरलर के अनुसार श्रम जो सब साधनो मे सबसे कम विनिष्ट है, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के कारण उत्पादकता मे वृद्धि होने से दीर्घकाल मे लाभान्वित होता है तथा राष्ट्रीय आय के कार्यात्मक वितरण (Functional distribution) मे परिवर्तन होने से उसकी कोई क्षति नही होती। इसमे संशोधन करते हुए प्रो वाइनर कहते है कि यदि श्रम का सरक्षित उद्योगो मे सापेक्षिक रूप से अधिक प्रयोग किया जाता है तो प्रशुल्क हटाने से राष्ट्रीय मौद्रिक आय मे श्रम का सापेक्षिक अंश कम हो जायगा, किन्तु उसकी वास्तविक आय, आयातित वस्तुओ की कीमतो मे कमी हो जाने से बढ जायगी। वाइनर का मत है कि व्यापार का वास्तविक आय के वितरण पर प्रभाव का अध्ययन करते समय उन वस्तुओ की कीमतो को जानना जरूरी है जिनका उपभोक्ताओ द्वारा प्रयोग किया जाता है।

उपरोक्त विचारो से यह स्पष्ट ज्ञात नही होता कि देश के व्यापार का और साधनो की आय पर क्या प्रभाव पडता है। किन्तु उक्त अनिश्चितताओ एव सदेहो को दो बड़े अर्थशास्त्री

प्रो. स्टाल्पर (W. F. Stolper) और प्रो. सेमुअलसन[1] ने सन 1941 में दूर कर दिया तथा हेक्सचर-ओहलिन के सिद्धान्त से बहुत ही स्पष्ट निष्कर्ष निकाला जिसका सम्बन्ध आय के वितरण पर व्यापार के प्रभाव से है। प्रो. ओहलिन के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का परिणाम यह होता है कि दुर्लभ साधनों का राष्ट्रीय आय में सापेक्षिक अंश कम हो जाता है। प्रो. स्टाल्पर-सेमुअलसन ने उक्त निष्कर्ष को तो प्रमाणित किया ही, किन्तु उसके भी आगे जाकर उन्होंने यह भी प्रमाणित कर दिया कि व्यापार के कारण दुर्लभ साधन का निरपेक्ष अंश (Absolute Share) भी कम हो जाता है।

स्टाल्पर-सेमुअलसन प्रमेय

हैक्सचर-ओहलिन की मान्यता को स्वीकार करते हुए प्रो. स्टाल्पर-सेमुअलसन ने बताया कि यदि व्यापार के कारण किसी एक वस्तु के उत्पादन में वृद्धि होती है तो उस वस्तु के उत्पादन में जिस साधन को सापेक्षिक रूप से गहनता के साथ प्रयुक्त किया जाता है, उसकी आय का सापेक्षिक और निरपेक्ष अंश बढ़ जायगा। अन्य शब्दों में, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सापेक्षिक रूप से प्रचुर साधन को लाभ होगा तथा सापेक्षिक रूप से दुर्लभ साधन को हानि होगी।

मान्यताऐं—प्रमेय की निम्न मान्यताएँ हैं :

(1) हम एक ऐसे देश को लेते हैं जो उत्पत्ति के दो साधनों—श्रम और पूंजी की सहायता से केवल दो वस्तुओं X और Y का उत्पादन कर रहा है।

(2) उत्पादन-फलन पूर्ण रूप से समान हैं।

(3) उत्पत्ति के दोनों साधनों की मात्रा निश्चित है तथा उन्हें पूर्ण रोजगार प्राप्त है।

(3) देश में पूर्ण प्रतियोगिता है तथा उसे निश्चित व्यापार की शर्तों का सामना करना पड़ता है जिन्हें वह प्रभावित नहीं कर सकता।

(5) वस्तु X का उत्पादन सापेक्षिक रूप से पूंजी प्रधान है तथा Y का श्रम प्रधान है। जैसे ही मजदूरी की तुलना में ब्याज के अनुपात में वृद्धि होती है, दोनों वस्तुओं के उद्योगों में पूंजी-श्रम अनुपात में कमी होगी किन्तु Y की तुलना में X वस्तु के उत्पादन में पूंजी-श्रम का अनुपात सदैव ऊँचा रहेगा।

व्याख्या—अब देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रारम्भ करता है तथा उसे पूंजी प्रधान वस्तु X का निर्यात करने का प्रोत्साहन मिलता है अतः X के उत्पादन में अधिक मात्रा में पूंजी और श्रम का प्रयोग किया जायगा। Y वस्तु के उत्पादन में संकुचन होने से अधिक मात्रा में श्रम एवं कम मात्रा में पूंजी अन्य उद्योगों के लिए उपलब्ध हो जायेंगे किन्तु X के उत्पादन के लिए पूंजी अधिक मात्रा में लगती है अतः पूंजी की दुर्लभता से उसकी सापेक्षिक कीमत बढ़ जायगी तथा श्रम की प्रचुरता से उसकी कीमत घट जायगी। अब श्रम इसलिए प्रचुर हो गया है क्योंकि जिस अनुपात में Y वस्तु के उत्पादन-संकुचन से वह हट गया है, उसी अनुपात में उसे X के उत्पादन में नहीं लगाया जा सकता क्योंकि X का उत्पादन पूंजी प्रधान है। Y के उत्पादन में कमी होने से जो कम मात्रा में पूंजी बच रहती है, उसका सरलता से X वस्तु के उत्पादन में प्रयोग हो जाता है क्योंकि X का उत्पादन पूंजी प्रधान है किन्तु श्रम का प्रयोग नहीं हो पाता जिससे कुछ श्रमिक बेरोजगार हो जायेंगे एवं उनकी कीमत अर्थात मजदूरी में कमी हो जायेगी। अन्य शब्दों में कह सकते हैं कि स्वतन्त्र व्यापार में देश के स्वल्प साधन-श्रम के सापेक्षिक अंश को हानि होगी।

प्रो. स्टाल्पर-सेमुअलसन ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि व्यापार में न केवल स्वल्प साधन के सापेक्षिक अंश की हानि होगी वरन् उसके निरपेक्ष अंश की भी हानि होगी। जैसे ही देश उत्पादन

1 W. F. Stolper and PA Samuelson Protection and Real Wages—Article in *'Readings in the Theory of International Trade'* pp. 333-57.

की प्रथम स्थिति से आगे बढता है अर्थात Y की तुलना मे X का उत्पादन बढता है, पूंजी की सापेक्षिक कीमत मे वृद्धि और श्रम की सापेक्षिक कीमत में ह्रास होता है। इसका प्रभाव यह होगा कि दोनो उद्योगो में कम पूंजी और अधिक मात्रा मे श्रम को प्रतिस्थापित किया जायगा अर्थात दोनो उद्योगो मे श्रम पूंजी का अनुपात बढ जायगा। परिणामस्वरूप दोनों उद्योगों मे श्रम की सीमान्त उत्पादकता (जिसे पूर्ण प्रतियोगिता के कारण दोनो उद्योगों को समान मान लिया गया है) घट जायगी एवं पूंजी की सीमान्त उत्पादकता बढ जायगी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वतन्त्र व्यापार के परिणामस्वरूप सापेक्षिक रूप से स्वल्प साधन श्रम की वास्तविक (निरपेक्ष) आय कम हो जाती है और सापेक्षिक रूप से प्रचुर साधन-पूंजी की वास्तविक आय बढ जाती है। इसके विपरीत यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रशुल्क (Tariff) के फलस्वरूप व्यापार की मात्रा कम हो जायगी और उससे सापेक्षिक स्वल्प साधन-श्रम को लाभ होगा।

उक्त प्रमेय का यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि पूंजी प्रधान देश सस्ते श्रम वाले देशों के आयात पर भारी मात्रा मे प्रशुल्क लगा दें तो वे अपने देश मे श्रमिकों की मजदूरी के उच्च स्तर को बनाये रख सकते है।

आलोचना—स्टाल्पर-सेमुअलसन के प्रमेय की निम्न आलोचनाएं की गयी हैं :

(i) उन्होंने जो प्रशुल्क सम्बन्धी तर्क दिया है, उसके निष्कर्षों को उत्पादन के दो साधनो की ही स्थिति मे लागू किया जा सकता है किन्तु जब दो से अधिक साधनो का प्रयोग किया जा रहा हो तो उक्त विश्लेषण में कठिनाई उपस्थित होती है।

(ii) जिन मान्यताओं पर स्टाल्पर-सेमुअलसन प्रमेय आधारित है वे वास्तविक नहीं हैं। प्रो हेबरलर के अनुसार, "यह सिद्धान्त उत्पत्ति के तीन या अधिक साधनो वाले मॉडल पर लागू नही होता जो कि अधिक वास्तविक है उदाहरण के लिए उस मॉडल में जहां एक साधन निर्यात उद्योगो के लिए विशिष्ट हो, तथा दूसरा आयात उद्योगो के लिए विशिष्ट हो और दो या अधिक स्थानान्तरणीय हो।"[1]

(iii) कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार स्टाल्पर-सेमुअलसन के निष्कर्ष सही नहीं है। उनकी दृष्टि मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रभाव आयात और निर्यात उद्योगो पर भिन्न-भिन्न होता है। व्यापार से निर्यात उद्योगो मे लगे उत्पत्ति के साधनो पर अनुकूल तथा आयात उद्योगो मे लगे साधनों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

1 Prof. Haberler—*A Survey the International Trade Theory*, pp. 20-21,

परिशिष्ट (B)

साधन, कीमत, समानीकरण–सिद्धान्त

—प्रो. सेमुअलसन का प्रमाण

[FACTOR PRICE, EQUALISATION THEOREM]

—Prof Samuelson's Proof

परिचय

प्रो हेक्सचर-ओहलिन के सिद्धान्त से सम्बन्धित जो महत्वपूर्ण विचार है वह है साधन, कीमत, समीकरण अथवा समानता जिसका वर्णन हम पिछले अध्याय में कर चुके है। किन्तु अभी हमने सक्षेप मे प्रो ओहलिन का विचार ही प्रस्तुत किया है जो सक्षेप मे इस प्रकार है, "यदि देशो मे श्रम और पूंजी का स्वतन्त्र प्रवाह होता है तो मजदूरी और साधन कीमतो मे समानता स्थापित हो जायगी, किन्तु यदि उत्पत्ति के साधन देशो मे गतिशील न भी हो तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे वस्तुओ के स्वतन्त्र प्रवाह से साधनो की निरपेक्ष और सापेक्षिक कीमतो मे समानता स्थापित होने की प्रवृत्ति होगी।' इस सम्बन्ध मे प्रो एलसवर्थ, प्रो सेमुअलसन, प्रो जे. आर हिक्स, प्रो लर्नर, प्रो मीड (Prof J E Meade, और प्रो एच जी जानसन (Prof H G. Johnson) ने अपने विचार प्रकट किये है। यहाँ हम केवल प्रो सेमुअलसन के विचारो का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

पूर्ण अथवा आंशिक समानीकरण
(COMPLETE OR PARTIAL EQUALISATION)

समय समय पर अर्थशास्त्रियो ने यह उत्तर देने का प्रयत्न किया है कि प्रो ओहलिन का सिद्धान्त साधनो की कीमतो मे पूर्ण समानता की ओर ले जाता है अथवा आंशिक। प्रो. एलसवर्थ का मत है कि ओहलिन की मान्यताओ के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से साधन-कीमतो मे पूर्ण समानता स्थापित नही हो सकती। उनका तर्क है कि जब प्रत्येक स्थान पर सब साधनो की कीमतो मे समानता स्थापित हो जायगी तो फिर उनमे व्यापार होने का कोई प्रश्न ही उपस्थित नही होता और व्यापार समाप्त होने तथा माँग भी समाप्त होने से जिसके कारण कीमतो मे समानता स्थापित होती है साधनो मे पहले की स्थिति के समान असमानता और उनकी कीमतो मे असमानता पैदा हो जायगी।

परन्तु प्रो एलसवर्थ का तर्क सही नही है। वे उन कारणो की व्याख्या नहीं कर सके हैं जिनके कारण समानता स्थापित होती है। उन्होंने व्यापार के कारण पैदा होने वाली दशाओ

और उन दशाओं जिनसे व्यापार का जन्म होता है, में भ्रम पैदा कर दिया है और यह निष्कर्ष निकाल लिया है कि साधनों की कीमतों में समानता स्थापित होने के बाद फिर लाभदायक व्यापार होना सम्भव नहीं है। अभी हम आगे चलकर प्रो सेमुअल्सन की व्याख्या से यह स्पष्ट करेंगे कि समानता स्थापित होने के बाद भी व्यापार सम्भव है। प्रो. एल्सवर्थ के समान और भी अन्य अर्थशास्त्रियों ने गलत व्याख्या प्रस्तुत की है। यहाँ तक प्रो ओहलिन ने भी समानता की बहुत स्पष्ट व्याख्या नहीं की है वरन् प्रो हेक्सचर की विचारधारा को ही पुष्ट कर दिया है कि तुलना करने योग्य साधनों की निरपेक्ष कीमतों में समानता स्वतन्त्र व्यापार का अपरिहार्य परिणाम है। किन्तु उन्होंने इसे स्थापित करने के लिए कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है।

इस बात का पूर्ण श्रेय प्रो. सेमुअलसन को है कि उन्होंने साधन-कीमतों में समानता का सशक्त प्रमाण प्रस्तुत किया है और बताया है कि कुछ विशिष्ट दशाओं के अन्तर्गत व्यापार से साधनों की कीमतों में पूर्ण समानता स्थापित हो सकती है। उनके अनुसार, "जब तक देशों में आंशिक विशिष्टीकरण है अर्थात प्रत्येक देश दोनों वस्तुओं को कुछ न कुछ मात्रा का उत्पादन करता है, स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से साधनों की सापेक्ष और निरपेक्ष कीमतों में समानता स्थापित होगी, जब तक दो क्षेत्रों में प्रारम्भिक स्तर पर साधनों में बहुत अधिक असमानता न हो, वस्तुओं की गतिशीलता सदैव साधनों की गतिशीलता को पूर्ण रूप से स्थानापन्न करेगी। अब हम प्रो सेमुअलसन के प्रमाण को प्रस्तुत करेंगे।

साधन, कीमत, समानीकरण का प्रो सेमुअलसन का प्रमाण
(SAMUALSON'S PROOF OF THE FACTOR PRICE EQUALISATION)

सबसे पहले प्रो. सेमुअलसन[1] ने ही प्रो. हेक्सचर-ओहलिन के साधन कीमत समीकरण के पक्ष में शक्तिशाली प्रमाण प्रस्तुत किया। उन्होंने सहज ही समझने योग्य एवं बड़े स्पष्ट रूप में यह जाँच प्रस्तुत की है तथा फिर इसे गणितीय रूप में भी प्रस्तुत किया है। यहाँ हम गणितीय विवेचन नहीं करेंगे क्योंकि उसमें विश्लेषण अति जटिल हो जायगा। केवल उसकी व्याख्या कर उसे रेखाचित्र में प्रस्तुत करेंगे जो समझने के लिए पर्याप्त है।

प्रो सेमुअलसन की मान्यताएं—सबसे पहले प्रो सेमुअलसन ने साधन, कीमत, समीकरण के सिद्धान्त की मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं जो इस प्रकार हैं—

(i) केवल दो देश A और B है।

(ii) वे दो देश केवल दो वस्तुओं X और Y का उत्पादन और व्यापार करते हैं।

(iii) प्रत्येक वस्तु का उत्पादन उत्पत्ति के दो साधनों, श्रम और पूंजी से होता है तथा उत्पादन-फलन का सम्बन्ध उत्पत्ति के समता नियम से है।

(iv) सीमान्त उत्पादकता ह्रास नियम लागू होता है।

(v) साधन-बहुलता (Factor Intensity) के सम्बन्ध में उत्पादन-फलन भिन्न-भिन्न हैं अर्थात प्रत्येक देश में X वस्तु सापेक्षिक रूप से पूंजी प्रधान है तथा Y श्रम-प्रधान है।

(vi) प्रत्येक देश में किसी दी हुई वस्तु के लिए उत्पादन फलन एक समान है। श्रम एवं पूंजी की इकाइयाँ गुणात्मक रूप से समान हैं।

(vii) दोनों देशों में पूर्णप्रतियोगिता है तथा इनमें साधनों की गतिशीलता नहीं है।

(viii) दोनों देशों में स्वतन्त्र व्यापार होता है जिससे परिवहन लागत का अभाव है।

(ix) सन्तुलन की स्थिति में माँग और लागत की दशाएँ इस प्रकार हैं कि प्रत्येक देश में

---

1 Paul A. Samuelson, "*Article in Economic Journal*", June, 1949 pp. 182-183.

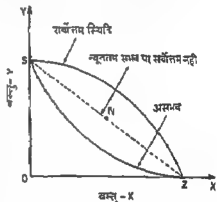
कुछ न कुछ मात्रा में दोनों वस्तुओं का ही उत्पादन किया जाता है अर्थात प्रत्येक देश में पूर्ण विशिष्टीकरण न होकर, आंशिक विशिष्टीकरण है।

(x) प्रत्येक देश में उत्पत्ति के साधनों की मात्राएँ अपरिवर्तित रहती हैं।

प्रो. सेमुअलसन ने इन सब मान्यताओं को परिकल्पना (Hypothesis) कहा है जिनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वतन्त्र व्यापार से दोनों देशों में साधनों की कीमतों में समानता स्थापित हो जायगी। उनका कहना है कि यदि परिकल्पनाएँ सही हैं तो साधन-कीमतों में समानता का निष्कर्ष गलत नहीं हो सकता। यह प्रश्न इतना तर्कयुक्त है कि इसका एक ही उत्तर हो सकता है— या तो ओहलिन का सिद्धान्त सही है अथवा गलत है। प्रो. सेमुअलसन यह बताने में सफल हुए हैं कि उपरोक्त मान्यताओं (परिकल्पनाओं) के आधार पर सिद्धान्त सही है।

व्याख्या—प्रो. सेमुअलसन ने साधन-कीमत समीकरण का प्रमाण तीन अवस्थाओं में प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है—

प्रथम अवस्था—पहली अवस्था में प्रो सेमुअलसन ने बताया है कि दी हुई उत्पाद-फलन की मान्यता के अन्तर्गत प्रत्येक देश में दोनों वस्तुओं की उत्पादन सम्भावना वक्र, उद्गम स्थान के नतोदर (Concave) होनी है जो एक वस्तु की तुलना में दूसरी वस्तु की बढ़ती हुई सीमान्त अवसर लागत प्रदर्शित करती है। नीचे दिये हुए रेखाचित्र में हम इसे स्पष्ट करेंगे—



चित्र 14 1

चित्र 14·1 में SZ उत्पादन सम्भावना वक्र वस्तु X और Y के उत्पादन की सम्भावनाएँ प्रकट कर रही है यदि सब साधनों को उत्पादन में लगा दिया जाय। यदि हम यह मानें कि देश Z बिन्दु पर है जहाँ वह दिये हुए श्रम और पूँजी के द्वारा केवल X वस्तु की अधिकतम मात्रा का उत्पादन कर रहा है। अब यदि वह 50 प्रतिशत लागत (Inputs) को X वस्तु के उत्पादन से हटाकर Y के उत्पादन में लगा देता है तो चूँकि समता उत्पत्ति का नियम लागू हो रहा है, X वस्तु का उत्पादन आधा हो जायगा। परन्तु इसके बदले उसे Y की कितनी मात्रा प्राप्त होगी? इसकी तीन सम्भावनाएँ हैं या तो वह ठीक परित्याग की गयी X की मात्रा के बराबर या उससे कम या उससे अधिक Y की मात्रा प्राप्त कर सकता है। दूसरी स्थिति में सम्भावना नहीं है क्योंकि स्थिर उत्पादन के अन्तर्गत, साधनों (Inputs) की 50 प्रतिशत मात्रा से कम से कम Y का 50 प्रतिशत उत्पादन तो होना ही चाहिए तथा यह स्थिति उत्पादन सम्भावना वक्र SZ के मध्य बिन्दु N से स्पष्ट है जो पहली स्थिति की सूचक है। इस बिन्दु के नीचे दोनों वस्तुओं का प्रतिस्थापन सम्भव नहीं है। अत. यह कहा जा सकता है कि यदि X वस्तु के उत्पादन में से लागतों का निश्चित प्रतिशत हटाया जाता है तो देश में X वस्तु के अधिकतम उत्पादन का जितना प्रतिशत कम होता है, कम से कम Y का उतना ही प्रतिशत उत्पादन होना चाहिए अर्थात उत्पादन सम्भावना रेखा उद्गम को बिन्दु के उन्नतोदर नहीं होना चाहिए वरन कम से कम S और Z बिन्दु को मिलाने वाली एक सीधी रेखा होनी चाहिए। हमने इस मान्यता का उल्लेख किया है कि साधन-गहनता के सन्दर्भ में उत्पाद-फलन भिन्न-भिन्न होता है। इसे दृष्टि

मे रखते हुए उत्पादन सम्भावना की सीधी रेखा, कुशल आर्थिक प्रणाली की सूचक नही है क्योंकि इसमे उत्पत्ति के साधनो की सापेक्षिक स्वल्पता पर ध्यान नही दिया गया है।

इसे हमने मान्यता मे स्पष्ट कर दिया है कि वस्तु X पूँजी-प्रधान है तथा Y सापेक्षिक श्रम-प्रधान है। यदि X वस्तु के उत्पादन मे से कम मात्रा मे पूँजी तथा अधिक मात्रा मे श्रम हटाकर Y के उत्पादन में लगाया जाय तो X वस्तु के उत्पादन मे बिना अतिरिक्त कमी किये हुए, Y वस्तु की अधिक मात्रा का उत्पादन किया जा सकता है। उत्पादन की दृष्टि से यह कुशल स्थिति है और जब देश मे इसके अनुसार उत्पादन किया जाता है तो इसके अन्तर्गत उत्पादन के समस्त संयोग, उत्पादन सम्भावना की सीधी रेखा के ऊपर होना चाहिए अर्थात् यह उद्गम बिन्दु के नतोदर होना चाहिए जो बढ़ती हुई सीमान्त लागत के अनुरूप है। अर्थात् जैसे ही Y का उत्पादन बढ़ाया जाता है तो श्रम प्रधान होने से श्रम का गहनता से प्रयोग किया जाता है और पूँजी पर ब्याज की तुलना मे सापेक्षिक रूप मे मजदूरी बढ़ती है जिससे X और Y दोनो वस्तुओ के उद्योगों में पूँजी की तुलना मे श्रम का अनुपात घटता है। किन्तु साधन-गहनता की मान्यता के अनुरूप किसी भी साधन कीमत-अनुपात के लिए प्रत्येक देश में साधन वितरण की सर्वोत्तम स्थिति वह है जिसके अन्तर्गत, दूसरी वस्तु Y के उत्पादन मे पूंजी श्रम अनुपात की तुलना मे, X वस्तु के उत्पादन मे पूँजी की अधिक मात्रा लगती है। इसे दृष्टि मे रखते हुए नतोदर सम्भावना वक्र पर कोई भी बिन्दु सर्वोत्तम उत्पादन की स्थिति का सूचक है।

दूसरी अवस्था—दूसरी अवस्था मे प्रो. सेमुअलसन ने यह स्पष्ट किया है कि स्थिर उत्पादन और साधन गहनता की मान्यताओ के अन्तर्गत प्रत्येक देश में सापेक्षिक साधन कीमतों एव सापेक्षिक वस्तु-कीमतो मे एक ही दिशा (one directional) का सम्बन्ध होता है। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत प्रत्येक साधन की सीमान्त उत्पादकता समस्त उत्पादनो में उसकी कीमत के बराबर होती है। यदि किसी वस्तु की मांग मे वृद्धि होने से उसका उत्पादन बढ़ता है तो इस वस्तु के उत्पादन मे जिस साधन का गहनता से प्रयोग किया जाता है, उसकी सीमान्त उत्पादकता और कीमतो में वृद्धि होती है तथा दूसरे साधन (स्वल्प प्रयोग) की सीमान्त उत्पादता एवं कीमत घटती है। साधनो की कीमतो के अनुपात मे परिवर्तन होने से दोनो उद्योगो के साधन अनुपात मे भी परिवर्तन होता है तथा वस्तु, कीमत, अनुपात मे भी उसी के अनुरूप परिवर्तन होता है। उदाहरण के लिए यदि श्रम-प्रधान वस्तु की मांग बढ़ती है तो उसका उत्पादन बढने से श्रम का अधिक गहनता से प्रयोग किया जाता है जिससे ब्याज की तुलना मे मजदूरी मे वृद्धि होती है जिसका एक ही दिशा का यह परिणाम होता है कि पूँजी प्रधान X वस्तु की तुलना मे श्रम प्रधान Y वस्तु का मूल्य बढ़ने लगता है। चूँकि इन दोनो वस्तुओ की सापेक्षिक कीमतो मे जिस अनुपात मे परिवर्तन होता है उसी अनुपात मे उनके उत्पादन मे भी परिवर्तन होता है, वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतों, उनके उत्पादन की मात्रा तथा दोनों साधनों की सीमान्त उत्पादकता एवं उनकी कीमतो मे अद्वितीय सम्बन्ध (Unique relationship) होता है।

तीसरी अवस्था—तीसरी अवस्था स्पष्ट करती है कि यदि दोनो देशो मे स्वतन्त्र और बिना परिवहन लागत के व्यापार होता है तो दोनों देशों में वस्तु-कीमतो में समानता स्थापित हो जाती है। इसका अर्थ है कि जिन दो वस्तुओ का व्यापार किया जाता है, उनकी सापेक्षिक कीमतें समान हो जाती हैं। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रत्येक देश मे सापेक्षिक साधन कीमतो के अनुरूप ही सापेक्षिक वस्तुओ की कीमतें होती हैं, अतः व्यापार होने के बाद दोनो देशो मे वस्तुओ की कीमतो मे समानता स्थापित होने से, साधन-कीमतो मे भी समानता स्थापित हो

प्राप्तियाँ	
उत्पाद-विक्रय से कुल प्राप्ति (Gorss Receipts)	200
व्यय	
(i) चालू व्यय-मजदूरी, वेतन, सामग्री एवं चल पूँजी पर ब्याज	100
(ii) इमारत, मशीनों आदि में विनियोग की गयी अचल पूँजी पर ब्याज एवं ह्रास (Depreciation)	40
(iii) लौह अयस्क भण्डार वाली भूमि सहित अन्य भूमि पर लगान	60

उपरोक्त तालिका का विश्लेषण करने पर हमें ज्ञात होता है कि (i) में 100 का व्यय उत्पादन के अविशिष्ट एवं गतिशील साधनों पर व्यय है जिन्हें कभी भी अन्य उद्योगों में स्थानान्तरित किया जा सकता है। (ii) में 40 का व्यय स्थिर पूंजी की लागत है जो कि लौह-इस्पात उद्योग के लिए विशिष्ट है तथा इस दीर्घकाल के बाद ही मुक्त एवं स्थानान्तरणीय किया जा सकता है जब इसमें काफी घिसावट हो जाय। मार्शल ने इसे *आभास लगान (Qusi-rent)* कहा है। (iii) में उल्लिखित 60 का जो व्यय दिखाया गया है वह पूर्ण रूप से विशिष्ट साधनों (Specific factors) की आय है जिसे अन्यत्र प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। विशुद्ध सैद्धान्तिक अर्थ में यही लगान है।

अब हम कल्पना करें कि लोहा और इस्पात की कीमतें इतनी गिरती है कि कुल प्राप्ति 200 से घटकर केवल 140 रह जाती है। इससे उद्यमी को भारी क्षति होगी किन्तु वह अपने उत्पादन को जरा भी कम नहीं करेगा। कीमतों में कमी होने से विशिष्ट साधनों की आय एवं लगान समाप्त होने लगेंगे किन्तु जब तक चल एवं अचल पूँजी पर ब्याज अर्जित किया जा सकता है, उत्पादन चालू रहेगा। लोहा-इस्पात उत्पादकों को जो हानि होती है, उसकी क्षतिपूर्ति उपभोक्ताओं को मूल्य में कमी के फलस्वरूप, समान लाभ द्वारा हो जाती है। चूंकि उतनी ही मात्रा का उत्पादन होता रहता है, राष्ट्रीय आय में कमी नहीं होती। अब यदि हम मान लें कि लोहा और इस्पात की कीमतें इतनी और गिरती हैं कि कुल आय में 10 से 15 प्रतिशत की और कमी हो जाती है। इससे उद्यमियों को होने वाली हानि और बढ़ जाती है किन्तु जब तक प्रथम मद में उल्लिखित व्यय की पूर्ति हेतु चल-पूंजी का पुनरुत्पादन (Reproduction) होता रहता है, उत्पादन जारी रहता है। विशिष्ट साधनों (अचल पूंजी) का मूल्य उनमें निहित मूल्य की सीमा तक अपलिखित (Write off) कर दिया जायगा। यदि इनमें से कुछ साधन पूर्ण रूप से विशिष्ट नहीं हैं अर्थात उनका प्रयोग अन्यत्र किया जा सकता है तो उनका मूल्य उस सीमा तक अपलिखित किया जाता है जितना कि उन्हें अन्यत्र प्राप्त होता। यद्यपि उद्यमी को पूँजी की क्षति हुई है तथा वह इसे अपने हिसाब में रखेगा किन्तु उत्पादन को वह समाप्त नहीं करेगा वरन उसे चालू रखेगा। ऐसी स्थिति में आभास लगान समाप्त हो जाता है किन्तु प्रथम मद के अन्तर्गत जो चालू व्यय किया जा रहा है, उसे कम नहीं किया जा सकता क्योंकि उस स्थिति में वहाँ लगे हुए अविशिष्ट साधन उद्योग छोड़कर अन्यत्र चले जायेंगे क्योंकि अविशिष्ट साधन होने के कारण उन्हें अन्यत्र रोजगार मिल सकता है।

अभी तक हमने लोहा-इस्पात उद्योग में केवल उत्पादकों को होने वाली हानि पर विचार किया है तथा इस पर विचार नहीं किया है कि समाज को इससे क्या हानि होगी? आगे हम कल्पना करें कि या तो लोहा-इस्पात की कीमतों में और कमी होती है अथवा चल (स्थिर) पूंजी में इतनी क्षति हो जाती है कि उत्पादन को चालू रखने के लिए उसका प्रतिस्थापन आवश्यक हो जाता है। अब अन्त में उद्योग के बन्द होने की स्थिति आ जाती है क्योंकि अब उद्यमी अपने अविशिष्ट

साधनों को उनकी बाजार-कीमत के अनुसार भुगतान नहीं कर सकता (हम यहाँ यह मानकर चलते हैं कि उक्त साधनों की अन्य उद्योगों में उत्पादकता वर्तमान उद्योग से अधिक है)। इसका अर्थ यह है कि ये साधन अन्यत्र उद्योगों में अपने बाजार मूल्य के अनुरूप उत्पादन कर सकते हैं। इस प्रकार लोह-इस्पात कारखाने के बन्द होने से समाज को कोई नुकसान नहीं होता। किन्तु यदि उक्त अविशिष्ट साधनों को किसी न किसी प्रकार वर्तमान उद्योग में ही रखा जाता तो निश्चित ही समाज को हानि होती क्योंकि वर्तमान उद्योग में उनकी उपयोगिता अन्य प्रयोगों की तुलना में कम है।

एक उद्योग कई फर्मों को मिलकर बनता है तथा इन फर्मों में एक सीमान्त फर्म भी होती है जिसे कोई लाभ नहीं मिलता। यह भी सम्भव है कि इन फर्मों में कोई न कोई फर्म अपनी स्थिर पूँजी को प्रतिस्थापित करे। ऐसी स्थिति में जब भी फर्म द्वारा उत्पादित वस्तुओं की कीमतों में कमी होगी, तो सीमान्त फर्म उत्पादन के बाहर हो जायगी और कुल उत्पादन कम हो जायगा।

कीमतें जितनी अधिक कम होंगी अर्थात विदेशों से वस्तु की पूर्ति जितनी सस्ती कीमत पर होगी उतनी ही अधिक मात्रा में देश को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन से लाभ होगा। यदि कीमतों को गिरने से रोकने के लिए करों का सहारा लिया जाता है तो भी उस उद्योग के कारण राष्ट्रीय आय कम नहीं होगी जहाँ सीमान्त फर्म भी लाभ कमाती है तथा कीमतों के गिरने के बाद भी अपना उत्पादन जारी रखती है। ऐसी स्थिति में करों से साधनों के वितरण पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता तथा उत्पादन उतनी ही मात्रा में होता है जितना कि करों के अभाव में होता। हाँ, इसके कुछ अप्रत्यक्ष प्रभाव हो सकते हैं जिससे कि राष्ट्रीय आय के वितरण में परिवर्तन हो जायगा।

हमारा उपरोक्त विवेचन इस मान्यता पर आधारित है कि प्रतियोगिता के कारण कीमतों में लोच बनी रहती है तथा विशिष्ट साधनों का प्रयोग बन्द होने के पहले उनकी कीमतें शून्य तक गिर सकती हैं। उत्पत्ति से मौलिक साधनों—भूमि, इमारत आदि पर भी यही बात लागू होती है। प्रायः यह देखा जाता है कि उद्यमी फर्म को बन्द करने की तुलना में हानि सहकर भी उत्पादन करता रहता है। परन्तु यह मान्यता श्रम पर लागू नहीं होती क्योंकि मजदूरी में होने वाले थोड़े परिवर्तन का भी प्रभाव श्रमिकों पर पड़ता है तथा वे श्रम बेचने को तैयार नहीं होते। इसके कारण मालिकों और श्रमिकों में संघर्ष होता है जिसमें हड़तालें होती हैं तथा बेरोजगारी फैलती है तथा उत्पादन को वास्तविक रूप में क्षति होती है। परन्तु यह क्षति अस्थायी होती है तथा उस क्षति से भिन्न होती है जो स्थिर पूँजी के मूल्यों में गिरावट से पैदा होती है क्योंकि कीमत सयन्त्र अनुकूल होने पर भी, पूँजी के मूल्य में गिरावट को रोका नहीं जा सकता। मजदूरी की दरों में अपूर्ण लोच होने से जो क्षति होती है भले ही वह प्रारम्भ में ज्यादा लगे वरन यह उतनी अधिक नहीं होती जितनी कि विशिष्ट साधनों के मूल्य गिरने से होती है। इसका कारण यह है कि उत्पत्ति के साधनों में श्रम सबसे कम विशिष्ट है अर्थात उसे अन्यत्र उत्पादनों में प्रयुक्त किया जा सकता है।

उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि देश में उत्पत्ति के अप्रयुक्त साधनों की उपस्थिति पर प्रशुल्क (Tariff) लगाने का कोई आधार नहीं है। प्रो शुलर (Prof. Schuller) ने इसके विपरीत मत व्यक्त किया है। उनके अनुसार किसी भी देश में भूमि, जल, शक्ति, कोयला भण्डार, लोहा तथा अन्य खनिजों आदि प्राकृतिक ससाधनों का पूर्ण प्रयोग नहीं होता। देश में उत्पादन के किसी भी क्षेत्र का विस्तार करने के लिए उनका प्रयोग किया जा सकता है। यदि देश में आयात कर लगा दिया जाय तो इन व्यर्थ पड़े साधनों का प्रयोग किया जा सकता है और अर्थव्यवस्था में कुल उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है।" हैबरलर के मतानुसार जहाँ तक उपरोक्त तर्क का सम्बन्ध उत्पत्ति के मौलिक साधनों से है, यह गलत मान्यता पर आधारित है। यह

कोई असामान्य बात नहीं है कि उत्पत्ति के समस्त साधन प्रयुक्त नहीं होते। प्रो॰ रोपके (Prof. Ropke) का मत है कि आर्थिक शक्तियाँ अधिकतम नहीं वरन अनुकूलतम प्रयोग (Optimal Utilisation) को सम्भव बनाने की ओर प्रवृत्त होती हैं। ऐसी स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती जहाँ उत्पत्ति के समस्त साधनों का शत-प्रतिशत प्रयोग सम्भव कर लिया गया हो। प्रो. हैबरलर के अनुसार उक्त स्थिति बड़ी निर्धनता की स्थिति होगी न कि शुलर के अनुसार समृद्धि की। देश में अनप्रयुक्त साधन या तो प्राकृतिक कारणों से हो सकते हैं अथवा मानवीय कारणों से किन्तु इससे उपरोक्त विश्लेषण में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

वास्तविकता तो यह है कि अनप्रयुक्त साधनों की उपस्थिति न तो पूँजी की क्षति और न ही अर्थव्यवस्था की हानि की प्रतीक है वरन वह तो आर्थिक प्रगति के पथ में मील के पत्थर के समान है जिस पर तकनीकी प्रगति अथवा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था आगे बढ़ रही है।

अन्त में निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि जो हानियाँ इतनी स्पष्ट दिखायी देती हैं, वे निष्क्रिय पड़े साधनों की स्वामियों की दृष्टि से वास्तविक हानियाँ हो सकती हैं किन्तु अन्य लोगों को होने वाले लाभों के द्वारा उक्त हानियों की क्षतिपूर्ति हो जाती है तथा समग्र रूप से समाज को लाभ ही होता है, हानि नहीं। जब विशिष्ट साधनों की उपस्थिति के कारण कोई कारखाना बन्द किया जाता है तथा उसमें विनियोग की गयी राशि का परिशोधन नहीं होने पाता तो यह कहा जा सकता है कि मूल विनियोग पूंजी का गलत दिशा में प्रयोग था। किन्तु आर्थिक मामलों में "जो हो गया सो हो गया" वाली बात चरितार्थ होती है तथा जिन परिस्थितियों एवं मान्यताओं के अन्तर्गत उपरोक्त विवेचन किया गया है, उसे दृष्टि में रखते हुए समाज के ससाधनों का सर्वोत्तम प्रयोग यही है कि कारखाने को बन्द कर दिया जाय।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. उत्पादन के विशिष्ट साधनों को दृष्टि में रखते हुए तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए ?
2. "यह सदैव कहा जाता है कि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त देश के भीतर सभी साधनों को पूर्णतः गतिशील मानकर चलता है और इस शर्त के पूर्ण होने पर ही देश के लिए यह सम्भव है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा आवश्यक समायोजनों को हानि उठाये बिना ही सम्पन्न कर सकता है।" (हैबरलर) इस कथन को स्पष्ट कीजिये।

Selected Readings

1 Haberler : *The Theory of International Trade.*
2 J. Viner : *Studies in the Theory of International Trade.*

अध्याय 13

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त अथवा हेक्सचर-ओहलिन का सिद्धान्त

[MODERN THEORY OF INTERNATIONAL TRADE OR HECKSCHER-OHLIN THEORY]

परिचय

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री रिकार्डो और मिल के अनुसार दो देशों में व्यापार तुलनात्मक लागतों में अन्तर के कारण होता है। तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के अनुसार, यदि दो देशों में गृह-लागत अनुपातों में अन्तर है तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने तथा यह दोनों को लाभदायक होने का पर्याप्त आधार है। किन्तु यहाँ महत्वपूर्ण प्रश्न है कि दो देशों देशों के लागत अनुपातों में अन्तर क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री नहीं दे सके। पर प्रथम विश्व युद्ध के बाद स्वीडन के दो महान अर्थशास्त्रियों प्रो. एली. हेक्सचर (Prof Eli Heckscher) एवं उनके शिष्य प्रो बर्टिल ओहलिन (Bertil Ohlin) ने इस प्रश्न का उत्तर दिया। सबसे पहले 1919 में प्रो. हेक्सचर ने बताया कि "दो देशों में व्यापार तुलनात्मक लाभ में अन्तर के कारण होता है तथा तुलनात्मक लाभ में अन्तर दोनों देशों में उत्पत्ति के साधनों की सापेक्षिक कीमतों में भिन्नता तथा विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में साधनों के विभिन्न अनुपातों के प्रयोग के कारण होता है। प्रो. ओहलिन ने हेक्सचर के सिद्धान्त को स्वीकार कर उसकी विस्तृत व्याख्या की। ओहलिन का निष्कर्ष हेक्सचर से भिन्न नहीं है। ओहलिन ने अपनी पुस्तक "Interregion and International Trade" में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या की है। इन दोनों अर्थशास्त्रियों ने जिस सिद्धान्त को विकसित किया उसे हेक्सचर-ओहलिन का सिद्धान्त अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त कहते हैं। इसे साधन-अनुपातों (Factor Proportions) का सिद्धान्त भी कहते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधुनिक सिद्धान्त के पूर्व, दो सिद्धान्त विकसित किये जा चुके थे, रिकार्डो का तुलनात्मक लागत सिद्धान्त तथा प्रो. हैबरलर का अवसर लागत का सिद्धान्त। किन्तु किन्ही न किन्ही कारणों से ये दोनों सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के वैज्ञानिक कारण को प्रस्तुत नहीं कर सके। इन दोनों सिद्धान्तों की कमजोरियों का उल्लेख पिछले पृष्ठों में सम्बन्धित अध्यायों में किया जा चुका है। उपरोक्त दोषों को दूर करने के लिए प्रो हेक्सचर-ओहलिन ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया।

प्रो. हेक्सचर-ओहलिन का सिद्धान्त-संक्षेप में
(ESSENCE OF THE HECKSCHER OHLIN THEORY)

एक बात प्रारम्भ में समझ लेना चाहिए कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्त और आधुनिक सिद्धान्त में वास्तविक विरोध नहीं है क्योंकि आधुनिक सिद्धान्त ने प्रतिष्ठित सिद्धान्त को

केवल एक विस्तृत और वैज्ञानिक धरातल पर स्थापित किया है और स्पष्ट किया है कि तुलनात्मक लागतों में अन्तर साधनो के प्रदाय (Factor endowments) में भिन्नता के कारण होता है। प्रो. ओहलिन ने तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त की आलोचना निम्न दो बिन्दुओं को लेकर की .

(i) तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त सब प्रकार के व्यापार पर लागू होता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इसका अपवाद नही है,

(ii) जैसा कि प्रतिष्ठित सिद्धान्त मे स्वीकार किया गया है, उत्पत्ति के साधनों मे गतिशीलता का अभाव केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का ही विशेष लक्षण नही है वरन् एक ही देश के विभिन्न क्षेत्रो मे भी साधनों की गतिशीलता का अभाव पाया जाता है।

उपरोक्त दूसरी बात इससे स्पष्ट है कि एक ही देश के विभिन्न क्षेत्रो मे मजदूरी एवं ब्याज की दरों में भिन्नता पायी जाती है। प्रो ओहलिन ने बताया कि जिस प्रकार एक ही देश मे श्रम और पूँजी में गतिशीलता पायी जाती है उसी प्रकार विभिन्न देशो में भी इन साधनो में गतिशीलता होती है, भले ही वह कुछ सीमित रूप मे हो। इस आधार पर ओहलिन ने यह स्पष्ट किया कि गृह व्यापार और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे उतना व्यापक अन्तर नही है जितना कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो ने बताया था। उनके अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार केवल अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की ही एक विशिष्ट दशा है।" अतः अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार के लिए पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है। ओहलिन के अनुसार, विभिन्न राष्ट्र मात्र विभिन्न क्षेत्र है जिनमे राष्ट्रीय सीमाएँ, प्रशुल्क बाधाएँ एवं भाषा, रीति-रिवाजो की भिन्नता के कारण भेद स्थापित हो जाता है। परन्तु ये भिन्नताएँ विभिन्न देशों में स्वतन्त्र व्यापार के लिए स्थायी बाधाएँ न होकर, अस्थायी बाधाएँ ही है तथा क्षेत्रीय विस्तार के साथ राष्ट्र की सीमाएँ बदल जाती हैं एवं प्रशुल्क की बाधाएँ समाप्त हो जाती हैं। इन्हीं बातों के आधार पर प्रो ओहलिन ने बताया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता नही है वरन जिस मूल्य के सामान्य सिद्धान्त (General Theory of Value) को अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार पर लागू किया जाता है, उसे ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लागू किया जा सकता है।

मूल्य के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार, एक वस्तु के मूल्य का निर्धारण बाजार मे उसकी कुल माँग और कुल पूर्ति के द्वारा होता है। सन्तुलन के बिन्दु पर माँग और पूर्ति आपस मे बराबर होते है तथा वस्तु का मूल्य उसकी औसत लागत के बराबर होता है। उत्पत्ति के साधनो को मिलने वाला पुरस्कार, वस्तु की लागत को निर्धारित करता है तथा उक्त पुरस्कार उपभोक्ताओ की आय को भी निर्धारित करता है जिससे माँग का स्वरूप निर्धारित करता है। इस प्रकार वस्तु के मूल्य, उत्पत्ति के साधनो के पारिश्रमिक, वस्तुओ की माँग तथा उत्पत्ति के साधनो की माँग एवं पूर्ति में पारस्परिक सम्बन्ध होता है। यही मूल्य के सामान्य सिद्धान्त का प्रमुख तत्व है।

जहाँ तक मूल्य के सामान्य सन्तुलन का प्रश्न है, यह एक देश अथवा क्षेत्र के एक बाजार (Single Market) पर लागू होता है। ओहलिन का मत है कि उक्त सन्तुलन केवल समय तत्व पर विचार करता है एवं क्षेत्र (स्थान) तत्व (Space factor) की अवहेलना करता है परन्तु निम्न दो कारणो से आर्थिक जीवन मे क्षेत्र का महत्वपूर्ण स्थान है (i) कुछ सीमा तक उत्पत्ति के साधन किन्हीं न किन्हीं क्षेत्रों तक सीमित रहते हैं और (ii) परिवहन लागत तथा अन्य बाधाएँ वस्तु के स्वतन्त्र प्रवाह मे बाधा उपस्थित करती हैं।

प्रो. ओहलिन ने स्पष्ट किया कि यदि सामान्य मूल्य के सिद्धान्त में क्षेत्र तत्व को भी शामिल कर लिया जाय तो उसे विभिन्न क्षेत्रो एवं विभिन्न देशो के बहुत से बाजारो मे मूल्य निर्धारित करने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। अतः कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त एक बहु-बाजार (Multi-market) का सिद्धान्त है। चूंकि ओहलिन ने अपना

सिद्धान्त सामान्य सन्तुलन सिद्धान्त पर आधारित किया है. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधुनिक सिद्धान्त को सामान्य सन्तुलन का सिद्धान्त भी कहते हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि ओहलिन, यह स्वीकार करते हुए कि व्यापार तुलनात्मक लाभ के अन्तर पर निर्भर रहता है, उस न्यूनतम अन्तर को स्पष्ट करते हैं जो देशों में व्यापार का पर्याप्त आधार होगा। यह न्यूनतम अन्तर दो देशों में उत्पत्ति के सापेक्षिक साधनों में अन्तर होने के कारण होता है। प्रो हेक्सचर-ओहलिन के सिद्धान्त के सार को निम्न पंक्तियों में व्यक्त किया जा सकता है, "दो देशों में व्यापार वस्तुओं की लागतों में सापेक्षिक अन्तर के कारण होता है तथा यह अन्तर दो कारणों से होता है (i) प्रथम तो यह कि उत्पत्ति के साधनों की कीमत में सापेक्षिक अन्तर होता है और (ii) द्वितीय यह कि विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में उत्पत्ति के साधनों की आवश्यकता में भी सापेक्षिक भिन्नता होती है। उत्पत्ति के साधनों की कीमतों में सापेक्षिक अन्तर इसलिए होता है क्योंकि दो देशों में साधनों की सीमितता या स्वल्पता में सापेक्षिक अन्तर होता है अर्थात एक देश में कुछ साधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं जबकि दूसरे देश में वही स्वल्प मात्रा में उपलब्ध होते हैं। प्रो हेक्सचर के शब्दों में, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की पूर्व आवश्यकताएँ निष्कर्ष रूप में हैं—विभिन्न सापेक्षिक स्वल्पता (Relative scarcity) अर्थात विनिमय करने वाले देशों में उत्पत्ति के साधनों की सापेक्षिक कीमतों में भिन्नता और विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में उत्पत्ति के साधनों का विभिन्न अनुपात।"[1] इस आधार पर कहा जा सकता है कि एक देश उन वस्तुओं का विशिष्टीकरण और निर्यात करता है जिनके उत्पादन में सापेक्षिक रूप से उन साधनों की अधिक आवश्यकता होती है जो उस देश में सापेक्षिक रूप से प्रचुर मात्रा में और इसलिए सापेक्षिक रूप से सस्ते होते हैं।

हेक्सचर-ओहलिन सिद्धान्त की मान्यताएँ
(ASSUMPTIONS OF THE HECKSHER-OHLIN THEORY)

हेक्सचर-ओहलिन का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त जिसकी संक्षिप्त रूपरेखा हमने ऊपर प्रस्तुत की है निम्न मान्यताओं पर आधारित है :

(i) व्यापार के लिए दोहरे मॉडल (Double model) को लिया गया है जिसमें दो देश, दो वस्तुएँ और उत्पत्ति के दो साधन हैं—श्रम एवं पूंजी।

(ii) दोनों देशों में, वस्तुओं और उत्पत्ति के साधनों—दोनों बाजारों में पूर्ण प्रतियोगिता है।

(iii) दोनों देशों में न तो कोई व्यापार की बाधाएँ हैं और न परिवहन लागत ही लगती है अर्थात व्यापार मुक्त एवं परिवहन-लागतहीन है।

(iv) प्रत्येक देश में उत्पत्ति के साधन पूर्ण रूप से गतिशील हैं किन्तु दोनों देशों में उत्पत्ति के साधनों में गतिशीलता का अभाव है।

(v) दोनों देशों में उत्पत्ति के दोनों साधनों (श्रम और पूंजी) के अनुपात में भिन्नता है अर्थात परिमाणात्मक (Quantitatively) रूप से दोनों देशों में साधन भिन्न हैं किन्तु गुणात्मक (Qualitatively) रूप से प्रत्येक साधन में दोनों देशों में समरूपता है अर्थात वे समान (Homogeneous) हैं।

(vi) दोनों देशों में विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन-फलन (Production function) भिन्न-भिन्न है किन्तु दोनों देशों में प्रत्येक वस्तु के लिए उत्पादन-फलन समान है।

(vii) प्रत्येक देश में उत्पादन, उत्पत्ति समता नियम (Constant Return to scale) के अन्तर्गत होता है।

---

1 The prerequisites for initiating International Trade may thus be summarised as different relative scarcity i. e different relative prices of the factors of production in the exchanging countries as well as different proportions between the factors of production in different commodities " —*Hecksher*

(viii) विभिन्न वस्तुओं के लिए उत्पादन-फलन इस प्रकार है कि साधनों की तीव्रता (Factor intensity) के द्वारा उसे पृथक किया जा सकता है अर्थात प्रत्येक वस्तु के उत्पादन के लिए कितने साधनों की आवश्यकता होती है, यह जाना जा सकता है अथवा अमुक वस्तु के उत्पादन में अधिक पूंजी लगती है अथवा अधिक श्रम।

(ix) दोनों देशों में उपभोक्ताओं का अधिमान एक समान है—(Consumers preferences are identical)

(x) उत्पत्ति के दोनों साधनों को दोनों देशों में पूर्ण रोजगार प्राप्त है।

(xi) प्रत्येक देश में साधनों की मात्रा, माँग की दशाएँ तथा उत्पादन की भौतिक दशाएँ स्थिर (Fixed) हैं।

उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर, हेक्सचर-ओहलिन सिद्धान्त का यह निष्कर्ष है कि एक देश उन वस्तुओं का निर्यात करेगा जिनके उत्पादन में उन साधनों की अधिक आवश्यकता होती है जो उस देश में सापेक्षिक रूप से प्रचुर मात्रा में होते हैं।

सापेक्षित साधन प्रचुरता का अर्थ
(MEANING OF RELATIVE OF FACTOR ABUNDANCE)

प्रो ओहलिन ने अपने सिद्धान्त में "सापेक्षिक साधन प्रचुरता का प्रयोग किया है इसके दो अर्थ हैं (i) सापेक्षिक साधन प्रचुरता की कीमत की कसौटी और (ii) इसकी भौतिक कसौटी अर्थात साधनों के अनुपात के सम्बन्ध में सापेक्षिक प्रचुरता। प्रो. ओहलिन ने प्रथम अर्थ लिया है अर्थात अपने सिद्धान्त को कीमत की कसौटी पर विकसित किया है।

(i) कीमत-कसौटी के आधार पर एक देश को, जिसमें पूंजी सापेक्षिक रूप में सस्ती होती है और श्रम सापेक्षिक रूप से महंगा होता है पूंजी प्रचुर समझा जाता है भले ही इस देश में श्रम की तुलना में पूंजी की कुल इकाईयों का अनुपात दूसरे देश की तुलना में अधिक हो अथवा न हो।

यदि हम एक देश को A तथा दूसरे को B मानें, P का अर्थ साधन की कीमत से लें, C को पूंजी तथा L को श्रम मानें तो कीमत की कसौटी को निम्न सूत्र में व्यक्त किया जा सकता है—

$$\left(\frac{PC}{PL}\right)_A < \left(\frac{PC}{PL}\right)_B$$

(ii) जहाँ तक साधनों के अनुपात के सम्बन्ध में सापेक्षिक प्रचुरता का प्रश्न है एक देश देश सापेक्षिक रूप से उस समय पूंजी-प्रचुर समझा जाता है यदि उस देश में दूसरे देश की तुलना में, श्रम की अपेक्षा पूंजी का अनुपात अधिक होता है भले ही इस देश में श्रम की तुलना में पूंजी की कीमतों का अनुपात दूसरे देश की अपेक्षा कम हो या न हो। इसे निम्न सूत्र में व्यक्त किया सकता है :

$$\left(\frac{C}{L}\right)_A > \left(\frac{C}{L}\right)_B$$

ऊपर सापेक्षिक साधन प्रचुरता के जो दो अर्थ दिये गये हैं, वे दोनों समान नहीं हैं। यदि हम कीमत की कसौटी को लें तो उपरोक्त मान्यताओं के आधार पर ही हेक्सचर-ओहलिन के सिद्धान्त को स्पष्ट किया जा सकता है एवं माँग की दशाओं के सम्बन्ध में किन्हीं भी मान्यताओं की आवश्यकता नहीं है। किन्तु यदि हम भौतिक कसौटी को लेते हैं तो हेक्सचर-ओहलिन का सिद्धान्त उसी समय सिद्ध किया जा सकता है जब हम माँग की दशाओं पर विचार करें।

हेक्सचर-ओहलिन सिद्धान्त की व्याख्या

प्रारम्भ में हमें यह समझ लेना चाहिए कि हेक्सचर-ओहलिन का सिद्धान्त प्रतिष्ठित सिद्धान्त को गलत सिद्ध नहीं करता वरन उसके पूरक के रूप में आधुनिक सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है क्योंकि आधुनिक सिद्धान्त भी तुलनात्मक लाभ को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार मानता है। इन दोनों में प्रमुख अन्तर यह है कि जहाँ प्रतिष्ठित सिद्धान्त इस बात का उत्तर देने में असफल

रहा कि दो देशों में तुलनात्मक लागत में अन्तर क्यों होता है, आधुनिक सिद्धान्त ने इसका सन्तोषजनक उत्तर दिया। हेक्सचर-ओहलिन ने अधिक मौलिकता के साथ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मूल आधार को प्रस्तुत किया और उन कारणों को स्पष्ट किया जिनके कारण दो देशों की तुलनात्मक लागत के अनुपातों में भिन्नता होती है।

विभिन्न क्षेत्रों और विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में साधनों की भिन्नता

ओहलिन ने स्पष्ट किया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार केवल अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की ही एक विशेष दशा है। अन्तर्क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई मौलिक अन्तर न होकर केवल मात्रा सम्बन्धी ही अन्तर है। उन्होंने बताया कि विभिन्न क्षेत्रों में उत्पत्ति के साधनों में भिन्नता होती है तथा विभिन्न वस्तुओं के लिए विभिन्न साधन अनुपातों की आवश्यकता होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु का उत्पाद-फलन भिन्न-भिन्न होता है। किसी उत्पाद-फलन में पूँजी का अनुपात, श्रम की तुलना में अधिक होता है जबकि दूसरे उत्पाद-फलन में श्रम का अनुपात, पूँजी की तुलना में अधिक होता है। इसे दृष्टि में रखते हुए एक क्षेत्र उन वस्तुओं के उत्पादन के लिए सर्वाधिक उपयुक्त होता है जिनमें उन साधनों का अधिक अनुपात में प्रयोग किया जाता है जो वहाँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। अत: साधनों में भिन्नता के कारण विभिन्न क्षेत्रों के उत्पादन की क्षमता भी भिन्न-भिन्न होती है।

प्रो. ओहलिन के अनुसार दो देशों या क्षेत्रों में उत्पत्ति के साधनों में रहने वाली भिन्नता, अन्तर्क्षेत्रीय विशिष्टीकरण और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का स्पष्ट कारण है। प्रो हेक्सचर ने सबसे पहले यह स्पष्ट किया कि तुलनात्मक लाभ में भिन्नता के कारण दो देशों में व्यापार होता है तथा तुलनात्मक लाभ में भिन्नता दो कारणों से होती है प्रथम दो देशों में उत्पत्ति के साधनों में सापेक्षिक स्वल्पता (और इसलिए सापेक्षिक कीमत) में भिन्नता के कारण और द्वितीय, विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में साधनों के विभिन्न अनुपातों के कारण। प्रो. ओहलिन ने भी बताया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का तात्कालिक कारण, वस्तुओं की कीमतों में भिन्नता है जो उत्पत्ति के साधनों की कीमतों में भिन्नता के कारण होती है तथा साधनों की कीमतों में भिन्नता का कारण, दोनों देशों में साधनों में सापेक्षिक भिन्नता है।

साधनों की उपस्थिति—उत्पादन का आधार
(FACTOR ENDOWMENT—THE BASIS OF PRODUCTION)

अब तक यह स्पष्ट किया जा चुका है कि विभिन्न क्षेत्रों में उत्पत्ति के साधनों की विभिन्नता के कारण, वहाँ उत्पादन में भिन्नता होती है। इसे हम एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करेंगे—मानलो दो क्षेत्र X और Y हैं। X क्षेत्र में पूँजी प्रचुर मात्रा में तथा श्रम स्वल्प मात्रा में उपलब्ध है Y,क्षेत्र में इसके विपरीत स्थिति है अर्थात वहाँ श्रम प्रचुर मात्रा में तथा पूँजी स्वल्प मात्रा में उपलब्ध है। स्वाभाविक है कि X में पूँजी प्रचुर मात्रा में होने के कारण सस्ती होगा तथा श्रम महगा होगा अत: X में मशीनों का निर्माण सस्ता होगा जिसमें अधिक मात्रा में पूँजी लगती है एवं गेहूँ महगा होगा जिसमें श्रम अधिक लगता है। Y क्षेत्र में मशीनें महगी होगी क्योंकि वहाँ पूँजी स्वल्प मात्रा में है तथा गेहूँ सस्ता होगा क्योंकि इसके उत्पादन में श्रम अधिक लगता है तथा Y क्षेत्र में श्रम प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। इस प्रकार दोनों क्षेत्रों में विभिन्न वस्तुओं की कीमतों में भिन्नता होगी। इस आधार पर कहा जा सकता है कि X को उस वस्तु (मशीनें) के उत्पादन में तुलनात्मक लागत का लाभ होगा जिसके उत्पादन में उन साधनों की अधिक आवश्यकता होती है जो वहाँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं अत: सस्ते हैं। इसी प्रकार Y को उस वस्तु (गेहूँ) के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ होगा जिसके उत्पादन में उन साधनों की अधिक आवश्यकता होती है जो वहाँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने के कारण सस्ते हैं। अत: X मशीनों के उत्पादन में विशिष्टीकरण करेगा तथा मशीनों का निर्यात

करेगा जिनके उत्पादन में, सापेक्षिक रूप से प्रचुर मात्रा में उपलब्ध साधनों का अधिक उपयोग होता है तथा सापेक्षिक रूप से स्वल्प मात्रा में उपलब्ध साधनों का न्यून प्रयोग होता है तथा उन वस्तुओं का आयात करेगा (गेहूं) जिनके उत्पादन के लिए, उस देश में उपलब्ध उत्पत्ति के साधनों के विपरीत अनुपात की आवश्यकता होती है। यही बात Y क्षेत्र पर भी लागू होती है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि अप्रत्यक्ष रूप से प्रचुर मात्रा में उपलब्ध साधनों का निर्यात किया जाता है तथा स्वल्प मात्रा में उपलब्ध साधनों का आयात किया जाता है।

वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण माँग और पूर्ति दोनों से

उपरोक्त विवेचन के आधार पर ओहलिन ने बताया कि व्यापार की पहली शर्त यह है कि वही वस्तु एक क्षेत्र में, दूसरे की तुलना में अधिक सस्ती दर पर पैदा की जा सके। अतः कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार का तात्कालिक कारण यह है कि मौद्रिक कीमतों में, अपने देश में उत्पादन करने की तुलना में, अन्य क्षेत्र या देश से वस्तुएँ अधिक सस्ते में क्रय की जा सकती हैं। आगे चलकर प्रो. ओहलिन ने बताया कि वस्तु के उत्पादन की मौलिक लागत (Original Cost) में भिन्नता के कारण विशिष्टीकरण नहीं किया जाता वरन वस्तुओं की अन्तिम कीमतों में भिन्नता के कारण ही विशिष्टीकरण और व्यापार होता है। वस्तुओं की कीमतों का निर्धारण केवल उत्पादन की लागत द्वारा नहीं होता वरन माँग द्वारा भी होता है। अत. ओहलिन का सिद्धान्त माँग और पूर्ति दोनों पक्षों पर विचार करता है।

यह स्पष्ट है कि दो क्षेत्रों में कीमतों में सापेक्षिक अन्तर इसलिये होता है क्योंकि दोनों क्षेत्रों में माँग और पूर्ति की दशाओं में अन्तर होता है। केवल निम्न दशाओं में दो क्षेत्रों में सब वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतें समान होंगी

(i) जब दोनों क्षेत्रों में उपभोक्ताओं की आवश्यकताएं और अधिमान एक समान हैं।

(ii) जब दोनों क्षेत्रों में उपलब्ध साधन समान अनुपात में हैं जिससे दोनों क्षेत्रों में पूर्ति की दशाएँ समान है।

(iii) यदि उत्पत्ति के साधनों में कोई अन्तर होता है तो माँग की दशाओं में भी उतना ही अन्तर होकर क्षतिपूर्ति हो जाती है तथा सन्तुलन स्थापित हो जाता है।

किन्तु उपरोक्त मान्यताएं वास्तविक जगत में पूरी नहीं होतीं अतः उत्पत्ति के साधनों की कीमतों में एवं उसके कारण वस्तुओं की कीमतों में दो क्षेत्रों में भिन्नता पायी जाती है। अतः ओहलिन ने बताया कि दो क्षेत्रों में लागतों में असमानता तथा कीमतों में भिन्नता उत्पत्ति के साधनों के अनुपातों में परिवर्तन के कारण होती है और जब दो क्षेत्रों में व्यापार होता है, तो एक क्षेत्र उन वस्तुओं का आयात करता है जिनके उत्पादन में ऐसे साधनों की आवश्यकता होती है जो उस देश में स्वल्प और महंगे होते हैं तथा उन वस्तुओं का निर्यात करता है जिसके उत्पादन में ऐसे साधनों की आवश्यकता होती है जो उस देश में प्रचुर मात्रा में और सस्ते होते हैं।

ओहलिन द्वारा स्पष्टीकरण

प्रो ओहलिन ने अपने साधन अनुपात सिद्धान्त के समर्थन में इंग्लैण्ड और आस्ट्रेलिया में होने वाले व्यापार का उदाहरण दिया है। आस्ट्रेलिया में गेहूँ तथा ऊन का उत्पादन किया जाता है क्योंकि इसके उत्पादन के लिए जिस श्रेणी की भूमि की आवश्यकता होती है, वह आस्ट्रेलिया में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। इंग्लैण्ड में विनिर्माण वस्तुओं (Manufacturing Goods) का उत्पादन किया जाता है क्योंकि इनके उत्पादन में अधिक पूंजी और श्रम की आवश्यकता होती है जो इंग्लैण्ड में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है तथा आस्ट्रेलिया में अल्प मात्रा में है। अतः इन दोनों देशों में दोनों वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतों में भिन्नता है अतः इन दोनों देशों में व्यापार होता है। आस्ट्रेलिया ऊन और गेहूँ का निर्यात इंग्लैण्ड को करता है अर्थात वह उन साधनों का निर्यात करता

है जो उस देश मे प्रचुरता में उपलब्ध हैं और जब वह विनिर्माण वस्तुओ का आयात करता है तो वह अप्रत्यक्ष रूप से उन साधनो का आयात करता है जो उसके देश में स्वल्प मात्रा मे उपलब्ध है।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि साधनो के विभिन्न अनुपातों के कारण एक क्षेत्र मे कुछ वस्तुएँ दूसरे क्षेत्र की तुलना मे सस्ती होगी किन्तु केवल इसके कारण ही इस बात का निर्धारण नही किया जा सकता कि दोनो क्षेत्रो के बीच किन वस्तुओ का व्यापार होगा। यह उसी समय सम्भव है जब एक क्षेत्र मे उत्पादित वस्तुओ की कीमतो की तुलना, दूसरे क्षेत्र से की जा सके। यह तुलना उसी समय सम्भव है जब या तो दोनो क्षेत्रों मे एक समान मुद्रा चलती हो अथवा विभिन्न मुद्रा होने पर दोनो मुद्राओ में विनिमय दर स्थापित कर ली गयी हो। इन दोनों को उदाहरण देकर स्पष्ट करेंगे :

(1) जब दोनों क्षेत्रों मे समान मुद्रा हो (Same Currency in both Regions)—कल्पना करो कि दो क्षेत्र A और B हैं जिनमें एक समान मुद्रा प्रणाली है। यदि इन दोनों में व्यापार नही होता हो प्रत्येक क्षेत्र में विभिन्न वस्तुओ की कीमतो का निर्धारण आन्तरिक माँग के द्वारा होगा। अब यदि दोनो क्षेत्रो मे व्यापार होता है तो एक क्षेत्र की कीमत पर दूसरे क्षेत्र की माँग का भी प्रभाव पड़ेगा। क्षेत्र A मे ऐसी वस्तु का उत्पादन होगा जिसमे ऐसे साधनो की आवश्यकता होती है जो वहाँ प्रचुर मात्रा मे मौजूद है। अब इस वस्तु की माँग न केवल A क्षेत्र में होगी वरन् B क्षेत्र मे भी होगी। इसके विपरीत, A मे जो वस्तु स्वल्प साधनों के कारण मँहगी मे तैयार होती है, उसकी माँग B क्षेत्र मे बढ़ जायगी। इस पारस्परिक माँग की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप एक सन्तुलन की स्थिति स्थापित हो जाती है जिसके अन्तर्गत दोनो क्षेत्रों मे समान कीमतो की वस्तुओ का आयात तथा निर्यात होने लगता है।

(2) जब दोनो क्षेत्रो मे भिन्न मुद्रा प्रणाली हो—जब दो देशो मे या क्षेत्रो में विभिन्न मुद्रा प्रणाली प्रचलित रहती है तो यह जानने के लिए कि दूसरे क्षेत्र की तुलना मे एक क्षेत्र मे उत्पत्ति का कोई साधन सस्ता है या नही, दोनो क्षेत्रो की विभिन्न मुद्राओ मे विनिमय दर स्थापित करना जरूरी है। प्रो ओहलिन के अनुसार, विनिमय दर निर्धारित होने के बाद कीमतों के सापेक्षिक अन्तर मे परिवर्तित हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में दोनो मे किस प्रकार व्यापार होगा, इसे निम्न तालिका का उदाहरण देते हुए समझाया जा सकता है :

तालिका 13 1

विभिन्न मुद्रा प्रणाली के अन्तर्गत साधनों की कीमतों मे तुलना

उत्पत्ति के साधन	साधनों की कीमतें भारत (रुपयों में)	अमरीका (डालर में)	अमरीका में साधनो की कीमतें जब विनिमय दर 1 डालर=4 रुपये है (रुपये में)	अमरीका में साधनों की कीमतें जब विनिमय दर 1 डालर=5 रुपये है (रुपये में)
A	1 00	0 10	0 40	0 50
B	1·25	0 30	1·20	1·50
C	1 50	0 50	2 00	2 50
D	3 00	0·80	3·20	4 00

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत और अमरीका दोनो देशो में उत्पत्ति के चार साधन A, B, C, D है। कालम 2 और 3 मे दोनो देशो की अपनी मुद्रा में साधनों की कीमतें दिखायी गयी हैं अर्थात् भारत की कीमतें रुपयों में व्यक्त की गयी है तथा अमरीका में डालर (सेंट)

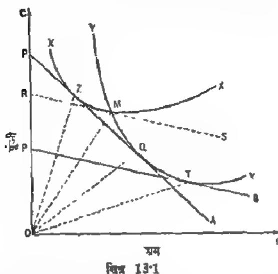
में। दोनों देशों में साधन A सस्ता है तथा D महँगा है। फिर भी उपरोक्त कालम 2 और 3 से यह नहीं जाना जा सकता है कि दोनों देशों में सापेक्षिक रूप में कौन-से साधन सस्ते और कौन-से महँगे हैं। यह जानने के लिए यह जरूरी है कि दोनों देशों में कीमतों के निरपेक्ष अन्तर को ज्ञात किया जावे तथा यह विनिमय दर स्थापित करने पर जाना जा सकता है। यदि विनिमय दर 1 डालर=4 रु० है तो हम तालिका 31·1 में कालम 4 के अनुसार, भारत की तुलना में, अमरीका में साधनों की कीमतें बता सकते हैं। यदि हम कालम 2 एवं 4 की तुलना करें तो स्पष्ट है कि अमरीका में साधन A और B तुलनात्मक रूप से सस्ते हैं जबकि भारत में C और D तुलनात्मक रूप से सस्ते हैं। यदि विनिमय दर 1 डालर=5 रु० मान ली जाय तो कालम 2 और 5 की तुलना करने पर हम देखते हैं कि अमरीका में केवल A ही सस्ता है जबकि शेष साधन B, C और D भारत में सस्ते हैं। अतः जब विनिमय दर 1 डालर=4 रुपये है तो अमरीका उन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करेगा जिनमें A और B साधनों का अधिक मात्रा में प्रयोग किया जाता है जबकि भारत उन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करेगा जिनमें C और D साधनों का अधिक मात्रा में प्रयोग किया जाता है। जब विनिमय दर 1 डालर=5 रुपये हो जाती है तो अमरीका केवल उन वस्तुओं को ही तुलनात्मक रूप से सस्ते में बना सकता है जिसके उत्पादन में A साधन की अधिक आवश्यकता होती है, जबकि भारत उन वस्तुओं को सस्ते में तैयार कर सकता है जिसके उत्पादन में B, C और D साधनों की अधिक आवश्यकता होती है।

उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक क्षेत्र में सस्ते साधनों से प्रतिपादित किये हुए माल का निर्यात होगा और जो साधन उस देश में महँगे होंगे, उनसे तैयार होने वाली वस्तुओं का आयात किया जायगा। विनिमय दर से हम यह जान सकते हैं कि दोनों क्षेत्रों में निरपेक्ष कीमतों में क्या अन्तर है तथा इससे यह जाना जा सकता है कि प्रत्येक क्षेत्र में कौन-से साधन सापेक्षिक रूप में सस्ते एवं कौन-से महँगे हैं तथा प्रत्येक देश किन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करेगा। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि दोनों क्षेत्रों के बीच, साधनों का सापेक्षिक सस्ता अथवा महँगा होना, विनिमय दर द्वारा निर्धारित नहीं किया जाता, विनिमय दर से तो केवल वास्तविक स्थिति का बोध होता है। स्वयं विनिमय दर पारस्परिक माँग द्वारा निर्धारित होती है। यदि साधनों की पूर्ति एवं पारस्परिक माँग की दशाएँ दी हुई हैं तो विनिमय दर ऐसी होनी चाहिए कि एक क्षेत्र के निर्यातों और आयातों में सन्तुलन स्थापित हो जाय।

प्रो. ओहलिन के सिद्धान्त का रेखाचित्रीय निरूपण (कीमत कसौटी के आधार पर)
(DIAGRAMMATIC VERIFICATION OF OHLIN'S THEORY (USING PRICE CRITERION)

आरम्भ में हम स्पष्ट कर आये हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त "सापेक्षिक-साधन प्रचुरता पर" आधारित है जिसके दो अर्थ बताये गये हैं कीमत की कसौटी और भौतिक कसौटी। प्रो ओहलिन ने कीमत-कसौटी का अर्थ लिया है जिसे इस सूत्र द्वारा स्पष्ट किया गया है: $\left(\frac{PC}{PL}\right)_A < \left(\frac{PC}{PL}\right)_B$ जो बताता है कि देश A में तुलनात्मक रूप से प्रचुर मात्रा में पूँजी उपलब्ध है तथा देश B में तुलनात्मक रूप में श्रम प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। दो वस्तुएँ X और Y हैं। नीचे दिये हुए रेखाचित्र में दो समोत्पादक वक्र (Equal Product Curves) खींचे गये हैं—XX वस्तु X के लिए YY वस्तु Y के लिए। ये दोनों वक्र एक-दूसरे को केवल एक ही स्थान पर M बिन्दु पर काटते हैं अतः X और Y दोनों वस्तुओं को इस आधार

पर पृथक किया जा सकता है कि किस वस्तु के उत्पादन में अधिक पूँजी लगती है तथा किस वस्तु के उत्पादन में अधिक श्रम लगता है। नीचे दिये हुए रेखाचित्र से यह स्पष्ट है :



चित्र 13·1

उपरोक्त रेखाचित्र 13.1 में दोनों समोत्पाद वक्र XX और YY से यह जाना जा सकता है कि इन दोनों वस्तुओं की किसी दी हुई मात्रा के उत्पादन के लिए कितनी मात्रा में पूँजी और श्रम की आवश्यकता होती है। मितव्ययता के दृष्टिकोण से साधनों का कौन-सा संयोग सर्वोत्तम होगा, यह उन साधनों की सापेक्षिक कीमतों पर निर्भर रहता है। देश A में साधनों की सापेक्षिक कीमत को कीमत रेखा PA द्वारा दर्शाया गया है जो उस देश के समोत्पादक वक्र XX को Z बिन्दु पर स्पर्श करती है। चित्र से यह भी स्पष्ट है कि कीमत रेखा PA समोत्पाद वक्र YY को भी Q बिन्दु पर स्पर्श करती है।

चूँकि हम यह मान चुके हैं कि देश A में पूँजी तुलनात्मक रूप से सस्ती है, अत. B देश की कीमत रेखा का ढाल जो वहाँ साधनों के सापेक्षिक मूल्य को बताती है, A देश की कीमत रेखा PA से कम होना चाहिए। B देश की कीमत रेखा P'B उस देश के समोत्पाद वक्र YY को T बिन्दु पर स्पर्श करती है। अब एक रेखा RS कीमत रेखा P'B के समान्तर खींची जाती है जो समोत्पादक XX को M बिन्दु पर स्पर्श करती है। चित्र से यह स्पष्ट है कि RS रेखा P'B रेखा के ऊपर है जिसका अर्थ यह है कि OC (पूँजी) अक्ष पर पूँजी की मात्रा OR, उसी अक्ष पर OP' से अधिक है।

उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर, देश A में, कीमत रेखा PA के आधार पर साधन अनुपात सन्तुलन (Equilibrium Factor Proportions) X वस्तु के लिए OZ है तथा X वस्तु के लिए OQ है। अत. A देश में X वस्तु की निश्चित मात्रा का उत्पादन करने की लागत, श्रम और पूँजी दो साधनों की मात्राओं की लागत के बराबर है जो कीमत रेखा PA के Z बिन्दु से स्पष्ट है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि उक्त X वस्तु की लागत OP पूंजी की लागत के बराबर है। उसी प्रकार A देश में, वस्तु Y की निश्चित मात्रा का उत्पादन करने की लागत भी OP पूँजी की लागत के बराबर है क्योंकि कीमत रेखा PA, पूँजी अक्ष OC को P बिन्दु पर स्पर्श करती है। B देश में कीमत रेखा P'B (अथवा RS) के आधार पर साधन अनुपात सन्तुलन X वस्तु के लिए OM है तथा Y वस्तु के लिए OT है। अत. B देश में X वस्तु का उत्पादन करने की लागत OR पूँजी की लागत के बराबर है तथा Y वस्तु का उत्पादन करने

की लागत OP′ पूँजी के बराबर है। इससे स्पष्ट है कि B देश में X वस्तु की निश्चित मात्रा का उत्पादन करने की लागत Y की तुलना में अधिक है।

अब यदि हम दोनों देशों में दोनों वस्तुओं की समान मात्रा की तुलनात्मक मात्रा की तुलना करें तो हम देखते हैं कि देश A में X वस्तु तुलनात्मक रूप में सस्ती है तथा B में वस्तु Y तुलनात्मक रूप से सस्ती है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि पूँजी-प्रचुर देश में उस वस्तु के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ होता है जिसमें पूँजी की अधिक मात्रा लगती है तथा व्यापार होने पर उसे ऐसी वस्तुओं का निर्यात करना चाहिए। उसी प्रकार जहाँ श्रम प्रचुरता से उपलब्ध है उस देश को ऐसी वस्तुओं का उत्पादन एवं निर्यात करना चाहिए जिसके उत्पादन में अधिक श्रम की आवश्यकता होती है।

इस प्रकार प्रो. हेक्सचर-ओहलिन का सिद्धान्त इस बात की पुष्टि कर देता है कि, "एक देश उन वस्तुओं का निर्यात करता है जो सापेक्षिक रूप में उस देश में उपलब्ध प्रचुर साधन की अधिक मात्रा के सहयोग से पैदा की जाती हैं और इसके विपरीत भी सत्य है। यदि एक देश पूँजी प्रधान वस्तुओं का निर्यात करता है तो स्पष्ट है कि व्यापार के उस देश में पूँजी सापेक्षिक रूप से सस्ता साधन रहा होगा। ऐसा प्रतीत होता है उक्त निष्कर्ष बिना माँग की दशाओं और साधन अनुपातों को ध्यान में रखकर निकाले गये हैं। किन्तु ऐसी बात नहीं है। प्रो. मुकर्जी के अनुसार, "ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि साधनों की सापेक्षिक कीमतें कुछ विशेष माँग की दशाओं और साधन अनुपातों पर आधारित हैं क्योंकि साधनों की कीमतों का निर्धारण साधनों की माँग और पूर्ति के द्वारा होता है तथा साधनों की माँग उत्पादन की तकनीकी दशाओं के साथ ही साथ वस्तुओं की माँग पर निर्भर रहती है।"[1]

साधन-कीमत समानता सिद्धान्त[2]
(FACTOR PRICE EQUALISATION THEOREM)

प्रो. ओहलिन ने अपने सिद्धान्त में जिस साधन-अनुपात की व्याख्या की है, उसमें साधनों की कीमतों की समानता के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है। ओहलिन ने स्पष्ट किया है कि दो देशों में व्यापार इसलिए होता है क्योंकि दोनों देशों में वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतों में अन्तर होता है और जब तक यह अन्तर समाप्त नहीं होता, व्यापार चलता रहेगा। यदि परिवहन-लागत एवं अन्य प्रशुल्क बाधाएँ न हों तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का तात्कालिक प्रभाव यह होगा कि सब देशों में वस्तु की सापेक्षिक कीमतों में समानता स्थापित होने की प्रवृत्ति होगी। यह इसलिए होता है क्योंकि दो देशों में व्यापार शुरू होने से तुलनात्मक लागतों में व्यापार के पूर्व के अन्तर समाप्त होने लगते हैं। जैसे ही व्यापार बढ़ता है, उक्त अन्तर कम होने लगते हैं। जिससे सापेक्षिक कीमतों के अन्तर भी कम हो जाते हैं। किन्तु जब ये अन्तर पूर्ण रूप से समाप्त हो जाते हैं तो व्यापार में वृद्धि नहीं होती। अतः ओहलिन के अनुसार, "स्वतन्त्र व्यापार का सन्तुलन उस बिन्दु पर होता है जहाँ तुलनात्मक लागतों में अन्तर समाप्त हो जाता है तथा दोनों देशों में वस्तु की सापेक्षिक कीमतें समान हो जाती हैं।" स्पष्ट है कि सापेक्षिक कीमतों में समानता उसी समय होगी जब साधनों की सापेक्षिक कीमतें समान हो जाती हैं अतः स्वतन्त्र व्यापार का यह

1 "On closer inspection·· ···, it will be clear that data about *relative factor prices* do presuppose particular demand conditions and factor proportions. For prices of factors are the result of the interaction of the supply of, and demand for factor and the latter depends along with the technical conditions of production on the demand for Commodities." S. Mookerjee, *Factors endowments and International Trade*" p. 29.

2 विस्तृत अध्ययन के लिए, अध्याय 14 का परिशिष्ट देखें।

परिणाम होता है कि साधनों की कीमतों में समानता स्थापित होने की प्रवृत्ति होती है। अन्य शब्दो मे कहा जा सकता है कि जब अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उत्पत्ति के साधनों मे गतिशीलता नहीं होती किन्तु दो देशों में वस्तुओं का स्वतन्त्र विनिमय होता है तो उक्त साधनो की कीमतो की प्रवृत्ति दोनो सम्बन्धित देशो मे समान होने की होती है।

यदि हम यह मानकर चले कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर साधनो मे पूर्ण गतिशीलता है तो इसका प्रभाव यह होगा कि दोनो सम्बन्धित देशो मे साधनो के प्रवाह के कारण उनकी कीमतों में समानता स्थापित हो जायगी। इस प्रकार साधनो की पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता, साधन कीमतों मे समानता स्थापित कर देती है।

वस्तुओं का निर्यात अर्थात साधनों की गतिशीलता—उक्त विवेचन मे ओहलिन ने यह निष्कर्ष निकाला है कि जब साधनो मे भौतिक रूप से गतिशीलता का अभाव होता है तो इन साधनों द्वारा निर्मित वस्तुओ का विनिमय होने लगता है। जब एक देश पूंजी प्रधान वस्तुओ का निर्यात करता है तो इसका अर्थ यह है कि वह अप्रत्यक्ष रूप मे प्रचुर और सस्ती पूंजी का निर्यात कर रहा है एवं स्वल्प तथा महँगे साधन का आयात करता है। इस प्रकार वस्तुओ में होने वाला व्यापार एक दृष्टि से साधनो की गतिशीलता को प्रतिस्थापित करता है।

यदि माँग के विशिष्ट सन्दर्भ मे उक्त व्याख्या की जाय तो कहा जा सकता है कि निर्यात के कारण देश मे प्रचुर साधनो की माँग बढ़ेगी जिससे इन साधनों की कीमतो मे वृद्धि होगी। इसके विपरीत आयात के कारण स्वल्प साधनों की माँग और कीमतो मे कमी होगी। इसे एक उदाहरण देकर अच्छी तरह से समझाया जा सकता है। मान लो दो क्षेत्र A और B हैं तथा श्रम और पूंजी दो उत्पत्ति के साधन हैं। क्षेत्र A पूंजी प्रचुर और सस्ती है जबकि क्षेत्र B मे श्रम सापेक्षिक रूप से प्रचुर और सस्ता है। ऐसी स्थिति मे B के लिए यह लाभदायक है कि उन वस्तुओ का आयात करे जिनके उत्पादन मे अधिक पूंजी लगती है क्योंकि ऐसी वस्तुओं को विदेश मे (क्षेत्र A मे) सस्ते में उत्पन्न किया जा सकता है तथा उन वस्तुओं का निर्यात करे जिनके बनाने मे अधिक श्रम लगता है। इसका प्रभाव यह होगा कि B क्षेत्र मे पूंजी का प्रयोग करने वाले उद्योगों की कमी हो जायगी अथवा वे समाप्त हो जायेंगे और वहाँ पूंजी की माँग कम हो जायगी जिससे पूंजी की वहाँ पूर्ति रहने पर उसकी कीमत कम हो जायगी। इसके साथ ही B क्षेत्र में श्रम-प्रधान उद्योगों का विस्तार होगा जिससे श्रम की माँग बढ़ेगी तथा इसके मूल्य में वृद्धि होगी। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण B क्षेत्र मे साधनो की सापेक्षिक कीमत मे परिवर्तन होता है और व्यापार के पूर्व इन दोनो साधनो के प्रतिफल मे जो भिन्नता थी, वह कम हो जाती है क्योंकि इससे एक क्षेत्र मे सापेक्षिक रूप से स्वल्प और महँगा साधन सस्ता हो जाता है तथा सापेक्षित रूप से प्रचुर और सस्ता साधन मँहगा हो जाता है। प्रतिफल मे परिवर्तन इसलिए होता है क्योंकि अब पहले की तुलना में श्रम की सीमान्त उत्पादकता बढ़ जाती है तथा पूंजी की सीमान्त उत्पादकता घट जाती है।

उपरोक्त जो व्याख्या B क्षेत्र के लिए की गयी है, उसी प्रकार की व्याख्या A क्षेत्र के लिए भी की जा सकती है जिसमे पूंजी की माँग बढ़ेगी तथा श्रम की माँग कम होगी। इस प्रकार दोनों क्षेत्रो मे जो साधन सापेक्षिक रूप मे प्रचुर मात्रा मे हैं, अन्तर्क्षेत्रीय विशिष्टीकरण के कारण उसकी माँग बढ़ जाती है तथा व्यापार के पूर्व की तुलना मे, उसका मूल्य बढ़ जाता है जबकि प्रत्येक क्षेत्र मे स्वल्प (Scarce) साधन की माँग घट जाती है एवं पहले की तुलना मे उसका मूल्य घट जाता है। उत्पत्ति के दो से अधिक साधनों पर भी यही बात लागू है।

निष्कर्ष—अन्त मे कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप दोनो क्षेत्रों में उत्पत्ति के साधनो की सापेक्षिक स्वल्पता कम हो जाती है जिससे उत्पत्ति के साधनो की कीमतों

की प्रवृत्ति समान होने की होती है। किन्तु प्रो. ओहलिन का मत है कि केवल कुछ सीमित दशाओं में ही उक्त प्रवृत्ति पूर्ण समानता की होती है अर्थात् सामान्यतः उत्पत्ति के साधनों की कीमतों में पूर्ण समानता स्थापित नहीं होती। इस अध्याय का परिशिष्ट भी देखें।

प्रो. ओहलिन के सिद्धान्त का सार-संक्षेप
(PROF. OHLIN'S THEORY SUMMARISED)

प्रो. हेक्सचर ओहलिन के व्यापार के आधुनिक सिद्धान्त का जो विवेचन ऊपर किया गया है, उसकी संक्षिप्त विवेचना इस प्रकार है --

(1) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की ही एक विशेष दशा है एवं "अन्तर्क्षेत्रीय" तथा "अन्तर्राष्ट्रीय" दोनों शब्दों को एक दूसरे से प्रतिस्थापित किया जा सकता है।

(2) इस सिद्धान्त की प्रमुख दो बातें इस प्रकार हैं—

(i) देशों में उत्पत्ति के साधनों में भिन्नता होती है एवं

(ii) वस्तुओं के उत्पादन में विभिन्न साधनों की आवश्यकता होती है।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का तात्कालिक कारण यह है कि दो क्षेत्रों में वस्तुओं की कीमतों में सापेक्षिक अन्तर होता है।

(4) वस्तुओं की कीमतों में अन्तर इसलिए होता है कि साधनों की कीमतों में अन्तर होता है तथा विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन के लिए साधनों के विभिन्न अनुपातों की आवश्यकता होती है ?

(5) साधनों की कीमतों में अन्तर इसलिए होता है क्योंकि किसी क्षेत्र में कोई साधन सापेक्ष रूप में प्रचुर तथा किसी क्षेत्र में वही साधन सापेक्षिक रूप से स्वल्प रहता है।

(6) दो क्षेत्रों में असमान मुद्रा प्रणाली होने पर दोनों मुद्राओं में विनिमय-दर स्थापित की जाती है जिससे यह ज्ञात होता है कि कौन-से क्षेत्र में कौन साधन सस्ते हैं तथा कौन साधन महँगे हैं तथा कौन क्षेत्र किन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करेगा।

(7) चूँकि दो देशों में उत्पत्ति के साधनों में गतिशीलता नहीं पायी जाती, अतः वस्तुओं का विनिमय, साधनों में गतिशीलता को प्रतिस्थापित करता है।

(8) स्वतन्त्र व्यापार के फलस्वरूप साधनों की कीमतों में समानता स्थापित होने की प्रवृत्ति पायी जाती है यद्यपि कुछ बाधाओं के कारण पूर्ण समानता स्थापित नहीं हो पाती।

मान्यताओं को हटाने पर—प्रो. ओहलिन ने अपने व्यापार के सिद्धान्त का प्रतिपादन कुछ मान्यताओं के आधार पर किया है किन्तु उनका मत है कि कुछ मान्यताओं को हटाने पर भी उनका सिद्धान्त उसी रूप में लागू होता है। उनके अनुसार,

(i) कुछ जटिल विश्लेषण के साथ उक्त व्यापार के सिद्धान्त को दो से अधिक क्षेत्रों पर भी लागू किया जा सकता है।

(ii) यदि दोनों क्षेत्रों में उत्पत्ति के साधन समान अनुपात में हैं तो भी दोनों क्षेत्रों में विशिष्टीकरण हो सकता है क्योंकि बाजार के विस्तार के कारण क्षेत्रों में बड़े पैमाने के उत्पादन में प्राप्त बचतों में अन्तर हो सकता है।

(iii) हम यह मानकर चले हैं कि दोनों क्षेत्रों में प्रत्येक साधन गुणात्मक स्तर पर समान हैं। परन्तु प्रो. ओहलिन का मत है कि उक्त मान्यता को समाप्त किया जा सकता है। इससे दोनों क्षेत्रों में साधनों के सापेक्षिक अन्तर करने में कठिनाई अवश्य होगी किन्तु यदि हम इन साधनों का कुछ निश्चित समूहों में वर्गीकरण कर लें तो उक्त कठिनाई को दूर किया जा सकता

है और चूँकि उक्त सिद्धान्त मूल्य के सामान्य सिद्धान्त पर आधारित है, तुलना करने के लिए माँग और पूर्ति को ही जानना जरूरी है।

(iv) यदि परिवहन लागतों को भी शामिल कर लिया जाय तो भी इस बात का विश्लेषण किया जा सकता है कि उसके फलस्वरूप व्यापार की मात्रा घट जायगी। वास्तव में परिवहन लागत एवं अन्य बाधाओं के कारण, दो क्षेत्रों में साधनों की कीमतों में पूर्ण समानता स्थापित नहीं होती।

(v) यद्यपि प्रो ओहलिन ने प्रारम्भ में स्थिर लागत की कल्पना की है किन्तु उनकी मान्यता है कि घटती अथवा बढ़ती हुई लागतों के अन्तर्गत भी उनका व्यापार का सिद्धान्त लागू होता है। जहाँ घटती हुई लागतों से विशिष्टीकरण और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का क्षेत्र बढ़ जाता है, बढ़ती हुई लागतों के कारण यह संकुचित हो जाता है?

दो मान्यताएँ अपरिवर्तित—प्रो ओहलिन ने दो मान्यताओं को नहीं हटाया है—प्रथम पूर्ण रोजगार की मान्यता एवं द्वितीय पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता। उक्त दोनों मान्यताओं के अन्तर्गत। इसलिए ओहलिन ने व्यापार के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है क्योंकि आर्थिक विश्लेषण का प्रतिपादन इन्हीं मान्यताओं के अन्तर्गत किया है। यद्यपि "पूर्ण रोजगार" की मान्यता को हटाकर सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जा सकता है किन्तु इससे विश्लेषण अति जटिल हो जायगा।

प्रो. ओहलिन का सिद्धान्त सन्तुलन के सिद्धान्त पर विकसित किया गया है तथा मूल्य का सामान्य सिद्धान्त भी पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता पर आधारित है। यद्यपि यह बात दूसरी है कि वास्तविक जगत में पूर्ण प्रतियोगिता नहीं पायी जाती जिससे एकाधिकार तथा स्वतंत्र व्यापार के अभाव की मनोवृत्ति पायी जाती है किन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि एक विशुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त के लिए उक्त सारे परिवर्तनों का समावेश करना सम्भव नहीं हो पाता।

हेक्सचर-ओहलिन सिद्धान्त तथा प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के व्यापार के सिद्धान्त से तुलना (अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधुनिक सिद्धान्त की श्रेष्ठता)

रिकार्डो के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की तुलना में प्रो. हेक्सचर-ओहलिन का सिद्धान्त कई अर्थों में भिन्न है तथा श्रेष्ठ भी है। किन्तु प्रारम्भ में ही यह समझ लेना चाहिए कि आधुनिक सिद्धान्त प्रतिष्ठित सिद्धान्त को नकारता नहीं है वरन पूर्ण शक्ति के साथ प्रतिष्ठित सिद्धान्त के पूरक के रूप में कार्य करता है। नीचे हम कुछ बिन्दुओं को लेकर इन दोनों सिद्धान्तों की तुलना करेंगे तथा यह सिद्ध करेंगे कि आधुनिक सिद्धान्त कई अर्थों में श्रेष्ठ है :

(1) रिकार्डो ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का प्रतिपादन मूल्य के श्रम सिद्धान्त के आधार पर किया है किन्तु आधुनिक सिद्धान्त की व्याख्या प्रो. ओहलिन ने मूल्य के सामान्य सन्तुलन के आधार पर की है जिसे प्रो. कैसल (Cassel) ने विकसित किया।

(2) रिकार्डो ने स्थिर लागत एवं एक साधन-श्रम, को लेकर अपना सिद्धान्त विकसित किया है तथा व्यापार के ढाँचे में साधनों की पूर्ति की अवहेलना की है किन्तु प्रो. ओहलिन ने श्रम और पूँजी दो साधनों को लेकर साधनों की पूर्ति पर तुलनात्मक अन्तर निर्धारित करने में महत्वपूर्ण बल दिया है।

(3) क्लासिकल सिद्धान्त में, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में साधनों के बाजार पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। प्रो ओहलिन ने अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधुनिक सिद्धान्त में पहली बार संतोषजनक ढंग से साधनों के बाजारों एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में समन्वय स्थापित किया है।

जहाँ तक ग्राहम के उक्त तर्क का प्रश्न है, स्थिर लागत एवं अपूर्ण विशिष्टीकरण के अन्तर्गत यह उचित हो सकता है। किन्तु बढ़ती हुई लागतों के अन्तर्गत भी प्रत्येक देश कुछ न कुछ मात्रा में दोनों वस्तुओं का उत्पादन करता है अर्थात विशिष्टीकरण अपूर्ण रहता है किन्तु व्यापार की शर्तों का निर्धारण इससे नहीं होता। व्यापार होने के पूर्व देश में जो लागत अनुपात रहता है, बढ़ती हुई लागत का उस पर प्रभाव अवश्य ही पड़ता है अर्थात् उसमें परिवर्तन हो जाता है। जब लागत-अनुपात परिवर्तित हो जाता है तो अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों को प्रभावित करने में फिर माँग का महत्वपूर्ण हाथ होता है अर्थात् फिर माँग की दशाएँ ही यह निर्धारित करती है कि वस्तुओं की कितनी मात्रा का उत्पादन एवं विनिमय किया जाय। अत. बढ़ती हुई लागतों के अन्तर्गत, हम पारस्परिक माँग के सिद्धान्त की अवहेलना नहीं कर सकते।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. प्रो. मिल द्वारा प्रतिपादित पारस्परिक माँग के सिद्धान्त को समझाइये ? क्या यह रिकार्डो के सिद्धान्त में एक सुधार है ?
2. प्रो. मार्शल द्वारा प्रतिपादित प्रस्ताव वक्र की सहायता से दिखाइये कि व्यापार की शर्तों में सन्तुलन कैसे स्थापित होता है ?
3. प्रो. मार्शल द्वारा प्रतिपादित अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों के सिद्धान्त का सामान्यीकरण क्या है ? सारणी बनाकर स्पष्ट कीजिए।
4. पारस्परिक माँग के सिद्धान्त के सम्बन्ध में प्रो. ग्राहम की आलोचना का मूल्यांकन कीजिए ?

Selected Readings

1. Haberler · *The Theory of International Trade.*
2. Marshall · *Money, Credit and Commerce.*
3. J. S. Mill · *Principles of Political Economy.*

अध्याय 11

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अवसर लागत का सिद्धान्त

[OPPORTUNITY COST DOCTRINE OF INTERNATIONAL TRADE]

परिचय

प्रो. रिकार्डो द्वारा प्रतिपादित तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त मूल्य के श्रम सिद्धान्त पर आधारित है क्योंकि वह लागत को श्रम में ही आँकता है। इसे वास्तविक लागत की विचारधारा (Real Cost Approach) कहते हैं। किन्तु इसकी आलोचना में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि श्रम लागत का सिद्धान्त अपर्याप्त है क्योंकि यह अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है और फिर, वस्तुओं का उत्पादन केवल श्रमिकों द्वारा ही नहीं किया जाता वरन् उत्पत्ति के और भी साधन होते हैं जैसे भूमि पूँजी संगठन इत्यादि तथा ये साधन श्रम के साथ एक निश्चित अनुपात में ही नहीं मिलाये जाते वरन् इनका अनुपात परिवर्तनशील होता है। ऐसी स्थिति में दो वस्तुओं के सापेक्षिक मूल्य की तुलना केवल एक साधन-श्रम के आधार पर नहीं की जा सकती। इस दोष को दूर करने के लिए अर्थशास्त्रियों द्वारा एक वैकल्पिक लागत का सिद्धान्त बनाने के प्रयत्न किये गये हैं जिसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्याओं पर लागू किया जा सके और ऐसा ही सिद्धान्त अवसर लागत का सिद्धान्त है जिसे सबसे पहले प्रो. हैबरलर ने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के वास्तविक लागत सिद्धान्त पर प्रस्तुत किया। इस सिद्धान्त की यह विशेषता है कि यह परिवर्ती साधन अनुपातों (Variable Factors Proportions) पर लागू होता है।

अवसर लागत का अर्थ
(MEANING OF OPPORTUNITY COST)

संक्षेप में, एक दिये हुए उत्पादन की अवसर लागत वैकल्पिक उत्पादन की वह मात्रा है जिसे उन साधनों द्वारा उत्पादित किया जा सकता था अर्थात् उत्पादन का दूसरा सर्वोत्तम विकल्प जिसका पहली वस्तु के उत्पादन करने से परित्याग कर दिया गया है। इसे प्रतिस्थापन लागत (Displacement Cost) भी कहते हैं। जैसे एक किसान अपने खेत में गेहूँ या ज्वार दोनों में से किसी एक का उत्पादन कर सकता है तथा यदि वह ज्वार का उत्पादन करता है तो ज्वार की अवसर लागत गेहूँ की वह मात्रा है जिसका उत्पादन किया जा सकता था।

उत्पादन के क्षेत्र में अवसर लागत का प्रयोग आस्ट्रियन अर्थशास्त्रियों ने किया। यह इस तथ्य पर आधारित है कि उत्पादन के साधन सीमित होते हैं तथा उनका प्रयोग अनेक क्षेत्रों में किया जा सकता है। सीमित होने के कारण जब उन्हें किसी एक उद्देश्य के लिए प्रयुक्त किया जाता है तो इसका अर्थ यह है कि उन्हें दूसरे उद्देश्यों के लिये प्रयुक्त नहीं किया जा सकता अर्थात् इन उद्देश्यों का परित्याग करना पड़ता है। प्रो. स्टिगलर के अनुसार, "किसी एक वस्तु A का उत्पादन करने में उत्पत्ति के किसी साधन X की लागत अन्य वस्तुओं (B, C,...D) की वह

अधिकतम मात्रा है जिसका उत्पादन X करता ।" अर्थात B की वह मात्रा, जिसका परित्याग वस्तु A का उत्पादन करने मे कर दिया जाता है, A की अवसर लागत है ।

प्रो. हैबरलर के अनुसार विभिन्न देशो के उत्पत्ति के साधनो मे भिन्नता होती है किन्तु किसी एक देश मे इनकी पूर्ति स्थिर रहती है तथा इन साधनो को कई तरह से प्रयुक्त किया जा सकता है । इन्हे अवशिष्ट साधन (Non-specific factors) कहते है । उत्पत्ति के कुछ साधन विशिष्ट (Specific) होते है अर्थात उन्हे किसी विशेष उद्देश्य के लिए ही प्रयुक्त किया जा सकता है और यदि उन्हें अन्य प्रयोग मे स्थानान्तरित किया जाता है तो उनका उत्पादन घट जाता है । विशिष्ट साधनो की दशा मे भी, हैबरलर के अनुसार, विनिमय अनुपात, प्रतिस्थापन की सीमान्त दर से निर्धारित होता है अर्थात दूसरी वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई को प्राप्त करने के लिए एक वस्तु की कितनी इकाइयो का परित्याग किया जाता है ।

अवसर लागत वक्र
(OPPORTUNITY COST CURVE)

प्रो हैबरलर ने दो वस्तुओ के बीच विनिमय अनुपात को अवसर लागत मे व्यक्त किया है जैसे एक विभिन्न उत्पत्ति के साधनो का सयोग या तो 4X या 8Y का उत्पादन कर सकता है तो 1Y का उत्पादन करने की अवसर लागत ½X होगी । इस प्रकार दो वस्तुओं के बीच विनिमय अनुपात प्रतिस्थापन वक्र (Substitution Curve) के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है । आगे चलकर विभिन्न लागतो के अन्तर्गत हम इस वक्र को स्पष्ट करेंगे ।

अवसर लागत की मान्यताएँ—प्रो हैबरलर ने अवसर लागत वक्र की व्याख्या निम्न मान्यताओ के अन्तर्गत की है—

(1) उत्पत्ति के साधनों एव वस्तु के बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान रहती है ।

(2) प्रत्येक वस्तु की कीमत उसकी सीमान्त (मौद्रिक) लागत के बराबर होती है ।

(3) किसी भी उत्पत्ति के साधन की इकाइयो, यदि वे गतिशील एव प्रतिस्थापन करने योग्य हैं, की कीमत प्रत्येक रोजगार (उद्योग) में समान होती है ।

(4) उत्पत्ति के विभिन्न साधन रोजगार की स्थिति मे रहते हैं तथा उत्पत्ति के प्रत्येक साधन की कीमत, प्रत्येक प्रयोग मे सीमान्त उत्पादकता के बराबर होती है ।

(5) दी हुई तकनीकी स्थिति के अन्तर्गत, उपलब्ध साधनों से वस्तुओ का उत्पादन सर्वाधिक कुशलता से किया जाता है ।

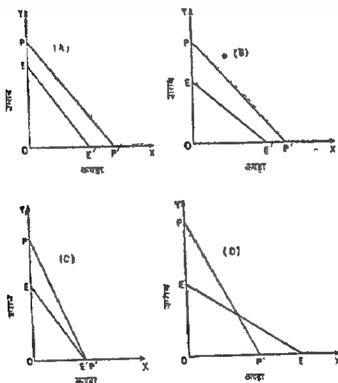
(6) एक देश को उपलब्ध साधनो की पूर्ति स्थिर रहती है ।

उपरोक्त मान्यताओं को दृष्टि मे रखते हुए, अवसर लागत वक्र का आकार क्या होगा, यह इस बात पर निर्भर रहेगा कि उत्पादन किन लागतो के अन्तर्गत हो रहा है । अब हम इन्ही विभिन्न लागतो के अन्तर्गत अवसर लागत वक्र के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सम्भावनाओ पर विचार करेंगे ।

स्थिर लागत के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार
(INTERNATIONAL TRADE UNDER CONDITIONS OF CONSTANT COSTS)

यदि दो देश प्रत्येक वस्तु का उत्पादन स्थिर लागत के अन्तर्गत कर रहे हैं तथा प्रत्येक देश के उत्पादन मे, समान अनुपात मे उत्पत्ति के साधनो का प्रयोग किया जा रहा है (दिये हुए साधन-मूल्य अनुपात पर) तो अवसर लागत वक्र एक सीधी रेखा होगी जिसका अर्थ यह होगा कि एक वस्तु को दूसरी वस्तु मे विनिमय करने की सीमान्त अवसर लागत स्थिर रहेगी । किन्तु एक बात यहाँ समझ लेना चाहिए कि स्थिर लागतो के अन्तर्गत भी दो देशो का उत्पाद-फलन

की सीमान्त अवसर लागत होती है।[1] इस विचारधारा ने रिकार्डो की उस मान्यता को प्रतिस्थापित कर दिया है जिसके अनुसार लागत का निर्धारण श्रम की सापेक्षिक मात्रा द्वारा किया जाता है। स्थिर लागत के अन्तर्गत, दो देशों में दो वस्तुओं का विनिमय अनुपात केवल अवसर लागत द्वारा ही निर्धारित किया जाता है क्योंकि बिना मांग पर विचार किये वस्तुओं के उत्पादन की सापेक्षिक लागत तथा कीमत स्थिर रहेगी। इसका अर्थ यह है कि स्थिर अवसर लागत के अन्तर्गत वस्तुओं की सापेक्षिक कीमत पर मांग की दशाओं का प्रभाव नहीं पड़ता। नीचे दिये हुए रेखाचित्रों में स्थिर लागत के अन्तर्गत दो देशों के रूपान्तरण वक्रों का चित्रण किया गया है।



चित्र 11 2

उपरोक्त रेखाचित्रों में अवसर लागत वक्र EE' तथा PP' क्रमश इंग्लैण्ड और पुर्तगाल में दो वस्तुओं शराब और कपड़े के उत्पादन की सापेक्षिक लागतों को व्यक्त कर रहे हैं। इन दोनों देशों में व्यापार उसी समय सम्भव है जब इन रूपान्तरण वक्रों का ढाल भिन्न-भिन्न हो। रेखाचित्र 11 2 के B, C और D चित्रों में यह ढाल भिन्न है किन्तु A में दोनों वक्रों EE' और PP' का ढाल समान है जो यह व्यक्त करता है कि दोनों देशों में दोनों वस्तुओं की उत्पादन लागत में समान अन्तर है। रेखाचित्र (A) में यद्यपि पुर्तगाल दोनों वस्तुओं शराब और कपड़े का निरपेक्ष रूप से सस्ते में उत्पादन कर रहा है परन्तु इंग्लैण्ड की तुलना में उसे तुलनात्मक लाभ नहीं है। क्योंकि दोनों देशों में इन दोनों वस्तुओं की लागत का अनुपात समान है। यदि पुर्तगाल केवल शराब के उत्पादन में विशिष्टीकरण करता है तो उसे ऐसा करना लाभदायक नहीं होगा क्योंकि उसे इंग्लैण्ड

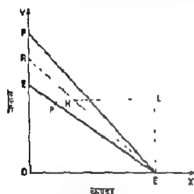
1. "The relative values of the different factors of production required for producing a unit of each commodity at the margin is the marginal opportunity cost of each commodity."

से कपड़े का आयात करने के लिए, अपने देश में ही कपड़े का उत्पादन करने की लागत की तुलना में ऊँची कीमत देनी पड़ेगी। अतः इस स्थिति में दोनों देशों में व्यापार नहीं होगा।

रेखाचित्र (B) से स्पष्ट है कि यद्यपि पुर्तगाल दोनों वस्तुओं, शराब और कपड़े का उत्पादन इंग्लैण्ड की तुलना में सस्ते में कर सकता है किन्तु उसे शराब के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ अधिक है। इंग्लैण्ड को इन दोनों वस्तुओं के उत्पादन में निरपेक्ष रूप से हानि है किन्तु उसे तुलनात्मक रूप से लागत को ध्यान में रखते हुए कपड़े के उत्पादन में कम हानि है। रेखाचित्र (C) से स्पष्ट है कि इंग्लैण्ड और पुर्तगाल दोनों को कपड़े में उत्पादन लागत समान है किन्तु पुर्तगाल को शराब के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ है। रेखाचित्र (D) से स्पष्ट है कि इंग्लैण्ड की तुलना में पुर्तगाल को शराब के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ है तथा कपड़े के उत्पादन में निरपेक्ष हानि है तथा पुर्तगाल की तुलना में इंग्लैण्ड को कपड़े के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ है तथा शराब के उत्पादन में निरपेक्ष हानि है। इससे स्पष्ट है कि पुर्तगाल को शराब के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ है तथा इंग्लैण्ड को कपड़े के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्थिर लागत दशाओं के अन्तर्गत, जब पुर्तगाल को शराब के उत्पादन में तुलनात्मक लागत का लाभ है एवं इंग्लैण्ड को कपड़े के उत्पादन में तुलनात्मक लागत का लाभ है तो पुर्तगाल शराब के उत्पादन में विशिष्टीकरण करेगा एवं इंग्लैण्ड कपड़े के उत्पादन में विशिष्टीकरण करेगा तथा दोनों देश आपस में अतिरेक वस्तुओं का, दूसरे देश की वस्तु से विनिमय करेंगे। दोनों देशों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ होगा एवं उत्पादन में पूर्ण विशिष्टीकरण होगा। दोनों देशों में दोनों वस्तुओं के विनिमय अनुपात का निर्धारण दोनों देशों की उत्पादन सम्भावना वक्रों (अवसर लागत वक्र) की सीमाओं के भीतर होगा।

इसके बाद हम एक रेखाचित्र द्वारा यह स्पष्ट करेंगे कि स्थिर लागत में अवसर लागत वक्र के ढाल में अन्तर होने पर किस प्रकार दोनों देशों को लाभ होता है।



चित्र 11.3

संलग्न रेखाचित्र 11.3 में इंग्लैण्ड की उत्पादन सम्भावना रेखा EE' है तथा पुर्तगाल की उत्पादन सम्भावना रेखा PE' है (E' बिन्दु दोनों को समान है)। जब दोनों देशों में व्यापार नहीं होता तो इंग्लैण्ड में उत्पादन का सन्तुलन बिन्दु P है जहाँ वह कपड़ा और शराब दोनों वस्तुओं की एक निश्चित मात्रा का उत्पादन एवं उपभोग कर रहा है। इंग्लैण्ड में कपड़े के सन्दर्भ में शराब की कीमत $\frac{OE'}{OE}$ है। दोनों देशों में व्यापार प्रारम्भ होने पर नयी कीमत रेखा RE', दोनों देशों की व्यापार के पूर्व की घरेलू कीमतों EE' और PE' के बीच स्थित रहती है। दोनों देशों में व्यापार शुरू होने पर इंग्लैण्ड कपड़े के उत्पादन में विशिष्टीकरण करता है तथा OE' कपड़े का उत्पादन करता है किन्तु उसका उपभोग बिन्दु H है तथा वह कपड़े की HL मात्रा का निर्यात करता है तथा उसके बदले में शराब की LE' मात्रा का आयात करता है। अब वह सस्ती कीमत पर पुर्तगाल से शराब प्राप्त कर सकता है अर्थात् $\frac{OE'}{OR}$ जबकि पहले यह कीमत $\frac{OE'}{OE}$ थी। इस प्रकार इंग्लैण्ड को व्यापार करने में लाभ होता है। इसी प्रकार पुर्तगाल को भी लाभ होता है व्यापार के पहले, वह शराब की OP मात्रा का परित्याग कर कपड़े की OE' मात्रा प्राप्त कर सकता था किन्तु व्यापार

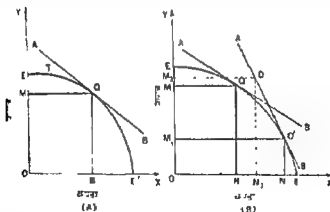
होने से अब वह शराब की कम मात्रा OR का परित्याग कर कपड़े की उतनी ही मात्रा प्राप्त कर सकता है। पुर्तगाल में शराब के सन्दर्भ में कपड़े की गृह कीमत (Domestic Price) $\frac{OP}{OE}$ है जो व्यापार शुरू होने के बाद विश्व कीमत $\frac{OR}{OE'}$ से अधिक है। इस प्रकार पुर्तगाल को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाभ होता है। व्यापार होने के बाद दोनों देशों में घरेलू कीमत वही होगी जो अन्तर-राष्ट्रीय कीमत है जो चित्र में ER' रेखा द्वारा दिखायी गयी है।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विशिष्टीकरण और विनिमय का आधार अवसर लागत का अन्तर है।

बढ़ती हुई लागत के अन्तर्गत अवसर लागत की व्याख्या
(OPPORTUNITY COST ANALYSIS UNDER INCREASING COST)

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि यदि प्रत्यर देश में दोनों वस्तुओं के उत्पादन में साधनों का अनुपात स्थिर और समान रहता है तो उत्पादन सम्भावना वक्र सीधी रेखा में होता है जो स्थिर अवसर अवसर लागत को दर्शाता है। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता है वरन् दोनों वस्तुओं के उत्पादन में साधनों के प्रतिस्थापन होने की सम्भावना रहती है और फिर समस्त साधन दोनों वस्तुओं को समान कुशलता के साथ उत्पादन करने के योग्य भी नहीं होते। यहाँ हमें विशिष्ट और अविशिष्ट (Specific and non-Specific) साधनों पर विचार करना होता है। प्रत्येक वस्तु के उत्पादन में कुछ ऐसे विशिष्ट साधनों की आवश्यकता होती है जो दूसरी वस्तु के उत्पादन में आवश्यक नहीं होते। इन विशिष्ट साधनों को उत्पादन में कुछ अविशिष्ट साधनों की आवश्यकता होती है जो दोनों वस्तुओं के उद्योग में स्वतन्त्रतापूर्वक गतिशील हो सकते हैं। यदि विशिष्ट साधनों के साथ अविशिष्ट साधनों के संयोग की मात्रा बढ़ा दी जाये तो उत्पादन में ह्रास होने लगता है अर्थात् लागत बढ़ने लगती है। उदाहरण के लिए दो वस्तुएँ x और y हैं तो x की अतिरिक्त इकाईयों का उत्पादन करने के लिए y की अधिक इकाईयों का परित्याग करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में अवसर लागत वक्र उद्गम बिन्दु के नतोदर (Concave) होगा।

दो देशों में परिवर्तनशील लागतों के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र का निर्धारण केवल लागतों के अन्तर से ही नहीं होता वरन् उसमें माँग की दशाओं पर भी विचार करना होता



चित्र 11·4

है। चूँकि बुद्धिमान लागतों के अन्तर्गत अवसर लागत वक्र में परिवर्तन होता है, दोनों वस्तुओं की सापेक्षिक लागत और मूल्य में भी परिवर्तन होता है। पहले हम बढ़ती हुई लागत के अन्तर्गत एक

देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पूर्व के सन्तुलन पर विचार करेंगे एवं साथ ही व्यापार के प्रभाव का विवेचन करेंगे। बाद में दोनों देशों को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रभावों की व्याख्या करेंगे।

व्यापार-पूर्व का सन्तुलन—रेखाचित्र 11·4 (A) इंग्लैण्ड में चूँकि बढ़ती हुई लागत के अन्तर्गत उत्पादन हो रहा है, उत्पादन सम्भावना वक्र EE' उद्गम बिन्दु O के नतोदर है। देश में आन्तरिक माँग ज्ञात होने पर गृह कीमतों का अनुपात AB रेखा द्वारा दर्शाया गया है। कीमतों के ज्ञात होने पर इंग्लैण्ड EE' उत्पादन सम्भावना वक्र के किस बिन्दु पर उत्पादन करेगा ? स्वाभाविक है कि उत्पादन Q बिन्दु पर होगा जहाँ कीमत रेखा AB, उत्पादन सम्भावना वक्र को स्पर्श (Tangent) कर रही है। Q बिन्दु पर इंग्लैण्ड व्यापार शुरू होने के पूर्व कपड़े की ON मात्रा तथा शराब की OM मात्रा का उत्पादन करेगा। यह सन्तुलन का बिन्दु T नहीं होगा क्योंकि यहाँ शराब के उत्पादन में थोड़ी सी वृद्धि के लिए कपड़े के उत्पादन की बहुत मात्रा का परित्याग करना पड़ता है। इसका अर्थ यह है कि जो उत्पत्ति के साधन कपड़े के उत्पादन से अलग किये जाते हैं, वे शराब का अधिक उत्पादन नहीं कर सकते। इस प्रकार इंग्लैण्ड का व्यापार पूर्व का सन्तुलन बिन्दु Q है जहाँ दोनों वस्तुओं की सापेक्षिक अवसर लागत तथा सापेक्षिक कीमत समान है।

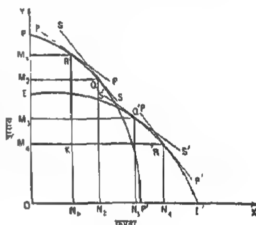
व्यापार होने पर सन्तुलन—अब हम कल्पना करें कि इंग्लैण्ड अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में प्रवेश करता है। हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि इंग्लैण्ड को कपड़े के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ है। जब वह पुर्तगाल के साथ व्यापार शुरू करता है तो चूँकि पुर्तगाल, इंग्लैण्ड के कपड़े का आयात करता है, इंग्लैण्ड के कपड़े की माँग बढ़ जाती है तथा इंग्लैण्ड के घरेलू बाजार में, शराब की तुलना में कपड़े का मूल्य बढ़ जाता है। इसके फलस्वरूप उसकी कीमत-रेखा में परिवर्तन हो जाता है अब नयी कीमत रेखा A' B' (चित्र 11·4-B) पहले की कीमत रेखा AB की तुलना में अधिक ढाल वाली (Steeper) हो जाती है जिसका अर्थ यह है कि शराब की तुलना में कपड़े का मूल्य बढ़ गया है अतः शराब के उत्पादन में से साधनों को कपड़े के उत्पादन में प्रवाहित किया जायगा। नयी कीमत रेखा A' B' उत्पादन सम्भावना वक्र को Q' बिन्दु पर स्पर्श कर रही है जो इंग्लैण्ड का व्यापार के बाद उत्पादन का नया सन्तुलन बिन्दु है जहाँ वह OM_1 शराब की मात्रा तथा ON_1 कपड़े की मात्रा का उत्पादन कर रहा है अर्थात् पहले की तुलना में अब इंग्लैण्ड कपड़े का अधिक तथा शराब का कम उत्पादन कर रहा है। वह दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन कर रहा है। इससे स्पष्ट है कि उसे जिस वस्तु के उत्पादन (कपड़ा) में तुलनात्मक लाभ है उसमें पूर्ण विशिष्टीकरण न करके आंशिक विशिष्टीकरण (Partial Specialisation) कर रहा है। Q' बिन्दु पर उत्पादन सम्भावना वक्र का ढाल, समान विश्व-कीमत अनुपात के बराबर है अतः यहाँ इंग्लैण्ड का उत्पादन अधिकतम है।

नयी कीमत रेखा A'B' न केवल व्यापार की शर्तों को स्पष्ट करती है वरन् उस उपभोग सम्भावना वक्र को भी दिखाती है जो अब इंग्लैण्ड प्राप्त कर सकता है। व्यापार के पूर्व इंग्लैण्ड शराब की OM तथा कपड़े की ON मात्रा का उपभोग कर रहा था किन्तु व्यापार शुरू होने के बाद माँग और पूर्ति की शक्तियों के फलस्वरूप अब दोनों वस्तुओं के उपभोग का नया बिन्दु A'B' रेखा पर D बिन्दु पर होगा जहाँ इंग्लैण्ड में शराब का उपभोग OM_2 तथा कपड़े का उपभोग ON_2 होगा जिससे स्पष्ट है कि व्यापार न होने की तुलना में अब इंग्लैण्ड का दोनों वस्तुओं का उपभोग बढ़ गया है। यही व्यापार का लाभ है। रेखाचित्र 11 4 (B) से यह भी स्पष्ट है कि कपड़े में विशिष्टीकरण करने के बाद इंग्लैण्ड, कपड़े की N_1N_2 मात्रा का निर्यात कर रहा है तथा शराब की M_1M_2 मात्रा का आयात कर रहा है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि व्यापार करने के बाद इंग्लैण्ड की स्थिति पहले से अच्छी है क्योंकि आंशिक विशिष्टीकरण करते हुए भी वह व्यापार करने के बाद दोनों वस्तुओं का अधिक मात्रा मे उपभोग कर रहा है।

बढ़ती हुई लागत के अन्तर्गत अवसर लागत के सन्दर्भ मे दो देशों की व्याख्या.

रेखाचित्र 11·4 (B) मे हमने एक देश की अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने पर, अवसर लागत की व्याख्या की है तथा यह स्पष्ट किया है कि किस प्रकार उसे लाभ होता है। इसी प्रकार दूसरे देश के सन्दर्भ मे भी उक्त व्याख्या की जा सकती है। नीचे दिये हुए रेखाचित्र 11·5 मे दोनों देशों इंग्लैण्ड और पुर्तगाल के आपस मे व्यापार करने की अवसर लागत के सन्दर्भ मे व्याख्या की गई है—



चित्र 11·5

रेखाचित्र मे PP' पुर्तगाल का उत्पादन सम्भावना वक्र है तथा EE' इंग्लैण्ड का उत्पादन सम्भावना वक्र (रूपान्तरण वक्र) है। दोनो देशो मे व्यापार शुरु होने के पूर्व पुर्तगाल का उत्पादन का सन्तुलन बिन्दु कीमत रेखा SS पर Q है जहाँ वह शराब की OM_3 मात्रा तथा कपड़े की ON_1 मात्रा का उत्पादन कर रहा है। इसी प्रकार इंग्लैण्ड का उत्पादन का सन्तुलन बिन्दु कीमत रेखा S'S' पर Q' है क्योंकि इसी बिन्दु पर S'S' रेखा सम्भावना वक्र को स्पर्श कर रही है। इस Q' बिन्दु पर इंग्लैण्ड कपड़े की ON_3 मात्रा तथा शराब की OM_3 मात्रा का उत्पादन कर रहा है। यह स्पष्ट है कि तुलनात्मक रूप से इंग्लैण्ड मे कपड़ा सस्ता है तथा पुर्तगाल मे शराब सस्ती है। जब इन दोनों देशो मे व्यापार होता है तो इंग्लैण्ड की कपड़े की माग पुर्तगाल मे बढ़ती है तथा पुर्तगाल की शराब की माग इंग्लैण्ड मे बढ़ती है अतः इन दोनो की कीमतो मे भी वृद्धि होती है। इसका परिणाम यह होता है कि पुर्तगाल अपने साधनो को कपड़ा के उत्पादन से निकाल कर शराब उत्पादन मे लगायेगा तथा इंग्लैण्ड अपने साधनो को शराब के उत्पादन से निकालकर कपड़े के उत्पादन मे लगायेगा। पुर्तगाल मे साधनो का स्थानान्तरण उस समय तक होगा जब तक कि शराब और कपड़े की अवसर लागत का अनुपात इन दोनों वस्तुओ के अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अनुपात के बराबर नही हो जाता। यह पुर्तगाल मे R बिन्दु पर होता है क्योंकि इस बिन्दु पर नयी कीमत रेखा PP अवसर लागत वक्र को स्पर्श करती है। इंग्लैण्ड मे भी इसी प्रकार साधनो का स्थानान्तरण होगा तथा नया सन्तुलन बिन्दु R' होगा जहाँ नयी कीमत रेखा P'P' अवसर लागत वक्र को स्पर्श करती है। व्यापार शुरु होने के बाद नये सन्तुलन बिन्दु पर अब पुर्तगाल शराब की OM_1 मात्रा तथा कपड़े की ON_1 मात्रा का उत्पादन कर रहा है एवं इंग्लैण्ड कपड़े की ON_4 मात्रा तथा शराब की OM_4 मात्रा का उत्पादन कर रहा है।

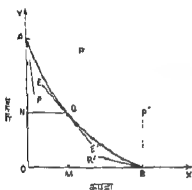
रेखाचित्र 11.5 मे यह स्पष्ट है कि व्यापार के बाद पुर्तगाल शराब की OM_1 मात्रा का उत्पादन कर रहा है किन्तु देश मे इसका उपभोग OM_4 है अतः अतिरिक्त शराब $M_4—M_1$ (KR) का इंग्लैण्ड को निर्यात कर दिया जाता है इंग्लैण्ड कपड़े की ON_4 मात्रा का उत्पादन

कर रहा है किन्तु देश में उसका उपभोग OM_1 है अतः अतिरिक्त कपड़ा $N_1—N_4$ (KR′) का पुर्तगाल को निर्यात कर दिया जाता है। चूँकि पुर्तगाल का निर्यात, इंगलैण्ड का आयात है एवं इंगलैण्ड का निर्यात, पुर्तगाल का आयात है, दोनों देशों के निर्यात और आयात सन्तुलन की स्थिति (KR=KR′) में है।

यद्यपि बढ़ती हुई लागतों के अन्तर्गत दोनों देशों में अपूर्ण विशिष्टीकरण है, फिर भी व्यापार के कारण दोनों देशों को लाभ होता है। पुर्तगाल M_1M_4 शराब का निर्यात करता है, तथा N_1N_4 कपड़े का आयात करता है, इंग्लैण्ड N_1N_4 कपड़े का निर्यात करता है एवं M_1M_4 शराब का आयात करता है व्यापार के बाद पुर्तगाल का कपड़े का उपभोग ON_2 से बढ़कर ON_4 हो गया है तथा शराब का उपभोग OM_2 से घटकर OM_4 रह गया है। इसी प्रकार इंगलैण्ड का शराब का उपभोग OM_3 से बढ़कर OM_1 हो गया है तथा कपड़े का उपभोग ON_3 से घटकर ON_1 रह गया है। कुल मिलाकर विश्व में उत्पादन बढ़ा है क्योंकि व्यापार के बाद पुर्तगाल का शराब उत्पादन M_2M_1 बढ़ गया है तथा इंग्लैण्ड का कपड़े का उत्पादन N_3N_4 बढ़ गया है।

घटती हुई लागत के अन्तर्गत उत्पादन सम्भावना वक्र

अध्याय 9 में हम घटती हुई लागतों के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की विस्तृत विवेचना कर चुके हैं। यहाँ केवल अवसर लागत के सन्दर्भ में इसकी संक्षिप्त व्याख्या करेंगे। यदि एक देश में दोनों वस्तुओं का उत्पादन घटती हुई लागत के अन्तर्गत हो रहा है तो उत्पादन सम्भावना वक्र उद्गम स्थान के उन्नतोदर (Convex) होगा जो इस बात का सूचक है कि एक वस्तु की तुलना में दूसरी वस्तु की सीमान्त अवसर लागत गिर रही है। प्रो० हैबरलर के अनुसार विदेशी व्यापार के कारण किसी वस्तु की माँग में वृद्धि होने से उत्पादन बढ़ता है एवं घटती हुई लागतें लागू होती हैं। बड़े पैमाने के उत्पादन में आन्तरिक और बाह्य बचतों के कारण जब उत्पादन बढ़ते हुए पैमाने पर होता है तो घटती हुई लागतें इसी का प्रतिफल हैं। संलग्न रेखाचित्र से यह स्पष्ट है—



चित्र 11·6

हम यह मान लें कि रेखाचित्र 11·6 में एक देश इंगलैण्ड, कपड़ा और शराब दोनों वस्तुओं का घटती हुई लागत पर उत्पादन कर रहा है। AB उत्पादन सम्भावना वक्र उद्गम बिन्दु के उन्नतोदर है। रेखा E-E_1 देश में कीमत-अनुपात रेखा है जो AB को Q बिन्दु पर स्पर्श करती है जो उत्पादन सन्तुलन का बिन्दु है। इस बिन्दु पर इंग्लैण्ड कपड़े की OM मात्रा तथा शराब की ON मात्रा का उत्पादन कर रहा है। यह ध्यान रहे कि आन्तरिक बचतों के कारण उत्पादन में वृद्धि होने से सन्तुलन बिन्दु Q स्थिर नहीं रहता।

घटती हुई लागतों के अन्तर्गत उत्पादन की तीन सम्भावनाएं हैं—

(i) उत्पादन सम्भावना वक्र AB के A बिन्दु पर AP और AR दो अन्तर्राष्ट्रीय कीमत की रेखाएँ स्पर्श करती हैं। यदि अन्तर्राष्ट्रीय कीमत AP है तो उत्पादन A बिन्दु पर होगा जिसका अर्थ है कि इंग्लैण्ड पूर्ण रूप से शराब के उत्पादन में विशिष्टीकरण करता है तथा शराब का

निर्यात कर कपड़े का आयात करता है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय कीमत AR है तो फिर A ही सन्तुलन उत्पादन का बिन्दु होगा जहाँ इंग्लैण्ड पूर्ण रूप से शराब के उत्पादन में विशिष्टीकरण करेगा।

(ii) इसी प्रकार उत्पादन सम्भावना वक्र AB के B बिन्दु पर BP′ और BR′ दो अन्तर-र्राष्ट्रीय कीमत स्पर्श करती हैं। यदि अन्तर्राष्ट्रीय कीमत BP′ है तो उत्पादन सन्तुलन बिन्दु B होगा जहाँ इंग्लैण्ड पूर्ण रूप से कपड़े के उत्पादन में विशिष्टीकरण करता है तथा कपड़े का निर्यात कर शराब का आयात करता है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय कीमत BR′ है तो भी B ही उत्पादन सन्तुलन का बिन्दु रहता है तथा इंग्लैण्ड पूर्ण रूप से कपड़े के उत्पादन में विशिष्टीकरण करता है।

(iii) तीसरी सम्भावना यह है कि इंग्लैण्ड को दोनों ही वस्तुओं के उत्पादन में आन्तरिक बचत हो तो सन्तुलन की स्थिति का निर्धारण अन्तर्राष्ट्रीय कीमत रेखा द्वारा होता है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय कीमत रेखा, उत्पादन सम्भावना वक्र AB को Q बिन्दु पर स्पर्श करती है तो इंग्लैण्ड दोनों वस्तुओं का उत्पादन करेगा (OM=कपड़ा और ON=शराब) अर्थात् उत्पादन में अपूर्ण विशिष्टीकरण करेगा।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि यदि देश में घटती हुई लागत के अन्तर्गत उत्पादन हो रहा है तो देश अलग-अलग दोनों वस्तुओं में विशिष्टीकरण कर सकता है अथवा दोनों वस्तुओं का उत्पादन कर अपूर्ण विशिष्टीकरण कर सकता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय कीमत द्वारा निर्धारित होगा कि वह किस स्थिति को चुनता है।

अवसर लागत सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन
(CRITICAL EVALUATION OF OPPORTUNITY COST DOCTRINE)

गुण—रिकार्डो के श्रम लागत सिद्धान्त की तुलना में अवसर लागत सिद्धान्त निश्चित ही एक सुधार है क्योंकि इसमें अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों का विश्लेषण अधिक वैज्ञानिक एवं वास्तविक आधार पर किया गया है अर्थात् अवसर लागत सिद्धान्त विश्व के उत्पादन की दशाओं की व्याख्या अधिक अच्छी तरह से करता है। यह सिद्धान्त यह भी स्पष्ट कर देता है कि रिकार्डो का तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त उत्पत्ति के किसी भी नियम के अन्तर्गत लागू हो सकता है चाहे वह स्थिर लागत हो अथवा बढ़ती हुई लागत या घटती हुई लागत जबकि रिकार्डो का सिद्धान्त केवल स्थिर लागत में प्रभावशील था।

अवसर लागत सिद्धान्त का एक गुण यह भी है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की जो सामान्य सन्तुलन की विचारधारा प्रो. ओहलिन ने प्रतिपादित की है यह उसका एक सरलीकृत रूप है एवं ओहलिन की तुलना में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में, साधनों के प्रतिस्थापन की अधिक अच्छी व्याख्या करता है।

अवसर लागत सिद्धान्त का एक गुण यह भी है कि यह स्पष्ट करता है कि लागतों में तुलनात्मक अन्तर होने का एक कारण बढ़ती हुई या घटती हुई लागतों का लागू होना है।

दोष—किन्तु उक्त गुणों के बावजूद भी अवसर लागत सिद्धान्त की कई बातों को लेकर आलोचना की जाती है तथा इस सिद्धान्त के प्रमुख आलोचक प्रो० जेकब वाइनर हैं। प्रमुख आलोचनाएँ इस प्रकार है :

(1) कल्याण के लिए अनुपयुक्त—प्रो. वाइनर के अनुसार, प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के वास्तविक लागत सिद्धान्त की तुलना में, अवसर लागत की व्याख्या कल्याणकारी नीतियों या मूल्यांकन करने के लिए उपयुक्त नहीं है। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि अवसर लागत का सिद्धान्त विश्लेषण एवं व्याख्या के लिए उपयुक्त है तथा वास्तविक लागत सिद्धान्त कल्याण सम्बन्धी नीतियों के लिए उपयुक्त है। किन्तु प्रो हैबरलर वास्तविक लागत सिद्धान्त को कल्याण सम्बन्धी

उपयुक्तता पर सन्देह करते हुए कहते है कि यदि वास्तविक लागत सिद्धान्त विश्लेषणात्मक उद्देश्यों के लिए उपयुक्त नहीं है तो वह कल्याणकारी नीतियों के लिए भी उपयोगी नहीं हो सकता।

(2) श्रमिकों के अधिमानों की अवहेलना—अवसर लागत सिद्धान्त की दूसरी आलोचना इस आधार पर की जाती है कि यह सिद्धान्त आय के विरुद्ध श्रमिक के आराम के अधिमान (Preference for Leisure) को कोई महत्व नहीं देता तथा समान मजदूरी प्रदान करने वाले दूसरे व्यवसाय के अधिमान पर भी विचार नहीं करता तथा यह मानकर चलता है कि श्रमिक विभिन्न व्यवसायों के प्रति तटस्थ रहते हैं एवं पारिश्रमिक पर विचार किये बिना श्रम करने को तैयार रहते है।

(3) साधनों की मात्रा में परिवर्तन की अवहेलना—अवसर लागत सिद्धान्त की अवहेलना भी की जाती है कि यह उत्पत्ति के साधनों की पूर्ति को स्थिर मानकर चलता है। किन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि साधनों के मूल्य का उनकी पूर्ति पर प्रभाव पड़ता है। प्रो. वाइनर के अनुसार, "अवसर लागत वक्र, उत्पत्ति के दिये हुए साधनों के प्रयोग करने पर उत्पत्ति के अधिकतम सम्भव संयोगों को प्रदर्शित करता है। वास्तविक स्थिति में, उत्पादन का वास्तविक संयोग इस वक्र पर नहीं होगा वरन इसके नीचे होगा यदि साधनों के उत्पादन की मात्रा पारिश्रमिक की दर पर भी निर्भर है और यदि पारिश्रमिक की सन्तुलन दर उस दर से कम है जो उत्पत्ति के प्रत्येक साधन को उनकी शारीरिक क्षमता के अनुसार अधिकतम श्रम करने के लिए प्रोत्साहित करती है।"[1]

(4) पूर्ण प्रतियोगिता की अवास्तविक मान्यता—अवसर लागत वक्र इस आधार पर खींचा जाता है कि वस्तुओं के बाजार एवं उत्पत्ति के साधनों में पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान रहती है। किन्तु वास्तविक जगत में अपूर्ण प्रतियोगिता रहती है अतः पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता अवास्तविक है।

(5) बाह्य बचतों की अवहेलना—अवसर लागत वक्र में बाह्य मितव्ययताओं एवं अमितव्ययताओं के प्रभाव की अवहेलना की गयी जो उचित नहीं है। अवसर लागत की यह भी मान्यता है कि दीर्घकाल में उपभोक्ताओं की रुचि में कोई परिवर्तन नहीं होता पर यह भी उचित नहीं है।

किन्तु अवसर-लागत सिद्धान्त की आलोचनाएँ की गयी हैं, वे सब सही नहीं हैं यहाँ हम उनका परीक्षण करेंगे।

यह कहना सही नहीं है कि अवसर लागत की व्याख्या में कल्याण सम्बन्धी निष्कर्षों को ज्ञात नहीं किया जा सकता। प्रो सेमुअलसन ने अवसर लागत की व्याख्या कर यह स्पष्ट कर दिया है कि कोई भी व्यापार न करने की तुलना में एक देश कोई न कोई व्यवसाय कर अपने कल्याण में वृद्धि कर सकता है। डॉ केन्स (Dr. Canes) के अनुसार, सेमुअलसन की व्याख्या ने कल्याण और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में वास्तविक लागत और अवसर लागत के बीच में जो खाई थी, उसे पाट दिया है।"[2]

जहाँ तक आय की तुलना में आराम के अधिमान का प्रश्न है, यह स्पष्ट किया जा चुका है कि अवसर लागत का सिद्धान्त उक्त प्रश्न पर भी विचार करता है। प्रो वाल्श (Prof Walsh) ने दो अक्ष वाले अवसर लागत वक्र का विस्तार कर उसे तीन अक्ष (Three-dimensional) के रूप में प्रस्तुत किया है जिसमें आराम (Leisure) को तीसरी वस्तु के रूप में

1. Prof, Jacob Viner—*op. cit.* p 523.
2. "Samuelson's demonstration bridges the gulf between real and opportunity cost approaches to welfare and international trade"
—R E, Canes, "*Trade and Economic Structure*", p 22

निहित किया गया है। अतः उत्पादन लागत को या तो परित्याग किये गये आराम अथवा परित्याग किये गये वैकल्पिक उत्पादन के रूप में मापा जा सकता है।

यह कहना भी उचित नहीं है कि अवसर लागत विश्लेषण के अन्तर्गत उत्पत्ति के साधनों में होने वाले परिवर्तन पर विचार नहीं किया जा सकता। सामान्य तौर पर अवसर लागत वक्र का निर्माण साधनों की स्थिर पूर्ति की मान्यता पर आधारित है किन्तु प्रो. वाल्श ने यह सिद्ध कर दिया है कि अवसर लागत सिद्धान्त में उन परिवर्तनों का समावेश भी किया जा सकता है जो वस्तु कीमतों के अनुपात में और साधन की सीमान्त उत्पादकता में परिवर्तन के फलस्वरूप पैदा होते हैं। प्रो. हैबरलर ने भी साधनों के परिवर्तन पर ध्यान दिया है तथा केवल विश्लेषण में सरलता रखने के उद्देश्य से एक देश में उपलब्ध साधनों को स्थिर मान लिया है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अवसर लागत सिद्धान्त ने रिकार्डो के तुलनात्मक लागत के दोष को दूर कर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और उत्पत्ति के साधनों के सम्बन्ध में एक गतिशील धारणा प्रस्तुत की है।

वास्तविक लागत (तुलनात्मक सिद्धान्त) और अवसर लागत-तुलनात्मक अध्ययन
(COMPARISON BATWEEN REAL COST AND OPPORTUNITY COST)

रिकार्डो का तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त मूल्य के श्रम सिद्धान्त पर आधारित है जिसके अनुसार देश में वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण, उनके उत्पादन में लगे हुए श्रम के अनुपात में होता है। अवसर लागत सिद्धान्त के अनुसार वस्तुओं का विनिमय उस अनुपात में होता है जो वस्तुओं की प्रतिस्थापना की सीमान्त दर द्वारा निर्धारित होता है। यहाँ इन दोनों में कोई विरोध नहीं दीखता किन्तु जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि वस्तुओं का उत्पादन केवल श्रम के द्वारा ही नहीं होता किन्तु विभिन्न साधनों के संयोगों द्वारा होता है अर्थात् जैसे ही हम साधनों के परिवर्तनशील अनुपात का नियम स्वीकार कर लेते हैं मूल्य का श्रम सिद्धान्त महत्वहीन हो जाता है तथा अवसर लागत की उपयोगिता हमें समझ में आती है।

किन्तु प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के श्रम सिद्धान्त के समर्थक जिनमें प्रो. वाइनर प्रमुख हैं, उस सिद्धान्त के दोषों को स्वीकार नहीं करते तथा उसे वास्तविक लागत सिद्धान्त विकसित करते हुए कहते हैं कि श्रम को ही प्रमुख लागत माना जाना चाहिए अथवा पूँजी को भूतकालीन श्रम (Past Labour) माना जा सकता है। प्रो. वाइनर के अनुसार बाजार मूल्य और वास्तविक लागत में कुछ-न-कुछ आनुपातिक सम्बन्ध होता है। उनके ही शब्दों में, "जब तक वस्तुओं की कीमतें लगभग वास्तविक लागतों के अनुरूप नहीं होतीं, तब तक तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में मान्यता स्थापित करने लिए पर्याप्त नहीं है।" इसका आशय यह है कि स्वतन्त्र व्यापार के कल्याणकारी प्रभावों को समझने के लिए हमें मौद्रिक लागतों एवं वास्तविक लागतों में सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। प्रो. वाइनर ने श्रम सिद्धान्त का समर्थन करने के लिए अवसर लागत की कटु आलोचना की है जिसकी चर्चा हम पिछले पृष्ठों में इसी अध्याय में कर चुके हैं।

किन्तु यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि श्रम सिद्धान्त भी आलोचनाओं से मुक्त नहीं है एवं प्रो. वाइनर ने जो आलोचनाएँ अवसर लागत सिद्धान्त के सम्बन्ध में की हैं, वे भी तर्कसंगत नहीं हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि अवसर लागत सिद्धान्त में कुछ कमजोरी नहीं है। वास्तव में कमियाँ दोनों सिद्धान्तों में हैं लेकिन अवसर लागत सिद्धान्त, श्रम लागत की तुलना में निश्चित ही एक सुधार है।

प्रो हैबरलर के अनुसार, वास्तविक लागत और अवसर लागत सिद्धान्त मे कोई विरोध नहीं है। आत्मगत उपयोगिताओ और अनुपयोगिताओ को वस्तुगत दृष्टि से मापने के लिए दोनों ही विचारधाराएँ सरलीकृत रूप से प्रयत्न करती हैं। जहाँ तक वास्तविक लागत सिद्धान्त का प्रश्न है, उसमे श्रम सेवाओ की पूर्ति मे आत्मगत अनुपयोगिता (Subjective disability) पर विशेष जोर दिया गया है और यह भी स्पष्ट किया गया है कि विभिन्न व्यवसायो मे इसमे भिन्नता क्यों होती है। यदि हम आय को स्थिर मानकर चलें तो वास्तविक लागत सिद्धान्त, मूल्य के लागत पक्ष को पृथक रूप से बताने का एक प्रयत्न है। जहाँ तक अवसर लागत सिद्धान्त का प्रश्न है, यह वस्तुओ के वैकल्पिक चुनाव का मूल्यांकन करने का प्रयत्न करता है तथा उत्पत्ति के ढाँचे के माध्यम से यह सिद्ध करता है कि उक्त चुनाव किस प्रकार मूल्यों का प्रतिरूपण (Imputation) करते हैं। प्रो हैबरलर के अनुसार यह प्रारम्भ से ही आय की विचारधारा (Income Approach) है और दोनो विचारो मे लागू होती है चाहे उत्पत्ति के साधन समरूप (homogenous) हों अथवा न हो प्रो केन्स के अनुसार, "सम्भवत यह कहना अर्थपूर्ण नही है कि इन दोनो मे से एक विचारधारा, दूसरी की तुलना मे अधिक सामान्य है""" "उनका सापेक्षिक गुण इस बात पर निर्भर करता है कि कौन-सी विचारधारा अधिक स्वीकार्य सरल मान्यताओ को लेकर चलती है।"[1]

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. प्रो. हैबरलर द्वारा प्रतिपादित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अवसर लागत सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए ?
2. "अवसर लागत सिद्धान्त, तुलनात्मक लागत सिद्धान्त और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधुनिक सिद्धान्त के मध्य एक सम्पर्क कड़ी है।" इस कथन को स्पष्ट कीजिए।
3. वास्तविक लागत सिद्धान्त और अवसर लागत सिद्धान्त की तुलनात्मक विवेचना करते हुए बताइए कि क्या अवसर लागत सिद्धान्त, तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की तुलना मे एक सुधार है अथवा नहीं।

Selected Readings

1 Haberler — *The Theory of International Trade.*
2. Jacob Viner — *Studies for Theory International Trade.*
3 D. M Mithani — *Introduction to International Economic.*
4 Ray and Kundu — *International Economics*
5 Samuelson — *'The Gains from Trade' in Readings in the Theory of International Trade.*

1. "It is probably not meaningful to say that one of these approaches is more general than the other their relative merits depend on which is deemed to make the more acceptable simplifying assumptions" —Caves, *op. cit*, p. 222.

अध्याय 12

विशिष्ट साधनों के सन्दर्भ में तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या

[THE THEORY OF COMPARATIVE COST IN THE CONTEX OF SPECIFIC FACTORS]

परिचय

प्रस्तुत विवेचन करने के पूर्व हमें विशिष्ट साधनों का अर्थ समझ लेना चाहिए। सबसे पहले आस्ट्रियन अर्थशास्त्री प्रो० वीजर (Prof Wieser) ने विशिष्ट और अविशिष्ट साधनों के बीच भेद किया। उत्पत्ति के विशिष्ट साधन वे होते हैं जिन्हें किसी विशेष उद्देश्य के लिए ही प्रयुक्त किया जा सकता है तथा यदि उन्हें दूसरे उपयोगों में स्थानान्तरित किया जाय तो उनका उत्पादन इतना कम होगा कि उन्हें स्थानान्तरित ही नहीं किया जाता है। साधनों में विशिष्टता होने का कारण यह है कि कई कारणों से उनमें गतिशीलता का अभाव रहता है अथवा तकनीकी दृष्टि से वह साधन अन्य उपयोगों के लिए अनुपयुक्त रहता है। जैसे गन्ने का रस निकालने की मशीन का प्रयोग कपड़े के कारखाने में नहीं हो सकता। यहाँ अध्ययन का विषय यह है कि यदि उत्पत्ति के साधन विशिष्ट हों तो तुलनात्मक लागत सिद्धान्त किस प्रकार लागू होता है। इसके साथ पहले यह भी समझ लेना चाहिए कि अविशिष्ट साधनों से तात्पर्य यह है कि उन्हें सरलता से एक प्रयोग से दूसरे प्रयोग में स्थानान्तरित किया जा सकता है।

विशिष्ट साधन एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि कुछ संशोधनों के साथ अवसर लागत सिद्धान्त से भी वही निष्कर्ष प्राप्त होते हैं जो श्रम लागत सिद्धान्त से अर्थात् दो वस्तुओं के बीच विनिमय अनुपात उनके प्रतिस्थापन अनुपात के बराबर होता है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अप्रतिबन्धित अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय सब देशों को लाभदायक होगा। तुलनात्मक लागत और अवसर लागत में इतना अन्तर है कि जहाँ तुलनात्मक लागत में श्रम-लागत के आधार पर विनिमय अनुपात ज्ञात किये जाते हैं अवसर लागत में प्रतिस्थापन की सीमान्त दर के आधार पर विनिमय अनुपात निकाले जाते हैं। अवसर लागत सिद्धान्त उत्पत्ति के अनेक साधनों की मान्यता को लेकर चलता है और स्पष्ट करता है कि किन्हीं दो वस्तुओं (X और Y) के उत्पादन में उत्पत्ति के विभिन्न साधनों को किस अनुपात में प्रयुक्त किया जायगा, यह इस बात पर निर्भर रहेगा कि इन दोनों वस्तुओं के उत्पादन की सापेक्षिक मात्रा क्या है। यदि X का अधिक तथा Y का कम उत्पादन किया जाता है तो उन साधनों का अधिक प्रयोग किया जायगा जिनकी X के उत्पादन में आवश्यकता होती है अथवा जो X के उत्पादन के लिए अधिक उपयुक्त हैं। यदि उत्पत्ति का कोई साधन केवल एक ही वस्तु के उत्पादन के लिए विशिष्ट है तो जब तक उस वस्तु का इतनी पर्याप्त

मात्रा में उत्पादन नहीं किया जाता कि उस साधन की समस्त इकाइयों का प्रयोग किया जा सके। उस समय तक उस साधन का कोई मूल्य नहीं होता। यदि हम विशिष्ट और अविशिष्ट साधनों को लेकर अवसर लागत वक्र का निर्माण करें तो अविशिष्ट साधनों का अनुपात जितना अधिक होगा वक्र उतना ही अधिक चपटा (Flat) होगा और इनके उत्पादन किये जाने वाले संयोगों के परिवर्तन की तुलना में दोनों वस्तुओं के सापेक्षिक मूल्यों में परिवर्तन भी उतना ही कम होगा। किन्तु यदि अधिकांश उपलब्ध साधन किसी एक ही वस्तु के उत्पादन के लिए विशिष्ट हैं तो अवसर लागत वक्र में फुलाहट (Bulge) अधिक होगी तथा यदि माँग में परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पादन में परिवर्तन होता है तो सापेक्षिक मूल्यों में उल्लेखनीय (अधिक) परिवर्तन होगा।

प्रो. हैबरलर ने एक महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित किया है कि उत्पत्ति के विशिष्ट और गतिहीन साधनों की कीमतों एवं रोजगार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का क्या प्रभाव होगा। अन्तर-राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त की यह मान्यता है कि यह देश में उत्पत्ति के साधनों को पूर्ण गतिशील मानता है और इसके आधार पर बिना किसी क्षति के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा निर्धारित समायोजन देश में किये जा सकते हैं। जब उत्पत्ति के साधन विशिष्ट होते हैं जो तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन किये जाने पर भी प्रत्येक समायोजन से भारी हानि होती है। जैसे, जब एक देश में आयात कर समाप्त किया जाता है तो निश्चित ही उत्पादन में परिवर्तन होता है। इसका परिणाम यह होता है कि जिन उद्योगों को पहले संरक्षण प्राप्त रहता है उन पर से संरक्षण हटाये जाने से उनमें लगे साधनों का मूल्य घट जाता है यदि इन साधनों को अन्य उत्पादनों में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता अर्थात् ये विशिष्ट हैं। अतः इन साधनों के स्वामी को आय की क्षति होती है। इसी आधार को लेकर प्रशुल्क (Tariff) को हटाये जाने अथवा इसे कम किये जाने का विरोध किया जाता है। सम्भव है कि उक्त समायोजनों से भविष्य में कुछ लाभ हो किन्तु वर्तमान में होने वाली क्षति तथा भविष्य की अनिश्चितता को दृष्टि में रखते हुए ये समायोजन प्रायः नहीं किये जाते।

राष्ट्रीय आय और पूंजी—उक्त समायोजनों का जिस आधार पर विरोध किया जाता है, उसकी भूल की ओर इशारा करते हुए प्रो हैबरलर कहते हैं कि पूंजी में क्षति का आशय राष्ट्रीय आय की क्षति से नहीं है वरन यह तो केवल राष्ट्रीय आय के वितरण में परिवर्तन का प्रतीक है। अत. विशिष्ट साधनों के समायोजन से पूंजी की जिस क्षति की कल्पना की गयी है, वास्तविक क्षति इससे बहुत कम होती है। इसे स्पष्ट करने के लिए हैबरलर ने निम्न उदाहरण दिया है :

उदाहरण—मानलो एक देश में लौह अयस्क (Iron ore) का एक भण्डार है जिस पर उस देश का लोहे और इस्पात का कारखाना आधारित है। अब इस उद्योग को विदेशों से प्रतियोगिता करनी पड़ती है जिसके कारण लौह-इस्पात की कीमतें इतनी अधिक सीमा तक गिरती हैं कि इस उद्योग की प्राय. सारी इकाइयाँ बन्द होने लगती हैं। विदेश में लोहे और इस्पात के मूल्यों में निम्न किन्हीं कारणों से कमी हो सकती है (i) देश ने आयात कर में कटौती कर दी हो अथवा वहाँ परिवहन व्यय में कमी हो गयी हो। (ii) विदेशी उद्योग में तकनीकी विधियों में सुधार हुआ हो जो कि देश के उद्योग में सम्भव नहीं हो अथवा विदेश में सरकार ने उस उद्योग को आर्थिक सहायता दी हो (iii) यह भी सम्भव है कि मौद्रिक व्यवस्था में परिवर्तन के फलस्वरूप वहाँ लागतों में कमी हुई हो जैसे देश एकपक्षीय (Unilateral) भुगतान कर रहा हो और इन सब कारणों से विदेशी लोहा-इस्पात उद्योग में कीमतें स्थायी रूप से कम हो गयी हों।

देश में लोहा-इस्पात उद्योग की कुल प्राप्तियाँ और व्यय हम उदाहरण के लिए अग्रलिखित मान लेते हैं।

है। उनका कहना है कि यदि आन्तरिक मितव्ययताओं या बचतों (Internal Economies) के कारण उत्पादन घटती हुई लागत के अन्तर्गत होता है तो यह दीर्घकालीन प्रतियोगी सन्तुलन (Long Run Competitive Equilibrium) के अन्तर्गत सम्भव नहीं है क्योंकि किसी कारखाने में बड़े पैमाने के प्लान्ट के कारण ही इकाइयों की लागत घटती है और जहां बड़े पैमाने का प्लान्ट होगा, उसकी प्रवृत्ति एकाधिकार की ओर होगी। किन्तु प्रो ग्राहम की मान्यता है कि कृषि उत्पादन वाले देश में घटती हुई लागत वाले उद्योग में विदेशी प्रतियोगिता के कारण उत्पादन में कमी होती है। इससे स्पष्ट है कि वे उक्त उद्योग में प्रतियोगिता को स्वीकार करते हैं। परन्तु इसका विरोध करते हुए प्रो. हैबरलर कहते हैं कि "यह असम्भव मान्यता है, यदि उद्योग में घटती हुई लागतें कार्यशील हैं, तो उसमें काफी पहले ही एकाधिकार की स्थिति कायम हो जाती।"[1]

(2) उत्पादन में कमी नहीं—अब यदि घटती हुई लागतों के कारण घड़ी उद्योग में एकाधिकार की स्थिति विद्यमान है तो सम्भव है कि विदेशी प्रतियोगिता के कारण उद्योग में कीमतों और लाभ में कमी हो। किन्तु एकाधिकारी अपने उत्पादन में कमी नहीं करेगा क्योंकि उसका पूर्ति पर पूर्ण नियन्त्रण रहता है। वह इस बात का निर्धारण करेगा कि पूर्ति की मात्रा कितनी हो जिससे उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो। यह भी सम्भव है कि एकाधिकारी अपने उत्पादन की मात्रा बढ़ाकर अपनी सीमान्त लागत को कम कर ले तथा कीमत को घटाकर अपने देश और विदेश में उसके विक्रय को बढ़ाये। ऐसी स्थिति में प्रो ग्राहम का यह तर्क लागू नहीं होता कि घड़ी उद्योग में उत्पादन कम होगा।

(3) औसत और सीमान्त लागत में भ्रम—प्रो ग्राहम के विचार की दूसरी आलोचना यह है कि उन्होंने औसत और सीमान्त लागत में भ्रम पैदा कर दिया है। यह स्पष्ट है कि कीमत और उत्पादन का निर्धारण सीमान्त लागत के आधार पर किया जाता है न कि औसत लागत के आधार पर। यदि एक उद्योग से दूसरे उद्योग को साधनों को स्थानान्तरित करने से उत्पत्ति के सीमान्त मूल्य का ह्रास होता है तो फिर साधनों को स्थानान्तरित नहीं किया जायगा। प्रो. ग्राहम के उदाहरण में अमरीका में साधनों को घड़ी उद्योग से गेहूं उद्योग को स्थानान्तरित करने पर, घड़ियों के सीमान्त उत्पादन में ह्रास होता है जबकि गेहूं के उद्योग में केवल सीमान्त वृद्धि होती है। जैसा कि प्रो ग्राहम ने स्पष्ट किया है यदि अमरीका में साधनों को हस्तान्तरित करने पर घड़ियों के उत्पादन की X मात्रा का त्याग करना पड़ता है तथा व्यापार करने पर उसे घड़ियों की Y मात्रा प्राप्त होती है जिसमें X की तुलना में Y की मात्रा कम है, तो यह असम्भव है क्योंकि इसमें लाभ को अधिकतम करने की दशा की अवहेलना की गयी है। प्रो. जेकब वाइनर के शब्दों में, "यदि प्रो. ग्राहम ने दोनों उद्योगों की सीमान्त लागत और सीमान्त उत्पादन के सन्दर्भ में अपने तर्क की विवेचना की होती तो उनके परिणाम व्यापार के प्रतिकूल नहीं होते।"[2]

(4) बचतें और घटती हुई लागतें—यदि किसी फर्म को बाह्य बचतों तथा सम्बन्धित उद्योग में आन्तरिक बचतों के कारण उत्पादन घटती हुई लागत के अन्तर्गत हो रहा है तो क्या ग्राहम का तर्क लागू होता है? प्रो नाइट का विचार है कि एक फर्म की बाह्य बचतें अन्य किसी फर्म की आन्तरिक बचतें होनी चाहिए अतः उद्योग में किसी न किसी मात्रा में एकाधिकार की स्थिति विद्यमान रहती है। इसे दृष्टि में रखते हुए प्रो. ग्राहम का यह तर्क अमान्य हो जाता है कि उद्योग में प्रतियोगिता की स्थिति रहती है।

1 "This is an impossible assumption : if the industry is really subject to decreasing costs, it would long ago have been monopolised". —Haberler, *op. cit.* p. 204.

2 "Had Graham dealt with his problem in terms of marginal costs and marginal returns for both industries, he could not have obtained results so favourable to trade". —Jacob Viner, *op. cit.* p. 430

यद्यपि **प्रो. हैबरलर** ने ग्राहम के दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं किया है, फिर भी अपना सैद्धान्तिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए ऐसी स्थिति का प्रतिपादन किया है जहाँ उद्योग को अस्थायी संरक्षण दिया जा सकता है। उनके अनुसार यदि उद्योग को आन्तरिक बचत और सब फर्मों को बाह्य बचतों के कारण घटती हुई लागत के अन्तर्गत उत्पादन होता है तो ऐसी स्थिति में प्रत्येक फर्म जिसका उत्पादन बढ़ती हुई लागत के अन्तर्गत होता है अपने उत्पादन को बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित नहीं होती यद्यपि उत्पादन में विस्तार होने से समग्र रूप में उद्योग को लाभ हो सकता है। बढ़ती हुई विदेशी प्रतियोगिता के कारण, उद्योग में विस्तार न होकर संकुचन होता है। संकुचन के कारण उद्योग उन बाह्य बचतों से वंचित हो जाता है जो पहले उसे प्राप्त हो रही थीं अतः उसके अन्तर्गत उत्पादन करने वाली सब फर्मों की लागत बढ़ जाती है। अतः विदेशी प्रतियोगिता को रोकने के लिए प्रशुल्क (Tariff) के माध्यम से, उद्योग को अस्थायी संरक्षण देना आवश्यक है। इस प्रकार **प्रो. हैबरलर** ने ग्राहम द्वारा निकाले हुए निष्कर्ष को शिशु उद्योग तर्क के एक रूप के समान ही माना है।

उपर्युक्त आधार पर अल्पकालीन संरक्षण को उचित ठहराया जा सकता है। किन्तु **प्रो. ग्राहम** का दृष्टिकोण अल्पकालीन विचार पर आधारित न होकर बाह्य बचतों के संख्यात्मक माप से सम्बन्धित है। किन्तु इस सम्बन्ध में प्रो. हैबरलर का मत है कि "वास्तव में संरक्षण की नीति को बाह्य बचतों सरीखे अस्पष्ट एवं गणना में कठिन तत्व पर आधारित करना व्यावहारिक नहीं है।"[1] इसे दृष्टि में रखते हुए प्रो. ग्राहम की विचारधारा का व्यावहारिक क्षेत्र बहुत ही सीमित है।

किन्तु उपर्युक्त विवेचन का यह निष्कर्ष नहीं है कि प्रो. ग्राहम के तर्क की कोई मान्यता नहीं है। कुछ विशेष परिस्थितियों में घटती हुई लागत के अन्तर्गत उत्पादन करने वाले देश को स्वतन्त्र व्यापार से हानि हो सकती है। **प्रो. टिनबरजन** (Prof Tinbergen) ने भी ग्राहम के तर्क का समर्थन किया है।

घटती हुई लागतों का विशुद्ध सैद्धान्तिक विवेचन (बाह्य एवं आन्तरिक बचतों के सन्दर्भ में)
(PURE THEORETICAL DISCUSSION OF DECREASING COSTS—INTER CONTEXT OF EXTERNAL AND INTERNAL ECONOMIES)

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि माँग में विस्तार के कारण उत्पादन में विस्तार होता है तथा उत्पादन में वृद्धि होने से लागत में कमी होती है। यह लागत में कमी या तो आन्तरिक बचतों अथवा बाह्य बचतों के कारण हो सकती है। एक फर्म को होने वाली आन्तरिक बचत उसके आकार अथवा प्लाण्ट में वृद्धि के कारण होती है। बाह्य बचतों का सम्बन्ध एक फर्म के विस्तार से न होकर सम्पूर्ण उद्योग के विस्तार से होता है। इसमें भले ही किसी एक फर्म का विस्तार न हो, किन्तु उत्पादन की दशाओं में सुधार होने से फर्म को लाभ अवश्य होता है। किन्तु **शुम्पीटर** के समान कुछ अर्थशास्त्री ऐसे हैं जो स्थिर तकनीकी ज्ञान के अन्तर्गत घटती हुई लागतों को स्वीकार नहीं करते। उनका तर्क है कि माँग में विस्तार के कारण जब उद्योग का विस्तार होगा तो उसमें अधिक मात्रा में पहले से ही लगे उत्पत्ति के साधनों का मूल्य बढ़ जायगा अतः जैसे ही उत्पादन में वृद्धि होगी, वस्तुओं की मौद्रिक लागत में भी वृद्धि हो जायगी जिससे घटती हुई लागतों के अन्तर्गत उत्पादन सम्भव न होगा। किन्तु **प्रो. हैबरलर** के अनुसार यह मात्र मौद्रिक अभिव्यक्ति है। उनके अनुसार "यह निःसन्देह है कि बढ़ती हुई लागतों की प्रवृत्ति को आन्तरिक और बाह्य बचतों द्वारा स्थायी या अस्थायी रूप से प्रभावहीन या उससे अधिक किया जा सकता

---

1 "It is really not practicable to base a policy of protection upon phenomena so vague and difficult to estimate as external economics." —Haberler, *op. cit* p. 207.

है। जब ये बचतें बढ़ती हुई लागतों को प्रभावहीन बनाकर आगे बढ़ जाती हैं तो घटती हुई लागतें लागू होने लगती हैं। अब हम इन दोनों बचतों की विवेचना करेंगे :

1 आन्तरिक बचतों के कारण घटती हुई लागतें

कृषि के अतिरिक्त अन्य उद्योगों में, जैसे-जैसे उनके आकार में वृद्धि की जाती है, लागत में कमी होती है। यह लागत में कमी अथवा उत्पादन वृद्धि नियम आन्तरिक और बाह्य बचतों के कारण होता है। आन्तरिक बचतें वे बचतें होती हैं जो किसी फर्म में विस्तार के फलस्वरूप उस फर्म विशेष को प्राप्त होती हैं तथा उसी उद्योग में कार्यरत अन्य फर्मों को प्राप्त नहीं होतीं। फर्म में विस्तार होने से कई प्रकार की आन्तरिक बचतें हो सकती हैं जैसे श्रम विभाजन के कारण क्योंकि उत्पादन में विस्तार होने से श्रम विभाजन बड़े पैमाने पर किया जा सकता है और लागत में कमी की जा सकती है। दूसरी आन्तरिक बचत अविभाज्यता (Indivisibility) के कारण होती है। जैसे-जैसे उत्पादन में विस्तार होता है मशीनों का प्रयोग अधिक पूर्णता और सहनता के साथ किया जा सकता है एवं मशीनों की उतनी ही लागत में अधिक उत्पादन किया जा सकता है जिससे प्रति इकाई उत्पादन लागत घट जाती है। इसे उत्पादन की तकनीकी बचतें (Technical Economies of Production) कहते हैं। चूँकि मशीनें अविभाज्य होती हैं, यदि उनका प्रयोग कम उत्पादन के लिए किया जाय तो लागत बढ़ जाती है। तीसरी आन्तरिक बचत का कारण यह है कि फर्म का विस्तार होने से उसमें उसके अवशिष्ट पदार्थों (By Products) का उपयोग होने लगता है जिससे उत्पादन लागत घट जाती है। फर्म की चौथी आन्तरिक बचतों का सम्बन्ध बाजार सम्बन्धी बचतों से है अर्थात् बड़ी फर्में छोटी फर्मों की तुलना में, कच्चे माल का क्रय और पक्के माल का विक्रय अधिक सस्ती दरों पर कर सकती हैं जिससे उनकी प्रति इकाई बाजार लागत कम होती है। बड़ी फर्मों को पाँचवीं आन्तरिक बचतें वित्तीय बचतों से होती हैं क्योंकि ये बड़ी फर्में सरकार और बैंकों से अपनी साख के कारण सस्ते ब्याज की दर पर पूँजी प्राप्त कर सकती हैं। बड़ी फर्में उच्च वेतन देकर विशेषज्ञों की सेवाएँ प्राप्त कर सकती हैं तथा प्रचार और विज्ञापन पर भारी मात्रा में व्यय कर उससे काफी लाभ प्राप्त कर सकती हैं। इन सब आन्तरिक बचतों का परिणाम यह होता है कि उत्पादन लागत में कमी हो जाती है और जैसे-जैसे फर्म के आकार में वृद्धि होती है, उत्पादन में वृद्धि नियम क्रियाशील होता है।

एक स्थैतिक अर्थव्यवस्था में, आन्तरिक बचतों के कारण, घटती हुई लागतों की स्थिति हमें एकाधिकार की ओर ले जाती है क्योंकि अपनी प्रतिद्वन्द्वी फर्मों को उद्योग से निकालकर ही एक फर्म जो आन्तरिक बचत प्राप्त कर रही है, अपने आकार में वृद्धि कर सकती है। फर्म के आकार में वृद्धि उसी समय रुक सकती है जब या तो (i) ऐसी सीमा आ जाती है जिसके बाद फर्म के आकार में वृद्धि करने से ऐसी तकनीकी या प्रशासनिक कठिनाइयाँ आ जाती हैं जिनके कारण लागत घटने के बजाय बढ़ने लगती है या (ii) स्वतन्त्र प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है क्योंकि उत्पादन करने के लिए फर्म को व्यापक पैमाने पर प्लाण्ट और मशीनों की आवश्यकता होती है। अतः छोटी फर्में उद्योग में नहीं रह पाती तथा कुछ बड़ी फर्में संगठित होकर एकाधिकारी (Monopolistic) स्थिति प्राप्त कर लेती हैं। अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दीर्घकाल में आन्तरिक बचतों के कारण घटती हुई लागतों की स्थिति का स्वतन्त्र प्रतियोगिता के साथ सामंजस्य नहीं होता। यहाँ प्रो. ग्राहम का तर्क निराधार हो जाता है क्योंकि उनकी घटती हुई लागत की मान्यता स्वतन्त्र प्रतियोगिता पर आधारित है।

यह भी विचारणीय है कि यदि घटती हुई लागत के कारण उद्योग पहले से ही संगठित एकाधिकारी जैसे ट्रस्ट या कार्टेल के अन्तर्गत है तो भी क्या ग्राहम का तर्क लागू होता है? यदि उत्पादन बढ़ने से सीमान्त लागत घट रही हो तो एकाधिकारी उत्पादन बढ़ाने को बाध्य नहीं है।

वह ऐसा उसी स्थिति में करता है जब वस्तु की मांग इतनी लोचपूर्ण हो कि कुल लागत की तुलना में उसकी कुल आय अधिक हो। यदि उद्योग घटती हुई लागत के अन्तर्गत उत्पादन कर रहा है तो क्या विदेशी प्रतियोगिता के कारण उसके उत्पादन में कमी होगी जैसी कि प्रो. ग्राहम की मान्यता है। पिछले पृष्ठों में प्रो. ग्राहम के विचार की आलोचना में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि उक्त स्थिति में एकाधिकारी अपना उत्पादन कम नहीं करेगा वरन् उसे बढ़ाकर अपनी सीमान्त लागत कम करेगा एवं कीमतें घटाकर देश तथा विदेश में अपने विक्रय को बढ़ायेगा। इसमें यद्यपि विदेशों में माल बेचने से उसके लाभ में कमी होगी किन्तु समग्र रूप में विचार करने पर समाज को हानि नहीं होगी।

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि फर्म के आकार में वृद्धि होने से घटती हुई लागतों की स्थिति स्वतन्त्र व्यापार के विपक्ष में कोई तर्क नहीं है वरन् इसके विपरीत यह स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में तर्क है। स्वतन्त्र व्यापार का सबसे बड़ा लाभ यह है कि यह बाजार के विस्तार को बढ़ा देता है जिससे बड़े पैमाने के उत्पादन के अधिक लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं। इसके साथ ही बाजार के विस्तार के कारण एकाधिकारी प्रवृत्तियाँ भी नहीं पनप पाती। आजकल बड़े पैमाने के उत्पादन और एकाधिकार को दृष्टि में रखते हुए, उपर्युक्त बात छोटे देशों के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है।

2 बाह्य बचतों के कारण घटती हुई लागतें

एक उद्योग के समग्र रूप में विस्तार होने के फलस्वरूप उसे बाह्य बचतें प्राप्त होती हैं जिनका लाभ उस उद्योग की सब फर्मों को मिलता है। उद्योग में विस्तार के कारण उसका देश में प्रचार हो जाता है जिससे कुशल श्रमिकों की पूर्ति उस ओर प्रवाहित होती है जिससे सब फर्मों को लाभ होता है। ऐसे स्थानों में बहुत-से सहायक उद्योग स्थापित हो जाते हैं जो प्रमुख उद्योग की बड़ी फर्मों को मध्यवर्ती वस्तुएँ (Intermediate Goods) एवं अन्य उत्पादनों की पूर्ति करने लगते हैं। कई फर्में मुख्य फर्मों के अवशिष्ट पदार्थों का उपयोग भी करने लगती हैं। ऐसे केन्द्रों में तकनीकी प्रशिक्षण और शोध संस्थान भी स्थापित हो जाते हैं जिससे सारी फर्मों को लाभ होता है। इसके साथ ही ऐसे स्थानों में विशिष्ट बैंकिंग और यातायात की सुविधाएँ भी उपलब्ध होने लगती हैं। उद्योग की फर्में संगठित होकर बिजली की पूर्ति में रियायत एवं रियायती दर पर दुर्लभ कच्चे माल आदि भी सरकार से प्राप्त कर सकती हैं। इन सब बचतों का परिणाम यह होता है कि लागत में कमी होने लगती है।

बाह्य बचतों के कारण, लागत एवं कीमतों में कमी दीर्घकाल में ही होती है एवं ये बचतें उद्योग को प्राप्त होती हैं। यदि केवल एक फर्म अपने उत्पादन को बढ़ाकर बाह्य बचतें प्राप्त करना चाहे तो यह सम्भव नहीं है वरन् यह सम्भव है कि उसकी लागतें बढ़ जायें। आंतरिक और बाह्य बचतों में मुख्य अन्तर यह है कि व्यक्तिगत फर्म के विस्तार स्वरूप जो आन्तरिक बचतें होती हैं, उनकी साहसी द्वारा गणना की जा सकती है एवं निजी प्रोत्साहन द्वारा इन आन्तरिक बचतों को प्राप्त किया जा सकता है। दूसरी ओर, एक उद्योग के विस्तार के कारण होने वाली बाह्य बचतें सारी फर्मों को प्राप्त होती हैं। चूंकि ये अस्पष्ट और अनिर्धारणीय होती हैं, उनकी गणना करना सरल नहीं है। यदि किसी फर्म के विस्तार से उसे बाह्य बचतें होती हैं, तो उनका लाभ अन्य फर्में भी प्राप्त कर लेती हैं जबकि उस फर्म को इसके लिए कोई विशेष भुगतान नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में निजी प्रोत्साहन द्वारा बाह्य बचतों को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

यह सम्भव है कि एक उद्योग जो बाह्य बचतों के लाभ प्राप्त कर रहा है, उद्योग के अधिक विस्तार से उन लाभों को बढ़ा सके परन्तु प्रतियोगिता के कारण यह सम्भव नहीं हो पाता। यह विस्तार इसलिए सम्भव नहीं हो पाता क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिगत फर्म बढ़ती हुई लागतों के

अन्तर्गत उत्पादन करती है। दूसरी ओर सम्भावना यह है कि विदेशी प्रतियोगिता के बढ़ते हुए दबाव के कारण उद्योग के उत्पादन में सकुचन हो। उत्पादन में सकुचन के कारण, पूर्व में जो बाह्य बचतें प्राप्त हो रही थी वे समाप्त होने लगती हैं एवं उद्योग में बची हुई फर्मों की लागत बढ़ने लगती है। ऐसी स्थिति में यदि उद्योग को अस्थायी सरक्षण दिया जाय तो वह जीवित रह सकता है एवं विस्तार करके बाह्य बचतों के लाभ प्राप्त कर सकता है। यहाँ प्रो ग्राहम का सरक्षण देने का तर्क उचित जान पड़ता है किन्तु केवल बाह्य बचतों को आधार बनाकर जो इतनी अनिश्चित हैं, सरक्षण का समर्थन नहीं किया जा सकता।

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि यद्यपि बाह्य बचतें प्राप्त होती हैं किन्तु उनकी निम्न तीन सीमाएँ हैं

(i) घटती हुई लागतों की प्रवृत्ति अनिश्चित काल तक नहीं रह सकती। एक निश्चित सीमा के बाद उक्त प्रवृत्ति कार्यशील नहीं होती। यदि इस सीमा के बाद भी उत्पादन का विस्तार होता है तो फर्मों को अमितव्ययताएँ (Diseconomies) होने लगती हैं तथा उनकी उत्पादन की लागत बढ़ने लगती है।

(ii) एक बचत जो एक उद्योग के लिए बाह्य बचत है तथा दूसरे उद्योग के लिए आन्तरिक बचत है, वह वर्तमान तर्क के अन्तर्गत नहीं आती।

(iii) अधिकाशत बाह्य बचतें केवल एक व्यक्तिगत उद्योग को ही लाभान्वित नहीं करती वरन् साथ ही साथ अन्य उद्योगों को भी इससे लाभ होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सैद्धान्तिक अर्थों में घटती हुई लागतें अपवादस्वरूप ही लागू होती हैं। यह सम्भव नहीं है कि बाह्य बचतें, बढ़ती हुई लागत की स्थायी प्रवृत्ति को लागू होने से रोक सकें। अत हम यह मानकर कोई भारी त्रुटि नहीं करेंगे कि सामान्यत. लागतें वृद्धिशील होती हैं।

घटती हुई लागतों की स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

अब बहुत से अर्थशास्त्री यह स्वीकार करने लगे हैं कि आन्तरिक एवं बाह्य बचतों के फलस्वरूप घटती हुई लागतों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है। घटती हुई लागतें इस प्रश्न का उत्तर हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्यों होता है? यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार देश को पूर्ण विशिष्टीकरण की ओर ले जाता है। आन्तरिक बचतों के कारण घटती हुई लागतों के अन्तर्गत जो व्यापार होता है वह लाभदायक होता है। स्वतन्त्र व्यापार में बाजार का विस्तार होता है तथा बड़े पैमाने के उत्पादन के लाभों में वृद्धि की जा सकती है। एक ऐसा उद्योग जो उत्पादन में सकुचन के कारण बढ़ती हुई लागतों के अन्तर्गत उत्पादन कर रहा है, यदि वह बचतों का लाभ उठाकर अपने उत्पादन का विस्तार कर सकता है तो घटती हुई लागतों का लाभ उठा सकता है। स्वतन्त्र व्यापार के कारण यह उद्योग अपने उत्पादन का विस्तार कर सकता है। अत: इस बात के लिए कोई औचित्य नहीं है कि छोटे देश में घटती हुई लागतों के अन्तर्गत उत्पादन करने वाले देश को अपने उत्पादन का विस्तार कर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रवेश नहीं करना चाहिए।

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि जब आन्तरिक बचतों के कारण घटती हुई लागतों के अन्तर्गत व्यापार होता है तो स्वतन्त्र प्रतियोगिता के स्थान पर एकाधिकार की स्थिति विद्यमान हो जाती है। यदि ऐसी स्थिति में सरक्षण की नीति अपनायी जाय तो एकाधिकारी की स्थिति मजबूत होती है। किन्तु स्वतन्त्र व्यापार में प्रतियोगिता बनी रहती है तथा एकाधिकार को शक्तिहीन किया जा सकता है। अत घटती हुई लागतें, स्वतन्त्र व्यापार के विरोध में तर्क न होकर उसके पक्ष में एक तर्क है।

किन्तु प्रो केम्प (Prof. Murray C. Kemp) ने उपर्युक्त तर्क की एक कमजोरी की ओर संकेत किया है। उनका मत है कि आन्तरिक बचतों के कारण घटती हुई लागतों के अन्तर्गत जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता है, उससे बड़े एकाधिकार स्थापित हो सकते है तथा इससे प्रत्येक देश में एक ही उत्पादक (Single Producer) स्थापित हो जायगा और यदि व्यापार करने वाले देशों में कोई एक देश बहुत बड़ा है तो "यह सम्भव है कि विश्व का एकमात्र उत्पादक अपने आपको स्थापित कर लेगा। किसी भी स्थिति में उस उद्योग में पूर्ण प्रतियोगी दशाएँ विद्यमान नहीं हो सकती।[1]

जहाँ तक बाह्य बचतों के कारण घटती हुई लागतों का सम्बन्ध है, इसके अन्तर्गत प्रतियोगी दशाओं में भी स्वतन्त्र व्यापार हो सकता है। एक फर्म की बाह्य बचतों तथा उसकी बढ़ती हुई सीमान्त लागत में सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है क्योंकि बाह्य बचतों का सम्बन्ध तो समग्र उद्योग के विस्तार से होता है। बाह्य बचतों में जो घटती हुई लागत की स्थिति विद्यमान होती है इसमें सीमान्त निजी लाभों (Marginal Private Benefits) की तुलना में सीमान्त सामाजिक लाभ (Marginal Social Benefits) अधिक होते हैं।

बाह्य बचतों के सम्बन्ध में हम प्रो ग्राहम एवं प्रो हैबरलर के विचारों का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विशेष सन्दर्भ में पिछले पृष्ठों में विवेचन कर चुके हैं अतः अब उन्हें यहाँ दोहराया नहीं जायगा। केवल निष्कर्ष के रूप में यह कहना पर्याप्त होगा कि घटती हुई लागतों के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का क्षेत्र विस्तृत होता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. बढ़ती हुई लागतों एवं घटती हुई लागतों की दशा में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार किस तरह कार्यान्वित होता है ? समझाइए।
2. विभिन्न प्रतिफल नियम तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को किस प्रकार प्रभावित करते हैं ? क्या लगातार बढ़ते हुए विश्व व्यापार का यह अर्थ है कि क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम लागू नहीं हो रहा है ?
3. "यह दिखाया जा सकता है कि बढ़ती हुई लागतों का नियम अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के क्षेत्र को सीमित करता है किन्तु घटती हुई लागतों का नियम उसे बढ़ाता है।" व्याख्या कीजिये।

Selected Readings

1. Haberler — *The Theory of International Trade*
2. Kemp Murray C — *The Pure Theory of International Trade*
3. Ellsworth — *The International Economy*
4. Ray & Kundu — *International Economics*
5. K. R Gupta — *International Economics*

1 "It seems probable that a single world producer would eventually establish himself. In any case, perfectly competitive conditions can not possibly prevail in that industry" —M. C. Kemp, *The Pure Theory of International Trade*" 1966, p. 111.

अध्याय **10**

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में माँग व पूर्ति की दशाएँ अथवा जे. एस. मिल का पारस्परिक माँग का सिद्धान्त

[SUPPLY AND DEMAND CONDITIONS IN INTERNATIONAL TRADE OR MILL'S THEORY OF RECIPROCAL DEMAND]

परिचय

रिकार्डो ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के माध्यम से यह समझाने का प्रयत्न किया था कि कैसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ होता है किन्तु वे यह स्पष्ट नहीं कर सके कि दो देशों के बीच विनिमय की जाने वाली वस्तुओं का सही अनुपात कैसे निर्धारित किया जाता है अथवा विभिन्न देशों में व्यापार से होने वाला लाभ कैसे वितरित होता है ? हम यह कह सकते हैं कि रिकार्डो ने व्यापार के गुणात्मक (Qualitative) पक्ष को तो प्रकट किया किन्तु वे इसके परिमाणात्मक (Quantitative) पक्ष को स्पष्ट नहीं कर सके। यह कार्य अन्तिम प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री प्रो. जे. एस. मिल ने किया। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों का निर्धारण कैसे होता है और इसी सन्दर्भ में यह बताया कि दो देशों में वस्तु विनिमय की व्यापार शर्तों का निर्धारण अन्तर्राष्ट्रीय माँग के समीकरण (Equation of International Demand) द्वारा होता है जिसे पारस्परिक माँग (Reciprocal Demand) का सिद्धान्त भी कहते हैं। यहाँ वस्तु विनिमय की व्यापार शर्तों से आशय उस वास्तविक अनुपात से है जिस पर वस्तुओं का व्यापार किया जाता है। यह विनिमय का अनुपात केवल लागत अथवा पूर्ति की दशाओं पर ही निर्भर नहीं रहता वरन् माँग की दशाओं का भी इस पर प्रभाव पड़ता है। इन माँग की दशाओं की विस्तृत व्याख्या कर प्रो. मिल ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की एक बहुत बड़ी कमी दूर कर दी है। प्रो. मिल के बाद प्रो. मार्शल ने भी अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य एवं माँग से सम्बन्धित सिद्धान्त को विकसित किया। यहाँ हम प्रो. मिल एवं मार्शल के सिद्धान्तों का विवेचन करेंगे।

मिल का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य अथवा पारस्परिक माँग का सिद्धान्त

संक्षेप में मिल के सिद्धान्त की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है, "वस्तुओं के बीच व्यापार होने का वास्तविक अनुपात एक देश की अन्य देश की वस्तु के लिए माँग की तीव्रता अथवा पारस्परिक माँग पर निर्भर रहता है।" यदि एक देश के निर्यातों का मूल्य ठीक उसके आयातों के मूल्य के बराबर है तो यह विनिमय अनुपात स्थिर (Stable) रहेगा।

हम दो देशों इंगलैण्ड और जर्मनी का उदाहरण देकर इसे स्पष्ट कर सकते हैं। मान लो इंगलैण्ड में एक दिन के श्रम से गेहूँ की 10 या कपड़े की 3 इकाइयों का उत्पादन किया जा सकता है। जर्मनी में इतने ही श्रम से गेहूँ की 10 या कपड़े की 8 इकाइयों का उत्पादन किया जा सकता है। रिकार्डो के अनुसार जर्मनी की तुलना में इंगलैण्ड गेहूँ के उत्पादन में अधिक कुशल

है तथा इंगलैण्ड की तुलना मे जर्मनी कपडे के उत्पादन मे अधिक कुशल है। यहाँ स्पष्ट है कि चूंकि दोनों देशो मे तुलनात्मक लागत मे अन्तर है, व्यापार करना दोनो देशो के लिए लाभदायक होगा। किन्तु यहाँ प्रश्न है कि वस्तुओं के विनिमय का वास्तविक बिन्दु क्या होगा ? एक बात तो स्पष्ट है कि व्यापार मे जो भी विनिमय का अन्तिम अनुपात होगा, वह देश के विनिमय से बाहर नहीं होगा अर्थात् इंगलैण्ड अपने ही देश मे 10 गेहूँ की इकाइयों के बदले कपडे की 3 इकाइयाँ प्राप्त कर सकता है तो वह 10 गेहूँ की इकाइयों के बदले कपडे की 3 से कम इकाइयाँ लेने को तैयार नहीं होगा। इसी प्रकार जर्मनी भी कपडे की 8 इकाइयों के बदले गेहूँ की 10 इकाइयों से कम लेने को तैयार नहीं होगा। स्पष्ट है कि अन्तिम विनिमय अनुपात दो सीमाओं के बीच होगा—एक तो यह कि देश मे दोनो वस्तुओं की उत्पादन लागत का क्या अनुपात है और दूसरे, अन्य देश मे इनकी उत्पादन लागत का क्या अनुपात है। प्रो मिल ने यह बताने के लिए कि उक्त दोनो सीमाओं के बीच किस बिन्दु पर विनिमय अनुपात निर्धारित होता है, "अन्तर्राष्ट्रीय माँग के समीकरण" का प्रतिपादन किया जो कि उनके ही शब्दो मे इस प्रकार है, "एक देश के उत्पादन का विनिमय दूसरे देश के उत्पादन से ऐसे मूल्यो पर होता है जहाँ उसके सम्पूर्ण निर्यात ठीक उसके समूचे आयातो का भुगतान कर देते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य का यह सिद्धान्त मात्र मूल्य के सामान्य नियम का विस्तार है जिसे हम माँग और पूर्ति का समीकरण कहते हैं।"[1]

उपर्युक्त उदाहरण मे प्रो मिल के अनुसार, हम प्रत्येक सम्भावित कीमत-अनुपात पर माँग और पूर्ति की तालिका तैयार कर सकते है अर्थात् इंगलैण्ड गेहूँ की कितनी इकाइयों का निर्यात करना चाहेगा तथा जर्मनी गेहूँ की कितनी इकाइयों का आयात करना चाहेगा एवं जर्मनी कपडे की कितनी इकाइयों का निर्यात और इंगलैण्ड कपडे की कितनी इकाइयों का आयात करना चाहेगा। इन विभिन्न कीमतो मे एक कीमत-अनुपात ऐसा होगा जिस पर आयात और निर्यात सन्तुलित हो जाते है। इस सन्तुलन-कीमत पर आयात और निर्यात गुणात्मक और परिमाणात्मक दोनो दृष्टि से सन्तुलित हो जाते है। यदि हम व्यापार की शर्तों का सन्तुलन गेहूँ की 10 इकाइयाँ= कपडे की 5 इकाइयाँ (10 . 5) मानकर चलते है तो इंगलैण्ड जो गेहूँ के उत्पादन मे विशिष्टीकरण करता है, इससे लाभान्वित होता है क्योंकि उसे गेहूँ की 10 इकाइयों के बदले कपडे की 5 इकाइयाँ मिल जाती है जबकि अपने देश मे वह गेहूँ की 10 इकाइयों के बदले कपडे की सिर्फ 3 इकाइयाँ ही प्राप्त कर सकता है। जर्मनी भी इससे लाभान्वित होता है क्योंकि वह कपडे की 5 इकाइयों के बदले गेहूँ की 10 इकाइयाँ प्राप्त कर सकता है जबकि अपने ही देश मे गेहूँ की 10 इकाइयाँ प्राप्त करने के लिए उसे कपडे की 8 इकाइयाँ देनी पडती है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभो का निर्धारण करने मे व्यापार की शर्तों का महत्वपूर्ण हाथ रहता है। अपने लाभ को बढाने के लिए प्रत्येक देश, व्यापार की शर्तों को दूसरे देश के लागत-अनुपात की ओर धकेलना चाहता है, जैसे इंगलैण्ड चाहेगा कि गेहूँ और कपडे का विनिमय अनुपात 10 . 8 के आस-पास हो जबकि जर्मनी चाहेगा कि कपडे और गेहूँ का विनिमय अनुपात 3 : 10 के आस-पास हो। अब वास्तव मे देश को कितना लाभ होगा, यह इस बात पर निर्भर रहेगा कि उसकी वस्तु के लिए अन्य देश की कितनी माँग है एवं माँग की लोच क्या है तथा स्वयं उसके लिए अन्य देश की वस्तु की माँग की लोच कैसी है ? वास्तव मे मिल ने "माँग की लोच" शब्द का

1 "The produce of a country exchanges for the produce of other countries, at such values as are required in order that the whole of her exports may exactly pay for the whole of her imports This law of international values is but an extension of the more general law of value, which we called the equation of Supply and Demand."
—J. S Mill, *Principles of Political, Economy*, pp 592-93.

प्रयोग नही किया है। इस माँग की मात्रा और विस्तारशीलता (amount and extensibility) का प्रयोग किया है जो मार्शल की "माँग की लोच" के समकक्ष ही है।

एक कल्पित उदाहरण को दृष्टि मे रखते हुए हम निम्न तालिका द्वारा मिल के माँग के समीकरण को अच्छी तरह व्यक्त कर सकते है :

तालिका 10 I

इंगलैण्ड और जर्मनी की माँग और पूर्ति की अनुसूचियाँ

अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अनुपात गेहूँ की एक इकाई के बदले मिलने वाली कपड़े की इकाइयाँ	जर्मनी की माँग और पूर्ति की तालिका (इकाइयो मे)		अमेरिका की माँग और पूर्ति की तालिका (इकाइयो मे)	
	गेहूँ की माँग	कपड़े की पूर्ति	कपड़े की माँग	गेहूँ की पूर्ति
1·5 कपड़ा = 1 गेहूँ	(800)[1]	—	1,800	1,200
1·4 ,, = 1 ,,	900	1,260	1,540	1,100
1·3 ,, = 1 ,,	1000	1,300	1,300	1,000
1·2 ,, = 1 ,,	1,100	1,320	1,080	900
1·1 ,, = 1 ,,	1,300	1,430	880	800
1·0 ,, = 1 ,,	1,500	1,500	(800)[1]	—

उपर्युक्त तालिका अमरीका और जर्मनी के इस गृह विनिमय अनुपात पर आधारित है कि अमरीका में कपड़े और गेहूँ का विनिमय अनुपात 1 : 1 है तथा जर्मनी में यही विनिमय अनुपात 1·5:1 है। स्पष्ट है कि दोनो मे व्यापार शुरू होने पर अमरीका गेहूँ के उत्पादन मे तथा जर्मनी कपड़े के उत्पादन म विशिष्टीकरण करेगा तथा उक्त दोनो सीमाओ के बीच अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अनुपात होना चाहिए जो देशो की तुलनात्मक लागत पर आधारित है।

उपर्युक्त तालिका मे जैसे-जैसे हम ऊपर से नीचे की ओर आते है, गेहूँ की तुलना मे कपड़ा मँहगा होता जाता है अत. अगली व्यापार की शर्त पर अमरीका द्वारा कपड़े की माँग कम होती जाती है जबकि जर्मनी अधिक कपड़े की पूर्ति करने को तैयार है। इसके विपरीत जैसे-जैसे हम नीचे से ऊपर की ओर जाते है गेहूँ की तुलना मे कपड़ा सस्ता होता जाता है अथवा गेहूँ का मूल्य बढ़ता जाता है इस व्यापार की शर्त पर अमरीका अधिक गेहूँ की पूर्ति करने को तैयार है किन्तु जर्मनी की गेहूँ की माँग क्रमशः घटती जाती है। जब व्यापार की शर्तें 1·3 कपड़ा = 1 गेहूँ है तो सन्तुलन स्थापित हो जाता है अर्थात् इस विनिमय अनुपात पर जर्मनी की गेहूँ की माँग 1,000 इकाइयाँ है तथा अमरीका की गेहूँ की पूर्ति भी इतनी ही है। इसी प्रकार इस विनिमय अनुपात पर कपड़े की पूर्ति और माँग (1,300) भी बराबर है। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि व्यापार की शर्तों को निर्धारित करने मे माँग की लोच का महत्वपूर्ण हाथ रहता है।

इस ओर अधिक स्पष्ट करते हुए प्रो हैबरलर कहते है कि दोनो देशो के बीच कौन-सा विनिमय अनुपात स्थापित होगा यह माँग और पूर्ति की तालिका पर निर्भर रहता है जिसके दो पहलू इस प्रकार है

(i) किसी दिये हुए विनिमय अनुपात पर माँग एवं पूर्ति की जाने वाली वस्तु की मात्रा जो क्रमश: प्रत्येक देश के बाजार और उत्पादन पर निर्भर रहती है, एवं

(ii) माँग की लोच अर्थात् सापेक्षिक कीमतो के गिरने (बढ़ने) से माँगी जाने वाली मात्रा मे कितनी वृद्धि (कमी) होती है।

---

1 इस विनिमय अनुपात पर निर्यात नही किया जायगा। कोष्ठक मे दिखायी गयी इकाइयो का उत्पादन देश मे ही किया जायगा।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम प्रो मिल के पारस्परिक माँग के सिद्धान्त की निम्न तीन विशेषताओं का उल्लेख कर सकते है :

(i) उन सीमाओं का निर्धारण जिनके अन्तर्गत वस्तु विनिमय की व्यापार की शर्तें निर्धारित होती है, देश के लागत अनुपात द्वारा होता है तथा देश में वस्तुओं का लागत अनुपात तुलनात्मक लागत द्वारा तय होता है।

(ii) उक्त सीमाओं के अन्तर्गत, वास्तविक विनिमय का अनुपात इस पर निर्भर रहता है कि अन्य देश की वस्तु के लिए उसकी माँग कितनी है। एवं

(iii) व्यापार की शर्तों में सन्तुलन उस समय स्थापित होगा जब एक देश द्वारा माँगी जाने वाली वस्तुओं का मूल्य, अन्य देश द्वारा माँगी जाने वाली उसकी वस्तुओं के मूल्य के बराबर होगा।

प्रो मिल के सिद्धान्त के सम्बन्ध में प्रो ग्राहम के विचार—इस सम्बन्ध में प्रो ग्राहम का कथन है कि जब तक व्यापार दो समान देशों और केवल दो ही वस्तुओं में न हो, इस बात की सम्भावना है कि विनिमय अनुपात दो सीमाओं में से किसी एक के नजदीक होगा। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अनुपात पर माँग की दशाओं का प्रभाव नही पडता। उनके अनुसार यदि निर्यात और आयात की जाने वाली वस्तुओं की वास्तविक और सम्भावित सख्या अधिक है तो उस वस्तु को निर्यात की श्रेणी में लाने के लिए जिसकी कीमत निर्यात बिन्दु के ठीक ऊपर ही है, विनिमय अनुपात और दोनों देशों के मजदूरी के स्तर मे थोडा-सा परिवर्तन करना पड़ेगा। इससे सहमत होते हुए प्रो. हैबरलर कहते है कि जब निर्यात और आयात की जाने वाली वस्तुओं की संख्या अधिक हो तो विनिमय अनुपात अधिक स्थायी हो सकता है। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नही निकाला जाना चाहिए कि माँग की तालिकाओं का विनिमय अनुपात पर कोई प्रभाव नही होता क्योकि इसका अर्थ यह होगा कि कीमत पर माँग का कोई प्रभाव नही पड़ता जो कि गलत है।

प्रो. मिल के सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन
(CRITICAL EVALUATION OF MILL'S DOCTRINE)

प्रो मिल ने पारस्परिक माँग का सिद्धान्त प्रतिपादित कर रिकार्डो की एक बहुत बडी कमी को दूर किया तथा अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर, व्यापार की शर्तों को निर्धारित करने मे माँग की भूमिका पर बल दिया। प्रो मिल ने एक ऐसी पृष्ठभूमि तैयार की जिसके आधार पर मार्शल ने इस सिद्धान्त का रेखाचित्रीय विश्लेषण किया। इसके साथ ही उन्होंने अपने सिद्धान्त को दो से अधिक वस्तुओं और दो से अधिक देशो पर भी लागू किया और बताया कि बहुपक्षीय विनिमय भी हो सकता है तथा एक ही साम्य बिन्दु के स्थान पर बहु साम्य बिन्दु (Multiple Equilibria) भी हो सकते है।

मिल के उक्त योगदान के बावजूद भी उनके विश्लेषण की निम्न आलोचना की जाती है

(1) **पूर्ति सम्बन्धी दशाओं की अवहेलना**—प्रो. मार्शल का मत है कि प्रो मिल ने अपने सिद्धान्त मे यद्यपि माँग पक्ष पर अधिक बल दिया है, किन्तु पूर्ति सम्बन्धी दशाओं की अवहेलना की है। केवल माँग की दशाएँ ही व्यापार शर्तों को निर्धारित नही करती वरन् पूर्ति का भी इनके निर्धारण मे महत्वपूर्ण हाथ होता है। मार्शल के शब्दो मे, "विदेशी वस्तुओं के लिए एक देश की प्रभावपूर्ण माँग की लोच न केवल उसकी सम्पत्ति और उनके लिए देश की जनसख्या की इच्छाओं की लोच द्वारा प्रभावित होती है वरन् अपनी विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की पूर्ति को विदेशी बाजारों की माँग के अनुरूप समायोजित करने की क्षमता का भी माँग की लोच पर प्रभाव पड़ता है।"

(2) **व्यापार से बड़े देश भी समान लाभ प्राप्त कर सकते हैं—प्रो. मार्शल** ने, प्रो. मिल की इस धारणा की भी आलोचना की है कि व्यापार से बड़े देश, छोटे देशों की अपेक्षा कम लाभ प्राप्त करते हैं क्योंकि बड़े देशों की मांग अधिक होती है जिससे व्यापार की शर्तें उनके अनुकूल नहीं हो पाती। किन्तु यह विचार उचित नहीं है क्योंकि एक बड़ा और धनी राष्ट्र भी निम्न उपायों से व्यापार की शर्तों को अपने अनुकूल बना सकता है—(i) नयी वस्तुओं का प्रचलन कर बाजार का विस्तार कर सकता है। (ii) सुसंगठित व्यापारिक सम्बन्धों से लाभ प्राप्त कर सकता है। (iii) निर्यात बढ़ाने के लिए नये बाजारों की खोज कर सकता है। (iv) छोटे देशों की तुलना में, माँग के अनुसार पूर्ति का समायोजन अच्छी तरह कर सकता है। इसके अतिरिक्त प्रतिबन्ध लगाकर व्यापार की शर्तों में सुधार कर सकता है।

(3) **माँग की प्रभावहीनता—प्रो. ग्राहम** ने मिल के सिद्धान्त की आलोचना इस आधार पर की है कि अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अनुपात को निर्धारित करने में माँग की दशाओं का कोई प्रभाव नहीं होता। इसकी विवेचना हमने पिछले पृष्ठों में की है तथा यह कहा जा सकता है कि **प्रो. ग्राहम** की आलोचना तर्कपूर्ण नहीं है क्योंकि जिस प्रकार आन्तरिक मूल्यों पर माँग का प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अनुपात को निर्धारित करने में भी माँग की लोच महत्वपूर्ण है।

मार्शल द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों के सिद्धान्त का सामान्यीकरण

(MARSHALL'S GENERALISATION OF THE THEORY OF INTERNATIONAL VALUES

जब एक देश की निर्यात और आयात की अनेक वस्तुएँ होती हैं और इन दोनों की कोई विभाजक रेखा दी हुई नहीं रहती तथा इसका निर्धारण करना होता है तो इस बात का निश्चय कर पाना कठिन होता है कि उस देश की माँग और पूर्ति क्या है? इसका कारण यह भी है कि निर्यात और आयात की जाने वाली वस्तुओं की संख्या भी स्थिर नहीं रहती। इस कठिनाई को दूर करने के लिए मार्शल ने निर्यात की जाने वाली वस्तुओं को एक इकाई मान लिया और उसे गाँठ इकाइयों (*Bale Units*) की संज्ञा दी। उन्होंने जर्मनी की वस्तुओं के निर्यात को G-Bales तथा इंगलैण्ड की वस्तुओं के निर्यात को E-Bales माना। गाँठ की इकाई को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं कि इसमें श्रम और पूँजी की स्थिर मात्रा रहती है। इसकी वास्तविक लागत स्थिर रहती है जबकि एक वस्तु विशेष में परिवर्तन हो सकता है। मार्शल का विवेचन मूल्य के श्रम सिद्धान्त पर आधारित है। उन्होंने निर्यात वस्तुओं के लिए 'प्रतिनिधि गाँठ' (Representative Bale) की संज्ञा दी है जिसे हम एक देश में श्रम की स्थिर संख्या द्वारा उत्पादन भी कह सकते हैं।

मान्यताएँ—मार्शल का सिद्धान्त निम्न मान्यताओं पर आधारित है:

(i) व्यापार केवल दो देशों के बीच होता है तथा ये अन्य देशों के साथ व्यापार नहीं करते।

(ii) परिवहन व्यय का भार निर्यात करने वाला देश वहन करता है।

(iii) केवल व्यापार से पैदा होने वाले भुगतान ही देशों द्वारा किये जाते हैं, अन्य भुगतान करने के लिए ये बाध्य नहीं हैं।

(iv) प्रत्येक देश की मुद्रा का मूल्य उसकी अर्थव्यवस्था तक ही सीमित है।

(v) प्रत्येक देश निर्यात की गयी वस्तुओं का प्रतिशोधन वस्तुओं का आयात करके करता है एवं इससे विदेशी मुद्रा की समस्या हल हो जाती है।

मार्शल ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के निर्धारण में माँग और पूर्ति दोनों पर बल दिया है। उन्होंने अगले पृष्ठ पर दो तालिका के माध्यम से जर्मनी और इंगलैण्ड के बीच व्यापार की सम्भावनाओं को दिखाया है।

तालिका 10 2[1]

व्यापार की शर्त (100-E गाँठों के बदले मिलने वाली G-गाँठें)	जर्मन गाँठों के लिए इगलैंड की माँग	E-गाँठों की इंगलैण्ड द्वारा पूर्ति	कीमत 100-E गाँठों के लिए G गाँठों में	जर्मनी द्वारा G-गाँठो की पूर्ति (3) के विनिमय में
1	2	3	4	5
10	1,000	10,000	230	23,000
20	4,000	20,000	175	35,000
30	9,000	30,000	143	42,900
35	14,000	40,000	122	48,800
40	20,000	50,000	108	54,000
46	27,600	60,000	95	57,000
55	28,500	70,000	86	60,200
68	54,400	80,000	$82\frac{1}{2}$	66,200
78	70,200	90,000	78	70,200
83	83,000	100,000	76	76,000
86	94,600	110,000	$74\frac{1}{2}$	81,950
$88\frac{1}{2}$	1,06,200	120,000	$73\frac{3}{4}$	88,500

उपर्युक्त तालिका में खण्ड 1-3 में इगलैण्ड की माँग तालिका व्यक्त की गयी है अर्थात् यह उन शर्तों की सूची है जिन पर इग्लैण्ड व्यापार करने को तैयार है तथा खण्ड 3-5 में जर्मनी की माँग तालिका प्रस्तुत की गयी है अर्थात् यह उन शर्तों की सूची है जिन पर जर्मनी व्यापार करने को तैयार है। तालिका से स्पष्ट है कि इग्लैण्ड 1000 जर्मनी की गाँठों के बदले 10,000 गाँठें देने को तैयार है किन्तु जर्मनी 10,000 E-गाँठों के बदले 23,0000 गाँठें देने को तैयार है अर्थात् G-गाँठों की पूर्ति माँग से बहुत अधिक है। दूसरी पंक्ति में, इग्लैण्ड 4,000 G-गाँठों के बदले 20,000 गाँठें देने को तैयार है किन्तु जर्मनी 20,000 E-गाँठों के बदले 35,000 गाँठें देने को तैयार है अर्थात् यहाँ भी G-गाँठों की पूर्ति माँग से अधिक है। अन्तिम पंक्ति में, इग्लैण्ड 1,06,200 जर्मनी की गाँठों के बदले 1,20,000 गाँठें देने को तैयार है किन्तु जर्मनी 1 20 000 गाँठों के बदले केवल 88,500 गाँठ देने को तैयार है अर्थात् G-गाँठों की माँग, पूर्ति की अपेक्षा अधिक है। किन्तु जब इग्लैण्ड 70,200 G-गाँठों के बदले 90,000 गाँठें देने को तैयार हो जाता है तो यहाँ साम्य की अवस्था प्राप्त हो जाती है क्योंकि जर्मनी भी 90,000 E-गाँठों के बदले 70,200 G-गाँठें देने को तैयार है। यहाँ जर्मनी एवं इग्लैण्ड के बीच विनिमय अनुपात 78 . 100 गाँठें होगा क्योंकि इसी विनिमय अनुपात पर माँग और पूर्ति बराबर है।

मार्शल-एजवर्थ का प्रस्ताव वक्र
(MARSHALL-EDGEWORTH OFFER CURVES)

प्रो मार्शल और एजवर्थ ने प्रो मिल के पारस्परिक माँग के विश्लेषण को रेखाचित्र की सहायता से स्पष्ट किया है तथा इसे दिखाने के लिए प्रस्ताव वक्र (Offer Curve) का प्रतिपादन किया है। मार्शल का रेखाचित्रीय विश्लेषण समझने के पहले हमें यह जानना जरूरी है कि प्रस्ताव वक्र को कैसे निकाला जाता है।

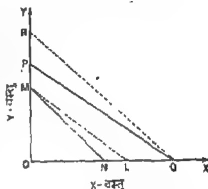
प्रस्ताव वक्र को ज्ञात करना (Derivation of Offer Curves)

तुलनात्मक लागत के आधार पर हम दो देशों A और B की कल्पना करते हैं जो व्यापार शुरू करने के पहले X और Y दोनों वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। नीचे दिये हुए रेखाचित्र में रेखा MN देश A की उत्पादन सम्भावना रेखा है तथा यह प्रकट करती है कि A देश अपने दिये

1 Quoted from Haberler *op. cit.* p. 151.

हुए साधनों से X की ON मात्रा तथा Y की OM मात्रा का उत्पादन कर सकता है तथा रेखा PQ देश B की उत्पादन सम्भावना रेखा है जो प्रकट करती है कि वह अपने दिये हुए साधनों से X की OQ मात्रा तथा Y की OP मात्रा का उत्पादन कर सकता है।

रेखाचित्र 10·1 में MN और PQ वक्र का झुकाव देश में लागतों के अनुपात को दर्शाता है और चूँकि पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता को स्वीकार किया गया है, उनसे देश में विनिमय का अनुपात भी ज्ञात होता है। PQ वक्र MN वक्र के ऊपर है जो यह प्रकट करता है कि देश B को A की तुलना में दोनों वस्तुओं X और Y के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ है। किन्तु दोनों वक्रों का ढाल भिन्न-भिन्न है जिससे स्पष्ट है कि दोनों देशों को तुलनात्मक लाभ अलग-अलग है। A को



चित्र 10·1

वस्तु Y के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ है (क्योंकि A में X की तुलना में Y की कीमत $=\frac{ON}{OM}$ B देश में X की तुलना में Y की कीमत $=\frac{OQ}{OP}$ से कम है) तथा B देश को X के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ है (क्योंकि B देश में Y की तुलना में X की कीमत $=\frac{OP}{OQ}$, A देश में Y की तुलना में X की कीमत $=\frac{OM}{ON}$ से कम है)

चूँकि दोनों देशों की तुलनात्मक लागत भिन्न है, उन दोनों के बीच होने वाला अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दोनों को लाभदायक होगा। अब प्रश्न है कि इन दोनों देशों को स्वीकार्य व्यापार की शर्तें क्या होंगी ? यदि देश A, वस्तु Y की X तुलना में B में X वस्तु की उस मात्रा $\left(\frac{ON}{OM}\right)$ से अधिक प्राप्त कर सकता है जो उसका गृह-विनिमय अनुपात है तथा B देश, वस्तु X की तुलना में A से Y वस्तु की उस मात्रा $\left(\frac{OP}{OQ}\right)$ से अधिक प्राप्त कर सकता है जोकि उसका गृह-विनिमय अनुपात है तो दोनों देशों को लाभ होगा। इसका अर्थ यह है कि व्यापार शर्तों की रेखा, जिस पर देश A और [redacted] वस्तु X और Y का विनिमय करते हैं, MN वक्र की तुलना में कम ढाल वाली एवं PQ की तुलना में अधिक ढाल वाली होना चाहिए। ऐसी रेखा ML है जो यह दिखाती है कि B के साथ व्यापार करने पर A देश Y की प्रत्येक इकाई [redacted] बदले X की $\frac{ON}{OM}$ मात्रा से अधिक प्राप्त कर सकता है क्योंकि $\frac{OL}{OM}>\frac{ON}{OM}$ है। व्यापार शर्तों की रेखा QR यह दिखाती है कि देश X की प्रत्येक इकाई के बदले Y की $\frac{OP}{OQ}$ मात्रा से अधिक प्राप्त कर सकता है, क्योंकि $\frac{OR}{OQ}>\frac{OP}{OQ}$ है।

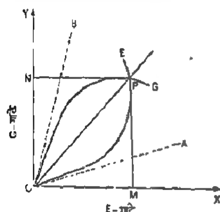
उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्यापार करके प्रत्येक देश अपनी उपभोग की सीमा (Consumption Boundary) को उत्पादन सीमा (Production Boundary) से अधिक कर सकता है।

मार्शल के प्रस्ताव वक्र द्वारा व्यापार शर्तों की रेखा का स्पष्टीकरण

अभी ऊपर के रेखाचित्र मे हमने व्यापार-शर्त की रेखा का चित्रण किया है। परन्तु यहाँ महत्वपूर्ण प्रश्न है कि इस रेखा (अन्तर्राष्ट्रीय सन्तुलन कीमत) का निर्धारण इस प्रकार किया जाता है जिससे (i) A देश के वाछनीय आयातो का कुल मूल्य उसके कुल निर्यातो के मूल्य के बराबर होता है (ii) B देश के वाछनीय आयातो का कुल मूल्य भी उसके कुल निर्यातो के बराबर होता है, और (iii) A के द्वारा आयात किये गये माल का मूल्य B के द्वारा आयात किये गये मूल्य के बराबर होता है। चित्र 10·2 मे ML और QR ऐसी ही सन्तुलन मूल्य की रेखाएँ हैं। मार्शल ने प्रस्ताव वक्र के माध्यम से इन्हें स्पष्ट किया है। मिल के समान मार्शल ने भी अपनी व्याख्या वास्तविक शर्तों (Real Terms) के आधार पर की है। तालिका 10·2 मे हमने मार्शल की व्यापार की अनुसूचियो को दर्शाया है। प्रो. हैबरलर का मत है कि ये अनुसूचियाँ सामान्य माँग और पूर्ति अनुसूचियो की भाँति ही है।

मिल के अनुसार मार्शल ने भी दो देशो की कल्पना की है—इगलैण्ड और जर्मनी। इंगलैण्ड को कपड़े के उत्पादन मे तथा जर्मनी को लिनेन के उत्पादन मे तुलनात्मक लाभ है। प्रत्येक देश के निर्यात को गाँठ की इकाइयो (Bale Units) मे व्यक्त किया गया है। नीचे दिये गये रेखाचित्र 10·2 मे इसे स्पष्ट किया गया है :

चित्र 10·2 मे दो देशो के प्रस्ताव वक्र को प्रकट किया गया है। OX रेखा पर E-गाँठें तथा OY पर G-गाँठें प्रदर्शित की गयी हैं। OE वक्र इगलैण्ड का प्रस्ताव वक्र है तथा OG वक्र जर्मनी का प्रस्ताव वक्र है। OE वक्र से प्रकट होता है कि इग्लैण्ड मे केवल कुछ ही G-गाँठें उपलब्ध होने पर E-गाँठो की तुलना मे उनका मूल्य अधिक होगा और जैसे-जैसे उनकी पूर्ति बढ़ती जायगी, उनका मूल्य भी घटता जायगा। मार्शल के अनुसार OE वक्र माँग-पूर्ति का वक्र या पारस्परिक माँग का वक्र भी है क्योंकि उससे यह भी ज्ञात होता है कि इंग्लैण्ड E-गाँठो की पूर्ति अधिक मात्रा मे उसी समय कर सकता है जब उनका मूल्य G-गाँठो की तुलना मे अधिक हो। OG वक्र पर भी यही बात लागू होती है।



चित्र 10·2

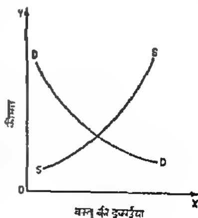
एजवर्थ ने मार्शल के प्रस्ताव वक्र मे OA और OB रेखाओ को भी जोड़ दिया जो क्रमश: जर्मनी और इगलैण्ड मे उन वस्तुओ के स्थिर लागत अनुपात को प्रकट करती है जिनका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार किया जाता है। व्यापार न होने की स्थिति मे, OA रेखा, इंग्लैण्ड मे E-गाँठो की तुलना मे G-गाँठो के मूल्य को प्रदर्शित कर रही है तथा OB जर्मनी मे G गाँठो की तुलना मे, E-गाँठो के मूल्य को प्रकट कर रही है। इगलैण्ड उस समय ही जर्मनी से व्यापार करेगा जब वह G-गाँठो को, अपने देश के मूल्य अनुपात (यदि वह दोनो वस्तुएँ पैदा करता) से कम मूल्य मे प्राप्त कर सकता है। जर्मनी भी उसी समय इगलैण्ड से व्यापार करेगा जब वह E-गाँठो को अपने देश के मूल्य अनुपात (यदि वह दोनों वस्तुएँ पैदा करता) से कम मूल्य मे प्राप्त कर सकता है। इसका अर्थ यह है कि वह सन्तुलन मूल्य जिस पर दोनो देश व्यापार करेंगे, OA और OB रेखाओ के बीच होना चाहिए क्योंकि देश की उत्पादन लागत की सीमाओ के बाहर व्यापार नहीं होगा।

पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में स्थिर सन्तुलन बिन्दु P पर होगा जहाँ दोनों प्रस्ताव वक्र एक दूसरे को काटते हैं। OP रेखा का ढाल सन्तुलन मूल्य को प्रकट कर रहा है। P बिन्दु पर ही इंग्लैण्ड और जर्मनी के निर्यात सन्तुलन का निर्धारण होता है। P बिन्दु पर अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अनुपात इंग्लैण्ड की OM गाँठें = जर्मनी की ON गाँठें है। यदि सन्तुलन बिन्दु से व्यापार की शर्तें हटती हैं तो ऐसी शक्तियाँ कार्यान्वित होंगी जो पुनः सन्तुलन को स्थापित कर देंगी। जैसे यदि OP रेखा दायीं ओर झुकती है तो इसका आशय यह होगा कि मूल्य कम होने से इंग्लैण्ड के निर्यातों की माँग बढ़ेगी। अतः E-गाँठों का मूल्य बाद में बढ़ जायगा। यदि OP का झुकाव बायीं ओर है तो इसका अर्थ है कि ऊँचा मूल्य होने के कारण इंग्लैण्ड के निर्यातों में वृद्धि होगी अर्थात् पूर्ति बढ़ेगी जिससे इंग्लैण्ड के निर्यातों का सापेक्षिक मूल्य घट जायगा।

मार्शल के वक्र (पारस्परिक माँग वक्र) एवं सामान्य माँग-पूर्ति के वक्र में सम्बन्ध
(RELATION DETWEEN MARSHALLIAN CURVE AND ORDINARY SUPPLY ANDJDEMAND CURVE)

मार्शल ने जिस पारस्परिक माँग वक्र अथवा प्रस्ताव-वक्र (Offer Curve) का चित्रण किया है, उसमें तथा साधारण माँग-पूर्ति के वक्र में अन्तर जान लेना आवश्यक है। यद्यपि इन दोनों में एक निश्चित सम्बन्ध होता है फिर भी दोनों पूर्ण रूप में समान नहीं हैं। अर्थशास्त्र के छात्र इस बात को जानते हैं कि माँग के नियम के आधार पर साधारण माँग वक्र वस्तु की मौद्रिक कीमत तथा उसकी माँगी जाने वाली मात्रा में सम्बन्ध स्थापित करता है। वस्तु की कीमत, घटने पर, उसकी माँग बढ़ती है एवं बढ़ने पर उसकी माँग घटती है। यही कारण है कि माँग वक्र ऊपर से नीचे की ओर झुकता है। दूसरी ओर साधारण पूर्ति वक्र, वस्तु की कीमत और वस्तु की पूर्ति की जाने वाली इकाइयों में सम्बन्ध स्थापित करता है—जैसे-जैसे कीमत बढ़ती है, वस्तु की पूर्ति भी बढ़ती है अतः पूर्ति वक्र बायें से दायें ऊपर की ओर जाता है। नीचे दिये हुए रेखाचित्र में साधारण माँग और पूर्ति वक्र को स्पष्ट किया गया है। OX पर वस्तु की मात्रा तथा OY पर कीमत को दर्शाया गया है। D-D माँग वक्र है तथा S-S पूर्ति वक्र है।

प्रस्तुत रेखाचित्र 10 3 में स्पष्ट है कि जैसे-जैसे कीमत घटती है, माँग बढ़ती है तथा कीमत के बढ़ने पर माँग घटती है। इसे माँग वक्र D-D द्वारा स्पष्ट किया गया है। पूर्ति वक्र S-S स्पष्ट करता है कि जैसे-जैसे कीमत बढ़ती है, पूर्ति की जाने वाली इकाइयों की संख्या बढ़ती जाती है।



चित्र 10·3

इन दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ साधारण माँग-पूर्ति वक्र में मौद्रिक माप को प्रति इकाई कीमत में व्यक्त किया जाता है तथा इसमें कुल व्यय की जाने वाली मुद्रा का ज्ञान नहीं होता। किन्तु प्रस्ताव वक्र के नियमक (Ordinates) वस्तु की प्रति इकाई कीमत को नहीं मापते वरन् वस्तु के विक्रय से प्राप्त कुल आय को व्यक्त करते हैं जिसे सम स्तर अक्ष (Horizontal axis) पर दिखाया जाता है। यदि आयातित वस्तु को मुद्रा मान लिया जाय तो वस्तुओं की मात्रा के सन्दर्भ में प्रस्ताव वक्र माँग वक्र का रूप धारण कर लेता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि प्रस्ताव वक्र, कुल आय वक्र बन जाता है जबकि साधारण माँग वक्र प्रति इकाई औसत आय को ही प्रकट करता है।

प्रो. हैबरलर के अनुसार इन दोनों में एक मुख्य अन्तर यह भी है कि एक देश का प्रस्ताव वक्र, सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अन्तिम परिणामों को पूर्ण रूप में हमारे सामने रखता है परन्तु साधारण माँग-पूर्ति वक्र, व्यक्तिगत इकाई की मौद्रिक कीमतों को ही दिखाते हैं तथा वस्तु-स्थिति के आंशिक रूप को ही प्रकट करते हैं क्योंकि ये इस मान्यता पर आधारित होते हैं कि अन्य बातें और विशेष रूप से दूसरी वस्तुओं की कीमतों में कोई परिवर्तन नहीं होता।

प्रो. ग्राहम द्वारा पारस्परिक माँग सिद्धान्त की आलोचना
(GRAHAM'S CRITICISM OF THE RECIPROCAL DEMAND THEORY)

पिछले पृष्ठों में हमने संक्षेप में प्रो. मिल के पारस्परिक माँग के सिद्धान्त की आलोचना का उल्लेख किया है। यहाँ हम उस पर विस्तार से चर्चा करेंगे एवं प्रो. मिल एवं प्रो. मार्शल द्वारा प्रतिपादित पारस्परिक माँग के सिद्धान्त की जो आलोचना प्रो. ग्राहम ने की है, उसका मूल्यांकन करेंगे :

प्रो. ग्राहम ने पारस्परिक माँग सिद्धान्त की आलोचना इस आधार पर की है कि अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों को निर्धारित करने में, उक्त सिद्धान्त केवल माँग पर केन्द्रित है तथा इसमें पूर्ति पक्ष की पूर्ण रूप से अवहेलना की गई है। ऐसी स्थिति में यह सिद्धान्त उसी समय उचित हो सकता है यदि व्यापार के सिद्धान्त को उत्पादन की स्थिर मात्राओं (Fixed Quantities) के सन्दर्भ में निर्मित किया जाय किन्तु वास्तव में तो व्यापार की वस्तुओं में सदैव उच्चावचन होता रहता है अतः पूर्ति को स्थिर नहीं माना जा सकता।

प्रो. ग्राहम इसके भी आगे जाते हैं और बताते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों के सिद्धान्त में पारस्परिक माँग की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि उनकी दृष्टि में स्थिर लागत की मान्यता के अन्तर्गत, केवल पूर्ति की दशाएँ ही अन्तिम विनिमय अनुपात को निर्धारित कर सकती हैं। अपने समर्थन में प्रो. ग्राहम ने निम्न तर्क दिया है।

प्रो. मिल एवं मार्शल ने दो देश, दो वस्तुओं और स्थिर लागत की मान्यता के अन्तर्गत यह स्पष्ट किया कि माँग की दशाएँ, दोनों देशों के अपने लागत अनुपात की सीमाओं के बीच, अन्तिम विनिमय अनुपात को निर्धारित करती हैं। किन्तु ग्राहम के मत में उक्त निष्कर्ष उसी स्थिति में ठीक है जबकि व्यापार करने वाले दोनों देश आकार में समान हों एवं जिन दो वस्तुओं का व्यापार किया जाता है, वे समान महत्व की हों। किन्तु ग्राहम के अनुसार यदि इन दो में से एक देश बड़ा तथा दूसरा छोटा है तो इस बात की प्रबल सम्भावना है कि इनमें व्यापार होने के बाद भी, दोनों वस्तुओं में से एक वस्तु का दोनों देशों में उत्पादन किया जायेगा। ऐसी स्थिति में, अन्तिम व्यापार की शर्तें एवं देश के लागत अनुपात में जो देश इन दोनों का उत्पादन करेगा। मिल के लिए यह एक चरम स्थिति थी जिसकी कल्पना करना सम्भव नहीं है किन्तु ग्राहम ने इसे एक सामान्य स्थिति माना। यदि व्यापार के बाद भी, दोनों देशों में सामान्य वस्तु का उत्पादन जारी रहता है तो इसका आशय है कि अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों को निर्धारित करने में पूर्ति अथवा लागत की दशाएँ ही महत्वपूर्ण हैं। यदि व्यापार दो से अधिक देशों एवं दो से अधिक वस्तुओं में हो रहा है तो पूर्ति का महत्व और भी बढ़ जाता है। क्योंकि जब दो से अधिक देश होते हैं तो व्यापार होने के बाद की स्थिति में भी कम से कम एक देश तो दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन करता है। ऐसी स्थिति में स्थिर लागत के अन्तर्गत, अन्तिम विनिमय अनुपात, माँग की दशाओं की तुलना में इस देश के गृह लागत अनुपात (अर्थात् पूर्ति) के द्वारा ही निर्धारित होगा। इस आधार पर ग्राहम कहते हैं कि पारस्परिक माँग के सिद्धान्त का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों के निर्धारण में कोई महत्व नहीं है।

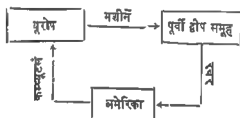
(i) वह Y का उत्पादन कर सकता है तथा उसे X के बदले मे A और B को बेच सकता है।

(ii) वह X का उत्पादन कर सकता है तथा उसे Y के बदले A और B को बेच सकता है।

(iii) वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से पृथक हो सकता है।

इन तीनो मे से वास्तव मे कौन-सी स्थिति लागू होगी, यह व्यापार की शर्तों की वास्तविक स्थिति पर निर्भर रहता है जिनका निर्धारण अन्तर्राष्ट्रीय माँग की सापेक्षिक शक्तियाँ करती हैं। अर्थात जब हम दो से अधिक देशो के बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का निर्धारण करते है तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पारस्परिक माँग (Reciprocal demand) ही इसका निर्धारक तत्व है।

प्रो. सेमुअलसन ने दो से अधिक देशो के व्यापार का चित्रण किया है। उनका कहना है कि "व्यापार के लाभो का राज्य की सीमाओं से कोई सम्बन्ध नही है। इस सम्बन्ध मे जो सिद्धान्त विकसित किया गया है वह देशो के समूह पर भी लागू होता है।"[1] इसे हम नीचे त्रिकोण चित्र द्वारा प्रस्तुत कर रहे हैं—



तीन देशो मे व्यापार हो रहा है तीर के निशान निर्यात की दिशा बताते हैं। यूरोप मशीनो का निर्यात पूर्वी द्वीप समूह को करता है, पूर्वी द्वीप समूह रबर का निर्यात अमेरिका को करता है तथा अमेरिका कम्प्यूटर्स का निर्यात यूरोप को करता है—इन तीनो देशो मे व्यापार एकपक्षीय ही है अर्थात यूरोप पूर्वीद्वीप से कुछ आयात नही करता और न ही पूर्वीद्वीप अमेरिका से कुछ आयात करता है और अमेरिका, यूरोप मे कुछ आयात नही करता। पूर्वीद्वीप अमेरिका को रबर निर्यात से जो मुद्रा प्राप्त करता है, उससे यूरोप को भुगतान करता है तथा अमेरिका कम्प्यूटर्स का निर्यात यूरोप को कर उससे पूर्वीद्वीप को भुगतान करता है तथा यूरोप पूर्वीद्वीप को मशीनें निर्यात कर उससे अमेरिका को भुगतान करता है। अन्त मे व्यापार सन्तुलित भी रहता है जिसमे प्रत्येक देश के निर्यातों का कुल मूल्य, उसके आयातो के मूल्य के बराबर रहता है। अनेक देशो के बीच यह व्यापार कभी-कभी दो देशों के व्यापार की तुलना मे श्रेष्ठ रहता है क्योकि जब केवल दो देशो के बीच व्यापार होता है तो सीमित हो जाता है अर्थात अमेरिका, पूर्वी द्वीप से उस समय तक रबर का आयात नही करेगा जब तक कि पूर्वीद्वीप भी अमेरिका से उतने ही मूल्य की वस्तुएँ नही खरीदता। इस प्रकार द्विपक्षीय व्यापार मे, व्यापार की मात्रा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

परिवहन लागत के साथ तुलनात्मक लागत सिद्धान्त
(COMPARATIVE COST THEORY WITH TRANSPORT COSTS)

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त मे परिवहन लागतों या यातायात व्यय पर कोई ध्यान नही दिया गया है किन्तु इनकी अवहेलना नही की जा सकती क्योंकि जब दो देशों के बीच माल का आदान-प्रदान होता है तो यातायात व्यय लगता है तथा व्यापार की मात्रा पर इसका बहुत प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव दो प्रकार का होता है।

1 "The advantages of trade have no special relationship to State boundaries. The principles already developed apply between groups of Countries." —Samuelson, *op. cit.* p. 659.

(i) परिवहन व्यय के कारण आयात की हुई वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है—एवं (ii) चूँकि आयातित माल की कीमतें ऊँची होती हैं, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा कम हो जाती है और जब यातायात व्यय, आयात और निर्यात करने वाले देशों की उत्पादन लागत के अन्तर से अधिक होता है तो व्यापार नहीं होता। आयात करने वाले देश में आयातित वस्तुओं की कीमतों में परिवहन व्यय के अनुसार, अन्तर होता है। यह अन्तर कितना है यह वास्तव में परिवहन व्यय के स्तर पर निर्भर रहता है अर्थात् यदि परिवहन व्यय कम है तो दोनों देशों की कीमतों में कम अन्तर होगा। प्रो. हैबरलर के अनुसार यातायात व्यय को सम्मिलित करने पर, आयात और निर्यात करने वाली वस्तुओं के अतिरिक्त हमें वस्तुओं की एक ऐसी तीसरी श्रेणी प्राप्त होती है जिसका केवल देश में ही उत्पादन और व्यापार किया जाता है, उसका न तो निर्यात होता है और न आयात। किन्तु परिवहन व्यय को सम्मिलित करने पर भी रिकार्डो के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के निष्कर्ष अमान्य नहीं होते। उसकी व्याख्या इस प्रकार है—

दो देश A और B हैं। A में X वस्तु की एक इकाई की वास्तविक या श्रम लागत L^a_x है तथा B में यही लागत L^b_x है। A और B में मौद्रिक मजदूरी क्रमशः W^a और W^b है। विनिमय की दर R है। देश A से B को X वस्तु को निर्यात करने की वास्तविक (श्रम) लागत T^a_x तथा B से A को यही वस्तु निर्यात करने की श्रम लागत T^b_x है। यहाँ यह मान्यता स्वीकार कर ली गई है कि पूर्ति करने वाला देश परिवहन व्यय का भुगतान करता है।

अब A देश X वस्तु का निर्यात उसी समय करेगा जब—

$$\frac{L^a_x + T^a_x}{L^b_x} < \frac{W^b}{W^a \times R}$$

वस्तु X का A द्वारा आयात किया जायगा यदि—

$$\frac{W^b}{W^a \times R} < \frac{L^a_x}{L^b_x + T^b_x}$$

किन्तु $\frac{L^a_x}{L^b_x + T^b_x} < \frac{L^a_x + T^a_x}{L^b_x}$ अतः न तो X वस्तु का निर्यात किया जायगा और न आयात किया जायगा यदि $\frac{W^b}{W^a \times R}$ का संख्यात्मक मूल्य उक्त दोनों मूल्यों के मध्य हो जिससे $\frac{L^a_x}{L^b_x + T^b_x} < \frac{W^b}{W^a \times R} < \frac{L^a_x + T^a_x}{L^b_x}$ रहेगा। यह बात केवल X वस्तु पर नहीं वरन् अन्य वस्तुओं पर भी लागू होती है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि किसी वस्तु का निर्यात एवं आयात उसी समय किया जायगा जब दोनों देशों में उस वस्तु की उत्पादन लागत में परिवहन व्यय से अधिक अन्तर हो।

कभी-कभी यातायात व्यय इतना अधिक होता है कि उत्पादन में तुलनात्मक लाभ होने पर भी उन वस्तुओं का निर्यात नहीं किया जा सकता अर्थात् विशिष्टीकरण सम्भव नहीं हो पाता। अतः एक देश को अधिक लागत पर ही कुछ वस्तुओं का उत्पादन देश में ही करना होता है क्योंकि ऐसी वस्तुओं का आयात व्यय परिवहन लागत के कारण इतना अधिक होता है कि उसकी लागत देश की तुलना में अधिक हो जाती है। परिवहन व्यय के कारण अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन जितना सीमित होता है, उतना ही अधिक देशों को नुकसान होता है। परन्तु परिवहन व्यय के कारण तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की मान्यता समाप्त नहीं होती क्योंकि प्रायः श्रम विभाजन से होने वाले लाभ की मात्रा, परिवहन व्यय से अधिक होती है।

उपरोक्त विवेचन में हमने यह मान लिया है कि परिवहन व्यय का भार पूर्ति करने वाला देश वहन करता है। किन्तु वास्तव में सदैव ही ऐसा नहीं होता, यह भी सम्भव है कि दोनों देश इसका वहन करें। कौन देश परिवहन लागत की कितनी मात्रा का भार वहन करता है, यह देशों की माँग की लोच पर निर्भर रहता है।

यद्यपि परिवहन लागत के कारण तुलनात्मक लागत के प्रयोग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु इससे देश के व्यापार पर अवश्य ही प्रभाव पड़ता है। परिवहन लागतों के कारण व्यापार की मात्रा सीमित हो जाती है तथा इसी के अनुरूप व्यापार के लाभ कम हो जाते हैं अर्थात् परिवहन लागत का व्यापार के ढाँचे को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण प्रभाव होता है। यदि दो देशों के बीच परिवहन लागत को कम कर दिया जाय तो व्यापार की मात्रा एवं उसके होने वाले लाभों को बढ़ाया जा सकता है।

परिवहन व्यय और उद्योगों का स्थानीयकरण

तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त में हमने देखा है कि परिवहन व्यय के अभाव में एक देश उन वस्तुओं का उत्पादन करता है जिसमें उसकी तुलनात्मक लागत न्यूनतम रहती है। किन्तु जब परिवहन लागत का समावेश हो जाता है तो वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो जाती है एवं व्यापार की मात्रा घट जाती है। यदि परिवहन लागत, दोनों देशों में वस्तु की उत्पादन लागत के अन्तर से अधिक होती है तो इसका प्रभाव उद्योग की स्थिति (Location) पर पड़ता है अर्थात ऐसी स्थिति में निर्यात उद्योगों की स्थापना नहीं की जाती वरन् गृह उद्योग स्थापित किये जाते हैं जिनका बाजार देश में ही होता है। जहाँ परिवहन व्यय का वहन ही कम प्रभाव पड़ता है, वहाँ अन्य तत्व उद्योगों की स्थिति को प्रभावित करते हैं जैसे अन्य साधनों की सापेक्षिक पूर्ति तथा उनकी कीमत। इस प्रकार परिवहन व्यय का न केवल व्यापार की मात्रा पर प्रभाव पड़ता है वरन् यह उद्योगों की स्थापना को भी निर्धारित करता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. यह स्पष्ट कीजिये कि बढ़ती हुई लागतों और यातायात व्यय का तुलनात्मक लागत सिद्धान्त पर क्या प्रभाव पड़ता है?
2. तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के उस स्वरूप को समझाइये जब दो से अधिक देशों के बीच व्यापार होता है?
3. तुलनात्मक लागत सिद्धान्त में जो संशोधन किये गये हैं, उनकी संक्षिप्त विवेचना कीजिये?
4. क्या तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को मौद्रिक लागत में व्यक्त किया जा सकता है, उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।
5. जब दो देशों के बीच दो से अधिक वस्तुओं का व्यापार होता है, तो तुलनात्मक लागत सिद्धान्त लागू होता है, पूर्ण व्याख्या कीजिए?

Selected Readings

1. G. V Haberlar : *The Theory of International Trade*
2. P T. Ellsworth · *The International Economy*
3. C P. Kindleberger · *International Economics*
4. B Ohlin : *Interregional and International Trade*
5. Ray & Kundu . *International Economics*
6. F. W. Taussing : *International Trade*

परिवर्तनशील लागतों के अन्तर्गत तुलनात्मक लागत सिद्धान्त

[THEORY OF COMPARATIVE COST UNDER VARYING COST CONDITIONS]

परिचय

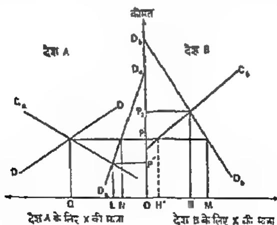
अभी तक हमने स्थिर लागत के अन्तर्गत तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की विवेचना की है क्योंकि रिकार्डो की मान्यता थी कि प्रत्येक देश में उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में स्थिर लागत या उत्पत्ति समता नियम (Constant Production Cost) लागू होता है। यह मूल्य के श्रम सिद्धान्त पर आधारित है। किन्तु यथार्थ जगत में उत्पत्ति में स्थिर नियम लागू नहीं होता वरन् उत्पादन परिवर्तनशील लागतों के अन्तर्गत होता है। यह बात दूसरी है कि उत्पादन वृद्धि नियम और ह्रास नियम के बीच में कुछ समय के लिए स्थिर लागत का नियम लागू होता है। हम देखते हैं कि एक निश्चित सीमा के बाद अतिरिक्त इकाइयों का उत्पादन प्रति इकाई बढ़ी हुई लागत पर होता है। जब हम परिवर्तनशील लागतों का समावेश तुलनात्मक लागत सिद्धान्त में करते हैं तो उसमें कुछ संशोधन करना आवश्यक हो जाता है किन्तु इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन से प्रत्येक देश को लाभ होता है।

बढ़ती हुई लागतें और आंशिक विशिष्टीकरण
(INCREASING COSTS AND PARTIAL SPECIALISATION)

उत्पादन में स्थिर लागत का तात्पर्य यह होता है कि उत्पादन की मात्रा कितनी ही क्यों न बढ़ाई जाय, प्रति इकाई लागत समान रहती है। ऐसी दशाओं के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रभाव यह होता है कि राष्ट्रों में पूर्ण विशिष्टीकरण सम्भव हो जाता है यद्यपि इसमें यह मान्यता निहित रहती है कि परिवहन व्यय नहीं लगता तथा प्रत्येक देश तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का अनुसरण करता है। किन्तु जब उत्पादन बढ़ती हुई लागत के अन्तर्गत होता है तो देश पूर्ण विशिष्टीकरण नहीं कर पाते वरन् आंशिक विशिष्टीकरण करते हैं। बढ़ती हुई लागत का अर्थ यह है कि उत्पादन की मात्रा में वृद्धि के साथ प्रति इकाई लागत में वृद्धि हो जाती है। यह इसलिए होता है क्योंकि उत्पादन में ह्रास नियम (Diminishing Return) लागू होने लगता है। इससे स्पष्ट है कि यदि उद्योग में उत्पादन की मात्रा बढ़ने पर, इकाई की लागत बढ़ती है तो श्रमिकों की कार्यक्षमता कम होनी चाहिए। एक ऐसा देश जो ऐसी वस्तु में विशिष्टीकरण करता है जिसके उत्पादन की प्रति इकाई लागत बढ़ रही है, तो जैसे-जैसे ऐसी वस्तु का उत्पादन बढ़ता है उस देश का तुलनात्मक लाभ भी कम हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह इस वस्तु की अधिक मात्रा, दूसरे देश की वस्तु के बदले में, देने को तैयार नहीं होगा क्योंकि इसका अधिक उत्पादन करना उसके लिए लाभदायक नहीं होगा। फलस्वरूप श्रम विभाजन और विशिष्टीकरण का क्षेत्र सीमित हो जाता है अर्थात् उस सीमा तक नहीं होता जितना कि स्थिर लागत के अन्तर्गत होता है।

बढ़ती हुई लागत के अन्तर्गत विशिष्टीकरण किस प्रकार सीमित हो जाता है, हम इसे एक उदाहरण देकर स्पष्ट करेंगे। मान लो दो देश अमरीका और स्पेन है, अमरीका को गेहूँ के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ है तथा स्पेन को शराब के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ है। दोनों ही देशों में बढ़ती हुई लागत के अन्तर्गत उत्पादन हो रहा है। जब इन दोनों देशों के बीच व्यापार शुरू होता है, तो अमरीका गेहूँ के उत्पादन में विशिष्टीकरण करता है तथा स्पेन शराब के उत्पादन में विशिष्टीकरण करता है। जैसे-जैसे अमरीका गेहूँ का अधिक उत्पादन करेगा उसकी लागत गेहूँ के उत्पादन में बढ़ती जायगी तथा जैसे-जैसे वह शराब का उत्पादन कम करेगा इसमें उसकी लागत घटती जायगी। दूसरी ओर जैसे-जैसे स्पेन शराब का अधिक उत्पादन करेगा, इसमें उसकी लागत बढ़ती जायगी तथा जैसे-जैसे वह गेहूँ का उत्पादन कम करेगा, इसमें उसकी लागत घटती जायगी। दोनों देशों में विशिष्टीकरण का परिणाम यह होगा कि उनकी तुलनात्मक लागत में जो अन्तर था, वह घटता जायगा तथा अन्त में एक ऐसी स्थिति आ सकती है जहाँ तुलनात्मक लागतें बराबर हो जायें। ऐसी हालत में आगे विशिष्टीकरण का क्षेत्र समाप्त हो जायेगा।

बढ़ती हुई लागत के अन्तर्गत विशिष्टीकरण पूर्ण न होकर आंशिक होता है जिसे रेखाचित्र की सहायता से समझाया जा सकता है। इसके पहले यह समझ लेना चाहिए कि स्थिर लागत के अन्तर्गत प्रत्येक इकाई की लागत बराबर होती है अर्थात् सीमान्त लागत (Marginal Cost) और औसत लागत (Average Cost) बराबर होती है किन्तु बढ़ती हुई लागतों के अन्तर्गत ये दोनों बराबर नहीं होती, औसत लागत की तुलना में सीमान्त लागत अधिक होती है अर्थात् वस्तु की विभिन्न मात्राओं के उत्पादन की सीमान्त लागत अलग-अलग होती है। ऐसी स्थिति में एक देश के तुलनात्मक लाभ की स्थिति को सीमान्त लागत के आंकड़ों से सम्बद्ध करना पड़ता है। व्यापार के पहले एक देश को किसी विशेष वस्तु के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ हो सकता है किन्तु व्यापार शुरू होने के बाद जब उत्पादन में वृद्धि होती है तो सीमान्त तुलनात्मक लाभ (Marginal Comparative Cost) कम होता जाता है। अतः यह देश वस्तु के उत्पादन को उस सीमा तक ही बढ़ाता है जहाँ दोनों देशों के उत्पादन की लागत का अन्तर सीमान्त लागत के बराबर हो जाता है। इसके बाद सीमान्त लागत में वृद्धि हो जाती है और देश के लिए उत्पादन करना लाभदायक नहीं होता। हम एक रेखाचित्र बनाकर इसकी व्याख्या करेंगे।



चित्र 9.1

उपर्युक्त रेखाचित्र 9·1 में दो देश A और B हैं तथा प्रत्येक X वस्तु का उत्पादन कर रहा है। दोनों देशों में बढ़ती हुई लागत के अन्तर्गत उत्पादन हो रहा है जो देश A में बढ़ती

हुई पूर्ति वक्र Ca तथा B में Cb के द्वारा दिखाया गया है। देश A को X के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ है क्योंकि इसका पूर्ति वक्र B की तुलना में नीचा है। देश A में X वस्तु का माँग वक्र Da-Da है तथा B में X वस्तु का माँग वक्र Db-Db है।

जब दोनों देशों में व्यापार नहीं होता तो प्रत्येक देश X वस्तु का उत्पादन उस सीमा तक करता है जहाँ उसकी कीमत इकाई की लागत के बराबर है। इस प्रकार A देश X वस्तु की OL मात्रा का उत्पादन करता है जिसकी कीमत OP′ है तथा B देश X वस्तु की OH मात्रा का उत्पादन करता है जिसकी कीमत OP_B है। जब दोनों देशों में व्यापार शुरू होता है तो B देश A देश से कम कीमत पर X का आयात करने लगता है क्योंकि वहाँ X की कीमत B की तुलना में कम है। इससे X का B देश में उत्पादन घटता है तथा A देश में बढ़ता है। चूँकि उत्पादन बढ़ती हुई लागत के अन्तर्गत हो रहा है, A देश में उत्पादन लागत बढ़ती है तथा B में घटती है। व्यापार के बाद दोनों देशों में X की OP कीमत पर सन्तुलन स्थापित हो जाता है। इस कीमत पर देश A कुल OQ मात्रा का उत्पादन करता है जिसमें से ON मात्रा की खपत देश में होती है तथा NQ (=H′M) का B देश को निर्यात कर दिया जाता है। B देश में X वस्तु का उत्पादन बिल्कुल समाप्त नहीं किया जाता वरन् वह OH. का उत्पादन करता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बढ़ती हुई लागतों के अन्तर्गत विशिष्टीकरण पूर्ण न होकर आंशिक है क्योंकि दोनों देशों में X का उत्पादन किया जा रहा है। B देश अपने कुल उपभोग की उस मात्रा का उत्पादन जारी रखता है (OH′) जो विदेशी प्रतियोगिता का सामना कर सकता है।

घटती हुई लागतें और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार
(DECREASING COSTS AND INTERNATIONAL TRADE)

जिस प्रकार स्थिर लागतों के अन्तर्गत पूर्ण विशिष्टीकरण सम्भव है उसी प्रकार घटती हुई लागतों के अन्तर्गत भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में पूर्ण विशिष्टीकरण किया जा सकता है। इसकी विस्तृत विवेचना करने के पहले हम यह समझ लें कि घटती हुई लागत के अन्तर्गत उत्पादन से क्या आशय है तथा यह किन दशाओं में सम्भव है।

किसी भी उद्योग या फर्म में घटती हुई लागत के अन्तर्गत उस समय उत्पादन होता है जब उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होने से प्रति इकाई औसत और सीमान्त लागत घटती जाती है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि जब किसी फर्म में उत्पादन के लिए आवश्यक भौतिक साधनों (Physical Inputs) में जिस अनुपात में वृद्धि की जाती है, उसकी तुलना में उत्पादन में अधिक वृद्धि होती है। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि स्थैतिक दशाओं में यह सम्भव नहीं है कि घटती हुई लागत के अन्तर्गत उत्पादन किया जा सके। उनका विचार है कि तकनीकी विधियों के प्रयोग से ही लागत घटायी जा सकती है और यह गतिशील दशाओं में ही सम्भव है।

किन्तु प्रो० हैबरलर उपर्युक्त विचार से सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि स्थैतिक दशाओं में केवल तकनीकी योग्यता एवं तकनीकी ज्ञान स्थिर रहता है तथा तकनीकी विधियों में परिवर्तन हो सकता है। वे माँग के कारण होने वाली तकनीक और ज्ञान के कारण होने वाली तकनीक में भेद करते हैं। माँग के कारण तकनीक में होने वाले परिवर्तन यद्यपि पहले ज्ञात थे किन्तु उनका प्रयोग केवल इसलिए नहीं किया गया क्योंकि उत्पादन का पैमाना छोटा था। जहाँ तक ज्ञान से सम्बन्धित तकनीक का प्रश्न है, चूँकि पहले नयी विधियों की जानकारी नहीं थी अथवा उनका प्रयोग नहीं किया गया था अतः उनका प्रयोग ज्ञान में वृद्धि करता है। यदि तकनीकी ज्ञान में परिवर्तन होता है तो यह वास्तव में ऐतिहासिक एवं गतिशील तत्व है जिससे आर्थिक आँकड़ों में परिवर्तन होता है। तकनीकी ज्ञान के कारण लागतों में होने वाली कमी स्थैतिक विवेचन का विषय

नहीं है। किन्तु तकनीकी विधियों का प्रयोग ज्ञान वृद्धि से सम्बन्धित नहीं है इसका तात्पर्य यह है कि स्थैतिक ढाँचे के अन्तर्गत भी माँग में वृद्धि होने के फलस्वरूप नयी तकनीकी विधियों का प्रयोग किया जा सकता है।

घटती हुई लागतों की व्याख्या विशुद्ध सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से भी की जा सकती है जिसे आगे स्पष्ट करेंगे। अभी इस सम्बन्ध में प्रो० ग्राहम के विचारों का अध्ययन करेंगे।

घटती हुई लागतों और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में प्रो० ग्राहम के विचार

प्रो० फ्रैंक डी० ग्राहम (Prof Frank D Graham) तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के कटु आलोचक रहे हैं और उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि स्वतन्त्र व्यापार सदैव वांछनीय नहीं है एवं तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के अनुसार विशिष्टीकरण करने से हमेशा लाभ नहीं होता। उन्होंने एक गणितीय उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया है कि दो देशों में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन से किसी न किसी एक देश को सापेक्ष हानि होती है क्योंकि उसके उत्पादन की मात्रा घट जाती है। दूसरी ओर प्रो० हैबरलर, प्रो० सैमुअलसन, और प्रो० किंडलबर्जर का मत है कि तुलनात्मक लागत में अन्तर के अतिरिक्त घटती हुई लागतें ही ऐसा कारण हैं जो यह स्पष्ट करती हैं कि विशिष्टीकरण और व्यापार से किस प्रकार लाभ होता है।

प्रो० ग्राहम का विचार है कि विशिष्टीकरण एवं व्यापार के बाद एक देश की वास्तविक आय, व्यापार न होने की तुलना में कम हो जाती है अतः ऐसे देश को संरक्षण अपनाना चाहिए। उनके विचार को घटती हुई लागत के सन्दर्भ में इस प्रकार समझाया जा सकता है :

अमरीका और इंगलैण्ड दो देश हैं, दोनों दो वस्तुएँ गेहूँ और घड़ियों का उत्पादन करते हैं—गेहूँ का उत्पादन बढ़ती हुई लागत तथा घड़ियों का उत्पादन घटती हुई लागत के अन्तर्गत होता है। लागत का अनुमान श्रम लागत के आधार पर किया गया है। जब दोनों देशों में व्यापार शुरू होता है तो अमरीका गेहूँ में विशिष्टीकरण करता है क्योंकि उसमें उसे तुलनात्मक लाभ है तथा घड़ियों का उत्पादन कम करता है। अमरीका में विशिष्टीकरण के कारण प्रति इकाई गेहूँ की उत्पादन लागत बढ़ती है क्योंकि उसका उत्पादन बढ़ती हुई लागत के अन्तर्गत होता है। दूसरी ओर घड़ियों का उत्पादन कम होने से उनकी लागत भी बढ़ती है (यदि घड़ियों का उत्पादन बढ़ता तो उनकी लागत कम होती)। इंगलैण्ड में ठीक इसके विपरीत होता है अर्थात् उसे घड़ियों के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ होने से, वह इनके उत्पादन में विशिष्टीकरण कर इनका उत्पादन बढ़ाता है। चूँकि घड़ियों का उत्पादन घटती हुई लागत के अन्तर्गत होता है, इनकी प्रति इकाई उत्पादन लागत घटती जाती है। इंग्लैंड, गेहूँ का उत्पादन कम करता है और चूँकि इसका उत्पादन बढ़ती हुई लागत के अन्तर्गत होता है, इनकी भी प्रति इकाई उत्पादन लागत घटती जाती है। इस प्रकार इंगलैण्ड में दोनों के उत्पादन में लागत कम होती है जबकि अमरीका में दोनों वस्तुओं का उत्पादन बढ़ती हुई लागत के अन्तर्गत हो रहा है। यदि इन दोनों देशों में व्यापार की शर्तें अपरिवर्तित रहें तो ग्राहम का विचार है कि इससे अमरीका को हानि होती है और जैसे-जैसे उसके व्यापार का विस्तार होता है उसकी वास्तविक आय व्यापार न होने की तुलना में कम होती जाती है। प्रो० ग्राहम कृषि प्रधान और औद्योगिक देशों की तुलना करते हुए कहते हैं कि औद्योगिक देशों में उन उद्योगों का विस्तार किया जा रहा है जिनमें घटती हुई लागत का नियम लागू होता है—ऐसे देशों की स्थिति पिछले उदाहरण में दिये गये इंगलैण्ड के समान है। दूसरी ओर कृषि प्रधान देशों की स्थिति अमरीका के समान है जो ऐसे उद्योगों में विशिष्टीकरण कर रहे हैं जिनमें बढ़ती हुई लागत के अन्तर्गत उत्पादन हो रहा है। अतः कृषि प्रधान देशों को संरक्षण की नीति अपनाना चाहिए।

प्रो० ग्राहम ने अपने तर्क के समर्थन में एक अंकगणितीय उदाहरण दिया है जिसे हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।[1]

इंगलैण्ड और अमरीका दोनो देश दो वस्तुओं घड़ियों का (घटती हुई लागत के अन्तर्गत) और गेहूँ का (बढ़ती हुई लागत के अन्तर्गत) उत्पादन करते हैं। दोनों देशों में व्यापार शुरू होने के पहले, इंगलैण्ड में गेहूँ और घड़ियों की कीमतों का अनुपात 40 : 40 है तथा अमरीका में यही अनुपात क्रमश 40 . 37 है। इस प्रकार अमरीका को गेहूँ के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ है जबकि इंगलैण्ड को घड़ियों के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ है। अमरीका में गेहूँ का उत्पादन बढ़ती हुई लागत के अन्तर्गत होता है तथा घड़ियों का उत्पादन घटती हुई लागत के अन्तर्गत होता है। अत जैसे-जैसे अमरीका गेहूँ का उत्पादन बढ़ाता है उसकी लागत बढ़ती जाती है एवं इंगलैण्ड को घड़ियों के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ होने से जैसे-जैसे वह घड़ियों का उत्पादन बढ़ाता है, उसकी लागत घटती जाती है क्योंकि घड़ियों का उत्पादन घटती हुई लागत के अन्तर्गत होता है। अपने विवेचन को सरल बनाने के लिए प्रो० ग्राहम ने लागतों के सम्बन्ध में उक्त मान्यता का सहारा लिया है।

अब दोनों देश गेहूँ और घड़ियों के अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों के अनुपात (40 : 40) के आधार पर व्यापार करते हैं। अमरीका के लिए यह लाभदायक है कि वह घड़ियों के उत्पादन में लगे हुए पूँजी और श्रम को गेहूँ के उत्पादन की ओर प्रवाहित करे क्योंकि उक्त पूँजी और श्रम से जब तक गेहूँ की 37 से अधिक इकाइयों का उत्पादन किया जा सकता है, अमरीका को यह लाभदायक होगा। फलस्वरूप घड़ियों का उत्पादन कम होगा। मानलो घड़ियों के उत्पादन में 37,000 इकाइयों की कटौती हो जाती है एवं इसमें लगे साधन गेहूँ के उत्पादन में लग जाते हैं। चूँकि गेहूँ का उत्पादन बढ़ती हुई लागत के अन्तर्गत हो रहा है, मानलो ये साधन 37,000 गेहूँ की इकाइयों का उत्पादन करते हैं जिसके बदले में अमरीका को 37,500 घड़ियाँ इंगलैण्ड से प्राप्त होगी। अब पुनः अमरीका में घड़ियों के उत्पादन में से उतने ही साधनों को हटा दिया जाता है तथा इन्हें गेहूँ के उत्पादन में प्रयुक्त किया जाता है। पहले 37,000 घड़ियों का उत्पादन कम हुआ था किन्तु अब उतने ही साधन हटाने से केवल 36,000 घड़ियों का उत्पादन कम होगा क्योंकि घड़ियों के उत्पादन में घटती हुई लागत का नियम लागू होता है। अब चूँकि अमरीका में गेहूँ का उत्पादन बढ़ती हुई लागत के अन्तर्गत हो रहा है, उक्त साधन गेहूँ की 37,500 इकाइयाँ पैदा नहीं करते वरन् 36,200 इकाइयाँ ही पैदा करते हैं। इन 36,200 गेहूँ की इकाइयों के बदले अमरीका, इंगलैण्ड से घड़ियों की 36,200 इकाइयाँ प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार अमरीका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण कुल 37,500 + 36,200 = 73,700 घड़ियाँ प्राप्त कर पाता है जबकि अपने देश में उतने ही प्रयत्नों से वह 37,000 + 37,000 = 74,000 घड़ियों का उत्पादन कर रहा था। इस प्रकार व्यापार के कारण अमरीका को 300 घड़ियों का नुकसान हुआ। इस आधार पर ग्राहम ने यह निष्कर्ष निकाला है कि, "तुलनात्मक लागत तर्क के आधार कर अमरीका को गेहूँ के उत्पादन में विशिष्टीकरण और इसका निर्यात करना चाहिए किन्तु व्यापार करने से दोनों वस्तुओं में उसकी वास्तविक आय, व्यापार न करने की स्थिति की तुलना में कम हो जाती है।"

प्रो० ग्राहम के विचार की आलोचना
(CRITICISM OF PROF GRAHAM'S VIEW)

(1) प्रतियोगिता नहीं वरन् एकाधिकार की स्थिति विद्यमान—प्रो० ग्राहम का उक्त विचार इस मान्यता पर आधारित है कि जैसे-जैसे उत्पादन बढ़ता है, लागतें घटती हैं तथा जैसे-जैसे उत्पादन घटता है, लागतें बढ़ती हैं। इस मान्यता को उन्होंने उस उद्योग पर लागू किया है जिसका उत्पादन घटती हुई लागत के अन्तर्गत हो रहा है। किन्तु प्रो० हैबरलर ग्राहम के मत से सहमत नहीं

1 Frank. D. Graham, *Quarterly Journal of Economy*, Vol 39, P 326, 192

(2) **दो से अधिक वस्तुओं तथा दो से अधिक देशों के बीच व्यापार**—प्रो. हैबरलर ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का विस्तार उन परिस्थितियों में किया है जहाँ दो से अधिक वस्तुओं एवं दो से अधिक देशों के बीच व्यापार होता है। रिकार्डो ने तुलनात्मक सिद्धान्त की व्याख्या दो देश तथा दो वस्तुओं के माडल पर की है।

(3) **यातायात-व्यय का समावेश**—रिकार्डो ने अपने सिद्धान्त में यातायात व्यय को शामिल नहीं किया है किन्तु वास्तविक जगत में जब दो देशों के बीच व्यापार होता है तो यातायात व्यय अवश्य लगता है अर्थात इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। अत रिकार्डो की मान्यता को अस्वीकार कर उन स्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की व्याख्या की गई है जहाँ यातायात व्यय लगता है।

(4) **परिवर्तनशील लागतों के अन्तर्गत सिद्धान्त की व्याख्या**—अभी तक हमने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या स्थिर लागत (Constant Cost) के अन्तर्गत की है अर्थात व्यापार करने वाले दोनों देशों में वस्तुओं का उत्पादन उत्पत्ति समता नियम के अन्तर्गत किया जाता है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि लागत स्थिर नहीं रहती वरन उसमें परिवर्तन होता है। एक निश्चित सीमा के बाद उत्पादन में उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने लगता है। अर्थात अतिरिक्त इकाइयों का उत्पादन बढ़ी हुई लागत पर होता है। इसी प्रकार उत्पादन में वृद्धि नियम अथवा घटती लागत का नियम भी लागू हो सकता है। अत उक्त दोनों स्थितियों में तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या की गयी है।

(5) **विनिमय अनुपात की निश्चित दर**—अभी तक हमने यह देखा है कि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त उन सीमाओं का निर्धारण करता है जिनके बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अन्तर्गत विनिमय-अनुपात निश्चित किया जाना चाहिए। निरपेक्ष और तुलनात्मक लागत के अन्तर्गत रिकार्डो के सिद्धान्त की व्याख्या करते समय हमने ऐसी सीमाओं का उल्लेख किया है अर्थात यह सिद्धान्त विनिमय के किसी निश्चित बिन्दु को निर्धारित नहीं करता। प्रो मार्शल ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का विस्तार कर इस बात का विश्लेषण किया है कि दो देशों के बीच विनिमय की दर क्या होगी।

(6) **श्रम में भिन्नता और उत्पत्ति के अनेक साधन**—रिकार्डो ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या इस मान्यता के अन्तर्गत की है कि उत्पत्ति का एक ही साधन है—श्रम जिसमें एकरूपता है तथा जो देश में उत्पादन के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक गतिशील हो सकता है किन्तु यह मान्यता वास्तविकता के अनुरूप नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि श्रम के अतिरिक्त उत्पत्ति के और भी अन्य साधन होते हैं जैसे भूमि, पूंजी, संगठन इत्यादि तथा श्रमिकों में एकरूपता अथवा सजातीयता नहीं पायी जाती। इसके साथ ही साथ उत्पत्ति के कुछ साधन विशिष्ट (specific) होते हैं अर्थात वे एक ही उत्पादन तक सीमित होते हैं तथा उन्हें दूसरे उत्पादन में स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता। इसके अनुसार तुलनात्मक सिद्धान्त की श्रम की गतिशीलता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। अत तुलनात्मक सिद्धान्त की उक्त मान्यताओं को हटाकर कुछ अर्थशास्त्रियों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसके साथ प्रो जेंजर, प्रो. ग्राम बावर्स, प्रो मार्शल, प्रो शुम्पीटर आदि का नाम जुड़ा हुआ है।

ऊपर हमने तुलनात्मक लागत में जिन संशोधनों का उल्लेख किया है उनमें प्रथम तीन अर्थात मौद्रिक लागत, दो से अधिक देश एवं दो से अधिक वस्तुओं एवं परिवहन लागत का समावेश का विश्लेषण इसी अध्याय में करेंगे तथा शेष संशोधनों पर आधारित सिद्धान्तों का विवेचन अगले अध्यायों में किया जायगा।

तुलनात्मक सिद्धान्त की मौद्रिक रूप में व्याख्या
(COMPARATIVE COST THEORY EXPRESSED IN TERMS OF MONEY)

रिकार्डो द्वारा तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या वस्तु विनिमय प्रणाली के अन्तर्गत की गयी है जहां मुद्रा का प्रयोग नहीं किया जाता किन्तु वर्तमान में श्रम विभाजन प्रणाली के अन्तर्गत वस्तुओं को मुद्रा से क्रय किया जाता है एवं वस्तु विनिमय प्रणाली का प्रयोग नहीं किया जाता। प्रो. टाजिग ने तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का रूपान्तर मौद्रिक लागतों के अन्तर्गत किया है। प्रो टाजिग इस सिद्धान्त के बहुत समर्थक होने के साथ आलोचक भी रहे हैं। उन्होंने इस सिद्धान्त में कई प्रकार के संशोधन प्रस्तुत किये हैं जिसमें मौद्रिक लागत का संशोधन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। अब प्रश्न यह है कि यदि श्रम लागत के स्थान पर मौद्रिक लागतों का प्रयोग किया जाता है तो भी क्या तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के समान ही इसके परिणाम होंगे। यद्यपि कुछ अर्थशास्त्रियों जिसमें प्रो एञ्जेल (Prof Angell) का नाम प्रमुख है का मत है मौद्रिक लागतों के कारण, तुलनात्मक सिद्धान्त के भिन्न परिणाम होंगे किन्तु प्रो हैबरलर एवं अन्य अर्थशास्त्रियों का मत है कि इसके कारण वस्तुओं के बीच वास्तविक सम्बन्धों में कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा और यही मत सही है।

जब हम श्रम लागत को मौद्रिक लागत और मौद्रिक कीमतों में परिवर्तित करते हैं तो व्यापार करने वाले दोनों देशों में मौद्रिक मजदूरी एवं विनिमय दर के सम्बन्ध में सन्तुलन की मान्यता का सहारा लेना जरूरी है जो भुगतान सन्तुलन में स्थापित होती है। यदि भुगतान सन्तुलन में असाम्य की स्थिति पैदा होती है तो प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का "धातु-प्रवाह-तन्त्र" (specieflow Mechanism) लागू होने लगता है और अन्त में सन्तुलन की स्थिति स्थापित हो जाती है।

प्रो टाजिग ने अपनी पुस्तक "International Trade" में जिस प्रकार मौद्रिक लागतों की व्याख्या की है उसी के अनुरूप इसका विश्लेषण हम यहाँ कर रहे हैं।[1] पहले हम श्रम लागत की व्याख्या करेंगे, उसके बाद उसे मौद्रिक लागत में परिवर्तित करेंगे।

अमेरिका और जर्मनी में श्रम लागत के अनुसार गेहूँ और कपड़े का उत्पादन निम्न प्रकार है।

तालिका 8·1

देश	श्रम के दिन	गेहूँ की इकाईयां	कपड़े की इकाईयां
अमेरिका	10	20	20
जर्मन	10	10	15

इस तालिका से स्पष्ट है कि जर्मनी की तुलना में, अमेरिका को दोनों वस्तुओं के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ है किन्तु तुलनात्मक रूप से गेहूँ में अधिक लाभ है। दूसरी ओर जर्मनी को, अमेरिका की तुलना में दोनों वस्तुओं के उत्पादन में हानि है किन्तु कपड़े के उत्पादन में तुलनात्मक रूप में कम हानि है। अत जब इन दोनों में व्यापार होता है तो अमेरिका गेहूँ के उत्पादन में विशिष्टीकरण करेगा तथा जर्मनी कपड़े के उत्पादन में विशिष्टीकरण करेगा।

अब हम इस व्यापार में मुद्रा का प्रयोग करेंगे। हम यह मानलें कि अमेरिका में प्रति दिन की मजदूरी 1.5 डालर है तथा जर्मनी में 1 डालर है। यद्यपि जर्मनी की मुद्रा, मार्क, अमेरिका के डालर से भिन्न है किन्तु हमने यहाँ विश्लेषण की सरलता के लिए जर्मनी के मार्क

1 प्रो. हैबरलर की पुस्तक "The Theory of International Trade. से उद्धृत।

मे मौद्रिक मजदूरी को उनकी विनिमय दर के अनुसार डालर मे परिवर्तित कर लिया है। मुद्रा का प्रयोग करने के बाद अब हम निम्न तालिका प्राप्त करते हैं—

तालिका 8 2

उत्पादन की मौद्रिक लागत

देश	श्रम लागत (दिनो मे)	दैनिक मजदूरी (डालर मे)	कुल मजदूरी (डालर मे)	कुल उत्पादन (इकाईयो मे)	मौद्रिक लागत/पूर्ति कीमत प्रति इकाई (डालर मे)
अमेरिका	10	1·5	15	गेहूँ 20	0·75
,,	10	1 5	15	कपड़ा 20	0 75
जर्मनी	10	1 0	10	गेहूँ 10	1 00
,,	10	1 0	10	कपड़ा 15	0 66⅔

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि अमेरिका मे जर्मनी की अपेक्षा गेहूँ की एक इकाई की उत्पादन लागत कम है, अमेरिका मे प्रति इकाई 0·75 डालर तथा जर्मनी में प्रति इकाई 1 डालर। अर्थात अमेरिका गेहूँ का उत्पादन अधिक सस्ते मे कर सकता है भले ही वहाँ मजदूरी की दर अधिक है। इसका अर्थ यह है कि ऊँची मजदूरी का परिणाम ऊँची कीमत नही होता। दूसरी ओर जर्मनी मे प्रति इकाई कपडे की उत्पादन लागत कम है क्योंकि जहाँ अमेरिका मे यह प्रति इकाई 0·75 डालर है, वही जर्मनी मे 0 66⅔ डालर है अत जर्मनी कपडे का उत्पादन अधिक सस्ते मे कर सकता है। इसका परिणाम यह होगा कि अमेरिका से गेहूँ का निर्यात किया जायगा तथा जर्मनी से कपडे का निर्यात किया जायगा। अमेरिका गेहूँ के निर्यात के बदले जर्मनी से कपडे का आयात करेगा तथा जर्मनी कपडे के निर्यात के बदले, गेहूँ का आयात करेगा जिसमे मुद्रा का प्रयोग किया जायगा। यह परिणाम पूर्ण रूप से तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त के अनुरूप है।

मजदूरी में भिन्नता की सीमाएँ

उपरोक्त उदाहरण मे हमने दोनो देशो मे मौद्रिक मजदूरी को काल्पनिक ढग से चुन लिया है किन्तु इसमे आपत्ति की कोई बात नही है। परन्तु यह स्पष्ट किया जा सकता है कि दोनो देशो मे मौद्रिक मजदूरी के अनुपात की एक ऊपरी और निचली सीमा होती है जिनके बीच मे मौद्रिक मजदूरी का निर्धारण होता है। इन दोनो का निर्धारण काल्पनिक ढग से नही किया जाता वरन् प्रत्येक देश मे श्रम की तुलनात्मक कार्यक्षमता के आधार पर किया जाता है।

उपरोक्त तालिका के अनुसार यदि हम मानलें कि जर्मनी मे दैनिक मजदूरी एक डालर है तो अमेरिका मे दैनिक मजदूरी 2 डालर से अधिक नही हो सकती क्योकि अमेरिकन श्रमिक की उत्पादन क्षमता गेहूँ मे जर्मनी से दुगनी है अर्थात यह 2 डालर की अधिकतम सीमा अमेरिका के गेहूँ उत्पादन में लागत के नाम 20·10 के आधार पर निश्चित की गई है। यदि अमेरिका मे मजदूरी की दर 2 डालर हो जाय तो अमेरिका मे गेहूँ और कपडे की प्रति इकाई की कीमत 1 डालर हो जायगी तथा इस स्थिति मे गेहूँ का निर्यात करने मे कोई लाभ नही होगा किन्तु अमेरिका मे कपडे का आयात जारी रहेगा। इसका परिणाम यह होगा कि अमेरिका का भुगतान सन्तुलन विपरीत (Adverse) हो जायेगा। अमेरिका कपडे का आयात कर भुगतान स्वर्ण मे करेगा। अर्थात अमेरिका से स्वर्ण बाहर जायगा जिससे अमेरिका मे कीमतें और मजदूरी घटेगी। जर्मनी मे स्वर्ण आ जाने मे वहाँ कीमतो और मजदूरी मे वृद्धि होगी। यह स्थिति उस समय तक जारी रहेगी जब तक पुन. सन्तुलन की स्थिति कायम नही हो जाती।

इसी प्रकार यह भी स्पष्ट किया जा सकता है कि अमेरिका में दैनिक मजदूरी 1·33 डालर से कम नहीं हो सकती। इसका निर्धारण कपड़े के उत्पादन में जर्मनी की तुलना में अमेरिका के न्यूनतम लाभ द्वारा होता है अर्थात् $\frac{4}{3}$ अनुपात द्वारा $\left(\frac{\text{अमेरिका में कपड़े की 20 इकाइयाँ}}{\text{जर्मनी में कपड़े की 15 इकाइयाँ}}\right)$ अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि निम्नतम सीमा का निर्धारण अमेरिका के कपड़े के उत्पादन में लागत में लाभ द्वारा तय होता है। यदि अमेरिका में मजदूरी की दर 1·33 डालर से नीचे गिरती है (जर्मनी में मजदूरी की दर 1 डालर है) तो जर्मनी से किसी भी वस्तु का निर्यात अमेरिका को नहीं किया जायगा, जब कि अमेरिका गेहूँ का निर्यात जर्मनी को करेगा अतः जर्मनी से स्वर्ण का प्रवाह अमेरिका को होगा तथा जर्मनी का भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल हो जायगा। अमेरिका में मजदूरी और कीमतों में वृद्धि होगी तथा जर्मनी में इनमें कमी होगी जिससे अमेरिका को पुनः जर्मनी से कपड़े का आयात करना लाभदायक हो जायगा और अन्त में सन्तुलन स्थापित हो जायगा।

अभी हमने जिन उत्पादन लागतों का निरूपण किया है केवल उनके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि ऊपरी और निचली सीमाओं के बीच निश्चित विनिमय की क्या दर होगी अर्थात् अमेरिकन गेहूँ और जर्मन कपड़े का विनिमय अनुपात क्या होगा? वास्तव में यह माँग की दशाओं पर निर्भर रहता है। यदि माँग की दशाएँ दी हुई हों तो विनिमय दर का सही अनुपात इस तथ्य के द्वारा होता है कि प्रत्येक देश के निर्यात का कुल मूल्य उसके आयात के कुल मूल्यों के बराबर होना चाहिए। तुलनात्मक लागत सिद्धान्त में इसका प्रतिपादन प्रो जे. एस मिल ने किया जिन्होंने "पारस्परिक माँग के समीकरण" (The equation of Reciprocal Demand) का प्रयोग यह बताने के लिए किया कि भुगतान सन्तुलन के दोनों पक्ष बराबर होने चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का मौद्रिक मजदूरी और वास्तविक मजदूरी पर प्रभाव

तुलनात्मक लागत का यह तात्पर्य नहीं है कि श्रम विभाजन सदैव पूर्ण रूप से होना चाहिए अर्थात् प्रत्येक देश में केवल एक ही वस्तु का उत्पादन किया जाता है अथवा दोनों देशों में एक वस्तु के अतिरिक्त साथ ही साथ दूसरी वस्तु का उत्पादन नहीं किया जाता। यदि हम यह मान लें कि परिवहन व्यय नहीं लगता एवं स्थिर लागत के अन्तर्गत उत्पादन किया जाता है तो यह सम्भव है कि केवल एक ही देश पूर्ण रूप से विशिष्टीकरण करे तथा दूसरा देश दोनों वस्तुओं का उत्पादन करे। यह उस स्थिति में होगा जब पहला देश उस वस्तु के उत्पादन से जिसमें वह विशिष्टीकरण कर रहा है, दोनों देशों की आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर पा रहा है अथवा यह उस समय भी सम्भव है जब यह देश छोटा हो एवं दूसरा देश बड़ा हो।

प्रो टॉजिग के विवेचन से यह तो स्पष्ट हो गया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और मौद्रिक लागतों का आपस में क्या सम्बन्ध है। किन्तु कुछ ऐसी वस्तुएं होती हैं जिनका व्यापार नहीं किया जाता। देश में ही उनका उत्पादन और उपभोग कर लिया जाता है। इनकी कीमतों का निर्धारण किस प्रकार होता है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि मजदूरी के स्तर पर विचार किये बिना, एक देश में वस्तुओं की कीमतें तुलनात्मक रूप से कम होंगी यदि उनके उत्पादन में श्रम का प्रभावपूर्ण ढंग से अथवा कुशलता से प्रयोग किया जाता है और इसके विपरीत, कीमतें अधिक होंगी यदि श्रम का प्रयोग अकुशलता से किया जाता है। उच्च मजदूरी का अर्थ यह नहीं होता कि कीमतें अधिक होंगी—यह गृह और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों व्यापारों पर लागू होता है।

देश के उद्योगों में मजदूरी का जो स्तर होगा, वह उस स्तर से अधिक नहीं हो सकता जो उस देश के निर्यात उद्योगों में है। क्योंकि ऐसी स्थिति में, गृह उद्योगों में श्रम के लिए होने वाली

प्रतियोगिता निर्यात उद्योगों मे मजदूरी का स्तर बढा देगी। सम्भव है कि इससे निर्यात इतने महगे हो जायें कि निर्यात करने के स्थान पर उनका आयात करना अधिक सस्ता हो जाय। आयात में स्वर्ण बाहर जायगा एव देश के उद्योगों मे मजदूरी का स्तर और कीमतें कम हो जायगी। फलस्वरूप अब निर्यात करना पुन: सम्भव हो जायगा।

जहाँ तक वास्तविक मजदूरी का प्रश्न है, उच्च मौद्रिक आय से वास्तविक आय उस समय अधिक हो सकती है यदि मौद्रिक आय को आयातित वस्तुओं पर व्यय किया जाय क्योंकि ये वस्तुएँ पहले से सस्ती हो गई है। यदि मौद्रिक आय को देश मे निर्मित औद्योगिक वस्तुओं पर व्यय किया जाता है तो वास्तविक आय उसी समय अधिक हो सकती है जब श्रमिकों की कार्यक्षमता ऊँची हो। इसका अर्थ यह है कि कार्यकुशलता से देश मे उत्पादन लागतो को कम किया जा सकता है।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त दो से अधिक वस्तुओं के सम्बन्ध मे

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या इस मान्यता के अन्तर्गत की गई है कि केवल दो वस्तुओं में व्यापार होता है—किन्तु वास्तविकता तो यह है कि दो देशो में दो से अधिक वस्तुओ का व्यापार होता है। सबसे पहले प्रो. लागफील्ड (Prof Longfield) ने रिकार्डो के माडल को दो से अधिक वस्तुओं पर लागू किया यद्यपि उसने बहुत सन्तोषजनक हल प्रस्तुत नही किया किन्तु उसने इस बात का सकेत दिया जिससे सही हल पर पहुँचा जा सकता है। लागफील्ड इस बात का उत्तर नही दे पाया कि दो देशो के बीच मजदूरी का अनुपात किस तरह निर्धारित किया जाता है? इसमें कुछ संशोधन प्रो. मेंगोल्ड (Prof Mangoldt) ने किया तथा एक देश द्वारा एक से अधिक वस्तुओं का निर्यात और आयात करने मे माँग का महत्व प्रतिपादित किया। इसके बाद प्रो. हैबरलर ने सन्तोषजनक ढग से तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का ऐसा सामान्य सिद्धान्त प्रस्तुत किया जो दो से अधिक वस्तुओ पर लागू होता है।

यदि हम स्थिर लागत की मान्यता स्वीकार करें तो इस सिद्धान्त का कथन इस प्रकार किया जा सकता है ("यहाँ पर हम देश दो ही ले रहे हैं जो X और Y हैं") X देश Y देश की तुलना में उन सब वस्तुओं पर तुलनात्मक लाभ प्राप्त करता है जिनका वह निर्यात करता है अपेक्षाकृत उन वस्तुओं के जिनका वह आयात करता है। Y देश पर भी यही सिद्धान्त लागू होता है।"

प्रो हैबरलर द्वारा उक्त सिद्धान्त की पुष्टि (Proof of the theorem by Haberler)

कल्पना करें कि X देश मे A, B, C, D इत्यादि वस्तुओ की एक इकाई के उत्पादन के लिए क्रमश a_1, b_1, c_1, d_1 श्रम लागत लगती है तथा Y देश मे इन्हीं वस्तुओं की एक इकाई के उत्पादन में a_2, b_2, c_2, d_2 श्रम लागत लगती है। इन इकाइयों की मौद्रिक लागत X देश मे क्रमश Pa_1, Pb_1, Pc_1, Pd_1, है तथा Y देश में Pa_2, Pb_2, Pc_2, Pd_2, है। प्रत्येक श्रमिक की मौद्रिक मजदूरी X देश में W_1 है तथा Y देश मे W_2 है। यहाँ हम यह कह सकते है कि प्रत्येक इकाई का मौद्रिक मूल्य (पूर्ति कीमत) उस मौद्रिक मजदूरी के बराबर होगा जो उस इकाई को तैयार करने वाले श्रमिक को दी जाती है जैसे X देश में A वस्तु का मूल्य (Pa_1) होगा = इस वस्तु की एक इकाई उत्पादन करने की श्रम इकाइयाँ (a_1) X मजदूरी प्रति इकाई श्रम (W_1) इस आधार पर कीमतों की दोनों देशों में निम्न तालिका ज्ञात की जा सकती है—

देश X	देश Y
$Pa_1 = a_1W_1$	$Pa_2 = a_2W_2$
$Pb_1 = b_1W_1$	$Pb_2 = b_2W_2$
$Pc_1 = c_1W_1$	$Pc_2 = c_2W_2$
$Pd_1 = d_1W_1$	$Pd_2 = d_2W_2$

प्रत्येक देश में सापेक्षिक कीमतें (Relative Prices) श्रम लागतों द्वारा निर्धारित होती हैं जो निम्न समीकरण द्वारा व्यक्त की जा सकती हैं—

(प्रति इकाई मौद्रिक कीमत) $Pa_1 : Pb_1 : Pc_1 : Pd_1 = a_1 : b_1 : c_1 : d_1$ (श्रम की इकाइयाँ) X देश

(,, ,, ,,) $Pa_2 : Pb_2 : Pc_2 : Pd_2 = a_2 : b_2 : c_2 : d_2$ (,, ,, ,,) Y देश

अब मौद्रिक कीमतों की निरपेक्ष सीमा निर्धारित करने के लिए, मुद्रा की मात्रा पर विचार करना भी आवश्यक है। इसके लिए प्रचलित मौद्रिक मजदूरी की निरपेक्ष दर (absolute rate) की मान्यता का सहारा लेना पड़ता है। मूल्य का श्रम सिद्धान्त केवल सापेक्षिक कीमतों पर ही विचार करता है।

कल्पना करें कि R विनिमय की दर बतलाता है अर्थात X देश की मुद्रा की एक इकाई के बदले Y देश की कितनी मुद्रा की इकाइयाँ प्राप्त होती हैं अतः यह कहा जा सकता है कि X जिन वस्तुओं का निर्यात करता है, उनमें से प्रत्येक पर $a_1 \times W_1 \times R < a_2 W_2$ का सम्बन्ध लागू होना चाहिए (यदि A का निर्यात करे) क्योंकि X देश उसी समय वस्तु का निर्यात करेगा जब उसकी पूर्ति कीमत (मौद्रिक लागत) Y की तुलना में कम हो। इसी प्रकार X जिन वस्तुओं का आयात करता है उनमें से प्रत्येक पर (यदि वस्तु B आयात करता है) $b_1 \times W_1 \times R > b_2 W_2$ का सम्बन्ध लागू होना चाहिए अर्थात X देश उसी समय B का आयात करेगा जब उसकी पूर्ति कीमत Y देश की तुलना में अधिक हो। उक्त समीकरणों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

$$a_1 \times w_1 \times R < a_2 w_2 \text{ अर्थात } \frac{a_1}{a_2} < \frac{W_2}{W_1 \times R}$$ [1]

$$b_1 \times W_1 \times R > b_2 W_2 \text{ अर्थात } \frac{b_1}{b_2} > \frac{W_2}{W_1 \times R}$$

$$\text{अतः} \quad \frac{a_1}{a_2} < \frac{b_1}{b_2}$$

इसका निष्कर्ष यह है कि X देश को Y तुलना में A वस्तु के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ है जिसका वह निर्यात करता है। X देश को Y की तुलना में जिन वस्तुओं के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ है, उसे हम क्रमशः निम्न प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

$$\frac{a_1}{a_2} < \frac{b_1}{b_2} < \frac{c_1}{c_2} < \frac{d_1}{d_2}$$

यदि हम X द्वारा निर्यात की जाने वाली वस्तुओं और आयात की जाने वाली वस्तुओं के बीच विभाजक रेखा खींच दें तथा निर्यात की जाने वाली वस्तुएँ एक ओर तथा आयात की जाने वाली वस्तुएँ दूसरी ओर होंगी। उदाहरण के लिए X देश यह नहीं कर सकता कि वस्तु A और C का निर्यात करे तथा B का आयात करे।

केवल लागत के आँकड़ों के आधार पर ही हम X और Y द्वारा उत्पादित की जाने वाली वस्तुओं की विभाजक रेखा नहीं खींच सकते। विभाजक रेखा की निश्चित स्थिति प्राप्त करने के लिए हमें विभिन्न वस्तुओं की माँग पर भी विचार करना चाहिए। एक बार लागत की दशाएँ ज्ञात हो जाने पर, एक देश किन वस्तुओं का निर्यात एवं किन वस्तुओं का आयात करेगा, यह माँग

---

1 $\frac{W_2}{W_1 \times R}$ मौद्रिक मजदूरी का अनुपात है।

की दशाओं पर निर्भर रहेगा। प्रो. हैवरलर का कथन है कि विभाजक रेखा की सही स्थिति ज्ञात करने के लिए भुगतान सन्तुलन के समाकलन (credit) और विकलन (debit) पक्ष बराबर होने चाहिए। इसे स्पष्ट करने के लिए हम एक काल्पनिक उदाहरण लेंगे जिसमें लागत आँकड़े इस प्रकार हैं—

तालिका 8 3

	वस्तुएँ							
	A	B	C	D	E	F	G	H
X देश मे प्रति इकाई वास्तविक लागत (श्रम घण्टों में व्यक्त— a_1, b_1, c_1 .. .)	10	10	10	10	10	10	10	10
Y देशों में प्रति इकाई वास्तविक लागत (श्रम घण्टों में व्यक्त— a_2, b_2, d_2 .)	50	35	20	15	10	8	6	5

उपरोक्त तालिका में X देश मे प्रत्येक वस्तु की वास्तविक लागत समान है। X देश की निर्यात और आयात की विभाजक रेखा $\frac{W_2}{W_1 \times R}$ द्वारा निर्धारित होगी। यदि दोनों देशों में मौद्रिक मजदूरी समान $\frac{W_2}{W_1} = 1$ हो तो विनिमय दर R = 1 होगी। ऐसी स्थिति में X देश की A, B, C, D वस्तुओं की मौद्रिक लागत Y देश की तुलना में कम होगी (क्योंकि इनकी निरपेक्ष वास्तविक लागत कम है) अत X देश A से D वस्तुओं का निर्यात करेगा एवं F से H वस्तुओं का आयात करेगा। वस्तु E विभाजन रेखा पर है अत इसका उत्पादन दोनों देशों में किया जायगा। इस प्रकार जब दो से अधिक वस्तुओं का व्यापार किया जाता है तो पूर्ण रूप से विशिष्टीकरण नहीं किया जाता जैसा कि रिकार्डो के दो वस्तुओं के माडल मे किया जाता है एवं कम से कम एक वस्तु ऐसी होती है जिसका उत्पादन दोनों देशों द्वारा किया जाता है।

यदि $\frac{W_2}{W_1 \times R}$ इकाई से अधिक या कम है तो विभाजक रेखा E न होकर इसके दायें या बायीं ओर होगी।

उपरोक्त तालिका के अनुसार देश X वस्तु F से H तक निर्यात करेगा तथा A से D तक आयात करेगा। X देश A से D तक की वस्तुओं का निर्यात 10 प्रति इकाई कीमत पर करेगा तथा Y देश F, G, H का निर्यात क्रमश: 8, 6, और 5 प्रति इकाई कीमत पर करेगा। इसमें भुगतान सन्तुलन में साम्य बना रहेगा अथवा नहीं, यह दोनों देशों की पारस्परिक माँग पर निर्भर रहेगा। मानलो X देश में Y देश की वस्तुओं की माँग बढ़ जाने के कारण इसका भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल हो जाता है तो स्वर्णमान के अन्तर्गत X देश से Y देश को स्वर्ण जायगा जिससे Y देश में मजदूरी और कीमतें बढ़ेंगी तथा X देश मे कम होंगी जिससे W_1 छोटा और W_2 बड़ा हो जायगा और $\frac{W_2}{W_1 \times R}$ इकाई से अधिक हो जायगा और विभाजक रेखा दायीं ओर बढ़ेगी तथा अब वस्तु E को X देश के निर्यात मे सम्मिलित कर लिया जायगा। अब X देश का भुगतान सन्तुलन जो प्रतिकूल हो गया था, साम्य की स्थिति में आ जायगा क्योंकि अब वह (i) F वस्तु का भी निर्यात कर रहा है, (ii) X द्वारा पहले से निर्यात की जाने वाली वस्तुएँ A–D सस्ती हो जाने

से उनकी निर्यात की मात्रा बढ़ गयी है और (iii) Y देश मे F, G, H, वस्तुओं का आयात मँहगा हो जाने से उसमें कमी आ गयी है। X देश से Y देश को स्वर्ण का प्रवाह उस समय तक जारी रहेगा जब तक कि भुगतान सन्तुलन मे पूर्ण साम्य की स्थिति प्राप्त नही हो जाती।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रिकार्डो ने अपनी दो वस्तुओ के मॉडल मे माँग की दशाओं पर कोई ध्यान नही दिया है जबकि उपरोक्त दो से अधिक वस्तुओं की व्याख्या मे पारस्परिक माँग की दशाओ को शामिल किया गया है क्योंकि इनके द्वारा ही विनिमय की दर को ज्ञात किया जा सकता है तथा एक देश के निर्यात और आयात की विभाजक रेखा भी जानी जा सकती है। इस प्रकार प्रो हैबरलर ने जो दो से अधिक वस्तुओं का मॉडल प्रस्तुत किया है वह रिकार्डो के दो वस्तुओं के मॉडल पर एक संशोधन है।

दो से अधिक देशो पर तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का प्रयोग
(COMPARATIVE COST THEORY APPLIED TO MORE THAN TWO COUNTRIES)

रिकार्डो ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या केवल दो देशो के सन्दर्भ मे की किन्तु वास्तव मे दो से अधिक देशो के बीच व्यापार किया जाता है। अत उक्त सिद्धान्त सरलता से उस व्यापार के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है जहाँ दो से अधिक देशो के बीच मे व्यापार होता है। एक देश के सन्दर्भ मे, अन्य देशो को एक साथ "शेष विश्व" कहा जा सकता है और जो नियम दो देशो पर लागू होता है, उसे कई देशो पर लागू किया जा सकता है। इसे निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है।

हम तीन देश A, B C लेते हैं जो बिना व्यापार किये प्रत्येक X और Y दो वस्तुएँ तैयार करते हैं। तीनो देशो की श्रम लागत भिन्न भिन्न है। दोनो वस्तुओ की तीनों देशो मे तुलनात्मक लाभ की स्थिति इस प्रकार है—

तालिका 8 4

देश	श्रम-लागत (दिनो मे)	X का उत्पादन (इकाइयों मे)	Y का उत्पादन (इकाइयों मे)
A	10	20	40
B	10	20	60
C	10	20	50

यदि हम केवल A और B दोनो देशो पर विचार करें तो स्पष्ट है कि A को X वस्तु तथा B को Y के उत्पादन मे तुलनात्मक लाभ है। इसका अर्थ है कि A देश B से Y के बदले X का निर्यात कर सकता है तथा वह X की 20 इकाइयों के बदले Y की 41 से 59 इकाइयाँ प्राप्त कर सकता है। यदि व्यापार की शर्तें इस प्रकार हैं कि X की 20 इकाइयों के बदले Y की 41 से 49 इकाइयाँ प्राप्त होती हैं तो A देश Y की कुछ इकाइयाँ X के बदले देश C से भी प्राप्त कर सकता है। किन्तु यदि व्यापार की शर्तें इस प्रकार हैं कि X की 20 इकाइयों के बदले Y की 51 से 59 इकाइयाँ प्राप्त होती हैं तो C के लिए यह लाभदायक होगा कि वह Y के स्थान पर X का उत्पादन करे क्योंकि वह X के बदले B से Y खरीदकर लाभ प्राप्त कर सकता है। किन्तु यदि व्यापार की शर्तें इस प्रकार हैं कि X की 20 इकाइयों के बदले Y की 50 इकाइयाँ मिलती हैं तो C व्यापार से पृथक हो जायगा तथा दोनो ही वस्तुओं का उत्पादन करेगा। जैसा कि तालिका से स्पष्ट है A देश X वस्तु मे विशिष्टीकरण करेगा तथा B देश Y मे विशिष्टीकरण करेगा। जहाँ तक C का प्रश्न है, इसके सम्बन्ध मे तीन सम्भावनाएं हैं—

की पर्याप्त पूर्ति होनी चाहिए। इस प्रकार राष्ट्रीय सम्पत्ति को राष्ट्रीय शक्ति का आधार बनाया गया।

नियन्त्रण की अर्थव्यवस्था (Economy of Regulation)

वाणिज्यवादियों ने अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सरकार को सम्पूर्ण अधिकार प्रदान किये। उनका मत था कि मनुष्य की क्रियाओं को सरकार द्वारा नियन्त्रित किया जाना चाहिए तथा उन्हें राष्ट्रीय शक्ति के उद्देश्य के अनुरूप होना चाहिए। सरकारी नियन्त्रण के अतिरिक्त तत्कालीन अर्थव्यवस्था के लिए अन्य कोई विकल्प भी नहीं था क्योंकि उस समय विभिन्न शिल्प एवं उद्योग भी किसी न किसी रूप में नियन्त्रित थे। प्रो. एल्सवर्थ के अनुसार, "वाणिज्यवादी दर्शन को इस रूप में परिभाषित किया जा सकता है—जिसने राष्ट्रीय शक्ति के उद्देश्य को सर्वोच्च प्राथमिकता दी एवं सम्पत्ति में वांछनीय वृद्धि करने के लिए आर्थिक जीवन के नियन्त्रण को माध्यम बनाया।"[1]

व्यापार सन्तुलन का सिद्धान्त (Balance of Trade Theory)

वाणिज्यवादियों का यहाँ अध्ययन इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि उन्होंने अपने उद्देश्यों के सन्दर्भ में एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसका सार यह था—"विदेशी व्यापार में एक राष्ट्र उसी समय लाभ प्राप्त कर सकता है जब उसका व्यापार सन्तुलन अनुकूल है अथवा उसके निर्यातों का मूल्य आयात मूल्यों से अधिक है।"[2] अनुकूल व्यापार सन्तुलन की विचारधारा वाणिज्यवादियों की इस भावना के अनुरूप है कि सोना और चाँदी सम्पत्ति के सबसे अधिक महत्वपूर्ण रूप हैं जिन्हें अनुकूल व्यापार सन्तुलन के माध्यम से ही प्राप्त किया जा सकता है। वे निर्यात मूल्यों को अधिकतम करना चाहते थे। इसके लिए वे न केवल अधिक मात्रा में निर्यात करना चाहते थे वरन् कम मूल्यों की तुलना अधिक मूल्यों के निर्यात से करना चाहते थे—इसके लिए उन्होंने कच्चे माल के निर्यात पर रोक लगा दी तथा उससे पक्के माल में निर्मित कर निर्यातों को प्रोत्साहन दिया। आयातों को वे न्यूनतम रखना चाहते थे एवं पक्के माल की तुलना में कच्चे माल के आयात को प्राथमिकता देते थे क्योंकि उसका मूल्य कम था। व्यापारवादी विचारक प्रो. वान हार्निक (Von Hornick) ने अनुकूल व्यापार सन्तुलन की व्याख्या इन शब्दों में की है, "देश में पायी जाने वाली वस्तुओं को, जिनका उपयोग प्राकृतिक रूप में नहीं किया जा सकता, देश में ही पक्के माल में परिवर्तित किया जाना चाहिए क्योंकि कच्चे माल की तुलना में निर्मित माल का मूल्य सौ गुना तक होता है। देश के निवासियों को अपना उपभोग देश में निर्मित वस्तुओं तक ही सीमित रखना चाहिए यहाँ तक कि विलासिताओं के लिए भी इन्हीं पर निर्भर रहना चाहिए और जहाँ तक सम्भव हो विदेशी वस्तुओं के बिना काम चलाना चाहिए। यदि आवश्यक ही हो तो विदेशी वस्तुओं को अनिर्मित रूप (Unfinished form) में ही आयात करना चाहिए तथा देश में उसे पक्के माल के रूप में बनाया जाना चाहिए ताकि उसके निर्माण की मजदूरी कमाई जा सके......बहुत आवश्यक स्थितियों के अतिरिक्त अन्य किसी भी हालत में ऐसी वस्तुओं का आयात नहीं किया जाना चाहिए जिनकी कि देश में पर्याप्त पूर्ति है। एक वस्तु के लिए दो डालर देना बेहतर है यदि वे देश में ही रहते हैं अपेक्षाकृत एक डालर देने के जो देश के बाहर चला जाता है।"[3]

उत्पादन बढ़ाने के लिए वाणिज्यवादियों ने गृह उद्योगों को भी नियन्त्रित किया। इस नीति के दो पहलू थे—एक तो निर्माण उद्योगों को भरसक प्रोत्साहन देना और दूसरे उत्पादन के

---

1. P. T. Ellsworth : *op. cit.*, p. 23
2. *Ibid* p. 24.
3. Von Hornick : Quoted by P. T. Ellsworth, *op. cit*, p. 27

प्रत्येक पहलू पर सघन नियन्त्रण रखना। निर्यातो को बढाने और आयातो को कम करने के लिए वाणिज्यवादियो ने छोटे से छोटे उपाय का भी सहारा लिया। अपने व्यापारिक एकाधिकारी सघो के माध्यम से वाणिज्यवादी राष्ट्रो ने अपने व्यापार सन्तुलन को अनुकूल बनाने का हर सम्भव प्रयत्न किया। इसके लिए उन्होंने उपनिवेशो से कच्चे माल को सस्ती से सस्ती कीमतो मे खरीदा तथा विदेशो को उसे मंहगे मे बेचा।

वाणिज्यवादी विचारधारा का एक पहलू और महत्वपूर्ण है। वह यह है कि वे न केवल व्यापार सन्तुलन से परिचित थे, वरन् भुगतान सन्तुलन से भी अवगत थे। वे न केवल अपने माल के लिए विदेशियो से अधिक मूल्य लेते थे वरन् अदृश्य मदो (Invisible items) से भी अपने भुगतान को अधिकतम करना चाहते थे, जैसे माल-परिवहन का भाडा, बीमा भुगतान, यात्री-व्यय, विदेशो मे कूटनीतिक और सैनिक व्यय इत्यादि। अत वाणिज्यवादियो का सन्तुलन केवल व्यापार सन्तुलन तक सीमित नही था वरन् उसमे समस्त प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान का सन्तुलन शामिल था। इसीलिए वान हार्निक कहते हैं कि "यदि निर्यात का माल हम अपने जहाजो मे भेजते हैं तो हमारे निर्यात का मूल्य बढ सकता है क्योकि ऐसी स्थिति मे हमे न केवल अपने माल का मूल्य मिलता है किन्तु माल को समुद्र पार ले जाने का किराया और बीमा-व्यय भी मिलता है।"[1]

इस प्रकार वाणिज्यवादियो ने अपने अनुकूल व्यापार सन्तुलन का सिद्धान्त प्रस्तुत किया।

वाणिज्यवादियों के व्यापार सिद्धान्त की आलोचना

वाणिज्यवादियो ने मुद्रा और सम्पत्ति मे कोई भेद नही किया तथा बहुमूल्य धातुओ को बहुत महत्व दिया एव देश मे सोने-चाँदी की अभिवृद्धि के लिए उन्होंने अनुकूल व्यापार सन्तुलन पर जोर दिया। परन्तु आगे चलकर इनके सिद्धान्त की कटु आलोचना की गई। अनुकूल व्यापार सन्तुलन की आलोचना इस आधार पर की गई कि समस्त देशो के निर्यात अधिक हो तथा आयात कम हो, यह सम्भव नही है। कारण यह है कि जब एक देश अपने आयात को कम करने के लिए प्रतिबन्ध लगायेगा तो दूसरे देशो को नुकसान होगा क्योंकि वे कम माल निर्यात कर पायेंगे अत दूसरे देश भी बदले अथवा देश हित की भावना से इसी नीति को अपनायेंगे जिसका प्रभाव यह होगा कि सभी देशो के निर्यात कम हो जायेंगे। व्यापारियों की यह बडी भूल थी कि वे आयात की तुलना मे अधिक निर्यात करने की नीति को अपने व्यापार सिद्धान्त का स्थायी पहलू बनाना चाहते थे।

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त ने वाणिज्यवादियो के इस भ्रम को भी नष्ट कर दिया कि मुद्रा और सम्पत्ति मे कोई भेद नही है अथवा एक देश सदैव अपना माल विदेशो मे बेच सकता है। अर्थशास्त्री डेविड ह्यूम (David Hume) ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त और व्यापार सन्तुलन के सिद्धान्त मे विरोध स्थापित कर दिया। उनके अनुसार किसी भी देश मे कीमतें मुद्रा की मात्रा के द्वारा निर्धारित होती हैं तथा विभिन्न देशो मे कीमतें पारस्परिक-निर्भर रहती है—जिस देश मे कीमतें कम हैं वह अपना माल उस देश को बेच सकता है जहाँ कीमतें अधिक हैं—ऐसी स्थिति मे कम कीमत वाले देश मे मुद्रा की मात्रा बढेगी जिससे वहाँ कीमतें बढ जायेगी तथा दूसरे मे कीमतें घट जायगी। अन्त मे राष्ट्रीय कीमत स्तरो मे कुछ सामान्य सम्बन्धो के साथ सन्तुलन स्थापित हो जाता है। इसे प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो का "कीमत-धातु प्रवाह विश्लेषण" (Classical Price-specieflow Analysis) कहते हैं। आगे चलकर प्रो. एडम स्मिथ ने भी वाणिज्यवादी विचारधारा की कटु आलोचना की तथा उनकी प्रतिबन्धित प्रणाली के स्थान पर व्यक्तिवाद की विचारधारा को विकसित किया।

---

1 Von Hornik : Quoted by P. T. Ellsworth, *op. cit*, p. 27

किन्तु उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद भी प्रो. जे. एम. केन्स ने वाणिज्यवादियों के व्यापार सन्तुलन के सिद्धान्त में महत्त्वपूर्ण गुण की खोज की है। उनकी दृष्टि में रोजगार बनाये रखने के लिए व्यापार सन्तुलन एक देश के लिए वांछनीय है क्योंकि देश की अर्थव्यवस्था के लिए यह एक विनियोग के समान है। इसके अतिरिक्त अनुकूल व्यापार सन्तुलन से जिन बहुमूल्य धातुओं का आयात होता है, उससे देश में मुद्रा का परिमाण बढ़ जाता है जिससे ब्याज की दर कम हो जाती है जिससे देश में अधिक मात्रा में विनियोग को प्रोत्साहन मिलता है।

इस प्रकार वाणिज्यवादियों ने व्यापार का एक ऐसा सिद्धान्त विकसित किया जो संरक्षण-सिद्धान्त के अधिक नजदीक है। यद्यपि वाणिज्यवादियों के बाद प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने स्वतन्त्र व्यापार का सिद्धान्त विकसित किया किन्तु आधुनिक युग में प्रायः समस्त राष्ट्र संरक्षण की नीति अपना रहे हैं। किन्तु व्यापारवादियों के युग के संरक्षण एवं आधुनिक संरक्षण में बहुत अन्तर है।

वाणिज्यवादियों के व्यापार-सिद्धान्त को जानने के बाद अब हम एडम स्मिथ के व्यापार सम्बन्धी सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे जो वाणिज्यवादियों के व्यापार-सिद्धान्त के विरोध में विकसित किया गया।

एडम स्मिथ का स्वतन्त्र व्यापार सिद्धान्त
(FREE TRADE THEORY OF ADAM SMITH)

वाणिज्यवादियों द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों के विरोध में एडम स्मिथ ने स्वतन्त्रता का आह्वान किया तथा उनके अनुकूल व्यापार सन्तुलन की कटु आलोचना करते हुए मुक्त व्यापार का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। स्मिथ ने जिस व्यक्तिवाद का समर्थन किया, उसकी पृष्ठभूमि प्रसिद्ध विद्वान लॉक (Locke) एवं डेविड ह्यूम (David Hume) के विचारों में देखी जा सकती है। लॉक ने मनुष्यों की समानता को स्वीकार करते हुए उनके प्राकृतिक अधिकारों का समर्थन किया। उसने सरकार के कार्यों को सीमित किया तथा सरकार की आवश्यकता को केवल इसलिए प्रतिपादित किया ताकि वह शान्ति और व्यवस्था कायम कर सके जिससे लोग अपने प्राकृतिक अधिकारों का प्रयोग कर सकें। इस प्रकार सरकार को व्यक्तियों की इच्छाओं को ही प्रतिबिंबित करना चाहिए। जो प्रतिपादन लॉक ने शासन के लिए किया, वही स्मिथ ने अर्थशास्त्र के लिए किया। 1776 में प्रकाशित अपनी पुस्तक "वैल्थ आफ नेशन्स" में एडम स्मिथ ने वाणिज्यवादियों की राज्य शक्ति (State Power) की विचारधारा पर तीव्र आक्रमण किया। स्मिथ ने बताया कि प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति अपने हितों को अच्छी तरह जानता है तथा वह अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बना सकता है तथा उसकी समृद्धि से सामाजिक कल्याण में भी वृद्धि होगी। स्मिथ ने स्वतन्त्र प्रतियोगिता का समर्थन किया तथा इसमें सरकारी हस्तक्षेप की कटु आलोचना की। स्मिथ का अदृश्यशक्ति (Invisible Hand) में विश्वास था जो मनुष्य को पूर्णता की ओर ले जाती है।

एडम स्मिथ ने एक व्यक्तिवादी आर्थिक प्रणाली का निर्माण किया जिसमें सरकारी नियन्त्रण को अनावश्यक बताया गया और यह प्रतिपादित किया गया कि अहस्तक्षेप नीति (Laissey faire) के अन्तर्गत ही सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। स्मिथ ने यह कहकर वाणिज्यवादी प्रणाली की आलोचना की कि उसमें उपभोक्ता के हितों को तिलाञ्जलि देकर उत्पादन के हितों की रक्षा की जाती थी। स्मिथ ने वाणिज्यवादियों के अनुकूल व्यापार सन्तुलन, आयातों पर प्रतिबन्ध तथा निर्यात प्रोत्साहन की तीव्र निन्दा की। स्मिथ ने स्वतन्त्र व्यापार को आर्थिक विकास के लिए आवश्यक शर्त स्वीकार किया क्योंकि स्वतन्त्र व्यापार के कारण ही देश उन वस्तुओं का उत्पादन कर सकता है जो न्यूनतम लागत पर तैयार की जा सकती हैं। एडम स्मिथ ने वाणिज्यवादियों के इस विचार को भी अस्वीकार कर दिया कि व्यापार में आपस में दोनों पक्षों को लाभ नहीं होता।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

एडम स्मिथ ने श्रम विभाजन के महत्व को प्रतिपादित किया और बताया कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के कारण ही विदेशी व्यापार मे लाभ होता है। दो देशो के बीच व्यापार क्यो होता है, इसे समझाने के लिए उन्होंने निरपेक्ष लाभ के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। स्मिथ ने स्पष्ट किया कि यदि विशिष्टीकरण का सहारा लिया जाय तो कार्यक्षमता मे वृद्धि की जा सकती है और उत्पादन बढाया जा सकता है।

स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन को प्रोत्साहन मिलता है क्योकि इससे प्रत्येक राष्ट्र ऐसी वस्तुओ का उत्पादन कर सकता है जो वह सबसे सस्ते मे बना सकता है। जब एक देश दूसरे देश की तुलना मे एक वस्तु को सस्ता तैयार कर सकता है, तो दूसरे देश के लिए यह लाभदायक होगा कि उस वस्तु का निर्माण अपने देश मे न करे बरन् पहले देश से खरीद ले। इसी प्रकार पहला देश, दूसरे देश से उस वस्तु को खरीद ले जो वह तुलनात्मक रूप से सस्ता बना सकता है। इस प्रकार स्मिथ के अनुसार देशो मे होने वाले व्यापार से विश्व के उत्पादन के साधनों का कुशलतम वितरण सम्भव हो जाता है जिससे व्यापार करने वाले देशों की वास्तविक आय बढती है।

एडम स्मिथ अपने स्वतन्त्र व्यापार की सीमाओ एव अपवाद से भी अवगत थे। उन्होंने यह स्वीकार किया कि सुरक्षा उद्योगो को पूर्ण सरक्षण दिया जाना चाहिए। इसी प्रकार ऊँची प्रशुल्क दरो का विरोध करने के लिए स्मिथ ने बदले की भावना का भी समर्थन किया। लेकिन इन अपवादो को छोडकर स्मिथ ने स्वतन्त्र व्यापार मे अन्य बन्धनो को स्वीकार नही किया। स्मिथ का विश्वास था कि विदेशी व्यापार से बाजार का विस्तार होता है जिससे उत्पादकता बढती है। यह सब राष्ट्रो के हित मे होता है कि वे अपने साधनो को ऐसे उत्पादन मे लगायें जिसमे उन्हे अन्य देशो की तुलना मे लाभ हो तथा अपनी अन्य आवश्यकता की वस्तुओं को अन्य देशों से खरीद लें। विदेशी व्यापार के प्रमुख लाभ की चर्चा करते हुए स्मिथ कहते हैं कि "इससे एक देश के उत्पादन का अतिरिक्त अंश जिसकी कि देश मे माँग नही होती, विदेशो को भेजा जा सकता है तथा इसके बदले मे उन वस्तुओं को खरीदा जा सकता है जिनकी देश मे माँग होती है। इससे उनके अतिरिक्त उत्पादन को मूल्य प्राप्त होता है जिसका विनिमय उन वस्तुओ से किया जाता है जो उनकी आवश्यकताओ के एक अश को पूर्ण करती हैं तथा आनन्द को बढ़ाती है।"[1]

स्मिथ का निरपेक्ष लाभ का सिद्धान्त (Smith's Theory of Absolute Advantage)

स्मिथ के अनुसार दो देशो मे व्यापार उस स्थिति मे होता है यदि उनमे मे एक देश को एक वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ है तथा दूसरे देश को दूसरी वस्तु के उत्पादन मे निरपेक्ष लाभ है। इसे दो देशों A और B का उदाहरण देकर समझाया जा सकता है जिनमे प्रत्येक दो वस्तुओं—गेहूँ और कपडा का उत्पादन कर रहा है। इसकी लागत की व्याख्या हम श्रम मे करेंगे।

देश A मे एक घण्टे के श्रम से गेहूँ की 40 इकाइयाँ तथा कपडे की 12 इकाइयाँ तैयार की जा सकती हैं। देश B मे एक घण्टे के श्रम से गेहूँ की 20 तथा कपडे की 16 इकाइयाँ तैयार की जा सकती हैं। यह अग्रांकित तालिका से स्पष्ट है :

1 "It carries out th[illegible]
is no demand a[illegible]
there is a demand [illegible]
thing else, which [illegible]

एक घण्टे के श्रम का उत्पादन (इकाइयों में)

उत्पादन	देश A में	देश B में
गेहूँ	40	20
कपड़ा	12	16

यह स्पष्ट है कि B की तुलना में A को गेहूँ के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ है तथा A की तुलना में B को कपड़े के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ है। अतः यदि A सिर्फ गेहूँ का उत्पादन करे तथा B सिर्फ कपड़े का एवं आपस में व्यापार करें अर्थात A गेहूँ देकर B से कपड़ा खरीदे तथा B कपड़ा देकर A से गेहूँ खरीदे तो न केवल कुल उत्पादन अधिक होगा वरन् विनिमय में दोनों देशों को लाभ होगा।

आलोचनात्मक मूल्यांकन

व्यावहारिक दृष्टि से स्मिथ का व्यापार का सिद्धान्त स्पष्ट और विश्वसनीय नहीं है। यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि एक देश को किसी न किसी वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ होना चाहिए ताकि उसका निर्यात किया जा सके अर्थात् निर्यातक देश को दिये हुए श्रम और पूँजी की सहायता से अन्य देशों की तुलना में अधिक उत्पादन करने में सक्षम होना चाहिए। परन्तु ऐसा देश भी हो सकता है जो अन्य देशों की तुलना में किसी भी वस्तु के उत्पादन में श्रेष्ठ न हो अर्थात् उसे निरपेक्ष लाभ न हो। ऐसा उदाहरण किसी पिछड़े देश का हो सकता है जो अकुशल है, जिसकी उत्पादन विधियाँ पिछड़ी हुई हैं। क्या ऐसे देश को विदेशी व्यापार से लाभ प्राप्त होगा? अथवा विदेशी प्रतियोगिता के कारण उसके उद्योगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा? एडम स्मिथ का सिद्धान्त इस समस्या को हल नहीं कर सका। वास्तव में स्मिथ ने विदेशी व्यापार के कारणों तथा उसकी शर्तों को निर्धारित करने वाले तत्वों की कोई विस्तृत और सन्तोषजनक व्याख्या प्रस्तुत नहीं की। स्मिथ ने केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधार को ही प्रस्तुत किया जो अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के कारण होने वाला लाभ था। बाद में डेविड रिकार्डो ने 1817 में प्रकाशित होने वाली अपनी पुस्तक *'Principles of Political Economy'* में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को प्रस्तुत करके न केवल स्मिथ के व्यापार के सिद्धान्त के दोष को दूर किया वरन् अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. एडम स्मिथ द्वारा प्रतिपादित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त का विवेचन कीजिए।
2. वाणिज्यवादियों के "अनुकूल व्यापार सन्तुलन" सिद्धान्त को समझाइए। क्या यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की व्यावहारिक नीति थी?
3. किस आधार पर स्मिथ ने वाणिज्यवादियों के व्यापार सिद्धान्त की आलोचना की, उसकी व्याख्या कीजिए।

Selected Readings

1. P. T. Ellsworth : *The International Economy*
2. P. K. Ray & K B Kundu : *International Economics; Pure Theory; Trade Policy*
3. D M Mithani : *Introduction to International Economics*

अध्याय 5

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विशुद्ध और मौद्रिक सिद्धान्त

[PURE AND MONETARY THEORY OF INTERNATIONAL TRADE]

परिचय

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध मे अभी तक हम सामान्य जानकारी प्राप्त कर चुके हैं एव वाणिज्यवादी अनुकूलन व्यापार सन्तुलन तथा एडम स्मिथ के निरपेक्ष लाभ के व्यापार के सिद्धान्त का अध्ययन हमने कर लिया है। अब हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रचलित महत्वपूर्ण सिद्धान्तो का अध्ययन करेंगे जिनमे यह स्पष्ट किया जायगा कि एक देश किन वस्तुओ का निर्यात करता है तथा किन वस्तुओ का आयात करता है तथा देशो में वस्तुओ का विनिमय होने के लिए किन शर्तों का होना आवश्यक है। इन सिद्धान्तो की जानकारी के पहले हम यह समझ लें कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्तो म दो प्रकार का भेद किया जाता है—विशुद्ध सिद्धान्त और मौद्रिक सिद्धान्त—जो इस प्रकार है—

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विशुद्ध और मौद्रिक सिद्धान्त

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के **विशुद्ध** (Pure) सिद्धान्त को सन्तुलन (**Equilibrium**) सिद्धान्त भी कहा जाता है जो यह स्पष्ट करता है कि व्यापार मे सतुलन की स्थिति कैसे स्थापित की जाती है। विशुद्ध सिद्धान्त वास्तविक सन्दर्भ मे व्यापार मे सतुलन की शर्तों का विश्लेपण कर उन्हे स्पष्ट करता है। यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आर्थिक कारणो एव परिणामो की व्याख्या करता है। अन्य शब्दो मे कहा जा सकता है कि विशुद्ध सिद्धान्त हमे इस प्रश्न का उत्तर देता है कि दो देशो में वस्तुओ का विनिमय क्यो होता है ? प्रो हेबरलर के अनुसार इस प्रश्न को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभो से पृथक नही किया जा सकता क्योकि उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि दो देशो में विनिमय इसलिए होता है क्योकि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन इसे लाभप्रद बनाता है। इसी प्रकार दूसरा प्रश्न है कि एक राष्ट्र किन वस्तुओ का निर्यात करेगा ? इसका स्वाभाविक उत्तर यह होगा कि एक देश उन वस्तुओ का निर्यात करेगा जिनके उत्पादन में वह सर्वाधिक योग्य एव कुशल है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विशुद्ध सिद्धान्त का यह विशिष्ट लक्षण है कि वह सामान्य मूल्य सिद्धान्त (General Theory of Value) का एक अश है। किन्तु वह मूल्य सन्तुलित सिद्धात गतिशील (Dynamic) न होकर स्थैतिक (Static) है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का मौद्रिक सिद्धान्त, अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन के आर्थिक पहलू से सम्बन्धित है जिसमें वित्तीय लेन-देन के अतिरिक्त पूंजी का प्रवाह भी सम्मिलित होता है। मौद्रिक सिद्धान्त मुख्य रूप से दो देशों के बीच की मुद्रा के बीच विनिमय दर निर्धारित करता है तथा भुगतान में सन्तुलन स्थापित करने की विभिन्न विधियों का परीक्षण भी करता है। जैसे क्रयशक्ति समता सिद्धान्त, भुगतान सन्तुलन, व्यापार की शर्तें आदि का अध्ययन व्यापार के मौद्रिक सिद्धान्त के अन्तर्गत किया जाता है।

विशुद्ध और मौद्रिक सिद्धान्त—तुलनात्मक विवेचन

अर्थशास्त्र में अब तक इस बात का अध्ययन नहीं किया गया है कि उक्त दोनों-विशुद्ध और मौद्रिक सिद्धान्त आपस में किस तरह से सम्बन्धित है। जहाँ तक दोनों में गतिशीलता का प्रश्न है, विशुद्ध सिद्धान्त प्रायः स्थैतिक है, अधिक से अधिक इसे प्रारम्भिक तौर पर गतिशील (Rudimental Dynamic) कहा जा सकता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मौद्रिक सिद्धान्त को आंशिक तौर पर पूर्ण गतिशील सिद्धान्त कहा जा सकता है। इसका कारण यह है कि मौद्रिक सिद्धान्त का निकट सम्बन्ध व्यापार चक्र के सिद्धान्त एवं प्रो. केन्स के आय और रोजगार के सिद्धान्त से है।

विशुद्ध सिद्धान्त मुख्य रूप से इस बात का अध्ययन करता है कि गतिशील परिवर्तनों जैसे रुचि, तकनीक और आर्थिक नीति इत्यादि के कारण आर्थिक सन्तुलन एक स्थिति से दूसरी स्थिति में किस प्रकार परिवर्तित होता है। यह सिद्धान्त नये सन्तुलन के लक्षणों की भी व्याख्या करता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का मौद्रिक सिद्धान्त इस अध्ययन तक सीमित है कि एक बार सन्तुलन में गड़बड़ी पैदा हो जाने पर हम वापस उसी सन्तुलन में किस प्रकार पहुँच सकते है अर्थात मौद्रिक सिद्धान्त, आर्थिक सन्तुलन के विभिन्न तत्त्वों की व्याख्या नहीं करता। किन्तु जहाँ तक समायोजन की प्रक्रिया (Process of Adjustment) का सम्बन्ध है, यह मौद्रिक सिद्धान्त द्वारा ही किया जा सकता है क्योंकि विशुद्ध सिद्धान्त उक्त समायोजनों की व्याख्या करने में सक्षम नहीं है।

उक्त अध्ययन को दृष्टि में रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सिद्धान्त की दो बातें हमारे सामने आती हैं—प्रथम तो है इसकी साधारण प्रकृति जिससे यह असाधारण-सा प्रतीत होता है और द्वितीय है कि समायोजन की प्रकृति के सन्दर्भ में यह विशिष्ट मान्यताओं को लेकर चलता है। चूंकि यह कुछ मान्यताओं पर आधारित है अतः इसकी सर्वव्यापकता एक प्रश्न चिन्ह बन जाती है। यही कारण है कि सही ढंग से विशुद्ध सिद्धान्त का एकीकरण मौद्रिक सिद्धान्त के साथ नहीं किया जा सकता।

सबसे पहले हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विशुद्ध सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन करेंगे एवं उसके बाद इन सिद्धान्तों का क्रमशः विस्तार से अध्ययन करेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विभिन्न विशुद्ध सिद्धान्त

प्रो. हैबरलर के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में चार सिद्धान्त प्रचलित हैं जो इस बात की व्याख्या करते है कि दो देशों में निर्यात और आयात क्यों होते हैं तथा वे कौन-सी स्थितियाँ है जिनके अनुसार एक देश से अमुक वस्तुओं का आयात किया जाता है यद्यपि ये चारों सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक हैं, किन्तु इनका प्रतिपादन अलग-अलग लेखकों द्वारा किया गया है तथा इनको एकीकृत करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है। ये चार सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

(1) तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त—इस सिद्धान्त का विकास प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के मूल्य के श्रम सिद्धान्त से हुआ। यद्यपि इस सिद्धान्त के साथ राबर्ट टोरेन्स (Robert Torrens) का नाम सम्बन्धित किया जाता है किन्तु इसे प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डेविड रिकार्डो ने अपनी पुस्तक "Principles of Political Economy" में पूर्ण रूप से विकसित किया जो 1817 में प्रकाशित

हुई। इसके बाद प्रो. जे. एस. मिल ने इस सिद्धान्त का परिवर्द्धन किया तथा केयरन्स और वेस्टेबल सरीखे अर्थशास्त्रियों ने इसे और अधिक स्पष्ट रूप दिया। इस सिद्धान्त की नवीनतम और विस्तृत व्याख्या प्रो. टॉजिग (Prof. Taussing) ने अपनी पुस्तक "International Trade" में दी है। इस सिद्धान्त को विकसित करने में प्रो. ग्राहम, प्रो. जेकब वाइनर और प्रो. हैवरलर का भी महत्वपूर्ण योगदान है। अर्थशास्त्र के सिद्धान्त में तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रतिष्ठित सिद्धान्त के रूप में जाना जाता है।

(2) पारस्परिक पूर्ति एवं माँग का सिद्धान्त (Reciprocal Supply and Demand Theory)—इस सिद्धान्त का नाम प्रो. मार्शल के साथ जुड़ा है जिसका प्रतिपादन प्रो. मार्शल ने 1878-79 में अपनी रचना "The Pure Theory of Foregin Trade" में किया। यह सिद्धान्त प्रमुख रूप से तुलनात्मक लागत का पूरक सिद्धान्त ही है क्योंकि तुलनात्मक लागत की तर्कपूर्ण व्याख्या करने में मार्शल के सिद्धान्त में ही समाहित हो जाता है। मार्शल ने अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की व्याख्या को प्रो रिकार्डो और प्रो जे एस मिल के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य के सिद्धान्त पर आधारित किया है।

(3) परेटो का सामान्य आर्थिक सन्तुलन का सिद्धान्त (Paretiau General Economic Equilibrium Theory)—आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त को सामान्य आर्थिक सिद्धान्त का एक विशिष्ट पहलू ही स्वीकार किया है। अर्थात आर्थिक सन्तुलन के सामान्य सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर भी लागू किया जा सकता है। सर्वप्रथम इसकी व्याख्या प्रो. परेटो ने की। बाद में प्रो ओहलिन ने सामान्य सन्तुलन सिद्धान्त का प्रयोग, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में बहुत ही प्रभावपूर्ण ढंग से किया तथा स्पष्ट किया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की ही एक विशिष्ट दिशा है। उन्होंने बताया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त सामान्य मूल्य सिद्धान्त का एक आवश्यक अंग है क्योंकि जो आर्थिक शक्तियाँ किसी बाजार विशेष में मूल्यों को निर्धारित करती हैं, वे ही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विनिमय को प्रभावित कर मूल्यों को निर्धारित करती हैं। इस सिद्धान्त को पारस्परिक आत्म निर्भरता का सिद्धान्त भी कहते हैं।

(4) आंशिक समय का सिद्धान्त (Theory of Partial Equilibrium)—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन रिचर्ड शुलर (Richard Schuller) तथा एनरिको बेरोन (Enrico Barone) ने किया। यद्यपि दोनों लेखकों ने एक ही विषय वस्तु का विवेचन किया है किन्तु इन दोनों की तकनीक और विधि भिन्न है। जहाँ शुलर ने गणितीय उदाहरणों का प्रयोग किया है बेरोन ने रेखागणित का प्रयोग कर वक्रों का सहारा लिया है। दोनों लेखकों ने वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय को स्पष्ट करने के लिए आंशिक सतुलन विधि (Partial Equilibrium Method) का सहारा लिया है जिसका प्रयोग किसी विशेष वस्तु की माँग-पूर्ति वक्रों को स्पष्ट करने के लिए किया जाता है। आंशिक सतुलन सिद्धान्त का प्रयोग करने के कारण उक्त सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पूर्ण पहलू प्रस्तुत नहीं करता वरन आंशिक चित्रण ही प्रस्तुत करता है।

प्रो हेबरलर के अनुसार, "ये चारों सिद्धान्त परस्पर पृथक न होकर एक दूसरे के पूरक हैं।[1]

उक्त व्यापार के विशुद्ध सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय पाने के बाद हम अगले अध्यायों में उनकी विस्तृत व्याख्या करेंगे। सबसे पहले तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त की व्याख्या की जायगी

1 "These four theories are not mutually exclusive, on the contrary, they supplement one another." *op cit.* p 123

क्योंकि यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उसके बाद मार्शल के सिद्धान्तों एवं सामान्य सन्तुलन के सिद्धान्तों का विवेचन किया जाएगा।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विशुद्ध और मौद्रिक सिद्धान्तों में क्या अन्तर है? इनकी तुलनात्मक विवेचना कीजिए।

2 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रमुख सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन कीजिए।

Selected Readings

1 G. V. Haberler *The Theory of International Trade*
2. D. M. Mithani . *Introduction to International Economics.*

अध्याय 6

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त

[THE THEORY OF COMPARATIVE COST]

परिचय

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, वह तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त के नाम से विख्यात है। संक्षेप में कहा जाय तो यह सिद्धान्त विभिन्न देशों द्वारा वस्तुओं के उत्पादन में श्रम-विभाजन के सिद्धान्त का विस्तार अथवा प्रयोग है। इस सिद्धान्त का वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादन प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री डेविड रिकार्डो ने किया तथा इसका विकास प्रो जे एस मिल, प्रो केयरस एवं प्रो. बेस्टेबल ने किया। 19वीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र में दो अर्थशास्त्रियों का नाम सर्वोपरि है—डेविड रिकार्डो एवं जे एस मिल जिन्होंने दो देशों के बीच वस्तुओं के विनिमय के कारणों की व्याख्या की।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के सामने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित तीन प्रमुख प्रश्न थे— पहला यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक पृथक सिद्धान्त क्यों होना चाहिए ? दूसरा यह कि दो देशों के बीच वस्तुओं का आयात-निर्यात किस प्रकार निर्धारित किया जाता है, तीसरा यह कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विनिमय की दरों का निर्धारण किस प्रकार किया जाता है ? पहले प्रश्न का अध्ययन हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता क्यों है। तीसरे प्रश्न का जवाब प्रथम तो मिल तथा बाद में मार्शल द्वारा दिया गया है जिसका अध्ययन अगले अध्यायों में किया जायगा। दूसरे प्रश्न का जवाब प्रो रिकार्डो ने दिया कि तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त ही दो देशों के बीच आयात और निर्यात के स्वरूप को निर्धारित करता है।

तुलनात्मक लागत साररूप में (Gist of Comparative Cost)

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का सार यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार दो देशों में उत्पत्ति के साधनों की विभिन्नता है जो देशों की तुलनात्मक लागत की विभिन्नता में प्रतिबिम्बित होता है। स्वतन्त्र व्यापार होने की स्थिति में प्रत्येक देश उन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करेगा जिनमें उसके पास आवश्यक साधन उपलब्ध है क्योंकि उन वस्तुओं का उत्पादन सापेक्षिक रूप में अधिकतम लाभ अर्थात् न्यूनतम तुलनात्मक लागत के आधार पर किया जा सकता है। एक देश ने जिन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त किया है, उनके अतिरेक (Surplus) का निर्यात करेगा तथा उन वस्तुओं का आयात करेगा जिन्हें वह तुलनात्मक रूप से कम लागत पर तैयार नहीं कर सकता। इस सिद्धान्त का आधार प्रो एडम स्मिथ के निरपेक्ष लाभ के सिद्धान्त में देखा जा सकता है जिसका विवेचन हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। किन्तु इसको पूर्ण रूप से विकसित

करने का श्रेय प्रो. रिकार्डो को ही है जिन्होंने दो वस्तुओं और दो देशों का उदाहरण देकर, मूल्य के श्रम सिद्धान्त के आधार पर तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की स्पष्ट व्याख्या की है।

मूल्य का श्रम सिद्धान्त, तुलनात्मक लागत का आधार

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने मूल्य के श्रम सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तथा इसे मूल्य की वास्तविक लागत (Real Cost) का आधार माना। यह सिद्धान्त स्पष्ट करता है कि वस्तुओं का परस्पर विनिमय, उनके उत्पादन करने में लगे हुए श्रम के आधार पर होता है। जिन वस्तुओं का मूल्य समान होता है उनको बनाने में श्रम की समान मात्रा लगती है। इस प्रकार इन अर्थशास्त्रियों ने वास्तविक लागत को श्रम के समय (Labour time) के रूप में व्यक्त किया। यदि और सरल भाषा में कहा जाय तो किसी वस्तु का मूल्य उसकी श्रम लागत पर निर्भर रहता है। यदि किसी उद्योग के माल की कीमत उसमें लगे हुए श्रम के मूल्य से अधिक है तो अन्य उद्योगों से श्रम इस उद्योग की ओर प्रवाहित होता है। जिससे इस उद्योग की पूर्ति बढ़ जाती है तथा कीमत अन्त में जाकर श्रम के मूल्य के बराबर हो जाती है। इस प्रकार एक देश में मजदूरी की प्रवृत्ति समान रहने की होती है।

किन्तु रिकार्डो की यह मान्यता है कि दो विभिन्न देशों में मूल्यों की प्रवृत्ति समान होने की नहीं होती क्योंकि इन देशों में उत्पत्ति के साधनों में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गतिशीलता नहीं पायी जाती। ऐसी स्थिति में वस्तुओं का आयात-निर्यात किस आधार पर होता है ? रिकार्डो के अनुसार यह तुलनात्मक लागत के आधार पर होता है। सरल शब्दों में, "जब दो देश वस्तुओं का उत्पादन सापेक्षिक रूप से विभिन्न श्रम लागत के आधार पर करते हैं तो यह प्रत्येक देश के लिए लाभदायक होगा कि वह उन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करे जिनकी लागत सापेक्षिक रूप से न्यूनतम है।"[1]

रिकार्डो ने मूल्य के श्रम लागत सिद्धान्त को निम्न मान्यताओं पर आधारित किया है—

(i) केवल श्रम ही उत्पत्ति का साधन है। (ii) समस्त श्रम एक ही प्रकार का है।

(iii) देश में श्रम पूर्ण रूप से गतिशील है (iv) श्रमिकों में पूर्ण प्रतियोगिता है।

इन मान्यताओं के आधार पर ही रिकार्डो ने यह निष्कर्ष निकाला कि देश में उत्पत्ति के विभिन्न क्षेत्रों में श्रम का वितरण इस प्रकार होता है कि प्रत्येक स्थान पर उसकी सीमान्त उत्पादकता, मजदूरी के बराबर रहती है। किन्तु चूँकि श्रम, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गतिशील नहीं होता उक्त नियम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लागू नहीं होता। अर्थात् श्रम लागत का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विनिमय-मूल्य को निर्धारित नहीं करता।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या

अब तक यह स्पष्ट किया जा चुका है कि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इसलिए होता है क्योंकि भिन्न देशों को विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन, में भिन्न-भिन्न लाभ होता है। इन विभिन्न लाभों को निर्धारित करने में देश के आर्थिक साधनों का महत्वपूर्ण हाथ होता है जैसे अनुकूल जलवायु, अनुकूल भूमि, कच्चे माल की पर्याप्त पूर्ति एवं तकनीकी प्रगति के कारण अधिक कार्यकुशल श्रम शक्ति इत्यादि।

इस सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या करने के पहले हम कुछ अर्थशास्त्रियों द्वारा इस सिद्धान्त की दी गई परिभाषाओं का उल्लेख करेंगे।

---

1 "Whenever two countries produce commodities at relatively different (Labour) costs, it will be advantageous for each country to specialise in the production of those commodities whose costs are relatively lowest"

—P. K. Ray & K. B Kundu, *International Economics* p 13

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक रिकार्डो ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है "दो व्यक्ति हैं और वे दोनों ही जूते तथा टोप बना सकते हैं तथा इनमें एक व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा दोनों ही कार्यों में श्रेष्ठ है परन्तु टोप बनाने में वह अपने प्रतियोगी से 20 प्रतिशत और जूते बनाने में $33\frac{1}{3}$ प्रतिशत अधिक कुशल है। क्या यह दोनों व्यक्तियों के हित में नहीं होगा कि कुशल व्यक्ति केवल जूता बनाये तथा दूसरा व्यक्ति केवल टोप बनाने का कार्य करे। जेकब वाइनर (Jacob Viner) के अनुसार, "यदि स्वतन्त्र व्यापार होता है तो प्रत्येक देश दीर्घकाल में उन वस्तुओं के उत्पादन और निर्यात में विशिष्टीकरण प्राप्त कर लेता है जिनके उत्पादन में उसे वास्तविक लागतों के सन्दर्भ में तुलनात्मक लाभ होता है तथा उन वस्तुओं का आयात करता है जिनका देश में उत्पादन वास्तविक लागतों के सन्दर्भ में तुलनात्मक रूप से असामदायक होता है और इस प्रकार का विशिष्टीकरण आपस में व्यापार करने वाले देशों को लाभदायक होता है।"[1]

बेस्टेबल ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को इस प्रकार समझाया है—

"एक डाक्टर बागवानी का कार्य माली से अधिक कुशलता से कर सकता है परन्तु वह डाक्टरी में और भी अधिक कुशल हो सकता है। उसे सर्वाधिक लाभ उसी समय होगा जब वह केवल डाक्टरी का ही कार्य करे। इसी प्रकार एक देश दूसरे देश की अपेक्षा कुछ वस्तुएँ सस्ती बना सकता है पर उस देश को सबसे अधिक लाभ उसी समय होगा जब वह केवल ऐसी वस्तुओं का उत्पादन करे जिनमें उसे दूसरे की अपेक्षा सर्वाधिक तुलनात्मक लाभ प्राप्त हो।" प्रो. मार्शल के अनुसार, "यदि ऐसी वस्तुओं को जिनका उत्पादन देश में किया जा सकता है, विदेशों से स्वतन्त्र आयात किया जाता है तो यह इस बात का सूचक है कि इन वस्तुओं को देश में उत्पादन करने की जो लागत होती उसकी अपेक्षा इन वस्तुओं को विदेशों से अन्य वस्तुओं के बदले में मंगाने में कम लागत लगती है।"

अब हम इस सिद्धान्त को विभिन्न लागतों के सन्दर्भ में समझेंगे।

लागतों में भिन्नता
(DIFFERENCE IN THE COSTS)

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त लागतों में विभिन्नता की धारणा पर आधारित है। लागतों में निम्न तीन प्रकार का भेद किया जा सकता है—

(i) लागतों में निरपेक्ष अथवा पूर्ण अन्तर (Absolute difference in Cost)

(ii) लागतों में समान अन्तर (Equal difference in Cost)

(iii) लागतों में तुलनात्मक अन्तर (Comparative difference in Cost)

उपर्युक्त लागतों में प्रथम और तृतीय के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता है एवं द्वितीय के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं होता अर्थात जब दो देशों की लागतों में समान अन्तर होता है तो उनमें व्यापार नहीं होता। इन तीनों लागतों के उदाहरण लेकर अब हम इनकी विस्तृत व्याख्या करेंगे। रिकार्डो की इस मान्यता का हमें ध्यान रखना है कि केवल दो देशों के बीच में दो वस्तुओं का व्यापार होता है।

(1) लागतों में निरपेक्ष अन्तर

लागतों में निरपेक्ष अन्तर की स्थिति वह है जिसमें एक देश दो वस्तुओं में से एक वस्तु को

1 "If trade left free, each country in the long run tends to specialise in the production of

दूसरे देश की तुलना में निरपेक्ष रूप में कम लागत पर उत्पादित कर सकता है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि रिकार्डो ने केवल दो देशों और दो वस्तुओं का उदाहरण लिया है तथा मूल्य के श्रम सिद्धान्त का प्रयोग किया है। यहाँ हम भारत और बर्मा दो देशों का काल्पनिक उदाहरण लेंगे तथा जूट और चावल दो वस्तुओं को चुनेंगे। दोनों देशों में प्रत्येक श्रमिक दस घण्टे कार्य करता है तथा जूट और चावल की निम्न इकाइयों का उत्पादन करता है—

तालिका 6 1

10 घण्टे श्रम का उत्पादन

देश	उत्पादन इकाइयाँ	
	जूट	चावल
भारत	10	5
बर्मा	5	10

तालिका से स्पष्ट है कि 10 घंटे के श्रम से भारत में जूट और चावल की क्रमशः 10 और 5 इकाइयाँ पैदा की जा सकती हैं तथा इतने ही श्रम से बर्मा में जूट और चावल की क्रमशः 5 और 10 इकाइयाँ पैदा की जा सकती हैं। भारत में जूट और चावल की लागत का अनुपात 10:5 या 2 1 है जबकि बर्मा में जूट और चावल का अनुपात 5 10 या 1.2 है। इस लागत के आधार पर प्रत्येक देश में दोनों वस्तुओं का विनिमय अनुपात भी ज्ञात किया जा सकता है। भारत में एक इकाई चावल की जूट की दो इकाइयों के बदले प्राप्त किया जा सकता है तथा बर्मा में जूट की एक इकाई को चावल की दो इकाइयों के बदले प्राप्त किया जा सकता है। तालिका से स्पष्ट है कि भारत को बर्मा की तुलना में जूट के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ है तथा बर्मा को भारत की तुलना में चावल के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ है यदि भारत केवल जूट के उत्पादन में विशिष्टीकरण करे तथा जूट के बदले बर्मा से चावल खरीदे एवं बर्मा केवल चावल के उत्पादन में विशिष्टीकरण करे तथा चावल के बदले भारत से जूट खरीदे तो दोनों देशों को लाभ होगा। यदि यह मानकर चलें कि परिवहन लागत नहीं लगती तो भारत में जूट की दो इकाइयों का निर्यात करके बर्मा में उसके बदले चावल की चार इकाइयाँ प्राप्त की जा सकती हैं जबकि भारत में जूट की 2 इकाइयों के बदले चावल की एक इकाई ही प्राप्त की जा सकती है। इसी प्रकार बर्मा से चावल की दो इकाइयों का निर्यात करके भारत से जूट की 4 इकाइयाँ प्राप्त की जा सकती हैं जबकि बर्मा में चावल की 2 इकाइयों के बदले जूट की केवल एक इकाई प्राप्त की जा सकती है। जब तक भारत जूट की 2 इकाइयों के बदले चावल की एक से अधिक इकाइयाँ प्राप्त कर सकता है या जब तक बर्मा चावल की 2 इकाइयों के बदले जूट की एक से अधिक इकाइयाँ प्राप्त कर सकता है, दोनों देशों के बीच व्यापार होगा तथा दोनों देशों को लाभ होगा।

यदि हम बिना विशिष्टीकरण के दोनों देशों के उत्पादन पर विचार करें तो कुल उत्पादन इस प्रकार होगा :

भारत = 10 इकाई जूट + 5 इकाई चावल

बर्मा = 5 इकाई जूट + 10 इकाई चावल

कुल उत्पादन = 15 इकाई जूट + 15 इकाई चावल

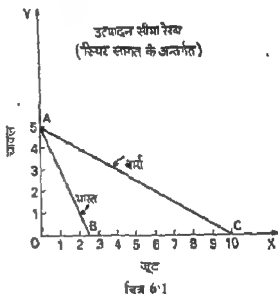
विशिष्टीकरण के बाद—भारत केवल जूट तथा बर्मा केवल चावल का उत्पादन करे तो कुल उत्पादन अब प्रकार होगा :

भारत = 20 इकाई जूट
बर्मा = 20 इकाई चावल

यहाँ स्पष्ट है कि विशिष्टीकरण होने के बाद जूट और चावल के उत्पादन में 5-5 इकाई की वृद्धि हो गई है। यही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ है।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण—लागतों में निरपेक्ष अन्तर को रेखाचित्र की सहायता से भी स्पष्ट किया जा सकता है जो इस प्रकार है

प्रस्तुत रेखाचित्र 6·2 में भारत और बर्मा की उत्पादन सीमा रेखा (Production *Frontier*) इस आधार पर खींची गई है कि भारत में जूट और चावल की इकाइयों का विनिमय अनुपात 2:1 है तथा बर्मा में इन्हीं इकाइयों का विनिमय अनुपात 1 2 है। इस चित्र में AB रेखा भारत की एवं AC रेखा बर्मा की उत्पादन सीमा रेखा है। इन दोनों देशों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने से BC अतिरेक का लाभ प्राप्त होगा जिसे हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ कहेंगे। यदि विनिमय दर देशों में दोनों वस्तुओं की BC के बीच होती है तो दोनों देशों को लाभ होगा। उक्त चित्र में उत्पादन सीमा रेखा स्थिर लागत के अन्तर्गत खींची गयी है।



चित्र 6·1

(2) लागतों में समान अन्तर

जब दो देशों में वस्तु के उत्पादन की परिस्थितियाँ समान होती है तथा उनका लागत व्यय समान रहता है तो उसे लागतों में समान अन्तर कहते हैं। समान लागत होने की स्थिति में दोनों देशों के बीच व्यापार नहीं होगा क्योंकि उन्हें विशिष्टीकरण करने में कोई लाभ नहीं होगा। जिन देशों और वस्तुओं को लेकर हमने निरपेक्ष लागत का अन्तर समझाया है उन्हीं के सन्दर्भ में समान लागत का उदाहरण भी प्रस्तुत करेंगे दोनों देशों में प्रत्येक श्रमिक दस घंटे कार्य करता है एवं जूट और चावल की भिन्न इकाईयाँ उत्पादित करता है।

तालिका 6·2
10 घण्टे श्रम का उत्पादन (इकाइयों में)

देश	जूट	चावल
भारत	10	20
बर्मा	20	40

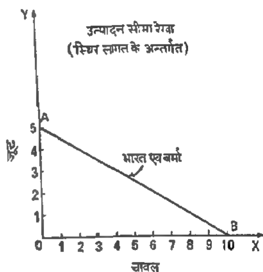
उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत में जूट और चावल की लागत का अनुपात 10 20 या 1.2 है तथा बर्मा में भी जूट और चावल की लागत का अनुपात यही अर्थात् 1:2 है। इसके आधार पर भारत में जूट की एक के बदले चावल की दो इकाइयाँ प्राप्त की जा सकती हैं अत.

दोनों देशों में जूट और चावल के बीच लागत अनुपात 1·2 है। ऐसी स्थिति में दोनों देशों में व्यापार नहीं होगा क्योंकि उन्हें कोई लाभ नहीं होगा। भारत जूट का निर्यात तभी करेगा जब उसे जूट की एक इकाई के बदले चावल की दो इकाईयो से अधिक इकाइयाँ मिलें किन्तु वर्मा इसके लिए तैयार नहीं होगा क्योंकि वह चावल की दो इकाइयों के बदले जूट की एक इकाई अपने देश में ही प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार वर्मा चावल का निर्यात तभी करेगा जब उसे चावल की दो इकाइयों के बदले जूट की एक से अधिक इकाई प्राप्त हो किन्तु भारत जूट की एक से अधिक इकाई देने के बदले चावल की दो इकाइयाँ अपने देश में ही प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार दोनों देशों में लागत अनुपात समान होने से उनमें व्यापार नहीं होगा।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण—लागतों में समान अन्तर को निम्न रेखाचित्र 6 2 में समझाया गया है।

प्रस्तुत रेखाचित्र 6 2 में उत्पादन सीमा रेखा AB भारत व वर्मा दोनों की उत्पादन सीमा रेखा है जो दोनों देशों में दोनों वस्तुओं के समान लागत अनुपात को प्रदर्शित कर रही है अर्थात् दोनों देशों में जूट की एक इकाई के बदले चावल की दो इकाईयाँ प्राप्त की जा सकती है। स्पष्ट है कि दोनों देशों में लागत अनुपात समान होने से व्यापार नहीं होगा।



चित्र 6 2

(3) लागतों में तुलनात्मक अन्तर

जब एक देश को दूसरे देश की तुलना में दोनों वस्तुओं के उत्पादन में श्रेष्ठता प्राप्त होती है यद्यपि एक वस्तु के उत्पादन में यह श्रेष्ठता अधिक तथा दूसरी वस्तु में कम रहती है तो इसे लागतों में तुलनात्मक अन्तर कहते हैं। एडम स्मिथ ने निरपेक्ष लाभ को ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार माना था परन्तु रिकार्डो ने बताया कि लागतों में तुलनात्मक अन्तर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पर्याप्त कारण है। एक देश उन वस्तुओं का निर्यात करेगा जिनके उत्पादन में उसे तुलनात्मक रूप से अधिक लाभ है तथा उन वस्तुओं का आयात करेगा जिनमें उसे कम लाभ है। एक देश दूसरे देश की तुलना में हर वस्तु के उत्पादन में पूर्ण रूप से अधिक कुशल हो सकता है। दूसरा देश सब वस्तुओं के उत्पादन में पूर्ण रूप से अकुशल हो सकता है किन्तु यदि दोनों देशों में विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन की सापेक्षिक कुशलता भिन्न-भिन्न है, तो भी दोनों देशों में व्यापार होगा। इसे हम उदाहरण देकर स्पष्ट करेंगे। मान लो भारत और वर्मा में प्रत्येक श्रमिक 10 घण्टे कार्य करता है तथा जूट और चावल की निम्न इकाइयों का उत्पादन करता है।

तालिका 6·3

10 घण्टे श्रम का उत्पादन (इकाईयों में)

देश	जूट	चावल
भारत	10	10
बर्मा	4	8

तालिका 6·2 से स्पष्ट है कि भारत को बर्मा की तुलना में जूट और चावल दोनों वस्तुओं के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ है किन्तु तुलनात्मक रूप से इसे चावल की तुलना में जूट के उत्पादन में अधिक लाभ है क्योंकि जहाँ जूट के उत्पादन में उसकी श्रेष्ठता ढाई गुनी है, वहीं चावल के उत्पादन में केवल सवा गुनी है। जहाँ तक बर्मा का प्रश्न है, उसे भारत की तुलना में दोनों वस्तुओं के उत्पादन में निरपेक्ष हानि है किन्तु उसकी लागत की तुलनात्मक हानि जूट की तुलना में चावल में कम है। व्यापार न होने की स्थिति में दोनों देशों में दोनों वस्तुओं का निम्न विनिमय अनुपात होगा।

भारत में—1 इकाई जूट=1 इकाई चावल

बर्मा में – 1 इकाई जूट=2 इकाई चावल

परन्तु यदि दोनों देशों में व्यापार होता है तो उससे दोनों देश लाभान्वित होंगे। भारत जूट के उत्पादन में विशिष्टीकरण करे तथा बर्मा चावल के उत्पादन में विशिष्टीकरण करे तो दोनों देश व्यापार से लाभ प्राप्त कर सकते हैं। हम यह मानकर चलें कि परिवहन लागत नहीं लगती तो भारत 1 इकाई जूट के बदले बर्मा से 2 इकाई चावल प्राप्त कर सकता है (क्योंकि बर्मा में जूट और चावल का विनिमय अनुपात 4 8 है।) जबकि भारत अपने देश में एक इकाई जूट के बदले केवल 1 इकाई चावल ही प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार बर्मा एक इकाई चावल के बदले भारत में 1 इकाई जूट प्राप्त कर सकता है (क्योंकि भारत में जूट और चावल का विनिमय अनुपात 10 : 10 है) जबकि बर्मा अपने देश में एक इकाई चावल के बदले केवल आधा इकाई जूट प्राप्त कर सकता है। परिवहन लागत होने पर भी जब तक भारत एक इकाई जूट के बदले चावल की एक से अधिक इकाई प्राप्त कर सकता है—एवं बर्मा एक इकाई चावल के बदले जूट की आधे से अधिक इकाई प्राप्त कर सकता है तो दोनों देशों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होगा एवं दोनों को लाभ होगा। यह दोनों के हित में होगा कि भारत केवल जूट का उत्पादन करे तथा उसके बदले बर्मा से चावल का आयात करे तथा बर्मा केवल चावल का उत्पादन करे तथा उसके बदले भारत से जूट का आयात करे।

उक्त विशिष्टीकरण से किस प्रकार कुल उत्पादन में वृद्धि होती है यह भी स्पष्ट किया जा सकता है। यदि दोनों देशों में विशिष्टीकरण और व्यापार न हो तो कुल उत्पादन इस प्रकार होगा—

भारत 10 इकाई जूट+10 इकाई चावल
बर्मा 4 इकाई जूट+ 8 इकाई चावल
14 इकाई जूट+18 इकाई चावल

यदि भारत केवल जूट एवं बर्मा केवल चावल का उत्पादन करे तो—

भारत=20 इकाई जूट

बर्मा=10 इकाई चावल

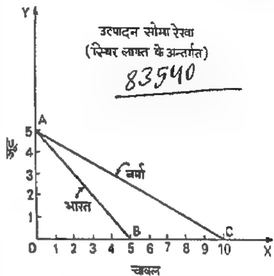
इस प्रकार विशिष्टीकरण से जूट की 6 इकाई अधिक का उत्पादन हुआ यद्यपि चावल में 2 इकाइयों की कमी हुई किन्तु इस हानि की तुलना में जूट का उत्पादन बहुत अधिक है अतः कुल मिलाकर उत्पादन अधिक हुआ।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण—लागतों में तुलनात्मक अन्तर को रेखाचित्र द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है जो इस प्रकार है -

प्रस्तुत रेखाचित्र 6·3 में AB भारत की उत्पादन सीमा रेखा है तथा AC बर्मा की उत्पादन सीमा रेखा है जो इस आधार पर खींची गयी है कि भारत में जूट और चावल का विनिमय अनुपात 1:1 है तथा बर्मा में यही विनिमय अनुपात 1:2 है। इन दोनों देशों में व्यापार होने से BC को अतिरेक लाभ प्राप्त होगा तथा विनिमय दर B व C के बीच कहीं भी निर्धारित होगी। यह ध्यान रहे कि उत्पादन सीमा रेखा स्थिर लागत के अन्तर्गत खींची गयी है।

व्यापार की शर्तें (Terms of Trade)

यहाँ हम व्यापार की शर्तों का विस्तार से विवेचन नहीं कर रहे हैं, वह तो पृथक् अध्याय में किया जायगा। यहाँ तो हम केवल उक्त लागतों के सन्दर्भ में यह बतायेंगे कि दोनों देशों में दोनों वस्तुओं का विनिमय अनुपात क्या होगा ? रिकार्डो ने यह तो स्पष्ट कर दिया था कि किन वस्तुओं का निर्यात तथा किन वस्तुओं का आयात किया जायगा किन्तु यह नहीं बताया कि दोनों देशों में वस्तुओं की विनिमय दर का क्या अनुपात होगा ? इस प्रश्न का जवाब बाद में प्रो. जे एस मिल ने दिया।



चित्र 6 3

प्रो मिल ने स्पष्ट किया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाभ किस प्रकार प्राप्त होता है तथा इस लाभ की सीमा क्या होती है। व्यापार से होने वाला लाभ व्यापार की शर्तों पर निर्भर रहता है। "व्यापार की शर्तों का आशय यह है कि एक देश की एक वस्तु का दूसरे देश की दूसरी वस्तु से विनिमय अनुपात क्या है।"[1] जैसे अभी हमने उपरोक्त उदाहरणों में जूट और चावल का उदाहरण लिया है तो यहाँ व्यापार की शर्तों का अर्थ है कि भारत के जूट और बर्मा के चावल के बीच विनिमय का अनुपात क्या है। तुलनात्मक लागत में दिये गये उदाहरण से इसे अधिक अच्छी तरह से समझा जा सकता है। भारत में जूट और चावल का विनिमय अनुपात 10 : 10 अर्थात् 1 : 1 है तथा बर्मा में चावल और जूट का विनिमय अनुपात 8 : 4 अर्थात् 2 : 1 है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार न होने की स्थिति में उपरोक्त अनुपात में ही सम्बन्धित देश में विनिमय होगा। परन्तु जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रारम्भ होता है तो भारत केवल जूट में विशिष्टीकरण करता है तथा बर्मा चावल के उत्पादन में विशिष्टीकरण करता है। भारत जूट के बदले बर्मा से चावल आयात करता है तथा बर्मा चावल के बदले भारत से जूट खरीदता है। अब महत्वपूर्ण प्रश्न है कि भारत किस दर पर बर्मा को जूट का निर्यात करेगा तथा बर्मा किस दर पर भारत को चावल का निर्यात करेगा ? [illegible] दो सीमाएँ होंगी एक उच्च सीमा तथा दूसरी निम्न सीमा। भारत के लिए विनिमय दर [illegible] सीमा होगी एक इकाई जूट=एक इकाई चावल (क्योंकि यह भारत की आन्तरिक दर है) तथा उच्च सीमा होगी एक इकाई जूट=दो इकाई चावल (यह बर्मा की

1 "The expression terms of trade means the ratio in which one commodity from one country exchanges for another commodity from another country."

आन्तरिक दर है) भारत एक इकाई जूट के बदले एक इकाई चावल से कम स्वीकार नही करेगा तथा बर्मा एक इकाई जूट के बदले चावल की दो इकाईयो से अधिक देने को तैयार नही होगा। वास्तविक विनिमय दर इन्ही दो सीमाओ (निम्न एव उच्च सीमा) के बीच निर्धारित होगी। जो इस पर निर्भर रहेगी कि एक देश के लिए दूसरे देश की वस्तु की माग की लोच कैसी है। यदि भारत की चावल की माग तीव्र नही है अर्थात् लोचदार है तथा बर्मा की जूट की मांग अधिक तीव्र अर्थात् बेलोचदार है तो विनिमय दर जूट और चावल के बीच 1 : 2 के आसपास होगी और यदि स्थिति विपरीत है तो यह विनिमय दर 1 : 1 के आसपास होगी। अर्थात् पहली स्थिति मे विनिमय दर भारत के अनुकूल होगी तथा दूसरी स्थिति मे बर्मा के अनुकूल होगी। इस प्रकार व्यापार की शर्तें, व्यापार करने वाले देशो की वस्तुओ की पारस्परिक माग की लोच पर निर्भर रहती हैं।

किसी वस्तु का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने का आधार केवल इतना ही नही है कि उसकी उत्पादन लागत न्यूनतम है। एक देश भले ही सारी वस्तुओ को कम लागत पर पैदा कर सकता है किन्तु उसके लिए यह लाभदायक होगा कि वह केवल कुछ ही वस्तुओ का उत्पादन करे एव शेष को आयात करे। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त बताता है कि एक देश आवश्यक रूप से उन सब वस्तुओ का उत्पादन नहीं करता जिन्हें वह अन्य देशों की तुलना मे सस्ते मे पैदा कर सकता है वरन उन वस्तुओं का उत्पादन करता है जिन्हें वह अधिकतम सापेक्षिक लाभ अर्थात न्यूनतम तुलनात्मक लागत पर तैयार कर सकता है।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की मान्यताएँ
(ASSUMPTIONS OF THE COMPARATIVE COST THEORY)

रिकार्डो ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निम्न मान्यताओ के आधार पर की है—

(1) व्यापार करने वाले केवल दो देश हैं जिनमे दो वस्तुओ का विनिमय होता है। अर्थात् दो देश और दो वस्तुओ के सरल माडल को लिया गया है?

(2) दोनो ही देशो मे दोनो ही वस्तुओ का उत्पादन किया जा सकता है।

(3) श्रम ही उत्पत्ति का सबसे महत्वपूर्ण एव उत्पादक साधन है तथा अन्य साधनो को श्रम मे ही समाहित मान लिया गया है।

(4) दोनो देशो में वस्तु विनिमय होता है तथा विनिमय मे मुद्रा का प्रयोग नही किया जाता।

(5) इस सिद्धान्त में मूल्य के श्रम सिद्धान्त को माना गया है जिसे वास्तविक लागत का सिद्धान्त कहा जाता है। वस्तुओ का विनिमय इस आधार पर होता है कि उनके उत्पादन मे कितना श्रम लगा है।

(6) यह भी इस सिद्धान्त की मान्यता है कि दोनों देशो मे उत्पत्ति के साधनो को पूर्ण रोजगार प्राप्त है। यह मान्यता प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के "पूर्ण रोजगार" के सिद्धान्त के अनुरूप है।

(7) यह सिद्धान्त मानकर चलता है कि दोनो देशो मे स्थिर लागत अनुपात के अन्तर्गत (उत्पादन समता नियम) उत्पादन होता है।

(8) इस सिद्धान्त की यह भी मान्यता है कि देश मे उत्पत्ति के साधनो मे पूर्ण गतिशीलता रहती है किन्तु दो देशो के बीच इन उत्पत्ति के साधनो में गतिशीलता का पूर्ण अभाव रहता है।

(9) दो देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई रोक-टोक या व्यवधान नहीं होता अतः वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय स्वतन्त्रतापूर्वक होता है।

(10) रिकार्डो के सिद्धान्त की अन्तिम मान्यता यह है कि कोई परिवहन लागत नहीं लगती।

यह ध्यान में रखने योग्य है कि उपर्युक्त मान्यतायें इसलिए रखी गई हैं ताकि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को सरलतापूर्वक समझाया जा सके। यदि इन मान्यताओं को अलग कर दिया जाये तो सिद्धान्त में काफी जटिलताएँ आ जायेंगी।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन (CRITICAL EVALUATION OF COMPARATIVE COST THEORY)

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र का बहुत लोकप्रिय सिद्धान्त रहा है। प्रथम विश्व युद्ध के समय तक इस सिद्धान्त की प्रायः कोई आलोचना नहीं की गयी तथा इसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सन्तोषजनक स्पष्टीकरण स्वीकार किया गया। किन्तु इसके बाद भी इस सिद्धान्त में जो विकास किये गये उन्होंने उक्त सिद्धान्त के मूल स्वरूप को नष्ट नहीं किया, केवल उसके पूरक सिद्धान्त ही विकसित किये। इस सिद्धान्त को विकसित करने का श्रेय प्रो. ओहलिन, प्रो. एल्सवर्थ तथा प्रो. हेबरलर को है यद्यपि इन्होंने इस सिद्धान्त की कटु आलोचना भी की है।

प्रो. सेमुअलसन के अनुसार "तुलनात्मक लागत सिद्धान्त में सत्य की बहुत महत्वपूर्ण झलक है ...तुलनात्मक लाभ की अवहेलना करने वाले राष्ट्र को जीवन स्तर एवं विकास की सम्भावित दर के रूप में एक भारी कीमत चुकानी पड़ सकती है।"[1] इसका निष्कर्ष यह नहीं है कि सिद्धान्त में कोई दोष नहीं है। इस सिद्धान्त का तार्किक ढांचा तो मजबूत है किन्तु इसकी प्रमुख कमजोरी वे मान्यताएँ हैं जिन पर यह आधारित है। यही कारण है प्रो. ओहलिन एवं प्रो. ग्राहम सरीखे अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। आलोचना की प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

(1) मूल्य के श्रम सिद्धान्त की मान्यता दोषपूर्ण है

इस सिद्धान्त में श्रम को ही लागत का प्रमुख आधार माना गया है अर्थात् वस्तुओं का विनिमय श्रम लागत के अनुपात में ही किया जाता है। किन्तु कुल लागत में श्रम के अतिरिक्त अन्य साधनों को भी शामिल किया जाता है क्योंकि केवल श्रम ही उत्पत्ति का अकेला साधन नहीं है। अतः विनिमय दर मौद्रिक लागत के आधार पर ही ज्ञात की जा सकती है और जहाँ तक मूल्य के श्रम-सिद्धान्त का प्रश्न है, वह स्वयं अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है। यही कारण है कि आस्ट्रियन सम्प्रदाय के विचारकों ने इसका परित्याग कर मूल्य के सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

उक्त आलोचना का उत्तर प्रो. टॉजिग (Prof Taussing) ने दिया। मूल्य के श्रम सिद्धान्त का औचित्य बताते हुए वे कहते हैं कि यदि हम यह मानकर चलें कि व्यापार करने वाले देशों का तकनीकी विकास का स्तर समान है तो श्रम के साथ एकत्रित होने वाले उत्पत्ति के साधनों का अनुपात भी समान होगा। ऐसी स्थिति में हम उत्पत्ति के अन्य साधनों पर ध्यान दिये बिना विभिन्न देशों में श्रमिकों की सापेक्षिक कुशलता की तुलना कर सकते हैं। इस प्रकार टॉजिग ने रिकार्डो के उत्पत्ति के एक साधन (श्रम) मॉडल को उचित ठहराया। किन्तु टॉजिग का उक्त तर्क

1 "The theory of comparative advantage has in it a most important glimpse of truth...A nation that neglects comparative advantage may have to pay a heavy price in terms of living standards and potential rates of growth."—Samuelson-*Economics*, 9th Edition p. 680

उचित नही है क्योंकि व्यापार करने वाले समस्त देश तकनीकी विकास की समान अवस्था मे नही होते ।

(2) श्रमिकों में समरूपता सम्भव नहीं

मूल्य के श्रम सिद्धान्त की एक निहित मान्यता यह भी है कि सब श्रमिक एक समान होते हैं किन्तु यह गलत है क्योंकि श्रमिको मे एकरूपता नहीं होती अत श्रम के आधार पर लागत की तुलना नही की जा सकती । इस प्रकार तुलनात्मक लागत का आधार ही गलत है ।

प्रो टॉजिग ने पुन उक्त आलोचना का उत्तर देने का प्रयत्न किया है । उनका कहना है कि यदि श्रमिको को कुछ समूहो मे बाँट दिया जाय तो प्रत्येक समूह मे एक समान कार्यक्षमता वाले श्रमिक होंगे । इसे श्रम-स्तरबद्धता (Stratification of Labour) कहते है । इसका आशय यह है कि व्यापार करने वाले दोनो देश आर्थिक विकास के समान स्तर पर हैं । परन्तु टॉजिग का उक्त समर्थन कमजोर है क्योंकि व्यापार करने वाले देश आर्थिक और तकनीकी विकास के विभिन्न स्तर पर होते हैं ।

(3) उत्पादन समता नियम की मान्यता अव्यावहारिक है

यदि व्यावहारिक रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के ढाँचे को देखा जायें तो उत्पत्ति समता (स्थिर) नियम की मान्यता उचित प्रतीत नहीं होती । किन्तु यदि हम इस मान्यता को अलग कर दें तो रिकार्डो का सिद्धान्त भी लागू नही होगा । रिकार्डो का कहना है कि यदि इंग्लैण्ड तुलनात्मक लाभ के कारण कपड़े के उत्पादन मे विशिष्टीकरण करता है तो उसे शराब का उत्पादन करने का कोई कारण नही है । इसी प्रकार यदि पोर्तगाल को शराब बनाने मे तुलनात्मक लाभ है तो वह कपड़े का उत्पादन नहीं करेगा वरन उसे इंग्लैण्ड से आयात करेगा । यह विश्लेषण उत्पत्ति समता नियम पर आधारित है जो व्यवहारिक रूप से नही पाया जाता । एक ऐसी स्थिति आ सकती है जब पोर्तगाल, इंग्लैण्ड से कपड़े का आयात न करे क्योंकि इंग्लैण्ड मे उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने से पोर्तगाल को कपड़ा मँहगा पड़ सकता है ।

इस सिद्धान्त की यह मान्यता भी गलत है कि एक देश किसी वस्तु को पूर्ण रूप से आयात करता है । वास्तविकता तो यह है कि एक देश एक वस्तु की कुछ मात्रा तो आयात करता है, शेष का उत्पादन देश मे ही करता है । लेकिन तुलनात्मक लागत सिद्धान्त मे इसे स्पष्ट नहीं किया गया है ।

(4) परिवहन व्यय की अवहेलना

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त मे परिवहन लागत पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है । किन्तु यदि परिवहन व्यय अधिक है तो कभी यह भी सम्भव हो सकता है कि तुलनात्मक लागत के कारण होने वाला अन्तर समाप्त हो जाय ऐसी स्थिति मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं होगा । अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उसी समय सम्भव है जब लागत मे तुलनात्मक अन्तर, परिवहन-व्यय से अधिक हो ।

कुछ अर्थशास्त्रियो ने उक्त आलोचना को महत्वपूर्ण नही बताया है क्योंकि उनका कहना है कि यदि परिवहन व्यय को भी शामिल कर लिया जाय तो उससे तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की मूल धारणा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । उनका यह भी कहना है कि जो देश वस्तु का निर्यात करता है, उसे परिवहन व्यय भी सहना पड़ता है अत परिवहन व्यय को उत्पादन लागत मे शामिल कर लेना चाहिए । जहाँ तक परिवहन लागत को सहन करने का प्रश्न है, इसका भार एक देश की वस्तु की माँग की लोच द्वारा निर्धारित किया जाता है । यदि एक देश की किसी वस्तु के लिए माँग बेलोचदार है तो वह परिवहन व्यय सहने को तैयार हो जायेगा ।

(5) दो से अधिक देशों पर लागू नहीं

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के निष्कर्ष उसी समय लागू होते हैं जब इसे केवल दो वस्तुओं और दो देशों पर लागू किया जाय। दो से अधिक देशों या दो से अधिक वस्तुओं पर लागू करने से इसका प्रयोग सीमित हो जाता है। जब हम दो से अधिक वस्तुओं पर विचार करते हैं तो हमें न केवल व्यापार की शर्तों वरन इसका भी निर्धारण करने के लिए कि एक देश किन वस्तुओं का निर्यात करेगा, माँग की दशाओं पर विचार करना होगा क्योंकि एक ही तुलनात्मक लागत के आधार पर विभिन्न वस्तुओं का निर्यात किया जायगा। वास्तविक रूप में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विभिन्न देशों में दो से अधिक वस्तुओं में किया जाता है। इस सीमा को स्पष्ट करते हुए प्रो. ओहलिन कहते हैं कि, "केवल तुलनात्मक लागत का तर्क अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में बहुत अपर्याप्त है। यह वास्तव में पूर्ति की दशाओं के संक्षिप्त विवरण से अधिक कुछ नहीं है।"[1]

(6) साधनों की गतिशीलता की मान्यता अव्यावहारिक

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की एक आलोचना यह भी है कि यह एक देश के भीतर उत्पत्ति के साधनों को पूर्णरूप से गतिशील मानता है एवं दो देशों के बीच इस गतिशीलता को स्वीकार नहीं करता। किन्तु प्रो ओहलिन ने उक्त मत का खण्डन किया है। उनकी दृष्टि में, उत्पत्ति के साधनों में गतिशीलता का अभाव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का ही विशेष लक्षण नहीं है वरन एक ही देश के विभिन्न क्षेत्रों में भी उत्पत्ति के साधनों में गतिशीलता का अभाव पाया जाता है। प्रो. केयरन्स ने भी यह मत प्रकट किया था कि श्रमिकों के अप्रतियोगी समूह न केवल विभिन्न देशों में पाये जाते हैं वरन एक ही देश के विभिन्न क्षेत्रों में भी पाये जाते हैं।

(7) माँग की दशाओं की अवहेलना

आलोचकों का दृष्टिकोण है कि तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त एकपक्षीय है क्योंकि यह केवल पूर्ति पक्ष पर विचार करता है तथा माँग पक्ष पर कोई ध्यान नहीं देता। यह सिद्धान्त यह तो बताता है कि एक देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में किन वस्तुओं को बेचेगा एवं किन वस्तुओं को खरीदेगा। किन्तु यह दृष्टिकोण केवल पूर्तिपक्ष पर आधारित होने से अपूर्ण है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने स्थिर लागत की कल्पना की है एवं पूर्ति की दशाओं के आधार पर ही कीमत-लागत का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विश्लेषण किया है उनकी दृष्टि में माँग कीमत को प्रभावित नहीं करती जो उत्पत्ति के पैमाने में परिवर्तन के बावजूद भी स्थिर रहती है।

किन्तु उक्त मान्यता उचित नहीं है क्योंकि उत्पादन म परिवर्तन के साथ लागत में भी परिवर्तन हो सकता है। ऐसी स्थिति में किसी वस्तु की लागत और कीमत केवल पूर्ति की दशाओं पर निर्भर न रहकर माँग की दशाओं द्वारा भी प्रभावित होती है।

(8) लोचपूर्ण बाजार एवं स्थिर कीमतों की तथ्यहीन कल्पना

आलोचकों के अनुसार यह इस सिद्धान्त की कमजोरी है कि यह लोचपूर्ण बाजारों एवं स्थिर कीमतों को स्वीकार करके चलता है। एक देश तुलनात्मक लाभों की कल्पना उसी समय कर सकता है जबकि देश यह चुनाव करने के लिए स्वतन्त्र हो कि अपना निर्यात बढ़ावे अथवा आयात प्रतिस्थापन करे। किन्तु निर्यातों के लिए माँग में लोच का अभाव होने से तुलनात्मक लाभों को पूर्ण रूप से ज्ञात नहीं किया जा सकता एवं तुलनात्मक लाभ का विचार ही अव्यावहारिक हो जाता है। कीमतों में भी परिवर्तन होता है जिससे तुलनात्मक लाभ पर प्रभाव पड़ता है।

---

1 "The comparative cost reasoning alone explains very little about international trade. It, is indeed nothing more than an abbreviated account of the conditions of supply."

—Ohlin *op. cit.* p. 586.

(9) सुरक्षात्मक वस्तुओं के लिए तुलनात्मक लागत महत्वहीन

कुछ ऐसे महत्वपूर्ण मुद्दे हैं जहाँ तुलनात्मक लाभ का सिद्धान्त क्रियाशील नहीं होता। जैसे देश की सुरक्षा एवं सैनिक महत्व की वस्तुओं को देश में ही पैदा किया जा सकता है भले ही उनके उत्पादन में तुलनात्मक हानि हो एवं वे पर्याप्त सस्ते में विदेशों में उपलब्ध हों। देश में सुरक्षा की दृष्टि से आत्मनिर्भरता लाने एवं राजनीतिक कारणों से यह एक देश के हित में होता है कि वह सैनिक महत्व की वस्तुओं का उत्पादन स्वयं करे क्योंकि संकटकाल में ऐसी वस्तुओं के लिए विदेशों पर निर्भर रहना खतरनाक हो सकता है। भारत को यह शिक्षा अच्छी तरह मिल चुकी है।

(10) पूर्ण विशिष्टीकरण सम्भव नहीं

प्रो ग्राहम (Graham) तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार करने वाले दो देश विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में पूर्ण रूप से विशिष्टीकरण नहीं करते अतः ऐसी स्थिति में उक्त सिद्धान्त महत्वहीन हो जाता है। ऐसी स्थिति विशेष रूप से उस समय उपस्थित होती है जब व्यापार करने वाले दो देशों में एक बड़ा तथा दूसरा देश छोटा हो। छोटा देश तो पूर्ण रूप से विशिष्टीकरण कर सकता है क्योंकि वह अपना पूर्ण अतिरेक उत्पादन बड़े देश को निर्यात कर सकता है। किन्तु बड़ा देश निम्न दो कारणों से पूर्ण विशिष्टीकरण नहीं कर सकता :

(i) यदि यह देश एक विशेष वस्तु के उत्पादन में पूर्ण रूप से विशिष्टीकरण करता है तो उसका अतिरेक उत्पादन इतना अधिक हो सकता है कि छोटा देश उसको आयात नहीं कर सकता।

(ii) वह अपनी पूर्ण आवश्यकता की पूर्ति दूसरे देश के आयात से नहीं कर सकता।

(11) पूर्ण रोजगार की मान्यता गलत

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की एक मुख्य कमजोरी यह है कि यह पूर्ण रोजगार की मान्यता पर आधारित है अर्थात व्यापार करने वाले दोनों देशों में पूर्ण रोजगार की स्थिति विद्यमान रहती है। किन्तु प्रो. केन्स ने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की पूर्ण रोजगार की मान्यता को अवास्तविक सिद्ध कर खण्डित कर दिया है। केन्स का कहना है कि सदैव पूर्ण रोजगार से कम की स्थिति विद्यमान रहती है। इस दृष्टि से तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त भी अव्यावहारिक प्रतीत होता है।

(12) गतिशीलता का अभाव

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त आवश्यक रूप से कुछ स्थैतिक मान्यताओं पर आधारित है : यह व्यापार करने वाले देशों में उत्पत्ति के साधनों को स्थिर मानकर चलता है तथा दोनों के उत्पादन फलन (Production Function) को भी समान मानता है। किन्तु वास्तविक जगत में इन सब में परिवर्तन होता है अतः उक्त सिद्धान्त गतिशील अर्थव्यवस्था में लागू नहीं होता क्योंकि तकनीक, उत्पत्ति के साधन और उत्पादन फलन में परिवर्तन होने के कारण तुलनात्मक लागत की गणना करना आसान नहीं है। इस पर टिप्पणी करते हुए प्रो. एल्सवर्थ कहते हैं कि "या तो पुराने सिद्धान्त के पूरक के रूप में, अधिक सारगर्भित और उपयुक्त नयी व्याख्या को विकसित किया जाना चाहिए अथवा बड़े पैमाने पर (इस सिद्धान्त की) पूरक जाँच की जानी चाहिए।"[1]

(13) वस्तुओं के भेद को स्पष्ट नहीं करता

कुछ आलोचकों ने इस आधार पर भी इस सिद्धान्त की आलोचना की है कि तुलनात्मक

---

1 "Either a new type of analysis, more suited to it's field, must be evolved to supplement the older approach or a very considerable amount of supplementary investigation must be undertaken."
—Ellsworth, *op. cit* p. 83

लागत सिद्धान्त इस बात की स्पष्ट व्याख्या नहीं करता कि एक देश किसी वस्तु की दूसरी किस्म का उत्पादन कर उसका निर्यात क्यों करता है तथा उस वस्तु की दूसरी किस्म का विदेशों से आयात क्यों करता है ? जैसे भारत लोहे की कुछ वस्तुओं का निर्यात करता है एवं उसी की अन्य वस्तुओं का आयात करता है।

यह आलोचना उस समय महत्वहीन हो जाती है जब वस्तु की प्रत्येक किस्म को एक पृथक उत्पादन मान लिया जाए।

(14) स्वतन्त्र व्यापार में बाधाएँ

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त केवल उन्हीं दशाओं में लागू हो सकता है जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार स्वतन्त्र रूप से हो रहा हो तथा उसके मार्ग में कोई बाधाएँ न हों किन्तु तथ्य एवं वास्तविकता तो यह है कि वर्तमान में बहुत से देश संरक्षण की नीति अपना रहे हैं तथा प्रशुल्क, कोटा-प्रणाली, विनिमय नियन्त्रण आदि कई बाधाएँ स्वतन्त्र व्यापार में रुकावट पैदा करती हैं।

(15) यह सिद्धान्त अर्द्ध विकसित देशों में लागू नहीं होता

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की कमजोरी यह भी है कि यह पिछड़े और अर्द्ध विकसित देशों में लागू नहीं होता। यदि एक विकसित और पिछड़े देश में व्यापार हो तो पिछड़े देश को लाभ नहीं होगा बल्कि हानि होगी। इसकी विस्तृत व्याख्या पृथक अध्याय में की गयी है।

(16) श्रम की कार्यक्षमता में भिन्नता क्यों ?

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त इस बात की व्याख्या नहीं करता कि उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में अन्य देश की तुलना में एक देश के श्रमिक अधिक कुशल क्यों होते हैं। इसका कारण हो सकता है कि उस देश के प्राकृतिक साधन-श्रेष्ठ हों, वहाँ अच्छी मशीनों का प्रयोग होता हो तथा वहाँ उद्यमी प्रतिभा अधिक हो अर्थात् श्रम की कार्यक्षमता अधिक होने के कारण अन्य साधनों की प्रचुरता है। यही कारण है कि प्रो. ओहलिन ने उत्पत्ति के साधन के रूप में केवल श्रम को महत्व न देकर अन्य साधनों को भी महत्व दिया है।

निष्कर्ष—यद्यपि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की कटु आलोचना की गयी है किन्तु इसका आशय यह नहीं है कि यह सिद्धान्त महत्वहीन है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रकृति को स्पष्ट करने में इस सिद्धान्त ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। यही कारण है कि प्रो. सेम्युलसन ने दोषों के बावजूद भी इस सिद्धान्त की प्रशंसा की है, "यदि लड़कियों के समान, सिद्धान्त, सौन्दर्य प्रतियोगिताओं में विजयी हो सके तो तुलनात्मक लाभ का सिद्धान्त उच्च स्थान प्राप्त करेगा क्योंकि यह सुन्दर और तर्कपूर्ण ढाँचा है।"[1]

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की व्याख्या के रूप में तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को समझाइये ?
2. "अपने देश की लागत की तुलना में विदेशों से सस्ता सामान खरीदना लाभदायक है", क्या यह तुलनात्मक लागत के अनुरूप है, समझाइये ?
3. तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए ? यह अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन कहाँ तक स्पष्ट करता है ?
4. तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की कौनसी मान्यताएँ हैं ? उन्हें हटाने पर क्या यह सिद्धान्त लागू हो सकता है ?

1 "If theories like girls, could win beauty contests, comparative advantage would certainly rate high in that it is an elegantly logical structure." —Prof Samuelson, *op. cit.* p. 680.

5. तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की विभिन्न आलोचनाओं को समझाते हुए उनका परीक्षण कीजिए?
6. "लागत अनुपातों में अन्तर होना ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार है" इस कथन की व्याख्या कीजिए ?
7. "जब तक तुलनात्मक लागतों में अन्तर नहीं होगा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं होगा किन्तु जब तक लागतों में अन्तिम रूप में समानता स्थापित नहीं होगी, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का कोई अन्त नहीं होगा", इस कथन की तर्कपूर्ण विवेचना कीजिए ?

Selected Readings

1. Haberle . *Theory of International Trade*
2. Samlueson . *Economics*
3. Ellsworth : *The International Economy*
4. D. M. Mithani : *Introduction to Intrenational Economics*
5. Ray & Kundu : *International Economics*
6 Bertil Ohlin : *Interregional and International Trade*

परिशिष्ट–6

प्रतिष्ठित तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की आनुभविक जाँच

[EMPIRICAL VERIFICATION OF CLASSICAL COMPARATIVE COST THEORY]

परिचय

प्रतिष्ठित तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की आनुभविक एवं सांख्यिक जाँच मुख्य रूप से प्रो. जी. डी. ए. मेकडूगाल[1] (G. D. A. MacDougall) द्वारा की गयी है। इस मान्यता को स्वीकार करते हुए कि एक देश उन वस्तुओं का निर्यात करता है जिसमें अन्य देशों की तुलना में उसकी उत्पादकता प्रति इकाई आगत (Input) सापेक्षिक रूप से अधिक रहती है, मेकडूगाल ने निम्न तथ्यों में सम्बन्ध स्थापित किया है। सिद्धान्त की जाँच के लिए प्रो. मेकडूगाल ने ब्रिटेन एवं अमरीका के निर्यातों का अध्ययन किया है। दो तथ्यों के सम्बन्ध इस प्रकार हैं :

(i) ब्रिटेन और अमरीका की विभिन्न वस्तुओं के निर्यात का अनुपात।

(ii) उक्त वस्तुओं के लिए दोनों देशों में श्रम उत्पादकता का अनुपात।

चूँकि उक्त दोनों देशों में से कोई भी देश अपने निर्यात की अधिक मात्रा एक-दूसरे को नहीं भेजते, अतः इनसे यह ज्ञात किया जा सकता है कि विभिन्न उत्पादनों के लिए, उत्पादकता विभिन्नता के आधार पर विश्व बाजार में दोनों देशों का सापेक्षिक अंश क्या है। प्रो. मेकडूगाल के अनुसार उक्त सिद्धान्त की जाँच दो से अधिक देशों के लिए भी की जा सकती है।

जाँच का आधार—प्रो. मेकडूगाल ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की जाँच 1937 में की। दोनों देशों—ब्रिटेन और अमरीका में औसत मजदूरी के स्तर को आधार मानते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि 1937 में अमरीका के निर्माण उद्योगों में औसत मजदूरी का स्तर, ब्रिटेन की तुलना में दुगना था। इस आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि जिन वस्तुओं का उत्पादकता अनुपात दो से अधिक एवं दो से कम है, उनके निर्यातों के अनुपात में अन्तर होना चाहिए। इसके परिणाम-

1 British and American Exports : A Study Suggested by the Theory of Comparative Costs—*Economic Journal* ; Dec, 1951 and September 1952.

स्वरूप दोनों देशों के मजदूरी-स्तर की भिन्नता निष्प्रभावित (Offset) हो जायगी एवं दोनों देशों के निर्यातों में विश्व बाजार के लिए समान रूप से प्रतियोगिता होने लगेगी। यदि पूरी विश्व अर्थ-व्यवस्था में पूर्ण प्रतियोगिता है तो मेकडूगाल का मत है कि समान उत्पादनों के लिए ब्रिटेन की तुलना में अमरीका के निर्यातों का अनुपात या तो शून्य होगा अथवा अनन्त (Infinite) होगा। यह इस बात पर निर्भर रहेगा कि अमरीका में उत्पादकता का स्तर वहाँ के मजदूरी के ढाँचे को किस प्रकार प्रभावित करता है। वास्तव में पूर्ण प्रतियोगिता नहीं पायी जाती अतः निर्यातों में जो अन्तर पाया जाता है उसका कारण अपूर्ण प्रतियोगिता, परिवहन लागत एवं उत्पाद-विभेद का होना है।

प्रो. मेकडूगाल ने आश्चर्यजनक रूप से यह निष्कर्ष निकाला है कि जब अमरीका में उत्पादकता का स्तर कुछ उत्पादनों में उच्च मजदूरी-स्तर के बराबर हो जाता है तो औसत रूप से अमरीका के निर्यात, समान वस्तुओं के लिए ब्रिटेन के निर्यात के बराबर नहीं होते अर्थात् दुगनी मजदूरी होने पर भी अमरीका का निर्यात दुगना नहीं होता वरन् उसमें केवल 40 प्रतिशत की ही वृद्धि होती है। मेकडूगाल के अनुसार इसका कारण साम्राज्य अधिमान (Imperial Preference) एवं व्यापारिक क्षेत्र में ब्रिटेन का नेतृत्व है। सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि लागत और निर्यात के अनुपातों में समानता होना आवश्यक नहीं है। किन्तु इससे यह तथ्य स्थापित होता है कि एक देश को उस वस्तु के उत्पादन और निर्यात में अधिक लाभ होगा जिस वस्तु के उत्पादन में उसे दूसरे देश की अपेक्षा सबसे अधिक तुलनात्मक लाभ प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में प्रो मेकडूगाल ने प्रो. ग्राहम की आलोचना करते हुए कहा है कि प्रो ग्राहम के माडल में यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि जहाँ लागतें समान होती हैं वहाँ निर्यात की मात्रा में और लागतों में क्या सम्बन्ध होता है।

यदि हम प्रो. हार्बिग के अप्रतियोगी समूहों पर विचार करें तो विभिन्न उद्योगों में मजदूरी स्तर में पायी जाने वाली भिन्नता के आधार पर दोनों देशों में निर्यातों के अनुपात में होने वाली भिन्नता का अनुमान लगाया जा सकता है। किन्तु प्रो मेकडूगाल ने विभिन्न उद्योगों में मजदूरी स्तर की भिन्नता का अध्ययन किये बिना ही जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। उन्होंने दोनों देशों में प्रत्येक उद्योग के लिए निर्यात अनुपातों और सापेक्षिक मजदूरी के अनुपातों में निकट सम्बन्ध स्थापित किया है।

दूसरी जाँच

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की दूसरी जाँच प्रो. फोर्शीमर (Forchheimer) ने प्रस्तुत की है जिन्होंने विभिन्न उद्योगों में मजदूरी की भिन्नता के प्रभाव को विदेशी व्यापार की संरचना पर स्पष्ट किया है। फोर्शीमर का सापेक्षिक मजदूरी भिन्नता का माडल इस प्रकार है—

मानलो हम किसी विशेष उत्पादन को निम्न रूप में व्यक्त करते हैं :

T=प्रति इकाई उत्पादन कुल मौद्रिक लागत

W=प्रति व्यक्ति प्रति घण्टे मौद्रिक लागत

R=प्रति इकाई उत्पादन में लगे व्यक्ति घण्टे

P=कुल औसत इकाई लागत और मजदूरी लागत प्रति इकाई उत्पादन का अनुपात

यदि हम दो देश X और Y को लें तो अँग्रेजी के बड़े अक्षर X देश के लिए हैं तथा छोटे

अक्षर Y देश के लिए हैं। रेखांकित अक्षर दूसरी वस्तु के प्रतीक हैं। इससे यह स्पष्ट है कि T=WRP अत: कहा जा सकता है कि X देश का लाभ प्रथम वस्तु में है जब—

$$\frac{T}{\underline{T}} < \frac{t}{\underline{t}}$$

उपर्युक्त सूत्र उसी समय सिद्ध हो सकता है जब कि निम्न असमानताओं में से कोई एक न एक विद्यमान हो

$$\frac{W}{\underline{W}} < \frac{w}{\underline{w}}, \frac{R}{\underline{R}} < \frac{r}{\underline{r}}, \frac{P}{\underline{P}} < \frac{p}{\underline{p}}$$

प्रो फोर्शेमर के अनुसार प्रति व्यक्ति प्रति घण्टे मौद्रिक लागत सापेक्षिक मजदूरी में अन्तर के द्वारा निर्धारित होती है। उनके अनुसार प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री विभिन्न देशों में प्राकृतिक विभिन्नताओं को ही, सापेक्षिक उत्पादकता में भिन्नता का आधार मानते थे। प्रतिष्ठित उदाहरण को दृष्टि में रखते हुए उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि निर्माण उद्योगों में उत्पादकता को प्रभावित करने में गैर-श्रम साधनों का महत्व कम होता है अत: इस बात की अधिक सम्भावना रहती है कि मौद्रिक मजदूरी के अन्तरों का प्रभाव स्पष्ट दिखायी दे। श्रमिकों की कार्यक्षमता, उनकी मजदूरी की विभिन्नता में परिलक्षित होती है जबकि पूँजी की परिवर्तनशील क्षमता का प्रभाव प्राय नगण्य होता है।

यदि व्यापार के ढाँचे पर मजदूरी की सापेक्षिक भिन्नता का प्रभाव पड़ता है तो यह अनुमान लगाया जा सकता है कि औसत रूप में एक देश के निर्यात उद्योगों में घरेलू एवं आयात प्रतियोगी उद्योगों की तुलना में मजदूरी की दर सापेक्षिक रूप से कम होगी। तुलनात्मक लाभ कम होते हुए भी एक उद्योग निर्यातक हो सकता है यदि उसकी मजदूरी लागतें (श्रम गणना के आधार पर) औसत से कम हैं। प्राचीन प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का विश्वास था कि निर्यात उद्योगों में मजदूरी का स्तर दीर्घकालीन मजदूरी की दर को प्रभावित करता है। यह उस समय और भी लागू होता है जब व्यापार सन्तुलन की ओर बढ़ रहा हो अथवा एक देश की व्यापार शर्तों में सुधार हो रहा हो।

तीसरी जाँच

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की तीसरी जाँच प्रो क्रेविस (Kravis) ने अपनी पुस्तक '*Wages and Foreign Trade*' में प्रस्तुत की है। उन्होंने अमेरिका के उद्योगों के मजदूरी के स्तर का अध्ययन कर इस बात की पुष्टि की है कि निर्यात उद्योग सापेक्षिक रूप से अधिक मजदूरी देते। वे मजदूरी की भिन्नता को तुलनात्मक लागत का आधार मानने पर सन्देह प्रकट करते हैं वरन् गतिशील स्थितियों में वे भौतिक श्रम की इकाइयों को तुलनात्मक लाभ का सफल आधार मानते हैं। इसके समर्थन में उन्होंने निम्न दो कारणों का उल्लेख किया है. प्रथम जापान एवं अमेरिका के आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि श्रमिकों के प्रति घण्टे पारिश्रमिक की दृष्टि से विभिन्न देशों में उद्योगों की श्रेणियाँ लगभग समान हैं। इससे टॉजिग की यह मान्यता सिद्ध होती है कि प्राय: सब औद्योगिक देशों में अप्रतियोगी समूहों का ढाँचा लगभग समान रहता है अत: विभिन्न उद्योगों में रहन वाली मजदूरी की भिन्नता का देश के तुलनात्मक लाभ पर बहुत कम प्रभाव पड़ता है। द्वितीय क्रेविस का मत है कि श्रम-बाजार में प्रतियोगिता के कारण प्रत्येक देश में मजदूरी का स्तर उस देश के मजदूरों के राष्ट्रीय स्तर के बराबर हो जाता है जो उत्पादकता पर आधारित होता है। यह स्पष्ट करता है कि विभिन्न देशों में उत्पादकता के अनुपात में भिन्नता क्या होती है।

निष्कर्ष—इस प्रकार प्रो. मेकडूगल और प्रो क्रेविस के निष्कर्ष प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की इस मान्यता को स्थापित करते हैं कि तुलनात्मक लाभ को निर्धारित करने में श्रमिकों की सापेक्षिक उत्पादकता का महत्वपूर्ण हाथ होता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. क्या आनुभविक जाँच से तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की सत्यता स्थापित की गयी है? स्पष्ट किजिए।

Selected Readings

1. Richard E. Caves : *Trade and Economic Structure.*
2. Kravis : *Availability and other Influences on the Commodity Composition of Trade.*

अध्याय 7

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त और अर्द्धविकसित देश

[THEORY OF COMPARATIVE COST AND UNDER-DEVELOPED COUNTRIES]

परिचय

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के तुलनात्मक लागत के अनुसार पिछड़े और अर्द्धविकसित देश भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभान्वित होते हैं। बल्कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार इन देशों में जो विदेशी व्यापार की प्रवृत्ति (Foreigns Trade Orientation) पायी जाती है, वह तुलनात्मक लाभ का ही परिणाम है। इनका तर्क है कि तुलनात्मक लाभ के फलस्वरूप विश्व की वास्तविक आय में वृद्धि हो जाती है तथा अर्द्धविकसित देश भी विदेशी व्यापार न होने की तुलना में अधिक अच्छे (better off) हो जाते हैं।

अभी पिछले अध्याय में यह स्पष्ट किया गया है कि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन पर आधारित है तथा इसमें यह निष्कर्ष निकाला गया है कि स्वतन्त्र व्यापार के कारण प्रत्येक देश में सर्वाधिक कुशलता से उत्पादन किया जाता है। इसके साथ ही प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने दो देशों में होने वाले व्यापार पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध भी स्वीकार नहीं किया है। इसके अतिरिक्त और भी बहुत-सी मान्यताएँ हैं जिनके आधार पर प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने तुलनात्मक लाभ के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इनका अध्ययन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। अब महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि उक्त तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त अर्द्धविकसित देशों में कहाँ तक लागू होता है? बहुत से अर्थशास्त्रियों ने पिछड़े देशों के लिए तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त की व्यावहारिकता को स्वीकार नहीं किया है तथा यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रावैगिक दशाओं (Dynamic conditions) के अन्तर्गत उक्त सिद्धान्त लागू नहीं होता। इन अर्थशास्त्रियों में प्रो. लुईस (W A Lewis), प्रो मेसन (E S. Mason), प्रो. मिण्ट (H. Mynt), प्रो. मिर्डल (G. Myrdal), प्रो जोन रॉबिंसन (Joan Robinson), प्रो. सिंगर (H. W. Singer), प्रो. वाइनर (Jacob Viner), प्रो. विलियम्स (J. H Williams), प्रो. प्रेबिश (R. Prebisch) इत्यादि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

अब हम नीचे उन मुख्य कारणों की विवेचना करेंगे जो यह स्पष्ट करते हैं कि तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त अर्द्धविकसित देशों में क्यों लागू नहीं होता?

(1) स्वतन्त्र व्यापार में बाधाएँ

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त स्वतन्त्र व्यापार में बाधाओं को स्वीकार नहीं करता। यह अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु विनिमय के क्षेत्र में एक प्रकार से प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अहस्तक्षेप के

सिद्धान्त (Theory of Laissez faire) का विस्तार है। यह सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि व्यापार करने वाले दो देशों के बीच किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए ताकि अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण के कारण होने वाले पूरक लाभों (Complementary Benefits) को प्राप्त किया जा सके। दो समान रूप में विकसित राष्ट्र इस प्रकार के लाभ प्राप्त कर सकते है। किन्तु जब हम इस सिद्धान्त को अर्द्धविकसित देशों पर लागू करते है तो इसका ढाचा लड़खड़ाने लगता है। जब दो या दो से अधिक देश, जो प्राय समान वस्तुएँ बनाते हैं, अपने माल को विश्व बाजार में बेचना चाहते हैं तो उनमें गला-काट प्रतियोगिता होती है, वे राशिपातन (dumping) तथा अवमूल्यन का सहारा लेते हैं। यदि प्रत्येक देश को प्रतियोगिता करने की खुली छूट दी जाय तो जो शक्तिशाली राष्ट्र होगा वह बाजारों पर अपना अधिकार कर लेगा एवं कमजोर राष्ट्र बाजार के बाहर निकल जायगा अर्थात् यदि विकसित और अर्द्धविकसित देशों में व्यापार हो तो पिछड़ा राष्ट्र और निर्धन हो जायगा तथा उसे पारस्परिक लाभ प्राप्त नहीं होगा। इससे कभी-कभी राष्ट्रों में इतनी कटुता आती है कि युद्ध और विनाश की स्थिति उपस्थित हो जाती है। इतिहास में ऐसे उदाहरण मौजूद हैं। इसे दृष्टि में रखते हुए, स्मिथ और रिकार्डो ने जिस तुलनात्मक लाभ का विवेचन किया है, वह अर्द्धविकसित देशों पर लागू नहीं होता क्योंकि वर्तमान में प्राय समस्त देश पूर्णरूप से स्वतन्त्र व्यापार को नहीं अपना रहे है वरन प्रतिबन्धित व्यापार और सरक्षण का सहारा ले रहे हैं। विकसित और अर्द्धविकसित देशों में होने वाले व्यापार से किस प्रकार लाभ विकसित देशों को ही मिलता है तथा पिछड़े राष्ट्रों का शोषण होता है, इसका सुन्दर विवेचन प्रो. मिन्ट, प्रो लुईस, प्रो प्रैबिश, प्रो सिंगर और प्रो मिर्डल ने किया है। उनका कहना है कि विश्व अर्थव्यवस्था में असन्तुलन पैदा करने वाली शक्तियों (Disequalizing forces) के विद्यमान होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ विकसित देशों को ही मिला है। कुछ आलोचकों ने मार्क्स की शोषण की धारणा (Concept of Exploitation) के आधार पर रिकार्डो की व्यापार से होने वाले पारस्परिक लाभ की धारणा का विरोध किया है।

(2) तुलनात्मक लागत का स्थैतिक स्वरूप

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त बहुत सी ऐसी स्थैतिक मान्यताओं को लेकर चलता है जो अर्द्धविकसित देशों में नहीं पायी जाती। प्रतिष्ठित व्यापार का सिद्धान्त रुचियों, साधनों और तकनीकी ज्ञान को स्थिर मान लेता है और इनके आधार पर सदैव लागू होने वाला साधनों का सर्वोत्तम वितरण लागू करने का प्रयत्न करता है। ये मान्यताएं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के दीर्घकालीन प्रावैगिक विकास के विश्लेषण में बाधा उपस्थित करती हैं और विकास के सार को भुला देती है।"[1]

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त विकास की दर पर ध्यान न देकर एक विशेष समय में समग्र उत्पादन को अधिकतम करने पर जोर देता है। किन्तु जहाँ तक अर्द्धविकसित देशों का प्रश्न है, उनके लिए उत्पादन अधिकतम करने की अपेक्षा विकास की दर को गतिशील बनाना अधिक महत्वपूर्ण है तथा इसके लिए साधनों के वितरण में परिवर्तन करना आवश्यक है। यह सम्भव है कि कुछ विशिष्ट साधनों का प्रयोग करके एक अर्द्धविकसित राष्ट्र अपने उत्पादन को अधिक बढ़ा सके। किन्तु यह उसके हित में होगा कि वह उन साधनों का प्रयोग इस तरह करे जिससे आर्थिक विकास की गति तीव्र हो सके भले ही उससे उत्पादन तुलनात्मक रूप से कम हो।

1 [illegible]

इस प्रकार तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त ऐसी स्थैतिक अर्थव्यवस्था की कल्पना करता है जहाँ साधनों की पूर्ति स्थिर रहती है। एक अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्था में जहाँ सदैव नये सगाधनों को विकसित किया जाता है, उक्त मान्यता लागू नहीं होती। वहाँ तो एक गतिशील सिद्धान्त की आवश्यकता है।

(3) वितरण पक्ष की अवहेलना

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त केवल उत्पादन पक्ष पर जोर देता है एवं बताता है कि विश्व का कुल उत्पादन किस प्रकार विशिष्टीकरण के द्वारा अधिकतम किया जा सकता है किन्तु यह वितरण के पक्ष की अवहेलना करता है। किन्तु वास्तव में किसी भी ऐसी आर्थिक नीति का समर्थन नहीं किया जा सकता जिससे उत्पादन में तो वृद्धि होती हो तथा वितरण पर उसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो और अर्द्धविकसित राष्ट्र तो ऐसी स्वतन्त्र व्यापार नीति का कदापि समर्थन नहीं कर सकते जिससे वे और अधिक निर्धन बनें। यदि कृषि और उद्योग दोनों की तुलना की जाय तो उद्योग में प्रतिव्यक्ति आय अधिक होती है और चूँकि अर्द्धविकसित देश कृषि प्रधान होते है तथा वे यदि विश्व की आय में अपना हिस्सा बढ़ाना चाहते हैं तो उन्हें अपने देश में उद्योगों की स्थापना एवं विस्तार करना चाहिए भले हो उससे कुल विश्व आय थोड़ी कम हो जाय। इन देशों में उद्योग उसी समय स्थापित हो सकते हैं जब स्वतन्त्र व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाया जाय। किन्तु अर्द्धविकसित देशों को उस सीमा के आगे प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए जहाँ उनके निरपेक्ष अश में होने वाली सीमान्त वृद्धि शून्य के बराबर हो जाय।

अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि यदि विकसित और अर्द्धविकसित देशों के बीच बिना किसी प्रतिबन्ध के स्वतन्त्र व्यापार होता है तो उससे देशों में आय का असमान वितरण होगा क्योंकि औद्योगिक रूप से विकसित राष्ट्र तो लाभान्वित होंगे एवं पिछड़े राष्ट्र और निर्धन बनेंगे। अर्थात विकसित राष्ट्र, निर्धन राष्ट्रों के बल पर अधिक सम्पन्न बनेंगे।

(4) अर्द्धविकसित देशों का असन्तुलित विकास

यदि तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को अपना लिया जाय तो अर्द्धविकसित देश इस आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार शुरू कर देते है। किन्तु इसका परिणाम यह होता है कि ऐसे देशों में "दोहरी अर्थव्यवस्थाओं" (Dual Economics) का निर्माण हो जाता है अर्थात तुलनात्मक लाभ के आधार पर जिन वस्तुओं का निर्यात किया जाता है उनसे सम्बन्धित उद्योगों के आसपास तो क्षेत्र विकसित हो जाता है किन्तु शेष अर्थव्यवस्था में पिछड़ापन ही बना रहता है। इस प्रकार अर्थव्यवस्था असन्तुलित हो जाती है। इसे प्रो बूईक (Prof Boeke) ने दोहरे समाज (Dual Society) का निर्माण कहा है। उनके अनुसार, "निःसन्देह सामाजिक दोहरेपन का सर्वाधिक प्रचलित रूप उस क्षेत्र में पाया जाता है जहाँ पश्चिम से आयातित पूँजीवाद ने पूँजीवाद के पूर्व के कृषक समुदाय में प्रवेश कर लिया है।"[1]

यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण अर्द्धविकसित देशों का निर्यात बढ़ा है किन्तु इससे उनकी अर्थव्यवस्था की कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई है। इसका यह प्रभाव हुआ है कि अर्थव्यवस्था निर्यात उत्पादन के प्रति उन्मुख हो गयी तथा विकास की अन्य आवश्यकताओं की अवहेलना कर दी गई। इसे स्पष्ट करते हुए प्रो. मिर्डल कहते हैं कि, "निर्धन देशों का ऊँचा विदेशी

1 [illegible]

व्यापार का अनुपात इस बात का शुभ संकेत नहीं है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन के आर्थिक लाभों का दोहन कर रहे हैं परन्तु वह उनकी निर्धनता और अर्द्धविकसित स्थिति का सूचक है।"[1]

(5) अर्द्धविकसित देशों में पूर्ण रोजगार और गतिशीलता का अभाव

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त व्यापार करने वाले देशों में उत्पत्ति के साधनों में पूर्ण रोजगार एवं गतिशीलता को स्वीकार करता है किन्तु अर्द्धविकसित देशों में न तो पूर्ण रोजगार की स्थिति होती है और न ही साधनों में पूर्ण गतिशीलता पायी जाती है। वरन इन देशों में बड़े पैमाने पर बेरोजगारी, अर्द्ध-बेरोजगारी एवं अदृश्य बेरोजगारी (disguised unemplyment) पायी जाती है। कृषि क्षेत्र में काम करने वाले श्रमिकों में लगभग 20% की सीमान्त उत्पादकता प्रायः शून्य रहती है। यदि तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को लागू किया जाय तो उससे बेरोजगारी की समस्या हल नहीं होगी क्योंकि देश में उद्योगों का विकास नहीं होगा। किन्तु यदि स्वतन्त्र व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाकर आयात प्रतिस्थापन किया जाय तो बेरोजगार लोग, रोजगार पा सकते हैं एवं राष्ट्रीय आय को बढ़ाने में अपना योगदान दे सकते हैं।

जहाँ तक विकसित देशों का प्रश्न है, वहाँ पर उस प्रकार की बेरोजगारी नहीं पायी जाती जिस प्रकार कि अर्द्धविकसित देशों में होती है। विकसित देशों में प्रभावपूर्ण माँग में कमी हो जाने से बेरोजगारी फैल जाती है किन्तु ये देश निर्यातों को बढ़ाकर "अतिरेक" का सृजन कर सकते हैं तथा माँग को बढ़ाकर बेरोजगारी को दूर किया जा सकता है। इसके विपरीत अर्द्ध-विकसित देशों में बेरोजगारी इसलिए होती है क्योंकि वहाँ उत्पादन के लिए आवश्यक साधनों जैसे पूँजी, भूमि, तकनीकी विकास, उद्यमी प्रतिभा आदि का अभाव रहता है जिससे श्रमिकों को रोजगार नहीं मिल पाता। अतः इन देशों में उत्पादन कम होने से निर्यातों को बढ़ाना सम्भव नहीं होता।

जहाँ तक गतिशीलता का प्रश्न है, यद्यपि विकसित देशों में अपेक्षाकृत अधिक गतिशीलता पायी जाती है किन्तु अर्द्धविकसित देशों में गतिशीलता का अभाव रहता है जिससे देश के भीतर लागतों में समानता स्थापित नहीं हो पाती। अतः तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त अर्द्धविकसित देशों में लागू नहीं हो पाता क्योंकि वह यह मानकर चलता है कि देश के भीतर उत्पत्ति के साधन पूर्ण रूप से गतिशील होते हैं।

(6) पूर्ण प्रतियोगिता नहीं पायी जाती

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त पूर्ण प्रतियोगिता पर आधारित है जो वास्तविक जगत में नहीं पायी जाती। वास्तव में अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति पायी जाती है जिसके अन्तर्गत कीमतें सीमान्त लागत के बराबर नहीं होती जबकि तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त इन दोनों को समान मानकर चलता है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त कीमत यन्त्र (Price Mechanism) या बाजार की स्वतन्त्र गति को मानकर चलता है किन्तु आजकल बहुत से अर्द्धविकसित देश नियोजन और कीमत-नियन्त्रण को अपना रहे हैं जो तुलनात्मक लागत के अनुरूप नहीं है।

(7) अर्द्धविकसित देशों में प्रतिकूल व्यापार शर्तें

अर्द्धविकसित देशों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सबसे प्रमुख समस्या यह है कि व्यापार की शर्तें (Terms of trade) उनके अनुकूल नहीं होतीं। यह तर्क निराधार हो चुका है कि प्राथमिक उत्पादन करने वाले (अर्द्धविकसित) देशों के लिए व्यापार की शर्तें अनुकूल होती हैं क्योंकि प्राथमिक

1 [illegible]

वस्तुओं का उत्पादन बढ़ती हुई लागत के अन्तर्गत होता है जबकि औद्योगिक उत्पादन घटती हुई लागत के अन्तर्गत होता है। किन्तु वर्तमान विश्व में ऐसे अनेक कारण विद्यमान हैं जिनसे अर्द्ध-विकसित देशों की व्यापार की शर्तें अनुकूल नहीं हो पाती जैसे अब विकसित देश पिछड़े देशों से कच्चा माल खरीदने के स्थान पर उनके विकल्पों का प्रयोग करने लगे हैं। अब विकसित देश भी कच्चे माल का आवश्यकतानुसार उत्पादन कर रहे हैं, तथा प्राथमिक उत्पादनों के लिए इनकी माँग कम हो गयी है इत्यादि।

प्रो. सिंगर और प्रो. प्रेबिश भी इस बात से सहमत है कि निर्धन देशों के लिए व्यापार की शर्तों में सुदीर्घकालिक ह्रास (secular deterioration) हुआ है। उनका तर्क है कि तकनीकी प्रगति के लाभों का विषमवितरण हुआ है तथा उसका अधिकांश लाभ विकसित देशों को ही मिला है। प्रो. लुईस का मत है कि जीवन निर्वाह के स्तर पर श्रम की असीमित पूर्ति ने पिछड़े देशों के व्यापारिक उत्पादन की कीमत को बहुत नीचे रखा है। जब अर्द्धविकसित देश कुछ वस्तुओं के निर्यातों पर निर्भर हो जाते हैं तो उनकी अर्थव्यवस्था पर विश्व बाजार की माग और कीमतों में होने वाले उच्चावचनों (fluctuations) का प्रभाव पड़ता है तथा अर्थव्यवस्था अस्थिर हो जाती है। विदेशी विनिमय से होने वाली प्राप्तियों में कोई निश्चितता नहीं रहती। इसमें निर्धन देशों को भुगतान सतुलन में भारी कठिनाई होती है।

जब विश्व में समृद्धि होती है तो औद्योगिक वस्तुओं की कीमतों की तुलना में प्राथमिक वस्तुओं की कीमतें अधिक तेजी से बढ़ती हैं एवं अर्द्धविकसित देशों की व्यापार शर्तों में सुधार होता है। किन्तु अवसाद या मन्दी के काल में स्थिति विपरीत होती है अर्थात निर्माण उद्योगों की तुलना में प्राथमिक वस्तुओं की कीमतें अधिक गिरती है जिससे अर्द्धविकसित देशों की व्यापार की शर्तों में गिरावट आती है। इस प्रकार व्यापार के चक्रीय प्रभाव अर्द्धविकसित देशों की व्यापार की शर्तों पर पड़ते हैं तथा अर्द्धव्यवस्था में अस्थिरता आती है।

(8) दीर्घकालीन उत्पादन लागतों का विचार

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त एक देश में किसी वस्तु का उत्पादन निर्धारण करने के लिए केवल वर्तमान लागतों को ही आधार मानता है तथा दीर्घकालीन लागतों की उपेक्षा करता है। यह सम्भव है कि एक विकसित देश की तुलना में, एक अर्द्धविकसित देश में कुछ औद्योगिक वस्तुओं का उत्पादन करने की लागत प्रारम्भ में अधिक हो किन्तु यदि प्रारम्भ में ही इन वस्तुओं के उद्योग को संरक्षण दे दिया जाय तो कुछ अनुकूल दशाएँ विद्यमान होने से यह सम्भव है कि बाद में इन देशों में औद्योगिक वस्तुओं की तुलनात्मक लागत, विकसित देशों की तुलना में कम हो जाय। वर्तमान में विश्व के बहुत से विकसित देशों में औद्योगिक वस्तुओं की लागत इसलिए कम नहीं है कि इन देशों के पास आवश्यक प्राकृतिक साधन मौजूद हैं वरन इसलिए है क्योंकि इन देशों के पास तकनीकी ज्ञान, मशीनों और पूँजी का विपुल भण्डार है जो इन देशों को प्राकृतिक तौर पर नहीं मिला वरन इन्होंने प्राप्त किया है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए प्रो. जे. एस. मिल कहते हैं कि, "उत्पादन की किसी एक शाखा में एक देश की दूसरे देश की तुलना में श्रेष्ठता इसलिए होती है क्योंकि पहले देश में उत्पादन बहुत जल्दी शुरू कर दिया गया था। इसमें एक देश को निहित लाभ और दूसरे को निहित हानि न होकर वर्तमान में प्राप्त की हुई दक्षता और अनुभव की श्रेष्ठता होती है।[1]

1 "The Superiority of one country over another in a branch of production often arises only from having begun it sooner. There may be no inherent advantage on one part or disadvantage on the other, but only a present superiority of acquired skill and experience."
—J. S. Mill, *Principles of Political Economy*, pp. 537-38.

यदि अर्द्धविकसित देशो को भी तकनीकी ज्ञान, पूंजी, उद्यमी प्रतिभा, कुशल श्रम आदि सारी सुविधाएँ उपलब्ध हो जो विकसित देशो को प्राप्त हैं तो इसमे कोई सन्देह नही कि अर्द्धविकसित देश, निर्माण वस्तुओ का उत्पादन, विकसित देशो की लागत की तुलना से भी कम मे कर सकते हैं क्योंकि पिछड़े देशो के पास प्राकृतिक साधन प्रचुर मात्रा मे मौजूद हैं ।

(9) अर्द्धविकसित देश और उत्पत्ति के नियम

अर्द्धविकसित देशो की स्थिति ऐसी होती है कि उन्हे कृषि उत्पादन मे तुलनात्मक लाभ होता है जिसका उत्पादन, उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत होता है अर्थात कृषि उत्पादन मे वृद्धि होने से उसकी लागत मे वृद्धि होती है। दूसरी ओर उन्हे औद्योगिक उत्पादन मे तुलनात्मक हानि होती है जिसका उत्पादन, उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत होता है अर्थात औद्योगिक उत्पादन मे वृद्धि होने से लागत घटती है किन्तु ये देश अपनी सीमाओ के कारण (पूंजी, मशीन, तकनीकी ज्ञान आदि की कमी) औद्योगिक उत्पादन बढा नही पाते वरन उसमे सकुचन होता है जिससे प्रति इकाई लागत बढती है । ये देश तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के अनुसार विशिष्टीकरण नही कर सकते और यदि करते हैं तो कृषि और औद्योगिक वस्तुएँ-दोनो मे उत्पादन लागत मे वृद्धि हो जाती है।

अर्द्धविकसित देशो मे, औद्योगिक वस्तुओ की कीमतो मे होने वाली वृद्धि विश्व बाजार मे उनकी प्रतियोगी शक्ति को घटा देती है जिसका परिणाम यह होता है कि प्राकृतिक साधनो का शोहन कर देश मे आर्थिक विकास करने की उनकी शक्ति और कुण्ठित हो जाती है।

(10) सामाजिक लागतों की अवहेलना

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त निजी सीमान्त उत्पादन और निजी लागतो पर विचार करता है तथा सामाजिक लागत पर विचार नही करता। यह सिद्धान्त सामाजिक सीमान्त उत्पादन (Social Marginol Prodnet) को निजी सीमान्त उत्पादन के बराबर मान लेता है एव सामाजिक लागत की अवहेलना करता है। किन्तु निजी लागत और सामाजिक लागत मे भेद होता है। जब तक सामाजिक लागत पर विचार नही किया जाय, केवल तुलनात्मक लागत के आधार पर विश्व के अधिकतम उत्पादन की गणना नही की जा सकती।

निष्कर्ष

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त अर्द्धविकसित देशो मे लागू नही होता। उपरोक्त आलोचनाओ के कारण ही बहुत से विचारक प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के व्यापार के सिद्धान्त को अर्द्धविकसित देशो के लिए अव्यावहारिक समझते हैं। प्रो. मीअर एवं बाल्डविन के अनुसार, "यह निश्चित ही सत्य है कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के व्यापार के सिद्धान्त पर विकास समस्याओ एव पिछड़े देशो के विशिष्ट लक्षणो के सन्दर्भ मे पुनर्विचार किया जाना चाहिए। अभी तक इस पर पर्याप्त विचार नही किया गया है।"[1] इस बात से इकार नही किया जा सकता कि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त एव व्यापार से होने वाले लाभो के सम्बन्ध मे प्रतिष्ठित विचार गतिशील दशाओ मे भी लागू हो सकते हैं। किन्तु इसके लिए सिद्धान्त मे पर्याप्त सुधार आवश्यक हैं और जब तक ये नही किये जाते तब तक अर्द्धविकसित देशो मे तुलनात्मक सिद्धान्त की व्यावहारिकता पर प्रश्नचिन्ह ही लगा रहेगा और आलोचक अपने इस मत को दोहराते रहेंगे कि प्रतिष्ठित व्यापार सिद्धान्त ने पिछड़े देशो के विकास को सीमित बना दिया है।

1 "It is certainly true that classical trade theory must be rethought in terms of development problems and the peculiar characteristics of poor countries This has not yet been done adequately."
—Meier & Baldwin op. cit p. 322.

अर्द्ध विकसित देशो के पास इसके लिए पर्याप्त कारण मौजूद हैं कि वे प्रतिष्ठित तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को न अपनाकर सरक्षण की नीति क्यों अपना रहे है। इन देशों को निर्धनता के चक्र को तोड़ने के लिए औद्योगीकरण करना आवश्य है जो शिशु उद्योगो (Infant Industries) को अस्थायी तौर पर सरक्षण देकर किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अर्द्धविकसित देशों को मुद्रा प्रसार और विदेशी विनिमय की कठिनाईयों का भी सामना करना पड़ता है। इन देशो को अपनी आर्थिक नीति का सचालन करने के लिए विदेशी व्यापार को नियत्रित करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार अर्द्धविकसित देशो के विदेशी व्यापार को नियन्त्रित करने के लिए विशेष कारण होते हैं जैसे प्रतियोगी शक्ति का अभाव एव अर्थव्यवस्था का एकागी विकास इत्यादि जो विकसित देशो मे उपस्थित नही होते। इसे ही दृष्टि मे रखकर प्रो मिर्डल ने कहा है कि, "अर्द्धविकसित देशों के पास इसके लिए पर्याप्त तर्क है कि वे विकसित देशो मे एकपक्षीय ढग से अपने व्यापार को उदार बनाने के लिए कहे। जहाँ तक इन देशो के निर्यात का प्रश्न है, वे स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपना सकते है किन्तु जहा आयात करने का प्रश्न उपस्थित होता है, तो वे सरक्षण की नीति का अनुसरण कर सकते है।"

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. क्या प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त अर्द्धविकसित देशो के अनुरूप है ? पूर्ण रूप से समझाइए ?
2. तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त किस सीमा तक अर्द्धविकसित देशो की विदेशी व्यापार की दशाओ पर लागू होता है ? तर्क पूर्ण विवेचना कीजिए ?
3. "तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त स्थैतिक मान्यताओं पर आधारित है जो अर्द्धविकसित देशो की गतिशील दशाओ मे लागू नही होती" क्या आप इससे सहमत है ? विस्तार से समझाइए।

Selected Readings

1. Meier & Baldwin : *Economic Development, Theory, History, Policy.*
2. Dr K. R. Gupta : *International Economics*
3. P K. Ray & K. B. Kundu : *International Economics*
4. Ragner Narkse : *International Trade Theory and Development Policy*
5. G. M Meier : *International Trade and Economic Development*

अध्याय 8

प्रतिष्ठित तुलनात्मक लागत सिद्धान्त में कुछ संशोधन

[SOME REFINEMENTS IN THE CLASSICAL THEORY OF COMPARATIVE COST]

परिचय

पिछले पृष्ठो में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि बहुत-सी अवास्तविक मान्यताओं के कारण तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को अस्वीकृत कर दिया गया एव उसके स्थान पर एक ऐसा सिद्धान्त विकसित किया गया जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की जटिलताओ को स्पष्ट कर सके। किन्तु एक बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त मे क्रमश. सशोधन और विस्तार किया गया एव उसे वास्तविकता के अनुरूप बनाया गया अर्थात उक्त सिद्धान्त की मूल भावना आज भी किसी न किसी रूप मे विद्यमान है। इस सिद्धान्त के कटु आलोचक प्रो. ओहलिन यद्यपि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त मे सन्तुष्ट नही थे, किन्तु उन्होंने उसे पूर्ण रूप से अस्वीकृत नही किया वरन उसे मूल्य की आधुनिक व्याख्या के अनुसार परिवर्तित किया। उक्त सिद्धान्त मे प्रो टाजिग, प्रो केयरन्स, प्रो मार्शल, निकलसन, प्रो. हेबरलर, प्रो वेस्टेबल इत्यादि ने सशोधन किये।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त मे सशोधन

समय समय पर तुलनात्मक लागत सिद्धान्त में निम्न सशोधन किये गये —

(1) **मौद्रिक लागत में व्याख्या**—रिकार्डो ने तुलनात्मक लागत की व्याख्या वस्तु विनिमय की प्रथा के अन्तर्गत की है। किन्तु एक ऐसी अर्थव्यवस्था मे जहां बडी मात्रा मे श्रम विभाजन का प्रयोग किया जा रहा है, वहां आपस मे वस्तुओं का विनिमय नही होता वरन उन्हें खरीदने के लिए मुद्रा का प्रयोग किया जाता है। अत. यदि कीमतो को मुद्रा मे व्यक्त किया जाय तो क्या तुलनात्मक लागत सिद्धान्त से वही परिणाम निकाले जा सकते हैं जो रिकार्डो ने निकाले थे। इसका उत्तर प्रो टाजिग ने अपनी पुस्तक मे दिया है जिसका नाम है International Trade तथा जो 1927 मे प्रकाशित हुई। उन्होंने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को मौद्रिक लागत मे रूपान्तरित किया है और स्पष्ट किया है कि इसके बावजद भी तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की वास्तविकताएं समाप्त नही होती। प्रो. हेबरलर ने भी मौद्रिक लागत को अधिक व्यावहारिक माना है तथा स्पष्ट किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रवाह प्रत्यक्ष रूप से मौद्रिक कीमतो मे निरपेक्ष अन्तरों के कारण निर्धारित होता है न कि श्रम-लागत मे तुलनात्मक अन्तरो के कारण।"[2]

---

1 "The flow of International trade is determined directly by absolute differences in many price and not by comparative differences in labour cost" —Haberler, *op. cit.* p 1[illegible].

अध्याय 56

एशियाई विकास बैंक
[ASIAN DEVELOPMENT BANK]

परिचय

विश्व में एशिया सबसे बड़ा महाद्वीप है जिसमें विश्व की कुल जनसंख्या का 60 प्रतिशत भाग निवास करता है। इस महाद्वीप की तीन चौथाई जनसंख्या अभाव और निर्धनता से पीड़ित है। राजनीतिक दृष्टि से भी इस महाद्वीप के अनेक देश सदियों तक पराधीन रहे और उनका काफी दमन और शोषण हुआ। एशिया के विभिन्न देशों द्वारा चलाये गये आर्थिक पुनर्निर्माण के कार्यक्रमों के लिए दीर्घकालीन विकास वित्त की आवश्यकता थी। यद्यपि इस उद्देश्य के लिए विश्व बैंक तथा उसकी सम्बद्ध इकाइयों द्वारा वित्तीय सुविधाएँ दी गयी परन्तु ये अपर्याप्त थी एवं यह अनुभव किया गया कि एशियाई देशों की वित्तीय सहायता के लिए अलग से एक संस्था स्थापित की जाये। सितम्बर 1963 में एशिया एवं सुदूर पूर्व के लिए आर्थिक आयोग (Economic Commission for Asia and for East—ECAFE—वर्तमान में एशिया तथा प्रशान्त क्षेत्र आर्थिक एवं सामाजिक आयोग) द्वारा एक विशेष समिति का गठन किया गया। समिति ने एक बैंक की स्थापना का सुझाव दिया। इस सुझाव को आयोग ने दिसम्बर 1963 में मनीला में आयोजित अपनी मन्त्री-स्तरीय बैठक में अनुमोदित कर दिया। आयोग ने प्रस्तावित बैंक की रूपरेखा तैयार करने के लिए अक्टूबर 1964 में एक अध्ययन दल का गठन किया। अप्रैल 1965 में आयोग की बैठक में एशियाई विकास बैंक की स्थापना का निर्णय लिया गया। बैंक की स्थापना 26 नवम्बर, 1966 को हुई तथा 19 दिसम्बर, 1966 से इसने कार्य प्रारम्भ किया।

एशियाई विकास बैंक के उद्देश्य (Objectives of the ADB)

विकास बैंक का मुख्य उद्देश्य एशिया एवं सुदूर पूर्व के देशों में आर्थिक सहयोग और विकास को प्रोत्साहित करना है। इसके साथ ही एशिया के विकासशील देशों में व्यक्तिगत व संयुक्त रूप से आर्थिक विकास की प्रक्रिया को गतिशील बनाना है। एशियाई विकास बैंक के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं:

(1) एशिया एवं सुदूर पूर्व के देशों में आर्थिक विकास के लिए सार्वजनिक तथा निजी पूँजी के विनियोग को प्रोत्साहित करना।

(2) उपलब्ध साधनों का सदस्य देशों के विकास के लिए उनके राष्ट्रीय, क्षेत्रीय व उप-क्षेत्रीय विकास कार्यक्रमों को ध्यान में रखते हुए, प्रयोग में लाना।

(3) सदस्य देशों की विकास नीतियों एवं योजनाओं में समन्वय स्थापित करने में सहायता देना जिससे ये देश अपने साधनों का अधिक अच्छी तरह से प्रयोग कर सकें और विदेशी व्यापार का सन्तुलित विकास किया जा सके।

(4) सदस्य देशों की विकास परियोजनाओं तथा कार्यक्रमों का निर्माण, वित्त प्रबन्धन एवं उनके क्रियान्वयन मे तकनीकी सहायता देना।

(5) संयुक्त राष्ट्र संघ तथा उससे सम्बद्ध संस्थाओं एवं अन्य राष्ट्रीय निजी तथा सार्वजनिक संस्थाओं के साथ सहयोग करना जो इस क्षेत्र में विकास सम्बन्धी विनियोग से सम्बन्धित हैं।

(6) ऐसे सभी कार्यों को करना तथा ऐसी सेवाएँ प्रदान करना जो उसके उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक हो।

उपर्युक्त उद्देश्यों से स्पष्ट है कि एशियाई विकास बैंक की स्थापना एशियाई देशों के आर्थिक विकास को बढ़ावा देने के लिए की गयी है। बैंक के चार्टर में स्पष्ट उल्लेख है—"यह बैंक एशिया एवं सुदूर पूर्व देशों में परस्पर सहयोग और विकास को मूर्त रूप देगा एवं विकासोन्मुख सदस्य देशों की सामूहिक एवं वैयक्तिक आर्थिक विकास की प्रक्रिया को गतिशील बनाने में योग देगा।" इस बैंक के उद्घाटन के अवसर पर जापान के तत्कालीन प्रधान मन्त्री ने ठीक ही कहा था कि "यह बैंक इस क्षेत्र के राष्ट्रों की लम्बे समय से चली आ रही आकांक्षाओं को सन्तुष्ट करने का प्रतीक है। इससे एशिया में स्वावलम्बन तथा सहयोग की भावना आयेगी।"

सदस्यता—बैंक के केवल वे ही सदस्य हो सकते हैं जो (i) ECAFE के सदस्य तथा सहायक सदस्य हैं, तथा (ii) अन्य क्षेत्रीय देश या गैर-क्षेत्रीय विकसित देश जो कि संयुक्त राष्ट्र संघ तथा उसकी विशिष्ट एजेन्सियों के सदस्य हैं।

प्रारम्भ में बैंक के सदस्य 32 थे जो बढ़कर दिसम्बर 1976 में 42 हो गये। किसी भी देश को उसी समय बैंक का सदस्य बनाया जाता है जबकि प्रशासकों की दो-तिहाई संख्या जो तीन-चौथाई मतों का प्रतिनिधित्व करते हैं, उस देश के पक्ष में हो।

बैंक का प्रबन्ध

बैंक के प्रबन्ध का दायित्व प्रशासक मण्डल (Board of Governors) पर रहता है। प्रत्येक सदस्य देश द्वारा बैंक में दो प्रतिनिधि भेजे जाते हैं जिनमें से एक को प्रशासक तथा दूसरे को वैकल्पिक गवर्नर कहा जाता है। इस तरह से भेजे गये सभी प्रतिनिधि प्रशासक मण्डल का गठन करते हैं। इस प्रशासक मण्डल द्वारा 12 संचालकों का चुनाव किया जाता है जिन्हें मिलाकर संचालक मण्डल (Board of Directors) बनता है। प्रशासक मण्डल द्वारा ही बैंक का अध्यक्ष (12 के अलावा) चुना जाता है। अध्यक्ष, एशियाई राष्ट्रों का ही व्यक्ति हो सकता है। कुल 12 संचालकों में से 8 संचालक इकाफे क्षेत्र के होते हैं। इनमें से प्रत्येक का कार्यकाल दो वर्ष का होता है जबकि अध्यक्ष की नियुक्ति 5 वर्ष के लिए की जाती है। अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष ही कार्य सम्भालता है।

कुछ मामलों को छोड़कर जिनका प्रावधान चार्टर में है अन्य सभी बातों पर बहुमत द्वारा निर्णय लिये जाते हैं। जहाँ तक मताधिकार का प्रश्न है कुल मतों के 20 प्रतिशत मत सदस्य देशों में समान रूप से बँटे हुए हैं और शेष 80 प्रतिशत मत सदस्य देशों के अंशों के आधार पर बँटे हुए हैं।

बैंक की पूँजी (Capital Resources of the ADB)

स्थापना के समय एशियाई विकास बैंक की अधिकृत पूँजी 1,000 मिलियन डालर रखी गयी थी जो क्षेत्रीय एवं गैर क्षेत्रीय सदस्यों द्वारा प्रदान की जाती थी। एशिया के सदस्य देशों द्वारा बैंक की पूँजी का 60 प्रतिशत और एशिया के बाहर के देशों द्वारा 40 प्रतिशत दिया जाना था। बैंक के उद्घाटन के समय उसकी पूँजी को बढ़ाकर 1,100 मिलियन डालर कर दिया गया। बैंक की पूँजी का आधा भाग ही सदस्यों द्वारा आरम्भ में दिया गया जिसका 50 प्रतिशत

अर्थात् 275 मिलियन डालर स्वर्ण अथवा परिवर्तनशील मुद्रा में और शेष 275 मिलियन डालर स्थानीय मुद्राओं में था। इस प्रकार बैंक ने 550 मिलियन डालर की संयुक्त निधि से अपना कार्य शुरू किया।

बैंक के वित्तीय स्रोत दो प्रकार के होते हैं (i) साधारण कोष जिसमें अभिदत्त पूँजी (Subscribed Capital) और ऋण से प्राप्त राशि रहती है, एवं (ii) विशेष कोष जिनकी स्थापना बैंक द्वारा की जाती है। विशेष कोषों में दाता देशों द्वारा प्रदत्त योगदान होता है जिनका प्रयोग बैंक के उद्देश्यों के अनुसार किया जाता है। इन विशेष कोषों का प्रयोग गारण्टी देने अथवा उच्च विकास प्राथमिकता वाली दीर्घकालीन परियोजनाओं की वित्तीय व्यवस्था के लिए किया जाता है। कई सदस्य देशों ने विशेष कोष में वृद्धि करने का सुझाव दिया है। इन कोषों के कृषि विशेष कोष, बहुउद्देशीय विशेष कोष, तकनीकी विकास विशेष कोष तथा एशियाई विकास कोष प्रमुख हैं। कृषि विशेष कोष में 2 करोड़ डालर जमा हैं जो जापान से प्राप्त हुए हैं तथा कनाडा सरकार द्वारा बहुउद्देशीय कोष में 50 लाख डालर जमा किये गये हैं और उसने 5 वर्ष तक प्रतिवर्ष 50 लाख डालर इस कोष में देने का वचन दिया है। तकनीकी सहायता कोष में भी अमरीका, ब्रिटेन, जर्मनी, जापान, कनाडा, डेनमार्क आदि देशों से अनुदान प्राप्त हुए हैं।

बैंक के संविधान में यह व्यवस्था कर दी गयी है कि गैर-एशियाई सदस्यों की हिस्सा पूँजी कुल अधिकृत पूँजी का 40 प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकती। 1972 से बैंक ने अपनी अधिकृत पूँजी 1,100 मिलियन डालर से बढ़ाकर 2,750 मिलियन डालर कर दी है। बैंक में कुछ महत्वपूर्ण देशों का अंशदान निम्न तालिका में दर्शाया गया है :

तालिका 56.1—एशियाई विकास बैंक में कुछ प्रमुख देशों की पूँजी

(मिलियन डालर में)

देश	अधिकृत पूँजी
जापान	603·17
भारत	280·48
आस्ट्रेलिया	256 35
अमरीका	241·27
पश्चिमी जर्मनी	102·54
इंगलैण्ड	90·48
कनाडा	75·34

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि बैंक में सर्वाधिक पूँजी जापान की है तथा एशियाई देशों में दूसरा क्रम भारत का है। अपने साधनों में वृद्धि करने के लिए बैंक को ऋण पत्र बेचने का भी अधिकार है।

बैंक की कार्यप्रणाली (Working of ABC)

(1) ऋण प्रदान करना—यहाँ बैंक की कार्यप्रणाली से आशय बैंक की ऋण सम्बन्धित क्रियाओं से है। बैंक ऋण प्रक्रिया के दो भाग हैं—साधारण प्रक्रिया एवं विशेष प्रक्रिया। साधारण प्रक्रिया के अन्तर्गत ऋण बैंक के साधारण पूँजीगत साधनों से दिया जाता है। यह ऋण विशेष परियोजनाओं की लागत में शामिल विदेशी मुद्रा अथवा स्थानीय मुद्रा की माँग की पूर्ति के लिए दिये जाते हैं। बैंक ऐसी संस्थाओं को भी ऋण दे सकता है जो उपर्युक्त परियोजनाओं के लिए धन उधार देती हैं। बहुत छोटी योजनाओं के लिए बैंक प्रत्यक्ष ऋण नहीं देता वरन् देश के विकास-

शील बैंक अथवा अन्य संस्थाओं के माध्यम से देता है जो ऐसी परियोजनाओं का निरीक्षण करती हैं।

विशेष ऋण प्रक्रिया के अन्तर्गत ऋणों की पूर्ति विशेष कोषों से पूरी की जाती है। ऐसे ऋण बैंक चार्टर के अनुसार ऊँची विकास की प्राथमिकताओं वाली परियोजनाओं के लिए दीर्घकाल के लिए दिये जाते हैं। इस सहायता पर ब्याज साधारण ऋण प्रक्रियाओं की तुलना में कम होता है तथा इन ऋणों का पुनर्भुगतान अधिक समय बाद शुरू होता है। बैंक अपनी प्रदत्त पूँजी का 10 प्रतिशत विशेष कोष में रख सकता है जिसे सुलभ ऋणों के लिए दे सकता है। इन विशेष कोषों में धन प्रशासक-मण्डल के दो-तिहाई मतों से ही जमा हो सकता है।

(2) तकनीकी सहायता—बैंक सदस्य देशों की सरकारों, उनकी एजेन्सियां एवं उन क्षेत्रों का निजी फर्मों एवं संस्थाओं को तकनीकी सहायता भी देता है जो निम्न प्रकार की होती हैं :

(i) राष्ट्रीय अथवा क्षेत्रीय विकास परियोजनाओं के लिए प्रस्ताव तैयार करना, वित्त का अनुमान लगाना और इन परियोजनाओं को कार्य रूप देना।

(ii) कृषि, उद्योग एवं सार्वजनिक क्षेत्रों में नयी इकाइयों के निर्माण में सहायता देना एवं विद्यमान इकाइयों को तकनीकी सहायता देना।

तकनीकी सहायता के लिए बैंक सम्बन्धित देशों की स्वीकृति पर विशेषज्ञों के दल भेजता है। तकनीकी सहायता ऋण अथवा अनुदान के रूप में भी दी जाती है। अनुदान के रूप में दी गयी सहायता का पुनर्भुगतान नहीं होता।

(3) बैंक के कार्यों के सामान्य सिद्धान्त—बैंक का कार्य निम्नलिखित सामान्य सिद्धान्तों के अनुसार चलाया जाता है :

(i) बैंक उन निश्चित परियोजनाओं के लिए ही वित्त की व्यवस्था करता है जो राष्ट्रीय, क्षेत्रीय तथा अर्द्धक्षेत्रीय विकास योजना के अन्तर्गत आती हैं।

(ii) परियोजना का चुनाव करते समय यह ध्यान रखा जाता है कि परियोजना सन्तुलित विकास तथा छोटे देशों की आवश्यकता को पूरा करने में सहायक हो।

(iii) बैंक ऐसे देशों में स्थित उद्योग एवं परियोजना के लिए वित्त प्रदान नहीं करता जिसके लिए वित्त व्यवस्था करने पर उस देश की सरकार को आपत्ति हो।

(iv) बैंक इस बात पर भी ध्यान देता है कि ऋण लेने वाला देश अपने ऋण सम्बन्धी दायित्वों को पूरा करने के लिए सक्षम है या नहीं।

(v) बैंक इस बात को भी दृष्टि में रखता है कि सम्बन्धित देश और किन स्रोतों से वित्तीय सहायता प्राप्त कर सकता है? यदि उचित शर्तों पर उस देश को अन्य स्रोतों से ऋण मिल सकता है तो बैंक, ऐसे देश को सहायता नहीं देता।

(vi) सार्वजनिक अथवा निजी क्षेत्र के लिए वित्त की व्यवस्था करते समय, विकास बैंक पिछड़े और अल्प विकसित देशों को प्राथमिकता देता है।

एशियाई विकास बैंक के कार्यों की प्रगति

यह देखना महत्वपूर्ण है कि अपनी स्थापना से लेकर बैंक विगत वर्षों में अपने उद्देश्यों को पूरा करने में कहाँ तक सफल हुआ है। इसका अध्ययन हम निम्न शीर्षकों में करेंगे :

(1) विकास ऋण—प्रारम्भ में बैंक द्वारा ऋण प्रदान करने की गति धीमी रही किन्तु 1969 के बाद इसमें पर्याप्त वृद्धि हुई है। 1968 में बैंक ने केवल 416 लाख डालर के विकास ऋण दिये जो दिसम्बर 1976 तक बढ़कर 7,759 लाख डालर हो गये अर्थात् उपर्युक्त अवधि में ऋणों में 19 गुनी वृद्धि हुई। 1968-76 की अवधि में बैंक ने अपने सदस्य देशों को 3-358 9 मि डालर के ऋण दिये जो 264 ऋण परियोजनाओं से सम्बद्ध है। इसे अग्रांकित तालिका में दर्शाया गया है :

तालिका 56.2—एशियन विकास बैंक द्वारा स्वीकृत विकास ऋण (1968-76)

(मिलियन डालर में)

वर्ष (जन.-दिस.)	स्वीकृत ऋण	गत वर्ष की तुलना में वृद्धि (प्रतिशत में)
1968	41·6	—
1969	98·1	136·0
1970	245·2	150·0
1971	253·5	5·2
1972	316·1	24·0
1973	421·4	33·0
1974	547·8	30·0
1975	660·3	20·6
1976	775·9	17·5
योग	3,358·9	

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि 1968 के बाद बैंक द्वारा स्वीकृत विकास ऋणों में वृद्धि हुई है। ये ऋण आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में चल रही विकास योजनाओं के लिए प्रदान किये गये हैं। अधिकांश ऋण विद्युत, परिवहन और संचार से सम्बन्धित विकास कार्यों के लिए दिये गये हैं क्योंकि एशियाई देशों में इनका विकास कर ही औद्योगिक प्रगति को सम्भव बनाया जा सकता है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि एशियन विकास बैंक द्वारा निर्बल, दरिद्रता से ग्रस्त और विकासोन्मुख देशों को ऋण दिये गये हैं जिससे विभिन्न देशों में आर्थिक विकास के द्वार खुल गये हैं।

(2) तकनीकी सहायता—एशियाई विकास बैंक अपने सदस्य देशों के लिए दीर्घकालीन विकास ऋण के अतिरिक्त तकनीकी सहायता भी उपलब्ध कराता है। यह अपने सदस्य देशों की प्रार्थना पर विशिष्ट प्रकार की परियोजनाओं के लिए विशेषज्ञों की परामर्श सेवाएँ जुटाता है। इसके लिए बैंक का अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से सम्बन्ध रहता है। बैंक ने प्रारम्भ से 1976 तक जिन विभिन्न देशों की विकास परियोजनाओं के लिए वित्त प्रदान किया है उन्हीं की 178 परियोजनाओं के लिए तकनीकी सहायता उपलब्ध करायी गयी है। इस सहायता के लिए बैंक ने 283 लाख डालर की रकम उधार दी है। विभिन्न उद्योगों के लिए जो तकनीकी ऋण दिये गये हैं, उन्हें निम्न तालिका में स्पष्ट किया गया है। साथ ही बैंक द्वारा उद्देश्यानुसार ऋणों का विवरण भी स्पष्ट किया गया है। यह स्पष्ट कर दिया गया है कि विकास के लिए 3,358·9 मि० डालर के ऋण स्वीकृत किये गये हैं।

तालिका 56.3—एशियन विकास बैंक द्वारा प्रदत्त उद्देश्यानुसार ऋण (1976 तक)

(प्रतिशत में)

उद्देश्य	विकास ऋण	तकनीकी ऋण
कृषि	16·28	38·80
कृषि सम्बन्धी उद्योग	7·28	6·54
उद्योग एवं विकास बैंक	22·99	9·04
सार्वजनिक उपयोगी सेवाएँ	33·04	22·49
परिवहन एवं संचार	19·59	19·12
शिक्षा	0·82	1·00
अन्य		3·01
योग	100·00	100·00

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि जो विकास ऋण 1976 तक दिये गये हैं, उनमें सर्वाधिक प्रतिशत सार्वजनिक उपयोगी सेवाओं का है। किन्तु जहाँ तक तकनीकी सहायता का प्रश्न है, सबसे अधिक तकनीकी ऋण (45.34 प्रतिशत) कृषि एवं कृषि सम्बन्धी उद्योगों को दिये गये हैं। दूसरे स्थान पर सार्वजनिक उपयोगी सेवाएँ हैं जिनके लिए 22·49 प्रतिशत तकनीकी ऋण प्रदान किये गये।

आलोचनात्मक मूल्यांकन—सुझाव एवं समस्याएँ

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि एशियाई विकास बैंक ने निर्धन तथा दरिद्रता से ग्रस्त एशिया महाद्वीप के विकासोन्मुख देशों को उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप ऋण की सुविधा प्रदान कर आर्थिक उत्थान की दिशा में स्तुत्य प्रयत्न किया है।

एशियाई विकास बैंक के उपर्युक्त प्रयत्नों के बावजूद भी कुछ आलोचकों ने इस बैंक की आवश्यकता पर प्रश्न चिह्न लगाया है। उनका कहना है कि विश्व बैंक की एशियाई शाखा को मजबूत कर ही एशियाई बैंक के उद्देश्य पूर्ण किये जा सकते हैं। किन्तु आलोचकों को यह ध्यान में रखना चाहिए कि एशियाई देशों की विकास की आवश्यकताएँ इतनी प्रबल हैं कि विश्व बैंक एवं एशियाई बैंक दोनों के लिए विस्तृत कार्य क्षेत्र है। और फिर क्षेत्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति एशियन बैंक सरीखे क्षेत्रीय बैंक से अच्छी तरह से की जा सकती है।

कुछ आलोचकों ने यह मत भी व्यक्त किया है कि कुछ गैर क्षेत्रीय देशों जैसे अमरीका की पूँजी एवं मताधिकार अधिक होने से बैंक की "एशियाई प्रवृत्ति" (Asian Character) समाप्त हो सकती है। किन्तु यह आलोचना निराधार है क्योंकि इसके लिए बैंक के नियम अनुकूल बना लिये गये हैं।

विश्व के विकास कोषों में कमी और उपलब्ध कोषों के लिए तीव्र प्रतियोगिता का यह परिणाम होगा कि बैंक के पास साधनों का अभाव हो जायगा, इसके लिए आवश्यक है कि बैंक को क्षेत्रीय व्यापार प्रोत्साहित करना चाहिए जिससे कोषों के लिए बैंक की विदेशों पर निर्भरता कम हो जायगी।

अन्त में कहा जा सकता है कि अभी बैंक अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है और ऐसी स्थिति में इसका सही मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

एशियाई विकास बैंक सम्मेलन (अप्रैल 1978) और भारतीय दृष्टिकोण

एशियाई विकास बैंक के प्रशासक मण्डल का ग्यारहवाँ अधिवेशन 24 अप्रैल, 1978 को वियना में प्रारम्भ हुआ जिसमें एकीकृत ग्रामीण विकास, ऋण कार्यक्रम, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थानों के साथ सह-वित्त पोषण एवं सटीक तकनीक की भूमिका आदि विषयों पर विचार विमर्श हुआ।

जहाँ तक भारत का प्रश्न है, भारत ने प्रारम्भ में एशियाई विकास बैंक से कम ऋण लिये हैं किन्तु इस बात पर जोर दिया है कि एशिया के छोटे और अल्प विकसित देश ऋण की सुविधाओं से वंचित न होने पाये। वियना सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधि केन्द्रीय वित्त मन्त्री श्री एच. एम. पटेल ने आमतौर पर बैंक के कार्यों की प्रशंसा की किन्तु सलाहकारों की भर्ती की नीति में "अपरिवर्तन" पर उन्होंने चिन्ता व्यक्त की जिसमें वर्तमान में परियोजना, क्रियान्वय में सटीक तकनीक की भूमिका में ह्रास की प्रवृत्ति पैदा हो गयी है। उन्होंने कहा कि बैंक में विकसित देशों के सलाहकारों की नियुक्ति को प्राथमिकता दी जाती है। किन्तु इससे विकासशील देशों को उचित तकनीक नहीं मिल पाती एवं परियोजना की लागत में वृद्धि हो जाती है। श्री पटेल का उद्देश्य यह था कि विकसित देश अब भी बैंक के ऋण के देने का अधिकांश भाग पा जाते हैं जबकि कुछ विकासशील देशों के पास आवश्यक कौशल एवं उपकरण आदि विषयक ज्ञान मौजूद होने पर भी इन्हें महत्व नहीं दिया जाता।

इसमें सन्देह नही है कि अधिक मात्रा में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग से ही एशियाई राष्ट्र अपनी आर्थिक विकास की समस्या को हल कर सकते हैं। इस सम्बन्ध मे एशिया विकास बैंक की भूमिका महत्वपूर्ण है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. एशियाई विकास बैंक के उद्देश्यों एवं कार्यों की व्याख्या कीजिए ? आपकी दृष्टि मे यह बैंक एशियाई क्षेत्रों के आर्थिक विकास की समस्या को कहाँ तक हल कर सकता है ?
2. "एशियाई विकास बैंक द्वारा दी गयी वित्तीय एवं तकनीकी सहायता इतनी कम है कि इस क्षेत्र के अल्प विकसित देशों के लिए इसका वास्तविक लाभ शून्य जैसा है" इस कथन की व्याख्या कीजिए ?
3. एशियाई विकास बैंक के कार्यों की प्रगति का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए ?